॥ श्रीः ॥

काशी-संस्कृत-ग्रन्थमाला
१५७



श्रीमद्वाग्भटाचार्यकृत-वृद्धवाग्भटापरपर्यायः

अष्टाङ्गसङ्ग्रहः

'अर्थप्रकाशिका' व्याख्यया समुल्लसितः

व्याख्याकार —

आयुर्वेदबृहस्पति -भिषक्केसरी-प्राणाचार्य-

वैद्य श्री० गोवर्द्धनशर्मा छाङ्गाणी

भूमिकालेखक —

आयुर्वेदोद्धारक-आयुर्वेदमार्त्तण्ड-

वैद्य श्री० यादवजी-त्रिकमजी आचार्यः

चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज, बनारस-१

[ई० सन् १९५४

वि० संवत् २०१०]

प्रकाशक —
जयकृष्णदास हरिदास गुप्तः,
चौखम्बा-सस्कृत-सीरिज आफिस,
पो० बाक्स न० ८, बनारस-१

The Chowkhamba Sanskrit Series Office.
P. O. Box 8, Banaras.
1954.

मुद्रक:—
विद्याविलास प्रेस
बनारस-१

भूमिका

आजसे पाँच सौसे एक हजार वर्ष पहिलेकी लिखी हुई इन्दु, गयदास, डल्हण, चक्रपाणिदत्त, विजयरक्षित, श्रीकण्ठदत्त, शिवदास सेन, हेमाद्रि, अरुणदत्त आदिकी व्याख्याओमे भेल, जतुकर्ण, पराशर, हारीत, क्षारपाणि, भोज, काश्यप, भद्रशौनक, वैतरण, निमि, कृष्णात्रेय, आलम्बायन, कराल, जीवक, भालुकि, विदेह (निमि), विश्वामित्र, खरनाद, दारुवाह, पौष्कलावत, दारुक, वृद्धकाश्यप, सात्यकि आदि अनेक आर्ष-सहिताओके वचन प्रमाणतया उद्धृत किये हुए पाये जाते है। इससे मालूम होता है कि इन व्याख्याकारोके समयमे अनेक आर्षसहिताये उपलब्ध थी। सभव है कि इनमेके कुछ वचन पिछले टीकाकारोने अपनेसे पहिले लिखी गई प्राचीन व्याख्याओसे भी उद्धृत किये हो। जो कुछ भी हो, वाग्भट इन सब व्याख्याकारोसे भी अधिक प्राचीन थे। उनके समयमे इनसे अधिक अन्य आर्षतन्त्र भी उपलब्ध होनेकी सभावना है। वर्तमान-समयमे हमारे दैवदुर्विपाकसे आर्षतन्त्रोमे केवल दो, चरक और सुश्रुतसहिताएँ सम्पूर्ण तथा भेल और काश्यपसहिता (वृद्धजीवकीय तन्त्र) ये दो खण्डित उपलब्ध होती है। हारीतसहिता भी मुद्रित उपलब्ध होती है परन्तु उसके आर्ष होनेमे विद्वानोंको सन्देह है। स्वय अष्टाङ्गसग्रहकारके कहनेसे भी प्रतीत होता है कि उनके समयमे पठन-पाठनमे चरक-सुश्रुतका ही विशेष प्रचार था। सग्रहको देखनेसे यह भी पता लगता है कि अष्टाङ्गसग्रह अर्थात् वृद्ध-वाग्भटकारने अपने समयमे उपलब्ध होनेवाली प्राचीन सहिताओका अच्छा आश्रय लिया था। इसलिए कि अनेक महत्त्वके विषय चरक-सुश्रुतसे भी अधिक अष्टाङ्गसग्रहमे पाये जाते है। साराश यह कि अष्टाङ्गसग्रहके अध्ययनके बिना केवल चरक-सुश्रुतके अध्ययनसे आयुर्वेदका यथार्थ अध्ययन सपूर्ण नहीं हो सकता।

इधर दस-पन्द्रह सालसे यह अनुभव हो रहा है कि लोगोमे सस्कृत भाषाके प्रचारका क्रमश ह्रास हो रहा है। इतना ही नही, केवल सस्कृतके मूल ग्रथो और उनकी सस्कृत-व्याख्याओं-द्वारा अध्यापन-अध्ययनमे समर्थ अध्यापको और छात्रोंकी सख्या भी उत्तरोत्तर घटती ही जा रही है। ऐसे समयमें शास्त्रकी रक्षाके लिए यह आवश्यक हो गया है कि भारतकी प्रान्तीय भाषाओंमे तथा विशेषत राष्ट्रभाषा हिन्दीमे आयुर्वेदके मौलिकसहिताग्रन्थोंका अनुवाद किया जावे परन्तु ये अनुवाद ऐसे होने चाहिये कि जिनमे मूलके विशद अनुवादके साथ टीकाकारोंके आशय तथा अन्य ग्रन्थोंमे इस विषयपर आये हुए भावोके साथ तुलनात्मक दृष्टिसे स्पष्ट विचार प्रदर्शित किये गये हो। प्रसंगवशात् तद्विपयक दर्शनादि शास्त्रान्तरोके विषयोका भी सोपपत्तिक वर्णन हो।

ऐसे अनुवाद करनेके लिए अनुवादक भी ऐसे होने चाहिये जिनको आयुर्वेदके अच्छे ज्ञानके साथ शास्त्रान्तरोंका भी आवश्यक ज्ञान हो। इस ग्रन्थके अनुवादक वैद्यभूषण पण्डित गोवर्धन शर्मा छांगाणीजी उपर्युक्त सब गुणोसे सपन्न होनेके साथ हिन्दीके भी अच्छे लेखक है। मेरा विश्वास है कि उनका यह अनुवाद अष्टाङ्गसग्रहके सम्यग्ज्ञानके लिए वैद्यों और छात्रोको परम उपादेय होगा। अन्तमे मैं अष्टाङ्गसग्रहके ऐसे वक्तव्योसहित विशद हिन्दी अनुवाद करनेके लिए श्रीमान् छागाणीजीको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ और आयुर्वेदके जिज्ञासुओसे सविनय निवेदन करता हूँ कि वे इस ग्रन्थके अवलोकनसे लाभ उठावें। साथ ही श्री० छागाणीजीको मैं प्रार्थना करता हूँ कि वे इस ग्रन्थके अवशिष्ट अशोके अनुवादका कार्य भी यथाशक्य शीघ्र ही सपूर्ण करे।

श्रीधन्वन्तरि त्रयोदशी
मुम्बई, स० २०१०

यादवजी त्रिकमजी आचार्य

बात छिटनेपर मैंने कहा कि 'छागाणीजी तो कहते थे कि पाकिस्तान क्या हुआ, हमे तो उसने जीते ही मार डाला। हमारा बरसोका किया हुआ परिश्रम सब मिट्टीमे मिल गया।' इसपर लालाजी बोले कि कुछ अशोंमे बात ठीक है परन्तु फिर भी छागाणीजी भाग्यवान् हैं। वे सर्वथा नही मरे है, अपितु जीवित है। इसका प्रमाण मै उनको मिलनेपर दूँगा। क्या पूज्य छागाणीजीके दर्शनोका सौभाग्य हमें किसी प्रकार जल्दी मिल सकता है?' मैने कहा अवश्य मिलेगा। इसमे विशेष विलम्ब नही होगा। दिल्लीमे दो तीन माहमे निखिल भारतीय आयुर्वेदमहासम्मेलन आयुर्वेदमार्तण्ड श्रीयादवजी महाराजकी अध्यक्षतामे होना निश्चित हो चुका है। उसमें छागाणीजीका पधारना भी निश्चित समझिए क्योंकि वे अध्यक्ष महोदयके अभिन्नहृदय मित्र है। लालाजी बडे प्रसन्न हुए और बोले कि बडी खुशीकी बात है। आप छागाणीजीको लिख दें कि चिन्ता न करे 'वे जीवित है।' यह खुश खबर दिल्लीवाले मित्रने मुझे दे दी।

ठीक दो तीन महीने बाद दिल्लीमे आयुर्वेद-महासम्मेलन बडी शान-शौकतके साथ हुआ। मै भी पहुचा और वहा अध्यक्ष महोदय श्रीआचार्यजीके पासमे ही ठहरा। लालाजी उत्सुक थे ही। वे दूसरे दिन सायकालमे हम लोगोंके पास पहुचे। मैं आराम कर रहा था, न कभी लालाजीसे मिलनेका मौका ही मिला था। अध्यक्ष महोदय यादवजी महाराज पहिले उनसे लाहौरमे कई बार मिल चुके थे। लालाजीके आते ही मुझे हाक मारकर उन्होंने कहा कि—लो, छागाणीजी! मेहरचद लक्ष्मणदासवाले लालाजी पधार गये है। आप इनसे अष्टाङ्ग-सग्रहके विषयमे कुछ बातचीत करना चाहते हो तो कर सकते है।' मैने कपालपर हाथ रखते हुए दुःखसे कहा कि क्या बातचीत करू? पाकिस्तानने एक प्रकारसे हमे मार डाला है। लालाजी कहते है मे भाग्यवान् हू और जीवित हू, कुछ समझ नही पडता। लालाजी बोले कि सुन लीजिए, आप किस प्रकार भाग्यवान् है और जीते है। मै भी समझ बैठा था कि पाकिस्तानने हमे सर्वथा मार डाला है परन्तु परमात्मा बडे दयालु है। वे अवश्य अघटितघटनापटु हैं। वे उस घटनाद्वारा अपने जनकी रक्षा करते है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण दृग्गोचर हुआ सो सुनिये। वे बोले कि—

पाकिस्तानी अत्याचार शुरू होनेसे एक दो माह पहिले हमको किसीने तीन चार सौ रुपयेके मौलिक ग्रन्थ वी० पी० रेलवे पारसलद्वारा भेजने को लिखा। तदनुसार पारसल भेजने पर भी मॅगानेवालेने वी० पी० नही छुडाई। रसीद वापिस आई देखकर हमें बडा दुःख हुआ। रेलवेको लिखकर हमें पारसल वापिस मॅगा लेना पडा। पारसल खोलकर देखते ही हमने परमपिता परमात्माको वी० पी० मॅगाकर न लेनेवाले ग्राहकको, भूलसे पारसल बाँधनेवाले अपने नौकरको अनन्त धन्यवाद दिया। इसलिए कि पारसल खोलनेपर नवीन मुद्रित पुस्तकके ऊपर और नीचे रद्दीकी जगह नौकरने भूलसे रखी हुई छागाणीजीके हाथकी लिखी (केवल मुद्रित तीन फारमके शीटोंको छोडकर) सम्पूर्ण प्रथम सूत्रस्थानकी कापी निकल आई जो कि अन्दाजन पाच सौ फुलिस्केपसे भी बडे शीटोंमें लिखी हुई थी। इसके मिलनेपर बडा भारी आनन्द इसलिए हुआ कि परमात्माकी दयारूप नौकरकी भूलने इस भागको बचा लिया, अन्यथा अन्य हस्तलिखितोकी तरह यह भी भस्मीभूत हो जानेवाला था। लालाजी चरणस्पर्श करते हुए बोले कि भगवन्! शेषांश नष्ट भ्रष्ट हो जाने पर भी इस प्रकार आप सर्वथा नही मरे किन्तु जीवित है—भाग्यवान् है। मै कल प्रात आपको आपका लिखा सम्पूर्ण सूत्रस्थान दिखाऊगा। तदनुसार दूसरे दिन दिखाकर वे बोले कि हम मुद्रणका श्रीगणेश शीघ्र ही कर देंगे, आप शेष स्थानोंका अनुवाद कार्य निबटानेकी चिन्ता करें। तदनुसार दिल्लीसे वापिस घर आकर मेने शारीरादिस्थान के अनुवाद कार्यको पुन हाथमें लिया जो कि चल ही रहा है। छपाईकी भरमारके कारण लालाजी मुद्रणारम्भ नही कर सके। इधर ८० वर्षके बुढापेमें मेरी उत्सुकता प्रतिदिन बढती ही रही कि मैं मुद्रित सानुवाद अष्टाङ्गसग्रह ऐसी अवस्थामें देख सकूगा या नही। लालाजी शीघ्रतया मुद्रणारम्भ नही कर सके।

चौखम्बा सस्कृत सीरिज, बनारस—

चौखम्बा सस्कृत सीरिजवाले कई बार कह चुके थे कि कोई एक कार्य हमें भी दिया जाय। अत इसबार मैने वाराणसेय चौखम्बा सस्कृत सीरिजवालोंसे अष्टागसग्रहको शीघ्र छापनेके लिये बातचीत शुरू कर दी। वे इस बातपर राजी होगये, अत मैने लालाजीसे साग्रह निवेदन किया कि वे केवल सूत्रस्थान जो बच गया है मुझे दे दें तो लिखाईके लिये पेशगीमे जो कुछ पत्र-पुष्प आपसे मुझे मिला है उसे मै वापिस कर दूगा। बहुत कुछ अनुनय विनय करनेपर भी उस समय लालाजी नही माने परन्तु कुछ दिनों के बाद लालाजी मान गये। अघटितघटनाके कारण जो कुछ हस्तलिखित मसाला नष्ट हुआ उसमें लालाजीको दोष नही दिया जा सकता। भाग्यकी बात है कि उसमेंका लिखित किसी प्रकार सपूर्ण सूत्रस्थान मिल गया और धीरे धीरे चौखम्बा सस्कृत सीरिज बनारसने उसे यावच्छक्य सुन्दररूपमे छापकर प्रगट कर दिया जो कि भला बुरा आज पाठकोंके सामने है। मैं एतदर्थ चौखम्बा सस्कृत सीरिज बनारसको हार्दिक धन्यवाद देता हू। सीरिजके मालिक से मेरे सबन्ध बहुत अच्छे है और रहेंगे अत आशा ही नही, दृढ विश्वास है कि अष्टाङ्गसग्रहका शेष अश भी यावच्छक्य जल्दी आपके दृग्गोचर हो सकेगा। राजर्षि रामदासस्वामीके **'सत्यसकल्पाचा दाता भगवान्'** इस कथनपर मेरा दृढ विश्वास है। भगवान मेरे सत्य सकल्पकी पूर्ति अवश्य करके पूरा अष्टाङ्गसग्रह मेरे हाथोंसे लिखवाकर पाठकोके सम्मुख लायगा। एवमेवास्तु

आयुर्वेदोद्धारक आयुर्वेदमार्तण्ड, आयुर्वेदवाचस्पति, परमश्रद्धेय पण्डित श्रीयादवजी त्रिकमजी आचार्य (बम्बई) का मैं नितान्त कृतज्ञ एव आभारी हू, इस लिये कि आपने मेरी इस क्षुद्र कतिपय भूमिका लिखनेकी कृपा करके मुझे परम उत्साह प्रदान किया है। अब अष्टाङ्गसग्रहादिके कर्ता वाग्भटके विषयमें भी कुछ निवेदन कर देना अप्रासगिक नहीं होगा, अपितु उचित ही होगा।

वाग्भट कौन, कहा और कब थे।

वाग्भट कौन थे अर्थात् वे किस धर्मके माननेवाले अर्थात् वे वैदिक मतावलम्बी थे या जैन, बौद्ध आदि किसी अन्य मतके माननेवाले थे। कुछ दिनतक मैं वाग्भटको उनके किए मङ्गलाचरण श्लोक—

'रागादिरोगा सहजा समूला येनाशु सर्वे जगतोऽप्यपास्ता । तमेकवैद्य शिरसा नमामि वैद्यागमज्ञाश्च पितामहादीन् ॥'
से वेदिक मतावलम्बी मानना था। इसमें उनके वर्णित स्वरूपवृत्तको भी मै अपना सहायक समझता था। ऐसा और भी कुछ वर्णन अष्टाङ्गसंग्रहमें पाया जाता है। इसी लिए मैने **'तमेकवैद्य'** का अर्थ अनुवादमें भगवान् धन्वन्तरि किया है परन्तु इन दुटीकावाले ग्रन्थके अतिरिक्त जब मैंने जनस्थान (नासिक) निवासी स्वर्गीय गणेशशास्त्री तथा एव कृष्णशास्त्री देवधर-सपादित मूल मुद्रित अष्टाङ्गसंग्रहके मगलाचरणके प्रथम पद्य—

तृष्णादीर्घमसद्विकल्पशिरस प्रद्वेषचञ्चत्फण कामक्रोधविष वितर्कदशन रागप्रचण्डेक्षणम् ।
मोहास्य स्वशरीरकोटरशय चित्तोरग दारुण प्रज्ञामन्त्रबलेन य शमितवान् बुद्धाय तस्मै नम ॥

एवमेव—

समाधिगम्य गुरोरवलोकिताद्गुरुतराच्च पितु प्रतिभा मया । सुबहुभेषजशास्त्रविलोचनात्सुविहितोऽङ्गविभागविनिर्णय ॥
सग्रहसमाप्तिवाले उत्तरतन्त्रके ५० वे अध्यायके इस पद्यको पढा, अष्टाङ्गसग्रह एव अष्टाङ्गहृदयकी अन्य भी कई बाते जिनका वर्णन लेखविस्तार भयसे यहा नहीं करना चाहता, देखा। इनसे मेरा भ्रम दूर होकर दृढ विश्वास हो गया कि वाग्भट बौद्धमतावलम्बी थे।

कुछ महाशय वाग्भटकृत ग्रन्थमें—

अर्चयेद्देवगोविप्रवृद्धवैद्यनृपातिथीन् । अथर्वविहिता शान्ति प्रतिकूलग्रहार्चनम् ॥
मातर पितर देवान् वैद्यान् विप्रान् हर हरिम् । पूजयेच्छीलयेद्दानदमसत्यदयार्जवान् ॥

आदि उपदेशोंको प्रबल प्रमाण मानते हुए वाग्भटको वेदमतावलम्बी मानते है परन्तु यह ठीक नही है। इन उपदेश से वाग्भटका बौद्धत्व नष्ट नही हो सकता। वे पक्के बौद्ध थे। उन्हे शङ्का थी कि मेरे द्वारा रचित ग्रन्थोंको आयुर्वेदागमोपदेष्टा महामुनि आत्रेयादिके अनुयायी, वेदादिशास्त्रोंके अभिमानी कदापि नही मानेंगे। वस्तुत सम्पूर्ण आयुर्वेद वेदोंद्वारा ही भूमण्डलपर अवतरित हुआ है। बौद्ध होते हुए भी महामुनियोंद्वारा कथित आयुर्वेदको सुव्यवस्थित रूपेण जनता जनार्दनके सामने रखना ही वाग्भटको अभीष्ट था। वे वेदवेदाङ्गोंके प्रकाण्ड पण्डित थे। अनुमान होता है कि उन्होने अपनी उत्तरावस्थामे वैदिक मतको छोड बौद्ध मतको स्वीकार कर लिया हो। जो कुछ हो, अष्टाङ्गसग्रहरचनाकालमे वे बौद्ध थे। मेरी कृतिका वदिक मतावलम्बी कदापि समान नहीं करेंगे, अपनी इस शकानुसार वैसा ही वातावरण उनके सामने उपस्थित हो गया। इसीलिए उन्हें इस ग्रन्थमें कहना पडा कि—

'न मात्रामात्रमप्यत्र किञ्चिदागमवर्जितम् ।'

अर्थात् शब्दविन्यासादि तो दूर रहे इस ग्रन्थमे एक मात्रा भी आगमवर्जित नहा है। इसी बातको लेकर वाग्भटने इस तन्त्रकी रचना की है। प्रारम्भसे अन्ततक प्रत्यध्यायमे बोले है कि अब हम अमुक विषयके अध्यायका व्याख्यान करते है जैसे कि **'इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय'** अर्थात् आत्रेयादि महर्षि पहले कर गये है। इससे सिद्ध होता है कि उनके रचित ग्रन्थमें वैदिक मतके अनुकूल **'अर्चयेद्देवगोविप्रादि'** तथा **'अथर्वविहिता शान्ति'** या **'पूजयेद्विप्रान् हर हरिम्'** आदि जो कुछ आया है वह सब ग्रन्थकारकी प्रतिज्ञानुसार आत्रयादि महर्षियोके वचन का अनुवादमात्र है। इसमे वाग्भटका कुछ भी नही है। **'न मात्रामात्रमप्यत्र किञ्चिदागमवर्जितम्'** यह प्रतिज्ञा करके भी अपने बौद्धत्वप्रदर्शनके लोभका सवरण वाग्भट नही कर सके है। इस मगलाचरणपद्य एव **'समधिगम्य गुरोरवलोकितात्'** प्रभृति सग्रहान्तर्गत कई अन्य प्रमाणोसे ये स्पष्ट कर चुके हैं। इसी लिये उनको ग्रन्थके अन्तमे—

ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ । भेडाद्या कि न पठ्यन्ते तस्माद्ग्राह्य सुभाषितम् ॥

आदि नम्र निवेदन करना पडा था। इन सब प्रमाणोंसे निस्सन्देह कह सकत है कि वाग्भट बौद्ध थे। भारतीय दाक्षिणात्यों, महाराष्ट्रों, सोराष्ट्रों, गुर्जरो तथा सिन्धुदेशनिवासियोंमे प्राचीन कालसे प्राय यह परिपाटी प्रचलित है कि वे पौत्रका नाम पितामहके नाम पर इस विश्वासपर रखते हैं कि वह दीर्घायुषी होता है। अष्टाङ्गसग्रहके अन्तमे अपना परिचय देते हुए ग्रन्थकारने कहा है कि—

भिषग्वरो वाग्भट इत्यभून्मे पितामहो नामधरोऽस्मि यस्य । सुतोभवत्तस्य च सिंहगुप्तस्तस्याप्यहं सिन्धुषु लब्धजन्मा ॥

अर्थात् सिन्धुदेशोत्पन्न, वैद्यामे श्रेष्ठ, वाग्भटनामक मेरे पितामह (दादा) हुए। उनके पुत्र सिंहगुप्तसे पितामहके नामको धारण करनेवाला मैं (वाग्भट) हुआ। इससे स्पष्ट है कि अष्टाङ्गसग्रहकारका नाम उनके दादाके नामपर वाग्भट था। इनके पिता वाग्भटके पुत्र सिंहगुप्त थे और ये सिन्धके रहनेवाले थे। उपर्युक्त शीर्षकगत 'वाग्भट कौन, कहा और कब थे' इन तीन प्रश्नोंमेसे दो का उत्तर अब तकके विवेचनमें आ चुका है अर्थात् वाग्भट बौद्धमतावलम्बी, वाग्भटके पौत्र, सिंहगुप्तके पुत्र थे और वे सिन्धुदेशके रहनेवाले थे।

तृतीय प्रश्न है कि कब थे अर्थात् वे किस समयमें थे। अब इस विषयमे कुछ लिखना अप्रासंगिक न होगा। डॉ० रुडाल्फ हॉर्नले प्रथम और द्वितीय ऐसे दो वाग्भट मानते हुए उनका समय क्रमश ईसवी ६२५ और अष्टम शताब्दी मानते हैं। परन्तु अपने मतके दृढीकरणार्थ प्रमाण कुछ भी नही देते है। महामहोपाध्याय स्वर्गत गणनाथ सेन सरस्वतीका अनुमान था कि वाग्भट खिस्तीय पञ्चम शताब्दीके आदिमे थे। श्रद्धेय श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य स्वसपादित चरकसहिताके उपोद्घातमे लिखते है कि अष्टाङ्गसग्रहके उत्तरतन्त्रीय ४९ वे अध्यायके पलाण्डुरसायन-प्रकरणमें निम्नलिखित पद्यद्वय मिलते हैं—

रसोनानन्तरं वायो पलाण्डु परमौषधम् । साक्षादिव स्थित यत्र शकाधिपतिजीवितम् ॥ १ ॥
यस्योपयोगेन शकाङ्गनाना लावण्यसारादिव निर्मितानाम् । कपोलकान्त्या विजित शशाङ्को रसातल गच्छति निर्विदेव ॥२॥

इन पद्योंसे वाग्भट काशकराज्यशासनकालमें या इसके कुछ अनन्तर अस्तित्व सूचित होता है। भारतवर्षमे शकोंका राज्यकाल

खिस्तीय द्वितीय शताब्दीसे लेकर चतुर्थ शताब्दीतक था। यह लिखकर आप फिर कहते है कि वाग्भटके खिस्तीय पञ्चम शताब्दिसभूत भट्टार हरिचन्द्रके बाद होनेसे तथा सप्तम शताब्दीमे भारतवर्षमें आनेवाले चीनदेशीय परिव्राजक इत्सिङ्गके समयमें अष्टाङ्गसंग्रहका सर्वत्र प्रचार होनेसे तथैव उसी समयके माधवकरके वाग्भटके पाठग्रहण करनेसे वाग्भटका अस्तित्व इनसे १०० वर्ष पहिले सिद्ध होता है अत अनुमान होता है कि वाग्भट खिस्तीय छठी शताब्दीमे थे। आचार्य महोदयने चरकके उपोद्घातमे जेज्जटकृत चरककी निरन्तरपदव्याख्यासे प्रमाणित किया है कि यह मदात्यय-चिकित्सिताध्याय भट्टार हरिचन्द्रने टीकाकार सुस्पष्ट किया है। इससे स्पष्ट होता है कि भट्टार हरिचन्द्र वाग्भटके या उनके शिष्य इन्दु तथैव जेज्जटके समकालीन या इनसे कुछ पहिले वर्तमान थे। परन्तु इससे वाग्भटका अस्तित्व छठी शताब्दीमे सिद्ध नही होता, अपितु माधवकरादिसे विशेष प्राचीनत्व प्रतीत होता है।

विश्वप्रकाश कोषके कर्ता महेश्वर चरकव्याख्याकार भट्टार हरिचन्द्रके वशज थे। वे कान्तवर्गके पञ्चम श्लोकमें लिखते हैं कि भट्टार हरिचन्द्र साहसाङ्क नरेशके राजवैद्य थे। यथा—

श्रीसाहसाङ्कनृपतेरनवद्यवैद्यविद्यातरङ्गपदमद्वयमेव बिभ्रत।
यश्चन्द्रचारुचरितो हरिचन्द्रनामा स्वव्याख्यया चरकतन्त्रमलञ्चकार॥

इतिहासज्ञों एव पुरातत्त्वज्ञोंने यह निश्चित निर्णय कर दिया है कि यह साहसाङ्क ही विक्रमादित्याख्य द्वितीय चन्द्रगुप्त था जो कि शकनृपतियोंका समकालीन था। शकोंके साथ निरन्तर युद्ध करके इसने उनको जीतकर भारतसे बाहर निकाल दिया था। यह घटना ई० स० ३९५ की है। इसीलिए इसने 'शकारि' पदवी प्राप्त की थी। वाग्भटकृत वर्णन शकोंकी जाहोजलाली-समयका है। इससे स्पष्ट होता है कि ईसवी प्रथम शताब्दीसे लेकर चतुर्थ शताब्दीके बीचमे अर्थात् अनुमानत तृतीय शताब्दीमे वाग्भट वर्तमान थे। माधवकरादि और सबसे वे अधिक प्राचीन थे क्योंकि अष्टाङ्गसग्रह तथैव हृदयमें प्राचीनोके अतिरिक्त अन्य नामाका उल्लेख कही भी नही मिलता। हमारा अनुमान है कि चरकका काल भी ईसवीसे पहिलेका है।

वाग्भटके शिष्यपुत्रपौत्रादि।

लम्बश्मश्रुकलापमम्बुजनिभच्छायाद्युति वैद्यकानन्तेवासिन इन्दुजेज्जटमुखानध्यापयन्त सदा।
आगुल्फामलकञ्चुकाञ्चितदरालम्बोपवीतोज्ज्वलत् कण्ठस्थागरुसारमञ्जितदृश ध्याये दृढ वाग्भटम्।

इन्दुकृत शशिलेखा टीका-सह त्रिचुरमें मुद्रित अष्टाङ्गसग्रहके उपोद्घातमे रुद्रपारशवप्रदर्शित उपर्युक्त पद्यसे सिद्ध होता है कि इन्दु-जेज्जट आदि वाग्भटके शिष्य थे। सुनते है अष्टाङ्गसग्रहकी तरह इन्दुने अष्टाङ्गहृदयपर भी शशिलेखा व्याख्या लिखी है। इसी प्रकार जेज्जटने भी चरक, सुश्रुत, अष्टाङ्गसग्रह तथा अष्टाङ्गहृदयपर व्याख्या की है किन्तु हमें देखनेका सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है। पिता तथा पितामहकी तरह वाग्भटके पुत्रपौत्रादिका पता नहीं लगता। आफ्रेच सूचीकारने चिकित्साकलिकाके कर्ता तीसटको वाग्भटका पुत्र करके लिखा है परन्तु यह प्रमाणोंसे स्पष्ट नही होता।

वाग्भटरचित ग्रन्थ।

(१) अष्टाङ्गसग्रह, (२) अष्टाङ्गहृदय, (३) वाग्भटकोश, (४) रसरत्नसमुच्चय, (५) वाग्भटालङ्कार, (६) शृङ्गारतिलक, (७) कविकल्पलता, (८) छन्दोऽनुशासन, (९) काव्यानुशासन, (१०) नेमिनिर्वाणकाव्य, (११) प्राकृतपिङ्गल और (१२) लघुजातक। इस प्रकार इन १२ ग्रन्थोंके कर्ता वाग्भट नामके थे परन्तु वस्तुत इनमेंसे केवल प्रथम और द्वितीय (अष्टाङ्गसग्रह तथा अष्टांगहृदय) ग्रन्थके ही कर्ता सिंहगुप्तके पुत्र वाग्भट थे, अन्य ग्रन्थोंके नही क्योंकि इन सबकी रचना वाग्भटके समयसे बहुत पीछे भिन्न-भिन्न वाग्भट नामधारियोंसे हुई है। वाग्भट बौद्ध थे और ये प्राय सबके सब श्वेताम्बरी जैन भिन्न-भिन्न नामवाले पिताके पुत्र थे। इनमेंसे वाग्भटकोशकर्ताका पता नही लगता तथापि सभवत वह कोई दाक्षिणात्य ब्राह्मण था। रसरत्नसमुच्चयके कर्ताका भी कोई पता नही है। यद्यपि ग्रन्थके अन्तमें सनुना सिंहगुप्तस्य लिखा मिलता है परन्तु यह ठीक नहीं है। लेखकप्रमादवशात् सघगुप्तका सिंहगुप्त हो गया प्रतीत होता है। इसका नाम भी वाग्भट था परन्तु यह रसतान्त्रिक शैव था, यह उसके ग्रन्थारम्भके मगलाचरणसे ही स्पष्ट होता है। यह सग्रहादिकार वाग्भटसे बहुत पीछे हुआ है। प्रफुल्लचन्द्ररायके मतानुसार यह ईशवी १३ वी शताब्दीमें हुआ है। क्योंकि इसके इस ग्रन्थमें सोमदेव, गोविन्द भगवत्पाद आदिके उद्धरण बहुतायतसे मिलते हैं। वाग्भटालङ्कार तथा शृङ्गारतिलककर्त्ता गुर्जरनरेश जयसिंहका अमात्य वाग्भट श्वेताम्बर जैन था। इसके पिताका नाम सोमदेव था। कविकल्पलताका बनानेवाला वाग्भट मालवनरेश देवेश्वरका अमात्य था। छन्दोऽनुशासन एव काव्यानुशासनकर्त्ता वाग्भट नेमिकुमारका पुत्र था। नेमिनिर्वाण-काव्यका रचयिता वाग्भट गुर्जरनरेश कुमारपालका दरवारी कवि था। इसी प्रकार प्राकृतपिङ्गलसूत्रकर्ता तथैव लघुजातकरचयिता वाग्भट भी जैन थे, बौद्ध नही थे। साराश, यह है कि वाग्भट (सिंहगुप्तपुत्र) रचित आज अष्टाङ्गसग्रह और अष्टाङ्गहृदय नामके ये दो ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिनको लोग क्रमसे वृद्धवाग्भट और वाग्भट नामसे भी जानते हैं।

क्या अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदयके कर्त्ता भिन्न भिन्न थे?

सबसे प्रथम डॉ० हार्नलेने कुछ भी प्रमाण न देते हुए अपनी पुस्तक मेडीसिन इन इण्डियामें लिख मारा कि 'अष्टाङ्गसंग्रह तथा हृदयके कर्त्ता वाग्भट भिन्न भिन्न हैं। इसी बातको लेकर भेडियाधसानकी तरह स्वर्गीय पण्डित हरिप्रपन्नजीने भी अपने रसयोगसागर ग्रन्थके लम्बे उपोद्घातमें लिख दिया कि 'अष्टाङ्गसग्रहकार वृद्धवाग्भट १४०० वर्ष पुराने थे तथा अष्टाङ्गहृदय कर्त्ता वाग्भट ईसाकी सातवीं या आठवी शताब्दीमें था और ये दोनों भिन्न भिन्न थे।' इसी प्रकार एक दो अन्य विद्वानोंने भी अपना मत प्रकट किया है।

स्वर्गीय ज्योतिषचन्द्र सरस्वतीने भी अष्टाङ्गहृदय-उत्तरतन्त्र (शिवदास सेन टीका) के सम्पादकीय उपोद्घातमें अष्टाङ्गसंग्रह और हृदयके कर्त्ता भिन्न २ माने हैं। इसमें आधार केवल संग्रहसे हृदयकी कुछ स्थानोंकी मतभिन्नता बताई है। इस भिन्नतामें संग्रहका मत तो दे ही दिया है परन्तु उसमें थोडासा सुश्रुतादिके अनुसार आगे और कुछ जोडा है जो कि संग्रहके रचनाकालमें छूट गया था। इसी कारणको लेकर अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदयके कर्त्ता भिन्न नहीं हो सकते। अष्टाङ्गसंग्रहकी रचना पहिले की है। उसके अनन्तर लिखे गये अष्टाङ्गहृदयमें वही ग्रन्थकार छूटे हुए विषयको ले सकता है।

महामहोपाध्याय स्वर्गीय गणनाथ सेन सरस्वती एवं श्रद्धेय यादवजी आचार्यने स्पष्ट कर दिया है कि प्रस्तुत ग्रन्थद्वयके सर्वत्र भाषा-सादृश्य तथा पिता-पितामहका एक नाम आदिसे संग्रह एवं हृदयके भिन्न भिन्न कर्त्ता मानना यह बडी भूलकी बात है। सारांश यह है कि अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदयका कर्त्ता वस्तुतः एक है।

अष्टाङ्गसंग्रहकी अन्वर्थकता

वैद्यमसारमें प्रकट है कि आयुर्वेद आठ अङ्गोंमें विभक्त है। भगवान् धन्वन्तरिके मतानुसार उक्त आठों अङ्गोंका क्रम शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतन्त्र, रसायन और वाजीकरण है। इनमें शल्यका प्रथम नामनिर्देश रहनेका मुख्य कारण यह बताया गया है कि **'एतद्धि अङ्गं प्रथमं प्रागभिघातव्रणसंरोहात्, यज्ञशिरःसन्धानाच्च'** अर्थात् शारीरिक व्याधियोंकी उत्पत्तिमें भी पहिले देवासुर-संग्राममें अभिघातजन्य-व्रणसंरोह करने तथैव रुद्रद्वारा छिन्न यज्ञके सिरको अश्विनीकुमारोंके जोड देनेसे यह (शल्य) अङ्ग आद्य माना गया है। वाग्भट इस क्रमको छोडकर काय, बाल, ग्रह, ऊर्ध्वाङ्ग, शल्य, जरा (रसायन) और वृष (वाजीकरण) क्रमको अपनाता है। आर्षसंहितावर्णित विषयोंकी व्यवस्थितरीत्या योजना करना ही वाग्भटको अभीष्ट था, यह प्रथम कह दिया गया है। आठों अङ्ग वे ही हैं जो भगवान् धन्वन्तरिने सुश्रुतादिको बताये हैं परन्तु क्रममें आगे पीछेका अन्तर अवश्य है। इस अन्तरके करनेमें वाग्भटके बुद्धिवैभवका स्पष्ट चमत्कार दृग्गोचर हो रहा है। वाग्भटने प्रथमाङ्ग कायको माना है सो ठीक ही प्रतीत होता है क्योंकि शल्य-शालाक्यादि समस्त कर्मोंका अधिष्ठान काय (शरीर) ही है। यह भी स्पष्ट है कि शरीरका सम्भव गर्भाधानादि-संस्कारोंके बाद बालजन्मपर अवलम्बित है। कौमारभृत्यसे ही शरीररक्षाके लिये ग्रह (भूतविद्याबलि आदि) का सम्बन्ध आता है, अतः युगसंदर्भानुरूप वाग्भटने काय-बाल-ग्रहोर्ध्वाङ्ग आदि अष्टाङ्गक्रम बडे विचारके साथ रखा है। तन्त्रान्तरोंसे अन्य कई विषयोंका भी समावेशकर अष्टाङ्गोंका साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। इससे अष्टाङ्गसंग्रह नामकी अन्वर्थकता स्पष्ट हो रही है।

सुश्रुतकी तरह अष्टाङ्गसंग्रह भी ६ स्थानोंमें विभक्त है। इनमें उपर्युक्त कायचिकित्सादि आयुर्वेदके आठों अङ्गोंका वर्णन किया गया है। कायचिकित्सा ऐसा अंग है जिसका सम्बन्ध सब स्थानोंसे आता है अतः ६ स्थानोंमें कोई भी स्थान ऐसा नहीं है जो कायचिकित्सासे अछूता रहा हो अर्थात् कायचिकित्सा सर्वस्थान-व्यापिनी है। इस तन्त्रमें भिन्न भिन्न छहों स्थानोंके विषय संक्षेपमें निम्न प्रकारसे कहे गये हैं।

१ प्राचीन परिपाटीके अनुसार संहिताओंमें सूत्रस्थान सबसे प्रथम रहता है और उसमें आगे सविस्तर वर्णन किये जानेवाले विषयोंका सूत्ररूपेण संक्षिप्त वर्णन रहता है। तदनुसार इसके ४० अध्यायोंमें आरोग्यरक्षोपाय, ऋतुजनितदोष-वैषम्यशमनार्थ प्रति-ऋतुके आहार-विहार, वेगरोधनिषेध, द्रव्योंके गण और गुण, दोष, धातु और मलोंके विकृता-विकृतलक्षण तथा विकृतिशमोपाय, रोगोंकी उत्पत्ति-भेद और उनका प्रतिषेध, स्नेहन-स्वेदन-वमन-विरेचन-बस्ति-नस्य-धूम-गण्डूष-आश्च्योतनादिविधि, यन्त्रों-शस्त्रोंका निरूपण, सिरा व्यध, शल्याहरण, शस्त्र-क्षाराग्निकर्म और इनके योग्य रोगोंका वर्णन है।

२ द्वादश अध्यायात्मक द्वितीय शारीरस्थानमें शुद्धाशुद्धशुक्रार्तवलक्षणोपाय, गर्भोत्पत्ति, गर्भिणीलक्षण, पुत्रकन्यादि-जन्म-लक्षण, मासिकगर्भवृद्धि-गर्भसङ्गलक्षणोपाय, मूढगर्भनिष्कासन, शस्त्रावचारण आदि संपूर्ण सूतिकाशास्त्रका वर्णन करके फिर अङ्ग-प्रत्यङ्ग विभाग, अस्थि-सिरा-धमनी-स्रोत, मर्मनामस्थान, इनके आशु या कालान्तरेण प्राणहरलक्षण आदि आदि समस्त चिकित्सोपयोगी शारीरका वर्णन कर दिया है।

३ निदानस्थानके सोलह अध्यायोंमें ज्वरादि समस्त व्याधियोंके निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्तिरूपसे रोगज्ञानके उपायोंको कहा है।

४ चिकित्सास्थानके २४ अध्यायोंमें ज्वरादि रोगोंकी दोषस्थानादिरूपेण चिकित्साका वर्णन किया है तथा शस्त्रक्षाराग्निकर्मके योग्य पक्वशोफोदर, अर्श, भगन्दर, अश्मरी, गुल्मादि रोगोंकी साङ्गोपाङ्ग चिकित्सा बताई गई है।

५ पाचवें कल्पस्थानके आठ अध्यायोंमें वमन-विरेचन-वस्तिके कल्प, वमनादि-व्यापत्तिके शमनोपाय, औषधियोंकी क्वाथादि-कल्पना तथा मानका वर्णन किया है।

६ छठे उत्तरस्थानके ५० अध्याय है। इसके प्रथम ६ अध्यायोंमें बाल (कौमारभृत्य) संज्ञक द्वितीय अङ्गको कहा है। इसके अनन्तर ४ अध्यायमें भूतविद्या नामक तृतीय अङ्गको, तदनन्तर १८ अध्यायोंमें चौथे शालाक्य अङ्गको कहा है। इसमें नेत्र-कर्ण-नासा-मुख और शिरोरोग ये सब आ गये हैं। इसके बाद ११ अध्यायोंमें पंचम शल्याङ्ग का वर्णन किया है। इसमें शस्त्रक्रिया साध्य भगन्दरादि व्याधियोंकी चिकित्सा आ गई है। इसके बाद ९ अध्यायोंमें छठे विषतन्त्रनामके अंगका वर्णन स्थावर-जङ्गम-विषभेदसे किया है। तदनन्तर एक अध्यायमें सातवें रसायन अङ्गको कहकर अन्तिम ५० वें एक अध्यायमें आठवें वाजीकरण अङ्गका विशद वर्णन किया है। इस प्रकार उत्तरस्थानके ५० अध्याय हुए हैं। सूत्रादि छहों स्थान मिलकर कुल १५० अध्यायोंमें अष्टाङ्गसंग्रह समाप्त हुआ है।

कुछ अनुवादके विषयमें

अब अनुवादके विषयमें भी कुछ कह देना उचित समझता हूं। जो कुछ भला-बुरा अनुवाद बन पडा है, वह विचारशील पाठकोंके सामने है। मैं प्रारम्भमें ही सूचित कर चुका हूं कि 'वाग्भटके रचनोंका गौरव कहाँ और मेरी अल्प मति कहाँ ? इसे जानते हुए भी मैं अष्टाङ्गसंग्रह-सागरको किस बूतेपर तैरकर पार करना चाहता हूं ? इसके उत्तरमें स्पष्ट कह दिया है कि **'शिष्टदिष्टपथपोत समाश्रित'** अर्थात् प्राचीन आयुर्वेदिक चरकसुश्रुतादि आदर्श संहिताओंके हमारे सम्माननीय चरकचतुरानन चक्रपाणिदत्त, डल्लन, इन्दु आदि कृत भाष्य ही मेरे पथप्रदर्शक रहेंगे, इनका प्रदर्शित मार्ग ही मेरी नैया रहेगी जिसपर आरूढ हो, मैं अवश्य संग्रहाब्धि पार करूंगा। साराश यह है कि, यह हिन्दी अनुवाद कोई मेरा कपोलकल्पित न समझे। अष्टाङ्गसंग्रहके प्रत्येक विचारणीय विषयकी यथास्थान पुष्टि मैंने उक्त भाष्यकारोंके असली संस्कृत उद्धरण टिप्पणीमें देकर की है। ये उद्धरण उनकी की हुई तत्तद्विषयक भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंकी टीकाओंसे लिए हैं जैसे कि चक्रपाणिदत्तकृत चरककी आयुर्वेददीपिका एवं सुश्रुतकी भानुमती टीकासे, डल्लनकृत सुश्रुतकी निबन्ध-संग्रह-व्याख्यासे, इन्दुकी अष्टाङ्गसंग्रहकी लिखी हुई शशिलेखा व्याख्यासे। इसी प्रकार हेमाद्रि, चन्द्रनन्दन तथा अरुणदत्तकृत अष्टाङ्गहृदयकी क्रमेण आयुर्वेदरसायन, पदार्थचन्द्रिका और सर्वाङ्गसुन्दरा व्याख्याओंसे, गङ्गाधर कविराज एवं योगीन्द्रनाथसेनकी क्रमेण चरकसंहिताकी जल्पकल्पतरु एवं चरकोपस्कार टीकाओंसे लिए गये हैं जो कि उस-उस विषयके ग्रन्थोक्त अध्यायोंकी टीकाओंमें पाठक देख सकते हैं। अनवधानतया उद्धरणोंके सामने स्थान-अध्यायका निर्देश नहीं किया है, वह इस सूत्रस्थानके द्वितीय संस्करणमें ठीक कर दिया जायगा। इसके आगेके शारीर-निदान-चिकित्सा-कल्प और उत्तरस्थानमें उद्धरणोंके सामने स्थान-अध्याय-निर्देश रहेगा।

भ्रम और उसका निवारण

अष्टाङ्गसंग्रहके इस हिन्दी अनुवादमें एक समस्या सामने आई जो कि काल-मान-विषयक थी। एतदर्थ संग्रहके साथ साथ चरक-सुश्रुतका भी अवलोकन किया कि देखें कालविभागके विषयमें ये क्या कहते हैं। चरकमें जैसा चाहिए वर्णन नहीं मिला। सुश्रुतका पाठ भ्रमपूर्ण होते हुए भी उसमें वाग्भटके पाठसे प्राय सादृश्य पाया गया। कालमानविषयक वे सुश्रुत और अष्टाङ्गसंग्रहके पाठ निम्नप्रकार हैं।

सुश्रुतका पाठ

तस्य संवत्सरात्मनो भगवानादित्यो गतिविशेषेण निमेषकाष्ठाकलामुहूर्ताहोरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरयुगप्रविभागं करोति। तत्र लघ्वक्षरोच्चारणमात्रोऽक्षिनिमेष । पञ्चदशाक्षिनिमेषा काष्ठा, त्रिंशत्काष्ठा कला, विंशतिकलो मुहूर्त्त कलादशभागश्च, त्रिंशन्मुहूर्त्तमहोरात्र, पञ्चदशाहोरात्राणि पक्ष , स च द्विविध शुक्ल कृष्णश्च, तौ मास ॥ ५ ॥ (सुश्रुत सूत्र अ ६)

अष्टाङ्गसंग्रहका पाठ

स (काल) मात्राकाष्ठाकलानाडिकामुहूर्तयामाहोरात्रपक्षमासर्त्वयनवर्षभेदेन द्वादशधा विभज्यते । तत्राक्षिनिमेषो मात्रा। ता पञ्चदश काष्ठा। तास्त्रिंशत्कला। ता सदशभागा विंशतिर्नाडिका। नाडिकाद्वय मुहूर्त्तश्च। ते तुल्यरात्रिंदिवे राशिभागे चत्वार पादोना याम । यैश्चतुर्भिरहोरात्रश्च । पञ्चदशाहोरात्रा पक्ष । पक्षद्वय मास । स शुक्लान्त । (अ स० सू अ ४)

सुश्रुतोक्त पाठमें कालविभाग निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर और युग, इस प्रकार एकादशधा बताया है। इसमें निमेषसे लेकर युगतक ११ प्रकार कहे हैं परन्तु वाग्भटने मात्रा या निमेषसे लेकर वर्षतक कालको १२ भागोंमें विभक्त किया है। सुश्रुतके पाठमें वाग्भटोक्त नाडिका (घटी) और याम (प्रहर) ये दो छूट गये हैं। इस प्रकार सुश्रुतोक्त संवत्सर अर्थात् वर्षतक कालके वाग्भटोक्त १२ प्रकारकी जगह १० ही होते हैं। परन्तु संवत्सरके आगे युगके कथनसे सुश्रुतोक्त प्रकार ११ होते हैं। इन दो पाठोंमें वाग्भटोक्त पाठसे उतना नहीं, जितना सुश्रुतके पाठसे मनुष्य असमंजसमें पडता है। हम चाहते हैं कि ये दोनों पाठ ज्योतिश्शास्त्रोक्त प्रचलित प्राचीन कालविभाग-पद्धतिसे तन्तोतन्त ठीक सिद्ध हों। निमेषसे कालतक सुश्रुत और वाग्भटका पाठ समान है और यह ठीक प्रतीत होता है परन्तु कलाके अनन्तर वाग्भटोक्त नाडिकाका परित्याग करके एकदम सुश्रुतमें कह दिया गया है कि **'विंशतिकलो मुहूर्त कलादशभागश्च'** इस सुश्रुतके पाठसे तो बुद्धि चक्कर काटने लगती है—कुछ समझमें नहीं आता। भारतीय शास्त्रोक्त कालविभागानुसार जिस कलाका मान एक पल भी नहीं, पलका तृतीयांशमात्र ही होता है, ऐसी २० कलाओंसे एक मुहूर्त कैसे हो सकता है ? वस्तुत मुहूर्त द्विघटिकात्मक अर्थात् १२० पलका होता है। यह समस्या कैसे निबटाई जाय ? बडी चिन्ता खडी हो गई कि अष्टाङ्गसंग्रहके कालमानविषयक मूलका हिन्दी अनुवाद कैसे किया जाय।

अन्ततो गत्वा हमें एक बात स्थिर कर लेनी पडी कि अष्टाङ्गसंग्रहके पाठसे ही विचार करना चाहिए क्योंकि हमें आधुनिक मुद्रित पुस्तकोंमें सुश्रुतका यह पाठ भ्रामक प्रतीत होता है। सुश्रुतके टीकाकार डल्लन तथा चक्रपाणिदत्तने इस पाठका स्पष्टीकरण बराबर जैसा चाहिये वैसा नहीं किया है। अपनी सुश्रुतकी भानुमति टीकामें चक्रपाणिने यह सकेत अवश्य किया है कि **'स लिपिदोषात् पाठो वर्णनीय'** परन्तु दोनोंकी टीकाओंमें मूल पाठ एकसा ही है अत यह पाठ डल्लनचक्रदत्तके समयसे पहिले ही लिपिदोषयुक्त हो चुका था। प्राय पाठ-द्वयमें साम्य है अर्थात् वाग्भटके पाठमें कुछ अन्तरसे वे ही शब्द कहे गए हैं। पाठ के उद्धरण ऊपर सुश्रुत-अष्टाङ्गसंग्रहसे लेकर ज्योंके त्यों दिये गए हैं। वाग्भटका चरकसुश्रुतानुयायित्व उसके ग्रथितग्रन्थोंसे सिद्ध है। वाग्भट डल्लन और चक्रदत्तसे विशेष प्राचीन थे। इतना ही नहीं, कालविभाग-प्रदर्शक शब्द सुश्रुतमें प्राय वे ही हैं जो अष्टाङ्गसंग्रहमें हैं, परन्तु लिपिदोषवशात् वे यथास्थान न रहकर भूलमें इधरके उधर पडकर पाठभ्रष्ट हो गया और वह कई शताब्दियोंसे ज्योंका त्यों चला आ रहा है। पाठकी इस गडबडीके कारण ही टीकाकार सुश्रुतके इस पाठका स्पष्टीकरण नहीं कर सके।

मैंने अपने पत्र 'आयुर्वेद'द्वारा इस पाठके प्रश्नको दो बार उठाया और विद्वद्वैद्यमहोदयोंसे पूछा कि काशी हिन्दूविश्वविद्यालयगत आयुर्वेदिक कालेज एवं कलकत्ता-बम्बईके अष्टाङ्ग आयुर्वेदिक कालेज आदिके छात्रोंको सुश्रुत पढाते समय विद्वान् अध्यापक किस प्रकार इस सुश्रुतोक्त कालविभागका स्पष्टीकरण कर समझाते हैं ? इस भ्रामक पाठके कारण ही मैं समझता हूं कि किसीने आगे आकर

समझानेका प्रयत्न नहीं किया। मैं निश्चय कर चुका कि वाग्भटने कालविभागवर्णनमें अक्षिनिमेषसे लेकर मुहूर्ततक सुश्रुतका ही पाठ ज्यों का त्यों लिया है जिसको लिपि-प्रमादकारोंने नष्ट-भ्रष्टकर सुश्रुतमें कुछ का कुछ कर दिया है। प्रतीत होता है कि अष्टाङ्गसंग्रहके पाठमें भी सदशके आगेका दशम शब्द छूट गया है अर्थात् 'सदश दशमभाग' पाठ ही ठीक बैठता है।

अब देखना है कि इस कालविभागविषयमें हमारे प्राचीन प्रामाणिक कोषकारोंकी परिभाषा क्या है। इस परिभाषाके देखनेपर विश्वास है कि हमारे सामने आई हुई समस्या सहजमें सुलझ जायगी। सविनय निवेद है कि पाठक महोदय सावधानतया विचारकर इसका निर्णय करेंगे। नामलिङ्गानुशासनकर्ता अमरसिंह अपने अमरकोषके प्रथम काण्डके कालवर्गमें लिखते हैं कि—

अष्टादश निमेषास्तु काष्ठा, त्रिंशत्तु ताः कला। तास्तु त्रिंशत्क्षणः, ते तु मुहूर्त्तो द्वादशास्त्रियाम् ॥ ११ ॥

अर्थात् १८ निमेषकी १ काष्ठा, ३० काष्ठाकी १ कला, ३० कलाका १ क्षण और १२ क्षणोंका १ मुहूर्त होता है। सर्वत्र प्रसिद्ध है कि ज्योतिश्शास्त्रानुसार १ मुहूर्त २ घटी या १२० पलका होता है। बारह क्षण का एक मुहूर्त अतः १२० पलमें १२ का भाग देनेसे एक क्षणका प्रमाण १० पल सिद्ध हुआ। हमें यहां निमेषसे लेकर मुहूर्ततकसे ही मतलब है क्योंकि इसमें निमेष, काष्ठा, कला, पल, घटी और मुहूर्तका प्रमाण हमारी प्राचीन प्रचलित परिपाटीके कालमानानुसार ठीक बैठ जाता है।

हेमचन्द्राचार्यकृत अभिधानचिन्तामणिसे भी अमरकोषोक्त मानकी ही पुष्टि होती है। आयुर्वेदोक्त मानसे अन्तर केवल तीन निमेषका ही है जो कि नगण्य सा है। आयुर्वेदसंहिताकार १५ निमेषकी काष्ठा मानते हैं, वहाँ ये कोषकर्त्ता १८ निमेषकी। हैमकोष (अभिधानचिन्तामणि) के द्वितीय काण्डमें कालविभाग इस प्रकार लिखा है—

अष्टादश निमेषाः स्युः काष्ठा, काष्ठाद्वयं लवः। कला तैः पञ्चदशभिर्लेशस्तद्द्वितयेन च ॥ ५० ॥
क्षणस्तैः पञ्चदशभिः क्षणैः षड्भिस्तु नाडिका। सा धारिका घटिका च मुहूर्तस्तद्द्वयेन च ॥ ५१ ॥

अर्थात् १८ निमेषकी १ काष्ठा, २ काष्ठाका १ लव, १५ लव अर्थात् ३० काष्ठाकी १ कला, २ कलाका १ लेश, १५ लेश अर्थात् ३० कलाका १ क्षण, ६ क्षणकी १ नाडिका, धारिका या घटिका और २ नाडिका या घटिकाका एक मुहूर्त होता है। यहाँ भी ६ क्षणोंकी घटिका या नाडिकाके ६० पलों में ६ का भाग देनेसे एक क्षणका प्रमाण दस पल ही सिद्ध हुआ। अष्टाङ्गसंग्रहके वाग्भटोक्त पाठमें सदशके सामनेका दशम शब्द छूट गया प्रतीत होता है, यह पहिले भी लिख चुका हूं। तदनुसार शुद्ध पाठ इस प्रकार होता है। यथा—

तत्राक्षिनिमेषो मात्रा, ताः पञ्चदश काष्ठा, तास्त्रिंशत्कला, ताः सदश दशमभागा विंशतिर्नाडिका, नाडिकाद्वयं मुहूर्तश्च ॥

इसका सरलार्थ निम्न प्रकारसे बिलकुल ठीक बैठ जाता है। जैसे कि—**'तत्राक्षिनिमेषो मात्रा, ताः पञ्चदश (मात्रा) काष्ठा, तास्त्रिंशत् (काष्ठा) कला, ताः (त्रिंशत्कला) दशमभागा दशमभागमितास्त्रिंशत् सदशविंशतिर्नाडिका, नाडिकाद्वयं मुहूर्तश्च।'** अर्थात् अक्षिनिमेषका ही पर्याय मात्रा है। इन १५ मात्राकी १ काष्ठा और ३० काष्ठाकी १ कला, इन ३० कलाओंकी दशमांशप्रमित ३० कला या पल १० और २० सहित अर्थात् ६० पल या कलाकी १ नाडिका या घटी और २ घडीका १ मुहूर्त्त होता है। ध्यान रहे कि उपर्युक्त पाठोक्त ३० काष्ठाप्रमित ३० कलाओंको ही कोषकारोंने १ क्षण माना है **(काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला। तास्तु त्रिंशत् क्षणः)** यह एक क्षण १० पलका होता है अतः उक्त ३० कलाओंका दशम भाग भी १ पल आता है। ऐसे ३० पलोंमें दस सहित बीस मिलानेसे साठ (३० + १० + २० = ६०) पलकी एक नाडिका (घटिका) होती है। नाडिकाद्वय अर्थात् दो घडीका एक मुहूर्त्त होता है। यह स्पष्टीकरण कोषकारोंकी कालविभागविषयक परिभाषामें पहिले भी हो चुका है।

हमने अपना यह स्पष्टीकरण श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य, पुरी गोवर्धनमठाधीश्वर जगद्गुरु स्वामी श्री १११ भारतीकृष्णतीर्थ महाराजकी सेवामें जाकर निवेदन किया था। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि जगद्गुरु बडे भारी सर्वतन्त्रस्वतन्त्र प्रकाण्ड पण्डित एवं गणितज्ञ हैं। आचार्यचरणने मेरे इस कालविभागविषयक स्पष्टीकरणको श्रवणकर परम प्रसन्न होते हुए सानन्द आशीर्वाद प्रदान किया है जो कि इस ग्रन्थमें अन्यत्र प्रकाशित है। एतदर्थ मैं आचार्यचरणोंका नितान्त आभारी हूं।

कालविभागविषयक झमेलेके इस प्रकार निपटनेपर मुझे और मेरे दयालु कई विद्वान् मित्रों को परमानन्द हुआ है परन्तु देशमें ऐसे महानुभावोंकी भी कमी नहीं है जो छोटे मुंह बडी बातवाली कहावतको सामने लाते हुए ननु न च करें, नाक-भौंह सिकोडें तथा इस कालविभागविषयक मेरे इस स्पष्टीकरणको पक्षपातरहित होकर न देखें। मैं तो उनसे भी सविनय निवेदन करता हूं कि वे भी पाकर सुझाव दें और मुझे सन्तुष्ट करें। अन्यथा मुझे महाकवि भवभूतिके शब्दोंमें कह देना उचित प्रतीत होता है कि—

'ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां जानन्तु ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यते हि मम कोऽपि समानधर्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥'

अन्तमें मैं अपने दयालु प्रिय मित्र, सुहृद्वर, श्रद्धेय पण्डित **आयुर्वेदमार्तण्ड श्रीयादवजी त्रिकमजी आचार्य**को अनन्त धन्यवाद देता हूं जो मुझे सदैव इस विषयमें परमोत्साह प्रदान करते रहते हैं। इसी प्रकार मैं अपने प्रिय पुत्र चि० शिवकरण तथैव प्रिय शिष्य गुलराज मिश्र तथा जानकीनाथ शर्मा झाडू काश्मीरिकको सानन्द आशीर्वाद देता हूं जिनने मुझे समय समयपर यथासाध्य लेखन सहायता दी है। मेरा जिनसे बडा अच्छा घरेलू सम्बन्ध है, उन श्रेष्ठिप्रवर गोलोकवासी श्री हरिदासजीके सुपुत्र परम भागवत श्री० जयकृष्णदासजी गुप्त अध्यक्ष चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारसको भी बिना आशीष दिए नहीं रह सकता जिनने बडी सुन्दरतासे इस ग्रन्थको छापकर प्रकट किया है। चि० विद्वद्वर भिषग्रत्न श्रीब्रह्मशङ्कर मिश्र भी धन्यवादार्ह हैं जिनने मुझे समय समयपर अपनी सत्सम्मति प्रदान की है।

सातावर्डी, नागपुर-१
श्रीधन्वन्तरित्रयोदशी सं० २०१० वि०

विद्वद्वृन्दानुचर—
वैद्य श्रीगोवर्धनशर्मा छांगाणी

विषयानुक्रमणिका

सूत्रस्थानम्

दशमोऽध्याय

एकादशोऽध्याय

द्वादशोऽध्याय

त्रयोदशोऽध्याय

चतुर्दशोऽध्याय

पचदशोऽध्याय

अष्टत्रिंशोऽध्याय

एकोनचत्वारिंशोऽध्याय

चत्वारिंशोऽध्याय

इति अष्टाङ्गसंग्रहके प्रथमसूत्रस्थानमें वर्णित विषयानुक्रमणिका।

॥ श्रीः ॥

'अर्थप्रकाशिका' व्याख्यामें प्रमाणतयोपन्यस्त—

ग्रन्थसूची

१ **चरकसंहिता** चक्रपाणिदत्तकृतायुर्वेददीपिकाव्याख्या-सवलिता ।

२ **चरकसंहिता** चक्रदत्तव्याख्यासहयथासादितजेज्जट व्याख्यान्विता ।

३ **चरकसंहिता** सचक्रदत्तव्याख्या गङ्गाधरकविराजकृत-जल्पकल्पतरुव्याख्यासहिता ।

४ **चरकसंहिता** योगीन्द्रनाथसेनकृतचरकोपस्कारविभूषिता

५ **सुश्रुतसंहिता** डल्हनकृतनिबन्धसंग्रहसमेता शारीर-स्थानमात्रगयदासटिप्पणीनालकृता च ।

६ **सुश्रुतसंहिता** सूत्रस्थानावधिचक्रपाणिरचितभानुमती-व्याख्यया समुल्लसिता ।

७ **सुश्रुतसंहिता** हाराणचन्द्रचक्रवर्तिकृतसुश्रुतसन्दीपन-भाष्ययुता ।

८ **सुश्रुतसंहिता** सूत्रस्थानाच्छारीरावधिभास्करगोविन्द-घाणेकररचितहिन्दीभाष्यभूषिता ।

९ **भेडसंहिता** (मध्ये मध्ये खण्डिता)

१० **वृद्धवाग्भटापरपर्यायाष्टाङ्गसंग्रहो** मूलमात्रकृष्ण-शास्त्रिदेवधरसंपादित ।

११ **अष्टाङ्गसंग्रहः**, इन्दुकृतशशिलेखाव्याख्यान्वित ।

१२ **अष्टाङ्गहृदय** हरिशास्त्रिपराडकरसंपादितमरुणदत्तकृत-सर्वाङ्गसुन्दराहेमाद्रिविरचितायुर्वेदरसायनटीकासवलितम् ।

१३ **अष्टाङ्गहृदय** सूत्रस्थानमात्र राजवैद्यरामप्रमादसंपादित-मरुणदत्तकृतसर्वाङ्गसुन्दरा-हेमाद्रिकृतायुर्वेदरसायन-चन्द्र-नन्दनरचितपदार्थचन्द्रिकाव्याख्यात्रयसहितम् ।

१४ **शार्ङ्गधरसंहिता** आढमल्लीव्याख्यया काशीरामरचित-टीकया च सवलिता ।

१५ **भावप्रकाशः**, भावमिश्ररचित ।

१६ **माधवनिदान** मधुकोषातङ्कदर्पणटीकाभ्या सहितम् ।

१७ **सिद्धभेषजमणिमाला** कृष्णरामकविकृता लक्ष्मीराम-स्वामिकृतटिप्पणिकान्विता ।

१८ **सांख्यकारिका** वाचस्पतिमिश्रकृतसांख्यतत्त्वकौमुदी-टीकान्विता ।

१९ **धन्वन्तरिनिघण्टुः** ।

२० **राजवल्लभनिघण्टुः** ।

२१ **वैद्यनिघण्टुः** ।

२२ **वैद्यकशब्दसिन्धुः** ।

२३ **अमरकोषः** महेश्वरकृतामरविवेकटीकयान्वित ।

२४ **अमरकोषः** भानुदीक्षितस्य व्याख्यासुधासहित ।

२५ **त्रिकाण्डशेषः** पुरुषोत्तमदेवकृत ।

२६ **हारावलिः** पुरुषोत्तमकृता ।

२७ **अभिधानचिन्तामणिः** आचार्य हेमचन्द्रविरचित ।

२८ **मेदिनीकोषः**

२९ **वाचस्पत्यबृहदभिधानम्**

३० **शब्दकल्पद्रुमः**

३१ **शब्दार्थचिन्तामणिः**

३२ **काश्यपसंहिता** (वृद्धजीवकतन्त्रापरपर्याया) यादवाचार्यैः संपादिता ।

३३ **कुमारसंभव** महाकविकालिदासकृतम् ।

इत्यादि



श्रीमद्वाग्भटाचार्यविरचितः

अष्टाङ्गसङ्ग्रहः

अर्थप्रकाशिकाख्यया हिन्दीव्याख्यया संवलितः ।

सूत्रस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

टीकाकारकृतमङ्गलाचरणम् ।

यस्य दयालवलेशाद्वागीश्वरतामुपैति मूढोऽपि ।
सर्वार्थसिद्धिसदनं वन्दे तमहं गणेशमिभवदनम् ॥१॥
तरणिरिव[1]ामयमकराकुलपारावारपारदस्तरणि[2] ।
जयति जनानन्दकर कर निकर निरस्त तिमिरौघ ॥२॥
शूलिप्रियाम्[3]पर्णा[4] सुपुण्यलभ्या नमामि पर्वतजाम्[5] ।
सेवकजनेष्टफलदां महौषधि सिद्धिदां देवीम् ॥३॥
उभयोरेकाप्रकृति प्रत्ययभेदाद्धि भिन्नवद्भाति ।
नितरामवत्वय मां हरिहरयोरैक्यसद्भाव ॥४॥
काद्यानायुर्वेदाचार्यान्[6] पितरौ प्रणम्य गुरुवर्यान् ।
श्रीचक्रडल्लनेन्दुहेमा[7]दीनां वचांसि सस्मृत्य ॥५॥
सर्वेषामुपयुक्तां हिन्द्यामष्टाङ्गसग्रहव्याख्याम् ।
अर्थप्रकाशिकाख्यां वैद्यो गोवर्धनं कुरुते ॥६॥
वाग्भटस्य वचसां क्व गौरवं मामकी क्व च लघीयसी मतिः ।
सग्रहाब्धितरणेऽस्मि यत्नवान् शिष्टदिष्टपथपोतमाश्रित ॥७॥

१ नौरिव। २ मृय । ३ रोगिप्रियाम् पक्षे शिवप्रियाम्। ४ पर्णरहिता सोमाख्या लताम्, उमा च। ५ पर्वतोत्पन्नामोषधिं पार्वती देवी च। ६ ब्रह्माद्यान्। ७ चक्रदत्तडल्लनेन्दुहेमाद्रिप्रभृतीनाम्।

शास्त्र के आरम्भ और समाप्ति में शिष्यशिक्षार्थ तथा ग्रन्थ की निर्विघ्न-समाप्ति के लिए आचार्य मङ्गलाचरण किया करते हैं। इसी शिष्टाचारानुसार श्रीमद्वाग्भटाचार्य भी इस अष्टाङ्ग-सग्रह ग्रन्थ के आदि में नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण करते है। यथा—

ग्रन्थकारकृतमङ्गलम्

रागादिरोगाः[1] सहजाः समूला
येनाशु सर्वे जगतोऽप्यपास्ताः ।
तमेकवैद्यं शिरसा नमामि
वैद्यागमज्ञांश्च पितामहादीन् ॥

राग है आदि मे जिनके ऐसे अपने और जगत् के, साथ ही मे उत्पन्न होनेवाले सपूर्ण रोग, समूल दूर कर दिए है जिसने, उस एक वैद्य को तथा वैद्यागम (आयुर्वेद) के जाननेवाले ब्रह्माजी आदि को नतमस्तक होकर नमस्कार करता हूँ।

वक्तव्य—विकृत रजोगुण तथा तमोगुणों[2] के कारण, शुद्ध

१ क सज्ञकपुस्तके प्रथम—"तृष्णादीर्घमसद्विकल्पशिरस प्रद्वेषचञ्चत्फण कामक्रोधविष वितर्कदशन रागप्रचण्डेक्षणम् । मोहास्य स्वशरीरकोटरशय चित्तोरग दारुण प्रज्ञामन्त्रबलेन य शमितवान् बुद्धाय तस्मै नम ॥" पद्यमेतदस्ति । तदनु पद्यमिदमप्यस्ति ।

२ सत्त्वरजस्तमासीति त्रयो गुणा समविषमरूपेणाव्यक्तमहदहङ्कारमनसा प्रकृतिभूतधातवो मनसि वर्तन्ते तेषा दूषकौ यतो रजस्तमोगुणौ विषमावेव भवनो न तु समौ तस्मान्मानसदोषसज्ञकौ इति गङ्गाधर ।

मनको दूषित करनेवाला राग[1] है आदि मे जिनके, ऐसे इच्छा एव द्वेष से उत्पन्न होनेवाले क्रोध, शोक, भय, हर्ष विषाद, ईर्ष्या, छिद्रान्वेषण कर दूसरे पर दोषारोपण, दीनता, मात्सर्य, क्रूरता, काम, लोभ आदि मानसिक[2] बाह्यहेतुक आगन्तुक तथा वात-पित्त कफ की विषमता से शरीर मे होनेवाले ज्वर, कास, श्वास आदि शारीरिक (आभ्यन्तरिक) ये दोनों प्रकार के मन और शरीर को पीडा देनेवाले रोग[3], तथैव सहजा = साथ ही मे उत्पन्न होकर सदैव साथ रहनेवाले अर्थात् ससारी से कदापि अलग न होनेवाले[4] ऐसे असाध्य रोग, केवल अपने ही नहीं, अपितु जगतोऽपि = गज, तुरग, सर्प प्रभृति समस्त जागतिक प्राणियों में पसरनेवाले कुछ रोग ही नही किन्तु सर्वे = सभी, उनके मूल अज्ञानसहित जिसने शीघ्र ही दूर[5] कर दिए है उस एक वैद्य तथा ब्रह्माजी आदि को शिरसा नमस्कार करता हूँ।

इस प्रकार ग्रन्थकार रोगसमूह के दूरीकरण में भगवान् श्रीधन्वन्तरि का अन्य वैद्यों की अपेक्षा अपूर्व वैद्यत्व सिद्ध कर रहे हैं। आयुर्वेद सहजादि व्याधियों को असाध्य कहता है परन्तु यहा ग्रन्थकार "रागादिरोगा सहजा समूला येनाशु सर्वे जगतोऽप्यपास्ता "इस श्लोकार्ध में स्पष्ट कह रहे है कि इन सहजादि व्याधियों को भगवान् धन्वन्तरि के अतिरिक्त अन्य कोई भी वैद्य मिटा नही सकता, यही अद्भुतशक्तित्व इनका अपूर्वत्व[6] है। भगवान् धन्वन्तरि ही एक ऐसे वैद्य हुए है। इसी लिए "तमेकवैद्य शिरसा नमामि" कहा है। पितामहादीन् इसमें के आदि शब्द से दक्ष प्रजापति, अश्विनीकुमार, इन्द्र, धन्वन्तरि, भारद्वाज, सुश्रुत, आत्रेयादि का ग्रहण है अर्थात् ब्रह्माजी एव इन आयुर्वेद के जाननेवाले आचार्यों को भी नमस्कार करता हूं।

(प्रश्न) निज अर्थात् शारीरिक तथा आगन्तुक (समानसिक) भेद से रोग दो ही प्रकार के माने गये है। इनके अधिष्ठान[7] भी शरीर और मन ये दो ही है। रागादि अर्थात् क्रोध लोभ आदि से उत्पन्न रोग मन में रहते है और इसी प्रकार ज्वर अतीसारादि शरीर में। इससे स्पष्ट है कि मानसिक व्याधिया मन को और शारीरिक रोग शरीर को दु ख देनेवाले है। ऐसी अवस्था मे भी यह कैसे कह दिया कि उक्त रागादि सभी रोग शरीर और मन इन दोनों को दु ख देनेवाले होते है। क्या मानसिक रोग केवल मन को और शारीरिक शरीर को दु खदायी होते है, यह कहना ठीक नही होगा ?

(उत्तर) नही, शरीर और मन इन दोनों के आधाराधेय भाव को देखते यह कथन ठीक नही हो सकता कि मानसिक व्याधिया केवल मन को और शारीरिक केवल शरीर को ही दु ख देती है। आधार और आधेय इन दोनों के सम्बन्ध के कारण इन दोनों के गुण-धर्म भी एक दूसरे मे आ ही जाते है, जैसे कि लोहे की कडाही रूप आधार मे आधेय तपाया हुआ लोहे का गोला रख दिया जाय तो उसकी आधार कडाही भी तप जायगी। इसी प्रकार आधार रूप तपी हुई कडाही मे आधेय ठण्डा घृत रक्खा जाने पर आधार (कडाही) की तरह वह उष्ण (गरम) हो जायगा। इसी प्रकार शरीर और मन इन दोनों की मानसिक एव शारीरिक रोगों द्वारा दु खी होने[1] की बात है क्योंकि मन आधेय है और शरीर उसका आधार है।

(प्रश्न) रागादि रोगों की तरह ज्वरादि सब रोगों को भी सहजा यह विशेषण दिया गया है जिनका अर्थ है सततानुषक्ता अर्थात् जन्म से लेकर मरणपर्यन्त सदैव साथ रहनेवाले या कदापि शरीरधारी का साथ न छोडनेवाले तो क्या यह बात ठीक है ?

(उत्तर) हा, यह बात ठीक है। यदि सत्कार्यवाद से देखा जाय तो ज्वरादि समस्त रोग सूक्ष्मरूपेण जन्म से शरीर में रागादि रोगों की तरह बने रहते[2] है।

अब आचार्य अपने तन्त्र को आरम्भ करते हुए कहते है कि—

अथात आयुष्कामीय नामाध्याय व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

आयुष्कामीय अध्यायारम्भ—मङ्गलाचरण एव नमस्कार करने के अनन्तर अब हम आयुष्कामीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे जैसे कि आत्रेयादि महर्षि पहले कर गये है।

वक्तव्य—अथ शब्द यहा मङ्गलार्थवाचक है। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे मङ्गल शब्द का उपादान इस लिए उचित है कि मङ्गल सेवा द्वारा ग्रन्थकार तथा ग्रन्थ के सुननेवालों को निर्विघ्नतया इष्ट प्राप्ति होती है। इसी[3] लिए अन्य शास्त्रों के प्रारम्भ में भी अथ शब्द दिखाई देता है। ग्रन्थकार कहते है कि अत = नम-

---

१ शुद्धस्य चेतसो रजस्तमोभ्या रञ्जन राग, इति हेमाद्रि।

२ मानसास्तु क्रोधशोकभयहर्षविषादेर्ष्याभ्यसूयादैन्यमात्सर्यकामलोभप्रभृतय इच्छाद्वेषभेदैर्भवन्ति। इति सुश्रुत

३ रुजन्तीति रोगा देहमनसी सन्तापयन्ति। इत्यरुणदत्त

४ सहजाता सहजा, जन्मन प्रभृति शरीरिणा सङ्गता इतीन्दु। "सततानुषक्ता सर्वकाल प्रसृता सहजा" इत्यरुण। "सततानुषक्ता नित्यमनुलग्ना, न कदाचित्तैर्वियुक्त ससारी भवति" इति चन्द्रनन्दन।

५ सर्वे न तु केचिदेव। समूला येनापास्ता, मूलमेषामज्ञानम्। इतीन्दु।

६ "अपूर्वत्व च अद्भुतशक्तित्वम्। एतच्च ज्वरादिविलक्षणाना रोगाणा घातेन। ते च रागादय" इति हेमाद्रि। 'एकश्चासौ वैद्यश्च त नमामि। एव गुणयुक्तस्यान्यस्य भिषजोऽभावात्तस्यैकत्वम्। न ह्यन्यो वैद्यस्सहजत्वाद्यसाध्यलक्षणयुक्तान् रोगाञ्जेतु शक्नोति" इतीन्दु।

७ निजागन्तुविभागेन तत्र रोगा द्विधा स्मृता। तेषा कायमनोभेदादधिष्ठानमपि द्विधा।

१ यथाधेयेनायोगोलकेन सतप्तेन तदाधारस्य कटाहादे सताप। आधारेण च कटाहादिना सतप्तेनाधेयस्य घृतादे सताप। तदेव रागादयो द्वय रुजन्तीति न्याय्यमेतत्। इत्यरुणदत्त।

२ सत्कार्यवादिना मते ज्वरादयोऽपि सूक्ष्मरूपेणैवमेव (सततानुषक्ता सर्वकालमात्मना सबद्धा) इति हेमाद्रि।

३ ग्रन्थादौ मङ्गलसेवानिरस्तान्तरायाणा ग्रन्थकर्तृश्रोतृणामविघ्नेनेष्टलाभो भवतीति युक्त मङ्गलोपादानम्। अथ शब्दस्य मङ्गलत्वे स्मृति —'ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मण पुरा। कण्ठ भित्त्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ॥' इति। शास्त्रान्तरे चादौ मङ्गलत्वेन

स्कार के अनन्तर अब हम आयुष्य की कामनावालों के लिए हितकारी अथवा जिसका आरम्भ आयुष्काम शब्द से होता है ऐसे आयुष्कामीय[1] नामक अध्याय (प्रकरण विशेष) का व्याख्यान करेंगे । यहा शङ्का हो सकती है कि क्या आप अपनी बुद्धि से ही यह व्याख्यान करेंगे ? इसके उत्तर मे कहते है कि हम अपनी कपोलकल्पना से ही यह व्याख्या नही करेंगे किन्तु "इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय " अर्थात् आत्रेय, भारद्वाज, जतुकर्ण, पराशरादि नितान्त ज्ञानी एव पूज्य महर्षि पहले कर गये है वही व्याख्यान[2] हम करेंगे ।

उपर्युक्त आत्रेयादि महर्षि क्या कर गये है ? इसके उत्तर मे आयुर्वेदतत्त्वज्ञानार्थ शिष्यगण को प्रोत्साहित करते हुए ग्रन्थकार कहते है कि—

आयु-कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् ।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादर· ॥

आयुर्वेदोपदेश—धर्म, अर्थ और सुख के साधन स्वरूप जीवन की इच्छावाला आयुर्वेद के उपदेशों मे परम आदर (श्रद्धा) रक्खे अर्थात् आयुर्वेद के उपदेशों को मानता रहे।

वक्तव्य—धर्म, अर्थ और सुख[3] (काम और मोक्ष) की प्राप्ति का उपाय आयु अर्थात् यथोक्त नीरोग जीवन ही है अत नीरोग जीवन की इच्छावाले[4] को चाहिए कि जिनमे नीरोग जीवन के अनेक उपाय बताए गए है उन आयुर्वेद के उपदेशों में श्रद्धा करता हुआ, प्रकृतिविज्ञान, रसायनविज्ञान, दूत और अरिष्टविज्ञान आदि के ज्ञान करानेवाले, उपपत्ति सह आयुर्वेदीय विषयों को समझानेवाले आयुर्वैदिक नाना शास्त्रों मे प्रविष्ट होकर उनमें वर्णित पाठों को पढ़े और उनके भावों को जानकर तदनुसार व्यवहार करने का उत्कृष्ट प्रयत्न करे क्योंकि आयुर्वेद के अनेक शास्त्रों को देखने से चिकित्सा में वैद्य को किसी प्रकार का सन्देह नही रहता[5] ।

दृष्टोऽयमथशब्द । यथा—"अथ शब्दानुशासनम , अथातो धम व्याख्यास्याम ।" इत्यादि चक्रदत्त ।

१ अत इति नमस्कारादानन्तर्ये । आयुष्कामेभ्यो हित आयुष्कामीय । आयुष्कामशब्दोऽत्रारत्य याय इति वा आयुष्कामीय अध्याय इति विशिष्ट प्रकरण नाम । इतीन्दु ।

२ इति ह स्माहुरित्यादिना न स्वमनीषाकारितेति द्योतयति । आत्रेयादयो महर्षय । आदिशब्देन भरद्वाजादीना परिग्रह । महान्तश्च ते ऋषयश्च महर्षय । महत्त्व तु ज्ञानाद्यतिशययोगात्पूज्यतेति इन्दु ।

३ सुख द्विविधम् । तादात्त्विकमात्यन्तिक च । तादात्त्विक कियत्कालान्तरास्थायित्वात्सुखावभास न परमार्थत सुखम् । तथा चोक्तम्—'तादात्वसुखमज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते ।" इति तदेतत्सज्ञामात्रेण सुख न त्वत्यन्तमिति प्रदर्शयतु सुख नज्ञेष्व त मुनिनोक्तम् । आत्यन्तिक सुख मोक्षाख्य यत्र न दुखाना श्लेष । तेषा साधनमुपायो धर्मार्थसुखसाधनम् । इत्यरणदत्त ।

४ आयु कामयमानेन यथोचित जीवित नीरोगमिच्छता । आयुर्वेदोपदेशेषु यैरुपायैरायुर्वेद उपदिश्यते तेषु इतीन्दु ।

५ आयुर्वेदयति ज्ञापयति प्रकृतिज्ञानरसायनदूतारिष्टाद्युपदेशा-

इसके अतिरिक्त ग्रन्थकार ने इस पद्य मे सबन्धादि चतुष्टय (सबन्ध, प्रयोजन, अभिधान और अभिधेय) का भी निदर्शन कर दिया है । यहाँ उपाय-उपेयभाव लक्षण सबन्ध है अर्थात् इस शास्त्र का आयुर्वेदोपदेश ही उपाय है और उसके द्वारा आयु की प्राप्ति उपेय है । धर्म, अर्थ, सुख का साधन आयु ही प्रयोजन है । आयुर्वेद यह अभिधेय है और यह तन्त्र (अष्टाङ्गसग्रह) अभिधान है ।

सबन्ध आदि का वर्णन कर अब वाग्भटाचार्य आयुर्वेद का गौरव बढानेवाली आगमशुद्धि का उल्लेख करते है । इससे गुरुपरपरा का भी भली भाँति ज्ञान होता है ।

आयुर्वेदामृत सार्व[2] ब्रह्मा बुध्वा सनातनम् ।
ददौ दक्षाय सोऽश्विभ्या तौ शतक्रतवे ततः ॥
धर्मार्थकाममोक्षाणा विघ्नकारिभिरामयैः ।
नरेषु पीड्यमानेषु पुरस्कृत्य पुनर्वसुम् ॥
धन्वन्तरिभरद्वाजनिमिकाश्यपकश्यपाः ।
महर्षयो[3] महात्मानस्तथा[4] लम्बायनादयः ॥
शतक्रतुमुपाजग्मु· शरण्यममरेश्वरम् ।
तान् दृष्ट्वैव सहस्राक्षो निजगाद यथागमम् ॥
आयुषः पालन[5] वेदमुपवेदमथर्वण· ।
काय-बाल-ग्रहोर्ध्वाङ्ग शल्य-दंष्ट्रा-जरावृषैः ॥
गतमष्टाङ्गता पुण्य बुबुधे य पितामहः ।
गृहीत्वा ते तमाम्नाय प्रकाश्य च परस्परम् ॥
आययुर्मानुष लोक मुदिता· परमर्षयः ।
स्थित्यर्थमायुर्वेदस्य तेऽथ तन्त्राणि चक्रिरे ॥
कृत्वाऽग्निवेशहारीतभेल[6]माण्डव्यसुश्रुतान् ।
करालादींश्च तच्छिष्यान् ग्राहयामासुरादृता· ॥
स्व स्व तन्त्रं ततस्तेऽपि चक्रुस्तानि कृतानि च ।
गुरून् सश्रावयामासु· सर्षिसंघान् सुमेधसः ॥
तैः प्रशस्तानि तान्येषा प्रतिष्ठां भुवि लेभिरे ।

आयुर्वेदपरपरा ओर आगमशुद्धि—अमृत की तरह सब रोगों के नाश करनेवाले, सर्वहितकारी, अविनाशी, आयुर्वेदामृत[7] का स्मरण कर ब्रह्माजी ने दक्ष प्रजापति को, दक्ष प्रजापति ने देवताओं

दित्यायुर्वेद । तस्योपदेशा आयुर्वेदोपदेशा । उपदिश्यन्त आयुर्वेदार्था उपपत्तिभिरित्युपदेशा आयुर्वेदतन्त्राणि । तेषु परमादर पाठावबोधानुष्ठानरूप उत्कृष्टो यत्न कार्य । आयुर्वेदोपदेशेष्विति बहुवचननिर्देशादयमर्थो बोध्यते । बहुष्वायुर्वेदतन्त्रेषु यत्न कार्योऽनेकायुर्वेदावलोकनाच्चिकित्साया वैद्यस्य न मनागपि सन्देहो जायत इत्यरणदत्त ।

१ अनेन सबन्धादीन्यप्युक्तानि भवन्ति । अत्रोपायोपेयभावलक्षण सबन्ध अस्य तन्त्रस्यायुर्वेदोपदेशत्वादुपायत्वम् । तत्साध्यत्वादायुष उपेयत्वम् । अभिधेयमायुर्वेद । प्रयोजनमायुरितीन्दु ।

२ सार्थं । ३ महर्षयो । ४ तथालम्बायनादय । ५ पालक ।

६ भेड ७ ब्रह्मा पद्मयोनिरायुर्वेदामृत बुध्वा दक्षाय ददौ । यथामृतेन सकलरोगपरिक्षयस्तथैव आयुर्वेदेनेत्यत साहृश्यम् । सर्वेभ्यो हित सार्वम् । सनातनमविनाशि ।

के वैद्य अश्विनीकुमारों को और अश्विनीकुमारों ने इन्द्र को दिया। तदनन्तर अर्थात् इन्द्र के आयुर्वेदज्ञान से परिपूर्ण[1] होजाने पर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन में विघ्न करनेवाले रोगों से लोगों के पीडायमान होने पर, सबके[2] रोगों का शमन हो इस हेतु से महाऋद्धिवाले महात्मा धन्वन्तरि, भरद्वाज, निमि, काश्यप, कश्यप, आलम्बायन (लम्बायन) प्रभृति महर्षि आत्रेय को आगे कर, जिसकी शरण[3] मे जाना उचित है उस देवाधिराज इन्द्र के पास गये। इन सब धन्वन्तरि आदि महर्षियों को देखते ही, जिससे जीवन की रक्षा होती है, जो अथर्ववेद का उपवेद है, जो कायचिकित्सा[4] बालचिकित्सा ग्रहचिकित्सा-ऊर्ध्वाङ्गचिकित्सा-शालाक्यचिकित्सा-शल्यचिकित्सा-सर्पादिदशचिकित्सा-जराचिकित्सा-वाजीकरणचिकित्सा इन आठ[5] अङ्गोंवाला है और जिसको ब्रह्माजीने जाना है ऐसे पवित्र आयुर्वेद को यथागम अर्थात् यथाशास्त्र इन्द्र ने कहा। वे धन्वन्तरि आदि महर्षि उस इन्द्र के कहे हुए आयुर्वेद शास्त्र को ग्रहण करके मैने यह जाना मैने यह सीखा, इस प्रकार परस्पर बतलाते हुए, कार्य-सपन्न होने से हर्षित होते हुए मनुष्य लोक मे आए और उन्होंने आयुर्वेद की स्थिति के लिए अर्थात् जगत् से आयुर्वेद का लोप न हो इसलिए आयुर्वेद-शास्त्रों की रचना[6] की। आदर को प्राप्त हुए उन महर्षियों ने केवल ग्रन्थरचना ही नहीं की किन्तु अपने रचित शास्त्र उन्होंने अग्निवेश, हारीत, भेल, माण्डव्य, और सुश्रुत नामक शिष्यों को ही नहीं, अपितु कराल आदि को भी पढाये। श्री धन्वन्तरि आदि से पढ कर उन बुद्धिमान् अग्निवेश आदि ने भी अपने अपने तन्त्रों की रचना की। रचे हुए अपने तन्त्र उन्होंने ऋषि-समूह मे बैठे हुए निज गुरुओं को सुनाए और उन गुरुओं द्वारा प्रशसित उनके रचित शास्त्र मनुष्यलोक मे प्रतिष्ठा को प्राप्त हुए।

१ ततोऽनन्तरमायुर्वेदज्ञानपरिपूर्णे शतक्रतौ।

२ सकलजनरोगोपशमहेतोर्महर्षय शतक्रतुमुपाजग्मु ३ यत एव शरण्यस्तत ४ कायचिकित्सा कायशब्देनोच्यते। एव बालादिष्वपि योज्यम्। बालस्य विशेषवक्तव्यत्वात् पृथक्करणम्। एवमन्येष्वपि। वृष वाजीकरणम् इत्यादीन्दु। ५ शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्यम्, अगदतन्त्रम्, रसायनतन्त्र वाजीकरण चेति। तत्र शल्य नाम विविधतृणकाष्ठपाषाणपाशुलोहलोष्टास्थिबालनखपूयास्रावदुष्टव्रणान्तर्गर्भशल्योद्धरणार्थ यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानव्रणविनिश्चयार्थं च शालाक्य नाम ऊर्ध्वजत्रुगताना रोगाणा श्रवणनयनवदनघ्राणादिसंश्रिताना व्याधीनामुपशमार्थं शलाकायन्त्रप्रणिधानार्थं च। कायचिकित्सा नाम सर्वाङ्गसश्रिताना व्याधीना ज्वररक्तपित्तशोषोन्मादापस्मारकुष्ठमेहातिसारादीनामुपशमार्थम्। भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षपितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसा शान्तिकर्मबलिहरणादिग्रहोपशमार्थम्। कौमारभृत्य नाम कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थाना च व्याधीनामुपशमनार्थम्। अगदतन्त्र नाम सर्पकीटलूतादष्टविषव्यञ्जनार्थं विविधविषसयोगोपशमनार्थं च। रसायनतन्त्र नाम वय स्थापनमायुर्मेधाबलकर रोगापहरणसमर्थं च। वाजीकरण नाम अल्पदुष्टक्षीणविशुष्करेतसामाप्यायनप्रसादोपचयजननिमित्त प्रहर्षजननार्थं च। एवमयमायुर्वेदोऽष्टाङ्ग उपदिश्यत इति सुश्रुत।

६ मयैवमज्ञासि मयैवमज्ञायीतिपरस्पर प्रकाश्य। आयुर्वेदस्य स्थित्यर्थमायुर्वेदो मान्तर्धादितीन्दु।

वक्तव्य—सुश्रुतसहिता शल्यतन्त्र है, इसी लिए उस मे आयुर्वेद के आठ अङ्गों की गणना शल्य अङ्ग को प्रधान मानकर की गई है। वाग्भट का यह तन्त्र कायचिकित्सा-प्रधान होने से इसमे आठ अङ्गों की गणना कायचिकित्सा-पूर्वक की गई है तथापि इन आठ अङ्गों की रचना जिस लिए की गई है, उसमें दोनों का मतभेद नही है। वाग्भट के क्रमानुसार उक्त आठ अङ्गों का सुश्रुतोक्त सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।—

(१) कायचिकित्सा उस अङ्ग का नाम है जिसमे सारे शरीर मे रहनेवाले ज्वर, रक्तपित्त, शोष (क्षय), उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, प्रमेह, अतीसारादि व्याधियों की चिकित्सा का वर्णन किया गया हो।

(२) बाल (कौमारभृत्य) नामक वह अङ्ग है जिसमें बालक के भरण-पोषण, धात्री (दूध पिलानेवाली धाय या माता) के दुष्ट दूध का सशोधन, दुष्ट स्तन्य एव रेवती पूतनादि ग्रहों से उत्पन्न होनेवाले रोगों के शमनार्थ वर्णन हो।

(३) ग्रह अर्थात् भूतविद्या नामक अङ्ग वह है जिसमे देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितृ, पिशाच, नाग, ग्रह आदि से होनेवाली मानसिक व्याधियों के शमनार्थ शान्तिकर्म, बलिहरण आदि विधान का वर्णन हो।

(४) ऊर्ध्वाङ्ग (शालाक्य) नामक वह अङ्ग है जिसमे ऊर्ध्वजत्रुगत कान, नेत्र, मुख, नाक आदि मे होनेवाली व्याधियों के शमनार्थ शलाका यन्त्रादि के प्रयोगों का विधान हो।

(५) शल्य अङ्ग उसका नाम है जिसमे नाना प्रकार के तृण, काष्ठ, पाषाण, मृत्तिकारज, लोह, मिट्टी का ढेला, अस्थि, बाल, नख, पीप का बहना, दुष्ट व्रणादि, अन्दर के तथा गर्भ रूप शल्य को निकालने के लिए यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्निकर्म आदि का तथैव व्रण के निश्चय करने का विधान हो।

(६) दृष्ट्रा (अगदतन्त्र) उस अङ्ग का नाम है जिसमें सर्प, कीट, लूता आदि के काटने या दश करने पर विष की परीक्षा, अनेक प्रकार के विषों के सयोग की परीक्षा और चिकित्सा का वर्णन किया गया हो।

(७) जरा (रसायन) अङ्ग उसे कहते है जिसमे, वय-स्थापना (आयु का स्थिर करना) आयु, मेधा, बल को बढानेवाले नाना रोगों को हरनेवाले रसायन-प्रयोगो का वर्णन किया गया हो।

(८) वृष अर्थात् वाजीकरण अङ्ग वह है जिसमे अल्पवीर्य, दुष्ट वीर्य, क्षीण वीर्य और शुष्क वीर्य के रोगियों के लाभार्थ वीर्य की प्राप्ति, शुद्धि, वृद्धि, उसके द्वारा गर्भधारणशक्ति तथा स्त्रीसभोगानन्द का वर्णन किया गया हो।

गुरु-परम्परा के विषय मे कुछ वक्तव्य।

वाग्भटाचार्य की बताई हुई गुरुपरम्परा ब्रह्मा जी से लेकर इन्द्र तक तो ठीक मिलती है क्योंकि चरक-सुश्रुत में भी यही क्रम बतलाया है परन्तु इन्द्र से आगे कुछ गडबडसी दिखाई देती है। यहा वाग्भटाचार्य ने पुनर्वसु (आत्रेय) को लेकर महर्षियों का इन्द्र के पास जाना लिखा है परन्तु चरक के आदि मे सब से पहले इन्द्र के पास भरद्वाज का जाना स्पष्ट है।

इतना ही नही, आत्रेय को भरद्वाज का शिष्य बताया है परन्तु अष्टाङ्गसग्रह को देखने से इन्द्र के शिष्य आत्रेय सिद्ध होते है। चरक सूत्र-स्थान के प्रथमाध्याय की टीका मे चक्रदत्त ने भी इस प्रश्न को उठाया है और वाग्भट की प्रामाणिकता के लिए चिकित्सा—समुत्थानीय पाद के लेख का प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि प्रथम भरद्वाज ही इन्द्र के पास गए थे। उन्होंने आत्रेयादि को पढाया था किन्तु भरद्वाज के बतलाने पर भी आत्रेय आदि को स्पष्ट बोध नही हुआ अत पुन महर्षियों को पुनर्वसु को साथ ले इन्द्र के पास जाना पडा। इससे सिद्ध हुआ कि भारद्वाज इन्द्र के शिष्य थे और पुनर्वसु (आत्रेय) भारद्वाज और इन्द्र इन दोनों के शिष्य थे[1]।

आगमशुद्धि तथा गुरुपरम्परा कथन के अनन्तर अब ग्रन्थ कार इस 'अष्टाङ्ग सग्रह' नामक ग्रन्थ के बनाने के कारण का वर्णन करते है। साराश यह कि आयुर्वेदीय अन्य ग्रन्थों के रहते हुए 'अष्टाङ्ग सग्रह' के रचने की आवश्यकता क्यों हुई ? इसी के स्पष्टीकरणार्थ आचार्य कहते है कि—

तेषामेकैकमव्यापि समस्तव्याधिसाधने।
प्रतितन्त्राभियोगे तु पुरुषायुषसक्षय॰॥
भवत्यध्ययनेनैव यस्मात्प्रोक्त॰ पुनः पुनः।
तन्त्रकारैः स एवार्थः क्वचित्क्वचिद्विशेषतः॥
तेऽर्थप्रत्यायनपरा वचने यच्च नादृताः।

अन्य तन्त्रो की अव्यापकता—पहले जिनका वर्णन कर आये है, तेषा=उन अग्निवेशादि ऋषियों के रचित एक एक तन्त्र (शास्त्र) को देखा जाय तो वह समस्त व्याधिसाधने=सम्पूर्ण रोगों की चिकित्सा करने मे अव्यापि=असम्पूर्ण या अपर्याप्त है। इस लिए कि किसी रोग की चिकित्सा सुश्रुत मे है तो चरक मे नही है। इसी प्रकार चरक मे कही हुई किसी रोग की चिकित्सा सुश्रुत मे नही है। ऐसी अवस्था मे सभी शास्त्रों के पढने की आवश्यकता होती है परन्तु प्रतितन्त्राभियोगे तु= प्रत्येक शास्त्र के पढने की झझट में पडने से तो पुरुषायुषसक्षय — मनुष्य के आयु की समाप्ति भवत्यध्ययनेनैव—अध्ययन करते करते ही हो जाती है यस्मात्स एवार्थस्तन्त्रकारै पुन पुन प्रोक्त =क्योंकि किसी एक विषय को शास्त्रकारों ने बारबार कहा है अर्थात् जो बात एक ने कही है वही दूसरे ने कही है। क्वचित्क्वचिद्विशेषत =किसी ने थोडे मे कही है तो किसी ने उस बात को विशेषरूप से कहा है। उनके इस प्रकार अविचारपूर्वक कही थोडे मे तो कही विशेषरूपेण कहने से आयुर्वेद का ज्ञान दुर्लभ सा हो गया। यच्च=इस लिए तेऽर्थप्रत्यायनपरा वचने अनादृता =वे भिन्न भिन्न मुनियों के रचे शास्त्र प्रवचन एव विवेचन में आदर के योग्य नही है क्योंकि कहा अल्प कहना और कहा अधिक कहना इस बात की उन्होंने अपेक्षा तक नही की। इस लिए उनसे आयुर्वेद के प्रत्येक विषय का सम्यक् बोध नही हो सकता।

अन्य तन्त्रो से अभीष्ट सिद्ध नही हो सकता इस कारण को बताकर अब ग्रन्थकार अपने रचे हुए इस "अष्टाङ्ग-सग्रह" तन्त्र का वैशिष्ट्य बताते है—

सर्वतन्त्राण्यत॰ प्राय सहृत्याष्टाङ्गसग्रहः।
अस्थान-विस्तराक्षेप-पुनरुक्तादिवर्जित॰ ॥
हेतुलिङ्गौषधस्कन्धत्रयमात्र – निबन्धनः ।
विनिगूढार्थतत्त्वाना प्रदेशाना प्रकाशक॰॥
स्वान्यतन्त्रविरोधाना भूयिष्ठ विनिवर्तकः।
युगानुरूपसन्दर्भो विभागेन करिष्यते॥

अष्टाङ्गसग्रह की विशेषता—इस लिए अर्थात् उपर्युक्त कारणों से प्राय सभी शास्त्रो को लेकर प्रयोजन के विना विस्तर-सक्षेप-पुनरुक्ति आदि से वर्जित, केवल निदान, लक्षण और चिकित्सा इन स्कन्धों के लिए रचा हुआ, विशेष गूढ अर्थ के तत्त्ववाले विषयों को प्रकट करनेवाला, स्व और अन्य तन्त्रों मे दिखाई देनेवाले विरोधो को भली भाति मिटानेवाला, युगानुरूप अर्थात् इस वर्तमान युग के योग्य ऐसे इस 'अष्टाङ्ग-सग्रह' नामक सन्दर्भ की सुन्दर प्रकरणो द्वारा रचना की जाती है।

वक्तव्य—यहा अष्टाङ्ग-सग्रह का प्रथम विशेषण 'अस्थानविस्तराक्षेपपुनरुक्तादिवर्जित' होने पर भी इस ग्रन्थ मे जहा आवश्यकता होगी वहा विस्तार, सक्षेप और पुनरुक्ति भी अवश्य दिखाई देगी जैसे कि स्वस्थ और रोगी के हित के लिए ऋतुस्वरूपवर्णनाध्याय तथा दोषोपक्रमणाध्याय मे विस्तारपूर्वक कहना पडा है। इसी प्रकार गर्भावक्रान्ति, अङ्ग-विभाग आदि मे सक्षेप और अतियोगादि प्रकरण मे पुनरुक्ति भी दिखाई देगी। कुछ लोग अस्थान, विस्तर, आक्षेप और पुनरुक्तिवर्जित का अर्थ भिन्न प्रकार से करते है। उनके मत मे अन्य स्थानमें न कहकर जिसका वर्णन जहा करना चाहिए, वही करना अस्थानवर्जित है। न अति विस्तर और न अति सक्षेप करना ही विस्तराक्षेपवर्जित है। एक बार कही हुई बात को पुन न कहना ही पुनरुक्तिवर्जित है।

द्वितीय विशेषण "हेतुलिङ्गौषधस्कन्धत्रयमात्रनिबन्धन" है। हेतु अर्थात् रोगों के उत्पन्न करनेवाले मिथ्या आहार-विहारादि सभी कारण, लिङ्ग अर्थात् उत्पन्न होनेवाले ज्वरादि रोगों के प्रारम्भ मे चरकोक्त आलस्य, अश्रुपूर्णनेत्र, जम्भाई, जडता, बेकली आदि होनेवाले सभी लक्षण, औषध अर्थात् रोगों की चिकित्सा के लिए हितकारी आहार, चूर्ण, लेह, क्वाथ, घृत, तैल

---

१ वाग्भटेन तु यदुक्त "ब्रह्मा स्मृत्वायुषो वद प्रजापतिमजिग्रहत्। सोऽश्विनौ तौ सहस्राक्ष सोऽत्रिपुत्रादिकान्मुनीन् ॥" इत्यनेनात्रेयस्येन्द्रशिष्यत्व, तदायुर्वेदसमुत्थानीयरसायनपादे आदिशब्देन वक्ष्यमाणेन्द्रशिष्यतायोगात्समर्थनीयम् (इति चरक सू अ १)। यद्यपि ऋषयो भरद्वाजद्वारा इन्द्रादधिगतायुर्वेदा, तथापि ग्राम्यवासकृतमनोग्लानितया न तथा स्फुटार्था वर्तत इति शङ्कया पुनरिन्द्रस्तानुपदिशति। इति च चि अ १ पाद ४ श्लो० ४।५ व्याख्याने चक्रदत्त।

१ कि भूतोऽष्टाङ्गसग्रह, अस्थानविस्तरादिवर्जित। उच्यते पुन स्थाने विस्तरादीनि विधीय त एव। तथाहि—ऋतुस्वरूपवर्णने दोषोपक्रमणे च स्वस्थातुरहितत्वाद्विस्तरोऽप्युपयुज्यत एव। तथा गर्भावक्रान्त्यङ्गविभागादिष्वाक्षेपोऽपि दृश्यते। तथातियोगादिप्रकरणे पुनरुक्तमपीति। अन्ये पुनराहु। अ यत्र वक्तव्यमर्थवस्त्वन्यत्रोच्यत इत्यस्थान तद्वर्जित। तथा विस्तराक्षेपाभ्या वर्जित नातिविस्तरा नातिसक्षेप इत्यर्थ। सकृद्ज्ञापितस्य वस्तुन पुनर्वचन पुनरुक्तस्तद्वर्जित। इतीन्दु।

आदि, इन हेतु-लिङ्ग औषधरूप तीन स्कन्धों के लिए ही इस ग्रन्थ की रचना हुई है। यहाँ मात्र शब्द अल्पार्थ मे भी लिया गया है। अन्य शास्त्रों मे बहुवक्तव्यता है किन्तु इस अष्टाङ्ग सग्रह मे केवल तात्पर्य वस्तु का ही ग्रहण किया गया है। सम्प्राप्ति का अन्तर्भाव यहा हेतुस्कन्धमे और उपशय का लिङ्ग तथा औषध इन दोनों स्कन्धों मे अन्तर्भाव किया गया है। इसी प्रकार अन्य सभी शेष विषयों का अन्तर्भाव हेतु, लिङ्ग और औषध इन तीनों स्कन्धों मे समझना चाहिए।[1]

तृतीय विशेषण 'विनिगूढार्थतत्त्वाना प्रदेशाना प्रकाशक' है। इसका अर्थ अन्य तन्त्रों मे नितान्त गूढ तत्त्ववाले कई विषयोंका स्पष्टीकरण करनेवाला है जैसे कि चरक के कहे हुए षष्ठिक (साठी चावल) के गुणों मे "स्निग्धो गुरुश्च" इस पदसे बोध होता है कि साठी चावल स्निग्ध और गुरु हे परन्तु चरक के ही कहे हुए "शालिषष्ठिकादीनि प्रकृतिलघून्यपि मात्रापेक्षीणि भवन्ति" इस वचन से विरोध दिखाई देता है। यहा चरक षष्ठिक को लघु (हल्का) बतला रहे है। अकेले चरक ही नहीं सुश्रुत, कृष्णात्रेय, खरनाद और पराशर भी षष्ठिक को लघु मानते है, ऐसी अवस्था मे चरक षष्ठिक को गुरु कैसे कह सकते है? वाग्भट ने "स्निग्धो गुरुश्च" इस वाक्य मे अकार गुप्त है कहकर इस विषय को स्पष्ट कर दिया है अर्थात् शुद्ध वाक्य "स्निग्धोऽगुरुश्च" है और इसका अर्थ "षष्ठिक स्निग्ध और लघु है" यही होता है।[2]

चतुर्थ विशेषण—"स्वान्यतन्त्रविरोधाना भूयिष्ठ विनिवर्तक" अर्थात् स्वतन्त्र तथा परतन्त्रगत विरोधों को भली भाति दूर करनेवाला। एक ही तन्त्र (ग्रन्थ) मे एक जगह वर्णित विषय से दूसरी जगह वर्णित विषय का विरुद्ध प्रतीत होना स्वतन्त्र विरोध कहलाता है जैसे कि चरक में "स्नेह की अवचारणा" एक जगह २४ प्रकार की बताकर पुन दूसरी जगह ६४ प्रकार की बताई गई है। इन दोनों का एकीकरण करते हुए वाग्भट ने "युक्त्यावचारयेत्स्नेहम्" अर्थात् स्नेह की अवचारणा जहा जैसी आवश्यकता हो वैसी युक्ति से करनी चाहिए इस प्रकार कहकर विरोध को दूर कर दिया है। यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ६४ प्रकार की स्नेहावचारणा केवल सन्देहनिवृत्त्यर्थ कही गई है जिससे कि किसी प्रकार का सन्देह न रहने पावे।[1] परतन्त्र-विरोधी वह है जो एक तन्त्रकारकी कही हुई बात को दूसरा तन्त्रकार अन्यथा कहता है जैसे कि चरक हिमालय से निकलनेवाली नदियों को पथ्या बताते है और उन ही को कृष्णात्रेय एव सुश्रुत गलगण्डादि रोगों की करनेवाली अपथ्या कहते है किन्तु वाग्भट ने यह कहकर विरोध को दूर कर दिया है कि "हिमालय से निकलनेवाली नदिया वे ही पथ्या है जिनका जल पत्थरों से टकराने के कारण ऊचे नीचे भाग की ओर उछलने-गिरने छिन्नभिन्न होने से खेदित होता है।"[2] साराश, इससे विपरीत नदियाँ गलगण्ड करनेवाली है। इसप्रकार दोनों के कथन को प्रमाणित कर दिया है।

पञ्चम सार्थक विशेषण—"युगानुरूपसन्दर्भ" है अर्थात् जो इस कलियुग मे पाठ करने, समझने और धारण करने के योग्य सुगम सम्भार (पद्य, पद, पदार्थ) वाला है।[3] इस प्रकार का 'अष्टाङ्गसग्रह' ग्रन्थ हम विषयानुसार अलग अलग सुन्दर प्रकरणों द्वारा बना रहे है।

अब ग्रन्थकार कहते है कि उपर्युक्त समस्त विषयों का सनिवेश करके भी हमने इस ग्रन्थ मे विशेषत कायचिकित्सा का ही सग्रह किया है—

नित्योपयोगि दुर्बोध सर्वाङ्गव्यापि भावतः।
सगृहीत विशेषेण यत्र कायचिकित्सितम्॥

कायचिकित्सा का प्राधान्य—शरीरधारी जिसका नित्य उपयोग करते है, जिसका बोध बडे परिश्रम से होता है और जो (कायचिकित्सा) शल्य, शालाक्य, बालतन्त्र आदि आयुर्वेद के आठों ही अङ्गों मे व्याप्त है और इन अङ्गो का वर्णन केवल कायचिकित्सा के लिए है, अत हमने इस अष्टाङ्गसग्रह ग्रन्थ में कायचिकित्सा का सग्रह विशेष रूप से किया है।[4]

---

१ हेत्वादिस्कन्धत्रयमात्रनिबन्धन। हेतू रोगोद्भवकारण स्कन्ध समूह हेतुस्कन्धो मिथ्याहारविहारादि। लिङ्ग भविष्यतस्सतश्च व्याधेश्चिह्नभूत यथा ज्वरस्यालस्यादि। औषधस्कन्धो रोगचिकित्सार्थ हिताशनचूर्णलेहक्वाथादि। एत मात्रमत्र निबध्यत इत्यर्थ। मात्रशब्द स्तोकपर्याय। अन्यतन्त्रेषु यथा बहुवक्तव्यता न तथात्र किं तु केवल तात्पर्यवस्तुग्रहणमिति मात्रशब्दप्रयोग। सम्प्राप्तेर्हेतुस्कन्ध एवान्तर्भाव। उपशय पुनर्लिङ्गस्कन्धे वा औषधस्कन्धे वानुप्रविशति। एवम् यदप्यस्मिन्नेव स्कन्धत्रयेऽन्तर्भाव्यम्। इतीन्दु।

२ अन्यतन्त्रेषु विनिगूढार्थतत्त्वा ये प्रदेशास्तेषा प्रकाशक। तथा चरकमुनिना षष्ठिकस्य गुणेषु "स्निग्धो गुरुश्चेति' सन्धानके अकारप्रयोग कृत इति वाग्भटेन दर्शयता लघुशब्दप्रयोग कृत। सुश्रुतोऽप्याह—'षष्ठिक प्रवरस्तेषा कषायमधुरो लघुरिति'। कृष्णात्रेयोऽपि 'षष्ठिक सुकर' इत्यादि पठित्वा 'लघव कटुपाकाश्च' इत्याह। खरनादोऽप्याह—'दोषघ्न षष्ठिको लघु' इति। पराशरोऽपि 'रक्तो महान् शकुनाहृत षष्ठिक' इत्यादि पठित्वा 'लघव साग्राहिका' इत्याह। चरकेऽपि पठ्यते शालिषष्ठिकादीनि लघून्यपी त्यादि। इतीन्दु।

१ स्वतन्त्रविरोधो य एकस्मिन्नेव तन्त्रेऽन्यस्थानस्थितो ग्रन्थोऽन्यस्थानस्थितेन विरुध्यते।

यथा चरके—'चतुर्विंशतिरित्येना स्नेहस्य प्रविचारणा' इत्युक्त्वा पुनरप्याह—'एवमेषा चतुःषष्टि स्नेहाना प्रविचारणा' इति तद्वाग्भट एकीकुर्वन्नाह—"युक्त्यावचारयेत्स्नेहम्' इत्यादि भक्ष्यादिनोपयुज्यमान एव रसभेदेन त्रिषष्टिधा स्नेहो भवति एकश्च इति चतुःषष्टि।"

एतच्च समोहनमात्रनिवृत्तये उक्तम्, न तु वस्तुतो विरोध सम्भवति, इतीन्दु।

२ उपलास्फालनाक्षेपविच्छेदै खेदितोदका। हिमवन्मलयोद्भूता पथ्यास्ता एव इति।

३ युगानुरूपसन्दर्भ, अस्मिन् कलियुगे पाठावबोधधारणयोग्य ग्रन्थसभार। विभागेन शोभनैरर्थप्रकरणादिविच्छेदै। इतीन्दु

४ नित्योपयोगि सतत शरीरिणा उपयुज्यते। भावतस्तत्त्वत सर्वाङ्गाना व्यापकम्। कायचिकित्साङ्गमेक वर्जयित्वा द्रव्यरसादिमानाशितान्नस्वरूपादिपरिज्ञानस्नेहाद्युपयोगामगिकरोगचिकित्सादि- सप्तानामप्यङ्गाना कायचिकित्सितमेव। इतीन्दु

अब बताते है कि यह ग्रन्थ केवल प्राचीन आयुर्वेद-शास्त्रों का निचोड मात्र है ।

न मात्रामात्रमप्यत्र किञ्चिदागमवर्जितम् ।
तेऽर्थाः स ग्रन्थबन्धश्च सङ्क्षेपाय क्रमोऽन्यथा ॥

आगम की प्रामाणिकता—**अधिक तो क्या, इस ग्रन्थ मे प्राचीन आयुर्वेदशास्त्र के आशय को छोडकर एक मात्रा भी अधिक नहीं कही गई है। आयुर्वेदोक्त विषयों का वर्णन करना ही इस ग्रन्थ का विषय है। भिन्न क्रम का आश्रय केवल सक्षेपार्थ लिया गया है। इस लिए कि विशेष विस्तार न करके थोडे ही मे किसी विषय को समझा दिया जाय।**

यह तन्त्र कायचिकित्सा प्रधान है। काय (शरीर) यह दोष, धातु और मलों का समूह है। दोष, धातु एव मल, इन तीनों मे भी दोष प्रधान है क्योंकि दोषों के द्वारा ही धातु और मल आदि की प्रवृत्ति है। इसी लिए ग्रन्थ के आदि मे दोषों का वर्णन करते है—

वायुः पित्त कफश्चेति त्रयो दोषाः समासत ।
प्रत्येक ते त्रिधा वृद्धिक्षयसाम्यविभेदत. ॥
उत्कृष्टमध्याल्पतया त्रिधा वृद्धिक्षयावपि ।
विकृताविकृता देह घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च ॥

दोष और उनकी अवस्था—**सक्षेप से वात, पित्त और कफ ये तीन दोष है परन्तु वृद्धि, क्षय तथा साम्यभेद से इनमे का एक एक दोष तीन तीन प्रकार का होता है जैसे कि वृद्धिभेद से वृद्ध वायु, वृद्ध पित्त और वृद्ध कफ। क्षयभेद से क्षीण वायु, क्षीण पित्त और क्षीण कफ। इसी प्रकार से साम्यभेद से सम वायु, सम पित्त और सम कफ जानना चाहिए। दोषों की तरह दोषों की वृद्धि तथा क्षीणता भी उत्कृष्ट, मध्यम और अल्पभेद से तीन तीन प्रकार की होती है जैसे कि दोषों की उत्कृष्ट वृद्धि, मध्यम वृद्धि तथा अल्प वृद्धि। इसी प्रकार दोषों की क्षीणता को जानना चाहिए। ये वातादि तीनों दोष विकृता अर्थात् विकार को प्राप्त होने पर—अपनी साम्यावस्था को छोड़ क्षयवृद्धिरूपेण विषमावस्था मे आने पर या अपने स्वरूप से विचलित होने पर शरीर (जीवन) का नाश करते है और अविकृता अर्थात् अपनी साम्यावस्था मे प्रकृतिस्थ रहते हुए या अपने स्वरूप से विचलित न होते हुए शरीर (आयु) का रक्षण करते है[1]।**

वक्तव्य—**उपर्युक्त श्लोक मे 'वायु पित्त कफश्चेति' कहने से ही तीन का बोध हो जाता है परन्तु फिर भी 'त्रयो दोषा' कहने का तात्पर्य यही है कि दोष[2] वस्तुत तीन ही है। हेमाद्रि का कहना है कि 'कफश्च' इस पद के चकार से आचार्य चौथे दोष रक्त की भी सूचना दे रहे[3] हैं परन्तु हेमाद्रि के इस तर्क को अरुणदत्त निस्सार मानते हुए कहते है कि यद्यपि अन्य** तन्त्रकार रक्त को चतुर्थ दोष मानते हुए कहते हैं कि वातादि दोषों की तरह रक्त के भी स्थान, लक्षण, कार्य, विकार, चिकित्सादि का उपदेश है जैसे कि सर्वशरीरव्यापि होने पर भी रक्त के प्लीह और यकृत् स्थान है। पद्म, इन्द्रगोप, हेमादि लक्षण है। देह की उत्पत्ति और स्थिति रक्त का कार्य है। विसर्प, प्लीहादि उसके विकार है। सिराव्यध आदि कर्म उसकी चिकित्सा है तथापि रक्त को चतुर्थ दोष मानना निस्सार है। रक्त दूष्य है, वह कैसे वातादि की तरह दोष हो सकता है? प्रधानता तथा नामो की सार्थकता से दोषत्व वातादि का ही सिद्ध होता है। वातादि की दोष सज्ञा इसी लिए प्रवृत्त हुई है कि ये रस रक्तादि धातुओं को दूषित करते है। रस, रक्तादि परतन्त्र होने से अप्रधान है—वातादि द्वारा दूषित होने से दूष्य है। इससे सिद्ध हुआ कि दोष वात, पित्त और कफ ही है, रक्त[1] नही।

'विकृता वकृता देह घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च' **इस पद्यार्ध मे विकृत दोषों का निर्देश प्रथम इसलिए किया गया है कि इन दोषों को वैद्य कदापि बिगडने न दे क्योंकि इनके बिगडने पर महान् विघ्न होने का कारण रहता[2] है।**

क्या ये वातादि तीनों दोष सर्वशरीरव्यापी है या इनके शरीर मे कोई स्थान नियत है? इसके स्पष्टीकरणार्थ आचार्य कहते है कि—

ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसश्रया. ।

सब शरीरव्यापी होते हुए भी दोषो के विशेष स्थान—**वे वात, पित्त और कफ सज्ञक तीनों दोष सर्वशरीरव्यापी होते हुए भी क्रमश हृदय और नाभि के नीचे, मध्य मे तथा ऊपर रहते है। साराश, नाभि के नीचे वायुका, हृदय और नाभि के बीच में पित्तका तथा हृदय के ऊपर कफ का स्थान[3] है।**

सर्वशरीरव्यापी होते हुए भी जैसे इन वातादि तीनों दोषों के स्थान नियत है, ठीक इसी प्रकार सर्वकालव्यापी होते हुए भी इनके मुख्य काल नियत है। इसी बात को अब ग्रन्थकार कहते है कि—

वयोऽहोरात्रिभुक्ताना तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात् ।

---

१ विकृता स्वरूपाच्चलिता शरीर घ्नन्ति नाशयन्ति। अविकृता स्वरूपादचलिता शरीर वर्तयन्तीतीन्दु । देहपदमत्र जीवितोपलक्षणार्थम्। जीवितेन विना कुर्वन्तीत्यरुण ।

२ उद्देशादेवाधिगते त्रित्वे पुनस्त्रिग्रहण नियमार्थम्। त्रय एव दोषा न चतुर्थोऽस्तीतीन्दु ।

३ वायु पित्त कफश्चेति—चकाराद्रक्तमपि दोषान्तर सूचयतीति।

१ तन्त्रान्तरीया हि चतुर्थं दोषमाहुः ते। तेषा ह्ययमभिप्राय । यथा दोषाणा स्थानलक्षणकार्यविकारचिकित्सायुपदेशस्तथा रक्तस्यापि। तत्र स्थान सर्वदेहव्यापित्वेऽपि प्लीहयकृती। लक्षण च पद्मेन्द्रगोप हेमादि । कार्य देहस्योत्पत्तिस्थिती । विकारो विसर्पप्लीहादि । चिकित्सा सिराव्यधादिक कर्मेति। तदेतदसारम्। वातादयो ह्यस्य दूष्यस्य सता कथ दोषत्व कर्तु पारयन्ति। यत प्राधान्यादन्वर्थनाम्नाच्च वातादीनामेव दोषत्व न रसादीनाम्। वातादयो हि स्वातन्त्र्यात् प्रधाना । दूषयन्तीति दोषा इति तेषामेव चानुगतार्था सज्ञा प्रवृत्ता। रसादयस्तु पारतन्त्र्यादप्रधाना । ते च वातादिभिर्दूष्यन्त इति दूष्या । तस्माद्रक्तस्य दूष्यत्व न दोषत्वमिति ।

२ विकृताना दोषाणा प्रागुपन्यासस्तेषा प्रकृत्यवस्थाने नित्य भिषजा यत्नवता भाव्यमिति सूचनार्थम् अन्यथा महान् प्रत्यवाय स्यादित्यरुण ।

३ हृन्नाभ्योरिति । अस्यायमर्थ—नाभेरधो वायो स्थानम्, हृन्नाभ्योर्मध्ये पित्तस्य, हृदयादूर्ध्व श्लेष्मण । इतीन्दु

दोषों के विशेष काल—सर्वकालव्यापी होते हुए भी वे वात, पित्त और कफ क्रम से आयु, दिन, रात और भोजन इनके अन्त, मध्य और आदि में रहते है।

वक्तव्य—उपर्युक्त सरलार्थ का भाव यह है कि मनुष्य के आयु की अन्तिम जरावस्था मे वायु कुपित होता है, मध्य (युवावस्था मे) पित्त कुपित होता है तथा आदि (बाल्यावस्था) मे कफ का कोप होता हे। इसी प्रकार अहोरात्र (दिन और रात्रि) के भी अन्त, मध्य और आदि से क्रम से वात पित्त कफ का कोप होता है। आहार अर्थात् भोजन के अन्त, मध्य तथा आदि मे भी इसी प्रकार क्रम से वातादि तीनों दोषों का कोप होता है। उदाहरणार्थ किए हुए भोजन के अन्त मे जठराग्नि के सयोग से रसों की जीर्णावस्था मे वायु का, आहार के मध्य की विदाहावस्था मे पित्त का एव आहार की आद्यावस्था मे मधुरीभूत कफ का प्राबल्य रहता है।

यद्यपि जठराग्नि के सयोग से आहार की बहुत सी सूक्ष्म अवस्थाए भी हो सकती है तथापि इन तीन अवस्थाओं का ही विशेष उपयोग होने से यहा उनही का निर्देश किया गया है क्योंकि ये अवस्थाए ही अपनी क्रिया का निदर्शन रती है, जैसे कि आदि मे षड्रसवाला अन्न होते हुए भी वह कफ द्वारा मधुर तथा फेनीभूत होता है, फिर वही आमाशय मे पहुँच कर आगे के मध्यभाग मे पित्त के सयोग से अम्लभाव को तथा वहा से पक्वाशय मे पहुँच कर अन्त मे अग्नि द्वारा शोषित पिण्डीभूत पका हुआ आहार वायु करके कटुभाव को प्राप्त होता है।

अब यह बताते है कि इन वात, पित्त और कफ–सज्ञक दोषों के कारण ही प्राणियों (मनुष्यों) की जठराग्नि चार प्रकार की होती है—

तैर्भवेद्विषमस्तीक्ष्णो मन्दश्चाग्निः समैः समः।

जठराग्नि के चार प्रकार—इन वातादि दोषों के कारण ही मनुष्य की अग्नि क्रम से विषम, तीक्ष्ण और मन्द होती है तथा इनकी साम्यावस्था मे अग्नि भी सम रहती है।

वक्तव्य—शरीर मे इन वातादि मे से यदि एक भी कम रहा तो ये शरीर को जन्म देने मे असमर्थ रहते है। साराश, इन तीनों के सम्मिलित रहने पर ही शरीर का जन्म होता है। यहा जो एक एक का निर्देश किया गया है वह केवल उत्कर्ष प्रदर्शनार्थ है। साराश, शरीर मे वातादि तीनों दोषों की उपस्थिति सदैव रहा करती है। इनमे से जो प्रबल होता है, जठराग्नि की अवस्था उसी के अनुसार रहती है, जैसे कि वायु की प्रबलता मे विषमाग्नि, पित्तकी प्रबलता मे तीक्ष्ण और कफकी प्रबलता मे मन्दाग्नि होती है। इन तीनों दोषों की साम्यता मे अग्नि भी सम रहती है। समाग्नि तभी रहती है जब कि वातादि दोष न्यूनाधिक प्रमाण मे नही रहते। इन विषमाग्नि आदि के लक्षणों का वर्णन शारीरस्थान में आगे किया जायगा। जहा दो दोषों का प्राबल्य हो वहा, वद्य को चाहिए कि वह अपनी बुद्धि से कल्पना कर लेवे। यहा तो केवल दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। दो दोषों की प्रबलता जैसे कि वात और पित्त, वात और कफ तथा पित्त और कफ। वहा वायु के योगवाही होने से वात और पित्त तीक्ष्णाग्नि करेंगे, वायु और कफ मिलकर मन्दाग्नि तथा पित्त और कफ मिलकर कभी तीक्ष्ण तो कभी मन्दाग्नि करनेवाले होंगे। प्रकृति तथा विकृति द्वारा भी इसी प्रकार जानना चाहिए।

अब यह बताते है कि मनुष्य का चतुर्विध कोष्ठ भी इन वातादि तीन दोषों द्वारा ही होता है—

कोष्ठः क्रूरो मृदुर्मध्यो मध्यः स्यात्तैः समैरपि।

चतुर्विध कोष्ठ—पूर्व क्रमानुसार इन वातादि दोषों द्वारा मनुष्य का कोष्ठ (कोठा) क्रूर (कडा), मृदु (नरम) और मध्यम होता है। इन दोषों की साम्यावस्था में भी कोष्ठ मध्यम ही रहता है अर्थात् न तो कोठा कडा होता है और न नरम। क्रूरादि चारों कोष्ठों के लक्षण आगे कहेंगे। साराश, प्रकृति के कारण मनुष्य का कोठा वायु की प्रबलता मे क्रूर, पित्त की प्रबलता में मृदु, कफ की प्रबलता मे मध्य और इन सब की साम्यावस्था मे भी मध्य ही रहता है।

मनुष्य की प्रकृतियाँ भी इन तीन दोषों द्वारा बनती हे। यथा—

शुक्रार्तवस्थैर्जन्मादौ विषेणेव विषक्रिमेः।
तैश्च तिस्रः प्रकृतयो हीनमध्योत्तमाः पृथक्।
समधातुः समस्तासु श्रेष्ठा निन्द्या द्विदोषजा॥

प्रकृतित्रय—जन्मादौ अर्थात् गर्भाधानकाल मे पिता और माता के दो दो या तीन तीनबिन्दु परिमित वीर्य और रज में स्थित रहनेवाले वात, पित्त और कफ इन तीन दोषों द्वारा विष से विषक्रिमि के जन्म की तरह शरीरधारी की हीन, मध्यम और उत्तम इस प्रकार तीन प्रकृतियों (शरीर के स्वरूप) का सभव होता है। साराश, वायु की अधिकता से हीन, पित्त की अधिकता से मध्यम और कफाधिक्य से उत्तम प्रकृति बनती है। केवल एक एक दोष की प्रबलता से बननेवाली तीन प्रकृतियों

१ वय इति। अन्तादाना वातादिभिर्यथासरय सबन्ध। वयस पुरुषायुष अन्त पश्चिमो भागो वायो कोपकाल। मध्यभाग पित्तस्य। पूर्वभाग श्लेष्मण। अहोऽप्येव रात्रेश्च। भुक्त निगीर्ण आहार। तस्यान्तो जीर्णप्रायावस्था वायो कोपकाल। मध्य विदाहावस्था पित्तस्य। पूर्वावस्था भुक्तमात्र एवान्ने श्लेष्मण इतीन्दु।

२ यद्यपि चाहारस्य जठराग्निसयोगाद्बह्व्योऽपि सूक्ष्मा अवस्था सभाव्यन्ते तथाप्येतासामेव सुतरामुपयोगित्वादिह निर्देश। तथा एता एव तिस्रोऽवस्था स्वकर्म दर्शयन्ति। वक्ष्यति हि "आदौ षड्रसमप्यन्न मधुरीभूतमीरयेत्। फेनीभूत कफ यात विदाहादम्लता तत॥ पित्तमामाशयात्कुर्याच्च्यवमान च्युत पुन। अग्निना शोषित पक्व पिण्डित कटु मारुतम्॥ इत्यरुणदत्त।

१ तैश्च वातादिभि पुरुषस्याग्निश्चतुर्विधो भवति। न ह्येकेनापि दोषेण हीना वातादय शरीरजनने समर्था। अवश्य च सर्वैरेव भवितव्यम्। यश्चैषामेकव्यपदेश स उत्कर्षकृत। वातोत्कर्षेण विषम, पित्तोत्कर्षेण तीक्ष्ण, कफोत्कर्षेण मन्द समैर्हान्युत्कर्षवर्जितै सम। विषमादीना लक्षण शारीरे वक्ष्यते। यत्र तु द्वावुत्कृष्टौ तत्र भिषजा स्वबुद्ध्या परिकल्पनीय। वय दिश दर्शयाम। द्वौ दोषौ वातपित्ते वा वातकफौ वा पित्तकफौ वा। तत्र वातस्य योगवाहित्वाद्वातपित्ते तीक्ष्णत्वोत्कर्ष। वातकफे मन्दत्वोत्कर्ष। पित्तकफे त्वाहारविशेषात्कदाचित्तैक्ष्ण्य कदाचिन्मान्द्यम्। प्रकृत्या विकृत्या चैवमेवात। इन्दु।

के लिए ही यहा पृथक् शब्द का निर्देश किया गया है। सम धातु अर्थात् उक्त तीनो दोषों की साम्यावस्था से बनी हुई प्रकृति सभी प्रकृतियों में श्रेष्ठ होती है। तथा द्विदोषज अर्थात् वातपित्त, वातकफ और पित्तकफ इन दो दो दोषों से बनी हुई प्रकृतिया निन्द्य होती है। इस प्रकार प्रकृतियों के भेद ७ होते है जैसे कि अलग अलग एक एक दोष से बनी तीन, दो दो दोष मिलकर बनी हुई तीन तथा सब दोषों की साम्यावस्था से एक।

वक्तव्य—यहा यह शङ्का हो सकती है कि बढ़े हुए दोष शुक्रार्तव मे रहकर शरीर की उत्पत्ति नही कर सकते क्योंकि दोषों के अधिक भाव को ही विकृति कहते है इसलिए विकृति या विकार को प्राप्त हुए दोष कदापि प्रकृति के जन्मकारण नहीं हो सकते। इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते है कि "जैसा कारण होता है, उसी के समान कार्य की उत्पत्ति होती है।" जैसे कि "विषेणेव विषक्रिमे" अर्थात् जीवन के नाश का कारण होते हुए भी विष के द्वारा विष के कीडे का जन्म प्रकृतिसभव दिखाई देता है। ठीक इसी प्रकार जन्म के आदि मे शुक्रार्तव में रहनेवाले बढ़े हुए दुष्टदोषों द्वारा शरीर की उत्पत्ति[1] होती है।

वातादि दोषों को प्रकृति आदि के कारण बताकर, प्रत्येक वस्तु के साथ दोषों के सादृश्य एव असादृश्य ज्ञानार्थ अब उन के लक्षणों का वर्णन करते है। यथा—

तत्र रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः।
पित्तं सस्नेहतीक्ष्णोष्ण लघु विस्र सर द्रवम् ॥
स्निग्धः शीतो गुरुर्मन्दः श्लक्ष्णो मृत्स्नः स्थिरः कफः।

वातादि दोषो के लक्षण—उक्त तीनों दोषों में वायु रूखा, हल्का, ठण्डा, खरदरा, सूक्ष्म स्रोतोगामी होने से सूक्ष्म और चल है। पित्त कुछ चिकनाई युक्त, बहुत जल्दी कार्य करनेवाला, उष्ण, हल्का, दुर्गन्धवाला, व्याप्तिशील अर्थात् शरीर मे पसरनेवाला और गीला है। कफ चिकना ठण्डा, भारी, देर से कार्य करनेवाला नरम (मृदु), चमकदार (फिसलनेवाला) और अव्यापनशील (स्थिर रहनेवाला) है।

वक्तव्य—"वृद्धि समानै सर्वेषा विपरीतैर्विपर्यय" इस तत्त्व के अनुसार वातादि दोषों के उक्त लक्षणों या गुणों का वर्णन इसलिए किया गया है कि समान गुणवाले द्रव्यों से इन की वृद्धि होती है और विपरीत गुणवालों से हानि[2]। उक्त गुणों के अतिरिक्त चरक ने वायु को विशद भी कहा है त्यों चरक और सुश्रुत ने पित्त को अम्ल और कटु भी कहा है। अन्तर इतना ही है कि सुश्रुत विदग्ध पित्त को अम्ल मानते हैं और चरक उसे जल तथा अग्निसयोग से बनने के कारण अम्ल कहते है। वस्तुत दोनों का अभिप्राय एक[1] ही है। कफ को चरक 'मधुर' लवणरसयुक्त मीठा भी मानते हैं। व्याप्तिशील के सिवा 'सर' का अर्थ ऊचे नीचे पसरनेवाला—स्थिर न रहनेवाला, शकृद्विस्रसि अर्थात् मलको[2] ढीला करनेवाला भी बताया जाता है। सब दोषों मे प्रबल होने के कारण वायु का निर्देश प्रथम किया गया है।

अब मिले हुए इन दोषों की शास्त्र-व्यवहारार्थ सज्ञाद्वय बताते हुए उनके भेदों का वर्णन करते है।

ससर्गः सन्निपातश्च तद्द्वित्रिक्षयकोपत।
तौ षोढा दशधा चोक्तावुत्कर्षादिविकल्पनात् ॥

दोषससर्ग और सन्निपात—अपने प्रमाण से बढ़े हुए या क्षीण हुए दो दोषों का सयोग ससर्ग कहलाता है और इसी प्रकार बढे हुए या क्षीण हुए तीनों दोषों के सयोग का नाम सन्निपात है। उत्कर्षादि अर्थात् बढ़े हुए मध्यम और अल्प[3] इस कल्पना से ये दोनों ससर्ग और सन्निपात क्रम से ६ और १० प्रकार के कहे गए हैं जैसे कि दो दोषों के मिश्रीभूत (१) वृद्ध-अल्प (२) वृद्ध-मध्य (३) मध्य-अल्प (४) वृद्ध-वृद्ध (५) मध्य-मध्य (६) अल्प-अल्प इस प्रकार छ और तीनों दोषों के सयोग अर्थात् सन्निपात के १० सयोग या भेद होते है जैसे कि (१) वृद्ध-मध्य-मध्य (२) वृद्ध-अल्प-अल्प (३) मध्य-अल्प-अल्प (४) वृद्ध-मध्य-मध्य (५) वृद्ध-वृद्ध-अल्प (६) मध्य-मध्य-अल्प (७) वृद्ध-वृद्ध-वृद्ध (८) मध्य-मध्य-मध्य (९) अल्प-अल्प-अल्प (१०) वृद्ध-मध्य-अल्प। शरीर दोष, धातु और मलों का समुदाय है। इनमे से दोषों का विवेचन हो चुका है। अब शेष रहे धातुओं और मलों का विवेचन करते है। यथा—

रसासृङ्मासमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः।
सप्त दूष्या, मला मूत्रशकृत्स्वेदादयोऽपि च ॥

सप्त दूष्य धातु और मल—रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य ये सात धातु तथा मूत्र, विष्ठा, स्वेद आदि मल भी दूष्य हैं।

वक्तव्य—रस, रक्त, मास आदि सातों की धातु सज्ञा इस लिए है कि इनसे शरीर की धारणा होती है तथा वातादि दोषों द्वारा ये दूषित होते है अत इनको दूष्य[4] भी कहते हैं।

---

१ शुक्र पितुर्द्वित्रिबिन्दुकावस्थ रेत। ऋतौ भवमार्तवम्। मातुर्द्वित्रिबिन्दुकावस्थ शोणितम्। प्रकृति शरीरस्वरूपम्। ननु च यदा वातादयोऽधिका शुक्रार्तवे तिष्ठन्ति तदा कुत शरीरस्य निष्पत्तिर्भवतीति। ततश्च यो दोषाणामधिको भाव सैव विकृति। तत्कथ दोषा आधिक्य प्राप्ता प्रकृते कारणत्वमुत्सहन्ते। विकृतत्वान्न हि विकृति कदाचित्प्रकृते कारणमिति वक्तु युज्यते। कारणसदृशेन च कार्येण भवितव्यमित्याशक्य सपरिहार दृष्टान्तमाह—"विषेणेव विषक्रिमे" इति। यथा विषेण जीवितनाशहेतुनास्य विषक्रिमेर्जन्म प्रकृतिसभवो दृश्यते। तथा एतैर्दूषणस्वभावैरपि हि प्रमाणाधिकैर्दोषै शुक्रार्तवस्थैरेव जन्मादौ शरीरस्य निष्पत्तिर्भवतीति अरुणदत्त।

२ वृद्धिहानिकारणस्य च दोषाणा वस्तुजातस्य यथास्व दोषै सादृश्यमसादृश्य च ज्ञात भवति यस्माद्वक्ष्यते—'वृद्धि समानै सर्वेषा विपरीतैर्विपर्यय' इतीन्दु।

१ अम्लरसता चेह पित्तस्योच्यते। अग्नेज समारब्धत्वात्पित्तस्य। सुश्रुते तु कटुत्वमेव पित्तस्योक्तम्। अम्लता च विदग्धस्य पित्तस्योक्ता। यदुक्त—'विदग्ध चाम्लमेव च' इति। तेजोरूपपित्ताभिप्रायेणैव तन्निरस्त भवतीति चक्रदत्त।

२ सर व्याप्तिशील सरणशीलमूर्ध्वाध प्रवर्तते न स्थिरमास्ते। शकृद्विस्रसीत्यरुणदत्त।

३ उत्कर्षादिविकल्पनात्। आदिग्रहणेन मध्यहान्यो परिग्रह इतीन्दु।

४ रसादय सप्त धातुसज्ञा। शरीरधारणाद्धातव। ते च दूष्या वातादिभिर्दोषैर्दूषणीया इती दु।

वातादि दोष इन्हें दूषित करते हैं अत दोषों को इन रसरक्तादि धातुओं की अवश्य अपेक्षा रहती है क्योंकि कर्म के बिना कर्ता की क्रिया ही असम्भव होती है और न कर्ता के बिना कर्म का कर्मत्व ही सिद्ध होता है। इस प्रकार वातादि दोषों के बिना रसादि धातुओं का दूष्य नाम और रसादि दूष्यों के बिना वातादि का दोष नाम ठीक प्रतीत नहीं होता। अत दोष और दूष्यों की पारस्परिक अपेक्षा के कारण ही वातादि का दोष और रसादि का दूष्य नाम ठीक प्रतीत होता है। केवल रस रक्तादि सात धातु ही नहीं, अपितु उक्त धातुओं आदि द्वारा दूषित होनेवाला मूत्र, विष्ठा, पसीना, कान का मैल आदि सभी अर्थात् कफ, पित्त, नासिका और कान का मल, पसीना, नख, बाल, आख-चमडी-पुरीष से सम्बन्ध रखनेवाला स्नेह और सर्व धातुओं का तेजोरूप ओज ये क्रम से रस रक्तादि सातों धातुओं के सभी मल भी कफ-पित्त को छोडकर दूष्य ही है किन्तु इनमें का सातवाँ मल ओज चिन्त्य है। "दोष-धातु-मलमूल हि शरीरम्" इस वचन से दोष, धातु और मल इन तीनों की धातु सज्ञा सिद्ध होती है। परमार्थत वातादि तीनों दोष और धातु हैं, रस रक्तादि सातों दूष्य और धातु हैं तथा पूर्वोक्त रसरक्तादि के कफ पित्तादि मल धातु, दूष्य एव मल[२] है।

अब आचार्य यह बताते हैं कि बिगडे हुए वातादि दोष ही रोगों के कारण हैं, न कि धातु और मल। धातु और मलों की रोगहेतुकत्व कल्पना केवल औपचारिकी अर्थात् कहने भर के लिए है। यथा—

रसादिस्थेषु दोषेषु व्याधयः सम्भवन्ति ये।
तज्जानित्युपचारेण तानाहुर्घृतदाहवत् ॥

दोष ही रोगों के कारण—रसादि धातुओं में वातादि दोषों के रहते हुए जो व्याधिए होती हैं, उनके लिए रसोत्पन्न रक्तोत्पन्नादि आचार्यों का कहना घृतदाहवत् केवल उपचारमात्र है। तपे हुए घृत में स्थित अग्नि से जलने पर लोग कहते हैं कि "यह घी से जल गया" परन्तु वस्तुत यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि जलाने की शक्ति घृत की नहीं है किन्तु घृत मे स्थित सन्ताप या अग्नि की ही है। इसी प्रकार रसरक्तादि द्वारा कहे जानेवाले रोग भी वस्तुत उनके द्वारा नहीं, अपितु उनमें रहनेवाले वातादि दोषों के ही उत्पन्न किए हुए होते हैं।

अब रस, रक्त आदि सातों धातुओं के कर्मों का क्रम से वर्णन करते हैं।

प्रीणनं जीवनं लेपः स्नेहो धारणपूरणे।
गर्भोत्पादश्च कर्माणि धातूनां क्रमशो विदुः ॥

रसादि धातुओं के कर्म—रसादि धातुओं के क्रमश प्रीणन[१] (चित्तप्रीति) रस का, जीवन (जीवन का या अष्टबिन्दुक रक्तमय समस्त भावों के ग्रहण—धारण—विवेक-कार्य के करनेवाले ओज का रक्षण करना) रक्त का, लेप (अर्थात् अस्थि आदि पर लेप करना) मास का, स्नेह (शरीर की स्निग्धता या चिकनाई) मेद का, अन्यथा मांस के लिए कोई आधार ही नहीं रहता अत धारण (शरीर का धारण करना) अस्थि का, पूरण (अस्थियों का पूरण करना) मज्जा का और गर्भोत्पादन (गर्भ की उत्पत्ति करना) शुक्र अर्थात् वीर्य का कर्म है। यह धातुओं का एक एक मुख्य कर्म ही कहा गया है किन्तु सुश्रुत उक्त धातुओं के कर्मों का विशेष वर्णन करता है। उसके मत से रस तुष्टि, प्रीणन और रक्तपुष्टि करता है। रक्त वर्णप्रसाद, मासपुष्टि और जीवन का रक्षण करता है। मास शरीर और मेद की पुष्टि करता है। मेद स्नेह, स्वेद, दृढत्व और अस्थियों को मजबूत करता है। अस्थि देह-धारण और मज्जा की पुष्टि करता है। मज्जा प्रीति, स्नेह, बल, शुक्रपुष्टि और अस्थियों का पूरण करता है तथा शुक्र धैर्य, च्यवन (शीघ्रता से विस्रसन), प्रीति, देहबल, हर्ष और गर्भोत्पत्ति करता[२] है। सुश्रुतोक्त धातुओं द्वारा उत्तरोत्तर धातुओं की पुष्टि का समर्थन आचार्य के इस अग्रिम कथन से भी होता है।

शरीरं धारयन्त्येते धात्वाहाराश्च सर्वदा ॥

धातुसज्ञा का कारण—ये पूर्वोक्त रसरक्तादि धातु शरीर को धारण करते हैं और धातुओं के आहार हैं। भावार्थ यह है कि जिस प्रकार प्राणियों की वृद्धि का कारण आहार है, ठीक इसी प्रकार धातुओं की वृद्धि का कारण धातु ही हैं। पूर्वपूर्व धातु उत्तरोत्तर धातुओं के आहार है, जैसे कि रस धातु रक्त का, रक्त मास का, मास मेद का, मेद अस्थि का, अस्थि मज्जा का, मज्जा शुक्र का और शुक्र सर्व धातुओं के सारभूत ओज का आहार[३] है।

वातादि दोषों के वृद्धि और हानि के कारणों की तरह ही अब आचार्य समस्त भावों की वृद्धि और हानि के कारण का वर्णन करते हैं।

वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः ॥

---

१ दूषयन्तीति दोष । अतोऽवश्य ते दूष्यमपेक्षन्ते। कर्म विना कर्तु क्रियाया असभवात्। कर्तारं विना कर्मणो न कर्मत्वम्। एव दोषैर्विना रसादीना दूष्यनाम न घटते। तैर्विनापि वातादीना दोष नाम। तस्मात्परस्परापेक्षत्वादनयोर्दूष्यदोषयोर्दूष्यत्वेन दोषत्वेन च सज्ञालाभ इत्यरुणदत्त ।

२ न केवल रसादय एव दूष्या यावन्मलास्तेऽपि धात्वादिभिर्दूष्यन्त इत्यरुण । मूत्रशकृती अन्नमलौ, स्वेदो मेदोमल, आदिशब्दान्मासास्थिमज्जशुक्रमला । अत्र सप्तमो मलश्चिन्त्य । वक्ष्यति हि—"कफ पित्त मला खेषु प्रस्वेदो नखरोम च। स्नेहोऽक्षित्वग्विशामोजो धातूना क्रमशो मला ॥' इ न कफपित्तयोर्दोषत्वान्न दूष्यत्वम्। इति हेमाद्रि। आदिशब्दात्कर्णमलादीना ग्रहणम्। च शब्दान्मलाना, धातुसज्ञापि देहधारकत्वादितीन्दु ।

१ प्रीणन चित्तप्रीति । जीवन जीवित प्राणनमिति यावत्। तथा च रक्तमयमष्टबिन्दुकमोजोनाम भावानां ग्रहणधारणविवेककार्यकरम्। लेपनमस्थ्यादीना लेप । शरीरस्नेहो मेदस । शरीरधारणमस्थ्न । अन्यथा निरवलम्बन मास स्यात्। पूरणमस्थ्नो मज्ज्ञ कर्म इतीन्दु ।

२ रसस्तुष्टिं प्रीणन रक्तपुष्टिं च करोति। रक्त वर्णप्रसाद मासपुष्टिं जीवयति च। मास शरीरपुष्टिं मेदसश्च। मेद स्नेहस्वेदौ दृढत्व पुष्टिमस्थ्ना च। अस्थि देहधारण मज्ज्ञ पुष्टिं च । मज्जा प्रीतिं स्नेह बल शुक्रपुष्टिं पूरणमस्थ्ना च करोति। शुक्र धैर्यं च्यवन प्रीतिं देहबल हर्षं बीजार्थं चेति।

३ एते चानन्तरोक्ता धातव शरीर धारयन्ति । धात्वाहाराश्च। आहारो यथा जन्तूना वृद्धिकारण तथैव धातूना धातव एव वृद्धिकारणम्। पूर्व पूर्वो धातुरुत्तरस्योत्तरस्याहार इतीन्दु ।

वृद्धि और क्षय—समस्त भावों की समान भावों से वृद्धि और विपरीत भावों से विपर्यय अर्थात् हानि होती है।

वक्तव्य—सामान्य और विपर्यय का निर्देश यहा केवल आयुर्वेदोपयोग के लिए ही किया गया है, न कि "सामान्य च विशेष च" इस वैशेषिकोक्त महाविषय को लेकर, क्योंकि उससे व्यवहार-सिद्धि[1] नहीं होती। इसी लक्ष्य को सामने रखकर ग्रन्थकार कहते है कि दोष, धातु और मलादि समस्त शारीरिक भावों की वृद्धि इनसे समानता रखनेवाले भावों द्वारा[2] द्रव्य[3] गुणकर्म भेद से होती है और विपरीत भावों से विपर्यय (हानि) होती है परन्तु ध्यान रहे कि जो जो भाव जिस जिस भाव से जितने अश मे समानता रखता है, वृद्धि एव हानि भी उतने[4] ही प्रमाण में होती है और वह भी उसी अवस्था मे होती है जब कि उक्त समान-विपर्यय भावों का अर्थात् सामान्य और विशेष का शरीर के साथ सम्बन्ध होता है[5]। वस्तुत यह बडा भारी मौलिक सूत्र सक्षेप में कहा गया है, इसलिए कि वातादि तीनों दोष तथा रसरक्तादि धातुओं को साम्यावस्था मे रखना ही इस आयुर्वेदशास्त्र का मुख्य प्रयोजन है। साराश, वैद्य को चाहिए कि वह क्षीण हुए किसी धातु को तत्सम औषध, आहारविहारादि कराकर बढ़ावे और बढ़े हुए धातु को तद्विपरीत औषधाहारविहार द्वारा घटावे। यही वैद्य का मुख्य कर्त्तव्य है।

द्रव्य, गुण और क्रिया द्वारा किस प्रकार धातु-मल आदि में वृद्धि और हानि होती है, अब इसे कुछ उदाहरणों द्वारा समझाते हैं जैसे कि द्रव्यस्वभाव से वायु का अन्य वायु समान और वृद्धिकारक है, यह द्रव्य सामान्य हुआ। उसी वायु को लघु और रूक्ष गुण-साधर्म्यात् मरिच बढ़ाती है। चलनादि साधर्म्य से सरणादि क्रिया-सामान्य वृद्धिकारक होता[6] है। इसी प्रकार द्रव्यसामान्यता के कारण रक्त से रक्त, मास से मास, मेद से मेद, तरुणास्थि से अस्थि, मज्जा से मज्जा, शुक्र से शुक्र, आमगर्भ (अण्डा आदि) से गर्भ, दूध से कफ, उसी दूध से उत्पन्न घृत से वीर्य की वृद्धि होती है[7]। यहा रक्त का रक्त से, कफ का दूध से। दूध से उत्पन्न घृत से वीर्य का बढ़ना जलीय होने के कारण से है। मास से मास का बढ़ना, पार्थिव भाव के कारण है। इसी प्रकार जीवन्ती काकोली आदि औषधिद्रव्यो से स्नेह-बल पुरुषत्व और ओज की वृद्धि मे इनका पारस्परिक सौम्यभाव सामान्य कारण है। द्रव्यों के सामान्य और विशेष से ही नही, किन्तु कही द्रव्यों का तथा कर्मो का प्रभाव भी वृद्धि और ह्रास का कारण होता है, जैसे कि मरिच, पञ्चकोल, भल्लातक आदि का बुद्धि मेधा-अग्नि को बढ़ाना इनके प्रभाव के कारण है। इसी प्रकार पित्त और आमला इन दोनों के आम्लसामान्य होते हुए भी आमलकगत शिशिरत्व प्रभाव पित्तगत अम्लत्वादि बढ़ानेवाला न होकर घटानेवाला होता है।

जाति या द्रव्यसामान्य की तरह द्रव्यो का गुणसामान्य भी विशेष व्यापक दिखाई देता है। केला, मोचरस, खर्जूर, ये पार्थिव द्रव्य होते हुए भी अपने स्निग्ध, गुरु, शीतादि-गुणसामान्य के कारण जलीय कफ के बढ़ानेवाले होते हैं। भावार्थ यह है कि गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सर, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, सूक्ष्म, स्थूल, सान्द्र (गाढ़ा) और द्रव (पतला) या प्रवाही इन बीस गुणों मे जो गुरु है, वे गुरु आहार विकार गुणवाले द्रव्यों के सेवन से वृद्धि को प्राप्त होते है और उनसे लघुओं का ह्रास होता है। समस्त धातुओं के सामान्य योग से या विपरीत गुणों से इसी प्रकार वृद्धि और क्षय होते[1] है।

शरीर, वाणी और मन का क्रियासामान्य तीन प्रकार से वृद्धि का कारण होता है, जैसे कि शरीर से दौड़ना, लांघना, तैरना ये चलत्वसामान्य से तथैव भाषण, अध्ययन, गायन इस वाणी के क्रियासामान्य से और चिन्ता, काम, शोक, भय आदि मानसिक क्षोभसामान्य से वायु की वृद्धि होती है। क्रोध, ईर्ष्यादि सतापकारक होने से पित्त की और सोना, आलस्य आदि स्थैर्यसामान्य से कफ की वृद्धि होती है। इनके विपरीत भाव वात, पित्त और कफ के घटानेवाले होते हैं। विस्तारभय से यहा केवल दिग्दर्शनमात्र ही कराया गया है। अधिक देखना हो तो अष्टाङ्गहृदय मे इस विषय पर अरुणदत्त की सर्वाङ्गसुन्दरा व्याख्या का तथैव चरकसहिता में चक्रदत्त की व्याख्या का अध्ययन करें।

द्रव्यों के वर्णन के अनन्तर अब आचार्य उनके भीतर रहनेवाले रसों का वर्णन इसलिए करते हैं कि पञ्चमहाभूतों का कार्यरूप द्रव्य अपने रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव से ही कार्य करनेवाला होता है।

> रसा स्वादम्ललवणतिक्तोषणकषायका।
> षड्, द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्व बलावहा॥

रस और उनका आश्रय—द्रव्य मे रहनेवाले मधुर, अम्ल,

---

१ एतत्समानमसमान च सामान्यविशेषरूप गोत्वादिविषयमपेक्ष्य विज्ञेयम्। न तु द्रव्यत्वसत्तादिमहाविषय सामान्यम्। ततो व्यवहारासिद्धेरितीन्दु।

२ सर्वेषा दोषधातुमलादीना शरीराश्रितानां, समानैस्तुल्यसङ्घावैरित्यरुण।

३ "सर्वेषा सर्वदा वृद्धिस्तुल्यद्रव्यगुणक्रियै। भावैर्भवति भावाना विपरीतैर्विपर्यय॥" इति

४ समानै सदृशै सर्वेषां वृद्धि। यो यो येन यावता चांशेन यस्य समानस्तेनैव तावता चाशेन सदृशेन स तस्य वृद्धिकारणम्। एव सर्वभावानामप्यूह्यम्। इन्दु

५ प्रवृत्तिरुभयस्य तु इति। कारणमिति शेष। उभयस्य सामान्यस्य विशेषस्य च, प्रवृत्ति प्रवर्तन शरीरेणाभिसबन्ध, इति यावत्, एवभूता प्रवृत्ति धातुसामान्यविशेषयोर्वृद्धिह्रासे कारणमित्यर्थ इति चरकटीकायां चक्रदत्त।

६ यथा वायोरन्यो वायुर्द्रव्यस्वभावेनैव समान तस्यैव मरिच लाघवरौक्ष्यगुणत तस्यैव सरणादिका क्रिया चलनादिसाधर्म्यादितीन्दु।

७ मासमाप्याय्यते मासेन भूयस्तरमन्येभ्य शरीरधातुभ्य, तथा लोहितं लोहितेन, मेदो मेदसा, वसा वसया, अस्थि तरुणास्था, मज्जा मज्ज्ञा, शुक्र शुक्रेण, गर्भस्त्वामगर्भेणेति चरक।

१ तत्रेमे शरीरधातुगुणा सख्यासामर्थ्यकरा। तद्यथा—"गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमन्दतीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशदपिच्छिलश्लक्ष्णखरसूक्ष्मस्थूलसान्द्रद्रवा। तेषु ये गुरवस्ते गुरुभिराहारविकारगुणैरभ्यस्यमानैराप्याय्यन्ते, लघवश्च ह्रसन्ति लघवस्तु लघुभिराप्याय्यन्ते, गुरवश्च ह्रसन्ति। एवमेव सर्वधातुगुणानां सामान्ययोगाद्वृद्धि, विपर्ययाद्ह्रास इति चरक।

लवण, तिक्त, कटु और कषाय ये छ रस है तथा इनमे जो रस जिस रस के पूर्व मे है वह उससे बलवान् होता है।

वक्तव्य—रसना (जीभ) के ग्रहण करने पर ही इनके स्वाद की पहिचान होती है, इसी लिए इनकी रस[1] सज्ञा है। सीधी बोलचाल मे इनका अर्थ मीठा, खट्टा, नमकीन, कड़ुआ, चरपरा और कसैला होता है। उदाहरणार्थ घृत-गुड आदि मधुर, इमली-बिजौरा आदि अम्ल, सैन्धव-सौवर्चलादि लवण, चिरायता-कुटकी आदि तिक्त, मरिच-शुण्ठी-पीपल आदि कटु और हरड़-बहेड़ा आदि कषाय रसवाले कहे जा सकते है। यथापूर्व बलावह अर्थात् कषाय रस से पहला कटु रस उससे बलवान् है। इसी प्रकार कटु से तिक्त, तिक्त से लवण, लवण से अम्ल और अम्ल से मधुर बलवान् है। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि सब रसों में बलवान् मधुर और हीनबल कषाय रस है। यह क्रम प्राणियों के अभीष्टोत्कर्ष के लिए कहा गया है क्योंकि मधुर रस सबको अधिक प्रिय होता[2] है। इससे उत्तरोत्तर अम्ल, लवणादि रस क्रम से कम प्रिय होते है। मधुरादि रसों की गणना से ही ६ की उपलब्धि हो जाती है, फिर भी 'षट्' कहने का तात्पर्य यह है कि तरतम तथा ससर्गता आदि से रसों के अनेक भेद होते हुए भी मूल रस ६ ही है। आगे इसी सूत्रस्थान में इनका विशेष वर्णन किया जायगा। इसलिए हम यहा इतना कहना ही अलम् समझते है।

ये उपर्युक्त ६ रस किन किन वातादि दोषों को शान्त और प्रकुपित करते है अब यह बताते है।

तत्राद्या मारुत घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः क्रमात्।
कषायतिक्तमधुरा. पित्तमन्ये तु कुर्वते ॥

मधुरादि रसों के कार्य—आद्य अर्थात् मधुर, अम्ल और लवण ये तीन रस वायु को शान्त करते है और तिक्त, कटु तथा कषाय वायु को बढ़ाते है। तिक्त-कटु-कषाय कफ का नाश करते हैं और मधुर-अम्ल-लवण कफ को बढाते हैं। कषाय-तिक्त-मधुर पित्त का नाश करते है और अम्ल-लवण-कटु पित्त को बढ़ाते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि मधुर रस वातपित्त को हरनेवाला और कफ को करनेवाला है। अम्ल रस वातहारक और कफपित्तकारक है। लवण वायुहारक तथा कफपित्तकारक है। तिक्त कफपित्तनाशक तथा वायुकारक है। कटु रस कफनाशक और वातपित्तवर्धक है। कषाय रस कफपित्त को हरता और वायु को करता है।

अब आचार्य रसों के आश्रयरूप त्रिविध द्रव्य का वर्णन करते हैं।

शमन कोपनं स्वस्थहितं द्रव्यमिति त्रिधा ॥

त्रिविध द्रव्य—शमन, कोपन और स्वस्थ (नीरोग) के लिए हितकारी ऐसा द्रव्य तीन प्रकार का होता है।

वक्तव्य—उपर्युक्त तीन प्रकारों के अतिरिक्त 'इति' शब्द से प्रतीत होता है कि द्रव्य के दो अथवा अनेक प्रकार भी हो सकते[1] है। अरुणदत्त और चन्द्रनन्दन द्रव्य के शमन, कोपन तथा स्वस्थहितकारी इन तीन भेदों को मानते है किन्तु इन्दु और हेमाद्रि इस का खण्डन करते हुए कहते है कि ये भेद विशिष्ट प्रभाववाले द्रव्य एव तदाश्रित रसादि मे रहनेवाले उस प्रभाव के है जो रसादि की कुछ भी अपेक्षा न करता हुआ शमन, कोपन एव स्वस्थहित को करता है और उसी का यहा द्रव्यशब्द से निर्देश किया गया[2] है।

जो द्रव्य सम और विषम (विपरीत) रसादि से युक्त होते हुए भी वातादि दोषों का शमन करता है, वह शमन है, जैसे कि मधुर और ठण्डी होकर भी जीवन्ती कफ का शमन करती है तथैव कटु-रस-पाकवाला लशुन गुरु स्निग्ध होते हुए भी कफ और वात को हरण करता है।

जो द्रव्य सम और विपरीत रसादिवाला होते हुए भी वातादि दोषों को कुपित करता है, वह कोपन है, जैसे कि गुरु उष्ण स्निग्ध और मधुर होते हुए भी फाणित वायु को कुपित करता है तथा वैसे ही गुणोंवाला उड़द पित्त और कफ को कुपित करता है।

जो द्रव्य वातादि दोषो के क्षयवृद्धि का हेतु होकर भी स्वस्थ के लिए वातादि की क्षयवृद्धि नहीं करता, वह स्वस्थहितकारी है, जैसे कि गुरु, मधुर, रूक्ष और ठण्डा होने पर भी जौ स्वस्थ पुरुष के पित्त का ह्रास (क्षय) नहीं करता और न दूध ही भारी, मधुर, चिकना तथा ठण्डा होते हुए स्वस्थ के कफ को कुपित करता है।

वस्तुत हेमाद्रि के मत से ये सब रसादिगत प्रभाव के ही उदाहरण है, जैसे कि ग्रन्थकार आगे कहेंगे कि "रसादि की साम्यावस्था रखने में जो विशिष्ट कर्म है, उसे प्रभावोत्पन्न समझना चाहिए[3]।"

अब आचार्य द्रव्यगत दो प्रकार के वीर्य का वर्णन करते हैं।

उष्णशीतगुणोत्कर्षात्तत्र वीर्यं द्विधा स्मृतम् ॥

द्विविध वीर्य—द्रव्य में उष्ण और शीत गुण की अधिकता से वीर्य दो प्रकार का कहा गया है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य उष्णवीर्य या शीतवीर्यवाला होता है। साराश यह है कि गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण आदि आयुर्वेदोक्त २० गुणों में प्राधान्य उष्ण और शीत इन दो गुणों का ही है। कायाग्नि के पाक से यद्यपि आठ गुण निष्पन्न होते है किन्तु इन में भी मुख्य गुण उष्ण और शीत ही हैं। सभी द्रव्यों के पञ्चमहाभूतात्मक होते हुए भी जगत् अग्निषोमीय गुणवाला माना गया है, अत प्रत्येक द्रव्य मे कार्य करने को शक्तिरूप वीर्य उष्ण और शीत दो ही प्रकार का माना गया है।

---

१ रसनार्थो रस इति चरक । रस्यत आस्वाद्यत इति रस । रसनार्थ इति जिह्वाग्राह्य इति चक्रदत्त ।

२ अत्र सर्व-प्राणिनामिष्टत्वादादौ मधुर उक्त । तदनु च प्राण्यभीष्टोत्कर्षक्रमेणैवाम्लादिनिर्देशक्रमो बोद्धव्य इति चक्रदत्त ।

१ इति अनेन प्रकारेण शमनादिभेदेन त्रिधा त्रिप्रकार द्रव्यम्। अन्येन प्रकारेण द्विधा अथवा अनेकधा इति शब्द प्रकारार्थेऽभिहित । इत्यरुणदत्त ।

२ रसानामाश्रयो द्रव्य यद्रसादीननपेक्ष्य प्रभावादेव किञ्चित् करोति तत् त्रिप्रकारमितीन्दु ।प्रभावभेदानाह—शमनमिति। प्रभावो रसादिष्वन्तरङ्ग इति द्योतयितु द्रव्यशब्देनोक्त । अन्ये तु द्रव्यभेदानाहु । तत्त न सम्यगिति हेमाद्रि ।

३. "रसादिसाम्ये यत्कर्म विशिष्ट तत्प्रभावजम्।" इति

द्रव्य के द्विविध वीर्य को कहने के अनन्तर अब उसी के तीन प्रकार के विपाक का वर्णन करते है—

त्रिधा विपाको द्रव्यस्य स्वाद्वम्लकटुकात्मक ।

विपाकत्रय—द्रव्य का विपाक मधुर, अम्ल और कटु ऐसे तीन प्रकार का होता है। भावार्थ यह है कि सभी द्रव्यों के रसों का जाठराग्निसयोग से दूसरे रसरूप मे परिणत होना ही विपाक कहलाता है और वह भी निश्चित कर्मनिष्ठानुमित एक रूपवाला ही होता है, न कि अनेक रूपवाला। साराश, द्रव्यरस का विपाक पहले मधुर, इस के अनन्तर वही जठराग्नि से पककर अम्ल और तत्पश्चात् भली भाँति पककर वही कटु विपाक होता है। मधुर और लवण रस का मधुर, अम्ल रस का अम्ल और कटु-तिक्त-कषाय इन रसों का विपाक कटु होता[1] है।

अब द्रव्य के आश्रय मे रहनेवाले गुणों का वर्णन करते है—

गुरुमन्दहिमस्निग्धश्लक्ष्णसान्द्रमृदुस्थिराः ।
गुणाः ससूक्ष्मविशदा विंशतिः सविपर्ययाः ।
इन्द्रियार्था व्यवायी च विकाषी चापरे गुणाः ।
व्यवायी देहमखिलं व्याप्य पाकाय कल्पते ॥
विकाषी विकषन् धातून्सन्धिबन्धान्विमुञ्चति ।
सरतीक्ष्णप्रकर्षौ तु कैश्चित्तौ परिकीर्तितौ ॥
सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रय. प्रोक्ता महागुणाः ॥

द्रव्यों के बीस गुण—इस पद्य मे वर्णित गुर्वादि दस और इन के विपरीत दस ये सब मिलकर द्रव्य मे बीस गुण होते हैं। यथा—गुरु-लघु, मन्द-तीक्ष्ण, शीत-उष्ण, स्निग्ध रूक्ष, श्लक्ष्ण-खर, सान्द्र द्रव, मृदु कठिन, स्थिर-सर, सूक्ष्म-स्थूल, विशद और पिच्छिल। इनका अर्थ बोलचाल की भाषा में क्रम से भारी हल्का, मन्द तेज, ठण्डा गरम, चिकना रूखा, सँवारा खरदरा, गाढ़ा पतला द्रव, नरम-कड़ा, स्थिर चल, सूक्ष्म-मोटा, स्वच्छ-गँदला होता है। ये बीसों गुण कर्मपरत्व अपना वैशिष्ट्य रखते है। यथा बृहण मे गुरु, लघन में लघु, शमन मे मन्द, शोधन मे तीक्ष्ण, स्तम्भन मे शीत, स्वेदन मे उष्ण, क्लेदन मे स्निग्ध, शोषण में रूक्ष, रोपण में श्लक्ष्ण, लेखन मे खर, प्रसादन में सान्द्र, विलोडन में द्रव, श्लथन मे मृदु, दृढ़ीकरण मे कठिन, धारण में स्थिर, प्रेरण मे चल, विवरण में सूक्ष्म, सवरण मे स्थूल, क्षालन में विशद, लेपन मे पिच्छिल[2]। यद्यपि व्यवायी, विकाषी, आशुकारी, प्रसन्न, सुगन्ध आदि सविपर्यय और भी कई गुण दिखाई देते हैं परन्तु उन सब का अन्तर्भाव उपर्युक्त बीस गुणों में ही हो जाता है। विस्तारभय से हम यहा इतना निर्देश करना ही उचित समझते है। वाग्भटाचार्य स्वय आगे कहते है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये इन्द्रियों के पाँच अर्थ तथा व्यवायी-विकाषी, ये भी गुण हैं। इन में व्यवायी वह है जो प्रथम सपूर्ण शरीर में व्याप्त होकर फिर पचता है या शान्त होता है। विकाषी गुण वह है जो सब धातुओं की हिंसा करके सन्धि-बन्धन उपलेपादि का नाश करता[1] है। कोई आचार्य व्यवायी और विकाषी गुण को क्रम से सर और तीक्ष्ण गुण का प्रकर्ष मानते है परन्तु एकीय मत होने से यह उन का कथन आदरणीय नही है। इन सब गुणों के अतिरिक्त शास्त्र-व्यवहारार्थ सत्त्व, रज और तमोगुणों का भी महागुण नाम से निर्देश किया है।

वातादि दोषों का वैषम्य (क्षय वृद्धि) ही रोग का और साम्य आरोग्यता का मूल कारण माना गया है अत आचार्य अब कहते है कि उक्त दोषों का वैषम्य और साम्य किनके द्वारा क्योंकर होता है।

कालार्थकर्मणा योगो हीनमिथ्यातिमात्रकः ।
सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यैककारणम् ॥

रोग और आरोग्य का कारण—काल, अर्थ और कर्म इन के हीन, मिथ्या, अति और सम्यग्योग ही रोग तथा नीरोगता का एकमात्र कारण जानना चाहिए।

वक्तव्य—शीत, उष्ण और वर्षा इन तीन विभागों के कारण काल तीन प्रकार का है, जैसे कि शीतकाल, उष्णकाल एव वर्षाकाल। पञ्चमहाभूतों के गुण इन्द्रियों के अर्थ पाच है और वे है शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इसी प्रकार कर्म तीन प्रकार के है और वे शरीर, मन तथा वाणी के चेष्टास्वरूप है अर्थात् शारीरिक, मानसिक एव वाणीकृत ये कर्मों के तीन भेद है। इन काल, अर्थ और कर्म के हीन, मिथ्या तथा अतियोग ही रोग के कारण है और नीरोगता का कारण इन सब का सम्यक् योग है। इन सब का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

काल का हीनयोग उस के स्वरूप की हानि है, मिथ्यायोग उसके स्वरूप की विपरीतता है और अतियोग उसके स्वरूप का आधिक्य है, जैसे कि शीत, उष्ण और वर्षाकाल के होते हुए भी ठण्ड, गर्मी और वर्षा की हीनता अर्थात् शीत, उष्ण, वर्षाकाल में ठण्ड, उष्णता एव वर्षा का नितान्त कम होना, यह काल का हीन-योग है। इसी प्रकार शीतकाल में उष्णता, उष्णकाल मे शीतता तथा वर्षाकाल मे वर्षा का न होना, यह काल का मिथ्यायोग है। उक्त शीतोष्णवर्षाकाल में प्रमाण से अधिक अति ठड, अति गर्मी और अति वर्षा का होना, यह काल का अतियोग कहलाता है। ये तीनों हीन मिथ्या अतियोग ही रोग के कारण होते है और पूर्वोक्त तीनों कालों का सम्यग्योग अर्थात् जैसा चाहिए वैसा शीतोष्ण वर्षा का योग नीरोगता का मुख्य कारण है।

अपने अपने अर्थ अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के साथ इन्द्रियों का हीनसयोग हीनयोग है। पुरुष जिस अर्थ को नही चाहता उसके साथ इन्द्रियों के सयोग का नाम मिथ्यायोग है और इन्द्रियों के अर्थों के साथ अत्यन्त सयोग

---

१ एव कर्मनिष्ठानुमित एकरूपावस्थो जाठराग्निसयोगाद्यो रसाना रसान्तरोद्भव, स एव विपाक । न तु यो जठराग्निसयोगमात्राद्रसा नामनेकावस्थ । प्राङ्मधुरोऽनन्तर स एव पच्यमानोऽम्लस्ततो विप च्यमान स एव कटुर्विपाक इत्यरुण ।

२ वाग्भटकृताष्टाङ्गहृदयस्यास्यैव पद्यस्यावलोकनीय हेमाद्रिकृ तमायुर्वेदरसायनव्याख्यान प्रमाणार्थम्।

१ विकाषी धातून्विकषन् हिंसन सन्धिबन्धानुपलेपादिकान्मुञ्चति नाशयतीतीन्दु ।

२ "सरतीक्ष्णप्रकर्षौ तु कैश्चित्तौ परिकल्पितौ" इति। तदेकीय मतत्वादनादरणीयम्। तदादरणे यत्तैले व्यवायिबद्धविट्कयोरभिधान तद्विरुद्ध स्यादित्यादि हेमाद्रि ।

को अतियोग कहते है। ये तीनों शब्द स्पर्शा दि इन्द्रियों के हीन मिथ्यातियोग रोग के कारण हैं और इन्द्रियों के साथ उन के अर्थों का सम्यक् अर्थात् जितना चाहिए उतना उचित योग आरोग्य का कारण है।

शरीर, वाणी और मन के कर्म की हीन प्रवृत्ति हीनयोग, इन के द्वारा यथासमय किए जानेवाले मलमूत्रादिविसर्जन, भाषण, चिन्तनादि कर्मों के स्थान मे अन्य कर्मों की प्रवृत्ति मिथ्यायोग और मन, वचन तथा शारीरिक कर्म की अत्यन्त प्रवृत्ति अतियोग होता है। यही तीन प्रकार का कर्मों का सयोग रोग का कारण है और सम्यक् अर्थात् शरीर, मन, वाणी इनके कर्मों का यथावत् होना आरोग्य का कारण है।

रोग और आरोग्य किसका नाम है अब इसका स्पष्टीकरण करते है—

रोगस्तु दोषवैषम्य दोषसाम्यमरोगता ।

रोग और नीरोग के कारण—वातादि दोषों की विषमता अर्थात् समुचित प्रमाण से बढ़ना या घटना अथवा अपने स्वरूप से च्युत (विचलित) होना ही रोग है और अपने समुचित प्रमाण भ बने रहना (न बढ़ना और न घटना) या अपने स्वरूप मे बने रहना आरोग्य या नीरोगता है। यहा दोष शब्द अन्तरङ्ग हेतुमात्र का उपलक्षण है अत वातादि दोषों तथा रसरक्तादि दूष्यों की विषमता (विकृति) का नाम रोग है और इन दोषदूष्यों की समता या प्रकृति का नाम आरोग्यता[1] है।

अब आचार्य रोगों के दो मुख्य भेदों तथा अधिष्ठानों को कहते हैं—

निजागन्तुविभागेन तत्र रोगा द्विधाः स्मृताः ।
तेषा कायमनोभेदादधिष्ठानमपि द्विधा ॥

द्विविध रोग और उनके अधिष्ठान—वातादि दोषों के विषम और सम अवस्था में होनेवाले रोग निज तथा आगन्तु भेद से दो प्रकार के कहे गए हैं। निज अर्थात् शारीरिक रोग वे हैं जो वातादि दोषों की विषमता से उत्पन्न होकर पीड़ा के करनेवाले होते है और आगन्तुक रोग वे हैं जो वातादि दोषों की समावस्था में भी शस्त्र लगने, चोट लगने, गिर पड़ने, हिंस्र पशुओं के आघातादि बाह्य हेतुओं (बाहर से घटित होनेवाले कारणों) से प्राप्त[2] होते हैं। वातादि दोषों का कोप इन आगन्तुक रोगों में भी होता है किन्तु इन निज आगन्तुक दोनों रोगों में भेद इतना ही है कि शरीर में होनेवाले रोगों में वातादि दोषों की प्रवृत्ति पहले होती है और फिर पीड़ा होती है और आगन्तुक रोगों में पहले पीड़ा होकर उसके पश्चात् वातादि दोषों की प्रवृत्ति होती है। साराश यह कि चाहे शारीरिक हो या आगन्तुक, इन में का कोई भी रोग ऐसा नही होता जिस में वातादि दोषों की प्रवृत्ति न होती हो। शारीरिक और आगन्तुक इन दोनों प्रकार के रोगों के अधिष्ठान (स्थान) भी शरीर और मन ये दो है परन्तु ध्यान रहे कि इन सब की पीड़ा शरीर और मन इन दोनों को परस्पर होती है तथा वस्तुत इन सब रोगों का सन्ताप मन को होता है।

रोग जहा पर रहते है उस स्थान को अधिष्ठान कहते[1] है। रोगों के निज और आगन्तुक भेद से दो प्रकार हैं, वैसे ही उनके अधिष्ठान अर्थात् रहने के स्थान भी शरीर और मन ये दो ही है। उदाहरणार्थ ज्वर, रक्तपित्त, कास, अतीसारादि का स्थान शरीर है और मद, मूर्च्छा, सन्न्यास, ग्रह, भूतोन्माद, अपस्मार, राग, द्वेष आदि का अधिष्ठान मन है।

वातादि दोष रोगों के कारण माने गये है परन्तु वे शारीरिक रोगों के ही उत्पादक हो सकते है, मानसिक व्याधियों के नहीं। तब क्या मानसिक रोग आप ही आप बिना दोषों के ही हो जाते हैं? या इन मानसिक रोगों के लिए भी कोई दोष नियत हैं? अब आचार्य इस शङ्का का निवारण करते है।

रजस्तमश्च मनसो द्वौ च दोषावुदाहृतौ ॥

मन के दो दोष—रज और तम ये दो दोष मन के उदाहरणार्थ कहे गये है। यहा रजोदोष का प्रथम निर्देश उसकी प्रधानता के कारण किया गया है क्योंकि विना रजोगुण के तमोगुण की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती[2]। ये दोनों दोष अज्ञान से उत्पन्न होकर शुद्ध मन को दूषित करते है अत ये मानसिक दोष कहलाते हैं तथापि इन मे वातादि की तरह दोषत्व नहीं है और न आयुर्वेदीय रोग विज्ञान चिकित्सा में वातादि की तरह सपूर्णतया इन का वर्णन ही है। इसी लिए ये केवल उदाहरणमात्र के लिए कहे गये[3] है। उपर्युक्त पद्य का चकार वातादि दोषों के उपसग्रहार्थ है इस से यह बात निश्चित होती है कि मानसिक रोगों के साथ ही वातादि दोषों का सबन्ध है। मानसिक दोषों के रहते हुए भी प्रकुपित वातादि दोष साथ में रहते[4] है। उदाहरणार्थ उन्माद रोग को ही लीजिए जिस की उत्पत्ति में मानसिक दोषों के साथ वातादि दोषों का भी उल्लेख है कि रजोदोष-तमोदोष से विकृत मनवालों की बुद्धि विचलित होने पर वातादि प्रकुपित दोष हृदय को दूषित कर, मनोवह स्रोतों को ढक कर उन्माद को पैदा करते[5] है।

---

१ दोषदूष्याणां यद्वैषम्य विकृतत्व तद्रोग । दोषशब्दोऽन्तरङ्ग हेतुमात्रोपलक्षण । दोषदूष्याणा यत्साम्यमविकृतत्व तदारोग्यमिति हेमाद्रि ।

२ निजास्त्रिदोषोत्था । बाह्यहेतुजास्त्वागन्तव । अनयोरियान्विशेष । निजे रोगे वातादय पूर्वं वैषम्य गत्वा पश्चाद्व्यथामभिनिवर्तयन्ति। आगन्तव पुनर्व्यथापूर्वमेवोत्पद्यन्ते, अनन्तर तत्र वातादय कुप्यन्तीत्यरुणदत्त ।

१ अधितिष्ठन्त्यस्मिन्नित्यधिष्ठानम्

२ "नारजस्क तम प्रवर्त्तते" इति चरक ।

३ मानस पुनरित्यादि। पुन शब्दोऽवधारणे, तेन मानस उद्दिष्ट एव पर न शारीरदोषवत्प्रपञ्चित, मानसदोषाणामस्मिंस्तन्त्रे कायचिकित्सारूपेऽप्रास्ताविकत्वादिति चरकव्याख्याने चक्रदत्त ।

४ च शब्द पवनादीनामप्युपसग्रहार्थ । यस्मात्तेऽपि मन सश्रित्य विकुर्वत इत्यरुण ।

५ भीरूणामुपक्लिष्टसत्त्वाना (रजस्तमोभ्यामुपहतचेतसाम्) बुद्धौ च प्रचलितायामभ्युदीर्णा दोषा प्रकुपिता हृदयमुपसृत्य मनोवहानि स्रोतांस्यावृत्य जनयन्त्युन्मादमिति चरक ।

अब आचार्य रोगग्रसित रोगी के रोगज्ञानार्थ साधारण तथा विशेष उपायों का निर्देश करते हैं। यथा—

दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेत च रोगिणम्।
रोगं निदानप्राग्रूपलक्षणोपशयाप्तिभिः॥

रोगी और रोग का परीक्षण—देखकर, स्पर्शकर और पूछताछ करके (वैद्य को चाहिए कि वह) रोगी की, तथैव निदान, पूर्व रूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति से रोग की परीक्षा करे।

वक्तव्य—मूल श्लोक के पूर्वार्ध मे दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न करके त्रिविध सामान्य परीक्षा इस लिए कही गई है कि वस्तुत अमुक मनुष्य रोगी है या नहीं। उदाहरणार्थ हम किसी व्यक्ति को सामने बिठा कर उसके शरीर और मलमूत्रादि के वैवर्ण्य, कृष्ण, पीत, श्वेत आदि रङ्गों से साधारणतया जान सकते है कि रोगी अमुक रोग से पीडित है, जैसे कि देखने से शरीर पीला, श्वेत, खरदरा, शुक्लनेत्रता है तो सभवत रोगी पाण्डु, अम्लपित्त, प्रमेह, क्षयादि से पीडित है। यह दर्शनज्ञान हुआ। स्पर्श करने से यदि सताप है तो ज्वर, काठिन्य तथा ऊचे उठे हुए भाग से प्लीह, यकृत्, गुल्म, विद्रधि आदि और इसी प्रकार प्रश्न करने से शूल, अरोचक, बुरे भले स्वप्नों का दिखाई देना आदि का ज्ञान हो सकता है। साराश, इस सामान्य परीक्षा से जाना जा सकता है कि यह अवश्य रोगी है या नीरोग[1]।

उक्त पद्य के उत्तरार्ध मे यदि कोई रोगी ही है तो वह किस रोग से पीडित है? इसके निश्चित ज्ञानार्थ विशेष उपायों का वर्णन किया है। वे उपाय निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति है। इन उपायों को ही निदानपञ्चक कहते है और इनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार हो सकता है।

निदान—उपर्युक्त तीन सामान्य उपायों से रोग का ज्ञान होने पर उसकी विशेष छानबीन निदानपञ्चक से होती है। इनमे रोग के प्रथम कारण का नाम निदान है जैसे कि कोष-कार ने भी "निदान त्वादिकारणम्" कहा है। अमुकामुक मिथ्या आहारविहारों से अमुकामुक रोग होते हैं। इस प्रकार आदि कारण के ज्ञान को निदान कहते हैं।

पूर्वरूप—होनेवाली व्याधि के दोषपरत्व वे छिपे हुए लक्षण हैं जो आगे चलकर प्रकट होते हैं। जिस दोष के लक्षण प्रकट होने को होते हैं, उसका पता पूर्वरूप से लग जाता है जैसे कि आगे होनेवाले वात पित्त कफ ज्वर का पता जम्भाई, आखों की जलन और अन्न की अरुचि से एव अन्य शास्त्रोदित रोगों का पता भी पूर्वरूप से लग जाता है।

रूप—उन लक्षणों का नाम है जिनका वर्णन प्रत्येक रोग के प्रकरण मे शास्त्रकारों ने किया है। उनसे निश्चय हो जाता है कि यह रोग अमुक नामवाला ही है।

उपशय—सुखदायी औषध, अन्न और विहार के उपयोग का नाम है। इस औषध, अन्न और विहार से रोगजन्य पीडा नही हुई और अमुक औषधान्नविहार से पीडा विशेष हुई। इससे भी रोग का तथा तद्गत दोषविशेष का पता लग जाता है।

सम्प्राप्ति—उसे कहते है जिससे पता लगता है कि अमुक स्थान स्थित कुपित अमुक दोष के, अमुक रीत्या ऊचे, नीचे, तिर्छे गमन से इस व्याधि का प्रादुर्भाव हुआ है। इन सब का विशेष वर्णन आगे किया जायगा।

उपशयादि प्रसङ्ग से देश और काल का भी उपयोग होता है अत अब ग्रन्थकार उनका वर्णन करते है।—

भूमिदेहप्रभेदेन देशमाहुरिह द्विधा।
जाङ्गलं वातभूयिष्ठमानूपं तु कफोल्बणम्॥
साधारणं सममलं त्रिधा भूदेशमादिशेत्।
क्षणादिर्व्याध्यवस्था च कालो भैषज्ययोगकृत्॥

देश के दो भेद—इस आयुर्वेदशास्त्र में भूमि और देहभेद से देश दो प्रकार का कहा गया है। इनमे भूमिदेश तीनप्रकार का जानना चाहिए जसे कि वायु की अधिकतावाला जाङ्गल, कफकी अधिकतावाला आनूप और वात आदि तीनों दोषों की समता-वाला साधारण। औषध के उपयोग में कालक्षणादि और व्याधि की अवस्थाभेद से दो प्रकार का जानना चाहिए।

वक्तव्य—इस आयुर्वेदशास्त्र मे अन्य शास्त्रों में न कहने पर भी देह (शरीर) को भी देश माना गया है। इसी लिए यहां इह शब्द का निर्देश है। तीन प्रकार के भूमिप्रदेश में वातरोगप्रधान को जाङ्गल, कफरोगप्रधान को आनूप और सम-दोष अर्थात् आरोग्यताप्रधान को साधारण देश कहा है। भावार्थ यह है कि जो देश जल, वृक्ष एव पर्वतों की कमी के कारण वातप्रधान औषधि-पशु पक्षी और पुरुषोंवाला है, वह जाङ्गल है। इसके विपरीत लक्षणोंवाला, कफप्राय औषधिजलवाला अर्थात् श्लीपदादि रोगोंवाला आनूप देश है। इन दोनों लक्षणों का मध्यवर्ती, दोषों की साम्यावस्थावाला साधारण देश कह-लाता है किन्तु भगवान् धन्वन्तरि के मत में जाङ्गल देश वात-पित्त-रोग-प्रधान, आनूप देश कफ-वात-रोग-प्रधान और इन दोनों देशों के मिश्र लक्षणोंवाला साधारण देश[3] है।

औषधि के उपयोग के लिए क्षणादिकाल और रोगावस्था-

---

१ स च त्रिधा-दर्शन, स्पर्शन, प्रश्नश्चेति। तत्र दर्शनेन वैवर्ण्यादिक, स्पर्शनेन शैत्यादिक, प्रश्नेन शूलादिक निर्धार्य रोग्ययमिति निश्चय इति हेमाद्रि।

१ इहेत्यायुर्वेदशास्त्रे। शास्त्रान्तरेषु देहस्य देशव्यहाराभावात्। तत्र यो वातभूयिष्ठो वातरोगबहुलस्त जाङ्गल, कफोल्बण कफरोग बहुलस्तमानूप, य सममल समदोषत्वादारोग्यबहुलस्त साधारण मादिशेदिति हेमाद्रि।

२ जाङ्गलो नामाल्पोदकतरुपर्वतत्वेन वक्ष्यमाणलक्षणो वातभूयिष्ठ सजानौषधिखगमृगपुरुषादियों वातप्रधान। आनूपस्तस्माद्विपरीतलक्षण। साधारण उभयलक्षणमव्यपतित सममल समवातादि दोष इतीन्दु।

३ देशस्त्वानूपो जाङ्गल साधारण इति। तत्र, बहूदकनिम्नोन्नतनदीवर्षगहनो मृदुशीतानिलो बहुमहापर्वतवृक्षो मृदुसुकुमारोचित मनुष्यशरीरप्राय कफवातरोगभूयिष्ठश्चानूप आकाशसम प्रविरलाल्पकण्टकिवृक्षप्रायोऽल्पवर्षप्रस्रवणोदपानोदकप्राय उष्णदारुणवात प्रविरलाल्पशैल स्थिरकृशशरीरमनुष्यप्रायो वातपित्तरोगभूयिष्ठश्च जाङ्गल, उभयदेशलक्षण साधारण इति सुश्रुतः।

काल इस प्रकार दो काल माने गये हैं। क्षणादि काल वह है जो लव (क्षण), त्रुटि, घटि, मुहूर्त्त, प्रहर, अहोरात्र (दिनरात), पक्ष, मास, ऋतु, अयन और सवत्सर रूप से प्रसिद्ध है। औषधोपयोग के लिए क्षणादि काल के उदाहरण जैसे कि पूर्वाह्न मे वमन, मध्याह्न मे विरेचन, कुछ मध्याह्न के बीतने पर बस्तिकर्म आदि[1] है। रोग की अवस्था के अनुरूप काल में औषधोपयोग के लिए रोग की साम, निराम, मृदु, मध्य और तीक्ष्ण जैसी अवस्था हो, उसके अनुरूप औषधोपचार करना ये उदाहरण हैं, जैसे कि ज्वर में पेया, कषाय, घृत, दुग्ध और विरेचन का उपयोग, तीसरे या छठे दिन बलाबल देखकर करना इत्यादि[2]।

इन सब औषधिप्रयोगों में "कालो भेषजयोगकृत्" इस बात को कदापि नहीं भूलना चाहिए क्योंकि जो जो क्षणादि और व्याध्यवस्थाकाल शास्त्रानुमोदित हैं, उस उस समय मे ही सब औषधियों की उपयुक्तता सिद्ध होती है।

जिन सब औषधियों का उपयोग कालानुरूप किया जाता है अब उन औषधियों के सक्षेप मे दो प्रकारों का वर्णन करते है।

शोधन शमन चेति समासादौषध द्विधा ॥

द्विविध औषध—शोधन और शमन ऐसे दो प्रकार औषध के सक्षेप में कहे गए हैं। द्रव्य हो चाहे अद्रव्य, जैसे कि हरीतकी (द्रव्य) और आतप (अद्रव्य) आदि का सेवन रोग के शमनार्थ किया जाता है उसे औषध कहते है। वह औषध दो प्रकार का है, शोधन और शमन। कुपित दोषों को शरीर से बाहर निकालकर रोग को नष्ट करनेवाली औषधि का नाम शोधन है और जिसके सेवन करने से जिस स्थान में स्थित रोग का शमन वहीं हो जाता है, उसे शमन औषधि कहते है। इन शोधन-शमन रूप दोनों प्रकारों के बहुत से भेद निरूह, पाचन, क्वाथ, चूर्ण आदि है। लघन और बृहण इन दोनों प्रकारों का अन्तर्भाव भी इस शमन मे जानना चाहिए, जैसे कि ग्रन्थकार इसी स्थान मे आगे कहेंगे।

औषधि का सक्षिप्त वर्णन करने के अनन्तर अब शारीरिक और मानसिक दोषों के औषधों को कहते है। यथा—

शरीरजानां दोषाणा क्रमेण परमौषधम्।
बस्तिर्विरेको वमन तथा तैलं घृत मधु ॥
धीधैर्यात्मादिविज्ञान मनोदोषौषध परम् ॥

शारीर और मानस रोगों में श्रेष्ठ औषधि—शरीर में उत्पन्न होनेवाले वातादि दोषों के क्रम से बस्ति, विरेचन और वमन ये सशोधनार्थ तथैव सशमनार्थ तैल, घृत और मधु (शहद) ये परम (श्रेष्ठ) औषध है। मानसिक दोष का श्रेष्ठ औषध बुद्धि, धैर्य और आत्मा आदि का विज्ञान है।

उपर्युक्त सक्षिप्त कथन का स्पष्टीकरण यह है कि शोधनात्मक औषधों मे गुदमार्ग से स्नेहकषायादि द्वारा जो बस्ति दी जाती है जिसे आधुनिक डॉक्टर 'एनिमा' कहते है, वायु रोग की श्रेष्ठ औषधि है। इसी प्रकार मुख द्वारा सेवित गुद मार्ग से दोष को बाहर निकालनेवाली विरेचन औषधि पित्त रोग की श्रेष्ठ दवा है। तथैव मुखद्वारा सेवित मुख ही से वमन द्वारा दोष को बाहर निकालनेवाली वमनौषधि कफ रोग की परम औषधि है। वात, पित्त और कफ को दूर करनेवाली क्रम से बस्ति, वमन और विरेचन ये तीन शोधन-क्रिया कही गई है। सशोधन न करके औषधि द्वारा शरीर में जहाँ रोग हुआ है वहीं शान्त कर देना शमन कहलाता है। इसमे वायु की परमौषधि तैल, पित्त की घृत और कफ की मधु (शहद) है।

इसी प्रकार रजोगुण, तमोगुण तथा वातादि इन मन के आश्रित दोषों को दूर करने के लिए बुद्धि जो बाह्य और आन्तरिक भावों की अवस्था मे अपने हित अनहित को भली भाति जानती हो, धैर्य-चित्त की स्थिरता-अचञ्चलता जिससे अहित न हो और दुःख को सहने की शक्ति हो, आत्मादि (आत्मा, देश और काल) योग तथा धर्माभ्यास द्वारा आत्मा का चिन्तन, देश अर्थात् मै इस समय कहा कैसी अवस्था मे हूँ। मुझे ऐसी अवस्था मे क्या करना चाहिए इत्यादि बाते मन के आश्रय में रहनेवाले सभी दोषों की श्रेष्ठ औषधि[1] है।

अब आचार्य इस अष्टाङ्गसग्रह नामक ग्रन्थ के अध्यायों का निर्देश इस लिए करते है कि सुखेन स्मरण हो सके।

तन्त्रस्यास्य पर चातो वक्ष्यतेऽध्यायसंग्रहः।
आयुष्कामीयशिष्यार्थदिनर्तुव्याध्यसंभवाः ॥
द्रवान्नज्ञानसरक्षाविरुद्धान्नान्नपानिकः ।
मात्राशितौषधज्ञान श्रेष्ठशुद्ध्यादिसंग्रहाः ॥
महाकषायविविधद्रव्यादिरसभेदका ।
दोषादिज्ञानतद्भेदतत्क्रियारोगभेषजम् ॥
द्व्यौषधस्नेहनस्वेदशुद्ध्यास्थापननावनम् ।
धूमगण्डूषदृक्सेकतृप्तियन्त्रजलौकसः ॥
सिराविधिः शल्यविधिः शस्त्रक्षाराग्निकर्मकाः।
चत्वारिंशदिमेऽध्यायाः सूत्रम् ॥

सूत्रस्थान के अध्याय नाम—(१) आयुष्कामीय (२) शिष्योपनयनीय (३) दिनचर्या (४) ऋतुचर्या (५) रोगानुत्पादनीय (६) द्रवद्रव्यविज्ञानीय (७) अन्नस्वरूपविज्ञानीय (८) अन्नसरक्षणीय (९) विरुद्धान्नविज्ञानीय (१०) अन्नपानविधि (११) मात्राशितीय (१२) विविधौषधविज्ञानीय (१३) अग्र्यसग्रह (१४) शोधनादिगणसग्रह (१५) महाकषायसग्रह (१६) विविधगणसग्रह (१७) द्रव्यादिविज्ञानीय (१८) रसभेदीय (१९) दोषादिविज्ञानीय (२०) दोषभेदीय (२१) दोषोपक्रमणीय (२२) रोगभेदीय (२३) भेषजावचारणीय (२४) द्विविधोपक्रमणीय (२५) स्नेहविधि

---

१ पूर्वाह्णे वमन देय मध्याह्ने तु विरेचनम्। मध्याह्ने किञ्चिदावृत्ते बस्ति दद्याद्विचक्षण ॥ इति ।

२ ज्वरे पेया कषायाश्च सर्पि क्षीर विरेचनम्। न्यहे वा षडहे युञ्ज्याद्वीक्ष्य दोषबलाबलम् ॥ इति चरक

३ यद्द्रव्यमद्रव्य वाऽभयातपादि कुपितदोषविनाशार्थमुपयुज्यते तदौषधमित्युच्यते। शोधन यत्कुपितान् दोषान्निस्सार्य बहि रोगोपशमन करोति। शमन पुनर्यत्स्वस्थानस्थितानामेव साम्यहेतुरितीन्दु ।

१ धीर्बुद्धि, यया हिताहितविवेक । धैर्यं दुःसहत्व येन हित सेवनमहितत्याग । आत्मादिविज्ञान आत्मादय आत्मदेशकालास्तेषा विज्ञानमीदृशोऽहमीदृशेदेशे, ईदृशे काले व्यवहरामीति ज्ञानम्। तेन हितसेवनस्या विच्छेद । एतत्सर्वमनोदोषौषध हृदयाश्रयाणा वातादीना मौषध परमिति हेमाद्रि ।

(२६) स्वेदविधि (२७) वमनविरेचनविधि (२८) बस्तिविधि (२९) नस्यविधि (३०) धूमपानविधि (३१) गण्डूषादि-विधि (३२) आश्च्योतनाञ्जनविधि (३३) तर्पणपुटपाकविधि (३४) यन्त्रशस्त्रविधि (३५) जलौकावचारणीय (३६) सिरावेधविधि (३७) शल्यापहरणविधि (३८) शस्त्रकर्मविधि (३९) क्षारकर्म विधि और (४०) अग्निकर्मविधि ये चालीस अध्याय सूत्र स्थान के हैं।

शारीरमुच्यते ।
पुत्रार्थगर्भावक्रान्तिचर्याव्यापच्छरीरजाः ॥
सिरामर्मप्रकृत्याख्या विकृताङ्गेऽहितामयाः ।
सदूता द्वादशाध्यायाः ॥

शारीरस्थान के अध्याय—(१) पुत्रकामीय (२) गर्भावक्रान्ति (३) गर्भोपचरणीय (४) गर्भव्यापत् (५) अङ्गविभाग (६) सिरा विभाग (७) मर्मविभाग (८) प्रकृतिभेदीय (९) विकृतिविज्ञानीय (१०) विकृतेहाविज्ञानीय (११) विकृतव्याधिविज्ञानीय और (१२) दूतादिविज्ञानीय ये बारह अध्याय शारीरस्थान के है।

निदानं सार्वरौगिकम् ।
ज्वरासृक्श्वासयक्ष्मादिमदाद्यर्शोऽतिसारिणाम् ॥
मूत्राघातप्रमेहाणां विद्रध्याद्युदरस्य च ।
पाण्डुकुष्ठानिलार्तानां वातास्रस्य च षोडश ॥

निदानस्थान के अध्याय—(१) सर्वरोग-निदान (२) ज्वर-निदान (३) रक्तपित्तनिदान (४) श्वासहिध्मानिदान (५) राज-यक्ष्मादिनिदान (६) मदात्ययादिनिदान (७) अर्शोनिदान (८) अतिसार-ग्रहणी-निदान (९) मूत्राघातनिदान (१०) प्रमेह-निदान (११) विद्रधिवृद्धिगुल्मनिदान (१२) उदरनिदान (१३) पाण्डुरोगकामलाशोफविसर्पनिदान (१४) कुष्ठनिदान (१५) वातव्याधिनिदान और (१६) वातरक्तनिदान ये सोलह अध्याय निदानस्थान के है।

चिकित्साज्वरयोरस्रकासयोः श्वासयक्ष्मणोः ।
वमो मदात्ययेऽर्शस्सु विशि द्वौ द्वौ च मूत्रिते ॥
विद्रधौ गुल्म-जठर—पाण्डु-शोफ-विसर्पिषु ।
कुष्ठश्वित्रानिलव्याधि-वातास्रेषु चिकित्सितम् ॥
चतुर्विंशतिरध्यायाः ॥

चिकित्सास्थान के अध्याय—(१) ज्वरचिकित्सित (२) जीर्ण-ज्वरचिकित्सित (३) रक्तपित्तचिकित्सा (४) कासचिकित्सा (५) क्षतक्षयकासचिकित्सा (६) श्वासहिध्माचिकित्सा (७) यक्ष्म-चिकित्सा (८) छर्दिहृद्रोगतृष्णाचिकित्सा (९) मदात्ययादि-चिकित्सा (१०) अर्शश्चिकित्सा (११) अतीसारचिकित्सा (१२) ग्रहणीदोषचिकित्सा (१३) मूत्राघातचिकित्सा (१४) प्रमेह-चिकित्सा (१५) विद्रधिवृद्धिचिकित्सा (१६) गुल्मचिकित्सा (१७) उदरचिकित्सा (१८) पाण्डुरोगचिकित्सा (१९) शोफ-चिकित्सा (२०) विसर्पचिकित्सा (२१) कुष्ठचिकित्सा (२२) श्वित्र-कृमिचिकित्सा (२३) वातव्याधिचिकित्सा (२४) और वातरक्त-चिकित्सा ये चौबीस अध्याय चिकित्सास्थान मे है।

कल्पसिद्धिरतः परम् ।
कल्पो वमेर्विरेकस्य तत्सिद्धिर्बस्तिकल्पना ॥
कल्पश्च सिद्धबस्तीनां सिद्धिर्बस्त्यनुवासयोः ।
द्रव्यकल्पोऽष्टमः ॥

कल्पस्थान के अध्याय—इसके अनन्तर कल्पस्थान है और जिसके आठ अध्याय हैं, जैसे कि (१) वमनकल्प (२) विरेचन-कल्प (३) वमनविरेचनव्यापत्सिद्धिकल्प (४) बस्तिकल्प (५) सिद्धबस्तिकल्प (६) बस्तिव्यापत्सिद्धिकल्प (७) स्नेहादिव्याप-त्सिद्धिकल्प और (८) भेषजकल्पाध्याय।

स्थानमत उत्तरमुत्तरम् ।
बालोपचरणे व्याधिग्रहज्ञाननिषेधने ॥
स्नाने पृथग्ग्रहे भूते द्वावुन्मादे स्मृतिक्षये ।
वर्त्मसन्धिगतौ द्वौ द्वौ दृक्तमोलिङ्गनाशिषु ॥
सर्वदृक्स्यन्ददृक्पाके कर्णनासामुखेषु च ।
मूर्ध्नि व्रणे तथा द्वौ द्वौ सद्योभङ्गे भगन्दरे ॥
ग्रन्थ्यादौ क्षुद्ररोगेषु गुह्यरोगे पृथग्द्वयम् ।
विषे द्वौ भुजगे कीटे द्वौ च लूतासु मूषिके ॥
विषे विषोपयोगे च तथाध्यायो रसायने ।
वाजीकरणमुद्दिश्य पञ्चाशोऽष्टाङ्गपूरणः ॥
पञ्चाशदध्यायशतं षड्भिः स्थानैः समीरितम् ॥

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसङ्ग्रहे सूत्रस्थाने प्रथमोऽध्याय ।

उत्तरस्थान के अध्याय—इसके अनन्तर उत्तरस्थान है। इसके ५० अध्याय हैं। यथा (१) बालोपचरणीय (२) बालामयप्रतिषेध (३) बालग्रहविज्ञानीय (४) बालग्रहप्रतिषेध (५) स्नानविधि (६) प्रत्येकग्रहप्रतिषेध (७) भूतविज्ञानीय (८) भूतप्रतिषेध (९) उन्मादप्रतिषेध (१०) अपस्मारप्रतिषेध (११) वर्त्मरोग विज्ञानीय (१२) वर्त्मरोगप्रतिषेध (१३) सन्धिसितासितरोग विज्ञानीय (१४) सन्धिसितासितरोगप्रतिषेध (१५) तिमिररोग-विज्ञान (१६) तिमिररोगप्रतिषेध (१७) लिङ्गनाशप्रतिषेध (१८) सर्वाक्षिरोग विज्ञान (१९) नेत्राभिष्यन्दप्रतिषेध (२०) अक्षिपाक-पिल्लप्रतिषेध (२१) कर्णरोगविज्ञान (२२) कर्णरोगप्रतिषेध (२३) नासारोगविज्ञान (२४) नासारोगप्रतिषेध (२५) मुखरोगविज्ञान (२६) मुखरोगप्रतिषेध (२७) शिरोरोगविज्ञान (२८) शिरोरोग-प्रतिषेध (२९) व्रणविभक्तिविज्ञान (३०) व्रणप्रतिषेध (३१) सद्योव्रणप्रतिषेध (३२) भङ्गप्रतिषेध (३३) भगन्दरप्रतिषेध (३४) ग्रन्थ्यादिविज्ञान (३५) ग्रन्थ्यादिप्रतिषेध (३६) क्षुद्ररोग-विज्ञान (३७) क्षुद्ररोगप्रतिषेध (३८) गुह्यरोगविज्ञान (३९) गुह्यरोगप्रतिषेध (४०) विषप्रतिषेध (४१) सर्पविषविज्ञान (४२) सर्पविषप्रतिषेध (४३) कीटविषप्रतिषेध (४४) लूताविषप्रतिषेध (४५) प्रत्येकलूताप्रतिषेध (४६) मूषिकालर्कविषप्रतिषेध (४७) विषोपद्रवप्रतिषेध (४८) विषोपयोगीय (४९) रसायनाध्याय और (५०) वाजीकरणाध्याय।

इस प्रकार यह ग्रन्थ एक सौ पचास अध्याय का छ स्थानों में विभक्त करके सम्यक्तया वर्णन किया गया है।

इत्यष्टाङ्गसङ्ग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकायां हिन्दीव्याख्याया प्रथमोऽध्याय ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

प्रथम अध्याय में सर्वतन्त्रार्थ का अध्यायग्रन्थन करने के अनन्तर अब आचार्य यह बतलाना चाहते हैं कि किस प्रकार के शिष्य को यह आयुर्वेदशास्त्र पढ़ाना चाहिये ।

अथातः शिष्योपनयनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

शिष्योपनयन—अब प्रथम अध्याय कहने के अनन्तर हम शिष्योपनयनीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षि कर गये है ।

वक्तव्य—यहा आयुर्वेदशास्त्र में उपनयन नाम दीक्षा का है और कुछ लोगों के मतमे शिष्यको अपने तुल्य बना देनेका[1] है । कुछ के मतमें शिष्यका गुरु के समीप जाना ही उपनयन का अर्थ है । भावार्थ सबका एक है । गुरु से दीक्षा प्राप्त कर या उसके समीप रहकर कौनसा शिष्य आयुर्वेद पढ़ने का अधिकारी हो सकता है और गुरु भी किन गुणोंवाले शिष्यको अपने तुल्य बना सकते हैं । यही इस अध्यायका मुख्य विषय है । सुश्रुत में उपनयनविधि का वर्णन किया है और उसके टीकाकार डल्लन ने स्पष्टीकरण करके बताया है कि ब्राह्मणादि का उपनयन पहले हो जाने पर भी ऋग्यजुस्सामके पढ़ने पर अथर्व तथा धनुर्वेद के आरम्भ में पुनर्व्रतावतरण करना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार आयुर्वेदारम्भ में भी यह पुनरुपनयन करना पड़ता[2] है । यहा ग्रन्थकार ने उपनयन-विधि का वर्णन न करके केवल उपदेश कर दिया है कि किस प्रकार के शिष्य को पढाना चाहिए । यथा—

गुरुभक्तोऽभियुक्तोऽतियुक्तो धीस्मृतिपाटवैः ।
ऋज्वास्यनासानयनस्तनुस्निग्धनखच्छविः ॥
ब्रह्मचारी जितद्वन्द्वो धीरः सुचरित स्थिरः ।
षण्मासानषितः शक्तो लज्जाशौचकुलान्वित ॥
शिष्योऽध्याप्यो गतो यावदन्त तन्त्रार्थकर्मणाम् ।

शिष्य के शुभ लक्षण—जो गुरुभक्त हो अर्थात् उपाध्याय की सेवा में तत्पर हो, शास्त्र के समझने में प्रयत्नशील हो, जिसकी ग्रहणशक्ति स्मरणशक्ति और इन्द्रियाँ ये सब अच्छे हों, जिसके मुख, नाक और नयन ये सब स्पष्ट हों जिसके नख कटे हुए छोटे और चिकने हों जो ब्रह्मचारी (मैथुन-कर्म—रहित) हो जो दु ख और सुख में अपने को दुखी और सुखी न माननेवाला हो, जो निर्दोष हो, जो निर्भय सच्चरित, गम्भीर और अचपल स्वभाववाला हो, छ मास तक अपने पास में रखकर जिसके सच्चरित्रतादि सद्गुणों की पहिचान गुरुने कर ली हो, जो प्रिय बोलनेवाला और बलवान् हो, लज्जायुक्त और शौचयुक्त हो अर्थात् बाहर और भीतर से पवित्र हो, जो कुलान्वित अर्थात् सुकुलीन हो, ऐसे शिष्य को जब तक वह तन्त्र के अर्थ और कर्मज्ञान के अन्त तक न पहुँच जाय तब तक पढाने के योग्य है । भावार्थ यह है कि जब तक शास्त्र को कण्ठस्थ न कर ले, कण्ठस्थ शास्त्र का जब तक पूरा अर्थ न जान ले और शास्त्रीय प्रयोगों का प्रत्यक्ष अभ्यास न कर ले तब तक शिष्य को पढावे[1] ।

अब शास्त्रीय उपदेश करते है कि निम्नलिखित समय में तथा प्रकार से नहीं पढ़ाना चाहिए । यथा—

नाकालविद्युत्स्तनिते भूकम्पे राहुदर्शने ।
पञ्चदश्यामचन्द्रायां परोक्षे वा गुरोः पठेत् ॥
नाविच्छिन्नपद नातिमन्दं नात्युच्चनीचकैः ॥

अनध्यायकालादि—वर्षाकाल को छोडकर अन्य ऋतुओं मे बिजली के कडकने, मेघ के गर्जने, भूकम्प के होने तथा ग्रहण के दिखाई देने पर नही पढना चाहिए । इसी प्रकार अमावस्या और गुरु की अनुपस्थिति मे भी नही पढ़ना चाहिए । न सन्धि-रहित (बिना पदच्छेद के) और न अतिमन्द (अति स्तब्धतया-ठहरते हुए), न अति उच्च एव नीच स्वर से ही पढना चाहिए क्योंकि इस प्रकार से पढ़ने पर विद्यार्थी को सन्धि, प्रयत्न एव स्वर विशेष का ज्ञान नहीं होता[2] ।

अब शिष्य के अन्य कर्तव्य का निर्देश करते हैं ।—

हीनान्यवेष आचार्य पर्युपासीत राजवत् ।
शयीत सुप्त एवास्मिन्नुत्तिष्ठेतास्य पूर्वतः ।
न ब्रूयात्केवलं नाम नासाध्वपि विनाटयेत् ॥

शिष्य के कर्त्तव्य—शिष्य को चाहिए कि आचार्य की अपेक्षा हीन वेष करे अर्थात् आचार्य के कपडों से बढ़िया कपडे न पहने और न वैसा वेष करे जैसा कि आचार्य का वेष है । ऐसे शिष्य को आचार्य की उपासना (सेवा) राजा के समान करनी चाहिए । आचार्य के शयन करने पर फिर आप सोवे और आचार्य से पहले उठे । केवल आचार्य के नाममात्र को न बोले, अपितु समानवाचकपदसहित अपने गुरु के नाम को ले । असाधु बर्ताव न करे और गुरु की की हुई दुरिच्छा को भी हँसी ठट्ठी में न उडावे[3] । साराश, प्रत्येक अवस्था में गुरु के समान का ध्यान रक्खे ।

अब ग्रन्थकार बताते है कि किस प्रकार का शिष्य गुरु-सेवा कर भिषक् अर्थात् वैद्यपद को प्राप्त कर सकता है ।

अभेद्योऽनुद्धत स्तब्धः प्रनतः प्रियदर्शनः ।
बहुश्रुतः कालवेदी ज्ञातग्रन्थोऽर्थशास्त्रवित् ॥

---

१ शिष्योपनयनमिति । उपनयन दीक्षा, तदधिकृत्य कृतो ऽध्याय । अन्ये तु उपनयनमात्मवत्तया अधीकरणम् । इति

२ यद्यपि ब्राह्मणादय प्रागुपनीतास्तथापि आयुर्वेदपठनारम्भे पुनरुपनयनम्, यथा ऋग्यजुस्सामानि अधीत्य अथर्वारम्भे पुनर्व्रतावतरण धनुर्वेदारम्भे च तद्वदत्रापि । इति सुश्रुतव्याख्याने डल्लन ।

१ आतन्त्रार्थकर्मणामन्त गत इति । तन्त्रान्तस्तन्त्रपाठनिष्पत्ति । अर्थान्तस्तन्त्रावबोध । कर्मान्तो ज्ञातस्य शास्त्रस्य लक्ष्ये नियोग । शुक्र प्रियवद इतीन्दु ।

२ अविच्छिन्नपद न पठेत् सहितया न पठेत् । तथा हि विसन्ध्यभ्यासो भवति । अतिमन्दमतिस्तब्ध च न पठेदिति प्रयत्नविशेष । नात्युच्चैर्नातिनीचैश्च इति स्वरविशेष इतीन्दु ।

३ तस्य गुरो केवल पूजावाचकोपपदरहित नाम न कीर्तयेत् असाध्वपि न विनाटयेत् गुरुकृता दुरीहामुपहासपूर्वक नानुकुर्यादित्यर्थ इतीन्दु ।

अनाथान् रोगिणो यश्च पुत्रवत्समुपाचरेत्।
गुरुणा समनुज्ञातः स भिषक्छब्दमश्नुते॥

वैद्य के लक्षण—जो धूर्त अपने प्रतिवादी शत्रुओं को भेद न दे, उनके बहकाने मे न आवे, जो किसी भी कार्य को बहुत विचार के अनन्तर करे, जो सबको प्रिय, सच्चा, सुडोल-सुन्दर वेषवाला, बहुश्रुत (अनेक शास्त्रों का श्रवणकर्ता) हो, जो समय तथा रोगियों आदि की अवस्था-प्रकृति आदि का जाननेवाला, स्वामी बान्धवादिहीन-निरुपाय-अनाथ-रोगियों की पुत्रवत् चिकित्सा करनेवाला, योग्यता देखकर जिसे गुरु ने चिकित्सार्थ आज्ञा दी हो, वही गुरु का सच्छिष्य वैद्यपद को प्राप्त करता है।

वैद्य की योग्यता को कहकर अब आचार्य अयोग्य वैद्य का निषेध करते है।—

यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः।
स मुह्यत्यातुरं प्राप्य प्राप्य भीरुरिवाहवम्॥
यः पुनः कुरुते कर्म धाष्टर्याच्छास्त्रविवर्जितः।
स सत्सु गर्हामाप्नोति वधं चर्च्छति राजतः॥

अयोग्य वैद्य के लक्षण—जिसने केवल शास्त्र पढ़ा है परन्तु चिकित्साकर्म कहा पर किस प्रकार किया जाय इसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त नहीं किया है, वह युद्ध को प्राप्त हुए डरपोक की तरह रोगी को देख मोह को प्राप्त होता है अर्थात् डरता है किन्तु उसकी चिकित्सा नही कर सकता। भावार्थ यह है कि शास्त्र-ज्ञान एव प्रत्यक्ष कर्माभ्यास की बड़ी आवश्यकता है। शास्त्र का ज्ञान न होते हुए भी जो धृष्टता से चिकित्सा कर्म करता है, वह श्रेष्ठ जनों मे निन्दा को प्राप्त होता है और राजा के द्वारा मारा जाता है। वस्तुत ऐसे वैद्यों को वैद्य नही समझना चाहिए किन्तु उसे कृत्रिम बनावटी वैद्य जानना चाहिए। अन्य ग्रन्थ-कारो ने भी उसे राज्यकण्टक कहते हुए कहा है कि उसे राजा प्राणदण्ड देवे।

वैद्य के दुर्गुणों को कहकर अब ग्रन्थकार उसके गुणों का वर्णन करते है।

हेतौ लिङ्गे प्रशमने रोगाणामपुनर्भवे।
ज्ञानं चतुर्विधं यस्य स राजार्हो भिषक्तमः॥

राजवैद्य के लक्षण—रोगों के आदि कारण, रोगों के लक्षण, रोगों की चिकित्सा, तथा रोग पुन उत्पन्न ही न हो, इन चार बातों का जिसे ज्ञान है, वही राजाओं के योग्य श्रेष्ठ वैद्य है।

शस्त्रं शास्त्राणि सलिलं गुणदोषप्रवृत्तये।
पात्रापेक्षीण्यतः प्रज्ञां बाहुश्रुत्येन बृंहयेत्॥

शास्त्र के पात्रापात्र—शस्त्र, शास्त्र और जल इन तीनों की गुणदोषप्रवृत्ति पात्र की अपेक्षानुसार होती है। जैसा पात्र मिलता है उसी के अनुरूप शस्त्र, शास्त्र एव जल की प्रवृत्ति गुण या दोष में होती है। जैसे कि शौर्ययुक्त पात्र (शूरवीर) के मिलने से शस्त्र गुणकारी (विजयप्रद) होता है किन्तु वही अपात्र (डरपोक-भीरु) को प्राप्त होने से दोषप्रद (हारजाने वाला) होता है। यही बात शास्त्र के लिए है। शास्त्र को विद्वान् सज्जन पात्र मिलने से वह जगत् का कल्याण कर सकता है परन्तु इसके विपरीत शास्त्र को मूर्ख पात्र मिलने से वह जगत् का कल्याण नहीं करके अकल्याण ही कर सकता है। यही उदाहरण सलिल (जल) के लिए घट सकता है। जल को स्वच्छ पात्र मिलने से वह अमृतमय रहकर शान्तिदायक होता है, परन्तु मैला-कुचला कुपात्र मिलने से शान्ति की जगह वह अशान्तिकारक होता है। इस लिए वैद्य को चाहिए कि वह अनेक शास्त्रों का श्रवण मनन कर अपनी बुद्धि का बढ़ावे ताकि उस का पढ़ा हुआ शास्त्र सबका कल्याण कर सके। उस सुपात्र वैद्य को प्राप्त कर शास्त्र की भी शोभा बढ़े।

प्रदीपभूतं शास्त्रं हि दर्शनं विपुला मतिः।
ताभ्यां भिषक्सुयुक्ताभ्यां चिकित्सन्नापराध्यति॥

वैद्य को शास्त्राध्ययन की आवश्यकता—शास्त्र दीपक की तरह है और विपुल बुद्धि दृष्टि की तरह। जिस प्रकार दीपक के प्रकाश मे दृष्टि आसपास के समस्त पदार्थों का भली भाति अवलोकन कर लेती है, ठीक इसी प्रकार सद्वैद्य को चाहिए कि वह शास्त्रों के प्रकाश द्वारा अपना बुद्धि का प्रशस्त बनावे क्योंकि सच्छा-स्त्रोपदेश तथा अपना निमल बुद्धि द्वारा चिकित्सा करनेवाला वैद्य कदापि अपराधी नहो हो सकता।

किस प्रकार का वैद्य सिद्धि को प्राप्त कर सकता है, अब ग्रन्थकार इसका वर्णन करते हैं।

आहूत एव यो याति सुवेषः सुनिमित्ततः।
गत्वाऽऽतुरार्थादन्यत्र न निधत्ते मनः क्वचित्॥
व्याधीन् परीक्षते सम्यङ् निदानादिविशेषतः।
ह्रेपणीयां च तद्वार्तां न प्रकाशयते बहिः॥
सहसा न च तस्यापि क्रियाकालमहापयन्।
जानाति चोपचरितुं स वैद्यः सिद्धिमश्नुते॥

सद्वैद्य के लक्षण—दूतादि विज्ञानीय अध्यायोक्त कुचैलादि वेषरहित सुन्दर वेष को धारणकर, बुरे शकुनों को त्याग अच्छे शकुनों को लेकर जो बुलाने पर ही रोगी के घर जाता है और जाकर भी जो रोगी के निदानादि हितों के अतिरिक्त कहीं भी अपने मन को नहीं लगाता, निदान-पूर्वरूप-रूप-उपशय और सम्प्राप्ति नामक निदानपञ्चक से रोग की परीक्षा करके उस की योग्य चिकित्सा भी करता है। रोगी जिससे लज्जित हो ऐसी उसकी गुप्त बात को लोगों के सामने प्रकट नही करता। कदाचित् चिकित्सा मे हानि न हो जाय, इस डर से न रोगी से ही एकदम कहता कि तेरा रोग इस प्रकार का भयङ्कर है। चिकित्सा के उपयुक्त समय को न छोड़ता हुआ जो ठीक चिकित्सा करना जानता है, वही वैद्य सिद्धि को प्राप्त करता है।

प्रसङ्गवशात् अब आचार्य वैद्य तथा रोगी को उनके कर्तव्या-कर्त्तव्य का ज्ञान कराते हैं।

---

१ य आहूत एवातुरगृहं याति। सुवेष दूतादिविज्ञानीयोक्तकुचैलादिवेषरहित। सुनिमित्ततो याति, दुर्निमित्तं दृष्ट्वा न यातीत्यर्थः। निदानादिभि पञ्चभिर्व्याधिपरीक्षणं तद्योग्या चिकित्सा च। ह्रेपणीयां गोप्या लज्जावहां चातुरवार्तां बहिर्जनससदि न प्रकाशयेत्। आतुर रूपि झटिति न प्रकाशयेत् ईदृशी तव पीडेति। एवं ह्यातुरस्य व्याधि स्वरूपं कथयतो भिषज कदाचित् चिकित्साहानिर्भवतीति इन्दु।

नाददीतामिषं स्त्रीभ्यस्तदध्यक्षे पराङ्मुखे।
ताभिश्च रहसि स्थानं परिहासं च वर्जयेत् ॥
आर्तं च नृपसद्वैद्यैर्द्विष्टं तद्‌द्वेषिणं द्विषम्।
चण्डं शोकातुरं भीरुं कृतघ्नं वैद्यमानिनम् ॥
हीनोपकरणं व्यग्रमविधेयं गतायुषम्।
जिजीविषुर्व्याधितोऽपि पूर्वोक्तगुणवर्जितान् ॥
क्रियाविक्रयिणो वैद्यान्मृत्योरग्रेसरा हि ते ॥

वैद्य और रोगी को चेतावनी—वैद्य को चाहिए कि वह पर स्त्रियों से उनके पतियों की अनुपस्थिति मे धन आदि किसी भी भोग्य वस्तु को ग्रहण न करे[1] और न उनके साथ एकान्त स्थान में रहे, न उनसे हँसी ठट्ठा ही करे।

जिससे राजा सज्जन पुरुष और सद्वैद्य द्वेष करते हों, जो राजा, सज्जन और सद्वैद्यों से द्वेष करता हो, जो अपना शत्रु हो, अभिमानी शोकातुर डरपोक किए हुए उपकारों को न माननेवाला—वैद्य न होते हुए भी अपने को वैद्य माननेवाला अपने ही मत से अपनी औषधि करनेवाला-चिकित्सा के सभारों से हीन, अनेक कार्यों मे व्यस्त, वैद्य की आज्ञा को न माननेवाला और रिष्टज्ञान से जिसकी आयु शेष न दिखाई देती हो वैद्य को चाहिए कि ऐसे रोगी को त्याग देवे।

इसी प्रकार जीनेकी इच्छावाले रोगी को भी चाहिए कि वह पहले बताए हुए गुणों से वर्जित, द्रव्य के लोभ से चिकित्सा को बेचनेवाले वैद्यों को त्याग दे क्योंकि वे वैद्य नहीं हैं किन्तु यम राज के सिपाही हैं।

जो चिकित्सा के प्रयोजक हैं—जिनके बिना चिकित्सा हो ही नहीं सकती इस लिए आचार्य अब चिकित्सा के पादचतुष्टय का वर्णन करते हैं।

भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्।
चिकित्सितस्य निर्दिष्टं प्रत्येकं तच्चतुर्गुणम् ॥
दक्षस्तीर्थात्तशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा शुचिर्भिषक्।
बहुकल्पं बहुगुणं सपन्नं योग्यमौषधम् ॥
अनुरक्तः शुचिर्दक्षो बुद्धिमान् परिचारकः।
आढ्यो रोगी भिषग्वश्यो ज्ञापकः सत्ववानपि ॥

चिकित्सा के चार पाद ओर उनके गुण—वैद्य, औषधि, सेवक और रोगी ये चिकित्सा के चार पाद अर्थात् चरण हैं और इनमे से प्रत्येक के भी चार चार गुण बताए गए हैं जैसे कि गुरु से अर्थ सहित शास्त्र का अध्ययन किया हुआ, कई रोगों की चिकित्सा कर अनुभव को प्राप्त किया हुआ, शरीर और मन से शुद्ध और चतुर ये वैद्य के चार गुण है। स्वरस-क्वाथ-चूर्णादि करके अनेक प्रकार से जिसकी कल्पना की गई हो, सारक, मन्द आदि गुणों से जो अनेक रोगों का नाशकारी हो, पाक आदि रीति से जो अच्छी तरह तयार किया गया हो, जो प्रशस्त देश में उत्पन्न हुआ-अविपन्न (कीट, जल आदि से घुन लगा हुआ या सड़ा गला न हो) और व्याधि, देश, काल, दोष, दूष्य, वय, देह तथा बलाबल के अनुसार रोगी के लिए हितकारी हो ये चार गुण औषध के है। सब विषयों में चतुर, रोगी का भक्त या प्रेमी, शरीर और मन से शुद्ध और बुद्धिमान् ये परिचारक या सेवक के चार गुण हैं। धनवान्, वैद्यका आज्ञाकारी, सेवन किए हुए औषध-अन्न-विहार के गुणावगुणों का तथा रोग की अवस्था का अनुभव कर ठीक ठीक बतानेवाला तथा निर्भय ये रोगी के चार गुण बताए गये हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त चिकित्सा के चार पादों तथैव उनमें से प्रत्येक के चार चार गुणों का जो वर्णन किया गया है वह महर्षि आत्रेय के कथन का अनुवादमात्र है किन्तु भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत को इन वैद्य आदि चिकित्सा के चार पादों के विषय में कुछ अधिक कहा है। हम पाठकों के हितार्थ उसे यहा कह देना उचित समझते हैं। भगवान् धन्वन्तरि के मत मे—

वैद्य—वह है जिसने यथावत् शास्त्र का अध्ययन कर उसके तत्त्वार्थ को जान लिया है, जो छेदन-भेदन-स्नेहनादि द्वारा कई बार प्रत्यक्ष चिकित्सा कर चुका है, जो स्वय सब कर्मों का करनेवाला है, छेदनादि क्रियाओं मे जिसका हाथ हल्का (नहीं कापनेवाला) है, भीतर और बाहर से शुद्ध, विषाद से रहित और जो समस्त औषधिया यन्त्र-शस्त्रादि अपने पास तयार रखता है, जो प्रत्येक अवस्था मे नहीं भूलनेवाला, नहीं कही हुई बात को भी अपनी बुद्धि से जान लेनेवाला, उत्साही, पण्डित तथा सत्य धर्म का आचरण करनेवाला है।

रोगी—वह है जो दीर्घायु, क्लेशको सहन करनेवाला, बलवान् है, जिसका रोग साध्य है, जो धनवान्, निर्लोभी, आस्तिक और वैद्य के कथनानुसार चलनेवाला है।

औषधि—वह है जो श्रेष्ठ भूमि मे उत्पन्न, सुमुहूर्त्त में लाई गई, प्रामाणिक, मनको प्रिय, स्वगन्ध-वर्ण और रस से युक्त, वातादि दोषों को शमन करनेवाली, ग्लानि न करनेवाली, न्यूनाधिक मात्रा मे देने पर भी अविकारी और जो समयानुसार दी गई हो। और—

सेवक—वह है जो रोगी का प्रेमी, कष्टावस्था में भी रोगी की निन्दा नही करनेवाला, क्लेश को सहनेवाला, बलवान्, रोगी की रक्षा करने मे योग्य, वैद्य के उपदेश को माननेवाला और जो थकावट को नही माननेवाला है।

चिकित्सा के चार पादों का वर्णन करके भी अब ग्रन्थकार इन सब में वैद्य के उत्तरदायित्व एव प्रधानता का कारण बताते हैं।

यद्वैद्ये विगुणे पादा गुणवन्तोऽप्यनर्थकाः।
स पादहीनानप्यार्तान् गुणवान् यच्च यापयेत्।
चिकित्सायास्तमेवातः प्रधानं कारणं विदुः ॥

---

१ परस्त्रीभ्यो नामिषमर्थादिकमाददीत न गृह्णीयात्। "आमिषं भोग्यवस्तुनि" इति कोष। मृत्योरग्रेसरा पुरुषा पदातय इतीन्दु।

१ तत्त्वाधिगतशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा स्वयंकृती। लघुहस्त शुचि शूर सज्जोपस्करभेषज ॥ प्रत्युत्पन्नमतिर्धीमान् व्यवसायी विशारद सत्यधर्मपरो यश्च स भिषक्पाद उच्यते ॥ आयुष्मान् सत्त्ववान साध्यो द्रव्यवानात्मवानपि। आस्तिको वैद्यवाक्यस्थो व्याधित पाद उच्यते ॥ प्रशस्तदेशसभूत प्रशस्तेऽहनि चोद्धृतम्। युक्तमात्र मनस्कान्त गन्धवर्णरसान्वितम् ॥ दोषघ्नमग्लानिकरमविकारि विपर्यये। समीक्ष्य दत्त काले च भेषज पाद उच्यते ॥ स्निग्धोऽजुगुप्सुर्बलवान् युक्तो व्याधितरक्षणे। वैद्यवाक्यकृदश्रान्त पाद परिचर स्मृत ॥ इति ॥

चतुष्पाद मे भी वैद्य की प्रधानता—**पूर्वोक्त चिकित्सा के चार चरणों मे औषध, सेवक और रोगी इन तीनों के गुणवान् होने पर भी अकेले वैद्य के गुण-रहित रहने पर अर्थात् वैद्य के न होने पर औषध, सेवक और रोगी ये तीनों किसी काम के नही रहते । बिना वैद्य के ये तीनों रोगी को रोगमुक्त नही कर सकते । साराश, अकेला भी वैद्य रोगी की मरण से रक्षा कर सकता है अत चिकित्सा के सुधरने-बिगडने का उत्तरदायित्व वैद्य पर ही है । इसीलिए वैद्य को विद्वानों ने मुख्य माना है। चरक और सुश्रुत ने भी अनेक प्रमाणों द्वारा इस बात की पुष्टि की है। इन्होंने स्पष्ट कहा है कि "यद्यपि षोडश गुणवाला पादचतुष्टय चिकित्सा मे सिद्धि का कारण है तथापि औषधि का जाननेवाला, परिचारक पर शासन करने वाला, यों करो, त्यों करो, यह मत करो इत्यादि कहनेवाला, रोगी पर प्रयोग करनेवाला अकेला वैद्य ही है अत चिकित्सा मे प्रधान कारण वैद्य ही है ।"[1] अध्वर्यु (उपाध्याय) के बिना यज्ञ मे उद्गाता, होता और ब्रह्मा इन तीनों की तरह चिकित्सा मे गुणवान् होते हुए भी वैद्य के बिना उक्त तीनों पाद निरर्थक हैं। जैसे नौका का कर्णधार अन्य खेवटियों के बिना भी नैया को पार लगा सकता है, ठीक इसी प्रकार अकेला गुणवान् वैद्य रोगियों को सदैव तारनेवाला होता है[2]।**

चिकित्सा की प्रवृत्ति व्याधि के नाश करने के लिए है अत आचार्य अब व्याधि के साध्यासाध्य-विषय मे कहते हुए उपदेश करते है।

साध्योऽसाध्य इति व्याधिर्द्विधा तौ तु पुनर्द्विधा ।
सुसाध्यः कृच्छ्रसाध्यश्च याप्यो यश्चानुपक्रम. ॥
सर्वौषधक्षमे देहे यून. पुंसो जितात्मन. ।
अमर्मगोऽल्प-हेत्वग्ररूप-रूपोऽनुपद्रवः ॥
अतुल्य-दूष्य-देशर्तु-प्रकृतिः पादसंपदि ।
ग्रहेष्वनुगुणेष्वेकदोषमार्गो नवः सुखः ॥
सुखसाध्यः सुखोपायः कालेनाल्पेन साध्यते।
कृच्छ्रैरुपायैः कृच्छ्रस्तु महद्भिश्च चिरेण च ॥
असाध्यलिङ्गसंकीर्णस्तथा शस्त्रादिसाधन. ।
शेषत्वादायुषः पथ्यैर्याप्यः प्रायो विपर्यये ॥
दत्त्वाल्पं सुखमल्पेन हेतुना स प्रतन्यते।
याति नाशेषतां रोगः कर्मजो नियतायुषः ॥
प्रपतन्निव विष्कम्भैर्धार्यतेऽत्रातुरो हितैः।
परोऽसाध्यः क्रियाः सर्वाः प्रत्याख्येयोऽतिवर्तते ॥
तस्मादुपेक्ष्य एवासौ स्थितोऽत्यन्त-विपर्यये।
भ्रम-मोहारति-करो दृष्टरिष्टोऽक्ष-नाशनः ॥

व्याधि की साध्यासाध्यता आदि—**रोग के साध्य और असाध्य ऐसे दो प्रकार होते हैं। साध्य और असाध्य व्याधि** के भी दो दो प्रकार है जैसे कि सुखसाध्य और कष्टसाध्य ये प्रकार साध्य व्याधि के है, इसी प्रकार असाध्य रोग के भी याप्य और प्रत्याख्येय ऐसे दो भेद है। अब सुखसाध्य, कृच्छ्र-साध्य, याप्य और प्रत्याख्येय इन चारों के भिन्न भिन्न लक्षणों का वर्णन करते है।

(१) सुखसाध्य—वह व्याधि है जो सब प्रकार की औषधियों को सहन करनेवाले जितेन्द्रिय, युवा (जवान) पुरुष के शरीर मे होती है, जो अमर्मग अर्थात् हृदय-कण्ठ आदि मर्म-स्थानों मे न होकर अन्य सुखसाध्य स्थानों मे होती है, जिसके निदान पूर्वरूप और रूप स्वल्प लक्षणोंवाले होते है, जिसमे उपद्रवरूप अन्य व्याधि खडी नही होती, जो अतुल्य (असमान) दूष्य देश ऋतु और प्रकृति मे उत्पन्न होती है। उदाहरण—जैसे कि वात-पित्त-कफ ये तीनों दोष क्रम से शीतोष्ण, उष्ण और शीत है। यदि रक्त दूष्य पित्त दोष से दूषित हुआ तो ये दोनों तुल्य दोष और दूष्य है क्योंकि ये दोनो उष्ण है अत इन दोनों के सयोग से होने-वाली व्याधि की सुखसाध्यता सिद्ध नही होती परन्तु यदि ठण्डे कफ से रक्त दूषित हुआ तो यह अतुल्य दोष-दूष्य व्याधि हुई क्योंकि एक ठण्डा तो दूसरा गरम है। अतुल्य देश व्याधि जैसे कि आनूप देश मे पित्त का उत्पन्न होना। यहा आनूप देश कफप्रधान होने से ठण्डा और पित्त उष्ण है। अतुल्य ऋतुजन्य व्याधि जैसे कि शरद् ऋतु मे कफ का कुपित होना है। यहा शरद् ऋतु कफ का कोपकाल नहीं है किन्तु पित्त का कोपकाल है। अतुल्य-प्रकृति व्याधि जैसे कि पित्तप्रकृतिवाले पुरुष के शरीर में कफ का कुपित होना। यहा पित्त उष्ण और कफ शीत है। इस प्रकार जो रोग अतुल्य दूष्यदेशर्तुप्रकृतिजन्य होता है, वह सुखसाध्य होता है। कुछ रोगों को तुल्यदूष्यादि होते हुए भी सुखसाध्य माना है जैसे कि ज्वर और प्रमेह[1]। इनके अतिरिक्त जो रोग वैद्य-औषधि सेवक और रोगी इन चारों की परिपूर्णता में होता है, जो अनुकूल राशिस्थित ग्रहों की दशा मे उत्पन्न होता है, जो रोग वात, पित्त और कफ इन तीन दोषों मे से किसी एक से उत्पन्न हुआ हो, जो भीतर या बाहर के एक मार्ग मे ही हुआ हो, जो रोग नया अर्थात् एक साल के भीतर का उत्पन्न हुआ[2] हो और जिस मे विशेष कष्ट का अनुभव न हो ऐसे रोग को सुखसाध्य कहते है अर्थात् इसका उपाय सुख से हो सकता है और यह स्वल्पकाल मे ही शान्त हो जाता है।

(२) कृच्छ्रसाध्य—अर्थात् कष्टसाध्य रोग वह है जो बड़े कष्ट से बडे बडे दुष्कर उपायों से बहुत समय के अनन्तर कही शान्त होता है और जो उन असाध्य लक्षणों से मिश्रित होता है जिनका वर्णन ग्रन्थकार आगे चलकर यथास्थान करेंगे जिसकी शान्ति शस्त्र-क्षार और अग्निकर्मादि से करनी पड़ती है। सुश्रुत ने स्थूलमान से रोग दो प्रकार का माना है जैसे कि शस्त्रसाध्य और स्नेहादि क्रियाओं से साध्य। शस्त्र-साध्य व्याधियो में स्नेहादि क्रिया भी कर सकते हैं परन्तु

१ कारण षोडशगुण सिद्धौ पादचतुष्टयम्। विज्ञाता शासिता योक्ता प्रधान भिषगत्र तु ॥ इति चरक

२ वैद्यहीनास्त्रय पादा गुणवन्तोऽप्यपार्थका । उद्गातृहोतृब्रह्माणो यथाध्वर्युं विनाध्वरे ॥ वैद्यस्तु गुणवानेकस्तारयेदातुरान् सदा । प्लव प्रतितरैर्हीन कर्णधार इवाम्भसि ॥ इति सुश्रुत

१ "ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्व प्रमेहे तुल्यदूष्यता । रक्तगुल्मे पुराणत्व सुखसाध्यत्वहेतव ॥" इति

२ यस्माद्वत्सरातीता व्याधयोऽसाध्या । इत्यरुण

स्नेहादि क्रियासाध्य रोग मे शस्त्र क्रिया नहीं की जाती[१] है।

(३) याप्य—व्याधि उसे कहते है जो असाध्य लक्षणों के रहते हुए भी आहार–विहारों के सेवन करने तथा आयु के शेष रहने से प्राय रोगी को नही मारती है, थोडी सी चिकित्सा से रोगी को थोडा सुख देती है, वसे ही थोडे से किसी कारण को लेकर बहुत बढ़ जाती है। साराश यह कि याप्य व्याधि कर्मों से उत्पन्न होने के कारण उसकी आयु नियत रहती है अत गिरते हुए घर को जैसे स्तम्भ नही गिरने देते वैसे ही यह व्याधि न तो आप शान्त होती है और न रोगी को ही मरने[२] देती है।

(४) प्रत्याख्येय–अर्थात् अनुपक्रम व्याधि वह है जो असाध्य होती है, जो सब प्रकार की चिकित्सा को न मानती हुई उसे निष्फल करती है, जिस मे भ्रम अर्थात् चित्त का स्थिर न रहना, चक्कर आना, वेहोशी, किसी भी वस्तु मे मन का न लगना, दृष्टि आदि इन्द्रियों के धर्म का नष्ट हो जाना इत्यादि लक्षण होते हैं। सुखसाध्य लक्षणों के अत्यन्त बिगड़ जाने पर इसे त्याग देना ही अच्छा[३] है।

इस प्रकार रोग की पहले परीक्षा करके तदनन्तर चिकित्सा का आरम्भ करना चाहिए, अन्यथा चिकित्सा मे प्रवृत्त होने से निश्चय ही वैद्य के स्वार्थ, विद्या और यश की हानि होती है।

अब आचार्य साध्यासाध्यसयोग की बलवत्ता आदि का वर्णन करते है।

साध्ययोरपि सयोगो बलिनोर्यात्यसाध्यताम् ।
विद्यादसाध्यमेवातः साध्यासाध्यसमागमम् ॥
नासाध्यः साध्यता याति साध्यो यातित्वसाध्यताम्।
पादापचाराद्दैवाच्च यान्त्यवस्थान्तरं गदाः ॥

साध्यासाध्य में भी असाध्य और साध्य का सभव—**साध्य-लक्षण–युक्त बलवान् के साथ भी असाध्य–लक्षणसयोग ऐसा होता है कि वह असाध्यता को प्राप्त हो जाता है। इस लिए साध्य और असाध्य के सयोग को असाध्य ही जानना चाहिए क्योंकि असाध्य व्याधि कभी भी साध्यता को प्राप्त नहीं होती किन्तु साध्य अवश्य असाध्यता को प्राप्त होती है। कभी कभी पादापचार अर्थात् वैद्य, औषधि, परिचारक और रोगी इन चिकित्सा के चार चरणों की अपूर्णता (कमी) या भूल से तथा इन चारों की अपेक्षा न करनेवाले भाग्य (पूर्व जन्मकृत कर्म) के बल से भी रोग अपने स्वरूप को छोड़ विलक्षण रूप को धारण कर लेते हैं।**

वैद्य के कर्त्तव्याकर्त्तव्य-प्रसङ्ग मे ग्रन्थकार यह भी कहते हैं कि—

वरमाशीविषविषं क्वथितं ताम्रमग्निमयोऽपि वा ।
उपयुञ्जीत न त्वार्त्तादामिषं कृपणाज्जनात् ॥
वरो भूतदयाधर्म इत्यार्तेषु भिषग्वरः ।
वर्तते यस्तु सिद्धार्थ स सर्वमतिवर्तते ॥

इत्यष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थाने द्वितीयोऽध्याय ।

दयालु वैद्य की आवश्यकता—**भयङ्कर सर्प के विष, जलती हुई अग्नि और सन्तप्त लोहे का उपयोग करना अच्छा है परन्तु कृपण (सूजी) रोगी से प्राप्त भोग्य वस्तुओं का उपयोग नही करना चाहिए। प्राणियों पर दया करना श्रेष्ठ धर्म है, यह समझकर जो वैद्य रोगियों से बर्ताव करता है, वह धन आदि सर्व सिद्धियों को प्राप्त कर सर्व सज्जनों पर अपना अधिकार जमा लेता है।**

इत्यष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिका हिन्दी-व्याख्यायां द्वितीयोऽध्याय ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

इस शास्त्र का प्रकृत विषय आयुष्य का पालन करना है और वह स्वस्थवृत्त तथा आतुरवृत्त इन दो भागों मे विभक्त है। इसी लिए इस शास्त्रका अन्य नाम स्वस्थातुरपरायण शास्त्र है। स्वास्थ्य का समुचित रक्षण किया जाय तो रोग हो ही नही सकता अत आचार्य दिनचर्यापूर्वक अब स्वस्थवृत्त का वर्णन करते है।—

अथ स्वस्थवृत्तम् ।

अथातो दिनचर्या नामाध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

दिनचर्या का वर्णन—**प्रतिदिन किए जानेवाले सदाचरण का नाम दिनचर्या है अत स्वस्थवृत्त के लिए प्रथम इसका वर्णन करना आवश्यक है। स्वस्थवृत्त वस्तुत इसीके अन्तर्गत है। इसी लिए आचार्य कहते है कि अब हम दिनचर्या नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने की है।**

ब्राह्मे मुहूर्त्त उत्तिष्ठेज्जीर्णाजीर्णं निरूपयन् ।
रक्षार्थमायुषः स्वस्थो ॥

ब्राह्ममुहूर्त्त में उठना—**अपने आयुष्य की रक्षा के लिए नीरोग मनुष्य अपना किया हुआ आहार पच गया कि नही, इसका ठीक विचार करके ब्राह्ममुहूर्त्त में उठे।**

वक्तव्य—**नीरोग मनुष्य ब्राह्ममुहूर्त्त में उठे। यहा नीरोग**

---

१ द्विविधा व्याधय शस्त्रसाध्या स्नेहादिक्रियासाध्याश्च। तत्र शस्त्रसाध्येषु स्नेहादिक्रिया न प्रतिषिध्यते, स्नेहादिक्रियासाध्येषु शस्त्र कर्म न क्रियते। इति

२ बाहुल्येन विपर्यये साध्यलक्षणविपरीतत्वे सत्यायुषो जीवितस्य शेषत्वादक्षीणत्वान्मारयितुमसमर्थं पथ्यैराहारविहारैर्याप्य। स च व्याधि चिकित्सितेनाल्प सुख दत्वा पुन सोऽल्पेनैव हेतुना प्रतन्यते विस्तीर्यते। अतश्च दुष्कृतकर्मजो रोगो नियतायुष उत्पन्नो न च नश्यति नापि मारयतीतीन्दु ।

३ असाध्य प्रत्याख्येयस्सन् सर्वा क्रियाश्चिकित्सा अतिवर्तते कुण्ठयति। तस्मात्सुखसाध्यलक्षणेभ्योऽत्यन्तविपरीतत्वे स्थित उपेक्षणीय एव। भ्रम चित्तस्य बहुस्वरूपमवस्थानम्। अक्षनाशनो दर्शनादीन्द्रियनाशन इतीन्दु ।

१ पादापचारो यथोक्तानामङ्गानामपरिपूर्णत्वम्। अथवा सर्व एव व्याधय पादनिरपेक्षा एव दैवाद्धेतोरवस्थान्तर स्वरूपाद्विलक्षणता यान्ति। दैवमन्यजन्मकृत कर्मेतीन्दु ।

(स्वस्थ) शब्द से ध्वनित होता है कि यह नियम रोगी के लिए नहीं[1] है। मुहूर्त्त दो घडीका नाम है। ये दो घडियाँ उस समय का नाम है जब रात्रि ४ घडी शेष रहती है । इस समय मे योगी पुरुष ब्रह्म (परम पिता परमात्मा) का ध्यान करते है। विद्यार्थी इस समय मे ब्रह्म अर्थात् ज्ञान के लिए अध्ययन करते हैं अतः इन से सम्बन्धवाले समय का नाम ब्राह्ममुहूर्त्त[2] है। किया हुआ आहार पच गया कि नहीं, यह सोच विचार कर उठे, इसका भावार्थ यह है कि आहार का पाचन जब तक न हो जाय तब तक सोना चाहिए।

ज्योतिश्शास्त्र के मत से २६ वाँ मुहूर्त्त अर्थात् जिससे दूसरा सूर्योदय आठ घडी के अनन्तर होता है, ब्राह्ममुहूर्त्त होता है परन्तु इन्दु, अरुणदत्त और चन्द्रनन्दन इस मत को नही मानते है। वे कहते है कि रात्रि की पिछली दो या चार घडियों का नाम बाह्ममुहूर्त्त है।

ब्राह्ममुहूर्तमें उठने के अनन्तर क्या करे ? अब आचार्य इस का वर्णन करते हैं कि—

जातवेगः समुत्सृजेत् ।
उदङ्मुखो मूत्रशकृद्दक्षिणाभिमुखो निशि ॥
वाचं नियम्य प्रयतः संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः ।
प्रवर्तयेत्प्रचलितं न तु यत्नादुदीरयेत् ॥
नामेध्यमार्गमृद्भस्मगोस्थानाकीर्णगोमये ।
पुरान्तकाग्निवल्मीकरम्योत्कृष्टचितिद्रुमे ॥
न नारी पूज्यगोऽर्कन्दुवाय्वम्ब्वग्निजलं प्रति ।
न चातिरस्कृत्य महीं भयाशक्त्योस्तु कामतः ॥
न वेगितोऽन्यकार्यः स्यान्नाजित्वा साध्यमामयम् ॥

शौचविधि—जब मूत्र और मलका वेग प्रतीत हो तब दिन मे उत्तर की ओर और रात्रि मे दक्षिण की ओर मुख करके, मौन को धारण कर, किसी भी अन्य कार्य मे प्रवृत्ति न रखता हुआ, धोती आदि वस्त्र धारण किया हुआ, सिर को वस्त्र से ढककर आते हुए मल और मूत्र को विसर्जन करे परन्तु न आते हुए मूत्र और मलका जबर्दस्ती यत्नकर विसर्जन न करे क्योंकि इस प्रकार जबर्दस्ती करनेसे वातादि दोषों के कुपित होने का सभव होता है । मलविसर्जन के पहले यह ध्यान रहे कि अत्यन्त अशुद्ध स्थान, मार्ग, मिट्टी और राख के ढेर, गौओं के बैठने की जगह, जहा गोबर बिखरा हुआ हो, जहा जनसमुदाय हो, नगर के छोर, अग्नि के समीप, वल्मीक (सर्पादि के दीर्घ बिल या बाम्बीपर), सुन्दर स्थान मे, हल द्वारा बोई हुई भूमि मे, यज्ञ के लिए जहा अग्निचयन किया गया हो, वृक्ष के नीचे या ऊपर, स्त्री-गुरु आदि पूज्य-गाय-सूर्य-चन्द्र-वायु-अग्नि और जल के सामने, भूमि का अतिरस्कार करता हुआ कदापि मलका या मूत्र का विसर्जन न करे । यदि अपने स्वामी-चौर आदि का भय हो-शरीर अशक्त हो तो वह इच्छापूर्वक मल मूत्र का विसर्जन करे। मल मूत्र का वेग उत्पन्न होने पर अन्य कार्य न करे अपितु प्रथम मल मूत्र का त्याग करे। इसी प्रकार सुखसाध्य रोग के होने पर भी पहले उसको जीते (शमन करे) क्योंकि प्रथम उस सुखसाध्य रोग के न जीतने पर वही (साध्यरोग) आगे चलकर असाध्य रूप धारण कर सकता है।

मल-मूत्र विसर्जन के अनन्तर क्या करना चाहिए ? अब ग्रन्थकार इस विषय को कहते हैं।

निश्शल्यादुष्टमृत्पिण्डीपरिमृष्टमलायनः ।
अभ्युद्धृताभिः शुचिभिरद्भिर्मृद्भिश्च योजयेत् ॥
लेपगन्धापहं शौचमनुत्पतितबिन्दुभिः ॥

गुदप्रक्षालनविधि—जिसमे काटे लकडी आदि न हो, ऐसी शुद्ध मुट्ठी भर मिट्टी से गुदा को माजा है जिसने वह नदी में कटीमात्र को डुबाकर शौच न करे अपितु दाहिने शुद्ध हाथ से तथा लोटा आदि से नदी या तालाब से लिए हुए इतने शुद्ध जल एव मिट्टी से शौच (गुदप्रक्षालन) करे जिससे गुदा पर लगा हुआ मलका लेप तथा दुर्गन्धि दूर हो जाय और शौच्यार्थ प्रयोग किए जानेवाले जल के छीटे ऊपर की ओर उड़कर न लगे क्योंकि ऊपर की ओर उड़नेवाले छींटे अस्पृश्य[1] होते हैं।

मलमूत्रविसर्जन शुद्धिके अनन्तर प्रसङ्गवशात् अब आचार्य और भी शुद्धि का उपदेश करते हैं—

स्पृष्ट्वा धातून्मलानश्रुवसाकेशनखांश्च्युतान् ।
स्नात्वा भोक्तुमना भुक्त्वा सुप्त्वा क्षुत्वा सुरार्चने ॥
रथ्यामाक्रम्य चाचामेदुपविष्ट उदङ्मुखः ।
प्राङ्मुखो वा विविक्तस्थो न बहिर्जानु नान्यदृक् ॥
अजल्पन्नुत्तरासङ्गी स्वच्छैरक्षुष्टमूलगैः ।
नोद्धृतैर्नानतो नोर्ध्वं नाग्निपक्वैर्न पूतिभिः ॥
न फेनबुद्बुदक्षारैर्नैकहस्तार्पितैर्जलैः ।
नार्द्रैकपाणिर्नामेध्यहस्तपादो न शब्दवत् ॥

प्रत्येकदशा में पवित्रता की आवश्यकता—केवल मलमूत्रविसर्जन के अनन्तर ही नहीं, किन्तु रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य इन समस्त धातुओं, मूत्र, विष्ठा, स्वेद, कान का मैल इन मलों, आसू, जल के सदृश मेद का या शुद्ध मास का सचिक्कण भाग[2] वसा, केश और नख इनके शरीर से गिरने के समय स्पर्श होने पर, इसी प्रकार स्नान करने पर, भोजन के आदि मे और अन्त में, सोकर उठने पर, छीकने पर, देवता के पूजन के आरम्भ में गलियों में से घूम फिर आने पर उत्तर या पूर्व दिशा की ओर मुख करके, लोगों से अलग बैठ कर, अपने गोडों के भीतर दोनों हाथ रख कर,

१ स्वस्थो नीरोग, रोगिणस्त्वनियम इति हेमाद्रि ।

२ मुहूर्त्तो नाडिकाद्वयम्। ब्रह्मणोऽय ब्राह्म । ब्रह्मज्ञान तदर्थम ध्ययनाद्यपि ब्रह्म तस्य योग्यो मुहूर्त्तो ब्राह्म इतीन्दु ।

१ निश्शल्यया काष्ठाग्निशल्यरहितया। अदुष्टया योग्यया। मृत्पिण्ड्या परिमृष्टमलायन सर्माजितगुद । अभ्युद्धृताभिरद्भि नदीतटा कादित कलशपाण्यादिनाउद्गृहीताभि । न तु कटीमेव नद्यामवगाह्य शौचयेत्। न चाशुचिना करेण मृत्सहिताभिरद्भि । लेपगन्धापह मलायने लेपगन्धौ लेपश्च गन्धश्च येन नश्यति । एतेन मृदोऽपा शौच स्य च मानमुक्त भवति । अनुत्पतितबिन्दुभिरद्भि यत उत्पतिता बिन्दवोऽस्पृश्या इतीन्दु ।

२ शुद्धमासस्य य स्नेह सा वसा परिकीर्तिता। इति सुश्रुत ।

अन्य किसी ओर न देखता हुआ, मौन होकर, शरीर पर उत्तरीय वस्त्र (अङ्गौछा) लेकर, अङ्गुष्ठमूल अर्थात् ब्राह्मतीर्थ से स्पर्श करनेवाले शुद्ध जल से आचमन करे। जिस की धारा टूटती हो, जिसे एक ही हाथ मे कोई देता हो ऐसे उष्ण, दुर्गन्धयुक्त जिस मे फेन आए हुए हों, जिस से बुदबुदे उठते हों, जो क्षारयुक्त हो ऐसे जल से विना दोनों हाथ पाव धोए, झुक कर या खडे खडे आचमन न करे और न जलपान करते हुए बोले।

अच्छी तरह शौच्यविधि करने के पश्चात् अब दन्तधावन (दतवन) करने का उपदेश करते हैं।

वटासनार्कखदिरकरञ्जकरवीरजम्।
सर्जारिमेदापामार्गमालतीककुभोद्भवम् ॥
कषायतिक्तकटुकं मूलमन्यदपीदृशम्।
विज्ञातवृक्ष क्षुण्णाग्रमृज्वग्रन्थिसुभूमिजम् ॥
कनीन्यग्रसमस्थौल्यं सुकूर्च्चं द्वादशाङ्गुलम्।
प्रातर्भुक्त्वा च यतवाग्भक्षयेद्दन्तधावनम् ॥
वाप्यत्रिवर्गत्रितयक्षौद्राक्तेन च घर्षयेत्।
शनैस्तेन ततो दन्तान् दन्तमांसान्यबाधयन् ॥

दन्तधावनविधि—शुद्ध भूमि में उत्पन्न बड, बिजयसार, आक, खैर, करञ्ज (पूतिकरञ्ज), पीला कनेर, पीली सालई, गन्धैल (विट् खदिर), औंगा, मालती (जाई), अर्जुन (कहू) इन वृक्षों के काष्ठ और मूल से लिया हुआ या इन ही के समान कषाय तिक्त-कटु (कसैले कडुए और चरपरे) रसवाले, अपने जाने पहिचाने नीम आदि वृक्षों के काष्ठ या मूल से लिए हुए बारह अङ्गुल प्रमाणवाले कनिष्ठिका अङ्गुली के अग्रभाग के समान जाडे, जिस के अग्रभाग को चबाकर या पत्थरआदि से कूट कर नरम कूँची बनाई गई हो, ऐसे सरल, चिकने और गाठरहित दातन का सेवन प्रात काल और भोजन के अनन्तर मौन होकर इस प्रकार करे कि जिस से दातों के मसूडोंको बाधा न पहुँचने पावे। इस प्रकार दातुन से मल को दूर कर, इसके पश्चात् कूट, सोंठ, मिरच, पीपल, हरड, बहेडा, आंवला, इलायची, दालचीनी और पत्रज के शहद मिले हुए चूर्ण से उसी दातुन की कूची द्वारा धीरे धीरे दातों को घिसना चाहिए।

वक्तव्य—यहा अर्कादि का निर्देश केवल उदाहरणमात्र के लिए है, इस लिए कि दन्तधावन के लिए कोई गणसग्रह नही किया गया है। हा, दन्तधावनमें कटु-तिक्त-कषायरसवाले वृक्षोंका अवश्य ध्यान रखना चाहिए। इन रसोंको छोड अन्य रसोंवाले वृक्षकाष्ठसे कदापि दातुन न करना चाहिए क्योंकि अरोचकता और कफको दूरकर मुखको विशद करनेवाले ये तीन रस[1] ही हैं। कषाय-तिक्त-कटुरसवाले वृक्षोंमे क्रमश खैर, नीम और करज उत्तम माने गये है, अत जहा तक बने इनसे दातुन करे। तन्त्रान्तरमे मधुमिश्रित ऊपर कहे गये चूर्णके सिवा सैंधानमक और तैलमिश्रित तेजोवती (तेजबल या मालकागनी) चूर्णके धीरे धीरे नरम कूची से एक एक दातको साफ करने (घिसने) का भी विधान है। इस प्रकार दातोंकी शुद्धि करनेसे दातोंकी दुर्गन्ध, उनपर आया हुआ मैल दूर होता, कफदोष बाहर निकलता, मुख शुद्ध-सुगन्धित होकर अन्न भी रुचिकारक होता अर्थात् अन्नके सेवनमें भी रुचि बढती है। यहा द्वादश (बारह) अगुल प्रमाण दतवनका कहा गया है किन्तु अन्य शास्त्रकारोंने सक्षेपमें कीडा न लगा हुआ, नरम, छ, आठ या बारह अगुल प्रमाणवाला, कनिष्ठिकाके अग्रभागसम ऐसे दातुनको श्रेष्ठ कहा है।

केवल दन्तधावन ही न करे किन्तु जीभकी भी शुद्धि करे इस लिए कहते है कि—

लिखेदनुसुख जिह्वां जिह्वानिर्लेखनेन च।
तथास्यमलवैरस्यगन्धा जिह्वाऽऽस्यदन्तजाः।
रुचिवैशद्यलघुता न भवन्ति भवन्ति च ॥

जिह्वानिर्लेखन—दातोको साफ करनेके अनन्तर उसी दातुन से अथवा लौह आदि से बनाये हुए जिह्वानिर्लेखन (जीभको साफ करने के लिए बनी हुई सीक) से धीरे धीरे यथासुख इस प्रकार जीभ को साफ करे कि उससे पुरुष के जीभ, मुख एव दातों का मल, मुखवैरस्य (किसी भी रस का मुख मे यथार्थ अनुभव न होना) मुखकी दुर्गन्धी ये नष्ट हों और रुचि, निर्मलता तथा लघुता (जडतानाश) की प्राप्ति हो।

विशेष विवरण—सुश्रुत इस विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिह्वानिर्लेखन अर्थात् जीभको साफ करनेवाली वह सींक सोने, रूपे या वृक्ष के काष्ठ की बनी हुई चिकनी, नरम और प्रमाण मे दस[3] अङ्गुल की हो।

अब यह उपदेश करते है कि निम्नलिखित रोगों की अवस्थामे दातुन न करे और यह भी कि आगे वर्णित वृक्षों के काष्ठादि से अवश्य दातुन न करे।

नाद्यादजीर्णवमथुश्वासकासज्वरार्दिती।
तृष्णास्यपाकहृन्नेत्रशिरःकर्णामयी च तत् ॥

दन्तधावन के अयोग्य प्राणी—अजीर्ण, छर्दि, श्वास, कास, ज्वर, अर्दित, तृष्णा, मुखपाक और हृदय-नेत्र-शिर और कर्णरोगवाले को दातुन नही करना चाहिये।

---

१ अर्कादिग्रहणमुदाहरणार्थं ज्ञेयम्। सक्षेपविवक्षया न दन्तधावनस्य गणसग्रह। कषायतिक्तकटुकम्। रसत्रयेण ह्यनेन मुखवैशद्यारोचकश्लेष्मापनया सम्यक् सम्पद्यन्त इत्यर्थः।

१ निम्बश्च तिक्तके श्रेष्ठ कषाये खदिरस्तथा। मधूको मधुरे श्रेष्ठ करञ्ज कटुके तथा॥ क्षौद्रव्योषत्रिवर्गाक्त सतैल सैंधवेन च। चूर्णेन तेजोवत्याश्च दन्तान्नित्य विशोधयेत्। एकैक घर्षयेद्दन्त मृदुना कूर्चकेन च। दन्तशोधनचूर्णेन दन्तमासान्यबाधयन्। तद्दौर्गन्ध्योपदेहौ तु श्लेष्माण चापकर्षति। वैशद्यमन्नाभिरुचिं सौमनस्य करोति च। अजग्धमनुपक्लिष्ट षडष्टद्वादशाङ्गुलम्। प्रदेशनीमुखसम मृदु स्याद्दन्तधावनम्॥ इति सुश्रुत।

२ अनु पश्चात् तेनैव लेखनयोग्यकृतेन दन्तपवनेन। जिह्वानिर्लेखनेन लौहादिकृतेन वा। इतीन्दु।

३ जिह्वानिर्लेखन रौप्य सौवर्णं वार्क्षमेव च। तन्मलापहर शस्त मृदु श्लक्ष्ण दशाङ्गुलम्॥ इति।

नैव श्लेष्मातकारिष्टविभीतधवधन्वजान् ।
बिल्ववञ्जुलनिर्गुण्डीशिग्रुतिल्वकतिन्दुकान् ॥
कोविदारशमीपीलुपिप्पलेङ्गुदगुग्गुलून् ।
पारिभद्रकमम्लीकां मोचकीं शाल्मलीं शणम् ॥
स्वाद्वम्ललवणं शुष्कं सुषिरं पूति पिच्छिलम् ।
पालाशमासनं दन्तधावनं पादुके त्यजेत् ॥
दन्तान् पूर्वमधो घर्षेत् प्रातः सिञ्चेच्च लोचने।
तायपूर्णमुखो ग्रीष्मशरदोः शीतवारिणा ॥

दातूननिषिद्ध काष्ठ—लिहसोडा, रीठा, बहेडा, धव, करीर, बेल, वेत, सम्हालू, सहजना, लोध, तेंदू, कचनार, शमी, पीलु, पीपल, हिंगोट, गूगल, देवदारु, इमली, सेम्हल, कदली और सण इन वृक्षों के काष्ठ का और जिन वृक्षों का रस मधुर, अम्ल तथा नमकीन हो, जो सूखा नीरस हो, जो भीतर से खोखला (पोला) हो, जो नितान्त चिकना और पहिले किसी का किया हुवा हो और जो सडा हुवा दुर्गन्धयुक्त हो ऐसा दातुन कदापि न करना चाहिए और न पलाश अर्थात् ढाक का आसन, दातुन और खड़ाऊ बनाना चाहिये। दातुन करते समय पहिले दांतों के नीचे के भाग को घिसना चाहिये। प्रतिदिन प्रातःकाल में मुख को जल से पूर्णकर ग्रीष्म और शरद् ऋतु में नेत्रों को शीतल जल से सींचना, छिड़कना या धोना चाहिये। यहां ग्रीष्म तथा शरद् में ही ठंडे जल से सींचने का निर्देश है अतः इन ऋतुओं के सिवा अन्य ऋतुओं में सुहाने योग्य कवोष्ण गरम जल से सींचना चाहिये।

प्रणम्य देवान् वृद्धांश्च मंगलाष्टशतं शुभम् ।
शृण्वन् काञ्चनविन्यस्तं सर्पिः पश्येदनन्तरम् ॥

दन्तधावन के पश्चात् देवनमनादि—दातुन करके फिर देवताओं और वृद्धोंको प्रणाम करे और फिर आगे दूतादिविज्ञानीय अध्याय में वर्णित शुभमङ्गलाष्टशत श्रवण करे तथा जिसमें सुवर्ण डाला हुआ हो ऐसे घृत को देखे या सुवर्णपात्र में भरे हुये घी का नीचे को मुखकर अवलोकन करे।

सौवीरमञ्जनं नित्यं हितमक्ष्णोस्ततो भजेत् ।
लोचने तेन भवतो मनोज्ञे सूक्ष्मदर्शने ॥
व्यक्तत्रिवर्णे विमले सुस्निग्धघनपक्ष्मणी ।
चक्षुस्तेजोमयं तस्य विशेषाच्छ्लेष्मतो भयम् ॥
योजयेत्सप्तरात्रेऽस्मात् स्रावणार्थं रसाञ्जनम् ॥

सौवीराजन तथा रसांजनसेवन—उपर्युक्त देवस्मरणादि हो जानेपर आखोंके लिए सदैव हितकारी है इस लिए नेत्रों में काले सुर्मे का अंजन प्रत्येक आख में तीन तीन बार सलाई फिराकर करे क्योंकि सुरमे के अजन से आखें मनोहर (सुन्दर) होकर सूक्ष्म पदार्थ के देखने में समर्थ होतीं और नेत्रों के लाल, सफेद और काला ये तीनों रंग साफ होते हैं। इतना ही नहीं आंखों की पलकें चिकनी एवं सघन (गहरी) होती हैं। इसके अतिरिक्त नेत्र तेजोमय अर्थात अग्नि या पित्तमय हैं और उनकी इस तेजस्विता को विशेषतः कफ का भय रहता है क्योंकि कफ जलीय होने से तेजका वैरी है, अतः उसे नेत्रों से स्राव कराकर बाहर निकालने के लिए प्रतिसप्ताह अर्थात् सप्ताह में एकदिन आखों में रसौत को आंजना चाहिये।

विशेष विवरण—सुश्रुत इसके विपरीत अर्थात काले सुर्मे की जगह सफेद सुर्मे के अञ्जन का उपदेश करते हुए कहते हैं कि "अजन-कर्म में समुद्र से उत्पन्न होनेवाला शुद्ध स्रोतोञ्जन श्रेष्ठ माना गया है इसलिए कि वह नेत्रों के दाह खजली और मल को दूर करनेवाला तथा क्लेद (गीद) एवं पीड़ा को हरनेवाला है।

अञ्जनविधि के पश्चात अब आचार्य नस्य, गण्डूषधारणादि का उपदेश करते हैं। यथा—

अणुतैलं ततो नस्यं ततो गण्डूषधारणम् ।
घनोन्नतप्रसन्नत्वक्स्कन्धग्रीवास्यवक्षसः ॥
सुगन्धिवदनाः स्निग्धनिस्वनाः विमलेन्द्रियाः ।
निर्वलीपलितव्यङ्गा भवेयुर्नस्यशीलिनः ॥
ओष्ठस्फुटनपारुष्यमुखशोषद्विजामयाः ।
न स्युः स्वरोपघाताश्च स्नेहगण्डूषधारणात् ॥
खदिरक्षीरिवृक्षारिमेदाम्बुकवलग्रहः ।
अरोचकास्यवैरस्यमलपूतिप्रसेकजित् ॥
सुखोष्णोदकगण्डूषैर्जायते वक्त्रलाघवम् ।
प्रायोगिकं ततो धूमं गन्धमाल्यादि चाचरेत् ॥
धूमादस्योर्ध्वजत्रूत्था न स्युर्वातकफामयाः ।
अञ्जनोत्क्लेशितं नस्यैः कवलैर्वमनैरितम् ॥
धूमेन कवलोत्क्लिष्टं क्रमाद्वातकफं जयेत् ।
गन्धमाल्यादिकं वृष्यमलक्ष्मीघ्नं प्रसाधनम् ॥

नस्य गण्डूषधारणादि—अञ्जनविधि के पश्चात् इसी ग्रन्थ में आगे कहे गए अणुतैल की नस्य ले और इसके अनन्तर मुख में गण्डूष धारण करे। नस्य सेवन करने से त्वचा (चमड़ी) स्वच्छ रहती है और मनुष्य ऊंचे कन्धेवाले, घनग्रीवा (मजबूत गरदन) वाले, मजबूत छाती वाले, स्वच्छकान्तियुक्त मुख वाले, सुगन्धित मुखवाले, मधुर स्वरवाले तथा निर्मल इन्द्रियों वाले होते हैं। नस्य सेवन से उनकी चमड़ी सकुचित नहीं होती– उसमें वली (झुर्रियां) नहीं पडतीं, बाल पककर जल्दी श्वेत नहीं होते और न मुख पर काले रंग के व्यंग (चट्टे) ही होते हैं।

स्नेह (घृततैलादि) के गण्डूष मुख में धारण करने से होठों का फटना तथा खरदरे (सूखते) रहना, मुख का सूखना, दांतों के रोग, स्वरभंग ये रोग नहीं होते।

---

१ शीतवारिणा ग्रीष्मशरदोरेव। अन्यस्मिन्नृतौ कवोष्णवारिणेत्यर्थाल्लभ्यते। इतीन्दु।

२ सौवर्णभाण्डस्थ घृतमवाङ्मुख पश्येदितीन्दु।

३ अस्य च मृदुचूर्णाञ्जनत्वात्त्रिः शलाका मानम्। इति हेमाद्रि।

१ व्यक्तत्रिवर्णत्वाच्च निर्मले, रक्तशुक्लकृष्णवर्णत्रयम्। इतीन्दु।

२ मतं स्रोतोञ्जनं श्रेष्ठं विशुद्धं सिन्धुसम्भवम्। दाहकण्डूमलघ्नं च दृष्टेः क्लेदरुजापहम्॥ इति॥

खदिर (खैर), क्षीरिवृक्ष (पीपल, गूलर, पाकर, बड, पारसपीपल, विडखदिर और नागरमोथा इनका कवल ग्रह अरोचक, मुह का वैरस्य (फीका रहना) मल की दुर्गन्ध और मुखसे लारों के टपकने को जीतता अर्थात् नाश करता है। सुखोष्णोदक अर्थात् नीम गरम जलके गण्डूष (कुल्ले) करने से मुख की जडता दूर होती है। कवलग्रह और गण्डूष में क्या भेद है यह इसी ग्रन्थ में आगे कहेंगे। उपर्युक्त नस्य-गण्डूषधारणादि के अनन्तर इसी ग्रन्थ में आगे वर्णित प्रायोगिक धूम्रपान का सेवन, सुगन्धि (इतर आदि), पुष्पमाला, वस्त्रादि धारण करे क्योंकि धूम्रपान करने से ऊर्ध्वजत्रुगत (गर्दन से लेकर मुख नेत्र, नाक कान, और सिर में उत्पन्न होनेवाले) वात-कफ के रोग नहीं होने पाते। यहाँ सुर्मे के अञ्जन तथा रसौत के स्रावणाञ्जनविषय में तन्त्रान्तरों का मतभेद दिखाई देता है। वाग्भटाचार्य अपने इस ग्रन्थ में दन्तधावनादि के पश्चात् रसौत के अजन का विधान करते हैं परन्तु जतूकर्ण प्रति सातवे दिन रात्रि में रसौत का अञ्जन करना ठीक बतलाते हैं। शालाक्यतन्त्रकार भी रसौत का अञ्जन इस लिए रात्रि में करना अच्छा मानते है कि "अजन के विरेचन द्वारा दुर्बल हुई दृष्टि दिनमें सूर्यको प्राप्तकर दूषित होती है, वही रात्रि में शयननिद्रागुण से अञ्जन से आई हुई कृशता को दूरकर नेत्रों की पुष्टि करती है। इसी प्रकार चरक का कथन है कि "नेत्र तेजोमय हैं। उसे कफ से विशेष भय है। इस लिये नेत्रों को प्रसादन करनेवाला कफहारक कर्म हितकारी है।"

तथापि वह तेज अजन दिन में नेत्रों को नहीं लगाना चाहिये, क्यों कि विरेक से दुर्बल हुई दृष्टि आदित्य (सूर्य) के ताप से दूषित होती है, अत स्राव्य (रसौत का) अजन अवश्य रात्रि को ही लगाना ठीक है। सातवें दिन की जगह चरक पाचवें, सातवें और आठवें दिन रसौत के अजन का उपदेश करते हैं। इस विरोध का परिहार एव वाग्भट के कथन की पुष्टि के अर्थ हेमाद्रि का कहना है कि वस्तुत यह विरोध नहीं है। कफ की अधिक-मध्यम-हीनबलावस्था के अनुसार क्रमश यह पाचवें, सातवें और आठवें दिन रसौत आंजने का विधान है और चरक के "निशायां ध्रुवमञ्जनमिष्यते" का भाव इस प्रकार है—"नित्य किये जानेवाले सौवीराञ्जन को त्याग पूर्वाह्ण में यदि रसौत का अञ्जन किया जाय तो वह नित्य किया जानेवाला सुर्मे का अञ्जन रात को किया जाय, अन्यथा प्रातःकालमें ही किया जाय। चक्रपाणिदत्त भी उपर्युक्त विरोध की पुष्टि करते हैं किन्तु विपरीत इसके अन्य टीकाकारों का हवाला देते हुये यह भी कहते हैं कि "नित्य किया जानेवाला सुर्मेका अञ्जन रातमें करे और कफ हरण करनेवाला होने से रसौत का स्रावणाञ्जन तो वमन की तरह पूर्वाह्ण में ही किया जाय। रही हेमाद्रि सम्मत चरक के पाठ से सातवे दिन की जगह पाचवें, सातवे और आठवे दिन की बात, सो कफके अधिक-मध्य अल्प बलानुसार जाननी चाहिये। साराश, चरकी का मत है कि यदि कफ अधिक बलवान् हो तो पांचवे दिन, मध्यम बली हो तो सातवें और हीनबल हो तो आठवें दिन स्रावणाञ्जन को प्रयुक्त करना चाहिये। चक्रदत्तसम्मत पाठ मे सातवे तथा आठवें दिन का ही उल्लेख मिलता है। जो हो, हमें वाग्भट एव उसके अनुयायी टीकाकारों की बात को इसलिए मान लेना चाहिये कि "कफ के निर्हरण का समय शास्त्रकारों ने प्रात काल ही माना है, अत रसौत का स्रावणाञ्जन प्रात -काल ही में किया जाय और केवल उस दिन नित्य किया जानेवाला सुरमे का अञ्जन प्रात काल में न कर रात को कराया जाय। इससे वात और कफ के रोग नहीं होने पाते।

अञ्जन, नस्य, कवलग्रह और धूमपान का उपदेश इस लिए है कि "वैद्य अञ्जन, नस्य और कवलग्रह के करने से नाक से निकलनेवाले वात को एव धूमपान, कवलग्रह करने से नावनेरित (नाक के मार्ग से निकलनेवाले) कफ को क्रम से जीते। शेष गन्ध, माल्यादि धारण इस लिए करे कि ये मनुष्य के लिए वृष्य (वीर्यवृद्धि करनेवाले) हैं, दारिद्र्य को दूर करनेवाले और तेज के बढ़ानेवाले हैं। इनके अतिरिक्त और क्या करे अब यह बताते है—

वासो न धारयेज्जीर्णं मलिनं रक्तमुल्बणम्।
माल्यं न लम्ब न बहिर्न रक्तं जलजादृते॥
नैव चान्येन विधृतं वस्त्रं पुष्पमुपानहौ।
रुचिवैशद्यसौगन्ध्यमिच्छन् वक्त्रेण धारयेत्॥
जातीलवङ्गकर्पूरकङ्कोलकटुकैः सह।
ताम्बूलीनां किसलयं हृद्यं पूगफलान्वितम्॥
रक्तपित्तक्षतक्षीणरूक्षोत्कुपितचक्षुषाम्।
विषमूर्च्छामदार्तानामपथ्यं शोषिणां च तत्॥
पथ्यं सुप्तोत्थिते भुक्ते स्नाते वान्ते च मानवे।
द्विपत्रमेकं पूगं च सचूर्णं खदिरं च तत्॥

जीर्णवस्त्रधारणनिषेधादि—पुराना, मैला, लाल और फटा हुआ कपडा न पहिने। कमल के सिवा अन्य (दूसरे) लाल रगवाले पुष्प एव माला को धारण न करे और न बाहर (राजमार्ग में) ही ऐसी माला को धारण कर निकले। न दूसरे के धारण किये हुए कपड़े, पुष्प और पगरखी (जूते) को धारण करे।

---

१ "सप्ताहाद्रसाञ्जनं नक्तम्" इति जतुकर्णः। "विरेकदुर्बला दृष्टिरादित्यं प्राप्य सीदति। रात्रौ स्वप्नगुणाच्चाक्षि पुष्यत्यञ्जनकर्षितम्॥" इति शालाक्ये। "चक्षुस्तेजोमयं तस्य विशेषाच्छ्लेष्मतो भयम्। तत श्लेष्महरं कर्म हितं दृष्टेः प्रसादनम्॥ दिवा तन्न प्रयोक्तव्यं। नेत्रयोस्तीक्ष्णमञ्जनम्। विरेकदुर्बला दृष्टिरादित्यं प्राप्य सीदति। तस्मात्स्राव्यं निशायां तु ध्रुवमञ्जनमिष्यते"। इति चरकः।

२ 'पञ्चसप्ताष्टरात्रे वा स्रावणार्थं रसाञ्जनम्।' इति चरकवचनम्। इह तु सप्तरात्र इति विरोधः, मैवं, पञ्चसप्ताष्टरात्राणां बहुमध्याल्पविषयत्वात्। ननु "निशायां ध्रुवमञ्जनमिष्यते" इति चरकेणाञ्जनस्य रात्रिकाल उक्तः। इह तु दन्तधावनानन्तरमिति विरोधः, मैवं चरकवाक्यस्य ह्ययमर्थः। यदा नित्याञ्जनं बाधित्वा पूर्वाह्णे रसाञ्जनं प्रयुज्यते, तदा ध्रुवं नित्यसेव्यमञ्जनं निशायामिष्यते। अन्यदा तु प्रातरेवेत्यविरोधः। इति हेमाद्रिः।

१ अन्ये तु व्याख्यानयन्ति-ध्रुवं नित्यकर्तव्यं सौवीराञ्जनं यत्तन्निशि कर्तव्यं, स्रावणाञ्जनं तु श्लेष्मोद्रेकविषयिवमनवत्पूर्वाह्ण एव कर्तव्यम्। इति चक्रपाणिदत्तः।

२ न बहिः राजमार्गे दृश्यमानं वेतीन्दुः।

रुचि, स्वच्छता एव सुगन्धि की इच्छा करता हुआ जायपत्री, लवग, कपूर, ककोल, लताकस्तूरी के फल और सुपारी सह हृदय को बल देनेवाले मनोहर नागरवेल के पान को मुख में धारण करे परन्तु ध्यान रहे कि यही (नागरवेल का पान उक्त द्रव्यों सहित) रक्तपित्त, क्षतक्षीण (घाव के लगने या उर क्षत से थका हुआ), शोष, राजयक्ष्मा, रूक्ष प्रकृति अथवा रूक्षता से उत्पन्न नेत्ररोग, विष, मूर्च्छा और मदात्यय इन रोगों में अपथ्य अर्थात् हानिकारक है तथा विपरीत इसके चूना, कत्था और सुपारीमिश्रित दो पान का एक बीडा शयन, भोजन, स्नान और वमन के अनन्तर मनुष्य के लिए पथ्य अर्थात् हितकारी है। इसके पश्चात् उपजीविका के लिए उपदेश करते हैं। यथा—

उत्तिष्ठेत ततोऽप्यर्थमर्थेष्वर्थानुबन्धिषु ।
निन्दितं दीर्घमप्यायुरसन्निहितसाधनम् ॥
कृषि वणिज्यां गोरक्षामुपायैर्गुणिन नृपम् ।
लोकद्वयाविरुद्धा च धनार्थी सश्रयेत्क्रियाम् ॥
मुक्तवेगश्च गमन-स्वप्नाहार-सभा-स्त्रियः ।

धनार्थ प्रयत्न करना—पूर्वोक्त गन्ध-माल्य-ताम्बूलादि कर्म के अनन्तर धन कमाने के हेतुभूत जो जो कार्य हैं, उनमें भली भांति प्रयत्न करे अर्थात् धन कमाने के लिए सब प्रकार से चेष्टा करे क्योंकि दीर्घ आयु होने पर भी वह असन्निहितसाधन (दारिद्र्ययुक्त) निन्दित होती है अत धनार्थी को चाहिये कि वह नाना उपायों द्वारा खेती, व्यापार, गोरक्षा (गोपालन), गुणी राजा और उस क्रिया का आश्रय अर्थात् धनप्राप्ति के अर्थ वह कार्य करे जो इह-पर-लोक (इस लोक और परलोक) को बिगाडनेवाला न हो।

साराश, वह कार्य उक्त दोनों लोकों के लिए विरुद्ध न हो, जिसको लोग गर्हित (निन्दित) न कहते हों अर्थात् सत्कार्य द्वारा ही धनोपार्जन करे। इसी प्रकार मलमूत्रादि के वेग से निवृत्त होकर ही गमन, शयन, भोजन, सभा और स्त्री इनका सेवन करे। महर्षि आत्रेय भी धनेषणा की पूर्ति के विषय में यही उपदेश करते हैं[2]।

पाणिनाऽऽलभ्य निष्क्रामेद्रत्नपूज्याज्यमङ्गलम् ।
सातपत्रपदत्राणो विचरेद्युगमात्रदृक्[3] ॥
निशि चात्ययिके कार्ये दण्डी मौली सहायवान् ।
प्रावृत्य पर्यटेद्रात्रौ न प्रावृत्य शिरोऽहनि ॥
चैत्य-पूज्य-ध्वजाशस्तच्छायाभस्मतुषाशुचीन् ।
नाक्रामेच्छर्करालोष्ठबलिस्नानभुवो न च ॥
मध्याह्ने सन्ध्ययो रात्रावर्धरात्रे चतुष्पथम् ।
न सेवेत न शर्वर्यां वृक्षचैत्य न चत्वरम् ॥
शूनाटवीशून्यगृहश्मशानानि दिवाऽपि न ।
न हुकुर्याच्छव पूज्य प्रशस्तान् मङ्गलानि च ॥
नापसव्य परिक्रामेन्नेतराण्यनुदक्षिणम् ।
चतुष्पथ नमस्कुर्यात् प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥
न व्यालबाधिताशस्तैर्नादान्तक्षुत्पिपासितैः ।
न छिन्नपुच्छनैर्काक्षैर्गोपृष्ठन न च व्रजेत् ॥
नातिप्रगेऽतिसाय वा न नभोमध्यगे रवौ ।
नासन्निहितपानीयो नातितूर्णं न सन्ततम् ।
न शत्रुणा नाविदितैर्नैको नाधार्मिकैः सह ॥
दद्याद्वर्त्मार्तवृद्धस्त्रीभारिचक्रिद्विजन्मने ।
स्नानभोजनपानानि वाहेभ्यो नाचरेत्पुरः ॥
नदीं तरेन्न बाहुभ्यां नाग्निस्कन्धमभिव्रजेत् ।
नाऽरोहेद्विषम शैलं नाव सशयितां तरुम् ॥
निपातयेन्न लोष्ठेन न फलेन फल द्रुमात् ।
न वार्यमाणः प्रविशेन्नाद्वारेण न चासने ॥
स्वय तिष्ठेत्परगृहे युक्तनिद्र न बोधयेत् ।
नाऽचरेत्पाणिवाक्पादहङ्मेढ्रोदरचापलम् ॥
त्रिः पक्षस्य कचश्मश्रुनखरोमाणि वर्धयेत् ।
न स्वहस्तेन दन्तैर्वा स्नान चानु समाचरेत् ॥

परमहितोपदेश—यदि किसी कार्यार्थ बाहर जाना हो तो मगलकारी रत्न, पूज्य (गुरु, पिता, मातादि) और घृत को हाथ से स्पर्शकर बाहर निकले। पदत्राण (पगरखी-जूते) धारणकर, छाता लेकर दो या चार हाथ आगे की भूमि को दोनों नेत्रों से देखता हुआ विचरे (घूमे) ता कि क्रिमि, कीट, शकु या किसी वृक्ष के सूखे ठूठ के लगने का भय न हो। रात्रि में न विचरे। अत्यावश्यक कार्य ही हो तो रात्रि में दण्ड (लट्ठी) ले पगडी या साफा धारणकर, किसी सहायक को साथ लेकर विचरे ता कि गिरने, पडने और शत्रु आदि का भय न हो और न चौर आदि का। रात्रि मे शिर को ढककर और दिन मे खुले सिर फिरना चाहिये। किसी देवता के निवासवाले विशिष्ट वृक्ष, यज्ञार्थ निमित होमकुण्ड-स्थण्डिल, बौद्धमन्दिर, अपने पूज्य गुरु आदि, ध्वजा, अमगल वस्तु इन की छाया को न लाघे। इसी प्रकार भस्म, तुष, अशुचि (विष्ठा-उच्छिष्ट वस्तु आदि), पत्थर का सूक्ष्म चूर, मिट्टी का ढेला, किसी देवता के लिए किये गये बलिदान और जहाँ किसी ने स्नान किया हो ऐसी भूमि का भी उल्लघन न करे। मध्याह्न दिन और रात्रि के सन्धिकाल (सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय) रात एव आधीरात में, चतुष्पथ (चौबाटा-जहा चार रास्ते मिलते हों) मे न बैठे। रात्रि के समय चत्वर (तिबाटा) वृक्ष और चैत्य के नीचे न बैठे और न सेवन करे। जहां वध (हत्यायें) हुई या होती हों ऐसे जगल, सूनेघर तथा श्मशान में दिन में भी न रहे। शव (अर्थात् मृतशरीर) का हुकार कर तर्जन या अपमान न करे। पूज्य (देव, गुरु, माता, पितादि) श्रेष्ठ

१ कटुक लताकस्तूरिकाफलम्। इति हेमाद्रि ।

२ प्राणेभ्यो ह्यनन्तर धनमेव पर्येष्टव्य भवति। न ह्यत पापात्पापीयोऽस्ति। यदनुपकरणस्य दीर्घमायु, तस्मादुपकरणानि पर्येष्टु यतेत। तत्रोपकरणोपायाननु व्याख्यास्याम—तद्यथा कृषिपाशुपाल्यवाणिज्यराजोपसेवादीनि, यानि चान्यान्यपि सतामविगर्हितानि कर्माणि, इति चरके ।

३ युगो हस्तद्वयम्। अन्ये हस्तचतुष्टयम्। तन्मात्रमग्रत पश्यन् क्रिमिस्थाण्वादिभयादितीन्दु ।

एव मगलमय वस्तुओं को बायें हाथ की ओर कर के और इन के विपरीत अर्थात् अपूज्य, नेष्ट, अमगल वस्तु इनको दाहिनी ओर कर के गमन न करे। चतुष्पथ, प्रसिद्ध विद्वान् एव वनस्पतियों को नमस्कार करे। दुष्ट, रोगी, अशुभ नाद करते हुए, भूखे, प्यासे, पूछ कटे हुए और एक आखवाले वाहनों पर तथा गाय की पीठ पर सवारी कर गमन न करे। अतिप्रगे अर्थात् प्रात काल के पहले रात्र विशेष हो ऐसे समय, नातिसाय (सन्ध्या काल के अनन्तर विशेष रात हो गई हो ऐसे समय) मध्याह्न मे, बिना जल के, जल्दी जल्दी तथा विश्रान्ति रहित गमन न करे और न शत्रु एव बिना जाने हुए, अधार्मिक पुरुषों के साथ तथा अकेला ही गमन करे। यदि रोगी, दुखी, वृद्ध, स्त्री, भार को लिया हुआ वेग से चलनेवाला और ब्राह्मण सामने आजाय तो उनके लिए रास्ता दे दे। अपने वाहनों के सामने या पहिले स्नान, भोजन और पान न करे अर्थात् पहिले अपने अश्वादि वाहनों को स्नान-भोजन-पान करावे और तदनन्तर स्वय स्नान, भोजन और पान करे। बाहुओं से नदी में न तेरे और जलती हुई अग्निराशि के सामने न जावे। अत्यन्त नीचे और ऊचे पर्वतपर न चढ़े और न ऐसी नाव और वृक्ष पर ही चढ़े जिनमें डूबने-गिरने का भय हो। वृक्ष से फल को मिट्टी-पत्थर के ढेले या फल से मार कर नीचे न गिरावे। मना करने पर तथा बिना द्वार के किसी के घर में प्रवेश न करे। पराये घर में स्वय अकेला आसन पर न बैठे और न सोते हुवे को जगावे। हाथ, पाँव, मुख, आँख, लिङ्ग, तथा पेट द्वारा ऐसी चेष्टा का आचरण न करे जिसमें निन्दा होती हो। एक पक्ष में तीन बार मस्तक के केश, दाढ़ी के बाल और नखों को कटावे किन्तु स्वय अपने हाथों तथा दातों से केशादि को न काटे। यदि काटे तो काटने के अनन्तर स्नान करे।

अब आचार्य (उपर्युक्त उपदेश के अनन्तर) अन्नपान करने की इच्छावाले के लिए प्रथम अभ्यगादि कर्मों का उपदेश करते हैं—

अथ जातान्नपानेच्छो मारुतघ्नैः सुगन्धिभिः ।
यथर्तुसस्पर्शसुखस्तैलैरभ्यङ्गमाचरेत् ॥
अभ्यङ्गो वातहा पुष्टिस्वप्नदार्ढ्यबृहत्त्वकृत् ।
दग्धभग्नक्षतरुजाक्लमश्रमजरापहः ॥
रथाक्षचर्मघटवद्भवन्त्यभ्यङ्गतो गुणाः ।
स्पर्शनेऽभ्यधिको वायुः स्पर्शनञ्च त्वगाश्रयम् ॥
त्वच्यश्च परमभ्यङ्गो यस्मात्तं शीलयेदतः ।
शिरःश्रवणपादेषु त विशेषेण शीलयेत् ॥
स केश्य शीलितो मूर्ध्नि कपालेन्द्रियतर्पणः ।
हनुमन्याशिरःकर्णशूलघ्न कर्णपूरणम् ॥
पादाभ्यगस्तु तत्स्थैर्यनिद्रादृष्टिप्रसादकृत् ।
पादसुप्तिश्रमस्तम्भसकोचस्फुटनप्रणुत् ॥
वर्ज्योऽभ्यङ्गः कफग्रस्तकृतसशुद्ध्यजीर्णिभिः ।

अभ्यगादिसेवन—अन्नपान की इच्छावाले को चाहिये कि वह पहिले वायु को हरनेवाले, प्रत्येक ऋतु में उपदिष्ट सुख देनेवाले अर्थात् उष्णकाल में ठंढे और शीतकाल में गरम ऐसे गरम तैलों का शरीर मे अभ्यङ्ग (मर्दन) करे क्योंकि तैल-मर्दन (अभ्यङ्ग) वायु के कोप को दूर करनेवाला, पुष्टिको देनेवाला, अच्छी नींद को लानेवाला, शरीर को बढ़ाने और मजबूत करनेवाला है। अग्नि से जलने, गिरने से हड्डी आदि के टूटने और शस्त्रादि से घाव हो जाने की पीडा को अभ्यङ्ग दूर करनेवाला तथा बेचैनी, थकावट और बुढ़ापे को हरनेवाला है। रथ या गाड़ी के चाक, चमड़े और मिट्टी के घड़े में जिस प्रकार तैल मर्दन करने से मृदुता (मार्दव) और मजबूती आती है, ठीक वैसे ही तैल मर्दन से शरीर की कान्ति बढती है, चमड़ी मुलायम रहती है और मज़बूत होती है। स्पर्श से वायु बढ़ता है, स्पर्श का आश्रय त्वचा (चमड़ी) इन्द्रिय है और त्वचा या चमडी के लिए तैल-मर्दन (अभ्यङ्ग) जैसा कोई उपकारी नहीं है। इस लिए अभ्यङ्ग अवश्य करना चाहिये। शिर, कान और पावों में विशेष कर के तैल मर्दन करना चाहिये, क्योंकि सिर में तैलमर्दन करने से केश मुलायम रहते और बढ़ते हैं, कपाल की इन्द्रियां तृप्त होती हैं। कान में तैल डालने से ठोढ़ी, गर्दन, सिर और कान की पीड़ा दूर होती है। पावों में विशेषत तैलमर्दन करने से पगों में स्थिरता (मजबूती) होती, निद्रा आती और आंखों की ज्योति बढ़ती है। इतना ही नहीं, पावों का तैलमर्दन पगों की शून्यता, थकावट, अकड़, सिकुड़ना और पैरों का फटना इनको दूर करता है।

ध्यान रहे कि कफप्रकृतिवालों, अजीर्ण के रोगियों तथा जिनने वमन-विरेचनादि संशोधन कर्म कराया हो उन्हें, तैल-मर्दन नहीं करना चाहिये। इसके अनन्तर आचार्य व्यायाम (कसरत[1]) करनेका उपदेश करते हैं।

शरीरायासजनन कर्म व्यायाम उच्यते ।
लाघव कर्मसामर्थ्य दीप्तोऽग्निर्मेदसः क्षयः ॥
विभक्तघनगात्रत्व व्यायामादुपजायते ।
वातपित्तामयी बालो वृद्धोऽजीर्णी च त त्यजेत् ॥
अर्धशक्त्या निषेव्यस्तु बलिभिः स्निग्धभोजिभिः ।
शीतकाले वसन्ते च मन्दमेव ततोऽन्यदा ॥

व्यायाम से लाभ-जिससे शरीर में श्रम उत्पन्न हो उस कर्म का नाम व्यायाम है। व्यायाम के करने से शरीर फुर्तीला होता है, काम करने की शक्ति तथा जठराग्नि प्रदीप्त होती, बढ़ा हुआ मेद नाश को प्राप्त होता है और शरीर के प्रत्येक भाग के अवयव मजबूत होते हैं। परन्तु वातरोगी, पित्तरोगी, वातपित्तरोगी, बाल (जिसकी अवस्था १६ वर्ष के भीतर हो), वृद्ध (जो वय में ७० वर्ष से अधिक[1] हो) और अजीर्ण रोगी को चाहिये कि व्यायाम न करे। घृत आदि स्निग्ध भोजन करनेवाले बलवानों को चाहिये कि शीत और वसन्तकाल में अर्धशक्तिक अर्थात् हृदय में स्थित वायु कसरत करते करते जबतक मुख में न आजाय, मुह से श्वासोच्छ्वास न लेने लगजाय तब तक ही व्यायाम करे क्योंकि इसके विपरीत व्यायाम करना

१ बाल आषोडशाद्वर्षाद्वृद्ध सप्ततेरूर्ध्वमित्यरुण ।
२ बलस्यार्धेन कर्तव्यो व्यायामो हन्त्यतोऽन्यथा । इति स्थान

हानिकारक है । अन्य ऋतुओं मे शीत और वसन्त ऋतु से व्यायाम कम करे ।

विशेष विवरण—भगवान् आत्रेय या चरक के मत से व्यायाम शरीर की उस इष्ट (अभीष्ट) चेष्टा का नाम है जो शरीर को स्थिर रखनेवाली और उस के बल को बढ़ानेवाली है और जो बिना पगरखी के घूमने फिरने अर्थात् चक्रमण और व्यायाम (कसरत) रूप से होती है । यह व्यायाम-क्रिया अवश्य की जाय क्योंकि इससे शरीर हल्का (फुर्तीला), काम करने मे समर्थ और स्थिर होता है। इतना ही नही, व्यायाम करनेवाला दु ख या क्लेश को सहन कर सकता है । इससे कफ तथा मेद से बढ़े हुए स्थौल्य (मोटापा) आदि दोषों तथा प्रकुपित वातादि तीनों दोषों का नाश होता और उसकी जठराग्नि प्रदीप्त होती है, परन्तु व्यायाम इतना ही करना चाहिए जो कथित मात्राके भीतर हो । सक्षेप मे सभी आचार्यो ने व्यायाम के गुणों का वर्णन किया है किन्तु भगवान् धन्वन्तरि ने इसको विशेष रूप से कहा है । उनका कथन है कि "शरीर में श्रम पैदा करनेवाले कर्म का नाम व्यायाम है"। व्यायाम के करने से शरीर सुखी और सभी ओर से सुडौल होता है। शरीर की वृद्धि होती और कांति बढ़ती है, सभी अङ्गों का सुन्दर विभाग होता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती और आलस्य नष्ट हो जाता है। शरीर में स्थिरता और स्फूर्ति प्राप्त होकर सभी दोषों की शुद्धि हो जाती है तथा परिश्रम, थकावट, प्यास, गरमी और सरदी को सहन करने की शक्ति प्राप्त होती है। व्यायाम से नितान्त श्रेष्ठ आरोग्य प्राप्त होता है । इतना ही नहीं, व्यायाम के सिवाय और कोई भी कर्म स्थूलता (मेदोवृद्धि) को मिटानेवाला नहीं है । कसरतो मनुष्य से डरते हुए शत्रु उस पर आक्रमणकर उसे दुख नहीं दे सकते । न बुढ़ापा ही यकायक आक्रमणकर उस पर सवार हो सकता है।व्यायाम करनेवाले मनुष्य का मास भी स्थिर अर्थात् कठोर हो जाता है। व्यायाम से थके मनुष्य के पैरों में उबटन लगाने से सिंह के पास क्षुद्र मृगों की तरह उसके पास रोग नहीं आ सकते। व्यायाम वय, रूप और गुणों से हीन पुरुष को भी सुन्दर बना देता है। नित्य व्यायाम करनेवाला यदि कच्चा या पक्का विरुद्ध भोजन भी कर ले तो वह बिना दोष के पच जाता है अत स्निग्ध (घृत दुग्धादि) भोजन करनेवाले बलवानों के लिए व्यायाम सदैव पथ्य है और शीत एव वसन्त ऋतु में तो इन के लिए बहुत हितकारी है। इस लिए सभी ऋतुओं में अपना भला चाहनेवालों को नित्यप्रति आधे बल के अनुसार व्यायाम करना चाहिये। इसके विपरीत व्यायाम न करे क्योंकि वह पुरुष का नाश कर देता है[२]।" व्यायाम तथा उसके

स्थितो वायुर्यदा वक्त्र प्रपद्यते । व्यायाम कुर्वतो जन्तोस्तद्बलार्धस्य लक्षणम् । इति सुश्रुत ।

१ शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्धिनी । देहव्यायाम सख्याता मात्रया तां समाचरेत् ॥ लाघव कर्मसामर्थ्य स्थैर्य दु ख सहिष्णुता । दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते ॥ इति चरक ।

२ शरीरायासजनन कर्म व्यायामसज्ञितम् । तत्कृत्वा तु सुख देह विमृद्नीयात् समन्तत ॥ शरीरोपचय कान्तिर्गात्राणां सुविभक्तता । दीप्ताग्नित्वमनालस्य स्थिरत्व लाघव मृजा ॥ श्रमक्लमपिपासोष्णशीता

पश्चात् उद्वर्तन के विषय मे आचार्य और भी उपदेश करते हैं ।

त कृत्वानुसुख देह मर्दयेच्च समन्ततः ।
तृष्णा क्षयः प्रतमको रक्तपित्त श्रमः क्लमः ॥
अतिव्यायामतः कासो ज्वरश्छर्दिश्च जायते ।
व्यायामजागराध्वस्त्रीहास्यभाष्यादिसाहसम् ॥
गज सिंह इवाकर्षन् भजन्नति विनश्यति ।
उद्वर्तन कफहर मेदसः प्रविलायनम् ॥
स्थिरीकरणमङ्गाना त्वक्प्रसादकर परम् ।

मर्दन के गुण तथा अति व्यायाम के दोष—व्यायाम को करने के पश्चात् जहा तक सुहावे सम्पूर्ण देहमे मर्दन (मालिश) करे किन्तु 'अति सर्वत्र वर्जयेत्" इस नियम के अनुसार किसी भी कामको उसकी मात्रा या मर्यादा से अधिक न करे। इसीलिए अर्धबलावधि ही व्यायाम (कसरत) करना चाहिये, क्योंकि व्यायाम के अधिक करने से तृष्णा, क्षय, प्रतमक श्वास, रक्तपित्त, थकावट, ग्लानि (बेचैनी), खासी, ज्वर और वमन इन रोगो की उत्पत्ति होती है । आचार्यो ने यहा तक कहा है कि जो पुरुष व्यायाम, जागरण, मार्ग का चलना, स्त्री सभोग, हसना, बोलना, धनुष्यादि का खीचना, इन मे अति साहस करता है वह बड़े भारी हाथी को खीचनेवाले बलवान् सिंह की तरह नाश को प्राप्त होता है । साराश यह कि भूलकर भी उक्त व्यायामादिका अधिक सेवन कोई न करे। सुश्रुत ने निषेध करते हुए लिखा है कि रक्तपित्त, दुर्बल शरीर, शोष, श्वास, कास एव उरःक्षत के रोगी को, स्त्रीसङ्ग से क्षीण और भोजन के अनन्तर व्यायाम नही करना चाहिये[१]। कसरत (व्यायाम) के पश्चात् अङ्गमर्दन कर के कषाय द्रव्यों द्वारा शरीर में उद्वर्तन करे अर्थात् उबटन लगाये[२]। इसलिए कि उबटन लगाने से शरीरगत कफदोष तथा मेद (स्थूलता) का नाश होता है, शरीर के सभी अग स्थिर मजबूत होते हैं, चमड़ी मुलायम और निर्मल (साफ) होती है। सुश्रुत में लिखा है कि पगों में उबटन विशेष किया जाय तो रोगों का भय नहीं रहता ।

उबटन करने के अनन्तर आचार्य स्नान का विधान करते हैं—

दोना सहिष्णुता। आरोग्य चापि परम व्यायामादुपजायते ॥ न चास्ति सदृश तेन किञ्चित्स्थौल्यापकर्षणम् । न च व्यायामिन मर्त्यं मर्दयन्त्यरयो भयात् ॥ न चैन सहसाऽऽक्रम्य जरा समधिरोहति । स्थिरीभवति मांस च व्यायामाभिरतस्य च ॥ व्यायामक्षुण्णगात्रस्य पद्भ्यामुद्वर्तितस्य च । व्याधयो नोपसर्पन्ति सिंह क्षुद्रमृगा इव ॥ वयोरूपगुणैर्हीनमपि कुर्यात्सुदर्शनम् । व्यायाम कुर्वतो नित्य विरुद्धमपि भोजनम् ॥ विदग्धमविदग्ध वा निर्दोष परिपच्यते । व्यायामो हि सदा पथ्यो बलिनां स्निग्धभोजिनाम् । स च शीते वसन्ते च तेषा पथ्यतम स्मृत । सर्वेष्वृतुष्वहरह पुम्भिरात्महितैषिभि । बलस्यार्धेन कर्तव्यो व्यायामो हन्त्यतोऽन्यथा ॥ इति सुश्रुत ।

१ रक्तपित्ती कृशी शोषी श्वासकासक्षतातुर । भुक्तवान् स्त्रीषु च क्षीणो भ्रमार्तश्च विवर्जयेत् ॥ इति ।

२ अनन्तर कषायद्रव्यैरुद्वर्तन कुर्यात् । इतीन्दु ।

दीपनं वृष्यमायुष्यं स्नानमूर्जोबलप्रदम् ।
कण्डूमलश्रमस्वेदतन्द्रातृड्दाहपाप्मजित् ॥
उष्णाम्बुनाऽधःकायस्य परिषेको बलावहः ।
तेनैव तूत्तमाङ्गस्य बलहृत्केशचक्षुषाम् ॥
नाऽनाप्लुत्य शिरः स्नायान्न जलेऽल्पे न शीतले ।
स्नानोदकावतरणस्वप्नान्नग्नो न चाचरेत् ॥
पञ्चपिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात् परवारिणि ।
नात्मानमीक्षेत जले न तटस्थो जलाशयम् ॥
न प्रति स्फालयेदम्बु पाणिना चरणेन वा ।
स्नात्वा न मृज्याद्गात्राणि धुनुयान्न शिरोरुहान् ॥
न वसीतार्द्र एवाशु सोष्णीषे धौतवाससी ।
न त्वम्बरं पूर्वधृतं न च तैलवसे स्पृशेत् ॥
वासोऽन्यदन्यच्छयने निर्गमे देवतार्चने ।
स्नानमर्दितनेत्रास्यकर्णरोगातिसारिषु ॥
आध्मानपीनसाजीर्णभुक्तवत्सु च गर्हितम् ॥

स्नान के गुण और विधि—उद्वर्तन के पश्चात् स्नान करना चाहिये क्योंकि स्नान के करने से जठराग्नि प्रदीप्त होती, वीर्य की तथा आयुष्य की वृद्धि होती है। प्राणी को बल और उत्साह की प्राप्ति होती है। इस के सिवा स्नान से शरीर के खुजली, मैल, थकावट, पसीना, बेहोशी, प्यास, दाह और पाप ये सब दूर होते है। सिर को छोड़ शरीर के नीचे के भाग का गरम जल से सींचना बलका देनेवाला है, किन्तु उष्ण जल से मस्तक का सींचना केश और नेत्रों के बल को नष्ट करने वाला है। इस कथन से यह बात स्पष्ट होती है कि केश और नेत्रों के बल की इच्छावाले को ठंडे जल से स्नान करना चाहिये और दूसरों को गरम जल से क्योकि आचार्यों ने सचैल-स्नान को ही शुद्ध माना है। इस मे सिर को भिगाना ही पड़ता है। एक ही स्नान-कर्म में शीत और उष्ण इन दोनों का प्रयोग क्रियासङ्करदोषापत्ति होने से ठीक नहीं होता। सिर को जल से सिंचन किए बिना स्नान न करे और न तालाब के ठंडे और थोड़े जल मे नहावे। नंगा होकर न जल मे तैरे, न नहावे और न सोवे। परवारि अर्थात् दूसरे के खुदाये या बनाये तालाब आदि जलाशय से पांच पिण्ड मृत्तिका के बाहर फेंके विना उस में स्नान न करे, क्योंकि पराये जलाशय मे से पाँच पिण्ड लेकर बाहर फेंकने से वह जलाशय स्नान के अर्थ अपना ही बनाया हुआ हो जाता है। ऐसा कुछ शास्त्रकारों का मत[1] है। अपने प्रतिबिंब को जल मे न देखे और न तट (किनारे) पर खड़ा होकर जलाशय (कुआ बावली आदि) का अवलोकन करे। जल को हाथों तथा पगों से ताडन न करे या न उछाले। स्नान करने के बाद हाथों से अगों का मर्दन न करे, न बालो को धुने और न आर्द्र (बिना पोछे गीले शरीर) ही तुरन्त धोई हुई पगडी एवं कपडे पहने और स्नान-कर के पहिले धारण किए हुए बासी कपडों तथा तेल एवं वसा (चर्बी आदि) को ही स्पर्श करे। सोते समय, कहीं बाहर जाते समय और देवता के पूजन के समय मे कपडे बदल दिया करे अर्थात् पहिले धारण किए हुए कपडों को त्याग कर दूसरे कपडे धारण करे। अर्दित, नेत्र, मुख और कान के रोगी, अतीसार, आध्मान (पेट फूलना), पीनस, अजीर्ण तथा भोजन करने के बाद स्नान निन्द्य (वर्जित) है। सुश्रुत तो उक्त रोगों के साथ ज्वर, अरोचक एवं वायु के समस्त रोगों में भी स्नान का निषेध करते हैं।

विशेष विवरण—हेमाद्रि और अरुणदत्तटीकाकार जठराग्नि प्रदीपन, वृष्य (वीर्यवर्धन) और आयुवर्धन इन स्नान के गुणों को प्रभाव से मानते हैं किन्तु तन्त्रकारों के मतोंको उद्धृत कर यह भी कहते हैं कि मधुर, स्निग्ध, बृंहण, बलवर्धन और मनो हर्षण ये सब वृष्य है। स्नान से मन को हर्ष होता है और प्रहर्षण से वृष्यत्व (वीर्यवर्धनत्व) प्राप्त होता है। इसीप्रकार जठराग्निप्रदीपन के विषय में कहते हैं कि स्नान जठराग्नि की बाहर निकली हुई रोमकूपाश्रित ज्वालाओं को रोककर पीछे भीतर ले जाता है और उन से अग्नि को प्रबलकर जठराग्नि को प्रदीपन करता है जैसे कि शीतकाल में शीतवायु के स्पर्शसे रुकी हुई जठराग्नि प्रदीप्त होती है। परन्तु बालादित्य का कथन तो यह है कि "स्नान से त्वचा के आश्रय मे रहनेवाला भ्राजक पित्त भीतर प्रवेशकर अग्नि को बढ़ाता और उस से दीपन होता है।" इस से स्नान के लिए उष्ण जल ही ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि शीतल जल अग्नि को बुझाता है किन्तु देह के भीतर प्रविष्ट नहीं करता। यह अरुणदत्तका कथन है। हेमाद्रि भी इस से मिलतीजुलती बात युक्ति द्वारा कहते हैं। सुश्रुत अग्निप्रदीपनादि के साथ साथ

---

१ गंगाधरादिटीकाकृतसमतोऽयं पाठः कमङ्कपुस्तकेऽपि मुद्रितः साधुरिति भाति। अस्माभिस्तथैव व्याख्यातः। इन्दुस्तु "निवसीतार्द्र एवाशु सोष्णीषे धौतवाससी" इति पठति। व्याख्याति च "आर्द्र एव धौतोष्णीषं धौतवाससी च परिदध्याद्" इति, किन्तु नैव तन्त्रान्तरविरोधात्। लेखकानां मूले टीकायां च न वसीतस्थाने निवसीतेति लेखनप्रमादाद्वा।

२ उष्णशीतभेदभिन्नस्य स्नानस्य विषयमाह–उष्णाम्बुनेति। उष्णाम्बुना यः परिषेकः सोऽधःकायस्य बलावहः। स एवोत्तमाङ्गस्योर्ध्वकायस्य केशानां चक्षुषोश्च बलहृत्। तस्मात् केशचक्षुर्बलार्थिभिः शीतेन वारिणा स्नातव्यम् इतरैरुष्णेन इत्यर्थसिद्धम्। न त्वेकस्मिन् स्नाने शीतोष्णयोः प्रयोगः क्रियासंकरदोषोपपत्तेः। इति हेमाद्रिः।

१ पञ्चभिः पिण्डैरुद्धृतैरात्मैव स्नानार्थं जलाशयः कृतो भवति। इतीन्दुः।

२ सुश्रुत चिकित्सास्थान अ० २४ श्लोक ६०

१ स्नानस्य प्रभावादायुष्यत्व-वृष्यत्व-दीपनत्वानि बोद्धव्यानि। अथवा स्नानेन प्रहर्षो भवति, प्रहर्षणत्वाच्च वृष्यत्वम्। यथाह वाग्भटः–"यत्किञ्चिन्मधुरं स्निग्धं बृंहणं बलवर्धनम्। मनसो हर्षणं यच्च तत्सर्वं वृष्यमुच्यते॥ इति। तथा च–"स्नानं जठराग्नेर्बहिर्निर्गतानि रोमकूपाश्रितान्यर्चींषि रुध्वाऽन्तर्नयति, ततश्चाग्नेः प्रबलत्वं कुर्वद्दीपनं सम्पद्यते। यथा शीतकाले शीतानिलसस्पर्शरुद्धस्य जठराग्नेः प्रबलत्वम्।" बालादित्यस्तु व्याचष्टे "स्नानेन भ्राजकाख्यं त्वगाश्रितं पित्तमन्तः प्रविशदूष्माणमवर्धयति तेन तद्दीपनम्"। अत एव परिषेके जलमुष्णमिष्यते। यस्माच्छीतं निर्वापयति तेजो, न देहस्यान्तः प्रवेशयतीत्यरुणः। हेमाद्रिरपि–"स्नानं दीपनत्वादिगुणम्। अत्र कुर्यादित्यर्थसिद्धम्। दीपनं प्रभावात् केचिदत्र युक्तिमाहुः

स्नान का गुण रक्त का शुद्ध करना भी बताते[1] हैं।

स्नान-देवार्चनादि करने के अनन्तर अब आचार्य अन्न-पान-विधि से भोजन करने का उपदेश करते हैं—

अन्नपानविधानेन भुञ्जीतान्न विनात्ययात्।
अभिनन्द्य प्रसन्नात्मा हुत्वा दत्वा च शक्तितः॥
पक्वं सजलमेकान्ते यथासुखमविब्रुवन्[2]।
प्रयच्छेत्सर्वमुद्दिश्य पाचयेन्नान्नमात्मने॥
नान्नमद्यान्मुमूर्षूणां मृतानां दुःखजीविनाम्।
स्त्री-जित-क्लीब-पतितक्रूर-दुष्कृतकारिणाम्॥
गणान्गणिकासत्त्रधूर्तान्नापणिकं च न।
नोत्सङ्गे भक्षयेद् भक्ष्यान् जलं नाञ्जलिना पिबेत्॥
सर्वं च तिलसंबद्धं नाद्यादस्तमिते रवौ।
न भुक्तमात्र आयस्येन्न निषिद्धं भजेत्सुखम्॥

अन्नपानादिविधि—स्नान देवार्चन के पश्चात् अग्निमुख मे हवन कर, यथाशक्ति दानकर, पचाये हुए (परिपक्व) जलसहित अन्न का बखान करता हुआ प्रसन्न हृदय से एकान्त में जिस में सुख हो, जो मात्रासे अधिक न हो इस प्रकार अन्नपान-विधिसे कुछ भी न बोलता हुआ (मौन होकर) भोजन करे और सब प्राणियों (गाय, कुत्ता, बिल्ली आदि) को भी प्रदान करे। केवल अपने लिए ही अन्न का पाक न करे। थोड़े समय में मरनेवाला, मृतक, दु ख से जीवन व्यतीत करनेवाला, स्त्री, जिसको लडाई में जीत लिया हो, नपुसक, पापी, क्रूर, दुष्कृत (निन्द्यकर्म) करनेवाला, इनके अन्न को तथा जिसके अनेक मालिक हों, जो भूतप्रेतादि के लिए बलि दिया हुआ हो ऐसे तथा शत्रु, वेश्या, यज्ञ, धूर्त, अन्नविक्रेता वणिक् इनके अन्न को भी नहीं खाना चाहिए। उत्सङ्ग अर्थात् कमर तक ऊचा पल्ले में लेकर खाने के पदार्थों को न खावे। अंजलि से जल न पीवे। सूर्यास्त समय में भी अन्न का सेवन न करे। तिलसम्बद्ध सभी वस्तुओं को न खावे। भोजन करके तुरन्त ही व्यायाम न करे और न शास्त्रवर्जित सुखों का उपभोग करे।

भोजन के अनन्तर अब आचार्य मध्याह्न के कर्तव्यों को बताकर और भी उपदेश करते हैं—

धर्मोत्तराभिरर्थ्याभिः कथाभिस्त्रिगुणात्मभिः।
मध्यं दिनस्य गमयेदिष्ट शिष्ट-सहायवान्॥
न लोकभूपविद्विष्टैर्न संगच्छेत नास्तिकैः।
कलिवैररुचिर्न स्याद्धीरः संपद्विपत्तिषु॥
श्रुतादन्यत्र सन्तुष्टस्तत्रैव च कुतूहली।
शान्तिमान् दक्षिणो दक्षः सुसमीक्षितकार्यकृत्॥
ह्रीमान् धीमान् महोत्साहः सविभागी प्रियातिथिः।
अक्षुद्रवृत्तिर्गम्भीरः साधुराश्रितवत्सलः॥
दाता पितृभ्य' पिण्डस्य यष्टा होता कृपात्मकः।
अनुज्ञाता सुखार्तानां दीनानामनुकम्पकः॥
आश्वासकारी भीतानां क्रुद्धानामनुनायकः।
पूर्वाभिभाषी सुमुखः सुशील. पूज्यपूज्यक.॥
वित्तबन्धुवयोविद्यावृत्तैः पूज्या यथोत्तरम्।

म याह्न के काय—दिन का मध्याह्न काल अपनी इच्छा के अनुसार आज्ञाधारक सहायकों के साथ मे धर्ममय तथा अर्थमय (जिन में काम की मात्रा कम हो) ऐसी त्रिगुणमयी कथाओं में व्यतीत करे। जिन कथाओं से धर्म की स्थिति, अर्थ की वृद्धि एव काम का क्षय[1] हो। प्रजा और राजा से द्वेष करनेवाले तथा इहपरलोकादि को न माननेवाले नास्तिकों[2] के साथ न रहे। कलह और वैर में रुचि न रक्खे और सुख दु ख में धैर्य धारण करे। शास्त्रश्रवण के विना अन्यत्र कहीं सुनी सुनाई बातों को सुनकर वहीं सन्तुष्ट और प्रसन्न हो। साराश यह कि शास्त्रीय धर्मवार्ताओं को सुनकर कभी सन्तुष्टि न माने, सदैव सुनकर उनका प्रचार करे किन्तु इसके विपरीत सुनी सुनाई बातों को वहीं सुन लेवे जहा तहा कहता[3] न फिरे। इसके सिवा सब प्राणियों के विषय में मनुष्य को चाहिये कि उसको क्षमावान्, सरल, उदार, चतुर, भलीभाति देखभालकर कार्य करनेवाला, लज्जायुक्त, बुद्धिमान्, बडा उत्साही, सबका बराबर हितैषी, अतिथि को देख प्रसन्न होने वाला, कृपणतारहित, गम्भीर (नम्र), सज्जन, आश्रितों पर प्रेम करनेवाला, पितरों के अर्थ पिण्डदान देनेवाला, पूजन और हवन करनेवाला, दयालु, अच्छी बातों का उपदेष्टा, दीनों पर दया करनेवाला, डरे हुओं को धीरज देनेवाला, कुपितों से विनयवान्, सामने होकर बोलनेवाला, प्रसन्नमुख, सुशील और सेवा करने के योग्य सज्जनों की सेवा करनेवाला रहना चाहिये। ध्यान रहे कि धनवान् से बड़े कुटुम्बवाला, कुटुम्बी से वयोवृद्ध और वयोवृद्ध से विद्यावृद्ध और विद्यावृद्ध से भी सुशील ये अधिकाधिक सेवा के अधिकारी हैं। अत इन सब की सेवा करे।

इसी प्रकार आचार्य और भी उपदेश करते हैं कि—

आत्मद्रुहममर्याद मूढमुज्झितसत्पथम्।
सुतरामभ्युपेक्षेत[4] नरकार्चिष्मदिन्धनम्॥
धर्म्यमर्थ्यं प्रियं तथ्यं मितं पथ्यं वदेद्वचः।
नात्मानमवजानीयान्न स्नुयान्न च पीडयेत्॥

"बाह्योऽङ्गसेकै शीताद्यैरूष्मान्तर्याति पीडित । नरस्य स्नानमात्र स्य दीप्यते तेन पावक । इति

१ रक्तप्रसादन चापि स्नानमग्नेश्च दीपनम्। इति।

२ खसञ्ज्ञकपुस्तकममतोऽय पाठ साधुरिति मत्वा व्याख्यातोऽस्माभि । इन्दुस्तु "यथासुखमिति ब्रुवन्" इति पठति व्याख्याति च "यथासुखमिति मन्त्रपदमिव ब्रुवन् दद्यात् । सर्वभूत ग्राममुद्दिश्य, एकान्ते पाक सर्वमाहार्यं सोदकमिति॥

१ धर्मप्रधानाभि, मध्यार्थाभि, अर्थबलात्स्वल्पकामाभि। एव त्रिगुणात्मभि त्रिगुणो धर्मादीनां स्थानवृद्धिक्षयलक्षण। इतीन्दु।

२ अदृष्ट नास्तीति बोद्धारो, नास्तिका।

३ शास्त्रश्रवणाद यत्राशनादिके सन्तुष्ट, श्रुते त्वसन्तुष्ट, तत्रैव च श्रुतशेषविषये कुतूहलवान्॥ इतीदु।

४ सुतरामनुकम्पेन इति पाठान्तरम्।

न हीनानवमन्येत वृत्तार्थाङ्गबलश्रुतैः ।
नारुन्तुदः स्यान्न क्रूरो न तीक्ष्णो नोपतापवान् ॥
हेतावीर्ष्येन्न तु फले पापं पापेऽपि नाचरेत् ।
परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्क्रुद्धो नैनं निपातयेत् ॥
अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शासनार्हाद्धिताशयः ।
नृत्यवादित्रगीतादिनोल्बणां नाचरेत् क्रियाम् ॥
प्रसिद्धकेशवाग्वेषशमसान्त्वपरायणः ।
ऊर्ध्वं[1] नाभेः शरीरस्य स्पर्शेन्नाधरवाससा ॥
न कुर्यान्मिथुनीभूय शौचं प्रति विलम्बनम् ।
नासंवृतमुखो हास्यक्षवोद्गारविजृम्भणम् ॥
पाणिद्वयेन युगपत्कण्डूयेन्नात्मनः शिरः ।
वहेन्न भारं शिरसा युगपच्चाग्निवारिणी ॥
नासिकां न विकुष्णीयाद्दशनान्न विघट्टयेत् ।
कुर्याद्विलेखनच्छेदभेदास्फोटनमर्दनम् ॥
(नाकार्यं न च कार्येऽपि मुखाङ्गनखशादनम्) ।
पादं पादेन नाक्रामेन्न कण्डूयेन्न शौचयेत् ॥
न कांस्यभाजने तौ च नोपविष्टः प्रसारयेत् ।
अभीक्ष्णं निर्मलान् दध्यान्नखपादमलाशयान् ॥
नासमिद्धमुपासीत हुताशं नैव चाशुचिः ।
नानुवातं न विवृतो न क्लान्तो नान्यमानसः ॥
धमेन्नास्येन न स्कन्देन्नाधः कुर्यान्न पादतः ।
सततं न निरीक्षेत चलसूक्ष्माप्रियाणि च ॥
नाप्रशस्तं न विण्मूत्रं न दर्पणममार्जितम् ।
उद्यन्तमस्तमायान्तं तपन्तं प्रतिमागतम् ॥
उपरक्तं च भास्वन्तं वाससा वा तिरोहितम् ।
नान्यदप्यतितेजस्वि न क्रुद्धस्य गुरोर्मुखम् ॥
स्त्रियं स्रवन्तीं नोदक्यां न नग्नां नान्यसङ्गताम् ।
न पत्नीं भोजनस्वप्नक्षुतजृम्भा दुरासने ॥
शयीत नैकशयने न चाश्नीयात्तया सह ।
तामनीर्ष्यश्च गोपायेत्स्वैरिणीं नाधिवासयेत्[2] ॥
नोच्छिष्टस्तारकाराहुतुहिनांशुदिवाकरान् ।
पश्येन्न यायान्न पठेन्न स्वप्यान्न स्पृशेच्छिरः ॥
पाययन्तीं चरन्तीं वा नान्यस्मै गां निवेदयेत् ।
अर्केन्दुपरिवेषोल्काशक्रतुधनूंषि च ॥
नान्यद्रु देवार्चने कर्म कुर्याद्भावेन्न वर्षति ।
तिथिं पक्षस्य न ब्रूयान्नक्षत्राणि न निर्दिशेत् ॥
नात्मनो[3] जन्म लग्नर्क्षधनसारं गृहे मलम् ।
प्रकाशयेन्नावमानं न च निःस्नेहतां प्रभोः ॥

अन्य शमोपदेश—प्राणियों एवं मनुष्यों से द्रोह करने वाला, अपने कुल (जाति) की मर्यादा से हीन और सन्मार्ग को छोड़ देनेवाला पुरुष, नरकरूपी अग्नि का इन्धन होता है, अतः उस की संगति न करके उपेक्षा ही करे किन्तु इन्दु 'नितरामनुकम्पेत' इस पाठ को मानता हुआ कहता है कि ऐसे पुरुष को दया करके उपदेश कर सत्पथपर लाने का प्रयत्न[1] करे क्यों कि उपेक्षा करने से नरकाग्नि के इन्धन में वृद्धि होकर उसके अधिकाधिक भड़कने का भय होगा। सबको ऐसे वचन कहे जिनसे धर्म और अर्थ की सिद्धि हो, सुनने में प्रिय हो, सत्य, स्वल्प और सब के लिए हितकारी हों। न मनुष्य मात्र का अपमान करे और न अपनी ही अवज्ञा करे, न अपनी प्रशंसा करे और न निन्दा। अपने से बर्ताव, धन, शारीरिक बल तथा शास्त्र से हीनों (निर्बलों) का अपमान न करे। किसी का मर्मस्पर्शी शत्रु न बने, न क्रूर, कठोरवक्ता, क्रोधी और पड़ोसियों को दुःख देनेवाला हो। किसी की सफलतापर ईर्ष्या न करे। यदि ईर्ष्या ही करना हो तो उस की सफलता के मूल-हेतु (कारण) को लेकर करे अर्थात् उसे सफलता जिस सद्व्यापार से मिली हो उसी कर्म को वह भी करके सफलता प्राप्त करे। अपना अनिष्ट करनेवाले शत्रु या पापी के लिए भी इष्ट-चिन्तना करे अर्थात् बुराई करने वाले शत्रु की भी भलाई करे अपि तु शत्रु को भी दण्ड देने की इच्छा न करे और न उसका क्रोधवश होकर निपात करे।

पुत्र और शिष्य के सिवा जो दण्ड के योग्य हो उसे दण्ड न दे अपितु उसका हित करे (चाहे पुत्र तथा शिष्य को दण्ड दे परन्तु किसी दूसरे को दण्ड न देता हुआ उसकी भलाई ही करे)। नाचने, गाने और बजाने की क्रिया में अत्यन्त लिप्त न हो। केशों को नित्य संवारने, वाणी के बोलने, सुवेष धारण करने, शान्ति रखने तथा अत्यन्त मधुर बोलने में परायण अर्थात् चतुर हो। इन्दु इसी की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि "देश और काल से अप्रसिद्ध केश, वाणी, वेष, शान्ति और सान्त्व को धारण न करे"। नाभि के ऊपर के शरीर को निम्न भाग के शरीर के कपड़े से स्पर्श न करे। मैथुन करके शौच करने में विलम्ब न करे। मुँह को फाड़कर न हँसे, न छींके, न डकार ले और न जमुहाई ले। साराश यह कि इन क्रियाओं को मुख को हाथ से ढककर करे। दोनों हाथों से एकदम अपने सिर को न खुजावे। सिर के द्वारा भार न ढोवे और न एक साथ अग्नि तथा जल लेकर चले। बिना किसी कारण नाक को न सींके, न दातों को ही कुचरे और न पृथ्वी को खोदे। पत्थर, ढेला, वृक्ष, तृण, लकड़ी आदि को न तोड़े, फोड़े और मरोड़े[3]। पग से पग पर आक्रमण न करे अर्थात् पगपर पग न चढ़ावे, न पग से पग को घिसे तथा धोवे और न बैठ कर दोनों पग कांसी के पात्र[4] में पसारे या धोवे। नित्य प्रति नखों,

१ प्रसाधयेत् इति पाठान्तरम्।

२ नाशयेद्गृहम् इत्यपि पाठः।

३ आत्मा चित्ते धृतौ यत्ने धिषणायां कलेवरे। परमात्मनि जीवेऽर्के हुताशनसमीरयोः। इति मेदिनी

१ आत्मद्रोहादियुतमत्यन्तं कृपया सत्पथयोजनादिना परमनुकम्पेत। इति।

२ उपकारप्रधानः स्यादपकारपरेऽप्यरौ। इति।

३ न भूमिं विलिखेत्, न छिन्द्यात् तृणम्, न लोष्टं मृद्नीयात्। इति चरक

४ तौ पादौ कांस्यमये पात्रे कृत्वा न शौचयेत्। इतीन्दुः।

पगों, नेत्र, मुख, नाक, कान, गुद, लिंगादि मल[1] के स्थानों को निर्मल (साफ) रखे। समिधा के बिना, अपवित्र, उघाडे शरीर, थका हुआ, एव मन और जगह लगा हो ऐसी अवस्था से, जिस ओर वायु का जोर हो उस ओर बैठ कर अग्नि की उपासना न करे, न मुँह से फूँककर अग्नि को धमे या प्रदीप्त करे। न अग्नि को बिखेरे और न सोते बैठे समय अग्नि को पगों से नीचे के भाग मे रखे। एकटक लगाकर नित्यप्रति चलायमान, सूक्ष्म एव अप्रिय वस्तुओं को न देखे और न अपवित्र मलमूत्र ही को देखे, न मलिन काच को देखे। उदय एव अस्त होते हुए, तपते हुए, प्रतिबिम्बित तथा ग्रहण[2] की अवस्था मे कपडे की आड करके सूर्य को तथा इसी प्रकार अन्य तेजस्वी (चमकती) हुई वस्तु को न देखे और न क्रुद्ध हुए गुरु के मुख को ही देखे। पेशाब करती हुई, रजस्वला, नग्न, अन्य पुरुष के साथ मिथुनीभूत स्त्री को न देखे। भोजन-शयन की अवस्था मे, छींक और जम्भाई लेती हुई, अच्छे आसन पर न बैठी हुई अपनी स्त्री को भी न देखे, न अपनी स्त्री के साथ एक ही आसन पर सोवे और न उस के साथ भोजन करे। ईर्ष्या न करता हुआ उस की रक्षा करे। जीवित भर्तार को छोड घर से बाहर निकल गई हो ऐसी स्वैरिणी[3] स्त्रीको अपने घर में न रहने दे। उच्छिष्ट[4] (भोजन के बाद जल से मुखादि शुद्धि न करते हुए या विना कारण) रहते तारे, चन्द्रमा, सूर्य एव चन्द्र-सूर्यग्रहण को न देखे, न कही जावे, न पढे, न सोये और सिर को स्पर्श करे। अपने बछडे को दूध पिलाती तथा दूसरे[5] के खेत मे चरती हुई गाय को किसी और को न बतावे और न दूसरे को सूर्य-चन्द्रमा के मण्डल, उल्का (अग्नि ज्वाला या बिजली) तथा इन्द्र-धनुष को भी दिखावे। देवता का पूजन करते हुए और काम न करे और बरसते हुए पानी मे न दौडे। यह किसी को न बतावे कि आज पक्ष[6] की अमावास्या, प्रतिपदा आदि अमुक तिथि है या अमुक नक्षत्र है। अपने जन्म के लग्न तथा नक्षत्र को न बतावे और यह भी प्रकट न करे कि मेरे पास इतना धन है, मुझ मे इतना बल है, या मेरे घर में अमुक[7] दोष है। यह भी न बतावे कि अमुक ने मेरा अपमान किया या मेरा मालिक मुझ पर प्रसन्न नहीं है। साराश यह कि इन बातों के प्रकट होने से शत्रुओं को अवसर (मौका) मिलता है और वे उसका बुरा कर सकते हैं।

पुरोवा[8]तातपरजस्तुषारपरुषानिलान् ।
अनृजु क्षवथूद्गारकासस्वप्नान्नमैथुनम् ॥
सशब्दमनिल हस्तभ्रूनेत्रोत्क्षेपवादिताम् ।
कूलच्छाया नृपद्विष्ट[1] (सुरापान[2]) व्यालदंष्ट्रिविषाणिन ।
हीनानार्यातिनिपुणसेवा विग्रहमुत्तमै ।
सन्ध्यास्वभ्यवहारस्त्रीस्वप्नाध्ययनचिन्तनम् ॥
आरोग्यजीवितैश्वर्यविद्यामुस्थितिमानिताम् ।
तोयाग्निपूज्यमध्येन यान धूम शवाश्रयम् ॥
मद्यातिसक्ति विस्रम्भस्वातन्त्र्ये स्त्रीपु च त्यजेत् ।
नैकाहमप्यधिवसेद्वास्तु तच्छास्त्रगर्हितम् ॥
न देश व्याधिबहुल नावैद्य नान्यनायकम् ।
नाधर्मिजनभूयिष्ठ नोपसृष्ट न पर्वतम् ॥

पुरोवातादिनिषेध—पूर्व-दिशा की ओर से आनेवाले पवन (पुरोवात) तथा अपने मुख के सामने की दिशा से आनेवाले (धूप-लू), धूल, हिम (कुहिरा), प्रचण्ड वात (आधी) इन पाचों को त्यागे अर्थात् इन से बचे। शरीर की विषमावस्था में (समावस्था के अतिरिक्त टेढे-मेढे शरीर से) छींक, डकार, खाँसी, शयन, भोजन और मैथुन न करे। शब्द-सहित अपान वायु का त्याग न करे और न ऐसी कोई बात करे जिसे लोग हाथ, भौह और नेत्रों के इशारे से निषेध करते हों अथवा हाथ, भौह और नेत्रो को ऊचे उठा उठाकर न बोले। नदी के कूल (किनारा) की छाया में न बैठे क्योंकि उस के ऊपर गिरने का भय रहता है। नृपद्विष्ट अर्थात् राजा जिससे द्वेष रखता हो उसे भी छोड दे (यहा इन्दुसम्मत तथैव मूल मुद्रित पाठ 'सुरापान' ठीक प्रतीत नही होता क्यों कि आगे मद्यातिसक्ति यह पाठ है अत अष्टाङ्ग-हृदयसमत नृपद्विष्ट पाठ ही ठीक प्रतीत होता है।) व्याल (दुष्ट हाथी आदि), दष्ट्री (सर्प आदि) तथा सींगवाले (गाय बैल) आदि से भी बचे। ऐसों की सेवा मे न रहे जो कुल-शील-धन आदि से हीन, अनार्य (असाधु-दुर्जन) हों और जो अतिनिन्दा के पात्र ठहर गये हों। उत्तम (सज्जन) पुरुषों से लड़ाई झगड़ा न करे। दिन रात की सन्धियों अर्थात् प्रात और सायकाल में भोजन, स्त्रीसभोग, शयन, अध्ययन (पढ़ना) और अध्ययन किए हुए विषय का चिन्तन (विचार-विमर्श) न करे। यह अभिमान न करे कि मै नीरोग, जिन्दा (जीवित), धनवान्, विद्वान् और अच्छी स्थिति में हूं, क्यों कि ये बाते किसी की स्थिर नही रहतीं। जल, अग्नि और पूज्यों के बीच मे से सवारी कर के न चले और न मृतक के सम्बन्ध का धूम (धुआँ) ही ग्रहण करे। मद्य मे अधिक आसक्ति (प्रेम) न करे, स्त्रियों का विश्वास न करे और न उन्हें स्वतन्त्रता ही दे। उस घर मे एक दिन भी न रहे अर्थात् जिसका वास्तुकर्म नहीं हुआ हो अत शास्त्र से निन्द्य हो। न ऐसे देश मे ही रहे जिसमे बहुत रोग फैला हुआ हो, जहा वैद्य न हो और जिसका कोई शासक न हो। ऐसे देश में भी न रहे जिसमे अधर्मियों की अधिकता हो और महामारी आदि

१ द्वे अध, सप्त शिरसि, खानि स्वेदमुखानि च। मलायनानि। इति चरक।

२ उपरक्तो राहुच्छादित।

३ भर्तार जीवन्त परित्यज्य स्वेच्छया गृहान्निर्गता स्वैरिणी। इतीन्दु

४ उच्छिष्ट अप्रपत।

५ न परशस्येपु गा चरन्तीं धावन्तीं वा परस्य ब्रूयात्। इति चरक।

६ पक्षस्य तिथिं न ब्रूयात्, अद्यामावास्येति न कस्मैचित्कथयेत् इत्यर्थ। पक्षस्य मध्ये सर्वां तिथिं न ब्रूयादिति केचित्। इतीन्दु।

७ गृहे मल गृहदोषमितीन्दु।

८ "पुरोवात पूर्वदिगागतो वात"

१ नृपद्विष्टमिति अष्टाङ्गहृदयस्थ पाठ एव साधु न तु सुरापानम् इतीन्दुसमत, मद्यातिसक्तिम् इत्यग्रे पाठदर्शनात्।

२ आरोग्यादीना स्थिरज्ञान विश्वास, अहमरोग अह गृहीतविद्य इत्यादिक त्यजेत् उपेक्षया नाशभयादितीन्दु।

के कारण जिसको लोगों ने छोड दिया हो। पर्वत पर भी न रहे क्यों कि उसमे हिंस्र पशुओं और चोरों का भय रहता है।

अब आचार्य सुखकारी निवासस्थानों का वर्णन करते हैं।—

वसेत्प्राज्यामुभैषज्यसमित्पुष्पतृणेन्धने ।
सुभिक्षक्षेमरम्यान्ते पण्डितैर्मण्डिते पुरे ॥
नरामराणां सिद्धानां शास्त्राणां चाजुगुप्सकः ।
आराधकस्त्रिवर्गस्य यथायोग्यं जनस्य च ॥
दश कर्मपथान्रक्षन् जयन्नभ्यन्तरानरीन् ।
हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशुन्यं परुषानृतम् ॥
सम्भिन्नालापं व्यापादमभिध्यां दृग्विपर्ययम् ।
पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत् ॥
परोपघातक्रियया वर्जयेदर्जनं श्रियः ।
अर्थानां धर्मलब्धानामदाताऽपि ह्यसम्भवात् ॥
स्वर्गापवर्गविभवानयत्नेनाधितिष्ठति ।

सुखकरनिवासनिर्देश—ऐसे नगर मे रहना चाहिए जिसमें जल, औषधियाँ, समिधा, पुष्प, घास और इधन ये पर्याप्त हों, जो पण्डितों से मण्डित (शोभायमान) हो अर्थात् जहा अनेक विद्वान् रहते हों और जो चारों ओर से सुकाल, क्षेम (कुशल) और रम्य (सुन्दर) हो। मनुष्य को चाहिए कि वह मनुष्यों, देवताओं, सिद्धों एव शास्त्रों से द्वेष करनेवाला न हो। किन्तु वह त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) एव लोगों की यथा योग्य आराधना करनेवाला हो, उसे चाहिए कि वह दश कर्म-मार्गों से अपनी रक्षा करता हुआ काम-क्रोध—लोभ-मोहादि आन्तरिक शत्रुओं को जीते। दस कर्मपथ ये हैं—हिंसा (प्राणियों का वध), चोरी (परद्रव्य का अपहरण), अगम्यागमन, पीठ पीछे छुपकर दूसरे की बुराई, दूसरे की प्रत्यक्ष निन्दा, झूठे बोलना, असत्प्रलाप (दूसरे को दु ख हो ऐसा बकना), जीवधारियों का बुरा चिंतन, परधनहरण की इच्छा और शास्त्रों मे अप्रमाण बुद्धि (नास्तिकता), अत इन दस पापकर्मों का शरीर, वाणी और मन से त्याग करे अर्थात् हिंसा, चोरी और अगम्यागमन को शरीर से त्यागे। छुपकर निन्दा, प्रत्यक्ष कठोर वचन, असत्य भाषण और अण्डबण्ड बकना, वाणी से त्यागे एव अन्याय से दूसरे के धन हरने की इच्छा, जीव का अनिष्ट चिन्तन तथा शास्त्रों में अविश्वास इन्हें मन से त्याग दे।

दूसरे का अपघात अर्थात् किसी की हिंसा का काम करके धन का कमाना छोड दे। (साराश, ऐसे दुष्कर्मों द्वारा कमाये हुए धन का दान न करनेवाला भी इस और पर लोक के सुख को अनायास ही प्राप्त कर सकता है। इन्दुसमतपाठ से–जिसे धर्म की रीति से धन की प्राप्ति न हुई हो, वह बिना दान दिए भी अनायास इह और परलोक के सुखों को प्राप्त करता है) इसी प्रकार अब आचार्य रात्रिचर्याका उपदेश करते है।

सायं भुक्त्वा लघु हितं समाहितमनाः शुचिः ।
शास्तारमनुसंस्मृत्य स्वशय्यां चाथ संविशेत् ॥
देशे शुचावनाकीर्णे द्वित्राप्तपरिचारकः ।
युक्तोपधानं स्वास्तीर्णं विस्तीर्णाविषमं सुखम् ॥
जानुतुल्यं मृदु शुभं सेवेत शयनासनम् ।
प्राग्दक्षिणशिराः पादावकुर्वाणो गुरून् प्रति ॥
पूर्वापरनिशाभागे धर्ममेवानुचिन्तयेत् ।

रात्रिचर्या—सायकाल मे हल्का, हितकारी भोजन करके, दो तीन सेवकों को साथ लेकर शुद्ध एव एकाग्रचित्त होकर बारबार परमात्मा एव अपने शासक का स्मरण करता हुआ जहा लोगों का गलबला न हो, ऐसी एकान्त शुद्ध जगह पर बिछी हुई अपनी शय्या पर प्रविष्ट होवे। शयन करने का श्रेष्ठ आसन ऐसा होना चाहिए कि जिस पर स्वच्छ कपड़ा बिछा हो, जिस पर योग्य तकिया लगा हो, सोने के लिए जो पर्याप्त हो, ऊँचानीचा न हो, गोडे की बराबर ऊ चा हो, नरम और सुखदायी हो। ऐसे आसन पर पूर्व और दक्षिण की ओर सिर करके, पगों को गुरुजनों की ओर न करके सोता हुआ रात्रि के पहिले और पिछले भाग मे धर्म का ही चिन्तन करे। 'पूर्वापर दिशो भागे' इस पाठ को मानता हुआ यहा इन्दु कहता है कि घर के पूर्व या पश्चिम भाग में सोने का आसन रक्खे और उस पर शयन करे।

आददीत सदा देहादित्थं सारमसारतः ।
बिभ्यत्प्रतिक्षणं मृत्योरयथायथचेष्टितात् ॥
आरोग्यविभवप्रज्ञावयोधर्मक्रियावतः ।
सुखमायुर्हितं चोक्तं विपरीतं विपर्यये ॥

मृत्यु का कोई नियम नही कि वह अमुक समय में ही आयगी अत उससे प्रतिक्षण (हरदम) डरता हुआ, असार शरीर से इस प्रकार (जैसे कि प्रथम वर्णन किया गया है) नित्य प्रति सार[2] (साधु आचरण) का ग्रहण करे क्योंकि आरोग्य सपत्ति, बुद्धि, वय और धर्म के अनुकूल क्रिया करनेवाले की आयु (जीवन) उसके लिए सुखी और हितकारी होता है और इसके विपरीत चलनेवाले का जीवन विपरीत अर्थात् दु खी और अहितकारी होता है।

सर्वतेजोनिधानं हि नृप इत्युच्यते भुवि ।
अदूषयन्मनस्तस्माद्भक्तिमांस्तमुपाचरेत् ॥
पर्यस्तिकोपाश्रयकोपहास-
विवादनिष्ठीवनजृम्भणानि ।
सर्वाः प्रकृत्यभ्यधिकाश्च चेष्टा-
स्तत्संनिधाने परिवर्जयेत्तु ॥

---

१ आधारक इति ख २ जयेन्नाभ्यन्तरानरीन् ३ बहूनर्थानाम् ४ दशकर्मपथा कायवाङ्मानसा। तत्र कायिकास्त्रय —प्राणातिपात, परद्रव्यापहार, अगम्यागमनमिति। वाचिकं चतुर्विधम्—असत्यवचन, परेषां भेदकृद्वचन, परुषवचन, असम्बद्धप्रलापश्च। मानसं त्रिविधम्, अभिध्या, व्यापादो, मिथ्यादृष्टिश्च। परस्वस्यान्यायेन स्पृहाऽभिध्या। व्यापाद सत्वविद्वेष। दृग्विपर्यय शास्त्रदृष्टिविपरीत्य नास्तिकत्वम् इतीन्दु।

१ इन्दुस्तु "पूर्वापरदिशो" भागे पठति व्याख्याति च "वेश्मन पूर्वे अपरे वा दिग्भागे शयनासनं सेवेत' इति। २ "एतदेव हि तत्सार देहे यत्साधुशीलता।"

राजसेवादिकथन—इस भूतल पर राजा को सब तेजों का निधान (कोष या खजाना) कहा जाता है अत निर्मल अन्त - करण से भक्तिपूर्वक उसकी सेवा करनी चाहिये । उसके सामने वस्त्रादि से अपनी पीठ और गोडों का लपेटना, पलङ्ग पर या भींत आदि से टेका लगाकर बैठना, हसी ठठ्ठा, वादविवाद, थूकना, जम्भाई और इसी प्रकार कोई प्रकृति विपरीत चेष्टा नहींकरनी चाहिये।

सत्त्वाद्यवस्थाविविधाश्च तास्ता
सम्यक् समीक्ष्यात्महित विदध्यात् ।
अन्योऽपि य कश्चिदिहास्ति मार्गो
हितोपदेशेषु भजेत त च ॥
इति चरितमुपेत सर्वजीवोपजीव्यः
प्रथितपृथुगुणौधो रक्षितो देवताभि ।
समधिकशतजीवी निर्वृत पुण्यकर्मा
व्रजति सुगतिनिम्नो देहभेदेऽपि तुष्टिम्॥

इत्यष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थाने तृतीयोऽध्याय ।

आत्महितोपदेश—सत्त्व, रज और तमोगुण की अथवा मन, बुद्धि और अहङ्कारादि की उन नानाप्रकार की अवस्थाओं का, जो समय समय पर प्राप्त हुआ करती है, भली भाति विचार करता हुआ अपनी आत्मा का हित करे क्योंकि धर्म में विघ्न करनेवाले रजोगुण और तमोगुण के विकारों का जीतना बड़ा ही कठिन होता है। इसी प्रकार मन, बुद्धि आदि प्रणीत हितोपदेश करनेवाले शास्त्रों मे और भी कोई मार्ग हो तो उसको भी ग्रहण करे । इस प्रकार करने से मनुष्य सब प्राणियों के लिए हित करनेवाले जीवन को प्राप्त कर बडे बडे सद्गुणोंके समूह से प्रख्यात होता है, देवता उसकी रक्षा करते हैं, सौ वर्षों से भी अधिक वह जीता है, सुखी और पुण्यकर्मा होकर वह सन्मार्गगामी और नम्र होता है । देह का नाश हो जाने पर वह भी मोक्ष को प्राप्त कर सन्तुष्ट होता है।

इत्यष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दी व्याख्यायां तृतीयोऽध्याय ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

ऋतुचर्यारम्भ—गत तृतीय अध्याय में स्वस्थवृत्त का वर्णन किया गया है वह ऋतुओं के अनुसार है, अत ऋतुचर्या का वर्णन करना आवश्यक होने से अब उसका आरम्भ करते है।

अथात ऋतुचर्याध्यायव्याख्यास्याम । इति ह स्मा हुरात्रेयादयो महर्षय ।

तृतीय अध्याय के अनन्तर अब आचार्य कहते हैं कि हम ऋतुचर्या नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहिले आत्रेयादि महर्षि कर गये है। ऋतु काल के ही विभाग का नाम होने से अब काल का वर्णन करते है—

कालो हि नाम भगवाननादिनिधनो यथोपचित-कर्मानुसारी यदनुरोधादादित्यादय खादयश्च महाभूत-विशेषास्तथा तथा विपरिणमन्तो जन्मवता जन्ममरण स्यर्तुरसवीर्यदोषदेहबलव्यापत्सपदा च कारणत्व प्रत्य-यता प्रतिपद्यन्ते । स मात्राकाष्ठाकलानाडिकामुहूर्तया माहोरात्रपक्षमासर्त्वयनवर्षभेदेन द्वादशधा विभज्यते। तत्राक्षिनिमेषो मात्रा, ता' पञ्चदश काष्ठा। तास्त्रिशत्कला। ता सदशभागा विशतिर्नाडिका। नाडिकाद्वय मुहूर्तश्च। ते तुल्यरात्रिदिवे राशिभागे चत्वार पादोना याम । तैश्चतुभिरहो रात्रिश्च। पञ्चदशाहोरात्रा पक्ष । पक्षद्वय मास । स शुक्लान्त· तैर्मार्गशीर्षादिभिर्द्विसख्यै क्रमा-द्धेमन्तशिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरदाख्या षड् ऋतवो भवन्ति। तेषु शिशिरादयस्त्रयो रवेरुदगयनमादान च। शेषा दक्षिणायन विसर्गश्च। तावादानविसर्गौ वर्षम्।

कालविभागवर्णन—काल उसे कहते हैं जो ऐश्वर्यवान् है और जो आदिअन्त रहित है अर्थात् न जिसका कभी प्रारम्भ होता और न समाप्ति ही होती है। प्राणिमात्र के जैसे पूर्वसञ्चित कर्म होते है उन्हीं का अनुसरण वे करते हैं, वैसे ही जो पूर्वदेहसञ्चित कर्मों के अनुसार फल देनेवाला है, जिसके अनुरोध से सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रादि, आकाशादि (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी) पञ्चमहाभूतविशेष, प्रमाण, जाति-सस्थान और वर्णादि विशेष करके परिणाम को प्राप्त होते हुए जन्मधारियों के जन्म और मरण के तथा ऋतु, रस, वीर्य, दोष, देह और बल के ह्रास और वृद्धि के कारण होते हैं, वह काल कहलाता है। वही (काल) मात्रा, काष्ठा, कला, नाडिका, मुहूर्त्त, प्रहर, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन आर वर्ष के भेद से बारह प्रकारों में विभक्त है। सुश्रुत इस द्वादशधा काल-विभाग को याम (प्रहर) को छोड कर युगान्त मानता है। इनमे लघु अक्षर के उच्चारण मे जितना समय लगता है उसे अक्षिनिमेष कहते हैं उसी का पर्याय मात्रा है। पन्द्रह मात्राओं की एक काष्ठा और तीस काष्ठाओं की एक कला अर्थात् एक पल होता है। ये तीस कला, दश सहित बीस के मिलने से (३० + १० + २० = ६०) अर्थात् ६० कला या पल की एक नाडिका (घटी) तथा दो घटी का एक मुहूर्त्त होता है। दिन रात्रि के सम प्रमाण मे मुहूर्त्त के चतुर्थांश करके हीन ऐसे चार मुहूर्त्तों का अर्थात् ७॥ घटिका का एक प्रहर होता है। दिन-रात के न्यूनाधिक प्रमाण मे उनके चार चार प्रहरों का प्रमाण बुद्धि से निश्चय करना चाहिये। साराश यह कि दिनमान ३२ और रात्रिमान २८ होने से उनके प्रहरों का प्रमाण ७॥ घटी का न रहकर क्रमश ८ और ७ घटिका का ही माना जायगा। चार प्रहर की रात और चार ही प्रहर का दिन

१ पर्यस्तिका वस्त्रादिना स्वपृष्ठजानुपरिवेष्टनमिताऽ। 'पल्यङ्को मञ्चपर्यङ्कवृषीपर्यस्तिकासु च' इति मेदिनी। २. दुस्तरा हि धर्म-प्रतिबन्धका रजस्तमोविकारा इतीन्दु ।

१ तस्य मवत्सरात्मनो भगवानादित्यो गतिविशेषेणाक्षिनिमेषका ष्ठाकलामुहूर्ताहोरात्रपक्षमासर्त्वयन मवत्सरयुगप्रतिभाग करोति लघ्व क्षरोच्चारणमात्रोऽक्षिनिमेष इति।

होता है। दिन और रात्रि दोनों मिलकर अहोरात्र कहलाता है तथा १५ अहोरात्र का एक पक्ष, दो पक्ष (कृष्ण और शुक्ल) मिल कर एक मास जिसका अन्त शुक्ल पक्ष से होता है। मार्गशीर्षादि दो दो महीनों का मिलकर एक एक ऋतु होता है जिनके नाम क्रम से हेमन्त (मार्ग-पौष), शिशिर (माघ-फाग), वसन्त (चैत-वैशाख), ग्रीष्म (जेठ-आषाढ), वर्षा (श्रावण-भादों) और शरत् (आश्विन-कातिक) हैं। इनमे से शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म इन तीन ऋतुओं मे सूर्य का उत्तर की ओर प्रस्थान होता है अत इस काल का नाम उत्तरायण है। इसी का नाम आदानकाल है। शेष रही वर्षा, शरद और हेमन्त इन तीन ऋतुओं मे सूर्य का प्रस्थान दक्षिण की ओर होता है अत इन ऋतुओं के काल को दक्षिणायन कहते हैं। इसी का दूसरा नाम विसर्ग काल है। ये आदान और विसर्ग दोनों मिलकर एक वर्ष कहलाता है। अब आदान एव विसर्गकाल का स्पष्टीकरण कहते हैं। यथा—

तयोरादानमाग्नेयम्। तस्मिन् खलु कालस्वभावमार्गपरिगृहीतोऽत्यर्थोष्णगभस्तिजालमण्डलोऽर्कस्तत्सम्पर्काद्वायवश्च तीव्ररूक्षा सोमज गुणमुपशोषयन्तो जगत स्नेहमाददाना ऋतुक्रमेणोपजनितरौक्ष्या रूक्षान् रसास्तिक्तकषायकटुकानभिप्रबलयन्तो नृणा दौर्बल्यमावहन्ति।

विसर्गस्तु सौम्य। तस्मिन्नपि कालमार्गमेघवातवर्षाभिहतप्रभावे दक्षिणायनगेऽर्के शशिनि चाव्याहतबले शिशिराभिर्भाभि शश्वदाप्यायमाने माहेन्द्रसलिलप्रशान्तसतापे जगत्यरूक्षा रसा प्रवर्धन्तेऽम्ललवणमधुरा यथाक्रम बल चोपचीयते नृणामिति।

आदानविसर्गकालकथन—उक्त आदान और विसर्ग इन दोनों में आदान काल आग्नेय है अर्थात् उष्णताप्रधान है। इसमें आदानकाल के स्वभावानुसार मार्ग ग्रहण करनेवाले, अत्यन्त उष्ण किरणों के समूह तथा मण्डलवाले सूर्य और उसके सपर्क से अत्यन्त रूखे वायु सोम से उत्पन्न हुए गुण को सुखाते हुए, स्थावर जगम जगत् के स्नेह को ग्रहण करते (अपनी ओर खींच लेते) है और वे ऋतुक्रम से उत्तरोत्तर अत्यन्त रूक्षता प्राप्त वायु कटु, तिक्त और कषाय नामक रूखे रसों को प्रबल बनाते हुए मनुष्यों मे दुर्बलता पैदा करते हैं।

विसर्गकाल सौम्य (ठडा) है। इसमे भी सौम्यकाल स्वभाव के अनुसार मेघ के वायु और वर्षा से दक्षिणायन सूर्य का प्रभाव नष्ट होने तथा चन्द्रमा का बल निरन्तर रहने से शीतल प्रभाओं से नित्यप्रति तृप्त, माहेन्द्र सलिल (आकाश से बरसे हुए जल) करके मिट गई है सन्तप्तता जिसकी ऐसे स्थावर जगम जगत् में अरूक्ष (जो रूखे नही है ऐसे स्निग्ध) अम्ल, लवण और मधुर रसों की वृद्धि यथाक्रम होती और मनुष्यों के बलकी भी वृद्धि होती है।

भवति चात्र।

हेमन्ते शिशिरे चाग्र्य विसर्गादानयोर्बलम्।
शरद्वसन्तयोर्मध्य हीन वर्षानिदाघयो ॥

ऋतुमान से विसर्गादानका बलाबल—सारांश उपर्युक्त कथन का एक ही पद्य में यह है कि "विसर्ग और आदान में भी हेमन्त ऋतु में (विसर्ग का परमबल रहने से) तथा शिशिर मे (आदान के पूर्ण व्याप्त न होने से) मनुष्यों मे अधिक बल रहता है। शरद् और वसन्त मे (क्रमश आदान-विसर्ग की मध्यमता के कारण) मनुष्यों मे मध्यम बल रहता है। तथा वर्षा एव ग्रीष्ममे (क्रमसे विसर्ग की पूरी व्याप्ति न रहने से) और ग्रीष्म मे (आदानका परम प्रकर्ष रहने से) मनुष्यों में हीन बल रहता है।

विशेष वक्तव्य—ध्यान रहे कि शास्त्रकारों ने ऋतु का विभाग भिन्न भिन्न विषयों के ज्ञानार्थ चार प्रकार से किया है, जैसे कि दोषों के सचय, प्रकोप और शमनिमित्त से सुश्रुत के (१) भाद्रपदादि दो दो मासों के वर्षा, शरद्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म और प्रावृष। (२) उत्तरायण दक्षिणायन निमित्त से माघमासादि दो दो मास के शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् और हेमन्त। (३) वर्ष के या लक्षण-निमित्त से मार्गशीर्षादि दो दो मास के हेमन्तादि और राशिनिमित्त से मेषवृषादि दो दो सक्रान्तियों को लेकर ग्रीष्मादि।

इन सब का समन्वय करने से ऋतु के प्रकार तीन होते हैं, मास स्वरूप, राशि स्वरूप और लक्षण स्वरूप। मास स्वरूप इन का मार्गशीर्षादि, राशि—स्वरूप, मेषवृषादि और लक्षण स्वरूप हेमन्तादि जानना चाहिए। स्वस्थवृत्त के निर्वाहार्थ एव हीन, मिथ्या, अति और सम्यक् योग के ज्ञानार्थ ऋतुओं का लक्षण स्वरूप आवश्यक होने से अब आचार्य हेमन्तादि ऋतुओं का लक्षण वर्णन करते हैं।

धूमधूम्ररजोमन्दास्तुषाराविलमण्डला।
दिगादित्या मरुच्छैत्यादुत्तरो रोमहर्षण ॥
लोध्रप्रियङ्गुपुन्नागलवल्य कुसुमोज्ज्वला।
दृप्ता गजाज-महिष-वाजि-वायस-सूकरा ॥
हिमानी पटलच्छन्ना लीनमीनविहङ्गमा।
नद्य सबाष्पा सोष्माण कूपापश्च हिमागमे ॥
दहोष्माणो विशन्तोऽन्तःशीते शीतानिलाहता।
जठरे पिण्डितोष्माण प्रबल कुर्वतेऽनलम् ॥
विसर्गे बलिना प्राय स्वभावादिगुरुक्षमम्।
बृहणान्यन्नपानानि योजयेत्तस्य युक्तये ॥
अनिन्धनोऽन्यथा सीदेदग्निरुदीर्णं तयाऽथवा।
धातूनपि पचेदस्य ततस्तेषा क्षयान्मरुत् ॥
तेज सहचर कुप्येच्छीत शीते विशेषत।
अतो हिमे भजेत्स्निग्धान्स्वाद्वम्ललवणान्रसान् ॥
बिलेशयौदकानूपप्रसाहाना भृतानि च।
मासानि गुडपिष्टोत्थमद्यान्यभिनवानि च ॥
माषेक्षुक्षीरविकृतिवसातैलनवौदनान्।
व्यायामोद्वर्तनाभ्यङ्गस्वेदधूमाञ्जनातपान् ॥
सुखोदक शौचविधौ भूमिगर्भगृहाणि च।
साङ्गारयाना शय्या च कुथकम्बलसस्कृताम् ॥
कुङ्कुमेनानुलिप्ताङ्गो[1] गुरुणाऽगरुणाऽपि वा।

१ स्निग्धाङ्गो इ पा

लघ्वूर्णप्रावृत स्वप्यात्काले धूपाधिवासित ॥
पीनाङ्गनाङ्गसंसर्गनिवारितहिमानिल ।

हेमन्त के लक्षण और कर्त्तव्य—धुँए की तरह मलिन रज से दसों दिशाओं एवं सूर्य का धुंधला दिखाई देना, इसी प्रकार हिम से आच्छादित होने के कारण दिशाओं तथा सूर्यमण्डल का मैला दिखाई देना, रोमहर्षण (रोम रोम को खड़े कर देनेवाले) उत्तर दिशा की ओर के ठण्डे पवन का चलना, लोध, प्रियङ्गु, देवचम्पक या नागकेशर, हरफा रेवडी इन वृक्षों पर सुन्दर पुष्पों का उत्पन्न होना, हाथी, बकरा, भैंसा, घोडा, कौआ और सूअर का मदोन्मत्त होना, पाले या बरफ के समूह से नदियों का आच्छादित होना या उनके वेग का रुकना-उन में रहनेवाले पक्षियों एवं मछलियों के संचार का अवरोध और नदियों के जल पर बाष्पों का उठना, कुओं के जल का गरम रहना, ये लक्षण हेमन्त ऋतुके आने पर होते हैं। इस शीत (हेमन्त और शिशिर) ऋतु में या विसर्ग काल में शीतल पवन के झकोरों से आहत देह की गरमी भीतर की ओर प्रवेश करती हुई जाठराग्नि से मिश्रित होकर मात्रा, संयोग, संस्कार, परिणामादि स्वभाव से ही गरिष्ठ माषादि द्रव्योंतक को पचानेमें समर्थ, ऐसी प्रायः बलवानों की जठराग्निको प्रदीप्त कर देती है। अतः उस अग्निको ठीक रखने के लिए बृंहण (देह को पुष्ट करनेवाले) अन्नपानादि का सेवन करना चाहिए। यदि इस प्रकार बृंहण अन्नपानादि सेवन न किया जायगा तो इस आहाररूपी इन्धन को न पाकर जठराग्नि निरन्धन बाह्याग्नि की तरह या तो बुझ जायगी या अतिवृद्धि को प्राप्त होने के कारण रस, रक्तादि धातुओं को भी पाक करके नाश करेगी और धातुओं के क्षय हो जाने पर शीत काल में शीतगुण वायु भी अग्नि का सहचारी बनकर कुपित हो जायगा। उस वायु का कोप न हो, इस लिए हिमे (शीतकाल में) स्निग्ध (घृतादि से सिद्ध किए हुए) मधुर (मीठे) लवण (नमकीन) रसोंका सेवन करना चाहिए। तथैव बिलेशय-जल में-अनूप देश मे रहनेवाले, एवं प्रयत्नकर पुष्ट बनाए हुए भक्षण करने योग्य पशु-पक्षियों के मांसों का, गुड तथा पिष्ट से बनी गौडी-पैष्टी नवीन मदिरा का सेवन करना चाहिए। उड़द, ईख (शर्करा) और दूध के संयोग से बने अनेक प्रकार के पदार्थ, चर्बी, तेल, नवीन भात आदि अन्न, कसरत (व्यायाम), उबटन, तैलादिमर्दन, स्वेदविधि, धूमपान, अञ्जन, आतप (धूप में भ्रमण) शौचविधि में सुखोदक (कुनकुना जल), भूगर्भ मे बनाए हुए घर-गुफा जिन में सिगडी (अङ्गारधानी) नीचे या समीप में रखी हुई हो, ऐसी रूई से पूर्ण या कम्बलमयी शय्यापर, केसर या गहरे अगर से लिप्त, धूप से सुगन्धित शरीर, हृष्ट पुष्ट कामिनी के अंगसङ्ग से दूर कर दी है ठंढी पवन जिस ने उसे चाहिए कि वह हलके और गरम (रेशम आदि के बने) वस्त्रों को ओढ़ कर यथासमय शयन करे।

हेमन्त के अनन्तर अब शिशिर ऋतुचर्या का वर्णन करते हैं। यथा—

शिशिरे शीतमधिकं मेघमारुतवर्षजम् ।
रौक्ष्य चादानजं तस्मात्कार्य पूर्वोऽधिको विधिः ॥

शिशिर ऋतु के लक्षण और कर्त्तव्य—शिशिर ऋतु में मेघ, पवन और वर्षा से उत्पन्न हुआ शीत हेमन्त से अधिक होता है और आदान काल की रूक्षता भी होती है। इस लिए पूर्वोक्त (हेमन्त मे कही हुई) विधि अधिक रूप से करनी चाहिए। साराश यह है कि शिशिर ऋतु की बाहर की ठण्ढ से देह की उष्मा (गरमी) अत्यन्त रुकती ओर उस से जठराग्नि नितान्त प्रबल होती है। इधर आदानकाल की रूक्षता भी रहती है। इन दोनों के लिए हेमन्तोक्त विधि का विशेष रूपेण करना ही ठीक होता है—

अब आचार्य वसन्त ऋतु के लक्षण तथा विधि का वर्णन करते है।

वसन्ते दक्षिणो वायुराताम्रकिरणो रविः ।
नवप्रवालत्वक्पत्राः पादपाः ककुभोऽमलाः ॥
किंशुकाशोकचूतादिवनराजिविराजिताः ।
कोकिलालिकुलालापकलकोलाहलाकुलाः ॥
शिशिरे संचितः श्लेष्मा दिनकृद्भाभिरीरितः ।
तदा प्रबाधमानोऽग्निं रोगान् प्रकुरुते बहून् ॥
अतोऽस्मिंस्तीक्ष्णवमनधूमगण्डूषनावनम् ।
व्यायामोद्वर्तनक्षौद्रयवगोधूमजाङ्गलान् ॥
सेवेत सुहृदुद्यानयुवतीश्च मनोरमाः ।
स्नातः स्वलंकृतः स्रग्वी चन्दनागरुरूषितः ॥
विचित्रामत्रविन्यस्तान् सहकारोत्पलाङ्कितान् ।
निर्गदाश्चासवारिष्टशीधुमार्द्वीकमाधवान् ॥
क्वथितमुस्तशुण्ठ्यम्बु सारम्भः क्षौद्रवारि वा ।
गुरुशीतदिवास्वप्नस्निग्धाम्लमधुरास्त्यजेत् ॥

वसन्त ऋतु के लक्षण और कर्त्तव्य—वसन्त ऋतु मे दक्षिण की ओर का पवन, लाल रक्त किरणोंवाला सूर्य और नवीन कोंपल, छाल एवं पत्तवाले वृक्ष होते है। पलाश, अशोक, आम आदि के वनसमूहों से सभी दिशाएं निर्मल एवं सुशोभित तथैव कोयल और भ्रमरकुल के मधुर आलाप के कोलाहल से व्याप्त होती हैं। शिशिर ऋतु में संचित गाढा कफ सूर्य की किरणों से वसन्त मे पिघलता है, तब अग्नि को बाधा देता (मन्द करता) हुआ बहुतसे रोगों को उत्पन्न करता है।

इस लिए कफ के दोष को दूर करने के लिए वसन्त ऋतु में तेज वमन, धूमपान, गण्डूष (कुल्ली करने की विधि) तथा नस्यविधि का सेवन करे। व्यायाम (दण्ड-कसरत), उबटन, शहद, यव, गेहू, जागल (जांगल पशुओं का शूल्य मांस) तथा स्नान करके, चन्दन, अगर से शरीर को लिप्त कर अलंकार पुष्पमाला धारण कर, अपने मित्रों, बगीचों ओर सुन्दर युवती स्त्रियों का सेवन करे। आम और कमल से सुशोभित चित्रविचित्र (सुन्दर) पात्रों मे भरे हुए, नीरोग (अपायरहित) देश और काल के अनुकूल आसवों, अरिष्टों तथा शीधु, द्राक्षा और मधु-विनिर्मित मद्यों का अथवा नागरमोथा-सुण्ठी के क्वथित जल का, अनार के शरबत तथा शहदमिश्रित जल का सेवन करे। कफको कुपित करनेवाले गरिष्ठ, शीतद्रव्य, दिन मे शयन, स्निग्ध (घृत तैलादि), खट्टे, मधुर इन रसों का सेवन न करे।

अब ग्रीष्म ऋतु के लक्षण और उस में हिताहितचर्या का वर्णन करते है—

ग्रीष्मेऽतसीपुष्पनिभस्तीक्ष्णांशुर्दावदीपिता ।
दिशो ज्वलन्ति भूमिश्च मारुतो नैर्ऋत सुख ॥
पवनातपसस्वेदैर्जन्तवो ज्वरिता इव ।
तापार्तंतुङ्गमातङ्गमहिषै कलुषीकृता ॥
दिवाकरकराङ्गारनिकरक्षपिताम्भस ।
प्रवृद्धरोधसो नद्यश्छायाहीना महीरुहा ॥
विशीर्णजीर्णपर्णाश्च शुष्कवल्कलताङ्किता ।
आदत्ते जगत स्नेहांस्तदादित्यो भृश यत ॥
व्यायामातपकट्वम्ललवणोष्ण त्यजेदत ।
मद्यं न सेव्य स्वल्प वा सेव्य सुबहुवारि वा ॥
अन्यथा शोषशैथिल्यदाहमोहान् करोति तत् ।
नवमृद्भाजनस्थानि हृद्यानि सुरभीणि च ॥
पानकानि समन्थानि सिताढ्यानि हिमानि च ।
स्वादुशीत द्रव चान्न जाङ्गलान्मृगपक्षिण ॥
शालिक्षीरघृतद्राक्षानारिकेराम्बुशर्करा ।
तालवृन्तानिलान् हारान् स्रज सकमलोत्पलाः ॥
तन्वीमृणालवलया कान्ताश्चन्दनरूषिता ।
सरासि वापी सरित काननानि हिमानि च ॥
सुरभीणि निषेवेत वासासि सुलघूनि च ।
निष्पतद्यन्त्रसलिले स्वप्याद्धारागृहे दिवा ॥
रात्रौ चाकाशतलके सुगन्धिकुसुमास्तृते ।
कर्पूरचन्दनार्द्राङ्गो विरलानङ्गसगम ॥

ग्रीष्म ऋतुके लक्षण और कर्त्तव्य—ग्रीष्म ऋतु का सूर्य तेज किरणोंवाला, अलसी के पुष्प की तरह चारों ओर से नीले रङ्ग का होता है, दिशाये एव भूमि दावाग्नि से दीपित होकर जलती है अर्थात् नितान्त सन्तप्त रहती है। दक्षिण पश्चिम के बीच की विदिशा (नैर्ऋत) की ओर का सुखी पवन चलता है। गरमी, पवन और पसीनों के मारे सब जीव ज्वरित (सन्तप्त) से होते हैं। सन्ताप से दु खी ऊचे हाथियों और भैंसों द्वारा नदिया मैली कर दी जाती है जिनका जल सूर्य के किरणरूप अङ्गारसमूह से घट जाता और तट विस्तृत हो जाता है। पुरानी पत्तियों के झड जाने से सूखो छालवाले वृक्ष छाया-विहीन होते हैं। ससार के रसादि शुक्रान्त समस्त धातुओं के स्नेह को उस समय सूर्य ग्रहण कर लेता है, इसलिए ग्रीष्म में व्यायाम, धूप मे घूमना, चरपरे, खट्टे, नमकीन और उष्ण पदार्थों का त्याग करना चाहिये। मद्य नहीं पीना चाहिये। यदि पीना ही हो तो बहुत कम और वह भी बहुत से जल के साथ पीना चाहिये। इस प्रकार न किया जाने पर वह मद्य शोष, कमजोरी, दाह और बेहोशी करता है। इसलिए नवीन मिट्टी के वर्तनों मे रखे हुए, हृदय को बल देनेवाले, सुगन्धित, शर्करायुक्त शीतल नींबू, दाड़िम आदि के पान कों (शरबतों, तथा घृतमृदित नाना प्रकार के सत्तुओं (मथों) का) सेवन करे। इसी प्रकार ठढे, स्वादु, द्रव (पतले) अन्न, जगली पशुपक्षियों के मांस, चावल, दूध, घी, दाख, नारियल के भीतर का जल, शक्कर, तालपत्र के पखे की हवा, कमल पुष्पोंसहित नाना प्रकार के पुष्पों के हार तथा मालायें, कमल के ककण हैं हाथों में जिनके ऐसी चन्दनचर्चिता कृशाङ्गिनी-सुन्दर स्त्रियों, सरोवरों, बावलियों, नदियों, ठण्डे सुगन्धित वनों तथा सूक्ष्म-पतले (हल्के) कपडों का सेवन करे। जिसमें जलके फव्वारे चलते हों ऐसे धारागृह मे दिन को शयन करे और रात को जिसमे सुगन्धित पुष्प बिछे हों ऐसे आकाशतलक (घरके ऊपर के खुले पृष्ठभाग) में कपूर-चन्दन से गीले अङ्गवाला तथा बहुत कम मैथुन करनेवाला सोवे।

अब आचार्य क्रमागत वर्षा ऋतु का वर्णन करते हैं—

वर्षासु वारुणो वायु सर्वसस्यसमुद्गम ।
भिन्नेन्द्रनीलनीलाभ्रवृन्दमन्दाविल नभ ॥
दीर्घिका नववार्यौघमग्नसोपानपङ्क्तय ।
वारिधाराभृशाघातविकाशितसरोरुहा ॥
सरित सागराकारा भूरव्यक्तजलस्थला ।
मन्द्रस्तनितजीमूतशिखिदर्दुरनादिता ॥
इन्द्रगोपधनु खण्ड-विद्युदुद्योतदीपिता ।
परित श्यामलतृणा शिलीन्ध्रकुटजोज्ज्वला ॥
तदाऽऽदानाबले देहे मन्देऽग्नौ बाधिते पुन. ।
वृष्टिभूबाष्पतोयाम्लपाकदुष्टैश्चलादिभि ॥
वस्तिकर्म निषेवेत कृतसशोधनक्रम ।
पुराणशालिगोधूमयवान् यूषरसै कृतै ॥
निर्गद मदिरारिष्टमार्द्वीक स्वल्पमम्बु वा ।
दिव्य कथितकूपोत्थ चौण्डच सारसमेव वा ॥
वृष्टिवाताकुले त्वह्नि भोजन वलेदव तजित् ।
परिशुष्क लघु स्निग्धमुष्णाम्ललवण भजेत् ॥
प्रायोऽन्नपान सक्षौद्र सस्कृत च घनोदये ।
असरीसृपभूबाष्पशीतमारुतशीकरम् ॥
साग्नियान च भवन निर्दशमसकोन्दुरम् ।
प्रघर्षोद्वर्त्तनस्नानधूमगन्धागुरुप्रिय ॥
यायात्करेणुमुख्याभिश्चित्रस्रग्वस्त्रभूषित ।
नदीजलोदमन्थाह स्वप्नातिद्रवमैथुनम् ॥
तुषारपादचरणव्यायामार्ककरास्त्यजेत् ॥

वर्षा ऋतु के लक्षण और कर्त्तव्य—वर्षा ऋतु में पश्चिम दिशा की ओर का पवन चलता और सभी प्रकार के सस्यों (धान्यों) का उद्गम (बढ़ना या उगना) होता है। टूटे हुए नीलम के समान अधिक नीले रङ्गवाले बादलों के समूह से आकाश निस्तेज एव मैला होता है। खुदवाये हुए तालाब-तलाइयों के घाटों की पेढ़िया नवीन जल के समूह में डूब जाती है, अर्थात् सोपानपङ्क्तियोंपर जल के भरने से वे दिखाई नहीं देतीं। बारबार जलधारा के पड़ने से कमल फूलते हैं। नदियाँ सागर (समुद्र) के आकार हो जाती हैं। इतना ही नहीं, अधिक वर्षा से जलमयी हो जाने से भूमि अव्यक्तजलस्थला हो जाती है अर्थात् यह पता नही लगता कि उसपर के पहिले जलस्थल कहा हैं। उस भूमिपर गभीर गर्जनावाले मेघ, मोर,

---

१ आकाश तलक शरणपृष्ठम्, इतीन्दु । शरण गृहरक्षित्रो, इत्यमर०।

और दादुरों का नाद होता है। बीरवहूटी-इन्द्रधनु और बिजली की चमक से भूमि प्रकाशित होती है और वह चारों ओर घास के कारण श्यामला (हरी) तथा छत्राक और कुटज (कुड़ा) वृक्षों से उज्वल दिखाई देती है। उस समय वर्षा, भूमि की बाष्प तथा अम्लपाकी जल से कुपित वातादि दोषों करके आदानकाल के निर्बल शरीर के नितान्त मन्दाग्नि पीड़ित होने से वमन-विरेचनादि संशोधन कर्म के क्रम से वस्तिकर्म का सेवन करे। पुराने चावल, गेहू और यवों का सेवन, मूग आदि के स्नेह, शुण्ठी आदि के साथ पकाये हुए यूष-रसों एवं जांगल पशुपक्षियों के मास-रसों के साथ करे। वर्षा के अनुकूल ऐसे निर्गद (दोषरहित विशुद्ध) द्राक्षाकृत मद्य अथवा अरिष्ट (द्राक्षासव, द्राक्षारिष्ट) थोडे जल केसाथ पिये। आकाश से बरसा हुआ जल औटाकर पिये। इसी प्रकार, कूप, चौण्डय[1] (शिलातल पर बरसे तथा लताओं से ढके हुए) तथैव सरोवर के जल का पान करे। वर्षा और पवन अधिक हो तो उस दिन सूखा, हलका, स्निग्ध, उष्ण, अम्ल, नमकीन और कफवातहारक भोजन करे। वर्षाकाल मे उस काल के योग्य द्रव्यों द्वारा संस्कृत एवं शहद से समन्वित अन्नपान करे। सर्प-विच्छू-कनखजूरा, भूमि से बाफ का निकलना, शीतल हवा और सील ये जिनमें न हो, मच्छड और मूसे के दश का भय न हो, ऐसे सिगडी (अगारधानिका) सहित उष्ण घर में रहे। आचार्य के इस क्रम से अभिप्राय यह है कि प्रथम तिक्त घृतपान करावे। इससे पित्त शान्त न हो तो विरेचन (जुलाब) देवे। इससे भी यदि पित्त शान्त न होकर रक्त दूषित हो जाय तो फिर रक्तमोक्षण करावे क्योंकि काल स्वभाव से शरद ऋतु में प्राय रक्त दूषित होता है[2]। इसके अतिरिक्त वर्षा में प्रघर्ष (किसी ओषधि आदि से शरीर पर मर्दन करना, वस्त्रादिसे घिसना या पगचप्पी आदि) उबटन, स्नान, धूमगन्ध (अगरबत्ती आदिकी सुगन्धि), प्रिय और सुन्दर पुष्पमाला, तथा वस्त्रसे विभूषित हो कर, हस्तिनी आदि के वाहन पर बाहर निकले किन्तु अग्रिम पद्योक्त उपदेशानुसार पैदल विचरणादि न करे अर्थात् वर्षा ऋतुमें नदीका जल, जलमें घोले हुए घृताक्त सत्तू, दिनमे सोना, अतिद्रव पदार्थ, मैथुन, तुषार (हिम-बर्फ या जलकण), पैदल फिरना, व्यायाम (दण्ड-कसरत) और सूर्य के किरण, इनका परित्याग करे।

अब इसके आगे शरद ऋतु के लक्षण तथा चर्या का वर्णन करते हैं—

शरदि व्योम शुभ्राभ्रं किञ्चित् पङ्काङ्किता मही।
प्रकाशकाशसप्ताह्वकुमुदा शालिशीलिनी ॥
विक्षिप्ततीक्ष्णकिरणो मेघौघविगमाद्रविः।
बभ्रुवर्णोऽतिविमला क्रौञ्चमालाकुला दिशः ॥
कमलान्तरसलीन-मीनहंसाङ्ग(ङ्ग)घट्टनैः[1] ।
तुरङ्गभङ्गतुङ्गानि सरांसि विमलानि च ॥
वर्षाशीतोचिताङ्गाना सहसैवार्करश्मिभिः।
तप्ताना सचितं पूर्वं तदा पित्तं प्रकुप्यति ॥
शस्तं तिक्तहविः पान विरेकोऽस्रस्रुति सदा।
शीत लघ्वन्नपान च कषाय स्वादुतिक्तकम् ॥
शालिषष्टिकगोधूमयवमुद्गसितामधु ।
पटोलामलक द्राक्षा जाङ्गल क्षुद्रता भृशम् ।
दिवा दिवाकरकरैर्निशाकरकरैर्निशि ॥
सतप्त ह्लादित तोयमगस्त्येनाविषीकृतम् ।
निर्मल शुचि कालेन पक्व[2] पानेऽमृतोपमम् ।
हंसौघपक्षविक्षेपभ्रमद्भ्रमरपङ्क्तिषु ॥
सुसरोवरसेव्यासु सरसीषु प्लवेत च ।
लघुशुद्धाम्बरस्रग्वी शीतोशीरविलेपन ॥
सेवेत चन्द्रकिरणान् प्रदोषे सौधमाश्रित ।
तृप्तिदध्यातपक्षारवसातैलपुरोऽनिलान् ॥
तीक्ष्णमद्यदिवास्वप्नतुषाराश्च विवर्जयेत् ।

शरद् ऋतु के लक्षण और कर्त्तव्य—शरद् ऋतु मे आकाश स्वच्छ बादलोंवाला, पृथ्वी किञ्चित् कीचडवाली काश, सप्ताह्व (सप्तपर्ण-सतौना) कुमुद पुष्पों से प्रकाशित और शालि-तन्दुलोंवाली होती है। बादलों का समूह दूर हो जाने से सूर्य तीक्ष्ण किरणोंवाला होता है। क्रौञ्च पक्षियों की मालाओं (समूहों) से व्याप्त होने से सभी दिशाये निर्मल होती हैं। कमलों के बीच मे लीन मछलियों, हंसो, एवं अङ्ग पक्षियों के समूहोंवाले घाट हैं जिनके, ऊँची तरङ्गे उठ रही हैं जिनमें ऐसे निर्मल सरोवर होते हैं। वर्षा और तज्जनित शीत के अभ्यासी शरीरवाले मनुष्यों का शरीर सहसा (यकायक) सूर्यकिरणों से जब सतप्त होता है तब उनका, उस वर्षा-काल का पूर्व सञ्चित पित्त कुपित होता है। चरक के मत से पित्त प्राय कुपित होता है अर्थात् सम्यक् आहारविहारी का पित्त कदाचित् कुपित नही भी होता। तदा की जगह चरक में प्राय पाठ है जिसका अर्थ यह भी होता है कि शरद् ऋतु में प्राय (बहुत करके) पित्त कुपित होता ही है। अत पित्त की शान्ति के लिए इस ऋतु मे महातिक्त, पञ्चतिक्त आदि घृतों का पीना, विरेचन, रक्तमोक्षण कराना (फस्द खुलवाना), ठण्डे एवं हल्के अन्न पान करना, कषाय, मधुर और तिक्त रसों का सेवन करना, भोजन की इच्छावालों को साठी चावल-गेहू-जव-मूग-शर्करा-शहद-परवल-आवले-अगूर और जगली पशु पक्षियों का मासरस ये सब शरद् ऋतु में हितकारी होते है। दिन मे सूर्य की किरणों से सन्तप्त, रात्रि मे चन्द्रमा की किरणों से शीतल, शरद् ऋतु के स्वभाव से परिपक्व अर्थात्

१ चौण्डय यत्पर्वते शिलाकूपिकाभवम्, इतीन्दु ।

२ प्रव्यक्ताया शरदि तिक्तसर्पिःपान विरेकादि च कार्यम्। क्रमश्चात्राचार्यस्याभिप्रेतस्तेन प्रथम तिक्तसर्पिष्पान, तेन पित्ताप्रशान्तौ विरेक, तेनाप्यशान्तौ शोणित-दुष्टौ च सत्या रक्तमोक्षण, रक्त चात्र कालस्वभावाद्दुष्यत्येव प्राय। यदाह—"शरत्कालस्वभावाच्च शोणित सप्रदुष्यति" इति चक्रदत्त ।

१ हसाङ्गघट्टनैरित्यपि पाठ ।

२. कालेन पक्वम्। वर्षासु वर्षजन्यत्वात् अभिनव, तत्पुन शरदि कालस्वभावेन पक्वमतो निर्दोषम्। वर्षासु अभिनवभूमि-सबन्धजनितपैच्छिल्यगुरुत्वाम्लपाकत्वादिदोषरहितम्। अगस्त्येना-

वर्षाकाल मे वर्षा हुये नवीन एवं भूमिसबंध से उत्पन्न पैच्छिल्य, गुरुत्व और अम्लपाकत्वादि दोषोंसे रहित, अगस्त्येना-विषीकृत अर्थात् अगस्त्युदय के प्रभाव से वर्षाकालीन मेघ-सबध-सर्प-लूता-तन्तु-विष्ठा-मूत्र-जनित विष दूर हो गया है जिसका ऐसा शरत्कालीन निर्मल एव शुद्ध जल पीने मे अमृत के तुल्य होता है। चरक ने इस निर्मल जल को हसों के पीने योग्य, हसों की तरह स्वच्छ एव हस (सूर्य-चन्द्र) सबध के कारण हसोदक कहा है और इससे स्नान, पान, अव-गाहन में अर्थात् चिरकाल जल में रहना प्रशस्त माना है। इसी भाव से वाग्भटाचार्य ने भी पीने मे अमृतोपमम् कहकर आगे उपदेश किया है कि हसों के समूहों के पक्षविक्षेप एव भ्रमण करती हुई भ्रमरों की पक्तियों कर के सेवा योग्य सरो-वरों मे अवगाहन करे और बारीक स्वच्छ वस्त्र एव पुष्पमाला धारण कर, शीतल खस का लेपन कर प्रदोष (सन्ध्या) कालमे छतपर बैठकर चन्द्रमा की किरणों का सेवन करे। इस के विप-रीत तृप्ति (पेटभर खाना), तीक्ष्ण मद्य, दही, धूप में फिरना, क्षार-वसा-चर्बी-तेल-पूर्व दिशा की पवन-दिन मे सोना तथा तुषार (बरफ) इनका सेवन न करे।

इस प्रकार प्रत्येक ऋतु के लक्षण एव चर्या का वर्णन कर अब उपसहार मे कहते हैं—

नित्य सर्वरसाभ्यास स्वस्वाधिक्यमृतावृतौ ।
ऋत्वोरन्त्यादिसप्ताहावृतुसन्धिरिति स्मृत ॥
तत्र पूर्वो विधिस्त्याज्य सेवनीयोऽपर क्रमात् ।
असात्म्यजा हि रोगा स्यु सहसा त्यागशीलनात् ॥
ऋतुष्वेव विधिष्वेव विधि स्वास्थ्ये च देहिनाम् ।
निर्दिश्यतेऽन्यरूपेषु विरुद्धज्ञानिको विधि ॥
मासराशिस्वरूपाख्यमृतोर्यल्लक्षणत्रयम् ।
यथोत्तर भजेच्चर्यां तत्र तस्य बलादिति ॥

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थाने ऋतुचर्यानाम चतुर्थोऽध्याय ।

ऋतुचर्योपसहार—सब ऋतुओं में जिनका वर्णन किया गया है उन सभी रसों का अभ्यास (सेवन) नित्यप्रति अधिक रूप से करे। ऋतुओं के अन्त तथा आदि के सात सात दिन अर्थात् जो ऋतु समाप्त होने को हैं, उसके पिछले सात और जिस ऋतु का आरम्भ होता है उसके आदि के सात, इस प्रकार १४ दिन ऋतुसन्धि कहलाते हैं। इस सन्धिकाल में जो ऋतु समाप्त हो रहा है उसके आहारादि विधि का त्याग और जो ऋतु प्रारम्भ होता है उसके विधि का सेवन सहसा (एकदम) नहीं, किन्तु क्रम क्रम से करे। सहसा (एकदम) पूर्व-विधि का त्याग न करे क्योंकि एकदम त्याग करने से असात्म्यता के कारण अनेक रोगों के होने का सभव होता है। यह क्रम का निर्वाह पादेनापथ्यमभ्यस्तम्, इत्यादि से जैसे आगे कहा जायगा उस प्रकार से करे, जैसे कि ऋतुसन्धि के प्रथम दिन मे पूर्वाहार के तीन भाग और उत्तराहार का एक, दूसरे दिन पूर्वाहार, तीसरे दिन प्रथम दिन की तरह, चतुर्थ दिन आधा पूर्वाहार और आधा उत्तराहार, पाचवे छठे दिन प्रथम दिन वत्, सातवे दिन चतुर्थ दिन की तरह, आठवे दिन पूर्वाहार का एक भाग और तीन भाग उत्तराहार के, नवे दसवे और ग्यारहवे दिन चतुर्थ दिन की तरह, बारहवे दिन आठवें दिन की तरह, तेरहवे दिन उत्तराहार, चौदहवे दिन आठवे दिन की तरह और इसके आगे उत्तराहार ही करे।

यह बात भी नहीं है कि जिस प्रकार कहा गया है, सर्वथा उसी प्रकार किया जाय। स्वभावसात्म्य एव जागल और आनूप देश मे विषम धातु में अन्य धातुओं की तरह सात्म्यता लाने के लिए देह और देश के अनुसार अन्य ऋतु का विधि किसी अन्य ऋतु में भी करना चाहिये, क्योंकि यह चर्या रोगियों की भी अपेक्षा करती है। इसी लिए कहा भी है कि व्याधि, काल और बलाबल का विचार करके ही ऋतुचर्या का विधान किया जाय। इसी आशय को आचार्य आगे और भी स्पष्ट करते है कि—"मास, राशि और स्वरूप ये जो ऋतु के तीन लक्षण हैं, इनके बलाबलानुसार ही यथोत्तर चर्या का सेवन करे। साराश यह है, कि "जिस ऋतु का जो विधान निर्दिष्ट किया गया है, उस ऋतु के प्रारभिक मास में स्वल्प चर्या का सेवन किया जाय यदि यह समय राशि और स्वरूप इन दो लक्षणों से रहित हो। विपरीत इसके यदि मासारभ में कदाचित् राशि की भी प्राप्ति दृग्गोचर हो तो स्वल्प चर्या के सेवन में और भी कुछ स्वल्प पूर्ति करे परन्तु यदि मास, राशि और स्वरूप इन तीनों लक्षणों की प्राप्ति हो तो चर्या का सेवन परिपूर्ण रूपेण किया जाय[३]।

इत्यष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्याया चतुर्थोऽध्याय ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातो रोगानुत्पादनीय नामाध्याय व्याख्यास्याम । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय ।

इसके पश्चात् अब रोग उत्पन्न ही न हो ऐसे नामवाले या एतद्विषयक अध्याय की व्याख्या करते है जैसे कि पहिले आत्रेयादि महर्षियों ने की है।

विषीकृतम्। वर्षासु लूतादितन्तुविण्मूत्रविषदूषितत्वात्सविष तत्पुन-रगस्त्योदयेन निर्विषीकृतम्, एतच्च प्रभावात्। हसोपभोग्यतया हसव-दतिनैर्मल्याद्वा हसोदकम्। हसशब्देन सूर्यचन्द्रमसावभिधीयेते। ताभ्या शोधितमुदक हसोदकमिति चरकव्याख्याने योगीन्द्रनाथ श्चक्रदत्तश्च। अवगाहश्चिर जलावस्थानम्। इति चरक ।

१ ऋतुसन्धे प्रथमदिने पूर्वस्याहारस्य त्रय पादा उत्तरस्यैक। द्वितीये पूर्व एवाहार। तृतीये प्रथमदिनवत्। चतुर्थे पूर्वस्य द्वौ पादावुत्तरस्य द्वौ। पञ्चमषष्ठयो प्रथमवत्। सप्तमे चतुर्थवत्। अष्टमे पूर्वस्यैक उत्तरस्य त्रयम्। नवमदशमैकादशेषु चतुर्थवत्। द्वादशेऽष्टमवत्। त्रयोदशे उत्तराहार एव। चतुर्दशेऽष्टमवत्। अत परमुत्तर एवाहार। इति हेमाद्रि।

२ आनूपदेशे जाङ्गले वा विषमधातोरन्यधातुसात्म्योत्पादनार्थं देहदेशानुगुणमन्यर्तुविहितमृतुविधानमन्यस्मिन्नप्यृतावनुष्ठेयम्। न यथोक्त सर्वं सर्वथाऽनुष्ठेयमिति। इय च चर्या आर्तानप्यपेक्षते। "तामालोच्य प्रयुञ्जीत व्याधिकालबलाबलम्" भद्रमिति चन्द्रनन्दन।

३ "अस्य च ऋतोर्मासादिस्वरूपेण यल्लक्षणत्रय प्रसिद्ध तत्र यथोत्तर चर्या सेवेत यथोत्तरस्यैव बलवत्वात्" इत्यादि इन्दोर्व्याख्या नमवलोकनीय पाठकै ।

रोगानुत्पादनीयाध्याय—इससे पहिले के दो अध्यायों मे नियतकालिक विहार का वर्णन हुआ है किन्तु इससे आगे के अध्यायों में अनियतकालिक पञ्चविध विहार (वेगधारण, वेगोदीरण, शोधन, बृहण और भूतादि-अस्पर्शन) की व्याख्या की जायगी। यद्यपि हेतुस्कन्ध के सभी अध्याय रोगानुत्पादनीय ही हैं तथापि अतिशय प्रदर्शनार्थ इस अध्याय का ही नामकरण रोगानुत्पादनीय, किया गया है।

वात, मल, मूत्रादि के प्राप्त हुए वेगों को न रोका जाय तो रोगों की उत्पत्ति नहीं हो सकती इस लिए आचार्य उपदेश करते हैं कि—

वेगान्न धारयेद्वातविण्मूत्रक्षवतृट्क्षुधाम् ।
निद्राकासश्रमश्वासजृम्भाश्रुच्छर्दिरेतसाम् ॥

वातादिवेगधारणनिषेध—अधो वात, मल (विट्-पुरीष), मूत्र, छींक, प्यास, भूख, नींद, खाँसी, व्यायामजन्य श्वास, जम्भाई, आनन्द या शोक से उत्पन्न आसू , वमन और वीर्य के उत्पन्न हुए वेगों को न रोके क्योंकि इन वेगों के रोकने से रोगों की उत्पत्ति होती है । यहा सब से प्रथम वायु के वेग का निर्देश इस लिए किया गया है कि वह सब से प्रबल है। यहा १३ वेग निर्दिष्ट हैं किन्तु चरक के मत से डकार (उद्गार) के वेगसह १४ वेग होते है। यहा वाग्भट ने इस उद्गारवेग का अन्तर्भाव वात के वेग में ही कर दिया है जो आगे चलकर स्पष्ट होगा।

किस किस वेग के रोकने से कौन कौन से रोगों की उत्पत्ति हो सकती है और उन की सामान्य चिकित्सा क्या होनी चाहिए अब इस विषय का क्रम से वर्णन करते हैं।

अधोवातस्य रोधेन गुल्मोदावर्तरुक्क्लमाः ।
वातमूत्रशकृत्सङ्ग-दृष्ट्यग्निवधहृद्गदा ॥
स्नेहस्वेदविधिस्तत्र वर्तयो भोजनानि च ।
पानानि बस्तयश्चैव शस्त वातानुलोमनम् ॥

अधोवायु के अवरोध से होनेवाले रोग और उनका शमनोपाय—अधोवायु (पाद) के रोकने से गुल्म, उदावर्त, पेट मे (कोठे में) पीडा या शूल, ग्लानि, स्वाभाविक अधोवायु-मूत्र और दस्त का रुकना, नेत्रों से दिखाई न देना या तिमिर (नेत्रों के सामने अँधियारी का आना), अग्निमाद्य और हृद्रोग ये उत्पन्न होते है। वायु दो प्रकार का (अधोवायु और ऊर्ध्ववायु) होने पर भी उद्गारस्वरूप ऊर्ध्ववात से होनेवाले अरुचि आदि रोग सुखसाध्य होते है किन्तु अधोवात मलमूत्र के समान योग-क्षेमवाला एव गुल्मादि दु साध्य रोगों को करनेवाला होने से यहां उसका निर्देश पहिले किया गया है।

१ "यत पूर्वयोरध्याययोर्नियतकालो विहारो व्याख्यात । इहानियतकाल , स च पञ्चधा वेगधारण, वेगोदीरण, शोधन, बृहण, भूताद्यस्पर्शन च।" "रोगानुत्पादनीय च यद्यपि सर्वेषामध्यायाना तथाप्यस्यैव सज्ञाकरणमतिशयद्योतनार्थम्।" इति हेमाद्रि ।

२ एतान् धारयतो जातान् वेगान् रोगा भवन्ति ये। पृथक्पृथक्चिकित्सार्थं तन्मे निगदत शृणु" इति चरक । ३ रुक्पीडेत्यरुण । रुक्-कोष्ठशूलम् इति हेमाद्रि । ४ दृष्टिवध -तिमिरम् इति हेमाद्रि ।

५ ऊर्ध्ववातस्य उद्गाररूपस्य रोधात् सुखसाध्या अरुच्यादय ।

वायु के रोकने से होनेवाले विकारों मे स्नेहन-स्वेदनविधि तथा फलवर्तियों से उपचार करना, वायुहारक भोजन, सुखोष्णोदकपान, बस्तियों का देना और जिस किसी से वायु का अनुलोमन हो, उस क्रिया का करना अच्छा है।

शकृत पिण्डिकोद्वेष्ट-प्रतिश्यायशिरोरुज ।
ऊर्ध्ववायु परीकर्त्तो हृदयस्योपरोधनम् ॥
मुखेन विड्प्रवृत्तिश्च पूर्वोक्ताश्चामया स्मृता ।
अङ्गभङ्गाश्मरीबस्तिमेढ्रवङ्क्षणवेदना ॥
मूत्रस्य रोधात् पूर्वे च प्रायोरोगास्तदौषधम् ॥

मलमूत्रावरोध के रोग और उनकी चिकित्सा—मल (पुरीष) के रोकने से पिण्डलियों में ऐठन की सी पीडा, प्रतिश्याय (जुकाम) सिर का दुखना, वायु का ऊपर की ओर उठना और उससे मुख से मल का निकलना, पेट भर मे काटने की सी पीडा का होना, छाती (हृदय) का जकड जाना और पूर्वोक्त गुल्म, उदावर्तादि रोग होते हैं।

मूत्र के रोकने से अङ्गभङ्ग (शरीर) मे फूटनी (हाड्फूटन) और पथरी (अश्मरी) रोग होता है। वस्ति (पेडू), लिङ्ग और अण्डकोष में पीडा होती है और प्राय वे रोग भी होते है जो पहिले वायु और मल के रोकने मे कह आए हैं। अब अधोवायु मल-मूत्र के रोकने मे होनेवाले सभी रोगों के औषधोपचार का वर्णन करते है—

वर्त्यभ्यङ्गावगाहाश्च स्वेदन बस्तिकर्म च ।
अन्नपान च विड्भेदि विड्रोधोत्थेषु यक्ष्मसु ॥
मूत्रजेषु च पाने च प्राग्भक्त शस्यते घृतम् ।
जीर्णान्तिक चोत्तमया मात्रया योजनाद्वयम् ॥
अवपीडकमेतच्च सञ्ज्ञित ।

अधोवायु, मल और मूत्र के प्राप्त वेगों को रोकने से होनेवाली व्याधियोंमें मैनफल-घर का धुँआ-नमक आदि से बनाई हुई फलवर्तियों का गुदद्वार में देना, तैलादि से अभ्यङ्ग (मालिश) कराना, अवगाह (ओषधियों के साथ पकाए जल-तैलादि से पूर्ण द्रोणी (किसी बडे पात्र) में मलमूत्र मार्ग को डुबाकर बैठाना, तापादि भेद से आगे कहे जानेवाले चार प्रकार के स्वेदनकर्म का करना और बस्तिकर्म अर्थात् ओषधिकथित तैलादिका गुदमार्ग से अन्दर प्रवेश करना ये सब परमौषध हैं। यह अधोवायु-मल-मूत्र-रोध से उत्पन्न होनेवाले रोगों का साधारण (सामान्य) उपचार कहा। अब मलमूत्र के वेगरोध से होनेवाले रोगों का असाधारण उपचार कहते हैं ।

मल (पुरीष) के रोकने से होनेवाली व्याधियों में विशेषत विड्भेदि (बद्धमल को फोडकर बाहर निकालनेवाले) अन्नपान अर्थात् कुलथी-बटाना-उडद-अर्धस्विन्न गेहूं, चने आदि-बथुआ-मेढा-बकरा-मद्य-सुरा-मस्तु और काजी आदि

अत एवाधोवातरोधाद्ये रोगा अतिप्रत्यवायरूपा गुल्मादय , तेऽत्र पूर्वं निर्दिष्टा इत्यरुणदत्त ।

१ जठरे समन्ताच्छेदमिव परिकर्तनमितीन्दु ।

२ अर्धस्विन्नास्तु गोधूमा अन्येऽपि चणकादय । कुल्माषा गुरवो

का सेवन करावे और पूर्वोक्त फलवर्त्यादि कर्म भी करे।

मूत्रवेग के रोकने से होनेवाले रोगों में भोजन के पहिले अल्पमात्रा मे तथा भोजन के पचनकाल मे उत्तम मात्रा में (जो दिनरात में पच सके) घृतपान कराना चाहिये। भोजन के पहिले और जीर्णकाल में निरन्न घृतपान की दो बार योजना का नाम ही अवपीडक है।

वेगों के धारण करने (रोकने) से बहुधा करके वायु का ही कोप होता है और वायु के कोप को जीतने में तैल जितना श्रेष्ठ है उतना घृत नहीं है। इसलिए तैल का ही पान क्यों न कराया जाय? इस शङ्का का उत्तर यह है कि वस्तुत तैल वातहारक परमौषध है किन्तु बद्धविट्क और अल्पमूत्र-स्वभाववाला होने से उसका मलमूत्रावरोधजन्य रोगों में अवपीडक देना घृत की तरह कदापि उपकारी नही। इसलिए यहा घृतपान ही श्रेष्ठ है। अब डकार के वेग को रोकने से होनेवाले रोगों एव उनके सामान्य उपचार का वर्णन करते हैं—

धारणात्पुन ।
उद्गारस्यारुचि कम्पो विबन्धो हृदयोरसो ॥
आध्मानकासहिध्माश्च हिध्मावत्तत्र भेषजम् ।

डकार के वेग को रोकने से सब अङ्गों का कापना, हृदय और छाती में रस्सी आदि से जकडकर बाधने की सी पीडा, पेट का फूलना, खाँसी और हिक्का (हिचकी) ये रोग होते हैं। हिक्का रोग में कहे हुए उपचार की तरह इनमे औषध दे। यहाँ पुन शब्द उद्गारवायु का अन्तर्भाव पूर्वोक्त सामान्य ऊर्ध्वाधोवात से करने के लिए ही है। पूर्वोक्त मूल में वातविण्मूत्रादि १३ वेग ही कहे हैं। इसका अन्तर्भाव वायुवेगों में करने से चरकोक्त वेगों की सख्या १४ हो जाती है। अब छींक के वेगरोध से होनेवाले रोगों एव उनके उपचार का वर्णन करते हैं—

शिरोर्तीन्द्रियदौर्बल्यमन्यास्तम्भार्दित क्षुते ।
तीक्ष्णधूमाञ्जनाघ्राणनावनार्कविलोकनै ॥
प्रवर्तयेत्क्षुति सक्ता स्वेदाभ्यङ्गौ च शीलयेत् ।
योज्य वातघ्नमन्न च घृत चोत्तरभक्तकम् ॥

छींक के रोकने से होनेवाले रोग व उनकी चिकित्सा—छींक के रोकने से सिर मे पीडा, इन्द्रियदौर्बल्य, (शब्दस्पर्शरूपादि अपने विषयों के ग्रहण करने में इन्द्रियों की असमर्थता जैसे कि कानों से सुनाई न देना, आखों से दिखाई न देना इत्यादि), गर्दन का अकड जाना, अर्दित अर्थात् मुँह का एक ओर से टेढ़ा हो जाना ये रोग होते है।

रुकी हुई छींक को पुन लाने के लिए आगे धूमपानविधि में कहे हुए तीक्ष्ण धूमपान का करना अजन-विधि-कथित आखों मे तीक्ष्ण अजन का लगाना, नस्यविधि से नाक मे तीक्ष्ण नस्य देना और सूर्य की ओर देखना ये उपाय करे तथा स्वेद और अभ्यङ्ग भी करे। इनके अतिरिक्त वायु-हारक अन्न का तथा भोजन के बाद तुरन्त घृत का सेवन करना चाहिये।

शोषाङ्गसादबाधिर्यसमोहभ्रमहृद्गदा ।
तृष्णाया निग्रहात्तत्र शीत सर्वो विधिर्हित ॥

प्यास के रोकने से होनेवाले रोग व उनकी चिकित्सा—पिपासा के रोकने से शोष (क्षय), शरीर का उत्साह भङ्ग होकर शिथिल होना, कानों से सुनाई न देना, बेहोशी, चक्कर आना, हृद्रोग ये व्याधियाँ होती है। इनकी शान्ति के लिए शीत (ठण्डे) स्नान-अन्न-पानादिका सेवन करना हितकारी है।

अङ्गभङ्गारुचिग्लानिकार्श्यशूलभ्रमा क्षुध ।
तत्र योज्य लघु स्निग्धमुष्णमल्प च भोजनम् ॥

क्षुधावरोधजन्य रोग और उन के उपाय—भूख के रोकने से अङ्ग अङ्ग का फूटना, अरोचक, ग्लानि (अप्रसन्नता), दुबलापन, पक्वाशय अर्थात् कोठे में शूल तथा चक्कर आना ये रोग होते हैं। इन की शान्ति के लिए हलका (शालि आदि अन्न) स्निग्ध (घृत-मासरस) आदि से युक्त, उष्ण और थोड़ा मित-मात्रावत् भोजन करना चाहिये।

निद्राया मोहमूर्धाक्षिगौरवालस्यजृम्भिका ।
अङ्गमर्दश्च तत्रेष्ट स्वप्न सवाहनानि च ॥

नींद के रोकने से उत्पन्न रोग और चिकित्सा—नींद के वेग को रोकने से बेहोशी, सिर और आखों मे भारीपन (जड़ता), आलस, जम्भाइयों का आना, शरीर का टूटना (पीड़ा) ये रोग होते हैं। इन मे सोना और सुहाने योग्य धीरे धीरे शरीर का दबाना (मर्दन कराना) श्रेष्ठ कहा है।

कासस्य रोधात्तद्वृद्धि श्वासारुचिहृदामया ।
शोषो हिध्मा च कार्योऽत्र कासहा सुतरा विधि ॥

कासावरोध के रोग और उपाय—खासी के आए हुए वेग को रोकने से खासी में वृद्धि, श्वास, अरुचि, हृद्रोग, शोष (राजयक्ष्मा-क्षय), हिक्का ये रोग होते है। इन में कासरोगोक्त खासी की भलीभाति चिकित्सा करनी चाहिये।

गुल्महृद्रोगसमोहा श्रमश्वासाद्विधारितात् ।
हित विश्रमण तत्र वातघ्नश्च क्रियाक्रम ॥

श्रमजन्य श्वास के रोग और चिकित्सा—मार्ग चलने तथा व्यायामादिजन्य परिश्रम से सहसा उठे हुए श्वास के वेग को रोकने से गुल्म अर्थात् बायगोला, हृद्रोग, बेहोशी ये रोग उत्पन्न होते हैं। इन की शान्ति के लिए विश्राम तथा वायु-रोग में कही हुई वातशामक चिकित्सा हितकारी होती है।

जृम्भाया क्षववद्रोगा सर्वश्चानिलजिद्विधि ।

जम्भाई के रोकने से होनेवाले रोग और उनकी चिकित्सा—जम्भाई के रोकने से छींक रोकने की तरह (सिर में पीड़ा,

---

रूक्षा वातला भिन्नवर्चस ॥ इति भावमिश्रा। च शब्दात्पूर्वोक्त वर्त्यादि चेत्यरुण। १ अवपीडो द्विविध—ह्रस्वया मात्रया प्राग्भक्त प्रयोग। उत्तमतया अनन्नप्रयोगश्चेति हेमाद्रि। २ तैलस्य वातजितोऽपि बद्धविट्काल्पमूत्रस्वभावत्वादत्रायोग्य पानमिति अरुणदत्त। ३ हृदयोरसोर्विबन्ध रज्ज्वादिभिर्बध्यमानयोरिव दु खमिति हेमाद्रि। ४ पुन शब्द सामान्यनिर्दिष्टवातप्रकारोक्तशिष्टोद्गारा ख्यवातपरामर्शायेतीन्दु।

इन्द्रिय-दौर्बल्यादि) रोगों की उत्पत्ति होती है। इनके शमनार्थ सब विधि वायु को जीतनेवाली करनी चाहिए।

पीनसाक्षिशिरोहृद्रुङ्मन्यास्तम्भारुचिभ्रमाः ।
सगुल्मा बाष्पतस्तत्र स्वप्नो मद्यं प्रिया कथाः ॥

आंसू रोकने से उत्पन्न रोग और उनकी चिकित्सा—आंसुओं के रोकने से पीनस, आंखों तथा सिर और हृदय में पीडा, गर्दन का अकडना, अरुचि, चक्कर आना और गुल्म (बायगोला) ये रोग होते हैं। इन के निवारणार्थ सोना, द्राक्षा से बने हुए मद्य का पान करना या मनोहर धर्म-कथाओं का श्रवण करना परम श्रेष्ठ औषध है।

विसर्पकोठकुष्ठाक्षिकण्डूपाण्ड्वामयज्वराः ।
सकासश्वासहृल्लासव्यङ्गश्वयथवो वमेः ॥
गण्डूषधूमानाहारा रूक्षं भुक्त्वा तदुद्वमः ।
व्यायामः स्रुतिरस्रस्य शस्तं चात्र विरेचनम् ॥
सक्षारलवणं तैलमभ्यङ्गार्थं च शस्यते ॥

वमनावरोध के रोग और तदुपाय—वमन के वेग को रोकने से विसर्प, कोठ अर्थात् अंग में शोथ-सहित लाल-काले मंडलों का होना, कोढ, नेत्रव्याधि, कण्डू (पामा आदि खुजली के रोग), पाण्डु रोग, ज्वर, खांसी, श्वास, उबकाई (वमन का भास) व्यङ्ग (मुखपर काले दाग) और सूजन, इन रोगों की उत्पत्ति होती है। इन की शान्ति के लिए गण्डूष (ओषधियों द्वारा बने हुए क्वाथ के कुल्ले) करना, धूमपान, अनाहार (उपवास), रूक्ष अन्न खाकर उसकी उल्टी करना क्योंकि इससे कुपित हुआ प्राणवायु अपने मार्गपर आ जाता है। व्यायाम, रक्तमोक्षण (फस्द खुलवाना) तथा विरेचन (जुलाब) देना, क्षार और नमकयुक्त तेल का मर्दन, ये सब हितकारी होते हैं।

शुक्रात्तत्स्रवणं गुह्यवेदनाश्वयथुज्वराः ।
हृद्व्यथामूत्रसङ्गाङ्गभङ्गवृध्म्यश्मषण्ढताः ॥
ताम्रचूडसुराशालिबस्त्यभ्यङ्गावगाहनम् ।
वस्तिशुद्धिकरैः सिद्धं भजेत्क्षीरं प्रियाः स्त्रियः ॥
तत्र सेवेत ॥

वीर्य के रोकने से होनेवाले रोग और उनकी चिकित्सा—वीर्य के अवरोध से वीर्य का स्राव, गुह्यवेदना अर्थात् लिङ्गेन्द्रिय में पीडा, सूजन, ज्वर, हृदय या छाती का दुखना, मूत्रसङ्ग (पेशाब का रुकना), शरीर का टूटना, वर्ध्म (अण्डकोष में पीडा), अश्मरी (पथरी और नपुंसकता) ये रोग होते हैं। इनकी शान्ति के लिए ताम्रचूड (कुक्कुट का मांस), मद्य, चावलों का भोजन, बस्ति, उबटन, अवगाहन (गहरे जल में बैठना), बस्ति को शुद्ध करनेवाले खीरा ककडी, कूष्माण्ड तथा यवक्षारादि औषधों द्वारा सिद्ध किए हुए दूध का पीना और प्रिय स्त्रियों का सेवन करना चाहिए।

वक्तव्य—यहां गुह्यवेदना से गुद, अण्डकोष और लिङ्गेन्द्रिय इन तीनों में वेदना अभिप्रेत है। बस्ति शुद्ध करनेवाली औषधि में एक आचार्य कूष्माण्डादि दूसरे त्रपुसादि एवं तीसरे यवक्षारादि कहते हैं।

प्राप्त वेगों को रोकनेवाले कैसे रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए, अब आचार्य इस का वर्णन करते हुए और भी उपदेश करते हैं—

सर्वं च वर्जयेद्रोगधारिणम् ।
विड्वामिनं परिक्लिष्टं क्षीणं तृट्शूलपीडितम् ॥

मलावरोधक निषिद्ध रोगी—प्राप्त वेगों को रोकनेवाले समस्त रोगियों की चिकित्सा करनी ही चाहिए, यह बात नहीं है क्यों कि उन में अचिकित्स्य भी होते हैं अर्थात् जो प्राप्तवेगी विष्ठा का वमन करता हो, जो नितान्त क्लिष्ट हो, जो रस-रक्तादि धातुओं से क्षीण शरीर हो और जो प्यास और शूल से पीडित हो, ऐसे सब वेगधारियों को त्याग देना चाहिए, क्यों कि उन में वैद्य को यश की प्राप्ति नहीं होती।

क्या प्राप्त वेगों को रोकनेवालों को ही रोग होते हैं? औरों को नहीं? अब आचार्य इस का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि—

रोगाः सर्वेऽपि जायन्ते वेगोदीरणधारणैः ।
निर्दिष्टं साधनं तत्र भूयिष्ठं ये तु तान् प्रति ॥
ततश्चानेकधा प्रायः पवनो यत् प्रकुप्यति ।
अन्नपानौषधं तस्य युञ्जीतातोऽनुलोमनम् ॥
(पायुमेहनमुष्केषु शूलं शोषो हृदि व्यथा ।
तेषु तेषु विकारेषु यथास्वं च चिकित्सितम्[१] ॥)
क्रमादप्राप्तमपि मनो पङ्क्तोऽवश्यं भजत्यत ।
उत्तिष्ठेत यथाकालं मलानां शोधनं प्रति ॥

वेगोदीरण आदि से भी रोगोत्पत्ति—केवल वेगों के धारण करने अर्थात् रोकने से ही रोग होते हैं, यह बात नहीं है, रोग वेगोदीरण (अप्राप्त वेगों को जबर्दस्ती प्रवृत्त करने की चेष्टा) करने से भी होते है। सरांश यह है कि रोग प्राय जैसे वेगों को रोकने से होते है, वैसे ही वेगों के उदीरण करने से भी होते है। इतना ही नहीं, रोगों की उत्पत्ति अन्य कारणों से भी होती है क्यों कि इन में प्राय अनेक प्रकार से वात कुपित होता है अत उत्पन्न होनेवाले रोगों के लिये साधन (चिकित्सा) भी अनेक प्रकार से कही गई है। एतदर्थ अन्न, पान और औषध की ऐसी योजना करनी चाहिए कि जिस से कुपित हुए वायु का अनुलोमन होकर वह अपने मार्गपर आ जाय। वायु आदि के कोप से गुद, लिङ्गेन्द्रिय तथैव अण्डकोषों में पीडा होती है, शोष (क्षयरोग) होता है और हृदय (छाती) में वेदना होती है अत उन भिन्न भिन्न रोगों में जिस जिसकी चिकित्सा का आचार्यों ने जैसे वर्णन किया है, उसी प्रकार से उनकी चिकित्सा करनी चाहिए।

रोगों की उत्पत्ति से बचने के लिए मनुष्य को सचेष्ट रहना चाहिए। भावार्थ यह है कि स्वस्थ मनुष्य को भी ऋतुकालानुसार मलों के निर्हरण करने में आलस्य नहीं करना चाहिए

---

१ एतावता हि प्राणो वायुः स्वमार्गं गृह्णातीतीन्दुः।, २ गुह्यवेदना—"वायुवृषणमेहनानां शूलम्" इत्यरुणदत्तः। बस्तिशुद्धिकरैर्द्रव्यैः कूष्माण्डादिभिर्द्धमित्यरुणः। त्रपुसादिसिद्धमितीन्दुः। यवक्षारादिसिद्धमिति हेमाद्रिः।

१. इन्दुकृतटीकापुस्तके पाठोऽयमधिकः किन्तु व्याख्या नास्त्यस्य।

क्यों कि जल के नितान्त निर्मल होनेपर भी उस के नीचे के कीचड मे पडी हुई मणि को निकालनेपर उसपर लगे हुए मल का अवश्य अनुभव होता है जिस को हम सब का कर्त्तव्य होता है कि हम उसे साफ कर के स्वच्छ रक्खे। इस पूरे कथन का भावार्थ यह है कि जब जैसा समय हो, तदनुसार मलों के सशोधन करने में मनुष्य को सचेष्ट (होशियार) रहना चाहिये। जिस ऋतु मे जो सशोधन-विधि वर्णन की गई है, तदनुसार वात आदि तीनों मलों के निर्हरण करने में उपेक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि यह उपेक्षा प्राय रोगों को उत्पन्न करनेवाली होती है। इसी बात के समर्थन में आचार्यों ने कहा है कि—

चयकाष्ठामुपारुह्य कुर्वते ते ह्युपेक्षिताः ।
प्राय सुचिरेणापि भेषजद्वेषिणो गदान् ॥
अतिस्थौल्याग्निसदनमेहकुष्ठहृतौजस ।
स्रोतोरोधाक्षविभ्रशश्वासश्वयथुपाण्डुता ॥
आमोरुस्तम्भजठरकृच्छ्रालसकदण्डकान् ॥
(तृप्तिप्रमीलकालस्यग्रहण्यर्शोभगन्दरान् ।
प्लीहविद्रधिवीसर्पमदसन्यासपीनसान्[२] ॥)
छर्दिगण्डक्रिमिग्रन्थितन्द्रादु स्वप्नदर्शनम् ।
कण्ठामयान् मूर्धरुज प्रणाश बुद्धिनिद्रयो ॥
तेजोवर्णबलाना च तृप्यतोऽबृहणैरपि ।
उचितैरपि चाहारैर्यस्मादस्य वहन्ति न ॥
दोषोपलिप्तवदना रस रसवहा सिरा ।
वमनादीनतो युञ्ज्यात्स्वस्थस्यैव यथाविधि ॥
दोषा कदाचित्कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनै ।
ये तु सशोधनै शुद्धा न तेषा पुनरुद्भव ॥

दोषसशोधन करने और न करने से हानि-लाभ—**वमन विरेचनादि सशोधन-कर्म के द्वेषी अर्थात् न करनेवाले मनुष्यों द्वारा उपेक्षित वात, पित्त और कफ ये सचय की अवस्था को प्राप्त होकर चिरकाल के अनन्तर भी अतिस्थौल्य (मेदोवृद्धि), अग्निमान्द्य, प्रमेह, कोढ़, हतौज (अभिन्यास नामक सन्निपात) रसरक्तादि धातुओं के सवहन करनेवाले स्रोतों का अवरोध, इन्द्रियों के शब्द-स्पर्श आदि धर्म का नाश, श्वास, शोथ, पाण्डुरोग, आमवात (गठिया), ऊरुस्तम्भ, जठर (यकृत् प्लीहोदरादि), मूत्रकृच्छ्र (मूत्रका कष्ट से उतरना), अलसक और दण्डक सज्ञक वातव्याधि, छर्दि (वमन), गलगण्ड, क्रिमि, ग्रन्थि, तन्द्रा, बुरे बुरे स्वप्नों का दिखाई देना, कण्ठ तथा मस्तक के रोग, बुद्धि-निद्रा-तेज-वर्ण-बल इन सबका नाश, इन रोगों के करनेवाले होते हैं। इस लिए कि दोषसचय की उपेक्षा कर के उनका विधिवत् निर्हरण न करनेवाले मनुष्यों की रससवहन करनेवाली सिराओं के मुख दोषलिप्त होने से वे रस धातु का सवहन नहीं करतीं अत बृहणाहार करते हुए तृप्त मनुष्य में भी बल आदि का सचार नहीं होता। फलत वह रोगों का घर बन जाता है। उपर्युक्त रोगों के अतिरिक्त आहार न करते हुए भी तृप्ति, प्रमीलक स्तैमित्य-अम्लपित्त और पित्तविषूचिका नामक रोग होता है** यह बडा भयकर रोग है। इसमे मुख का नमकीन-खट्टा रहना, सतत छर्दि (वमन), दाह, अतिनिद्रा, कोष्ठबद्धता आदि होते है। इसे प्रमीलक[१] कहते हैं। इस के सिवाय आलस्य, ग्रहणी, अर्श (बवासीर), भगन्दर, प्लीह, विद्रधि, विसर्प, मद और पीनस रोग होता है। इस लिए ऐसे रोगी के दोषनिर्हरणार्थ यथाविधि वमनादि की योजना करनी चाहिए तथा स्वस्थ के लिए भी सशोधन परम-हितकारी है। साराश, उपर्युक्त रोगों की सभावना ही नहीं हो सकती। आचार्य कहते है कि लघन-पाचनादि सशमन चिकित्साद्वारा शान्त दोष कदाचित् फिर कुपित हो सकते है परन्तु सशोधनद्वारा शुद्ध हुए दोष फिर से उत्पन्न नही हो सकते। दोषसशोधन के बाद क्या करना चाहिए, अब अचार्य इस विषय मे कहते हैं—

यथाक्रम यथायोगमत ऊर्ध्व प्रयोजयेत् ।
रसायनानि सिद्धानि वृष्ययोगाश्च कालवित् ॥
भेषजक्षपिते पथ्यमाहारैर्बृहण क्रमात् ।
शालिषष्ठिकगोधूममासक्षीरघृतादिभि ॥
हृद्यदीपनभैषज्यसयोगाद्रुचिपक्तिदै ।
साभ्यङ्गोद्वर्तनस्नाननिरूहस्नेहबस्तिभि ॥
तथा स लभते शर्म सर्वपावकपाटवम् ।
धीवर्णेन्द्रियवैमल्य वृषता दैर्ध्यमायुष ॥

सशोधनोत्तर विधि—**दोषसशोधन** के पश्चात् कालवित् अर्थात् केवल कालवित् ही नही किन्तु[३] देश-काल-बल-शरीर-आहार-सात्म्य-सत्त्व और प्रकृति इन सबको जाननेवाले तथैव रसायनप्रयोग करने मे समर्थ वैद्य को चाहिए कि वह वमन विरेचनादि सशोधन से थक हुए शरीर के लिए यथाक्रम अर्थात् वाजीकरण प्रकरण मे जो क्रम कहा गया है, उसे न छोडते हुए यथायोग्य[४] (जो जिसके योग्य है जसे कि यह वात प्रकृतिवाले के लिए ठीक है आदि) सोचकर अनेक बार अनुभव किए हुए सिद्ध ब्राह्म, वासिष्ठ और च्यवनप्राशादि वाजीकर-वृष्य-रसायनों का सेवन करावे। इतना ही नही, अभ्यङ्ग (उबटन), स्नान, आस्थापन-अनुवासन-वस्तिसह अदरक-

१ पाठोऽय हेमाद्रिसमत किन्तु नास्तीन्दुटीकाग्रन्थे।

२. हतौजश्शब्द पुल्लिङ्ग सन्निपातज्वरपर्याय "सन्निपातम भिन्यास त ब्रूयाच्च हतौजसम्" इतीन्दुटीकायाम्। प्रमीलक स्तैमित्यम्। अम्लपित्तस्यापरनामेत्यपि पठति। यथा-पच्यमान विदाहान्न रक्तादीन् कोपयेद्यदा। पित्त च कोपयेदाशु कफस्थानानिलेरितम्॥ तदा भवति हृच्छूलमुखवै रस्यसादनम्। लवण पित्त मम्ल च सतत छर्दयत्यपि॥ दाहोऽतिनिद्रा विट्सङ्गो वैवर्ण्य कार्श्य मेव च। अरोचको बुभुक्षिता प्रसेक श्लेष्मणस्तथा॥ स्युर्यत्रैतानि लिङ्गानि निर्दिशेत्तत् प्रमीलकम्। पर्यायाम्लपित्त च तथा पित्त विषूचिका॥ इतीन्दुटीकायाम्। २ "मुद्गमासघृतादिभि" इति पाठान्तरम्। ३ "कालशब्दोऽत्र देशबल शरीराहारसात्म्यसत्व प्रकृतीनामुपलक्षणार्थम्। न हि कालमात्रविद्रसायनप्रयोग सम्यग्विधापयितु शक्त।" इत्यरुणदत्त। "यथाक्रम स्वविध्युक्तक्रमानतिक्रमेण" इति हेमाद्रि। ४ यथायोग यो यस्य युज्यते दातुमित्यर्थ। यथेद रसायन वातप्रकृतियोग्यमिद, पित्तप्रकृतेरिद श्लेष्मप्रकृतेरित्यादि रूण। रसायनानि सिद्धानि बहुशो दृष्टप्रत्ययानि ब्राह्मवाशिष्टच्यवनप्राश्यादीनि तथा वृष्यप्रयोगाश्चेति वाजीकरणयोगानिति चन्द्रनन्दन।

पीपल-मिर्च-तज-तेजपात-इलायची-अनारदाने-बिजौरा-सैंधा नमक आदि हृद्य और दीपन ओषधियों के सयोग से रुचिकर और पाचक ऐसे साठी चावल, गेहूं, मासरस, दूध और घृतादि आहारों का क्रम से सेवन कराते हुए हितकारी बृहण प्रयोग करावे, इस लिए कि उक्त त्रिविध बृहणों[1] से मनुष्य को स्वास्थ्य-लाभ होता और सभी प्रकार की अग्नियों अर्थात् जठराग्नि १ भूताग्नि ५ और धात्वग्नि ७ इस प्रकार १३ तथा अन्यमत से १७ ही प्रकार के अग्नियों[2] की प्रदीप्तता, बुद्धि-वर्ण तथा इन्द्रियों की निर्मलता, पाचनशक्ति, स्त्रीसङ्गसामर्थ्य और आयु की दीर्घता प्राप्त होती है। इस प्रकार शारीरिक रोगों के कारण और परिहार को कहने के अनन्तर अब आचार्य आगन्तु रोगों के कारण और परिहार का वर्णन करते है—

> ये भूतविषवाय्वग्निक्षतभङ्गादिसम्भवा ।
> कामक्रोधभयाद्याश्च ते स्युरागन्तवो गदा ॥
> त्याग प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशम स्मृति ।
> देशकालात्मविज्ञान सद्वृत्तस्यानुवर्तनम् ॥
> अथर्व-विहिता शान्ति प्रतिकूलग्रहार्चनम् ।
> भूताद्यस्पर्शनोपायो निर्दिष्टश्च पृथक् पृथक् ॥
> अनुत्पत्त्यै समासेन विधिरेप प्रदर्शित ।
> निजागन्तुविकाराणामुत्पन्नाना च शान्तये ॥

आगतुक रोग और उनका परिहार—भूत (ग्रहादि) के दर्शन, विष के स्पर्श, वायु (आंधी-झञ्झावात), अग्नि, शस्त्रादि के क्षत (घाव), गिर पड़ने आदि से अङ्ग का भङ्ग, (टूटना) तथा विशेष परिश्रम एव शोक से उत्पन्न होनेवाले काम-क्रोध-भय और शोकादि ये सभी आगन्तुक रोग हैं। इनके शमनार्थ प्रज्ञापराधों का त्याग अर्थात् बुद्धि, धैर्य, धारणा और स्मृतिभ्रष्ट होते हुए जो अशुभ[3] कर्म किया जाता है उसका त्याग करना। क्योंकि प्रज्ञापराध समस्त दोषों के प्रकोप का कारण होता है जैसे कि समयासमय का कुछ भी विचार न करते हुए किसी कर्म को कर बैठना, जिन बुरे कर्मों को नहीं करना चाहिये उनका करना, जानते हुए भी अहितकारी शब्द स्पर्श-रूप-रस और गध इन इन्द्रियार्थों का अतिसेवन करना अथवा दिनचर्यादिविधि का उल्लघन करना, ये सब प्रज्ञापराध हैं, अत इन प्रज्ञापराधों (अशुभ कर्मों) का त्याग करना, इन्द्रियोपशम (इन्द्रियों की लोलुपता को रोकना), स्मृति (बीती हुई घटनाओं का स्मरण करना), जागल, आनूप तथा मिश्र देश का, शीत, उष्ण एव वर्षाकाल का, अपनी वात, पित्त या कफ-प्रकृति एव ब्रह्मज्ञान, इन सबका ज्ञान रखना। भावार्थ यह है कि इन सबको ध्यान में रखते हुए शुभ आचरण करना चाहिए। मै कौन हू, कहा का रहनेवाला हू, यह समय कैसा है, यह देश कौन-सा है, यहा इस कर्म का करना उचित होगा या अनुचित, मै कितना धनवान् या शूर हू इत्यादि सभी बातों का[1] ध्यान करके (विचार कर) कर्मों का करना, क्योंकि मन की शुद्धि देशकालात्मज्ञान[2] से सत्पुरुषों के शुद्ध आचरणों का अनुष्ठान करना, भूतादि ग्रहों का स्पर्श न हो इस लिए अथर्ववेदोक्त शान्ति का करना, प्रतिकूल सूर्यादि ग्रहों का पूजन करना या उन पृथक् पृथक् उपायों का करना जो भूतविद्या तत्र मे कहे गये है। केवल शारीरिक एव मानसिक-आगन्तुक विकारों के न होने के लिए ही नही, किन्तु उत्पन्न हुए सभी विकारों की शान्ति के लिए प्रज्ञापराधादि सद्वृत्तानुष्ठान तथा भूतादि-शान्ति का उपाय यह दो प्रकार का विधान सक्षेप करके कहा गया है। इन उपायों में के "अथर्वविहिता शान्ति" आदि द्वितीय उपायवाले पद्य को कुछ टीकाकार नहीं मानते हैं किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि इनके विना पूर्व श्लोक की सङ्गति ही नहीं बैठ सकती।

सशोधनकर्म का वर्णन करते हुए फलितार्थ कह चुके है कि—"ये तु सशोधनै शुद्धा न तेषा पुनरुद्भव" अर्थात् सशोधनकर्मद्वारा निर्हरण किए हुए वातादि दोष फिर से उत्पन्न नहीं हो सकते, अत सशोधन-कर्म की उपेक्षा कदापि नहीं करनी चाहिए। चाहे रोगी हो चाहे स्वस्थ, सशोधन सब के लिए समान हितकारी है।

अब इस अध्याय के उपसहार मे सशोधन कर्म के समय का निर्देश करते हुए हितकारी मिताहार-विहार के फल का वर्णन करते हैं।

> शीतोद्भव दोषचय वसन्ते विशोधयन् ग्रीष्मजमभ्रकाले।
> घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक्प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु॥

बसतादि ऋतुओं में किए सशोधन मे लाभ—शीतकाल अर्थात् हेमन्त और शिशिर इन दोनों ऋतुओं में उत्पन्न हुए वातादि दोषसचय का निर्हरण बसत (चैत्र) मे, ग्रीष्मकाल के पैदा हुए दोषसचय का सशोधन वर्षाकाल (श्रावण) मे और वर्षाकालोत्पन्न दोषसचय का निर्हरण घनात्यय (शरद् ऋतु के अन्त अर्थात् कार्तिक मास) मे करता हुआ प्राणी ऋतुओं मे उत्पन्न होनेवाले रोगों से कदापि पीडित नहीं होता।

वक्तव्य—यहा शीतकाल से हेमन्त और शिशिर इन दोनों ऋतुओं का ग्रहण[3] किया गया है। "ग्रीष्मजमभ्रकाले" यहा कालके ग्रहण से वर्षाकाल के प्रारम्भ होते ही सशोधन अभिप्रेत है। इसी प्रकार वर्षा, घनात्यय तथा वसन्त के लिए क्रम से श्रावण, कार्तिक और चैत्र मास का ही ग्रहण[4] करना उचित है।

---

१ बृहण तत्त्रिविध रसायन वाजीकरणमाहारादिप्रयोगश्चेति हेमाद्रि। २ सर्वे पावका जठराग्निभूताग्निधात्वग्नय, इति हेमाद्रि। डल्लनस्तु सुश्रुतगर्भव्याकरणशारीरव्याख्याने 'अग्निरित्यादि। अग्निरत्र पाचकभ्राजकालोचकरञ्जकसाधकाना पाञ्चभौतिकाना सर्व धात्वनुगानामिति १७ वदति।

३ धीधृतिस्मृतिविभ्रष्ट कर्म यत्कुरुतेऽशुभम्। प्रज्ञापराध त विद्यात्सर्वदोष प्रकोपनम्॥ कर्मकालातिपातश्च मिथ्यारम्भश्च कर्मणाम्। ज्ञाताना स्वयमर्थानामहिताना निषेवणम्॥ इति चरक

१ देशादिविज्ञानेन विषयस्थ मन स्पष्टता याति। एवमभिजनोऽहम् तत्र चेदमुचितमिदमनुचितम्। एवमहमथवानेवमह शूर। इत्यस्मिन्देशे काले चोचितमिद नेति बहुविधपरिकल्पन देशकालात्म विज्ञानमितीन्दु।

२ आत्मा च— वातप्रकृत्यादिरित्यरुणदत्त। आत्मविज्ञान द्विविध शरीर-विज्ञानमेक प्रिय मे प्रकृतेरिदमित्यादि। द्वितीय ब्रह्मस्वरूप विज्ञानम्, तेन विना रागादीना रोगाणा नान्यदपहार कर्तुंस मर्थम्। इति चन्द्रनन्दन।

३ शीतशब्देन हेमन्तशिशिराख्यावृतू द्वावपि गृह्येते। ४ ग्रीष्म-

नित्य हिताहार-विहारसेवी
समीद्यकारी विषयेष्वसक्त ।
दाता सम सत्यपर क्षमावा-
नाप्तोपसेवी च भवत्यरोग ॥
अर्थेष्वलभ्येष्वकृतप्रयत्न
कृतादर नित्यमुपायवत्सु ।
जितेन्द्रिय नानुपतन्ति रोगा-
स्तत्कालयुक्त यदि नास्ति दैवम् ॥
कालोऽनुकूलो विषया मनोज्ञा
धर्म्या क्रिया कर्म सुखानुबन्धि ।
सत्त्व विधेय विशदा च बुद्धि-
र्भवन्ति धीरस्य सदा सुखाय ॥

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थाने रोगानुत्पादनीय पञ्चमोऽध्याय ॥ ५ ॥



हिताहारविहारादि सदाचार के लाभ—जो नित्य प्रति हितकारी आहार और विहार करता है, बहुत सोच-विचार के बाद जो उचित काम करता है, जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध आदि विषयों मे लोलुप नहीं रहता, जो वदान्य (दानी) है, जो सब को समान भाव से देखता है, जो सत्यवादी है, जो बलवान् होकर भी क्षमा करनेवाला है और जो आप्तों का सेवक है अर्थात् जो त्रिकालज्ञों-विद्वानों-जिनका ज्ञान सशय रहित है, ऐसे गुरु आदि साधु-सन्तों की सेवा करता है वह नीरोग (रोगरहित) रहता है। इसके अतिरिक्त जो अलभ्य विषयों के लिए प्रयत्न न करके लभ्य विषयों के अथ प्रयत्नशील रहता है और जो जितेन्द्रिय है उसे यदि दैव प्रतिकूल न हो तो रोग नहीं सताते हैं। जिसका काल अनुकूल अर्थात् हीनमिथ्यातियोगरहित होता है, जिसके शब्दादि विषय प्रिय होते हैं, जिसकी सब क्रिया धर्मानुकूल होती है, जिसके सब कर्म इह-परलोक के लिए सुखदायक हैं, जिसका मन विधेय (परवश नहीं) है और जिसकी बुद्धि निर्मल होती है, ऐसे धैर्ययुक्त पुरुष के लिए ये सब पूर्वोक्त विषय सुखके देने वाले होते हैं।

इत्यष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थाने कापिलशाखाणीत्युपाख्यश्रीगोवर्धनशर्मविरचितायामर्थप्रकाशिकाख्यहिन्दीव्याख्यायां रोगानुत्पादनीय पञ्चमोऽध्याय ॥



जमभ्रकाल इत्यत्र कालग्रहणेन वर्षाप्रारम्भमात्र एवेति बोध्यम्। तथा च शास्त्रकारो वक्ष्यति—"श्रावणे कार्तिके चैत्रे मासि साधारणे क्रमात्। ग्रीष्मवर्षाहिमचितान् वाय्वादीनाशु निर्हरेत ॥ इत्यरुणदत्त ।

१ 'नानुतपन्ति' इत्यपि पाठ । २ रजस्तमोभ्या निर्मुक्ता तपोज्ञानबलेन ये येषां त्रिकालममल ज्ञानमव्याहत सदा । आप्ता शिष्टा विबुधास्ते तेषा वाक्यमसशयम् ॥ इति चरक

अथ षष्ठोऽध्याय ।

स्वास्थ्यरक्षा के लिए आहार-विहार का समुचित सेवन ही मुख्य है। इनमें से इनके पहले आये हुए तीन अध्यायों में विहार का वर्णन हो चुका है। आहार का वर्णन करना शेष रहा है अत आचार्य इस अध्याय से आहारवर्णन का आरम्भ करते हैं। अन्नपान—शब्दसे आहार के दो भेद अन्न और पान ये स्पष्ट दिखाई देते हैं। इनसे आहार के द्रवाहार और अद्रवाहार ऐसे दो भाग[१] हो जाते हैं। अद्रवाहार के साथ ही साथ द्रव-द्रव्यों के आहार का विशेष सम्बन्ध है जैसे कि दूध-दही आदि। इतना ही नहीं, इन द्रव द्रव्यों की आवश्यकता सब से पहले होती है। इसी लिए आचार्य द्रवद्रव्य-विज्ञानीय अर्थात् जिससे द्रवद्रव्यों का भली भाति ज्ञान हो ऐसे अध्याय का प्रारम्भ पहले करते है।

अथातो द्रवद्रव्यविज्ञानीयनामाध्याय व्याख्यास्याम ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय ॥

अब यहा से द्रव द्रव्यों का भलीभाति ज्ञान हो ऐसे "द्रवद्रव्यविज्ञानीय" नामवाले अध्याय की व्याख्या जैसे आत्रेयादि महर्षियों ने पहले की है, करते है।

आचार्य के मत से द्रवद्रव्य जल, दूध, इक्षुरस, तेल और मद्य ऐसे पाच वर्गों में विभक्त[२] हैं। इनमें भी मधुरादि सभी रसोंका उत्पादक, सभी प्राणियोंके लिए सात्म्य तथा जीवनादि गुणयुक्त होने तथैव समस्त प्राणियों के प्राणस्वरूप एव समस्त जगत् तन्मय होने से पूर्वोक्त पाच वर्गों से जल[३] वर्ग का निर्देश सर्वप्रथम किया गया है।

आकाशीय और भौम इन दो प्रकार के जलों में भी शास्त्रकारों ने आकाश से बरसनेवाले दिव्य गगाजल को श्रेष्ठ माना है, अत प्रथम उसी को लेकर जल के वर्णन का आरम्भ करते है।

अथ जलवर्ग ।

जीवन तर्पण हृद्य ह्लादि बुद्धिप्रबोधनम् ।
तन्वव्यक्तरस मृष्ट शीत शुच्यमृतोपमम् ॥
सूर्येन्दुमुक्तप्रमुक्तत्वाल्लघु वातकफापहम् ।
शैत्यजीवनसौम्यत्वै पित्तरक्तविषार्तिजित् ॥
स्पृष्ट गङ्गाम्बु नभसो भ्रष्ट त्वर्केन्दुमारुतै ।
हिताहितत्वे तद्भूयो देशकालावपेक्षते ॥

जल के अनेक भेद—आचार्यों ने जल को दिव्य और भौम इन दो भागों में विभक्त किया है। इनमे पहिले के दिव्य, आन्तरिक्ष और गगांबु[४] ये पर्याय है। दिव्य जल के भी चार भेद है—जैसे कि धार, कार, तौषार और हैम। इनमें प्रथम धार के भी दो भेद है, गाङ्ग-दिव्य और सामुद्र। गाङ्गदिव्य

१ आहारो वक्तव्य । स च द्विविध , द्रवोऽद्रवश्चेति हेमाद्रि ।

२ तोयक्षीरेक्षुतैलाना वर्गैर्मद्यस्य च क्रमात्। इति

३ सर्वरसयोनित्वात् सर्वभूतसात्म्याज्जीवनादिगुणयोगाच्च । तथात्रैवाध्येष्ठ "पानीय प्राणिना प्राणा विश्वमेव च तन्मयम्" इत्यरुणदत्त ।

भी दो प्रकार का है, जैसे कि आन्तरिक्ष और भौम। इन सब में दिव्य, आन्तरिक्ष या गगाबु को सब जलों से श्रेष्ठ माना गया है। अत आचार्य जल के गुणों का वर्णन उसी (दिव्य) से आरम्भ करते है।

दिव्य जल क गुण—दिव्य अर्थात् आकाश से बरसनेवाला जल जीवन अर्थात् प्राणधारक, ओज एव सौम्यधातु को बढ़ानेवाला, तर्पण (तृप्तिदायक या ग्लानि को दूर करने वाला), हृद्य अर्थात् हृदय के लिए प्रिय एव हितकारी, ह्लादि-आह्लादकर, बुद्धि को तेज करनेवाला, तनु अर्थात् स्वच्छ या दुग्ध-दधि-आदि समस्त द्रव द्रव्यों से विरल (सूक्ष्म), अव्यक्त रस-जिसमे मधुरादि छहों रस छिपे हुए है अर्थात् उसके आस्वाद से पता नही लग सकता कि इस प्रकार इसमे मधुर-अम्ल-लवणादि छहों रस है। मृष्ट-स्वादुरसवाला या जिह्वा को प्रिय, शीत-स्पर्श और वीर्य मे शीतल शुचि-पवित्र, सूर्य की किरणों से उद्धृत हो बरसने के कारण लघु हल्का या शीघ्र पचनेवाला, अमृतोपम-देवताओं के अमृत की तरह मनुष्यों के प्राण बचानेवाला, वातकफहारक, शैत्य-जीवन और सौम्य गुणों करके पित्त, रक्त और विष की पीडा को हरनेवाला है। वस्तुत ये गुण आकाश से बरसनेवाले उसी जल के है जिसे पृथ्वी मे न गिरने देकर ऊपर ही से वस्त्रादि द्वारा हरण कर लिया गया हो। भूमि पर गिरने एव सूर्य, चन्द्र और वायु का स्पर्श होने पर आतरिक्ष जल की भौम सज्ञा हो जाती है। उसमे वे गुण नही रहते जो ऊपर बताये गए है। किन्तु हिताहित की दृष्टि से उसमे देश और काल की अपेक्षा होती है। यहा देश शब्द से आश्रय, पात्र या जागलादि देश का ग्रहण होता है और काल से ऋतु, दिन, रात्रि आदि को लेना चाहिये, जैसे कि आतरिक्ष जल सुपात्रस्थ हितकारी होता है, वही दुष्पात्रस्थ अहितकारी। इसी प्रकार ऋतु में वर्षा हुआ जल हितकारी होता है, वही अनृतु मे वर्षा हुआ अहितकारी होता है। भौम अर्थात् भूमि पर पडे हुए जल का विचार और भी विशेष किया गया है जेसे कि देश की अपेक्षा से-जागल देश का जल हितकारी तो आनूप देश का अहितकारी होता है। पवित्र स्थल मे पड़ा हुआ जल पथ्य तो अपवित्र स्थल मे पड़ा हुआ अपथ्य, कूप आदि का जल हितकारी तो अल्पसरोवर आदि (तालाब-तलैया आदि) का अहितकारी। कुछ शरीरों में हितकारी तो कुछ शरीरों में अहितकारी इत्यादि। ऐसे ही काल (समय) की अपेक्षा से जैसे कि शरद्-ग्रीष्म मे हितावह तो अन्य ऋतुओं में अहितावह। इसमे भी दिन मे पथ्य तो रात्रि मे अपथ्य। इसी प्रकार भोजन के मध्य मे जल हितकारी होता है वही भोजन के अन्त मे अहितकारी होता है। साराश- दृव्य जल ही सर्वदा सबके लिए हितकारी होता है।

आकाश से बरसनेवाला जल भी सर्वथा गाग ही नहीं होता। इसलिए अब आचार्य उसकी परीक्षाविधि बतलाते हैं।

येनाभिवृष्टममल शाल्यन्न राजतस्थितम् ॥
अक्लिन्नमविवर्ण वा तत्पेय गाङ्गमन्यथा ।
सामुद्र तन्न पातव्य मासादाश्वयुजाद्विना ॥

पेयापेय जल की परीक्षा—जिस बरसते हुए आन्तरिक्ष जल से अभिषिक्त चादी के पात्र म रखा हुआ शाल्यन्न अर्थात् राधे हुए चावलों का पिण्ड न तो सडे और न वर्ण ही बदले तो जानना चाहिये कि गाग जल बरस रहा है। उसे पीना चाहिये और स्नान-अवगाहन भी उससे करना चाहिये। इससे विपरीत अर्थात् बरसते हुए जल मे बाहर रजतपात्र में रखा हुआ शाल्यन्नपिण्ड यदि सड जाय या वर्ण से विवर्ण (रग से बदरग) हो जाय तो उसे समुद्र-जल समझना चाहिये। आश्विन मास के सिवा अन्य महीनों में उसको नहीं पीना चाहिये और न उससे स्नान-अवगाहन ही करना चाहिये।

ध्यान रहे कि इस परीक्षा का समय शास्त्रकारोंने एक मुहूर्त (४८ मिनट) ही कहा है। साराश—बरसते हुए जल मे ४८ मिनट तक चादी के पात्र मे पारेपक्व तण्डुल-पिण्ड बहिर्भाग में होने से वह जैसा रखा था वैसा ही बना रहे तो बरसनेवाले जल को गाग एव पीने योग्य समझना चाहिये। अन्यथा (विवर्ण एव मोमकी तरह) कीचड़-सा हो जाय तो उसे पेय सामुद्र जल समझना चाहिये।

किस प्रकार के आन्तरिक्ष एव भौम जल को पीना चाहिये ? अब आचार्य इसका स्पष्टीकरण करते है।

खातधौतशिलापृष्ठवस्त्रादिभ्यश्च्युत जलम् ।
हेममृण्मयपात्रस्थमविपन्न सदा पिबेत् ।
तदभावे च भूमिष्ठमान्तरिक्षानुकारि यत् ॥

पान के योग्य जल—जल के लिये बनाये हुए खात अर्थात् कुण्ड का और धुली हुई स्वच्छशिलापर बरसा हुआ, स्वच्छ वस्त्रादि से छाना हुआ, स्वर्ण या मिट्टी के पात्र का अविकारी जल सदा पीना चाहिये। इस के अभाव मे वह भौम जल पीना चाहिये, जो स्वच्छतादि गुणों मे आचार्य के वक्ष्यमाण कथनानुसार आन्तरिक्ष जल के समान या अनुकरण करनेवाला हो।

अब आचार्य भूमिष्ठ जल का देशविशेष एव पञ्चमहाभूतों

---

१ जीवन प्राणधारणमिति हेमाद्रि । ओजोवृद्धिकरमित्यरुण । सौम्यधातुवृद्धिकरमितीन्दु ।

२ तर्पण तृप्तिकृत् इतीन्दु । क्लमहृदित्यरुण ।

३ हृद्य-हृदयस्य प्रिय तत्प्रसादकरत्वादिति हेमाद्रि । हृदयाय हित न तु हृदयस्य प्रियमित्यरुण ।

४ तनु स्वच्छमिती द्वरुणौ। सर्वेभ्यो विरलमिति हेमाद्रि ।

५ मृष्टम्-आस्वादसुखमित्यरुण । जिह्वेन्द्रियप्रियमिति हेमाद्रि ।

६ लघु-लघुगुणयुक्तमित्यरुण । शीघ्रपाकमिति हेमाद्रि ।

७ अमृतोपम—प्राणधारकत्वादित्यरुण । देवानाममृतमिवेद मनुष्याणामिति हेमाद्रि ।

१ शाल्योदनपिण्डीमिति सुश्रुत ।

२ पेयमित्युपलक्षणाथ स्नानावगाहनयोरपि तत्पथ्यमेवेत्यरुणदत्त।

३ स (पिण्ड) मुहुर्त स्थित तादृश एव भवति, तदा गाङ्ग पततीत्यवगन्तव्यम्। वर्णान्यत्वे सिक्थप्रक्लेदे च सामुद्रमिति विद्यात्। तत्रोपादेयमिति सुश्रुत ।

४ 'भूमिष्ठम्' इत्यरुणसमत पाठोऽसत् सुश्रुतसग्रहायसम्मतत्वात्।

५ खातो जलग्रहणार्थो भूकुण्डिका इतीन्दु ।

की गुणाधिकता कर के उन (पचमहाभूतों) में षड्रसता का विशेष वर्णन करते है ।

श्वेते कषाय तत्स्वादु कृष्णे तिक्त च पाण्डुरे ॥
नीले कषायमधुर देशे लवणमूषरे ।
सक्षार कपिले मिश्र मिश्रेऽथाम्बुगुणाधिके ॥
मधुर लवणाम्ल तु भवेद्भूमिगुणाधिके ।
तेजोऽधिके तिक्तकटु कषाय पवनाधिके ॥
दिव्यानुकारित्वव्यक्तरसत्वात् खगुणाधिके ।
शुचि पृथ्वसितश्वेते देशे चार्कानिलाहतम् ॥

जल में पचमहाभूतता—श्वेत (सुफेद) मिट्टीवाले प्रदेश में स्थित जल कषायरसता को प्राप्त होता है । इसी प्रकार काली मिट्टीवाले प्रदेश मे मधुरता, पीली और सुफेद मिली हुई मिट्टीवाले देश मे तिक्तता, नीली मिट्टीवाले प्रदेश में कषाय और मधुरता, ऊषर प्रदेश में लवणरसता, कपिल वर्ण के भूमिप्रदेश में सक्षारता और मिश्र भूमिवाले देश में स्थित जल मिश्रता को प्राप्त होता है । इसी प्रकार भूप्रदेश मे जलतत्त्व के गुणाधिक्य से (जल तत्व का भाग अधिक होने से) जल मधुर रसवाला होता है, पृथ्वीतत्त्व के अधिक होने से लवण और अम्ल रसवाला, अग्नितत्त्वाधिक्य होने से तिक्तकटुरसवाला, वायुतत्त्व अधिक रहा हो तो कषाय रसवाला होता है तथा आकाशतत्त्व के गुणाधिक्य से अव्यक्त रसवाला (प्रत्यक्ष महाभूतों की स्वल्पता होने के कारण) आन्तरिक्ष जल के समान गुणवाला होता है । तथैव पवित्र (निर्मल), विस्तीर्ण, काली और सुफेद मिट्टीवाले प्रदेश में स्थित, सूर्य की किरणों एव पवन से आहत अर्थात् स्पृष्ट तथा आन्दोलित जल भी दिव्य (गाग-आन्तरिक्ष) जल के समान होता है ।

अब आचार्य पूर्वोक्त भूमिष्ठ जल के आठ प्रकार और उन के गुणों का वर्णन करते है ।

कौपसारसताटाकचौण्ड्यप्रास्रवणोद्भिदम् ।
वापीनदीतोयमिति तत्पुन स्मृतमष्टधा ॥
सक्षार पित्तकृत्कौप दीपनान्नातिवातलम् ।
सारस स्वादु लघु च ताटाक गुरु वातलम् ॥
चौण्ड्य तु पित्तल दोषहर प्रास्रवणोदकम् ।
औद्भिद स्वादु पित्तघ्न स्वादु वापीजल लघु ॥
नादेय वातल रूक्ष कटुक च तदादिशेत् ।
धन्वानूपमहीध्राणा सामीप्याद् गुरुलाघवम् ॥

जल के आठ प्रकार—कौप अर्थात् कुए से उत्पन्न हुआ, सारस (सरोवर से पैदा हुआ), ताटाक (आकाश से बरस कर भूमि या तालाब में स्थित हुआ), चौण्ड्य (पर्वतादि में जो पाषाण के नीचे रहता है), प्रास्रवण (पर्वत से झरनेवाला), औद्भिद (भूमि से फव्वारे की तरह आकर वहीं स्थित रहने वाला), वापी (बावडी) का और नादेय अर्थात् नदी का इस प्रकार भूमिष्ठ (भौम) जल आठ प्रकार का कहा गया है । अब इन का क्रम से गुणवर्णन करते है ।

कौप आदि अष्टविध जल के गुण—कौप अर्थात् कुए का जल क्षार गुण युक्त और पित्तकारी होता है । सरोवर का अग्निदीपक होने से स्वल्प वायुकारी मधुर और हल्का, तालाब का भारी और वातकारी, पर्वत-शिलाओं के नीचे का पित्तकारी, पर्वत के झरने का त्रिदोषहर, भूमि मे से स्वय आकर स्थित रहने वाला मधुर और पित्तहर, बावडी (वापी) का मधुर और हल्का तथा नदी का जल वातकारी रूक्ष और कटु रसवाला होता है, किन्तु कौपादि इन आठ ही प्रकार के जलों का गुरुत्व तथा लघुत्व-(भारी-और हल्कापन) जागलादि देश एव पर्वतों के सामीप्य से स्वबुद्धि से जानना चाहिये ।

इस के अनन्तर आचार्य नदियों तथा समुद्र के जल का विशेष गुण वर्णन करते हैं ।

पश्चिमोदधिगा शीघ्रवहा याश्चामलोदका ।
पथ्या समासात्ता नद्यो विपरीतास्ततोऽन्यथा ॥
उपलास्फालनाक्षेपविच्छेदैः खेदितोदका ।
हिमवन्मलयोद्भूता पथ्यास्ता एव च स्थिता ॥
क्रिमिश्लीपदहृत्कण्ठशिरोरोगान् प्रकुर्वते ।
प्राच्यावन्त्यपरान्तोत्था दुर्नामानि महेन्द्रजा ॥
प्रदरश्लीपदातङ्कान् सह्यविन्ध्यभवा पुन ।
कुष्ठपाण्डुशिरोरोगान् दोषघ्न्य पारियात्रजा ॥
बलपौरुषकारिण्य सागराम्भस्त्रिदोषकृत् ॥

पश्चिमपूर्वोदधिगा नदियों के जल के गुण—समासात् (सक्षेपतया) कह सकते हैं कि जो नदिया पश्चिम-समुद्र की ओर जानेवाली (बहनेवाली), वेगवती और निर्मल जलवाली हैं वे पथ्या (हितकारी जलवाली) है, और इनके विपरीत पूर्व समुद्र की ओर बहनेवाली अवेगवती तथा मलिन जलवाली नदिया अपथ्या (अहितकारी जलवाली) है । हिमालय तथा मलयपर्वत से उत्पन्न नदिया वे ही हितकारिणी है जिनका जल ऊपर से पत्थरों पर गिरने के कारण उछल कर इधर उधर (इतस्तत) उडने से हल्का (लघु) हो जाता है । अन्यथा हिमालय मलयाचल की जो नदिया (स्थिर) रहनेवालीं तथा न बहनेवाली हैं वे क्रिमि, श्लीपद (हाथी पाँव), हृद्रोग, कण्ठरोग और शिरोरोग करनेवाली है ।

विशेष वक्तव्य—यहा वाग्भटाचार्य ने चरक तथा सुश्रुत के परस्पर विरोधी मत का, उनके कथन का समान करते हुए समन्वय किया है । साराश, चरक हिमालय और मलय पर्वत

१ गुणशब्दश्च भागपर्याय, सख्याया गुणस्य समानेत्यादिना विभागो गुण इतीन्दु ।

२ अव्यक्तरसत्वम्-मूर्तमहाभूतस्वल्पत्वात् इदमपि दिव्यसदृश मितीन्दु ।

१ ताटाकम्-आन्तरिक्षात्पतित्वा भूमौ स्थितम्, पर्वतादौ पाषाण निम्नस्थितमौद्भिद भूमावुद्भिद्य तत्रैव तिष्ठतीतीन्दु ।

२ जाङ्गलादिदेशजान् यथायोग लघून् गुरूश्च जानीयादित्यर्थ, तत्र जाङ्गलदेशे कूपादीना सप्तानां वह्न्यकसम्बन्धाभावाल्लघुत्व ज्ञेयम्। आनूपे न वह्न्यकसम्बन्धाद्गु[illegible], शे[illegible] तूदकाल्पतया लघुतरत्व नैयमित्यरुणदत्त ।

३ स्थिरा इत्यपि पाठ ।

से निकलनेवाली नदियों को पथ्या एव अमृतोपम जलवाली मानते हैं, किन्तु सुश्रुत इसके विपरीत हिमालय और मलय-पर्वत से निकलनेवाली नदियों को हृदय-शोथ क्रिमि आदि रोगों को उत्पन्न करनेवाली कहते है। इन दोनों मतों का समाधान वाग्भट ने चरक के मतानुसार स्पष्ट कर दिया है कि "हिमालय और मलयाचल से निकलनेवाली नदिया वस्तुत क्रिमि-शोथ-हृद्रोगादिकारिणी होती हैं यदि उनका जल स्थिर हो अर्थात् न बहता हो। प्रत्युत इसके विपरीत जिनका जल वेग से बहता, ऊपर से पत्थरों पर गिरकर उछलता है वे नितान्त पथ्या (हितकारिणी) हैं।

पूर्ववाहिनी आदि नदियों के जल का गुण—प्राच्या (पूर्व की ओर बहनेवाली), अवन्ती (उज्जैन-मालव देश) तथैव अपरान्त अर्थात् कोंकण देश की नदियों का जल दुर्नाम (अर्शरोग) को करनेवाला होता है। महेन्द्र पर्वत से उत्पन्न नदियों का जल प्रदर और श्लीपदकारक, सह्याचल और विन्ध्याचल की नदियों का जल कुष्ठ, पाण्डु तथा शिरोरोग का करनेवाला होता है। विपरीत इनके पारियात्र पर्वत से निकलनेवाली नदियों का जल सर्व दोषों को दूर करनेवाला, बल और पुरुषार्थ का देनेवाला है। इनके अतिरिक्त समुद्र का जल त्रिदोषकृत् अर्थात् वात-पित्त-कफ इन तीनों दोषों का करनेवाला है।

विशेष वक्तव्य—"प्राच्यावन्त्यपरान्तोत्था" आदि श्लोक का आशय स्पष्ट करते हुए अष्टागसग्रह तथा अष्टांगहृदय के व्याख्याता इन्दु और अरुणदत्त कहते है कि प्राच्य (गौड), अवन्ति (मालव) और अपरान्त (कोंकण) देश की नदिया अर्श (बवासीर) कारिणी होती हैं, परन्तु हेमाद्रि इस अर्थ को नहीं मानता। वह सुश्रत के मतानुसार कहता है कि "अवन्ति देशके पूर्व और पश्चिम की ओर के पर्वतों से निकलनेवाली नदिया अर्शरोगकारिणी होती हैं, न कि गौड-मालव-कोंकण देश की नदियां। इसके अतिरिक्त यहा वाग्भटाचार्य ने सह्याद्रि, विन्ध्याचल व पारियात्र-पर्वतोत्पन्न नदियों के गुण वर्णन में सुश्रुत का अनुवाद किया है।

तदनुसार पारियात्र पर्वत से उत्पन्न नदियों को त्रिदोष हारिणी तथा बलवीर्य की बढानेवाली कहा है, परन्तु चरक स्पष्ट कहते हैं कि उक्त पारियात्रज नदियां शिरोरोग, हृद्रोग, कोढ़ और श्लीपद की हेतु हैं। अत यहा स्पष्ट विरोध दिखाई

१ नद्य पाषाणविच्छिन्नविक्षुब्धाभिहतोदका। हिमवत्प्रभवा पथ्या पुण्या देवर्षिसेविता॥ नद्य पाषाणसिकतावाहिन्यो विमलोदका। मलयप्रभवा याश्च जल तास्वमृतोपमम्॥ इति चरक। सुश्रुतस्तु—मलयप्रभवा क्रिमीन् हिमवत्प्रभवा हृद्रोगश्वयथुशिरोरोग श्लीपदगलगण्डान् कुर्वते। इति।

२ प्राच्यादिजा नद्यो दुर्नामानि—अर्शांसि कुर्वते, प्राच्या—गौडा। अवन्तयो—मालवा, अपरान्ता कोंकणा। इतीन्दुरुणौ। ३ प्राच्यावन्त्यपरा तोत्था इति। उज्जयिन्युपलक्षिता देशा अवन्तय। प्राच्याश्च ते अवन्तयश्च ते प्राच्यावन्तय, अपरे पश्चिमावन्तय तेषामन्ता मर्यादापर्वता तेषु तिष्ठन्तीति तत्स्था। न तु प्राच्या गौडा, अवन्तयो मालवा, अपरान्ता कोंकणा, इति सुश्रुते—"प्राच्यावन्त्या अपरावन्त्याश्चार्शांसि उपनिवर्तयन्ति" इति हेमाद्रि।

४ पारियात्रोद्भवा॰ याश्च याश्च विन्ध्यभवास्तथा शिरोहृद्रोगकुष्ठानां ता हेतु श्लीपदस्य च॥ इति। ५ चरकेण पारियात्रजानां

देता है, किन्तु विश्वामित्र के कथनानुसार हेमाद्रि लिखता है, कि वस्तुत यह विरोध नही है। पारियात्र से निकलनेवाली नदियां दो प्रकार की हैं अर्थात् तालाबों और गुफाओं से निकलनेवाली इनमें पहिली तालाबों से निकलनेवाली त्रिदोषघ्नी और दूसरी गुफाओं से उत्पन्न शिरोरोगादि करनेवाली है। अत सुश्रुत का कथन यहा तालाबों से निकलनेवाली नदियों से और चरक का गुफाओं से निकलनेवाली पारियात्र नामक पर्वत की नदियों से समझना चाहिये। चरक एव सुश्रुत के टीकाकार चक्रपाणिदत्त तथा डल्लन ने भी उपर्युक्त विरोध का परिहार इसी प्रकार से किया है।

कीटाहिमूत्रविट्कोथतृणजालोत्करावलिम्।
पङ्कपङ्कजशैवालहठपर्णादिसस्तृतम्॥
सूर्येन्दुपवनादृष्टं जुष्टं च क्षुद्रजन्तुभि।
अभिवृष्टं विवर्णं च कलुषं स्थूलफेनिलम्॥
विरसं गन्धवत्तप्तं दन्तग्राह्यतिशैत्यत।
अनार्तवं च यद्दिव्यमार्तवं प्रथमं च यत्॥
लूतादितन्तुविण्मूत्रविषसंश्लेषदूषितम्।
तत्कुर्यात्स्नानपानाभ्यां तृष्णाध्मानोदरज्वरान्॥
कासाग्निसादाभिष्यन्दकण्डूगण्डादिकानत।
तद्वर्जयेदभावे वा तोयस्यान्यस्य शस्यते॥

नहीं पीने योग्य जल—कीट (अनेक प्रकार के जन्तुओं) तथा अहि (सर्प) के मूत्र मे जो मलिन हो, इतना ही नहीं, जिसमें विष्ठा, कोथ (मरे हुए शरीर का क्लेद) पडा हो, जिसमें सडी हुई घास पडी हो और जिसमें झाडू या बुहारी से साफ किया हुआ घर का उत्कर (कूडा कर्कट) पड़ा हो, जो कीचड से युक्त हो, जिसमें कमल के पास जमा हुआ प्रचुर शैबाल हो, जिसमे अनेक वृक्षों की पत्तिया सड रही हों, अथवा हठ सज्ञक मूलरहिततृणविशेष से व्याप्त हो, जिस पर सूर्य-चन्द्रमा का प्रकाश न पड़ता हो और जो वायु के स्पर्श से रहित हो, जिसमें अनेक क्षुद्र जन्तु (क्रिमि) पडे हों, जो अभिवृष्ट अन्य बरसे हुए जल से मिश्रित तुरन्त का बरसा हुआ हो, विवर्ण अर्थात् जिसमें जल का असली वर्ण न हो, जो कलुष (विष आदि के सपर्क से दूषित) हो, जिस पर स्थूल फेन (फेस) आए हुए हों, जो विरस (जल के स्वाद से रहित) हो, जिसमें दुर्गन्ध हो, जो भौम जल सूर्य की किरणों से संतप्त हो, जो अतिशीतता के कारण दन्तग्राही (दांतों को जकड़ कर कार्यक्षम न रहने देनेवाला) हो, जो दिव्य होते हुए भी वर्षा के सिवाय अन्य ऋतुका बरसा हुआ (अनार्तव) हो और जो आर्तव अर्थात् वर्षा ऋतुका बरसा हुआ होने पर भी प्रथम ही बरसा हो। इनके अतिरिक्त जो लूता (मकड़ी), तन्तु (लम्बे कीड़ों) से तथैव विष्ठा-मूत्र तथा विष के संयोग से

शिरोरोगादिकर्तृत्वमुक्त, इह तु दोषत्रयहरत्वमिति विरोध। मैवम्। द्विधा हि पारियात्रजा, तडागजा, दरीजाश्च तत्राद्या दोषघ्न्य, अपरा शिरोरोगादिकर्त्र्य। उक्त हि विश्वामित्रेण—"तडागज दरीज च तडागाद्यत्सरिज्जलम् बलारोग्यकर तत्स्यात्, दरीज दोषल मतम्। इति।

१ हठपर्णादि, इतीन्दुसमतपाठ। २ कोथो मृतशरीरक्लेद। ३ उत्करो गृहादिमार्जनराशि। ४ हठो निर्मूलोद्भवस्तृणविशेष।

दूषित हो, ऐसे जलको स्नान तथा पान (पीने) के काम में नहीं लाना चाहिए।

दूषित जल के पान और स्नान से हानि—उपर्युक्त अनेक प्रकार से दूषित जल का व्यवहार स्नान और पान में इसलिए नहीं करना चाहिए कि वह जल तृष्णा, आध्मान (पेट का फलना), प्लीह, यकृत् आदि आठों प्रकार के उदर, ज्वर, खासी, अग्निमान्द्य, अभिष्यन्द, कण्डू (खाज) तथा गलग ण्डादि फोडे फुन्सियों का करनेवाला होता है।

शुद्ध जल के अभाव में शोधित जल का विधान— शुद्ध जल का अभाव ही हो तो "तोयस्यान्यस्य शस्यते" अर्थात् अन्य जल पीना चाहिए। भावार्थ यह है कि पूर्वोक्त दूषित जल को ही शुद्ध करके स्नानपानादिके काम में लाना चाहिए। इसी लिए आगे किस प्रकारके दूषित जल का सशोधन कैसे करना चाहिए यह बताया गया है।

घनवस्त्रपरिस्रावै क्षुद्रजन्त्वभिरक्षणम् ।
व्यापन्नस्यास्य तपनमग्न्यर्कायसपिण्डकैः ॥
पर्णीमूलविसग्रन्थिमुक्ताकतकशैवलैः ।
वस्त्रगोमेदकाभ्या वा कारयेत्तत्प्रसादनम् ॥
पाटलाकरवीरादिकुसुमैर्गन्धनाशनम् ।

दूषित जल सशोधनविधि— जल मे क्षुद्र जन्तु पड़े हों तो उस को घनवस्त्र (गाढ़े कपडे) से कई बार छान कर काममे लाना चाहिए। व्यापन्न (पैच्छिल्यादि-युक्त) जल हो तो उसे अग्नि द्वारा, सूर्यद्वारा अथवा लोहे के गोलेको तपाकर जल में बुझाने से तपे हुए जल को काम मे लाना चाहिए। यदि जल मलिन हो तो उसे पर्णीमूल (एरका पित्ती–दण्डेरक–पट्टेरकमूल) कमलनालकी ग्रन्थि, मोती, निर्मलीबीज, शैवल (कच्छ या पद्मकाष्ठ) वस्त्रस्रावण (वस्त्र से छानकर) अथवा गोमेदक (अकोल या गोमेदनामक रत्न) इनमें से जो प्राप्त हो, उससे जल को प्रसादन (साफ) करके काम में लाना चाहिए। यदि जल में दुर्गन्धि हो तो उसको गुलाब-कनेर आदि पुष्पों से सुगन्धित करके स्नान-पानादि काम मे लाना चाहिए।

पानीयं न तु पानीयं पानीयेऽन्यप्रदेशजे ।
अजीर्णे क्वथितं चामे पक्वे जीर्णेऽपि नेतरत् ॥
शीते विधिरयं तप्ते त्वजीर्णे शिशिरं त्यजेत् ।

अजीर्ण में जलपानविधि—अन्य प्रदेशोत्पन्न जल के अजीर्ण में जलपान नहीं करना चाहिए। भावार्थ यह है कि अन्य प्रदेशोत्पन्न जल का जबतक पाचन न हो जाय तबतक विजातीय जल का पान नहीं करना चाहिए। यहा विजातीय या अन्य प्रदेशोत्पन्नका अर्थ जैसे कि कूप और तालाब का जल परस्पर विजातीय है। साराश यह है कि कूपजल के अजीर्ण में जबतक वह (कूपजल) जीर्ण न हो जाय (पच न जाय) तबतक तालाब का जल नहीं पीना चाहिए। इसी प्रकार तालाब के जल के अजीर्ण में कौप (कुवे का) जल नहीं पीना चाहिए। आम अर्थात् कच्चे जल के अजीर्ण में क्वथित (उबाला हुआ) जल नही पीना चाहिए। इसी प्रकार क्वथित जल के अजीर्ण में जबतक वह (क्वथित जल) जीर्ण न हो जाय तबतक आम (कच्चा) जल नहीं पीना चाहिए। इसमें जबतक भोजन न करले तब तक सजातीय जल भी नहीं पीना चाहिए। तप्त जल के अजीर्ण में जब तक वह जीर्ण न हो जाय तब तक शीतल (ठडा) जल नहीं पीना चाहिए। परन्तु पक्व जल के जीर्ण हो जाने पर शीतल (ठडा) जल पीना चाहिए।

पानीयं प्राणिनां प्राणा विश्वमेव च तन्मयम् ।
अतोऽत्यन्तनिषेधेऽपि न क्वचिद्वारि वार्यते ॥
आस्यशोषाङ्गसादाद्या मृत्युर्वा तदलाभतः ।
न हि तोयाद्विना वृत्तिः स्वस्थस्य व्याधितस्य वा ॥

जल की नितान्त आवश्यकता— जल पर प्राणियों के प्राण अवलम्बित हैं क्योंकि जल सब के लिए आह्लादकारक है। इतना ही नहीं, समस्त स्थावर-जंगम जगत् जलमय है अत अत्यन्त निषेध करनेपर भी कही जल का निवारण नही हो सकता। सच तो यह है कि जल के न मिलने पर मुखशोष (मुह का सूखना) ही नहीं, शोष (क्षय), शरीर का शिथिल होना अथवा जल के न मिलने से प्राणी मृत्यु के मुख मे भी पड़ सकता है। इस लिए चाहे कोई स्वस्थ हो, चाहे रोगी, इन सब के लिए जल नितान्त आवश्यक वस्तु है। बिना जल के किसी का काम ही नही चल सकता।

केवलं सौषधं पक्वमाममुष्णं हितं च तत् ।
समीक्ष्य मात्रया युक्तममृतं विषमन्यथा ॥

जल का हिताहित कारित्व—जल केवल औषध के साथ क्वथित (पक्व), आम (कच्चा) और उष्ण ही क्यों न हो, वह हितकारी ही होता है। साराश, बड़े बिचार के साथ उपयुक्त मात्रा मे जल का सेवन अमृत के समान होता है और वही, विना विचार के अनुपयुक्त मात्रा में सेवन कराया हुआ जल विष के समान होता है।

अतियोगेन सलिलं तृष्यतोऽपि प्रयोजितम् ।
प्रयाति श्लेष्मपित्तत्वं ज्वरितस्य विशेषतः ॥
वर्धयत्यामतृण्निद्रातन्द्राध्मानाङ्गगौरवम् ।
कासाग्निसादहृल्लासप्रसेकश्वासपीनसान् ॥

अधिक जलपान से हानि—यदि मनुष्य प्यासा भी हो, और वह जल अधिक पी जाय तो वह जल कफपित्तता को प्राप्त होता है अर्थात् उस मे कफ और पित्त मिलकर कुपित होते हैं और ज्वरित (ज्वरवाले) मनुष्य के लिए तो विशेष कुपित होते हैं और वह अधिक पान किया हुआ जल शरीर

१ अन्यजलालाभे कृतसंस्कार शस्यते। तमेव च सस्कार दर्शयति घनवस्त्रपरिस्रावै रित्यादि। २ पर्णीमूलमेरकामूलम्। एरका काश्मी रेषु पित्तीति, अन्यत्र दण्डेरक-पट्टेरकभेदेन प्रसिद्धम्। ३ 'शैवल कच्छम्,' इतीन्दु, 'शैवल पद्मकाष्ठम्, इति वैद्यकशब्दसिन्धु

१ सर्वं पानीयमन्यप्रदेशजे पानीये अजीर्णे न पानीय न पेय मिति। तेनैतदुक्त भवति विजातीये पानीये पीते तज्जरणान्त याव-द्विजातीय पानीय न पेयमिति। यथा कौपे ताटाक ताटाके कौप-मिति इन्दु। २ तस्य शोषेत्यादि पाठान्तरम्। ३ तस्येति पूर्वपा

मे आम की वृद्धि कर के तृष्णा, निद्रा, तन्द्रा, आध्मान (अफारा), शरीर मे जड़ता, खासी, अग्निमान्द्य, उबकाई, लार टपकना, श्वास और पीनस रोग को करता है।

पाके स्वादु हिमं वीर्ये तदुष्णमपि योजितम्।
तस्मादयोगपानेन लाघवान्न वियोजयेत् ॥

जल की सदैव उपयुक्तता—जल का विपाक मधुर होता है और वह शीतवीर्य है। इतना ही नहीं, उष्ण जल की योजना करने पर भी शीतवीर्यता के कारण जल अन्ततोगत्वा शीत वीर्य ही रहता है। इस लिए अयोगपान (अतिस्वल्पपान) करके भी जल के लाघव से वंचित नहीं रहना चाहिए। भावार्थ यह है कि स्वल्पातिस्वल्प पान ही क्यों न हो, जब तब जल के पान से लाभ उठाना चाहिए।

आमविष्टब्धयोः कोष्णं निष्पिपासोऽप्यपः पिबेत्।
यावन्त्यः क्लेदयन्त्यन्नमतिक्लेदोऽग्निनाशनः ॥
विबद्धः कफवाताभ्यां मुक्तामाशयबन्धनः।
पच्यते क्षिप्रमाहारः कोष्णतोयद्रवीकृतः ॥

कदुष्ण जल के गुण—आमाजीर्ण तथा विष्टब्धाजीर्ण इन दोनों मे प्यास न रहते हुए भी मनुष्य को कोष्ण (नीम गरम) जल पीना चाहिए परन्तु मात्रा में इतना ही कोष्ण जल पीवे जिस से कफ और वायु से आमाशय मे बद्ध अन्न का पिण्ड क्लेदित हो जाय। साराश यह है कि मात्रा से अधिक इतना कदुष्ण जल नहीं पीना चाहिए जिससे अन्न का क्लेदन अधिकाधिक न हो जाय क्योंकि अतिक्लेद जठराग्नि का नाशक होता है। युक्तिपूर्वक पान किए हुए कोष्ण जल से कफवायु से विबद्ध आहार किए हुए अन्न का पिण्ड आमाशय से विमुक्त होता हुआ द्रवीभूत होकर बहुत जल्दी आहार को पचा देता है।

अनवस्थितदोषाग्नेर्व्याधिक्षीणबलस्य च।
नाल्पमप्याममुदकं हितं तद्धि त्रिदोषकृत् ॥
तेजसः प्रतिपक्षत्वान्मन्दाग्निर्वर्जयेज्जलम्।
सर्वमेव[1] तथा स्यन्दप्लीहविद्रधिगुल्मिनः ॥
पाण्डूदरातिसारार्शोग्रहणीशोषशोफिनः।
काममल्पमशक्तौ तु पेयमौषधसंस्कृतम् ॥
ऋते शरन्निदाघाभ्यां पिबेत्स्वस्थोऽपि चाल्पशः ॥

कुछ के लिये जलपान का निषेध—जिसके वात पित्त और कफ ये तीनों दोष तथैव जठराग्नि ये अनवस्थित है अर्थात् दोष और अग्नि की परिस्थिति एक सी नहीं है और जो रोग के कारण क्षीणबल हो गया हो तो उसको अल्प आमोदक (कच्चा जल) भी नहीं पीना चाहिए। जल अग्नि का प्रतिपक्षी (वैरी) होने से मन्दाग्निवाले को चाहिए कि वह जल न पीवे क्योंकि उसके लिए आमोदक (कच्चा जल) त्रिदोषकारक होता है। इसी प्रकार चाहे पका हुआ हो चाहे कच्चा जल हो, स्यन्द (नेत्राभिस्यन्द रोग, तिल्ली, विद्रधि, गुल्म, पाडु, उदररोग, अतिसार, अर्श, सग्रहणी, शोष (क्षय का भेद) और शोथ इन सब के रोगियों को नहीं पीना चाहिए। अशक्तावस्था मे अधिक नहीं किन्तु स्वल्प जलपान करना चाहिए क्योंकि वैसी अवस्था मे जल के न मिलने से प्राणों की धारणा असम्भव हो जाती है। परन्तु यह अल्प जल भी तत्तद्रोगनाशक ओषधियों के साथ परिपक्व (संस्कृत) किया हुआ पीना चाहिए। स्वस्थावस्था मे भी शरद् और ग्रीष्म ऋतु को छोड़कर अन्य ऋतुओं मे वारम्बार थोड़ा २ जल पीना चाहिए भावार्थ यह कि शरद् और ग्रीष्म इन दो ऋतुओं मे जल यथेच्छ (पर्याप्त) पीना चाहिए।

भक्तस्यादौ जलं पीतमग्निसादं कृशाङ्गताम्।
अन्ते करोति स्थूलत्वमूर्ध्वं चामाशयात्कफम् ॥
मध्ये मध्याङ्गतां साम्यं धातूनां जरणं सुखम्।

भोजन के आदि मध्यान्त मे जलपान का फल—भोजन के आदि मे पिया हुआ जल अग्निमान्द्य तथा शरीर मे कृशता करनेवाला होता है। पूर्ण भोजन कर लेने के बाद पान किया हुआ जल शरीर मे स्थूलता लाता है और आमाशय पर कफ की वृद्धि करता है। भोजन के मध्य का जलपान मध्याङ्गता (शरीर मे न स्थूलता व न कृशता हो) करता है। साराश शरीर का सुडौल रखता है, धातुओं (वात-पित्त-कफादि) मे साम्यता लाता है अर्थात् 'रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता' इस वाक्य के अनुसार भोजन के मध्य मे पिया हुआ जल शरीर मे नीरोगता प्राप्त कराता है तथा किए हुए आहार को सुख से (बहुत जल्दी) पचाता है।

शीतं मदात्ययग्लानिमूर्च्छाच्छर्दिश्रमभ्रमान्।
तृष्णोष्णदाहपित्तास्रविषाण्यम्बु नियच्छति ॥

शीतल जल के गुण—शीतल जल मदात्यय, ग्लानि, मूर्च्छा, छर्दि, श्रम, भ्रम, तृष्णा, उष्णदाह[1] (उष्णकाल से तथा उष्ण आहार आदि से उत्पन्न उष्णदाह), रक्तपित्त और विष को बाधाओं को नष्ट करता है।

क्षीणपादत्रिभागार्धं देशर्तुगुरुलाघवात्।
क्वथितं फेनरहितमवेगममलं हितम् ॥
हिध्माध्मानानिलश्लेष्मतृट्कासश्वासपीनसे।
पार्श्वशूलाममेदस्सु सद्यःशुद्धौ नवज्वरे ॥
दीपनं पाचनं कण्ठ्यं लघु बस्तिविशोधनम् ॥

क्वथित जल के गुण—देश तथा ऋतु के अनुसार जल के गुरु-लाघव का विचार करके "क्षीणपादत्रिभागार्ध" जल को औटाना चाहिए अर्थात् औटाते हुए जल का एक भाग जलकर (चतुर्थांश कम होकर) शेष तीन भाग अथवा त्रिभाग तृतीयांश कम करके शेष दो भाग किंवा आधा भाग जलाकर शेष रहा हुआ आधा भाग इस प्रकार औटाया हुआ फेन या फेसरहित, अवेग (उफानरहित) निर्मल जल का सेवन हिचकी, आफरा (पेट का फूलना), वायु तथा कफ का

१ सर्वमेवादि पद्यद्वयमेतद्धेमाद्रिसमतं नास्ति किन्त्वेतेषां स्थाने वक्ष्यमाणमग्रे सार्धं पद्यद्वयमस्ति। यथा—तोयं वह्निगुणभ्रष्टं पाकेऽम्लं सर्वदोषकृत्। भवेत्पर्युषितं तच्च तोयं तु करकोद्भवम् ॥ अतिशैत्यगुरुस्थैर्यत्वघाति कफवातकृत्। चन्द्रकान्तभवं रक्षो विषपित्तज्वरापहम्। दृष्टिमेधावपुस्स्थैर्यकरं स्वादु हिमं कटु ॥ इति।

१ उष्णेन कालेन उष्णेनाहारादिना च दाहः उष्णदाहः।

प्रकोप, तृष्णा, खासी, पाश्वर्शूल (पसली की पीडा), आम दोष, मेदोवृद्धि, तुरन्त का शुद्ध हुआ नवज्वर इन सब मे हितकारी होता है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार का क्वथित जल जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाला, आम को पचानेवाला, कण्ठ के स्वर को शुद्ध करनेवाला, हलका और वस्तिको विशोधन (विशेषरूपेण शुद्ध करनेवाला) होता है।

विशेष वक्तव्य—देश-ऋतु के अनुसार जहा जल का स्वल्प गुरुत्व हो वहा चौथाई भाग कम करके अर्थात् सेर का तीन पाव रखकर, जहा जल का अधिक गुरुत्व हो वहा सेर मे तीसरा हिस्सा कम करके और जहा जल मे अत्यन्त गुरुत्व हो वहा सेर का आधा शेष रखकर जल को काम में लाना चाहिए। क्वथित जल वस्तुत तब जानना चाहिए जब औटाते हुए वह फेनरहित हो जाय[1]।

पाषाणरूप्यमृद्धेमजतुतापार्कतापितम् ।
पानीयमुष्ण शीत वा त्रिदोषघ्नं तृडर्तिजित् ॥
लघ्वरूक्ष क्लमघ्न च तोय क्वथितशीतलम् ।
ससर्गे पित्तकफयो सन्निपाते च शस्यते ॥
तोय वह्निगुणभ्रष्ट पाकेऽम्ल सर्वदोषकृत् ।
भवेत्पर्युषितं तच्च ॥

पाषाणादितापित जल के गुण—पत्थर, रूप्य (रजत-चादी), मिट्टी, सोना और लाख, इनमें से किसी एक को तपा कर जल में बुझाने से जो उष्ण जल होता है अथवा जो धूप में रखकर सूर्य के ताप से उष्ण होता है, वह जल गरम या ठण्डा पीने से त्रिदोषनाशक तथा तृषा की पीडा को दूर करनेवाला होता है।

क्वथित शीतल जल के गुण—औटाकर ठण्डा किया हुआ जल हलका, रूक्षता से रहित, ग्लानि को दूर करनेवाला, पित्त और कफ के ससर्ग में हितकारी तथा सन्निपात का नाश करता है।

क्वथितोष्णपर्युषित जल के दोष—औटाकर ठण्डा किया हुआ बासी (जिस पर एक अहोरात्र बीत जाय वह) जल अग्नि के लघुत्व-दीपनत्व आदि गुणों से रहित, पाक में खट्टा तथा सर्वदोषकृत् अर्थात् वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषों को उत्पन्न करनेवाला होता है।

तोय हिमकरोद्भवम् ।
अतिशैत्यगुरुस्थैर्यसघातै कफवातकृत् ॥
चन्द्रकान्तभव रक्षोविषपित्तज्वरापहम् ।
दृष्टिमेधावपुस्स्थैर्यकर स्वादु हिम लघु ॥
नारिकेलोदक स्निग्ध स्वादु वृष्य हिम लघु ।
तृष्णापित्तानिलहर दीपन वस्तिसाधनम् ॥
दिव्य वारि वर वर्षे नादेयमवर परम् ॥

हिम जल के गुण—हिमकरोद्भव अर्थात् चन्द्रमा की शीतल किरणों से उत्पन्न हिमजल अर्थात् बरफ अतिशीतलता, गुरुता तथा स्थिरता के कारण कफ और वायु का करनेवाला होता है।

चन्द्रकान्त मणि के जल के गुण—चन्द्रकान्त मणि से उत्पन्न जल राक्षस, विष और पित्तज्वर का नाशकारक है। इतना ही नहीं, चन्द्रकान्तमणि का जल दृष्टि, मेधा (बुद्धि) तथा शरीर को स्थिर करनेवाला, मधुर, शीतल और हल्का होता है।

नारिकेल जल के गुण—नारियल के भीतर का जल स्निग्ध (सचिक्कण), मधुर (मीठा), पुष्टि कारक, शीतल, हल्का, प्यास-पित्त और वातनाशक, अग्निप्रदीपक तथा मूत्र को शुद्ध करता है।

वक्तव्य—कुछ पके हुए गीले नारियल के अन्दर के जल को नारिकेलोदक कहते हैं। कुछ सुश्रुत के अनुयायी नारियल के जल को गुरु कहते हैं[1]। इसका कारण गुरुपाक बताते हैं परन्तु यहा तो गुरु लघुपाक की द्विविधा का अभाव होने से लघु (हल्का) मानना ही ठीक है क्योंकि नारिकेल का जल लघुगुणवाला ही है।

वर्षाकालीन दिव्य और नदी-जल के गुण—वर्षाकाल का दिव्य (आकाश से गिरते समय अधर से ग्रहण किया हुआ) जल अत्यन्त पथ्य (हितकारी) है परन्तु वही नदी से ग्रहण किया हुआ नितान्त अपथ्य होता है। इति जलवर्ग।

जलवर्ग के अनन्तर अब आचार्य क्षीर (दुग्ध) वर्ग का उपक्रम करते हैं, इस लिए कि दूध और जल इन दोनों की सामान्य सज्ञा पय है। इतना ही नही, जल की तरह दूध भी सब के लिये आजन्म (जन्म से लेकर मरणपर्यन्त) सात्म्य है तथा जीवनीय गण और रसायनों में दूध अग्रेसर है, दही आदि का मूल कारण है[2]।

अथ क्षीरवर्ग ।

स्वादुपाकरस[3] स्निग्धमोजस्य धातुवर्धनम् ।
वातपित्तहर वृष्य श्लेष्मल गुरुशीतलम् ॥
प्राय पय ।

सब सामान्य दूध के गुण—प्राय सब प्रकार का दूध पाक तथा रस में मधुर (मीठा) है, स्निग्ध, ओजस्य (रसरक्तादि समस्त धातुओं के सार ओज के लिए हितकारी), धातुवर्धन

१ तच्चाम्बु हिध्मादिषु क्वथित पेयम्। का क्वथनमात्रेत्यत्रोच्यते। देशर्तुगुरुलाघव विकल्प्य क्षीणचतुर्भाग वा क्षीणत्रिभाग वा क्षीणार्धं वेति त्रिधा। तेनैतदुक्त भवति। यत्कचिद्देशर्तौ वा स्वल्पेन गुरुत्वेन युक्तमुदक तत्क्वथनेन क्षीणचतुर्भागम्। अधिकगुरौ क्षीणत्रिभागम्। अत्यन्तगुरौ अर्धक्षीणमिति। तच्च जलमग्निसयोगेऽपि आफेनपरिक्षयादाम भवति। फेनरहित तु क्वथित भवति। उष्णमुदक दीपन आमदोषपाचनम्। इत्यादीन्दु।

१ नारिकेलोदक केचित् सुश्रुताध्यायिनो गुर्विति पठन्ति गुरुपाकत्वात्। इह तु गुरुलघुपाकद्वैविध्याभावाल्लघ्वित्येव पठनीयम्। इति हेमाद्रि। २ परिशेषेभ्यो वर्गेभ्य प्राग्बहुजनोपयोगितयोपकारित्वेनाजन्मसात्म्येन प्राधान्यात्पय सज्ञासामान्यात्पयस इव जीवनादिगुणयोगाच्च तोयवर्गादनु क्षीरवर्ग प्रक्रम्यते। तत्रापि दध्यादीनां मूलकारणत्वात् क्षीरस्य प्रागुपादानम्। तथा जीवनीयानां रसायनानां चाग्रेसरत्वात्, इत्यरुण। ३ गव्य माहिषमाज च कारभ स्त्रैणमाविकम्। ऐभमैकशफ चेति क्षीरमष्टविध मतम्॥ पद्यमेतत्केषु प्रत्नपुस्तकेषु वर्तते प्रथम तदनु 'स्वादुपाकरसमित्यादि।

अर्थात् रसरक्तादि समस्त धातुओं का बढानेवाला, वायु और पित्त को हरनेवाला, वृष्य (अतिशय वीर्य का बढ़ानेवाला), कफकारक या कफ का बढानेवाला, भारी तथा शीतल (ठडा) होता है।

विशेष वक्तव्य—यहा प्राय का ग्रहण इस लिए है कि सभी प्रकार के दूध स्वादुपाकरस (रस और पाक में मीठे) नहीं होते, जैसे कि उष्ट्री (साडनी का) दूध कुछ रूखा, उष्ण और नमकीन होता है। बकरी का दूध हल्का, भेड का दूध उष्ण तथा एक खुरवाली (घोडी गर्दभी आदि) का दूध गरम, कुछ अम्लतायुक्त नमकीन होता है[1]

अत्र गव्य तु जीवनीय रसायनम् ।
क्षतक्षीणहित मेध्य बल्य स्तन्यकर सरम् ॥
श्रमभ्रममदालक्ष्मीश्वासकासातितृट्क्षुध ।
जीर्णज्वर मूत्रकृच्छ्र रक्तपित्त च नाशयेत् ॥

गोदुग्ध के गुण—सब प्रकार के दूधों में गाय का दूध सर्वश्रेष्ठ माना गया है अत सब से प्रथम उसका वर्णन करते है। गाय का दूध जीवनीय अर्थात् सौम्य धातु को बढानेवाला, रसायन (वृद्धावस्था तथा व्याधिका नाशक), उर क्षत के रोगी के लिए तथा क्षीणधातुवाले को हितकारी, बुद्धिवर्धक, बल को देनेवाला, स्त्रियों के स्तन्य (दूध) को बढानेवाला, समस्त शरीर में व्याप्त होनेवाला, श्रम-भ्रम-मदात्यय—अलक्ष्मी (दरिद्रता)-श्वास-कास-अतितृषा-क्षुधा-जीर्णज्वर मूत्रकृच्छ्र-रक्तपित्त, इन सब को नष्ट करनेवाला है।

हितमत्यग्न्यनिद्रेभ्यो गरीयो माहिष हिमम्[1] ।
अल्पाम्बुपानव्यायामकटुतिक्ताशनैर्लघु ॥
आज शोषज्वरश्वासरक्तपित्तातिसारजित्[2] ।
ईषद्रूक्षोष्णलवणमौष्ट्रक दीपन लघु ॥
शस्त वातकफानाहक्रिमिशोफोदरार्शसाम्[3] ।
मानुष वातपित्तासृगभिघाताक्षिरोगजित् ॥
तर्पणाश्च्योतनैर्नस्यैरहृद्य तृष्णामाविकम् ।
वातव्याधिहर हिध्माश्वासपित्तकफप्रदम् ॥
हस्तिन्या स्थैर्यकृद्गाढमुष्ण त्वैकशफ लघु ।
शाखावातहर साम्ललवण जडताकरम् ॥

महिषीदुग्ध के गुण—भैस का दूध अत्यग्नि अर्थात् जिनकी जठराग्नि अत्यन्त प्रबल है तथा जिन को नींद नहीं आती हो, इन दोनों के लिए हितकारी (पथ्य) है और अन्य दूधों से गरीय (विशेष भारी) तथा हिम (अतिशय शीतवीर्य) है।

विशेष वक्तव्य—महिषीदुग्धविषय मे चरक और सुश्रुत में कुछ विरोध दिखाई देता है। चरक के मत में "भैंस का दूध गोदुग्ध की अपेक्षा विशेष गुरु (भारी) अतिशीतवीर्य, स्नेह मे न्यून, जिन को नींद न आती हो और जिन की जठराग्नि प्रबल हो, इन दोनों के लिए हितकारी है।" सुश्रुत का कथन है कि—"भैंस का दूध गोदुग्ध की अपेक्षा अतिस्निग्ध, भारी, महाभिष्यन्दि (अत्यन्त क्लेदक), मीठा, जठराग्निनाशक तथा नींद लानेवाला है।" यहा चरक के कथनानुसार गोदुग्ध की अपेक्षा भैस के दूध में स्नेहोनत्व हृद्यादि गुणविषयक है अर्थात् भैस के दूधसे उत्पन्न स्नेह से गाय के दूध से उत्पन्न स्नेह हृद्यादि गुणों में अधिक है। सुश्रुतोक्त स्नेह की अधिकता मात्राविषयक है अर्थात् जितने गाय के दूध से जितनी स्नेहप्राप्ति होती है, उतनी भैस के दूध से नहीं होती। इसी लिए क्षारणादि ने गाय के दूध को उत्तम बताया है। साराश, इस प्रकार से चरक-सुश्रुत मे विरोध नहीं समझना चाहिए।

अजादुग्ध के गुण—बकरी स्वभाव से ही कम पानी पीनेवाली तथा व्यायाम करनेवाली अर्थात् प्राय सदैव इधर-उधर घूमनेवाली, कटु और तिक्त (चरपरा तथा कडुवा) खानेवाली है, इस लिए बकरी का दूध हल्का होता है और वह शोष (क्षयविशेष), ज्वर, श्वास, रक्तपित्त तथा अतीसार को जीतनेवाला अर्थात् नष्ट करनेवाला है।

विशेष वक्तव्य—ध्यान रहे कि यहा अल्प जलपान, व्ययाम और कटुतिक्ताशन के कारण बकरी का दूध लघु (हल्का) होता है परन्तु विपरीत, इसके यदि बकरी देश-कालानुसार अधिक जल पीनेवाली, व्यायाम न करनेवाली एव कटुतिक्त की जगह मधुरादि पदार्थों को खानेवाली है तो उसका दूध लघु की जगह गुरु भी हो सकता है। यही बात गाय आदि के विषय में समझ लेनी चाहिए। साराश यह कि गाय आदि भी यदि बकरी की तरह अल्प जल पीनेवाली व्यायाम करनेवाली तथा कटु तिक्त खानेवाली हो तो उनका दूध भी गुरु की जगह लघु (हल्का) हो सकता है।

उष्ट्रीदुग्ध के गुण—ऊटनी या साडनी का दूध किंचित् रूखा, उष्ण और नमकीन होता है, इतना ही नहीं, उष्ट्री-दुग्ध अग्निप्रदीपक, हल्का, वात-कफ-आनाह (पेटका फूलना) कृमि-शोथ-उदर (प्लीहोदरादि) तथा अर्श (बवासीर) में हितकारी औषध है।

स्त्रीदुग्ध के गुण—स्त्री (मानुषी) का दूध (स्तन्य) इसी स्थान मे आगे कहे हुए तर्पण, आश्च्योतन तथा नस्यद्वारा वात, पित्त, रक्त और अभिघात (चोट आदि) से होनेवाले नेत्ररोगों का नाशक है।

वक्तव्य—यहा तर्पण का भावार्थ नेत्रों में ओषधि के भरने से

---

१ प्रायोग्रहणात्कदाचित्क्षीर नैव भवति। तथा चोष्ट्रीक्षीरमीषद्रूक्षोष्णलवण पठ्यते। अजाक्षीर च लघु। आविकमुष्णमैकशफमुष्ण साम्ललवण चेति अरुणदत्त।

---

१ महिषीणा गुरुतर गव्याच्छीततर पय। स्नेहादूनमनिद्राणा मत्यग्नीना हित च तत्॥, इति चरक। सुश्रुतस्तु—"महाभिष्यन्दि मधुर माहिष वह्निनाशनम्। निद्राकर शीततर गव्यात्स्निग्धतर गुरु॥" इति। तत्र चरकोक्त-गव्यान्माहिषस्य स्नेहोनत्व हृद्यादि गुणविषयम्, माहिषक्षीरजाद्गव्यक्षीरज स्नेहो हृद्यादिभिर्गुणैरधिक इत्यर्थ। सुश्रुतोक्तं स्नेहाधिकत्व मात्राविषय यावतो गव्यात् क्षीराद्यावान् स्नेहस्तावतो माहिषान्न ततोऽधिकमित्यर्थं। अत एव क्षारणादिनोत्तमशब्द प्रयुक्त—गव्य स्नेहोत्तम क्षीरमित्यादि हेमाद्रि।

२ यदा अजा अप्यव्यायामा गुर्वशनादि कुर्युस्तदा तासामप्यन्यथा क्षीर भवेत्। एव च गवादीनामप्याहारादिवशाद्गुरुलघुत्व चिन्त्यम्, इतीन्दु।

३ 'शस्त वातादिषु पथ्यम्, इत्यरुण। शस्तमौषध इति हेमाद्रि।

है। इसी प्रकार आश्च्योतन का नेत्रों मे ओषधि (स्त्रीदुग्ध) के सेचन (तरेडा देने) से तथा नस्य (नासिकाद्वारा स्त्री दूध के सूघने) से है। यहा तर्पण, आश्च्योतन नेत्ररोगों के विनाशार्थ बताए हैं और नस्य शिरोगत रोगों तथा वायु आदि दोषों के शमनार्थ है। इनके अतिरिक्त स्त्री का दूध पुरुष के लिए जीवन, बृहण, सात्म्य और स्नेहन है, नस्य द्वारा रक्त पित्त को नष्ट करता है तथा तर्पणादि द्वारा नेत्र रोगों को दूर करता है।

भेड़के दूधके गुण—आविक अर्थात् भेडी का दूध अहृद्य (हृदय को न भाने-वाला), उष्णवीर्य, वातव्याधि को दूर करनेवाला है परन्तु हिचकी, श्वास, पित्त और कफ का करने वाला है। यहा कुछ विरोधसा प्रतीत होता है। खारणादि का कथन है कि भेड़ का दूध मधुर, अम्लपाकी, स्निग्ध, उष्ण, भारी, पित्त और कफ का करनेवाला, पुष्टिकारक, हिचकी-श्वास और वायु को दूर करनेवाला है। मूल में "हिध्माश्वासपित्तकफप्रदम्" कहा है, यह स्पष्ट विरोध दिखाई दे रहा है। एक कहता है भेड़ी का दूध हिचकी-श्वास-पित्त और कफ को करता है, तो दूसरा हिचकी-श्वास और वायु को हरनेवाला बता रहा है। वस्तुत यह विरोध नहीं, किन्तु केवल समझ का फेर है। साराश यह है कि भेड़ी का दूध कफ और पित्त से उत्पन्न हिक्का-श्वास को करता है और वायु से उत्पन्न हिक्का श्वास को हरता है। सुश्रुत ने इस विषय में स्पष्ट कहा है कि—भेड़ी का दूध मधुर (मीठा), स्निग्ध, गुरु और कफ को करने वाला, किन्तु वायु से उत्पन्न रोगों में एव वायुजन्य श्वास में पथ्य (हितकारी) है।

हस्तिनीदुग्ध के गुण—हथिनी का दूध स्थैर्यकृत् अर्थात् देह को अतिशय मजबूत (दृढ करनेवाला) है।

एकशफदुग्ध के गुण—एकशफ अर्थात् जिनके खुर में विभाग नहीं है, ऐसी घोड़ी-गधी आदि का दूध अतिशय उष्ण, हल्का, शाखा-वातहर (बाहू-उरु आदिगत वात को हरनेवाला), साम्ल लवण (कुछ खट्टा तथा कुछ नमकीन) और शरीर में जडता कि वा बुद्धिहीनता लानेवाला है।

१ स्त्रैणगुणानाह—तर्पण नेत्रपूरणम्। आश्च्योतन नेत्रसेचन ताभ्यामक्षिरोगान् जयति। नस्येन शिरोगतान्वातादींश्च। उक्त हि चरकेण—"जीवन बृहण सात्म्य स्नेहन मानुष पय। नावन रक्तपित्तस्य तर्पण चाक्षिरोगिणाम्, इति हेमाद्रि।

२ खारणादिस्त्वाह—स्वाद्वम्लपाक स्निग्धोष्ण गुरुपित्तकफोल्वणम्। आविक बृहण क्षीर हिक्काश्वासानिलापहम्॥ इति तत्र हिक्काश्वासौ कफपित्तजौ करोति, वातजौ हरतीत्यविरोध। उक्त हि सुश्रुतेन—आविक मधुर स्निग्ध गुरुपित्तकफावहम्। पथ्य केवलवातेषु श्वासे चानिलसम्भवे॥ इति हेमाद्रि। ३ हस्तिन्या इति—स्थैर्यकृत देहदाढर्यकृत, बाढ अत्यर्थम्, इति हेमाद्रि।

४ एकशफा—अविभागखरा वडवागर्दभ्यादय। शाखा बाह्यो रोगमार्ग। साम्ललवण—ईषदम्लमीषल्लवणम्। जडता—प्रज्ञाहीनत्वम्" इति हेमाद्रि। "शाखासु—बाहूरुप्रभृतिषु यो वातः, त हरतीति शाखावातहरम्। साम्ललवण—ईषदम्लमीषल्लवण च। तथा—जडताकरम्—अङ्गजाड्यकरणहेतु" इत्यरुणदत्त। इन्दुस्तु जाड्य-स्तैमित्यमिति वदति।

पयोऽभिष्यन्दि गुर्वाम युक्त्या शृतमतोऽन्यथा ॥
(विना तु वनितास्तन्यमाममेव तु तद्धितम्)।
भवेद्गरीयोऽतिशृत धारोष्णममृतोपमम् ॥

अपक्व-पक्वदुग्धके गुण—कच्चा दूध अभिष्यन्दि (स्रोत क्लेदक किवा कफ को प्रकुपित करनेवाला) होता है। इससे विपरीत युक्तिपूर्वक औटाया हुआ दूध जैसे कि आधा जल और आधा दूध औटाकर केवल दूध शेष रखा हुआ हल्का होता है। केवल निर्जल दूध को औटाकर दूसरा, तीसरा या चौथा भाग शेष रखा हुआ उत्तरोत्तर बलवान्, भारी किवा बल्यतम (अत्यन्त बलवान्) होता है। स्त्री का दूध कच्चा ही हितकारी होता है। अत्यन्त औटाया हुआ दूध भारी होता है तथा धारोष्ण दूध अमृत के समान होता है।

विशेष वक्तव्य - यहा धारोष्ण दूध का अर्थ उस दूध से है जो गाय आदि को दुहते समय गरम गरम धाराओं से प्राप्त किया जाता है। कहा भी है कि—"धारोष्णमिति-दोहनेनोष्ण धारया पतिते दुग्धे" किन्तु एक आचार्य के मत में धारोष्ण दूध वह है जिसके लिए मुख ही पात्र होता है अर्थात् गोस्तनको मुँहमे लेकर गरम गरम खींचकर पिया जाता है। धारोष्ण दूध में और भी अनेक गुण हैं। "अमृतोपमम्" का भावार्थ यह है कि—धारोष्ण दूध अमृत के समान होता है अर्थात् वह भ्रमहर (चक्कर आते हों तो उनका शमन करता) है, नींद न आती हो तो सुख की नींद लाता है, कान्तिप्रद (मनुष्य के तेज को बढ़ानेवाला) है, पुष्टिकारक, वजन को बढ़ानेवाला, जठराग्नि-प्रदीपक, अति स्वादु (मीठा) और त्रिदोष का नाशक है।

पिण्याकाम्लाशिनीना तु गुर्वभिष्यन्दि तद्भृशम्।
अचेष्टया च प्रादोषाद्गरीय स्मृतमौषसम् ॥
व्याख्यातस्तेन लघिमा चेष्टावत्प्रकृतिष्वपि।
स्वेषु चातिदेहेभ्यो मासेष्वप्येवमादिशेत् ॥

खली आदि खानेवाली गायप्रभृति दुग्ध के गुण—तिल, अलसी आदि पदार्थों की खली एव अम्लरसवाले पदार्थों की खाने वाली गाय-भैंस आदि का दूध अति गुरु और अति अभिष्यन्दि (कफकारक-स्रोत स्रावक) होता है। सायकाल के दूध से प्रात काल का दूध गरिष्ठ होता है इस लिए कि रात को दूध देनेवाली गाय, भैस आदि अचेष्ट (चलती फिरती नहीं) अर्थात् बैठी रहती हैं। सायकाल का दूध प्रात काल की अपेक्षा हलका रहता है इस लिए कि उस समय दूध देनेवाले पशु जगल से चलते-फिरते आते है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि चेष्टावान् हरिण आदि के दूध में लघिमा (हल्कापन) होता है तो अचेष्टावाले सूअर आदि के दूध में भारीपन। यही

१ कनान्तर्गतपद्यार्धमेत मोहमयीमुद्रितेऽष्टाङ्गसग्रहमूलग्रन्थे अधिकमस्ति किन्तु नास्तीन्दुटीकापुस्तके।

२ युक्त्याशृतमिति। युक्तिरुक्ता खारणादिना—"अर्धोदक क्षीरशिष्टमामाल्लघुतर शृतम्। स्यान्निर्जल शृत द्वित्रिचतुरष्टाशशेषितम्। यथा शृततम सार गुरु बल्यतम पय" इति हेमाद्रि।

३ 'धारोष्णममृत पयो भ्रमहर निद्राकर कान्तिद वृष्य बृहण मग्निवर्धनमतिस्वादु त्रिदोषापहम्॥" इति राजनिघण्टु।

बात मोटे शरीरवालों की अपेक्षा छोटे शरीरवाले लघ्वाहारी (कम खानेवाले) पशुओं के मासविषय में भी जानना चाहिये ।

अब दूध के अनन्तर दही आदि के गुणों का निरूपण करते हैं, इसलिए कि दध्यादि दूध के ही विकार हैं ।

अम्लपाकरस ग्राहि गुरूष्ण दधि वातजित् ।
मेद शुक्रबलश्लेष्मपित्तरक्ताग्निशोफकृत् ॥
रोचिष्णु शस्तमरुचौ शीतके विषमज्वरे ।
पीनसे मूत्रकृच्छ्रे च रूक्ष तु ग्रहणीगदे ॥
नैवाद्यान्निशि नैवोष्ण वसन्तोष्णशरत्सु न ।
नामुद्गसूप नाक्षौद्र नाघृत नासितोपलम् ॥
न चानामलक नापि नित्य नो मन्दमन्यथा ।
ज्वरासृक्पित्तवीसर्पकुष्ठपाण्डुभ्रमप्रदम् ॥

दही के गुण—सभी प्रकार का दही प्राय अम्ल-विपाकी, अम्लरसवाला, स्तम्भनकर्ता ग्राही, (पतले मल को बाधनेवाला), गुरु, उष्ण, वायु को जीतनेवाला, मेद-वीर्य-बल-कफ-पित्त-रक्त-अग्नि और शोथ को करनेवाला, रुचिकारक (अरुचि में रुचिप्रद), शीतपूर्वक विषमज्वर, पीनस तथा मूत्रकृच्छ्र में हितकारी है । रूक्ष अर्थात् जिसमे से घृत निकाल लिया हो ऐसा दही सग्रहणी रोगों में पथ्य है । रात में तपाकर गरम किया हुआ उष्ण दही तो बिलकुल न खावे । इसी प्रकार वसन्त, ग्रीष्म और शरद् ऋतु में भी दही न खावे ।

यदि खाना ही हो तो मूग की दाल, शहद, घृतमिश्री और आंवले के साथ खावे । दही नित्यप्रति न खावे और न अध जमा हुआ दही भी खावे क्योंकि विधिविहीन दही के खाने से ज्वर, रक्तपित्त, विसर्प, कोढ़, पाण्डु और भ्रमरोग को पैदा करनेवाला होता है ।

वक्तव्य—यहा अम्लपाक रस, स्निग्ध, गुरु और उष्ण होने से ही दही को वातजित् कहा है । वातजित् होने से ही दही उसी शीत-विषमज्वर मे पथ्य है जो केवल वात से होता है, न कि वातपित्तसंसर्गी वात से । पीनस ४ प्रकार का है किन्तु दही वाताधिक पीनस में ही पथ्य समझना चाहिये, इसलिए कि पीनस की शान्ति परिपाक से होती है और यह परिपाकता दही में उष्णता से ध्वनित होती है अत रात्रि मे ही दही वर्ज्य है, दिन में नहीं । जैसे वायुजन्य रक्तपित्त में तीतर आदि के मास रस की उष्णता गूलर आदि के रस से शान्त की जाती है, उसी प्रकार मूग की दाल आदि से दही के खाने से दही का दोष नष्ट होता है । दही जैसे रुचिकारक पदार्थ के लिए कहा गया है कि इसे नित्यप्रति नहीं खाना चाहिये और वसन्त ग्रीष्म-शरद ऋतुओं में तो खाना ही न चाहिये, तथापि मनुष्य दही खाता ही है । इसलिए दही के अवगुणों का नाशक घृतमिश्री का सयोग सदा के लिए थोडे में कहा गया है और विशेषत किसी भी ऋतु में दही खाना हो तो वह शहद या मूग की दाल के साथ खावे क्यों कि ये पदार्थ भी दधिगत अवगुणों के नाशक हैं जैसे कि वात के रक्तपित्त में तीतरमास रसादि की उष्णता के नाशक गूलर आदि का रस होता है । 'नैवाद्यान्निशि नैवोष्णम्' इसमें के एव शब्द से वस्तुत दही के चार प्रकार मुख्य माने हैं यथा—अत्यम्ल, अम्ल, मधुर और मन्दक इनमे से प्रथम तीन का आशय तो स्पष्ट दिखाई दे रहा है, चौथा मन्दक दही वह है जिसमें पूरा न जमने से कुछ भी अम्लता नहीं आई हो अथवा दुग्धभाव पूरा नष्ट न हुआ हो । साराश, जो पूरा नहीं जमा हो ।

यहा आचार्य ने शुक्र और बलकारी कहते हुए भी दही को दीपन (अग्निकृत्) कहा है सो ठीक प्रतीत नहीं होता इसलिए कि शुक्र एव बलकारी पदार्थ प्राय गुरु अर्थात् भारी होते है । इसी प्रकार अम्लपाकरस कहकर भी दधि को शुक्रकृत् कहा है सो भी अम्लरस के शुक्रनाशक होने से कैसे हो सकता है ? इन शकाओं का समाधान यही है कि अम्ल एव उष्णवीर्य होने से दही अग्निकृत् (दीपन) है और अम्लरस होते हुए भी स्निग्ध-बृहण-वातघ्न और बल्य होने से दही शुक्रकृत् सिद्ध है ।

दधि के गुणों के अनन्तर अब आचार्य तक्र (छाछ) और मस्तु के गुणों का वर्णन करते है । यथा—

तक्र लघु कषायाम्ल दीपन कफवातजित् ।
शोफोदरार्शोग्रहणीदोषमूत्रग्रहारुची ॥
गुल्मप्लीहघृतव्यापद्गरपाण्ड्वामयान् जयेत् ।
तद्वन्मस्तु सर स्रोतश्शोधि विष्टम्भजिल्लघु ॥

तक्र के गुण—तक्र लघु हलका, कसैला, खट्टा, अग्निदीपन-

१ "चेष्टास्वभावेषु हरिणादिषु लघु । अचेष्टास्वभावेषु सूकरादिषु गुरु । अतिदेहान्महाभोगशरीरानपेक्ष्य स्वल्पाभोगशरीरेषु लघु ... । न केवल पयस्सु यावन्मासेष्वपि चेष्टास्वल्पत्वबृहत्त्वविशेषेण गुरुलाघव विज्ञेयम्" इतीन्दु । २ "यतो ग्रहण्यां रूक्ष उद्धृतसारमुद्दिष्टम् । नैवोष्णमग्न्यादितापात्तप्तम्" । इत्यरुणदत्त ।

३ "शीतक इति विषमज्वरविशेषणम् । शीतकारित्व तु वाते श्लेष्मणि तत्ससर्गे च यद्यपि त्रितये सम्भवति, तथापि वातजिद्वावज एव विषमज्वरे 'दधि' प्रयोज्यम् । न ससर्गे वा वातोल्वणे ।

४ पीनसे शस्तमिति कथ विशेषेणोक्तम् । यत चत्वार पीनसा वातपित्तकफसन्निपातजा इति । तत्र दध्नो वाताधिक एव युक्तत्व न शेषेषु । अत्र सचक्ष्महे । परिपाकात् पीनस-शान्ति, परिपाककर च दध्युष्णत्वात् । अन्यतमेऽप्यन्यर्तावपि मुद्गसूपादीनामन्यतमेन रहित न भोज्यम् । तत्र घृतसितोपलयो समासेनैव तयोरेव पथ्यत्वमिच्छन्ति । मुद्गसूपादीनां तु मिश्री भावो दध्ना जन्यमानस्य दोषस्य प्रतिबधार्थ कल्प्यते, रक्तपित्तवत् यथा समीरोल्वणेऽस्रपित्ते तित्तिर्यादीनामौष्ण्यमुदुम्बरादिरसेन प्रतिबध्यते । नैवाद्यान्निशि नैवोष्णमित्येवकाराच्चात्यन्तिकनिषेधाद्दिवा भुञ्जीतेत्यर्थादवगम्यते ।" इत्यरुणदत्त ।

१ "मन्दम्-अजातम्" इतीन्दु । "असम्यग्निष्पन्नम् (दधि)" इति हेमाद्रि । २ "ननु शुक्रकृत्त्वबलवर्धनत्वादीपनमनुपपन्नम् । शुक्रकृद्बलवर्धनानि हि द्रव्याणि प्रायेण गुरूणि भवन्ति । अतो दध्येव गुण सत्कथमग्निकृत्स्यात् । अत्राचक्ष्महे—अम्लत्वादुष्णवीर्यत्वाच्च युक्तमेव यतो रसविपाकाभ्यामम्ल वीर्योष्ण च दध्यतोऽग्निकृत्वमस्मिन्नुपपन्नमिति । ननु शुक्रकरत्व दध्नो न युक्त, यतोऽम्लपाकरस दधीत्यधीतमाचार्यणाम्लश्च शुक्रनाशनस्ततस्माच्छुक्रत्वमयुक्तम् । अत्राचक्ष्महे—स्निग्धत्वबृहणत्ववातघ्नत्वबल्यत्वै शुक्रकृत्वमुपपन्नमेव ।" इत्यरुणदत्त ।

कर्ता, कफवातजित् अर्थात् कफ और वायु का नाशक है। इसके अतिरिक्त छाछ (तक्र) शोथ (सूजन), आठों प्रकार के उदर, अर्श, सग्रहणी, मूत्रावरोध, अरुचि, गुल्म (वाय गोला), प्लीह (तापतिल्ली), घृत के अतिसेवन से होने वाले रोग, कृत्रिम विष और पाण्डुरोग इन सबको जीतने वाला है।

विशेष वक्तव्य—मथे हुए दही का नाम तक्र है, सो भी सजल एव निर्जल भेद से दो प्रकार का है। सजल तक्र के भी सस्नेह (चिकनाईसहित) और अस्नेह (चिकनाईरहित) ऐसे दो भेद हैं। उपर्युक्त गुण अस्नेह अर्थात् जिस में से चिकनाई निकाल ली गई हो ऐसे तक्र के हैं। इस अस्नेह तक्र की अपेक्षा गुरु होने से सस्नेह (चिकनाईसहित) तक्र के गुण न्यून और इससे भी न्यून गुण निर्जल तक्र के समझने चाहिये।[1]

तक्र के समान ही मस्तु अर्थात् जमे हुए दही के ऊपर के जल (द्रवभाग) के गुण हैं किन्तु छाछ की अपेक्षा मस्तु दस्तावर, स्रोतों को शुद्ध करनेवाला और विष्टम्भ (अफारा) को दूर करनेवाला है। भगवान् श्री धन्वन्तरि तक्र की विशद रूप से व्याख्या करते हुए सुश्रुत से कहते हैं कि 'मधुर-अम्ल, तुवर रसवाला शुद्ध तक्र वही है जिसके दही की चिकनाई मन्थनादि द्वारा दूर करदी गई हो और जिसमे आधा जल हो और जो न अतिगाढ़ा हो और न अति पतला ही हो। ऐसा तक्र ही मधुर, अम्ल, कषायानुरस, उष्णवीर्य, हल्का, रूक्ष, अग्निदीपक, कृत्रिम विष-सूजन-अतीसार-सग्रहणी-पाण्डु-अर्श-प्लीह-गुल्म-अरोचक-विषमज्वर-तृष्णा-छर्दि, प्रसेक (मुख से लारटपकना), शूल, मेद, कफ और वात के रोग इन सब का हरण करनेवाला, मधुर-विपाकी, हृदय के लिए हितकारी, मूत्रकृच्छ्र, घृतादि-चिकनाई-जन्यरोगों को नाश करनेवाला तथा अवृष्य अर्थात् वीर्य को उत्पन्न नहीं करनेवाला है।[2]

तक्र के गुणों की तरह मस्तु के गुणों का भी विशेष वणन सुश्रुत मे पाया जाता है। सुश्रुत के मत से मस्तु (दही का तोड) तृष्णा, तथा ग्लानि को दूर करनेवाला, लघु, स्रोतों को शुद्ध करनेवाला, अम्ल, कषायानुरस, अवृष्य, कफवात को जीतने वाला, आल्हादकर, तृप्ति कर, शीघ्र ही मल को भेदन करने वाला, भोजन मे रुचिप्रद और शीघ्र ही बल को देनेवाला है।[3]

निघण्टुकारों के मत में द्विगुण जल मिश्रित दही का नाम मस्तु है और वह उष्ण, अम्ल, रुचिकारक, पाचक, क्रिमिघ्न, बलप्रद, कसैला, दस्तावर, भूख को लगानेवाला, तृष्णा-उदर-प्लीह और अर्श इन सब रोगों का नाशक, स्रोतों को शुद्ध करने वाला, कफवातनाशक, विष्टम्भ (पेट का फूलना-मल का अव रोध) और शूल को हरनेवाला, पाण्डु, श्वास, गुल्म, को शमन करनेवाला और लघु है।[1]

तक्र के बाद नवनीत अर्थात् मक्खन की उत्पत्ति होती है इस लिए अब आचार्य नवनीत (मक्खन) के गुणों का वर्णन करते हुए उसमे प्रथम ताजा मक्खन के गुणों को कह कर चिरकालज नवनीतज गुणो को भी वताते हैं।

शीत स्वादु कषायाम्ल नवनीत नवोद्धृतम्।
यक्ष्मार्शोऽर्दितपित्तासृग्वातजिद्ग्राहि दीपनम्।
क्षीरोद्भवं तु सग्राहि, रक्तपित्ताक्षिरोगजित्॥

ताजा मक्खन के गुण—नवोद्धृत अर्थात् ताजा निकाला हुआ मक्खन शीतवीर्य, मधुर, कसैला और अम्लरसवाला है। नवनीत राजयक्ष्मा (क्षय), अर्श, अर्दित, पित्तरक्त (रक्तपित्त) तथा वायुरोगों को जीतनेवाला, ग्राही (मल को बाधनेवाला) और जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाला है। दूध ही से मथकर निकाला हुआ मक्खन मल को बाधता,[2] रक्तपित्त और नेत्ररोगों को दूर करता है।

इन गुणों के अतिरिक्त सुश्रुत के मत से ताजा मक्खन लघु, देहसौकुमार्यकर, मेध्य, हृद्य, वृष्य, दाहशमन, कास-श्वास-व्रण और शोष (क्षय) हर्ता भी है। इसके विपरीत चिरोत्थित (चिरकाल के बासे मक्खन को वह गुरु, कफ और मेद को बढानेवाला, बलकारी, बृहण, शोषघ्न तथा बालकों के लिए विशेष हितकारी कहता है। इसी प्रकार दूधसे निकाले हुए मक्खन को उत्कृष्ट स्नेह, माधुर्यसहित, अतिशीत, सौकुमार्य कर और वर्णप्रसादन भी कहता है।

मक्खन से ही तपाकर घी निकाला जाता है। इस लिए आचार्य अब क्रमप्राप्त घृत के गुणों को कहते हैं-यथा—

शस्त धीस्मृतिमेधाग्निबलायुश्शुक्रचक्षुषाम्।
बालवृद्धप्रजाकान्तिसौकुमार्यस्वरार्थिनाम्॥
क्षतक्षीणपरीसर्पशस्त्राग्निग्लपितात्मनाम्।
वातपित्तविषोन्मादशोषालक्ष्मीज्वरापहम्॥

---

१ "मथित दधि तक्र, तद्द्विविध सजल निर्जल च। सजल द्विविध सस्नेहमस्नेह च। तत्रास्नेहस्यैते गुणा। सस्नेहस्य गौरवा त्किञ्चिदूना। निर्जलस्य ततोऽप्यूना। मुनातस्य दध्नो द्रवभागो मस्तु" इति हेमाद्रि।

२ "मन्थनादिपृथग्भूतस्नेहमर्धोदक च यत्। नातिसान्द्रद्रव तक्र स्वाद्वम्ल तुवर रसे" इति, "तक्र तु मधुरमम्ल कषायानुरसमुष्णवीर्य लघु रूक्षमग्निदीपन गरशोफातिसारग्रहणीपाण्डुरोगार्शः प्लीहगुल्मा रोचकविषमज्वरतृष्णाच्छर्दिप्रसेकशूलमेद श्लेष्मानिलहर मधुरविपाक हृद्य मूत्रकृच्छ्रस्नेहव्यापत्प्रशमनमवृष्य चेति।

३ तृष्णाक्लमहर मस्तु लघु स्रोतोविशोधनम्। अम्ल कषाय मधु-रमवृष्य कफवातनुत्॥ प्रह्लादन प्रीणन च भिनत्याशु मल च तत्। बलमावहते क्षिप्र भक्तच्छन्द करोति च॥ इति।

१ उक्त दधि द्विगुणवारियुत तु मस्तु', तद्गुणा -उष्णाम्ल रुचिपक्ति- क्रिमिहर बल्य कषाय सर भुक्तच्छेदकर तृषोदरगदप्लीहा र्शसा नाशनम्। स्रोतश्शुद्धिकर कफानिलहर विष्टम्भशूलापह पाण्डु श्वासविकारगुल्मशमन मस्तु प्रशस्त लघु॥ इति राजनिघण्टु।

२, 'नवनीत पुन सद्यस्क लघु सुकुमार मधुर कषायमीषदम्ल शीतल मेध्य दीपन हृद्य सग्राहि पित्तानिलहर वृष्यमविदाहि क्षयका सश्वासव्रणशोषार्शोऽर्दितापहम्, चिरोत्थित गुरु कफमेदोविवर्धन बल कर बृहण शोषघ्न विशेषेण बालाना प्रशस्यते॥

क्षीरोत्थ पुनर्नवनीतमुत्कृष्टस्नेहमाधुर्ययुक्तमतिशीत सौकुमार्यकर चक्षुष्य सग्राहि रक्तपित्तनेत्ररोगहर प्रसादन च॥ इति।

स्नेहानामुत्तमं शीतं वयसः स्थापनं परम् ।
सहस्रवीर्यं विधिभिर्घृतं कर्मसहस्रकृत् ॥

घृत के गुण—ताजा घी बुद्धि (उपदिष्ट विषय को तत्काल ग्रहण करना), बीती हुई बात की स्मरण-शक्ति, मेधा, (उपलब्ध ज्ञान की सदैव उपस्थिति), जाठराग्नि, बल, आयु, वीर्य, नेत्र, बाल, वृद्ध, सन्तति, कान्ति, सुकुमारता-सुस्वर इन सब मे हितकारी तथैव क्षतक्षीण-विसर्प-शस्त्राघात तथा अग्नि से जलने पर ग्लानि, इन सब के लिए भी हितकारी अर्थात् श्रेष्ठ है । इन के अतिरिक्त घृत वात-पित्त-विष-उन्माद-शोष (क्षय), दारिद्र्य और जीर्णज्वर को दूर करनेवाला है । सभी प्रकार के घृत-तैल-चर्बी आदि स्नेहों में घृत उत्तम होने से वह शीतल और वय का स्थापन कर्ता (बुढ़ापा न आने देकर आयुष्य को सदैव स्थिर रखने वाला), अनेक प्रकार के द्रव्यों के सयोग से अनेक प्रकार की शक्ति देनेवाला है ।

विशेष-वक्तव्य – सुश्रुत के मत से घृत मधुर, सौम्य, मृदु, शीतवीर्य, थोडा अभिष्यन्दि, स्नेहन, उदावर्त उन्माद अपस्मार शूल-ज्वर-आनाह और वात-पित्त को शमन करनेवाला, जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाला, स्मृति-बुद्धि-मेधा-कान्ति-स्वर-लावण्य-सुकुमारता-ओज-तेज एव बल का बढ़ानेवाला, आयु-वर्धक-वृष्य, मेध्य, वय स्थापन-कर्ता, गुरु, चक्षुष्य (नेत्रों के लिये हितकारी), कफाभि-वर्धन, पाप और अलक्ष्मीहर, विष तथा राक्षसों के भय को दूर करनेवाला है । इतना ही नहीं, सुश्रुत ने गाय,[१] बकरी, भैंस, उष्ट्री, भेड, घोड़ी, गधी, स्त्री तथा हस्तिनी आदि के घृत के गुण अलग अलग विशद रूप से बताये हैं । इस लिए देखिये सुश्रुत सूत्रस्थान के अध्याय ४५ श्लोक ९७ से १०६ तक। आधुनिक न य मत से घृत में केवल मेद ही रहता है ।

अब आगे आचार्य पुराने घृत के विशेष गुणों का कथन करते हैं ।

मदापस्मार-मूर्च्छाय-शिरः-कर्णाक्षियोनिजान् ।
पुराणं जयति व्याधीन् व्रणशोधनरोपणम् ॥
पूर्वोक्ताश्चाधिकान् कुर्याद्गुणांस्तदमृतोपमम् ।
तद्वच्च घृतमण्डोऽपि रूक्षस्तीक्ष्णस्तनुश्च सः ॥

पुराने घृत के गुण—घृत के पूर्वोक्त सामान्य गुणों को करता है पुराना घृत उस से भी अधिक गुणकारी है अर्थात् वह मदात्यय, मृगी, मूर्च्छा, शिरो-रोग, कर्ण-रोग, नेत्र और योनिरोगों का नाश करता है तथा दुष्टव्रणों के पैच्छिल्यादि दोषों का शोधनकर उन्हें रोपण करता है और वह अमृत के तुल्य होता है ।

१ घृत तु मधुर सौम्य मृदु शीतवीर्यमल्पाभिष्यन्दि स्नेहनमु दावर्तोन्मादापस्मारशूलज्वरानाहवातपित्तप्रशमनमग्निदीपन स्मृति-मतिमेधाकान्तिस्वरलावण्यसौकुमार्यौजस्तेजोबलकरमायुष्य वृष्य मेध्य वयस्स्थापन गुरु चक्षुष्य श्लेष्माभिवर्धन पाप्मालक्ष्मीप्रशमन विषहर रक्षोघ्न च ॥ इति ।

२ शोधन दुष्टव्रणानाम्, रोपण शुद्धानाम् ॥ इति हेमाद्रि ।

विशेष-वक्तव्य—पुराने घृत के विषय मे प्राचीन आचार्यों और टीकाकारों के मत भिन्न भिन्न पाये जाते हैं । कोई एक वर्ष के ऊपर के घृत को पुराना कहते है तो कोई लाक्षारस के समान लाल पडे हुए उग्रगन्धवाले दस वर्ष के पुराने घी को ठडा और पुराण घृत कहते है । उसी को कोई कौम्भ घृत कहते है । इस से अधिक पुराने को प्रपुराण घृत कहते है । कोई बहुत काल के रहे हुए या पन्द्रह साल से भी अधिक पुराने को पुराण घृत कहते हैं । भगवान् धन्वन्तरि के मत मे १११ वर्ष पुराना घृत कुम्भ-घृत है और रक्षोघ्न अर्थात् राक्षसों का नाशक है । इससे भी पुराने को वे महाघृत कहते है । वह वाताधिक्यप्रकृतिवाले प्राणियों के पीने योग्य और कफ-नाशक होता है । हारीत के मत मे घृत जितना पुराना हो उतना ही अधिक गुणकारी है ।

घृतमण्ड के गुण—घृतमण्ड (पिघले हुए घृत के ऊपर के घनीभूत भाग) के गुण भी घृत के ही समान है और पुराण घृत की तरह यह भी अपनी तीक्ष्णता-रूक्षता और लघुता कर के अमृतोपम है ।

घृत के गुणों के अनन्तर अब आचार्य दूध के कीलाटादि अन्य विकारों आदि के गुणों का भी वर्णन करते हैं ।

कीलाटदधिकूचीकातक्रपिण्डकमोरटाः ।
सक्षीर-शाक-पीयूषा रोचना वह्निसादनाः ॥
शुक्रनिद्राकफकरा विष्टम्भिगुरुदोषलाः ।
विद्याद्दधिघृतादीनां गुणदोषान् यथा पयः ॥
गव्ये क्षीरघृते श्रेष्ठे निन्दिते चाविसम्भवे ।

कीलाट (दही या छाछ के साथ पाक किये हुए दूध का अधिक या छाछ के साथ पाक किये हुए अल्प दूध का अलग किया हुआ घन भाग), दधिकूचीका (दही या छाछ के साथ पाक किये हुए दूध का मिला हुआ घन और द्रव भाग), तक्रपिण्डक (गाढ़े वस्त्र मे बाधे हुए तक्र का स्वय द्रवभाग चूकर शेष बचा हुआ पिण्डीभूत भाग), मोरट या मोरण (दही या छाछ के साथ पाक करने से दूध के बने हुए घन और द्रव में से अलग किया हुआ द्रवभाग), क्षीरशाक (दधि या तक्र के साथ मिलाये हुए दूध का विना पाक किये निष्पन्न घन और द्रवभाग), पीयूष (प्रसूति दिन से ७ वें दिन तक का गोदुग्ध या प्रसूति-दिन से लेकर जब तक मलिन और गाढ़ा बना रहे ऐसा गाय का दूध) ये सब रुचिकारक,

१ "वर्षादूर्ध्वं भवेदाज्य पुराणम् इति भावमिश्र । दशवर्षोषित पुराणम् । उक्त च—उग्रगन्ध पुराण स्याद्दशवर्षस्थित घृतम् । लाक्षारस निभ शीत प्रपुराणमत परम् ॥ इति हेमाद्रि । 'कौम्भ दशाब्दिकम्, इति चक्रपाणिदत्त । "पुराणं—अतीतबहुकाल पञ्चदशादिवर्षस्थितम् । इत्यरुण । एकादश शत चैव वत्सरानुषित घृतम् । रक्षोघ्न कुम्भसर्पि स्यात्परतस्तु महाघृतम् ॥ पेय महाघृत भूतै कफघ्न पवनाधिकैरिति । "यथा यथा जरां याति गुणवत्स्यात्तथातथा" इति हारीत ।

२ दध्ना तक्रेण वा सह पाकात्पृथग्भूत घनद्रवभाग क्षीर कूचिका सैव पाकादिना क्षीरशाक । तयोर्घनभाग पृथगुद्धृत —किलाट द्रव-भागो मोरण ॥ इति हेमाद्रि । "किलाट अल्पक्षीरेण बहुना तक्रेण कृत ।" इत्यरुणदत्त । घनवस्त्रबद्ध स्वय स्रुतद्रवभाग तक्र तक्रपिण्डक ।

अग्निमांद्य करनेवाले, वीर्य, निद्रा और कफ के कर्ता, मलावरोधक, भारी और दोषकारक (आम के सचय करनेवाले) न कि वातपित्त के करनेवाले हैं।

सामान्यत जो गुण दुग्ध के हैं वे ही दधि और घृतादि के जानने चाहिये। यदि वर्गीकरण से देखा जाय तो गाय का दूध और घी श्रेष्ठ है तथैव भेड का दूध और घी निन्दित है। गाय और भेड के इस दूध-घृत के श्रेष्ठत्व और अधमत्व से यह स्वत सिद्ध होता है कि इनके अतिरिक्त अन्य पशु आदि के घृत और दुग्ध मध्यम हैं। इति क्षीरवर्ग।

अथ इक्षुवर्ग ।

द्रव-द्रव्य-प्रसङ्गवशात् अब आचार्य इक्षुवर्ग का आरम्भ करते है।

इक्षो सरो गुरु स्निग्धो बृंहण कफमूत्रकृत् ।
वृष्य शीत पवन-जिद्भुक्ते वातप्रकोपन ॥
रक्तपित्तप्रशमन स्वादुपाकरसो रस ।
सोऽग्रे सलवणो दन्तपीडित शर्करासम ॥
मूलाग्रजन्तुजग्धादिपीडनान्मलसकरात् ।
किञ्चित्कालविधृत्या च विकृतिं याति यान्त्रिक ॥
विदाही गुरुविष्टम्भी तेनासौ ॥

ईखरस के गुण - इक्षु (ईख या गन्ने) का रस दस्तावर, भारी, स्निग्ध, पुष्टिकारक, कफ और मूत्र को पैदा करनेवाला, वीर्यवर्द्धक, ठंडा, वायुनाशक किन्तु सेवन करने के बाद वात प्रकोपक, रक्तपित्तशामक तथा मधुररसविपाकी है। वही अग्र भाग अर्थात् ईख के पर्वों के आदि-अन्त भाग का रस कुछ नमकीन होता है। दातों करके तोड़कर चूसा हुआ ईख रस शर्करा के समान (दाहादिशामक) होता है।

पूर्वोक्त गुणवाला होते हुए भी मूल एव अग्रभागसहित, जन्तुओं करके भक्षित (दूषित), कोल्हू आदि यन्त्र के मल-सहित, पीडनकर यन्त्र से निकाला हुआ, निकालने के अनन्तर कुछ काल तक रखा हुआ ईख का रस विकार को प्राप्त होता है, अर्थात् वह गरिष्ठ (भारी) हो जाने के कारण जल्दी नहीं पचकर विदाही होता है। इतना ही नही, विकार को प्राप्त हुआ गन्ने का रस पूर्वोक्त गुणों के विपरीत गुणोंवाला अर्थात् विदाही, गुरु और विष्टम्भी हो जाता है।

तत्र पौण्ड्रक ।
शैत्यप्रसादमाधुर्याद्वरस्तमनु-वाशिकः ।
शातपर्वककान्तार-नैपालाद्यास्तत क्रमात् ॥
सक्षाराः सकषायाश्च सोष्णा किञ्चिद्विदाहिनः ।

पौण्ड्रकादि ईख के गुण—ईख कई प्रकार का होता है। इन सबमें ठंडा, निर्मल और मधुर रसवाला होने के कारण पौण्ड्रक (सफेद गन्ना) श्रेष्ठ है। उसकी अपेक्षा वाशिक (नीले रंग वाला) गन्ना कुछ हीन गुणवाला है और शातपर्वक (जिसमे बहुत से छोटे छोटे पर्व है) कान्तार (जगली) नेपाल आदि नाम के गन्ने कुछ नमकीन, कुछ कसैले और कुछ उष्णता लिए विदाही रहते हैं।

विशेष वक्तव्य सुश्रुत मे इससे भी अधिक अर्थात् ईख की १२ जातिया उनके गुणोंके साथ वर्णन की है परन्तु ग्रन्थविस्तारभय से हम उनका वर्णन यहा नही करना चाहते। पाठक सुश्रुत सूत्रस्थान के अध्याय ४५ में देख सकते है। ईख-रस के गुणों का वर्णन करने के अनन्तर अब आचार्य उसके पाच विकार फाणित, गुड, मत्स्यण्डी, खाड और शर्करा के गुणों का क्रम से वर्णन करते हैं।

फाणित गुर्वभिष्यन्दि चयकृन्मूत्रशोधनम् ।
नातिश्लेष्मकरो धौत सृष्टमूत्रशकृद्गुड ॥
प्रभूतकृमिमज्जासृग्मेदोमासकफोऽपर ।
हृद्य पुराण पथ्यश्च, नव श्लेष्माग्निसादकृत् ॥
वृष्या क्षीणक्षतहिता रक्तपित्तानिलापहा ।
मत्स्यण्डिकाखण्डसिता क्रमेण गुणवत्तमा ॥

फाणितगुडशर्करादि के गुण—फाणित अर्थात् ईख के रस की राब या मैल को न निकालते हुए औटा कर उसका बनाया हुआ क्षुद्र गुड अति गुरु अभिष्यन्दि (कफवर्धक-क्लेदक), तीनों दोषों का सञ्चय करनेवाला, मूत्रशोधन अर्थात् मूत्रल होता है।

सस्कार कर के निर्मल तैयार किया हुआ गुड कुछ कफकारक, मूत्र और मलको विसर्जन करनेवाला अर्थात् अनुलोमन करनेवाला है। इसके विपरीत मलसहित गुड क्रिमि, मज्जा, रक्त, मेद, मास और कफदोषों को बढ़ानेवाला है।

पुराना गुड हृदय के लिए हितकारी और स्वस्थ मनुष्य के लिए पथ्य है। नया (तुरन्त तैयार किया हुआ) गुड कफकारक एव अग्निमांद्य करनेवाला है। मत्स्यण्डिका (मुस्ती या कडकड खाड), खाड (शर्करा), सिता (मिश्री) ये तीनों वृष्य (मनको हर्षित करनेवाली या ओज को बढ़ानेवाली), क्षतक्षीण (घावके लगने से थके हुए) को हित कारिणी, रक्तपित्त एव वायु को हरने वाली हैं। क्रमसे इनके ये गुण अधिकाधिक समझने चाहिये अर्थात् वृष्यत्वादि गुणों में मत्स्य

इति हेमाद्रि । "पीयूष सद्य प्रसूताया गो क्षीर सप्ताह यावत्।" इति डल्हन । "क्षीर सद्य प्रसूताया पीयूषमिति सज्ञितम्। सप्तरात्रा त्पर क्षीरमप्रसन्न च मोरणम्। इति तन्त्रान्तरे।" "प्रसूतिदिनादा रभ्य यावन्मलिनघन क्षीर तावत्पीयूषम्।" "दोषला—आमसचयकारिण। दोषशब्देनात्र आमो ग्राह्य। सदोषशब्द च शकृद्द्रव सृजति वेगवत् इत्यादिवत् नतु वातादय।" इति हेमाद्रि ।

१ "अग्रशब्देनेक्षोस्तत्पर्वणा चाद्यन्तभागौ। सलवण, ईषल्लवण" इति हेमाद्रि । २ "न द्रागेव जरा याति गुरुत्वादथवा वस्तुस्वभावात्, स विदाहगुणयुक्तो भावो भण्यते" इत्यरुणदत्त ।

१ पौण्ड्रक श्वेतेक्षु, कौशिको नीलेक्षु, शतपर्वको ह्रस्वबहुपर्व । सक्षारा ईषल्लवणा इति हेमाद्रि । ते च शतपर्वकादय ईषत्क्षारत्वेन युक्ता ईषत्कषायरसा ईषदुष्णा किञ्चिद्विदाहिनश्च । इत्यरुणदत्त ।

२ फाणित क्षुद्रगुडीभूत इक्षुरस । गुरु अतिशयेनेत्यर्थाद्वेयम्। गुरुत्वमात्रस्येक्षुरसेऽप्युक्तत्वात्। इत्यरुण । "चयकृत्—विशेषाग्रहणात् त्रयाणा दोषाणाम्" इति हेमाद्रि । "मूत्रशोधन—मूत्रमति वाहयति" इति इन्दु ।

३ 'मनसो हर्षण यच्च तत्सर्वं वृष्यमुच्यते, इति तन्त्रान्तरे। 'स्वस्थस्यौजस्कर यच्च तद्वृष्यम्, इति चरक ।

ण्डिका से खाड और खाड से भी अधिक गुणवाली मिश्री को समझना चाहिये।

शर्कराप्रसङ्गवशात् अब आचार्य यवासशर्करा, मधु और मधुशर्करा आदि के गुणों का भी कथन कर देते है।

तद्गुणा तिक्तमधुरा कषाया यासशर्करा ।
त्रिदोषघ्नी सिता कासेक्षुदर्भच्छदसम्भवा ॥
दाहतृट्छर्दिमूर्च्छासृक्पित्तघ्न्य सर्वशर्करा ।
शर्करेक्षुविकाराणा फाणित च वरावरे ॥
चक्षुष्य छेदि तृट्श्लेष्मविषहिध्मास्रपित्तनुत् ।
कुष्ठमेहक्रिमिच्छर्दिश्वासकासातिसारजित् ॥
व्रणशोधनसधानरोपण वातल मधु ।
रूक्ष कषायमधुर तत्तुल्या मधुशर्करा ॥
उष्णमुष्णार्तमुष्णे च युक्त चोष्णैर्निहन्ति तत् ।
विषान्वयत्वेन विषपुष्पेभ्योऽपि यतो मधु ॥
कुर्वते ते स्वय यच्च सविषा भ्रमरादय ।
प्रच्छर्दने निरूहे च मधूष्ण न निवार्यते ॥
अलब्धपाकमाश्वेव तयोर्यस्मान्निवर्तते ।
गुरुरूक्षकषायत्वाच्छैत्याचाल्प हित मधु ॥
न हि कष्टतम किञ्चित्तदजीर्णाद्यतो नरम् ।
उपक्रमविरोधित्वात्सद्यो हन्याद्यथा विषम् ॥
नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च योगवाहि पर मधु ।
वृष्ययोगैरतो युक्त वृषतामनुवर्तते ॥
भ्रामर पौत्तिक क्षौद्र माक्षिक च यथोत्तरम् ।
वर जीर्ण च तेष्वन्त्ये द्वे एव ह्युपयोजयेत् ॥

यवासशर्करा के गुण—शर्करा के समानगुणवाली होते हुए भी यवासशर्करा तिक्त, मधुर और कषाय रसवाली है। राजपूताना में जवासा (दुरालभा) का क्षुप बहुतायत से होता है। यह ऊट का प्रिय चारा है। यवासशर्करा को यूनानीवाले शीरखिस्त कहते है। डल्लन, अरुणदत्त एव हेमाद्रि लिखते है कि-कुछ लोग कहते है कि यह ईखरस की तरह जवासा के स्वरस को घनीभूत करके बनाई जाती है। परन्तु यह ठीक नहीं है। वस्तुत यवासशर्करा जवासा का निर्यास (गोंद) है। निघण्टुकार इसे अतिमधुरा, पित्त, श्रम, तृष्णा, मूर्च्छा, दाह और भ्रमको दूर करनेवाली, वृष्या और मृदुरेचनी मानते हैं। गर्भवती, बालक, वृद्ध एव थके हुए को इसे रेचनार्थ देना अच्छा मानते हैं।

काशादिशर्करा के गुण—काश, शर और दर्भपत्रसे तैयार की हुई शर्करा त्रिदोष को हरनेवाली है। इसके अतिरिक्त सभी प्रकार की शर्करा दाह, तृष्णा, वमन, मूर्च्छा और रक्तपित्त को दूर करती हैं।

सिता और फाणित की श्रेष्ठाश्रेष्ठता—ईख रस के फाणित, गुड़, मत्स्यण्डिका, खण्ड, और सिता इन सब विकारा में तारतम्य से देखा जाय तो सिता (मिश्री) सबसे श्रेष्ठ तथा फाणित अश्रेष्ठ है।

मधु के और मधुशर्करा के गुण- मधु (शहद) नेत्रों के लिए हितकारी, छेदि[1] अर्थात् शरीर के बाहर तथा भीतर के एकत्रित या पिण्डीभूत कफादि भावों को छिन्न भिन्न करनेवाला, तृषा, कफ, विष, हिक्का और रक्तपित्त का नाशक है तथैव कोढ, प्रमेह, क्रिमि, वमन, श्वास, कास और अतीसार को जीतनेवाला है। व्रणों को शोधन-कर्ता (व्रणगत दुष्ट पीप आदि का निकालने वाला), सधान और रोपणकर्ता अर्थात् व्रणगत पीप आदि के निकालने, दो व्रणों को या टूटे भागों को जोडने या एक करने तथैव व्रणों को पूरण कर उनमें अकुर लानेवाला है। इतना ही नहीं, मधु, वात-कारक, रूक्ष, कषाय तथा मधुर रस वाला है और उससे बनी मधुशर्करा भी उसी मधु के समान गुणवाली है।

उपर्युक्त गुण प्राकृतिक शीतल मधु के है। ध्यान रहे कि मधु (शहद) को गरम करके नही सेवन करना चाहिये, क्यों कि उष्णकाल मे उष्णता से पीडित मनुष्य को उष्ण पदार्थों के साथ दिया हुआ उष्ण मधु मार डालता है। इस लिए कि स्वय विषैले ऐसे भ्रमरादि विषपुष्पों से भी मधु तैयार करते है अत वह विषान्वयी (विषवशज) है। इस प्रकार उष्ण मधु का निषेध कर के अब इस का अपवाद भी कहते है कि—

वमन तथा निरूहवस्तिमें उष्ण मधु का निषेध नही है अर्थात् वमन एव निरूह वस्तिमे उष्ण मधु का ही प्रयोग करना चाहिये क्योंकि प्रयुक्त किया हुआ वह मधु पाक न होकर बहुत जल्दी बाहर आ जाता है।

गुरु, रूक्ष, कषाय और ठण्डा होने के कारण शरीर के अर्थ मधु अल्प-हितकारी (पथ्य) है। मधु का अजीर्ण नितान्त भयङ्कर होता है, इसी लिए कहते है-"नहि कष्टतम किञ्चित्तदजीर्णात्" उसके अजीर्ण से बढ़ कर और कोई कष्ट देनेवाला नहीं है क्यों कि उपक्रम-विरोधी होने से शहद का अजीर्ण विष की तरह मनुष्य को बहुत जल्दी मार डालता है। अजीर्ण में उष्णोदक पान का विधान है, परन्तु मधु उष्णससर्ग से विष की तरह मारक होता है। अत मधु के साथ शीत क्रिया ही ठीक होती है परन्तु अजीर्ण मे वही (शीतक्रिया) अपथ्या होती है। इस प्रकार मधु के अजीर्ण मे उपक्रम-विरोध आता है और वह मनुष्य को विष की तरह मार देता है।

मधु नानाद्रव्यात्मक होने से श्रेष्ठ योगवाही है। इसी लिए वृष्ययोगों के साथ प्रयुक्त किया हुआ वह वृषता को देता है।

भ्रामर—(भ्रमरों द्वारा सचित), पौत्तिक (अन्नज मक्षिकाओं द्वारा सचित), क्षौद्र (छोटी २ पीली मक्खियों द्वारा सचित) और माक्षिक (जगली कपिला स्थूल मक्षिकाओं द्वारा सचित) इस प्रकार मधु चार जातियो में विभक्त है।

---

१ 'अतिमधुरा पित्तघ्ना श्रमघ्ना तृष्णाघ्नी वृष्या सरा मूर्च्छादाहा भ्रमहरा चेति" राजनिघण्टु। नार्याश्चापन्नसत्त्वाया दुर्बलस्य तथा शिशो। रेचनार्थं प्रयोक्तव्येय क्षीणस्य स्थविरस्य च॥ इति वैद्यनिघण्टु।

[1] छेदि-उभयथाश्चातनव्रणलेपादावुपयुक्तम्, तथाभ्यवहारविषयेऽपि तैक्ष्ण्याद्यो देहे पिण्डितान् भावान् छिनत्ति विभजति। इत्यरुण। यत्सहतान् कफादीन् विश्लेषयति तच्छेदि। शोधन-दुष्टपूयादिनिर्हरणम्। सधानम्-विच्छिन्नाभ्यादिसश्लेषकम्। रोपण-क्षीणमासादिवर्धनम्। इति॥

परन्तु राजनिघण्टुकार तथा सुश्रुत मधु की आठ जाति मानते[1] हैं। इनमें भ्रामर से पौत्तिक, पौत्तिक से क्षौद्र और क्षौद्र से माक्षिक उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। इनमे भी जीर्ण मधु श्रेष्ठ है तथापि इनमें से अन्त के दो अर्थात् क्षौद्र और माक्षिक का ही उपयोग करना चाहिये। इसके आगे हेमाद्रि-सम्मत पाठ (मण्ड पुराणो विशदस्तीक्ष्णो रूक्षो लघुस्तनु) मे कहा है कि पुराना मण्ड निर्मल, तीक्ष्ण, रूक्ष, हल्का और सूक्ष्म है। "भ्रामर पौत्तिक क्षौद्र माक्षिक च यथोत्तरम्" इसके आगे हेमाद्रिसम्मत पाठ में लिखा है कि "भ्रामर मधु श्वेत, पौत्तिक घृतवत्, क्षौद्र पीले रग का और माक्षिक तैल की तरह होता है। भ्रामर विशेषत गुरु, अभिष्यन्दि, स्वादु और तृप्तिकारक है। क्षौद्र कुछ तिक्तता लिए मधुर, हल्का, रूक्ष और विशोधन है। पौत्तिक रूक्ष, उष्ण, रक्तपित्त और दाह-शामक है। माक्षिक सब में श्रेष्ठ, नेत्र[2] रोग नाशक है, कामला-अर्श-उर क्षत-श्वास-कास-क्षयहर्ता और लघु है।"

विशेष वक्तव्य—यहा नानाद्रव्यात्मक होने से मधु को परम योगवाहि माना है परन्तु योगवाहि द्रव्य के विषय में विद्वानों में बड़ा विवाद है। कुछ लोगों का कहना है कि जो द्रव्य अन्य किसी द्रव्य से मिलने पर अपने स्वभाव को छोड देता है और जिस द्रव्य का साथ करता है उसी के स्वभाव वाला हो जाता है वह योगवाही है। यदि इस प्रकार योगवाहित्व का निश्चय किया जाता है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि इसमे तो योगवाही द्रव्य का उपयोग ही निरर्थक हो जाता है जैसे कि योगवाही द्रव्य को छोड कर जिस स्वभाव वाला द्रव्य पहिले था वही स्वभाव योगवाही द्रव्य के योग से रहता है। कुछ लोगों का कहना है कि "वह द्रव्य योगवाही है जो दूसरे द्रव्य में युक्त होकर उसकी शक्ति को बढ़ाता है" यह भी ठीक नहीं है क्योंकि समस्वभाववाले ऐसे कई द्रव्य है जो दूसरे द्रव्य में समस्वभावता से मिलकर शक्ति को बढाते है, वे सबके सब योगवाही हो जायेंगे। कुछ लोगों का मत है कि "वह द्रव्य योगवाही है जो अपने से भिन्न गुणवाले द्रव्य मे युक्त होकर उसके गुणों को बढाता है"। उसी के गुणोंवाला बनकर उससे अविरुद्ध ऐसे अपने कार्य को भी कुछ करता है जैसे कि सेवक स्वामी के कार्यों को न छोडता हुआ कुछ अपना भी शरीरयात्रादि कार्य कर लेता है। वैसे ही मधु मैनफल से युक्त होकर उसके वमन कार्य को करता है किन्तु अपने वमन-निवारण-कार्य को नहीं करता। इसी प्रकार मधु हरीतकी से युक्त होकर विरेचन कार्य को करता है न कि अपना स्तम्भन रूप कार्य। यह भी ठीक नहीं। देखा जाता है कि योगवाही द्रव्य निशोथ और मैनफल में मिलकर विरेचन और वमन दोनों कार्यों को करता है। यह नहीं, कि विरेचन ही करता है और वमन नहीं करता, अथवा वमन ही करता है, विरेचन नहीं। इससे सिद्ध है कि योगवाहित्व शक्ति जिसे योगवाही कहा है, उसी द्रव्य की है, न कि वह जिनके साथ मिलता है उन द्रव्यों[1] की।

यहा वाग्भट और सुश्रुत का भी मधु के विषय मे विरोध दिखाई देता है। वाग्भट इसे वातल कहते हैं और सुश्रुत त्रिदोष-प्रशमन कहते है परन्तु विषयभेद से देखा जाय तो यह विरोध नहीं है। अर्थात् जहा मधु और वायु दोनों शुद्ध हैं वहा मधु को वातल समझना चाहिये। जहा वातनाशक द्रव्यों से मिश्रित मधु हो और पित्तादि मिश्रित वायु हो तो वहा दोनों के योगवाही होने से मधु को वातघ्न मानना चाहिये। पित्तश्लेष्मघ्न कहकर त्रिदोष-प्रशमन कहनेवाले सुश्रुत का भाव शुद्ध पित्त और कफ से है और वायु का इनसे मिश्रित होने से क्योंकि मिश्रित वायु को ही मधु नाश करता है। चरक ने मधु को गुरु कहा है और सुश्रुत ने लघु परन्तु

१ "पौत्तिक भ्रामर क्षौद्र माक्षिक छात्रमेव च। आर्घ्यमौद्दालक दालमित्यष्टौ मधुजातय ॥ इति। एतेषा भावार्थो यथा, पौत्तिकमित्यादि। पिङ्गला महत्यो मक्षिका पुत्तिकास्तद्भव पौत्तिकम्। 'अ ये मशकोपमा मक्षिका कृष्णवर्णा पुत्तिका, इति वदन्ति। भ्रमरा प्रसिद्धा तद्भव भ्रामरम्। मक्षिका पिङ्गला एव स्वल्पा क्षुद्रा, तद्भव क्षौद्रम्। पिङ्गलवर्णा महत्यो मक्षिकास्तद्भय माक्षिकम्। अन्ये 'अत्यल्पा मक्षिका' इत्याहु। पीतकपिङ्गला 'बग' इति लोके यत्कुर्वन्ति छत्रकाकार हैमवते वने मालववने च तच्छात्रम्। मधूकवृक्ष पुष्पेभ्योजरत्कार्वाश्रमोद्भवा। स्रवन्त्यार्घ्यं मधु प्राहु श्वेतक मालवे जना ॥ तीक्ष्णतुण्डास्तु या पीतवर्णा षट्पदसन्निभा। अर्घा नाम च तद्भूतमार्घ्यमित्यपरे जगु ॥ इत्याद्यवलोकनीया डल्लनटीका सुश्रुते।

२ "वर स्याद्भ्रामर शुक्ल घृतवर्ण तु पौत्तिकम्। क्षौद्र तु कपिल प्रोक्त तैलाभ माक्षिक स्मृतम् ॥ विशेषाद्गुर्वभिष्यन्दि भ्रामर स्वादु तर्पणम्। क्षौद्र सतिक्तमधुर लघु रूक्ष विशोधनम् ॥ रूक्षमुष्ण रक्तपित्तदाहघ्न चापि पौत्तिकम्। माक्षिक मधुषु श्रेष्ठ नेत्रामयहर लघु। कामलार्श-क्षतश्वासकासक्षयविनाशनम् ॥ इति।

१ "योगवाहित्वे च विवद ते बहुविद। तत्र कश्चिदेव समगिरन्त,—"यद्द्रव्य द्रव्यान्तरेण सयुज्यात्मीय स्वभाव हित्वा सयुक्त द्रव्यस्वभावमेवानुवर्तते, तद्योगवाहीति,, न चैतद्युक्तम्। यतो यद्येव योगवाहिता निश्चीयते तदानीं योगवाहिद्रव्योपयोगो निरर्थक स्यात्। तथा हि—योगवाहिद्रव्यमन्तरेणापि यत्स्वभाव द्रव्य प्रागासीत् तत्स्वभावमेव योगवाहिद्रव्ययुक्तमपि। तस्मादसदेतद्योगवाहिलक्षणमिति। केचित्त्वेव प्रतिजानते,-यद्द्रव्य द्रव्यान्तरेण युक्त सत् तस्य द्रव्यस्य शक्त्युत्कर्षमुत्पादयति, तद्योगवाहीति, तदप्यसम्यक्। यस्मादेवमभ्युपगम्यमाने बहूनि द्रव्याणि योगवाहीनि स्यु। तथा च मधवादेरपि द्रव्यस्य किञ्चिद्द्रव्य समानगुण शक्त्युत्कर्ष कुर्वदेव दृष्टम्। तत्कथ मध्वादेरेव योगवाहित्वमुच्यते नापरस्येति। तदेतदपि लक्षणमनच्छत्वादलक्षणम्। अपरे त्वेवमाहु,-यद्द्रव्य द्रव्यान्तरेणाननुगुणेनापि युक्त सत्तद्गुणाननुवर्तते स्व च कार्य तदविरुद्ध किञ्चित्करोति, तद्योगवाहिद्रव्य भृत्यवत्। यथा भृत्य स्वामिकार्यमत्यजन् स्वकार्यमपि शरीरयात्रादिक स्वाम्यविरुद्ध करोति, तथैव मधु मदनफलसयुक्त वमनकार्य करोति, न तु वमननिवारण मधुकार्यम्। एव मधुहरीतकीसयोगाद्विरेचनकार्यमेव करोति, न मधुकार्य स्तम्भनरूपमिति। ये त्वत्रैव प्रतिपन्ना,-मदनफलादे शक्त्युत्कर्षस्तथाविधोऽस्ति येन मधुसम्बन्धिकार्यमवधूय, स्व कार्य करोतीति। ते चैव चोदयन्तो भवन्तीति वचनीया। यत्र स्तम्भनद्रव्येणान्येन येन केनचित्सयुक्तस्य सुधाक्षीरस्यापि शक्ति किंचिदपहीयमाना दृष्टा मधुना तु स्तम्भनस्वभावेनाप्यस्य नापहीयते मनागपि। अतो मध्वादेरेव योगवाहित्व नान्यस्य। अपि चान्यदा योगवाहि द्रव्य त्रिवृतादिमदनफलेन युक्त सद्विरेचन वमनञ्चोभय-कार्य कुर्वद्दृष्टम्, न केवल वमनमेव विरेचनमेव वा। तस्मात् मध्वादेरेव योगवाहित्वमिति स्थितमेतत्। तदुक्तमिति मधुसमा गुणैर्मधुशर्करा। इति चक्रदत्त सर्वाङ्गसुन्दरायाम्।

यहा भी विरोध नहीं समझना चाहिये । इसलिए कि चरक का मधु को गुरु बतलाना गुण के कारण है और सुश्रुत का लघुत्व पाक के कारण ।

अब आचार्य तैलवर्ग का आरम्भ करते हैं । यथा—

तैल स्वयोनिवत्तत्र मुख्य तीक्ष्ण व्यवायि च ।
त्वग्दोषकृदचक्षुष्य सूक्ष्मोष्ण कफकृन्न च ॥
कृशाना बृहणायाल स्थूलाना कर्शनाय च ।
बद्धविट्क क्रिमिघ्न च सस्कारात्सर्वरोगजित् ॥
तैलप्रयोगादजरा निर्विकारा जितश्रमा ।
आसन्नतिबला युद्धे दैत्याधिपतय पुरा ॥

तैल के गुण—तिल, सरसों, राई आदि जिस किसी द्रव्य से तेल निकाला जायगा वह विशेषत उस २ द्रव्यगत गुणोंवाला होगा । इन सब मे मुख्य तिलों का तेल है । यह तीक्ष्ण, सारे शरीर मे व्याप्त होकर फिर पचनेवाला, त्वचा के लिए दोषकारक, नेत्रों के लिए अहितकारी, सूक्ष्म स्रोतोंतक में प्रविष्ट होनेवाला, उष्णस्पर्श, उष्णवीर्य, कफ को न करने वाला (पित्तकारक), कृशों को परिपूर्णतया पुष्ट करनेवाला तथा स्थूलों को कृश करनेवाला, मल (विष्ठा,) को बाधने वाला, क्रिमिघ्न और भिन्न भिन्न द्रव्यों के साथ सस्कृत (तैयार किया हुआ) सर्वरोगों या दोषों को जीतने वाला है । तेल के प्रयोग से ही प्राचीन काल मे दैत्यों के अधिपति जरा अवस्था को प्राप्त नहीं होते थे । अपि तु निर्विकार अर्थात् नीरोग रहते थे युद्ध में नहीं थकते हुए बलवान रहते थे ।

विशेष वक्तव्य—तैल शब्द की अन्वर्थकता तो तिलों के तेल में ही ठीक घटती है, जैसे कि "तिलोद्भव तैलम्' परन्तु यहा तो अलसी, सरसों, राई आदि सभी पदार्थों का तेल तैल ही कहलाता है, सो क्यों ? इस लिए कि तिलों के अतिरिक्त, सरसों आदि सभी द्रव्यों के लिए तैल शब्द केवल स्नेहभाव, (चिकनाई) मे रूढ है । साराश, स्नेहत्व के कारण ही ये सब तैल कहलाते है । चरक आदि ने कहा भी है कि–"अतैलमपि तैलमेव कृत्वोपदेक्ष्यते, तैलप्राधान्यात्—स्नेहप्राधान्याद्वा इति ।" "रूढिरूपत्वात्तैलशब्दस्य स्नेहविषय एव तैलशब्दो रूढ न पत्रकाण्डादिविषये" तैलशब्दोच्चारणस्य समनन्तर स्नेहविषयेव धीर्जायते, न पत्रकाण्डादिविषया । कुसुम्भादीना तिलशब्दस्य च स्नेहार्थवाच्ये विकारे स्नेहे तैलच् प्रत्यये सति कुसुम्भतैलमेरण्डतैल तिलतैलमिति रूप भवतीति, अरुणदत्त । तथापि इन सब में तिलों का तेल ही मुख्य है क्यों कि नाना द्रव्यों करके सस्कृत होने से वह सब रोगों तथा दोषों को जीतनेवाला है । इतना ही नहीं, वह योनि, सिर और कान के शूलको शान्त करता है तथा गर्भाशय की शुद्धि करता है । छिन्न–भिन्न–विद्ध–उत्पिष्ट–च्युत–मथित–क्षत–पिच्चित, भग्न–स्फुटित–क्षार तथा अग्निदग्ध–विश्लिष्ट–दारित–अभिहत–दुर्भग्न–मृगव्यालविदष्टादि अवस्थाओं में परिषेक–अभ्यङ्ग और अवगाहनक्रिया तिलतैल से ही की जाती है तथा वस्तिकर्म, स्नेहपान, नस्य, कान और नेत्र का पूरण, अन्नपानविधि एव वातशान्तिके अर्थ तिलतैल ही उपयोग में लाया जाता है । देखिये सुश्रुत सूत्रस्थान का अध्याय ४५ वा ।

कृशाना बृहणायाल स्थूलाना कर्शनाय च अर्थात् तेल कृश मनुष्यों को पुष्ट और स्थूलों (पुष्टों) को कृश करने मे समर्थ है । यहा शङ्का होती है कि ये दोनों परस्पर विरोधी बातें एक ही द्रव्य कैसे कर सकता है ? इस लिए कि कृश के स्रोत सकुचित होने से एव स्थूल के पूर्ण होने से वे रस का सवहन ठीक से नही कर सकते । तैल के सिवा बृहण गुण–युक्त द्रव्य भी उन सुकडे हुए स्रोतों मे प्रविष्ट नहीं हो सकते किन्तु तैल अपने सूक्ष्म–तीक्ष्णोष्णादि गुणों के कारण उन सकुचित स्रोतों मे प्रवेश कर उन्हे शुद्ध कर देता है । स्रोतों की शुद्धि होने से शरीर पुष्ट होता है । इसी प्रकार सूक्ष्म स्रोतोगामी होने से तैल स्थूलों के स्रोतों मे प्रविष्ट होकर अपने तीक्ष्णोष्णादि गुणों से उनके बढ़े हुए मेद को दूर कर देता है । मेद के दूर होने पर स्थूल पुरुष कृश (पतले) हो जाते हैं । यही आचार्यों ने कहा है । कृशाना नावत्स्रोतासि सकोचमायान्ति । सकुचितस्रोतसा च नराणा तैलमन्तरेणान्यानि द्रव्याणि बृहणगुणयुक्ता यपि न तथा प्रवेष्टु समर्थानि भवन्ति । तैल पुन सकुचितानि स्रोतासि तीक्ष्णादिभिर्गुणैर्झटित्येव प्रविश्य शोधयति । स्रोत शुद्ध्या च शरीरपुष्टि । तथा च वक्ष्यति स्रोतस्सु तक्रशुद्धेषु रसो धातूनुपैति य । तेन तुष्टिर्बल वर्ण पर पुष्टिश्च जायते ॥ इति तस्मात् कृशाना बृहणायालमित्युपपन्नम् । तथा स्थूलाना सूक्ष्मस्रोतोगामित्वात् सवस्रोतस्सु तैल प्रविश्य तीक्ष्णोष्णादिगुणयोगान्मेद क्षपयति । तत्क्षपणाच्च कर्शन सपद्यत, इति स्थूलाना कर्शनाय चेत्युपपन्नम् ॥ इत्यरुणदत्त । तैल के विषय में यहा लिखा है कि, त्वग्दोषकृदचक्षुष्य कफकृन्न च ॥ अर्थात् तेल त्वचा को दूषित करता हे, नेत्रों के लिए अहितकारी है और कफ को नही करता है, ।

परन्तु सुश्रुत ने इसके विपरीत तेल को त्वक्प्रसादन अर्थात् त्वचा या चमड़ी को निर्मल करनेवाला और नेत्रों को हितकारी कहा है । यह विरोध दिखाई देता है परन्तु वस्तुत यह विरोध नही है । इसलिये कि खानपान मे प्रयुक्त होने से त्वचा को दूषित करनेवाला और नेत्रों के लिए अहितकारी है, तथैव मर्दन या अभ्यङ्ग करने से त्वचा को निर्मल करनेवाला तथा नेत्रों के लिए हितकर है । जैसे कि कहा है 'त्वग्दोषकरत्वमचक्षुष्यत्व चाभ्यवहारे, त्वक्प्रसादनत्व चक्षुष्य चाभ्यङ्गे'

तेल के सामान्य गुणों के अनन्तर अब आचार्य एरण्डादि अनेक तैलों के विशेष गुणों का वर्णन करते है ।

सतिक्तोषणमैरण्ड तैल स्वादु सर गुरु ।
वर्ध्मगुल्मानिलकफानुदर विषमज्वरम् ॥
रुक्शोफौ च कटीगुह्यकोष्ठतापृष्ठाश्रयौ जयेत् ।
तीक्ष्णोष्ण पिच्छिल विस्र रक्तैरण्डोद्भव भृशम् ॥

१ ननु इह वातल, सुश्रुतवाक्ये त्रिदोषशमनमिति विरोध । नैवम्, विषयभेदात् । यत्र शुद्धो वायु शुद्ध मधु, तत्र वातलत्वम् । यत्र वातघातिभिर्मिश्र मधु पित्ताद्यैर्व्यामिश्रो वायु तत्र वातघ्नत्वम् । उभयोर्योगवाहित्वात् सुश्रुतेन हि पित्तश्लेष्मघ्नत्व पठित्वा त्रिदोषशमनत्व पठता पित्तश्लेष्माणौ शुद्धौ वातमिश्रौ वा, वायु तु मिश्रमेव मधु हन्तीति द्योतितम् । यच्च चरकेण मधुनो गुरुत्वमुक्त सुश्रुतेन लघुत्वमुक्तम् । तत्र गुरुत्व गुणेन, लघुत्व पाकेनेत्यविरोध । इत्यायुर्वेदरसायने हेमाद्रि ।

२ "सर्वदोषजित्" इत्यपि पाठ ।

कटूष्णं सार्षपं तीक्ष्णं कफशुक्रानिलापहम् ।
[लघुपित्तास्रकृत्कोठकुष्ठार्शोव्रणजन्तुजित् ॥]
उमाकुसुम्भजं सोष्णं त्वग्दोषकफपित्तकृत् ।
दन्तीमूलकरक्षोघ्नकरञ्जारिष्टशिग्रुजम् ।
सुवर्चलेङ्गुदीपीलुशङ्खिनीनीपसम्भवम् ॥
सरलागुरुदेवाह्वशिंशुपासारजन्म च ।
तुवरारुष्करोत्थं च तीक्ष्णं कट्वस्रपित्तकृत् ॥
अर्शःकुष्ठक्रिमिश्लेष्मशुक्रमेदोऽनिलापहम् ॥
करञ्जनिम्बजे तिक्ते नात्युष्णे तत्र निर्दिशेत् ।
कषायतिक्तकटुकं सारलं व्रणशोधनम् ॥
भृशोष्णतीक्ष्णकटुकतुवरारुष्करोद्भवे ।
विशेषात्क्रिमिकुष्ठघ्ने तथोर्ध्वाधोविरेचने ॥
अक्षातिमुक्तकाक्षोडनालिकेरमधूकजम् ।
त्रपुषैर्वारुककूष्माण्डश्लेष्मातकपियालजम् ॥
वातपित्तहरं केश्यं श्लेष्मलं गुरु शीतलम् ।
पित्तश्लेष्मप्रशमनं श्रीपर्णीकिंशुकोद्भवम् ॥
तिलतैलं वरं तेषु कौसुम्भमवरं परम् ॥

एरण्डतैल के गुण—एरण्ड का तेल कुछ मधुर-तिक्त और कटु (चरपरे) रसवाला, दस्तावर, भारी, अण्डवृद्धि-गुल्म-वात-कफ-उदर-विषमज्वर-कटी (कमर)-गुद-लिंग इनको तथा हृदय से वस्तिपर्यन्त एवं पीठ में आई हुई सूजन और पीड़ा इन सबको जीतनेवाला है। लाल एरण्ड का तेल पूर्वोक्त श्वेत एरण्डतेल से भी अति तीक्ष्ण, उष्ण, पिच्छिल और सड़ी-सी दुर्गन्धवाला है।

सरसों के तेल के गुण—सरसों का तेल, चरपरा (कटु), उष्ण, तीक्ष्ण, कफ-वीर्य और वायु का नाशक, हलका, पित्तरक्तकारक, कुष्ठ, अर्श, व्रण एवं कृमिरोग का नाशक है।

अलसी तथा कुसुम्भतैल आदि के गुण—अलसी और कर्रे (कुसुम्भ) का तेल कुछ उष्ण, त्वग्दोष, पित्त और कफ को करता है। दन्ती, मूली, श्वेत सरसों, करञ्ज, रीठा, सहजना, हुरहुर, हिंगोट, पीलु, शिरीष कदम्ब, सरल (चीढ़), अगर, देवदारु, शीसम, तुवरक (चालमोग्रा) और भिलावा इन सबके तेल तीक्ष्ण, कटु, रक्तपित्तकारक, एवं कुष्ठ, कृमि, कफ, वीर्य, मेद और वायु के नाशक हैं। इनमें करञ्ज और निम्ब के तेल तिक्त होते हुए भी अति उष्ण नहीं हैं। सरल (चीढ) का तेल कसैला, तिक्त, कटु और व्रणशोधन है। तुवरक तथा भिलावा के तेल अत्युष्ण, तीक्ष्ण तथा कटु हैं। इसके अतिरिक्त ये तेल कृमि-कुष्ठ के हरने तथा ऊर्ध्वाधोविरेचन अर्थात् वमन विरेचन करने में अपनी विशेषता रखते हैं।

बहेड़ा आदि तेलों के गुण—बहेड़ा, अतिमुक्तक (माधवी फल), अखरोट, नारियल, महुआ, खीरा-ककड़ी, कूष्माण्ड, लिहसोड़ा और चिरौंजीदाना इन सबके तेल वातपित्तनाशक, केशों के लिए हितकारी, कफकारक, भारी तथा ठण्डे हैं। गम्भारी और पलासबीज के तेल पित्त तथा कफ के नाशक हैं। इन सबमें तिल का तेल श्रेष्ठ और कर्रे (कुसुम्भ) का नेष्ट है।

स्नेहप्रसङ्गवशात् अब आचार्य वसा (चर्बी) और मज्जा के गुणों का भी वर्णन करते हैं।

वसा मज्जा च वातघ्नौ बलपित्तकफप्रदौ ।
मांसानुगस्वरूपौ च विद्यान्मेदोऽपि ताविव ॥
भौलूकी शौकरी पाकहंसजा कुक्कुटोद्भवा ।
वसा श्रेष्ठा स्ववर्गेषु कुम्भीरमहिषोद्भवा ॥[1]
काकमद्गुवसा तद्वत्कारण्डोत्था च निन्दिता ।
शाखादमेदसां छागं हास्तिनं च वरावरे ॥

वसा और मज्जा के गुण—वसा अर्थात् शुद्धमांसगत तैलवत् तरल स्नेह और मज्जा अर्थात् अस्थिगत घृतवत् धातु (वसा तु रूपेण शुद्धमांसस्य स्नेहः । मज्जा धातुरित्यरुणदत्तः) ये दोनों वातनाशक, बल, पित्त और कफकारक तथा जिस २ की वसा, मज्जा है उस २ पशु पक्षी के मांस के गुणोंवाली होती है। मेद के गुण भी वसा और मज्जा के तुल्य हैं। उल्लू, सुअर, पाचित हंस और कुक्कुट की वसा श्रेष्ठ है परन्तु कुम्भीर मगर (नक्रस्तु कुम्भीर इत्यमरः) महिष (भैंसा) और जलकाक की वसा अपने अपने वर्ग में अश्रेष्ठ है अर्थात् मत्स्य, (मछली), महामृग, जलचर और विष्किर इन सबकी वसा पथ्यरूप से क्रम से श्रेष्ठ है। तद्वत् कुम्भीरादि की वसा अश्रेष्ठ है। (बालुक्यादीनां चतुर्णां वसा स्वस्ववर्गेषु क्रमेण मत्स्यमहामृगाप्चरविष्किरेषु पथ्यत्वेन श्रेष्ठा तद्वत्स्ववर्गेषु मध्ये कुम्भीरादिवसा अश्रेष्ठा इतीन्दुः) तृण को छोड़ प्रायः वृक्षादि की शाखाओं को खानेवाले बकरा और हाथी के मेद में बकरे का मेद श्रेष्ठ एवं हाथी का निन्द्य है। (ये शाखां प्रायो भुञ्जते ते शाखादाः न तु भूयिष्ठं तृणादिरनभावेनैव इतीन्दुः) आधुनिक काडलिवर आदि का भी उपयोग होता है।

इति तैलवर्गः।

अब आचार्य मद्यवर्ग के गुणों का वर्णन करते हैं। यथा—

दीपनं रोचनं मद्यं तीक्ष्णोष्णं तुष्टिपुष्टिदम् ।
सस्वादु तिक्तकटुकमम्लपाकरसं सरम् ॥
सकषायं स्वरारोग्यप्रतिभावर्णकृल्लघु ।
नष्टनिद्रातिनिद्रेभ्यो हितं पित्तास्रदूषणम् ॥
कृशस्थूलहितं रूक्षं सूक्ष्मं स्रोतोविशोधनम् ।
वातश्लेष्महरं युक्त्या पीतं विषवदन्यथा ॥
गुरु तद्दोषजननं नवं जीर्णमतोऽन्यथा ।
पेयं नोष्णोपचारेण न विरिक्तक्षुधातुरैः ।
नातितीक्ष्णमृदुस्वच्छघनं व्यापन्नमेव वा ॥

मद्य के गुण—सामान्यतया आगे मदात्यय-चिकित्सा में वर्णित अल्पमात्रादि युक्ति से सेवित सभी प्रकार के मद्य जठराग्निप्रदीपक, रुचिकारक, तीक्ष्ण, उष्ण, चित्त को प्रफुल्लित और शरीर को पुष्ट करनेवाले, सन्तुष्टि (चित्त को सन्तुष्ट) करनेवाले तथा शरीर में बलवृद्धिकारक हैं (तुष्टिः चित्तपरितोषः, पुष्टिः शरीरपोषः, इत्यरुणः । तुष्टिः सन्तोषः, पुष्टिः बलवृद्धिरिति हेमाद्रिः ।) मद्य कुछ मधुर-तिक्त-कटु और कषायानुरस होकर भी विपाक एवं रस में अम्ल, सूक्ष्म होने से शरीर भर में पसरनेवाला या दस्तावर, स्वर-आरोग्य-बुद्धि

---

[1] बौलूकीति न्दुसम्मतपाठः ।

और वर्ण को बढानेवाला, लघु (हलका), जिस को नींद न आती हो उसको नींद लानेवाला, और जिसे नींद अधिक आती हो उसको कम करनेवाला है। इसी प्रकार कृश और स्थूल इन दोनों के लिए हितकारी अर्थात् कृश को पुष्ट और स्थूल को कृश करनेवाला, पित्तरक्त को दूषित करनेवाला रूखा, सूक्ष्म स्रोतों को शुद्ध करनेवाला तथा वातकफनाशक है। ये सब गुण युक्ति से मद्यपान के हे। अन्यथा, अतिमात्रादि (अयुक्ति से सेवित) मद्य विष की तरह मारक होते हैं। एक वर्ष के भीतर का या कुछ दिनों का तैयार किया हुआ नवीन मद्य त्रिदोषकारक और गुरु होता है और इस के विपरीत जीर्ण (पुराना) मद्य त्रिदोषहारी, जल्दी पचनेवाला (लघु) होता है। (नवमनतीतम्वत्सर कतिपयन्दिवसपरिवासो नवत्वम्, जीर्णं पुराणमेतद्विपरीतम्, इतीन्दु ।)

उष्णोपचारी अर्थात् गरमपदार्थों के सेवन करनेवाले, गरम मकानादि मे रहनेवाले, गरमियों या धूप मे से आए हुए उष्णोपचारी, उष्ण-आहार-विहारवाले ऐसे मनुष्यों को चाहिए कि वे मद्यपान न करे। जिसने दोषशमनार्थ विरेचन (जुलाब) लिया हो और जो अतिक्षुधा से पीडित हो, उसको भी मद्यपान नही करना चाहिये। इस प्रकार का मद्य भी नहीं पीना चाहिये जो अति तीक्ष्ण (तेज) हो, अल्प द्रव्यों के कारण अतिस्वच्छ अर्थात् जिस मे मद न हो, धूल-शर्करा आदि पडने से जो अति गाढा हो, देशकालादिवशात् जो बिगड गया हो, ऐसा मद्य भो नही पीना चाहिये। "उष्णोपचारेण-उष्णमाहार सूर्यसंतापादिक वा सेवमानेनेति हेमाद्रि ।" "व्यापन्न-देशकालाद्युपहतम्" इतीन्दु ।

विशेष वक्तव्य—मद्य पीनेवालों को देखा जाता है कि प्राय उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और भी कई रोग एव अवगुण होते है। यहा तो उसे "स्वरारोग्यप्रतिभावणकृत्" कहा है जिसका भाव यह है कि मद्य स्वर, आरोग्य, बुद्धि और वर्ण को बढानेवाला है सो विरोध प्रतीत होता है परन्तु वस्तुत यह ठीक है, इस लिए कि युक्तिपूर्वक अल्पमात्रा मे सेवित मद्य "स्वरारोग्यप्रतिभावर्णकृत्" है और अयुक्तिपूर्वक अतिमात्रा मे पान किया हुआ मद्य ही मदात्ययादि अनेक रोगों का कर्ता एव बुद्धि को भ्रष्ट करनेवाला है। अल्पमात्रा में युक्तिपूर्वक मद्य पान की विधि इसी ग्रन्थ के मदात्ययचिकित्साध्याय मे देखिये। एक ही प्रकार के गुणधर्मवाले मद्य को जिसे नींद न आती हो और जिसे नींद बहुत आती हो इन दोनों को हितकारी कैसे कह दिया और इसी प्रकार कृश और स्थूल इन दोनों को भी हितकारी कह दिया है सो क्यों? इसलिए कि नष्टनिद्र और अतिनिद्र द्वारा पान किया हुआ मद्य उनके आहारों में विपरीतता लाता है, जैसे कि नष्ट-निद्र का छूटा हुआ आहार मद्यपान के कारण पर्याप्त होकर वह निद्रा अच्छी तरह लाता है और अति-निद्र मद्यपान में भी आहार नहीं कर सकता किन्तु मद्य अपनी तीक्ष्ण सूक्ष्मता के कारण उसके स्रोतों मे प्रविष्ट होकर उष्णता को बढ़ाता हुआ अतिनिद्रा का नाश करता है। यह बात मद्य के प्रभाव से भी होती है। अन्य प्रकार से भी उपर्युक्त शका का समाधान किया जाता है कि बढ़ा हुआ वायु ही निद्रानाश का कारण होता है, परन्तु मद्य वातघ्न है अत निद्रा लाता है। बढ़े हुए कफ से अति निद्रा होती है किन्तु मद्य कफघ्न होने से निद्रा को कम करता है। यही बात कृश और स्थूल के लिए भी समझनी चाहिये, जैसे कि मद्य के वातघ्न होने से कृश को स्थूल और कफहर्ता होने से स्थूल को कृश कर सकता है। कुछ टीकाकारों के मत मे इसका समाधान यह भी है कि मद्य की कई जातिया हैं। उनमें कुछ कृश एव अनिद्र के लिये हितकारी हैं तो कुछ स्थूल एव अतिनिद्र के लिए। जैसे कि स्निग्ध और सौम्य होने से कफवर्धनी सुरा अनिद्र और कृश को तथैव कफहारिणी माध्वीक स्थूल तथा अतिनिद्रको पथ्य है। (नष्टनिद्रस्य चातिनिद्रस्य चाहारविशेषाद्वैपरीत्य करोति, प्रभावाद्वा, एव कृशस्थूलयोरपीती दु)। ननु, एकमेव निद्रा करोति हन्ति चेति विरुद्धम्, नैवम्। प्रवृद्धवातो हि नष्टनिद्रो भवति, तस्यामवस्थाया वातघ्नत्वान्निद्रा करोति। प्रवृद्धश्लेष्मा चातिनिद्र, तस्यामवस्थाया श्लेष्मघ्नत्वान्निद्रा हन्ति। कृशस्थूलहित तैलोक्तन्यायेनेति हेमाद्रि । "सर्वमेव मद्य-प्रभावादिति केचित्। अ ये त्वेव मन्यन्ते, यथा सुरादि यन्मद्य, श्लेष्मादिवर्धन तन्नष्टनिद्रेभ्यो हितम्। यच्च माधवादि मद्य श्लेष्मादिह तृ, तच्चातिनिद्रेभ्यो हितम्। कृशेभ्य स्थूलेभ्यश्च हितम्, इति सामा येऽपि निर्देशेऽत्राय विशेषो बोध्य । किञ्चिन्मद्य कृशाय हित किञ्चित्स्थूलायेत्यरुणदत्त ।

अब आचार्य मद्य-विशेष के गुणों को कहते हैं। जैसे कि—

गुल्मोदरार्शोग्रहणीशोषहृत्स्नेहनी गुरु ।
सुरानिलघ्नी मेदोऽसृक्स्तन्यमूत्रकफावहा ॥
तद्गुणा वारुणी हृद्या लघुस्तीक्ष्णा निहन्ति च ।
शूलकासवमिश्वासविबन्धाध्मानपीनसान् ॥
शूलप्रवाहिकाशोफतृष्णाटोपार्शसा हितः ।
जगल पाचनो ग्राही रूक्ष तद्वच्च मेदक ॥
बक्कसो हृतसारित्वाद्विष्टम्भी दोषकोपन ।
नातितीव्रमदा लघ्वी पथ्या वैभीतकी सुरा ॥
व्रणे पाण्डवामये कुष्ठे न चात्यर्थ विरुध्यते ।
विष्टम्भनी यवसुरा गुर्वी रूक्षा त्रिदोषला ॥
कौहली बृहणी गुर्वी श्लेष्मलस्तु मधूलक ।
यथाद्रव्यगुणोऽरिष्ट सवमद्यगुणाधिक ॥
ग्रहणी-पाण्डुकुष्ठार्श-शोथशोफोदरज्वरान् ।
हन्ति गुल्मक्रिमिप्लीह कषायकटुवातल ॥
मार्द्वीक लेखन हृद्य नात्युष्ण मधुर सरम् ।
अल्पपित्तानिल पाण्डुमेहार्श क्रिमिनाशनम् ॥
अस्मादल्पान्तरगुण खार्जूर वातल गुरु ।
शार्कर सुरभि स्वादुर्हृद्यो नातिमदो लघु ॥
सृष्टमूत्रशकृद्वातो गौडस्तर्पणदीपन ।
वातपित्तकर शीधु स्नेहश्लेष्मविकारहा ॥
मेद शोफोदरार्शोघ्नस्तत्र पकरसो वरः ।

सुरा के गुण—चावलों के पिष्ट या परिपक्व अन्न के सन्धान से बनाई हुई सुरा[1] गुल्म, उदर, अर्श, सग्रहणी और शोष (क्षय) रोग को हरनेवाली, स्निग्ध, गुरु तथा

[1] शालिपिष्टकृत मद्य सुरा (हेमाद्रि), "परिपक्वान्नसन्धान-समुद्भूता सुरा मता" इति राजनिघण्ड ।

वायुनाशिनी, मेद, रक्त, स्त्रियों के दूध, मूत्र और कफ को बढानेवाली है।

वारुणी के गुण—वारुणी अर्थात् प्रसन्ना जो कि पुनर्नवादिमूलयुक्त शालिपिष्ट से अथवा ताड और खजूर के रस के सन्धान से बनती है, वह पूर्वोक्त सुरा ही के समान गुण वाली, हृदय के लिए हितकारिणी, लघु, तीक्ष्ण तथा शूल-कास-वमन-श्वास-विबन्ध (अपानादि वायु का रुकना या दोषादिवहन करनेवाले स्रोतों का रुकना) अफारा और पीनस इन सब को नष्ट (ठीक) करती है। कई अच्छ (सुरामण्ड) को ही वारुणी मानते है किन्तु हेमाद्रि को यह बात मान्य नहीं है इसलिए कि सुश्रुत ने प्रसन्ना (वारुणी) को कफ नाशिनी कहा है।

जगल, मेदक और बक्कस के गुण—वारुणी के नीचे का घन भाग जगल और उसके नीचे का मेदक ये दोनों पाचनकर्ता, ग्राही तथा रूक्ष है। तथा शूल प्रवाहिका-शोथ-तृष्णा-अफारा और बवासीरवालों को हितकारी है। बक्कस अथात् मद्य कल्क को निचोडने से शेष रहा हुआ निस्सार भाग विष्टम्भी (अफारा पैदा करनेवाला) और दोषों को कुपित करने वाला है।

वैभीतकी सुरा के गुण—बहेडे के वक्कल से तैयार की हुई सुरा अतितीव्र नशा लानेवाली नहीं होती किन्तु वह लघु और पथ्या है। इसीलिए व्रण, पाण्डुरोग तथा कुष्ठ में इसका प्राय विरोध नहीं किया जाता।

यवसुरा के गुण—यवों से तैयार की हुई सुरा विष्टम्भिनी (मलावरोधिनी), गुरु, रूक्ष और त्रिदोष को बढ़ानेवाली है।

कोहली सुरा के गुण—कूष्माण्ड (कोहला) से बनाई हुई सुरा अथवा बाल्हीक (बलख) देश में जब-चावल-लाजा के सत्तू से बननेवाली सुरा बृहणी (पुष्टिप्रद) तथा गुरु है।

मधूलक के गुण—जल से उत्पन्न या जल में स्थित ऐसे मधूक (महुआ) वृक्ष के पुष्पों का मद्य कफकारक है। किसी भी वस्तु का मद्य पूरी तरह से तैयार न हुआ हो वह भी मधूलक कहलाता है और वह कफकारक है।

अरिष्ट के गुण—अरिष्ट जिस जिस द्रव्य के द्वारा बनाया जायगा, वह उस उस द्रव्य के गुणोंवाला होगा और वह मद्य के सभी दीपनादि गुणों से अधिक गुणोंवाला होगा। इतना ही नही, अरिष्ट, कषाय-कटु-रसवाला, वातकारक, सग्रहणी पाण्डु कोढ, बवासीर, शोष, (क्षय), सूजन, उदर, ज्वर, गुल्म, क्रिमि और प्लीहा रोग का नाशक है।

मार्द्वीक मद्य के गुण—द्राक्षा (मुनक्का) रस से तैयार किया हुआ मार्द्वीक मद्य लेखन (अतितीक्ष्णतया धातुओं को या चिपटे हुए मलों को कुरच कर उखाडने वाला), हृदय को बल देनेवाला, उष्ण, मधुर-दस्तावर-अन्य मद्यों की अपेक्षा अल्प पित्तवातकर्ता, पाण्डु, प्रमेह, अर्श तथा कृमि रोगका नाशक है।

खार्जूरमद्य के गुण—छुहारों या खजूर से बना हुआ मद्य उपर्युक्त मार्द्वीक मद्य के गुणोंवाला होता हुआ भी उस मद्य की अपेक्षा न्यूनगुणवाला या कुछ विशेष गुणोंवाला वातकारक और गुरु होता है

शार्कर के गुण—शर्करा सम्बन्धी मद्यविशेष मधुर, हृदय के लिए हितकारी, अल्पमदवाला और लघु होता है।

गौड के गुण—गुड से बना हुआ मद्य, मूत्र-मल और अपानवायु को प्रवृत्त करनेवाला (खोलनेवाला), तृप्तिकारक तथा दीपन होता है।

शीधु के गुण—ईख के रस से तैयार किया हुआ मद्य शीधु कहलाता है। इसके दो प्रकार हैं एक ईख के अपक्व रससे बनाया जानेवाला शीतरस और दूसरा पकाये हुए ईख के रस से बना हुआ पक्वरस। इन दोनो मे पक्वरस-निर्मित मद्य ही श्रेष्ठ होता है और वह वातपित्तकारक, स्नेह (घृत तैलादि) और श्लेष्म (कफ) जन्य विकारों को हरनेवाला, मेद-शोथ-उदर एव अर्शो रोग का नाशक है।

अब आचार्य मद्यविशेष एव सामान्यत अरिष्ट के गुणों का कथन करने के अनन्तर आसवविशेष के गुणों का वर्णन करते है।

छेदी मध्वासवस्तीक्ष्णो मेहपीनसकासजित् ।
सुरासवस्तीक्ष्णमद स्वादुस्तीक्ष्णोऽनिलापह ॥
मैरेयो मधुरो वृष्य सर सतर्पणो गुरु ।
धातक्यभिषुतो जीर्णो रूक्षो रोचनदीपन ॥
द्राक्षासवो मधुसम परम स तु दीपन ।
मार्द्वीकसदृश प्रोक्तो मृद्वीकेक्षुरसासव ॥
समासादासवो हृद्यो वातल स्वौषधानुग ।
द्राक्षेक्षुमाक्षिक शालिरुत्तमा व्रीहिपक्ष्मा ॥
मद्याकरा यदेभ्योऽन्यत्तन्मद्यप्रतिरूपकम् ।
गुणैर्यथोल्बणैर्विद्यान्मद्यमाकरसकरात ॥

१ "वारुणी श्वेतसुरा सा च पुनर्नवादिमूलयुक्तेन शालिपिष्टेन क्रियते' इति हेमाद्रि। किन्तु सुश्रुत पृथगेव पठति। शार्ङ्गधरस्तु वदति "यत्तालखर्जूररसै सधिता सा हि वारुणी" इति।

२ "विबन्धो वातरोध, इति हेमाद्रि। विबन्ध स्रोतसामुपलेपेन दोषादीनामवहननम्, इतीन्दुरुणदत्तौ। ३ वारुणी अच्छसुरेति केचित् तन्न, तस्या कफघ्नत्वात्। उक्त हि सुश्रुतेन "प्रसन्ना कफवाता र्शोविबन्धानाहनाशिनीति हेमाद्रि।" ४ वारुण्या अधोभागो जगल, जगलस्याधोभागो मेदक, पानीयेन मद्यकल्कपीडनेनोत्पन्नो वक्कस।" इत्यरुण।

५ कोहलो कूष्माण्डसुरायाम्, इति वैद्यनिघण्टु। कोहल यवशक्तुकृतमद्यविशेष, इति वैद्यकशब्दसिन्धु। कोहल शक्तुभिर्देशे बाह्लीके क्रियते यवैरिति वाचस्पति। ६ जलजेऽत्र मधूलक इत्यमर। सर्वं मद्यमसजात मधूलकमिति स्मृतम्, इतीन्दु।

१ अरिष्टो द्रव्यसयोगसस्कारादधिको गुण। इत्यादि सुश्रुत।

२ "विलिखत्यतितैक्ष्ण्याद्धातूस्तल्लेखन मतम्" इत्यरुण। "लेखन-विलीनमलोत्खननम्" इति हेमाद्रि।

३ मार्द्वीकादल्पान्तरगुणम्। अल्पान्तरा किञ्चिद्विशेषा गुणा यस्य तदेवम्" इत्यरुण। "मार्द्वीकादूनगुणम्" इतीन्दु।

४ हृष्य इत्यपि पाठ।

मध्वासव के गुण—मधु (शहद) से बना हुआ आसव तीक्ष्ण, जमें हुए कफादि को पिघलानेवाला, प्रमेह-पीनस तथा कास रोग को जीतनेवाला है।

सुरासव के गुण—इसी आसवको यदि मद्य का रूप दे दिया जाय अर्थात् अपक्व द्रवौषधियों के सधान से तयार हुए आसव को फिर मद्य की तरह चुवा लिया जाय तो वह सुरासव कहलाता है। यह अत्यन्त तेज मदकारक, मधुर, तीक्ष्ण और वातनाशक है।

मैरेय—मधुर, वृष्य, हृष्य (हर्षकर), दस्तावर, तृप्तिकारक और गरिष्ट (पचने मे भारी) है।

विशेष वक्तव्य—इस मैरेय के विषय में कुछ मतभेद है। कुछ टीकाकार इसे कोद्रव (कोदो धान्य) से बनाया हुआ मानते है तो कोई आचार्य किसी भी द्रव्य से निष्पादित सुरा और आसव इन दोनों को मिलाकर पुन सन्धान किये हुए को मैरेय कहते है। कुछ उसको भी त्रियोन्यात्मक मानते हुए उसके दो प्रकार मानते है यथा-पैष्टी, सुरा, गुड़योनि आसव और शहद इन से बना हुआ एक प्रकार और पैष्टी सुरा, मध्वासव और गुड़ से बनाया हुआ दूसरा प्रकार। तन्त्रान्तर मे धाय के पुष्प, गुड और धान्याम्लद्वारा बने हुए आसव को मैरेय माना है। सुश्रुत उपर्युक्त गुणों से भी अधिक वर्णन करते है कि मैरेय तीक्ष्ण, कषाय, मदकारी, अर्श, कफ और गुल्म का नाशक, क्रिमि स्थौल्य-वातनाशक, मधुर और गुरु है।

धातक्यासव के गुण—धाय के पुष्पों द्वारा बना पुराना आसव रूक्ष, रुचिकारक और अग्निप्रदीपक होता है।

द्राक्षासव के गुण—मध्वासव के समान गुणकारी और परम (अति) अग्निप्रदीपनकर्ता है।

मृद्वीकेक्षुरसासव के गुण—मुनक्का और ईखरसको मिला। कर बनाया हुआ आसव भी मृद्वीकासवके तुल्य गुणवाला है।

समासादासवो हृद्यो वातल स्वौषधानुग ।

समस्त आसवों के गुण—सक्षेपत सभी प्रकार के आसव हृदय को बल देनेवाले या हृदय के लिए हितकारी, बात कारक तथा जैसी ओषधि के साथ बनाया जाय वह उस ओषधि के गुणोंवाला होता है।

आसवारिष्ट विषय में विशेष वक्तव्य—सामान्य परिभाषा देखी जाय तो जो सूखे द्रव्य केवल कच्चे आर्द्र द्रव में डालकर सन्धान किया जाता है वह आसव कहलाता है और द्रव्यों का क्वाथ बनाकर सन्धान किया हुआ अरिष्ट होता है किन्तु कई आचार्यों के मत में आसव शब्द मद्य का ही पर्याय मात्र है। ध्यान रहे कि मद्य और आसव से भी अरिष्ट के गुणविशेष बताये गए हैं। पाठक ग्रन्थों मे देखने का प्रयत्न करें।

अब आचार्य मद्य की पाच योनियों का वर्णन करते है—

द्राक्षेक्षुमाक्षिक शालिरुत्तमा व्रीहिपञ्चमा ।
मद्याकरा यदेभ्योऽन्यत्तन्मद्यप्रतिरूपकम् ॥
गुणैर्यथोल्बेणैर्विद्यान्मद्यमाकरसकरात् ।

मद्यकी पाच योनिया—द्राक्षा, ईख, शहद, हेमन्त ऋतुके दश या द्वादश प्रकार के चावल और साठी चावल ये पाच ही मद्य की उत्तम योनिया है अर्थात् मुख्यतया मद्य इन पाचोंसे ही तयार होता है। इनके अतिरिक्त जिन द्रव्यों से मद्य बनता है वह वस्तुत मद्य नहीं, किन्तु मद्य की नकल मात्र या प्रति रूप है। इन मद्ययोनियोंके साथ जिन द्रव्यों को अधिक मिलाया जाता है वह मद्य उन द्रव्योंके गुणोंवाला होता है।

शुक्त के लक्षण—कन्द, मूल, फलादि, तेल और नमक ये द्रवद्रव्य में डालकर सधान किया जाता है उसे शास्त्रकार शुक्त कहते है।

शुक्त के अनेक भेद—यही शुक्त यदि गुड़, ईखरस, मद्य और द्राक्षाके द्रव मे बनाया जाता है तब उसे गुडशुक्त, इक्षुशुक्त, मद्यशुक्त और द्राक्षाशुक्त कहते हैं।

चुक्र का वर्णन—शुक्त ही का एक विशेष भेद चुक्र है, जो मस्तु, गुड़, शहद और कांजी को एक शुद्ध पात्र मे डालकर तीन दिन धान्यराशि में रखने से बनता है अब उन्हीं शुक्त आदि के गुणों का वर्णन करते हैं।

रक्तपित्तकफोत्क्लेदि शुक्त वातानुलोमनम् ।
भृशोष्णतीक्ष्णरूक्षाम्ल हृद्य रुचिकर सरम् ।
दीपन शिशिरस्पर्शे पाण्डुदृक्कृमिनाशनम् ॥

शुक्त के गुण—सामान्यत सभी प्रकार के शुक्त रक्त पित्त और कफको उत्क्लेदन (ढीले या पतले) करनेवाले, वायुको मार्गान्तरसे अपने ठीक मार्गपर लानेवाले, अति उष्ण, अति तीक्ष्ण, अति रूक्ष और अम्ल (खट्टे), हृदय के लिए हितकारी, अति रुचिकारक, दस्तावर, अग्निप्रदीपक, छूने में ठडे, पाण्डु, नेत्र और क्रिमिरोगों के नाशक है।

गुडेक्षुमद्यमार्द्वीकशुक्त लघु यथोत्तरम् ।
कन्दमूलफलाद्य च तद्विद्यात्तदासुतम् ॥
शाण्डाकी चासुत चान्यत्कालाम्ल रोचन लघु ।
धान्याम्ल भेदि तीक्ष्णोष्ण पित्तकृत्स्पर्शशीतलम् ॥
श्रमक्लमहर रुच्य दीपनं बस्तिशूलजित् ॥

इति मद्यवर्ग ।

१ छेदी-तीक्ष्ण इत्यरुणदत्त । छेदी-सहतकफादिविश्लेषीति हेमाद्रि । २ मैरेय -कोद्रवैर्जायते, इतीन्द्रुर्णौ "आसवस्य सुरायाश्च द्वयोरेकत्र भाजने। सधान तद्विजानीयान्मैरेयमुभयात्मकम् ॥ इति शौनक । तत्र मैरेयो नाम सुरासवयो प्रत्येकनिष्पादितयोरेकीकृत्य पुन सन्धानान्मैरेय । सुरा पैष्टी, आसवश्च गुडयोनि, मधु च देयमिति त्रियोनित्वम्। यदि वा पैष्टी मध्वासवो गुडश्चेति सन्धाना त्रियोनित्वेन मैरेयो द्विविधो भवति। इति सुश्रुत—टीकाया डल्हन "मैरेय धातकीपुष्पगुडधान्याम्लसहितम्।" इति ३ तीक्ष्ण कषायो मदकृद्दुर्नामकफगुल्महृत् । कृमिमेदोऽनिलहरो मैरेयो मधुरो गुरु ॥ इति।

१ यदपक्वौषधाम्बुभ्यां सिद्ध मद्य स आसव। अरिष्ट क्वाथसिद्ध स्यादिति। २ कन्दमूलफलादीनि सस्नेहलवणानि च। यत्रैकत्राभिषूयन्ते तच्छुक्तमभिधीयते। ३ गुडस्त्विक्षुरसो मद्य मार्द्वीक च द्रव यदा। गुडेक्षुमद्यमार्द्वीकशुक्तानि स्युस्तदा क्रमात्। ४ य मस्त्वादि शुचौ भाण्डे सगुडक्षौद्रकाञ्जिकम्। धान्यराशौ त्रिरात्रस्थ शुक्त चुक्र तदुच्यते। इत्यादि शार्ङ्गधरादय ।

शुक्तों में यथोत्तर लघुत्व—गुड, ईख का रस, मद्य और द्राक्षा के द्रव मे तयार किए हुए शुक्त (सिरके) यथोत्तर लघु होते हैं जैसे कि गुड शुक्त से इक्षुरसशुक्त, इक्षुरसशुक्त से मद्यशुक्त और मद्यशुक्त से द्राक्षाशुक्त लघु (हल्का) है। कन्द, मूल, फलादि (काण्ड, मूल, पत्रादि) सन्धान से बनते हैं वे शुक्त उन उन द्रव्यों के गुणवाले समझने चाहिये, जिन जिन से वे तयार किये जाते है।

शाण्डाकी[1] और कालाम्ल के गुण—अरुणदत्तोक्त शाण्डाकी उसका नाम है जो मूली, सरसों आदि शाकों के क्वाथ को सन्धानकर उसमे स्याह जीरा, राई की भावना दी जाती है, जो अम्ल और तीक्ष्ण होती है। हेमाद्रि एव अन्य तन्त्रकारों के मत से शाण्डाकी वह है जो शाक, मूग आदि के बड़ों (बटकों) के साथ या कन्द-मूल और बटकों के साथ या केवल मूली के टुकडे द्रवद्रव्य में सन्धानितकर बनाई जाती है। इसी प्रकार पिण्याक (तिल्ली की खली) आदि द्रव मे डाल कर सधान किया जाता है और जो चिरकाल मे अम्लता को प्राप्त होता है उसे कालाम्ल (कालेन चिरकालावस्थेनाम्ल कालाम्ल) कहते है। शाण्डाकी और कालाम्ल ये दोनों रुचिकारक और लघु है।

धान्याम्ल के गुण—धान्याम्ल अर्थात् काजी दो प्रकार से सन्धानित की जाती है जैसे कि कूटे हुए सतुष (तुषसहित) तण्डुलों द्वारा या सतुष और वितुष (बिना तुष) के जवों द्वारा। यह दस्तावर, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, पित्तकारिणी, छूने में ठडी, श्रम और क्लम (व्यायाम जन्य और विना व्यायाम की थकावट[2]) को दूर करनेवाली, रुचिकारिका, अग्निप्रदीपनी, बस्ति (पेडू) के शूल को हरनेवाली, निरूह बस्ति में श्रेष्ठ, लघु, वात कफहारिणी है। दूसरे प्रकार से अर्थात् सतुष और निस्तुष जवों के उदक में बनी काजी मे उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त कृमि, हृद्रोग, गुल्म, अर्श और पाण्डुरोग दूर करने के भी गुण हैं। इति मद्यवर्ग समाप्त।

मद्य की तरह द्रव, तीक्ष्ण तथा उष्णादि-गुणयुक्त होने से अब उसके अनन्तर आचार्य मूत्रवर्ग का आरम्भ करते हैं।

अथ मूत्रवर्ग

मूत्र गोऽजाविमहिषीगजाश्वोष्ट्रखरोद्भवम् ।
पित्तलं रूक्षतीक्ष्णोष्ण लवणानुरस कटु ॥
क्रिमिशोफोदरानाहशूलपाण्डुकफानिलान् ।
गुल्मारुचिविषश्वित्रकुष्ठार्शांसि जयेल्लघु ॥
विरेकास्थापनालेपस्वेदादिषु च पूजितम् ।
दीपन पाचन भेदि तेषु गोमूत्रमुत्तमम् ॥
श्वासकासहर छाग पूरणात्कर्णशूलजित् ।
दद्यात्क्षारे किलासे च गजवाजिसमुद्भवम् ॥
हन्त्युन्मादमपस्मार क्रिमीन्मेहं च रासभम् ।
कषायतिक्तमेतेषा हिध्माश्वासहर शकृत् ॥
मार्गमोज क्षयहर वैष्किर वातरोगनुत् ।
प्रसहानामपस्मारमुन्माद च नियच्छति ॥
महामृगसमुद्भूत कुष्ठहृज्जलचारिणाम् ।
नेत्ररोगहर पित्त प्रवृद्ध च नियच्छति ॥
पित्त तिक्त क्रिमिहर रोचन कफवातजित् ।
तिक्त पामाहर मूत्र मानुष तु विषापहम् ॥

सर्वसामान्य गोमूत्रादिके गुण—सामान्यत गाय, बकरी, भेड, भैस, हाथी, घोड़ा, ऊट और गधे का मूत्र पित्तकारक, रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, पश्चात् कुछ नमकीन, कटु (चरपरे) रसवाला, कृमि, शोथ, उदर, अफारा, शूल, पाण्डु, कफ, वायु, गुल्म, अरुचि, विष, श्वित्रकुष्ठ और अर्शरोग-नाशक, लघु, विरेचन, आस्थापन (निरूह वस्ति), लेपन और स्वेदन कर्म में श्रेष्ठ दीपन, पाचन और दस्तावर है।

गोमूत्र की श्रेष्ठता—उपर्युक्त सब ही मूत्रों मे गोमूत्र सबसे उत्तम है।

छागमूत्र के गुण—बकरी का मूत्र श्वास—कास का हरनेवाला और कान में डालनेसे कान की पीड़ा को जीतनेवाला है।

गजाश्वमूत्र के गुण—हाथी और घोडे का मूत्र किलास कुष्ठ एव पाच्यक्षार में उपयुक्त होता है।

गर्दभमूत्र के गुण—गधे का मूत्र उन्माद, अपस्मार, कृमि और प्रमेह का नाशक है।

विष्ठा के गुण—गाय, बकरी, हाथी, घोड़े और गर्दभ की विष्ठा कषाय और तिक्त रसवाली और हिक्काश्वासरोग की हरनेवाली है। मृग की विष्ठा ओज क्षय-रोग की नाशक है। वैष्किर अर्थात् कुक्कुटादि की विष्ठा वायु रोग की हरनेवाली है। प्रसह अर्थात् गाय, गर्दभ, खच्चर, ऊट, घोड़ा, हाथी, सिंह, रीछ, बन्दर, चीता, व्याघ्र, तरस, नकुल, बिलाव, मूषक, भेड़िया, सियार, श्येन, वाताद, चाष, काक, शशघ्न, भ्रमर, भास, गीध, उलूक, कुलिङ्ग, धूमिको और कुररी की विष्ठा अपस्मार तथा उन्माद को मिटाती है। महामृग (रोज-गवय की विष्ठा कुष्ठ को दूर करती और मत्स्य, मगर, सारस, हसादि जलचरों की विष्ठा नेत्ररोग हारिणी और बढ़े हुए पित्त को शान्त करती है।

पित्ते के तथैव गोरोचन और मनुष्यमूत्र के गुण—उपर्युक्त इन सब प्राणियों का जठरभागोत्पन्न पित्त, तिक्त, क्रिमिघ्न, तथैव इन सबका नाभिदेशोत्पन्न रोचन[1] जैसे कि गोरोचन होता है वह कफ तथा वायु को जीतनेवाला है। मनुष्यका मूत्र तिक्त, पामा हर और विष को दूर करता है। यहा मूत्रवर्ग समाप्त हुआ।

तोयक्षीरेक्षुतैलाना वर्गैर्मद्यस्य च क्रमात् ।
इति द्रवैकदेशोऽय यथास्थूलमुदाहृत ॥

---

१ मूलकसर्षपशाकानि कथिताद्युतानि, कालजीरकराजिका चूर्णभावितान्यम्लतीक्ष्णानि शाण्डाकी शब्देनोच्यत इत्यरुण। शाकमुद्गादिवटकसधान शाण्डाकीति हेमाद्रि। शाण्डाकी कन्दमूलादि मुद्गादिवटकै कृता। अथवा "मूलकच्छेदसधान शाण्डाकी स्याद्द्रवा" इति तन्त्रान्तरे। "तच्च पिण्याकादिकृत कालाम्लम् कालेन चिरकालेन स्थितेनाम्लमिति हेमाद्रि। २ "व्यायामादिना श्रान्तत्व श्रम"। "निर्व्यायामादेरेवोपश्रान्तत्व क्लम" इत्यरुण।

१ "पित्त जाठर, रोचना नाभिप्रदेशभवा" इवीन्दु।

उपसंहार—किसी भी प्रधान वस्तु को न छोडते हुए इस प्रकार क्रमसे जल, दुग्ध, इक्षु, तैल और मद्यवर्गो करके द्रव-द्रव्यों का विषय स्थूलरूपेण कहा गया है।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थाने गोवर्धनशर्मरचितार्थप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्याया द्रवद्रव्यविज्ञानीय षष्ठोऽध्याय ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः।

द्रव द्रव्य के पान का संस्कार प्राय अन्न के साथ होने से अब अन्न का वर्णन करते हैं।

अथात अन्नस्वरूपविज्ञानीय नामाध्याय व्याख्यास्याम । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय ॥

अन्नस्वरूपाध्याय—अब यहा से अन्न के स्वरूप का जिससे विशेष ज्ञान हो ऐसे "अन्नस्वरूपविज्ञानीय" संज्ञक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियोंने कहा है।

विशेष वक्तव्य—अन्न के स्वरूप से यहा अन्न के स्वभाव, रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव, गुण, कर्म आदि का ग्रहण करना चाहिये।[1] जो कुछ खाया जाता है उस धान्य, मास, शाक, फल और औषध इन सबकी अन्न संज्ञा है। इस अध्याय के नामकरण में द्रव्य शब्द का प्रयोग नहीं किया है तथापि अर्थगमक होने से इस अध्याय का नाम "अन्नद्रव्यस्वरूपविज्ञानीय, जानना[3] चाहिए।

धान्य के दो भेद—इसके पूर्वाध्यायमें द्रवद्रव्यका वर्णन हो चुका है, अब इस अध्यायमें अद्रवद्रव्य अर्थात् अन्नका वर्णन किया जायगा। शूक और शिम्बि इस प्रकार धान्य के दो भेद हैं। इनमें शूकधान्य प्रधान होने से यहा उसीसे आरम्भ करते हैं।

अथ शूकधान्यवर्ग[2]।

रक्तो महान् सकलमस्तूर्णक[1] शकुनाहृत ।
सारामुखो दीर्घशूको रोध्र-शूक[1] सुगन्धक ॥
पुण्ड्र पाण्डु पुण्डरीक प्रमोदो गौरशारिवौ ।
काञ्चनो महिष शूको दूषक कुसुमाण्डक ॥
लाङ्गला लोहवालाख्या कर्दमा शीतभीरुका ।
पतङ्गास्तपनीयाश्च ये चान्ये शालय शुभा ॥
स्वादुपाकरसा स्निग्धा वृष्या बद्धाल्पवर्चस ।
कषायानुरसा पथ्या लघवो मूत्रला हिमा ॥

शूकधान्य के गुण—रक्तशालि, महाशालि, कलम, तूर्णक, शकुनाहृत, सारामुख, दीर्घशूक, रोध्रशूक, सुगन्धक, पुण्ड्र, पाण्डु, पुण्डरीक, प्रमोद, गौर, शारिव, काञ्चन, महिष, दूषक, कुसुमाण्डक, लाङ्गल, लोहवाल, कर्दम, शीतभीरुक, पतङ्ग और तप-नीय ये भिन्न भिन्न जाति के जितने चावल कहे गये हैं, ये सब मधुररस-विपाकी, स्निग्ध, वृष्य, अल्प मलवाले तथा मलको बाधनेवाले, पीछे से कषायरसवाले, पथ्य, लघु, मूत्रल और हिम (शीतल) है। यहा स्वादुपाकी लिखकर चावलों को लघुपाकी भी कहा है। लघुपाकत्व ही कटुपाकत्व है। यह विरोध दिखाई देता है किन्तु यह विरोध नही है क्योंकि रस-विशेष ही पाक है और एक ही द्रव्य मे रस अनेक रहते हैं अत रसों के अनुसार यह अविरोध है।

विशेष वक्तव्य—ऊपर जितने चावलों के नाम बताए हैं ये भिन्न भिन्न देशोत्पन्न चावलों के नाम हैं। यथा-कलम जाति के चावल मगधादि देशो में प्रसिद्ध है और यही काश्मीर में महातण्डुल कहलाता है। तूर्णक-काश्मीर देश मे आजव नाम से प्रसिद्ध है। शकुनाहृत—वह चावल है जो बुद्ध के अवतार काल में उत्तर कुरुदेश से हंसों द्वारा मगध देश मे लाया गया था और विशाखाने उसे बोया और वृद्धिगत किया था। इसी लिए इस का नाम शकुनाहृत है। किन्तु वृद्ध वैद्यों का कथन है कि इस चावल को गरुड द्वीपान्तर से लाया है। इसी लिए इस का नाम शकुनाहृत एव अपर नाम गरुडशालि भी है। सुगन्धिक—जालन्धर, मगधादि देशों मे गन्धशालि नाम से और यही मालव तथा गौड (बङ्ग) देश में देवधान नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्रकार पतङ्ग आदि चावलों का पता भी उस उस देश के कृषकों से लगाना चाहिए। कुछ चावलों के नाम ही अन्वर्थक है जैसे कि सारामुख (कृष्णशूक), दीर्घशूक (शुभ्र लम्बा चावल), रोध्रशूक (लोध्रपुष्प के आकार-वाला) इत्यादि। इन का विस्तृत वर्णन सुश्रुत-सूत्रस्थान के अ ४६ मे देखे।

शूकोत्पन्न चावलों की श्रेष्ठाश्रेष्ठताको अब बताते है कि—

शूकजेषु वरस्तत्र रक्तस्तृष्णात्रिदोषहा ।
महास्तस्यानु[3] कलमस्त चाप्यनु तत परे ॥

---

१ अन्नस्य स्वरूप-स्वभावो रसवीर्यविपाकप्रभावगुणकर्मादि तस्य विज्ञानमित्यरुण । २ अन्नस्वरूपविज्ञानीयस्तत्र सप्तवर्गा "शूकशिम्बिजपक्वान्नमासशाकफलौषधै ।' इत्युक्ता अस्मिन्नेव ग्रन्थे ।

३ द्रव्यशब्दश्चाप्रयुक्तोऽप्यर्थस्य गमक इत्यन्नद्रव्यस्वरूपविज्ञानीय इति द्रष्टव्यम्। इत्यरुण ।

१ "ननु इह शालयो मधुरपाका उक्ता, सुश्रुतेन—'मधुरा वीर्यत शीता लघुपाका बलावहा ।, इति विरोध, लघुपाकत्वमेव हि कटुपाकत्वम्। मैवम्। रसवदविरोध । पाको रसविशेष । रसास्त्वेकस्मिन् द्रव्ये बहवोऽनुभूय ते।" इति हेमाद्रि

२ "तत्र रक्तशालिमहाशाली—सुप्रथितावेव। कलमो मगधादिषु प्रसिद्ध । स एव महातण्डुल इति काश्मीरेषु। तूर्णक च—तत्रैव आजव इति प्रसिद्ध । शकुनाहृतो—यो मगधेषु बुद्धोत्पादकाल उत्तरकुरुभ्यो हंसैरानीतो मृगारिमात्रा (भृङ्गारपात्रे वा) विशाखाख्यया वापितो विस्तर गत । अत एव शकुनिनाऽऽहृत शकुनाहृत इत्यन्वर्थास्य संज्ञा।" इत्यरुणदत्त । डल्लनस्तु स्वकृतनिबन्धसंग्रहे सुश्रुतव्याख्याने हंसैरानीत इति प्रतिपाद्य पुन "वृद्धवैद्यास्तु—द्वीपान्तरात्समानीती गरुडेन महात्मना। शकुनाहृत स शालि स्याद्गरुडापरनामक "स्वादु" इति वदति।

३ "सुगन्धिको—गन्धशालिसंज्ञया जालन्धरमगधादिपु ख्यात, देवशालिरित्यपरनामा मालवदेशे गौडे चापि प्रसिद्ध । एव पतङ्गादयो नानादेशेषु कार्षकादिभ्योऽवधार्या । सारामुख—कृष्णशूक, शुक्लाकारो—दीर्घशूक, रोध्रशूको—रोध्रपुष्पाकारशूक ।" इत्यरुणदत्त । ४ 'महास्त चानु, इति पाठान्तरम्।

चावलों की श्रेष्ठाश्रेष्ठता—शूकधान्यों मे सब से श्रेष्ठ रक्त शालि है और वह तृष्णा एवं त्रिदोषनाशक है। रक्तशालि के अनन्तर महाशालि, महाशालि के पश्चात् कलम, और कलम के अनन्तर अन्य शालिधान्य (चावल) अश्रेष्ठ हैं। साराश, रक्तशालि से महाशालि, महाशालि से कलम और कलम से अन्य शालिधान्य उत्तरोत्तर कुछ हीन गुणवाले हैं।

तस्मादल्पान्तरगुणा क्रमश शालयोऽवरा ।
यवका हायना पाशुबाष्पनैषधकादय ॥
स्वादूष्णा गुरव स्निग्धा पाकेऽम्ला श्लेष्मपित्तला ।
सृष्टमूत्रपुरीषाश्च पूर्वं पूर्वं च निन्दिता[1] ॥

उत्तरोत्तर हीनगुण चावल—उपर्युक्त रक्तशालि, महाशालि और कलम इनसे आगे कहे हुए शालि (चावल) क्रमसे कुछ न्यून गुणवाले हैं। यवक, हायन, पाशुबाष्प (कोरक), नैषधक आदि चावल पूर्वोक्त चावलों से हीन (अश्रेष्ठ) हैं। ये मधुर, उष्णवीर्यवाले, भारी, चिकने, अम्लविपाकी, कफपित्त कारक, दस्तावर और मूत्रल हैं तथा ये पूर्वपूर्व निन्दित हैं। साराश यह कि इन चावलों मे यवक सब से निन्दित है। अर्थात् यवक से हायन, हायन से पाशुबाष्प तथा पाशुबाष्प से नैषधक अच्छे हैं। यहा आदि शब्द से चम्पकपत्रिकादि चावलों का ग्रहण करना चाहिए।

व्रीहिचावल—शालि चावलों के गुणवर्णन करने के अनन्तर अब ग्रन्थकार व्रीहि चावलों के गुणों का वर्णन करते हैं। हेमन्त ऋतु मे होनेवाले उन चावलों का नाम शालि है जो बिना कूटने के ही स्वच्छ निकलते हैं। व्रीहि चावल वे हैं जो वर्षा ऋतु में होते है और कण्डन (कूटने) के बाद श्वेत निकलते है और जो चिरकाल में पचते हैं। कृष्णव्रीहि, पाटलक, कुक्कुटाण्डक, शालामुख एवं जतुमुख आदि ये सब व्रीहि के ही भेद हैं। अरुणदत्त के मत में कूटने पर श्वेत निकलनेवाले शालि ओर लाल रङ्ग के निकलनेवाले व्रीहि हैं। व्रीहि चावलों में षष्टिक (साठी चावल) जो साठ दिन में पकते हैं, सब से श्रेष्ठ माने गये हैं अत उनका वर्णन प्रथम करते हैं।

स्निग्धो ग्राही लघु स्वादुस्त्रिदोषघ्न स्थिरो हिम ।
षष्टिको व्रीहिषु श्रेष्ठो गोरश्चासितगौरत[1] ॥
तत क्रमान्महाव्रीहिकृष्णव्रीहिजतूमुखा ।
कुक्कुटाण्डकलावाख्यपारावतकसूकरा ॥
वरकोद्दालकोज्ज्वालचीनशारददर्दुरा ।
गन्धना कुरुविन्दाश्च गुणैरल्पान्तरा स्मृता ॥

साठी चावल आदि के गुण—साठी चावल स्निग्ध, मल को बाधनेवाला, हलका, मधुर रसवाला, त्रिदोषनाशक, शरीरमें अपने गुण को चिरकालतक स्थिर रखनेवाला अथवा शरीर स्थैर्यकर, शीतवीर्य एवं श्रम-क्लम-ज्वर को हरनेवाला है। यह षष्टिक चावल सब व्रीहियों मे श्रेष्ठ है और यह गौर (स्वच्छ) तथा असितगौर (स्वच्छ किन्तु कुछ श्यामता युक्त) भेद से दो प्रकार का है। इन में भी असितगौरसे गौर श्रेष्ठ है। इन के पश्चात् महाव्रीहि, कृष्णव्रीहि, जतुमुख, कुक्कुटाण्डक, लावा, पारावतक, सूकर, वरक, उद्दालक, उज्ज्वाल, चीन, शारद, दर्दुर, गन्धन और कुरुविन्द नाम के चावल क्रम से कुछ न्यून गुणवाले हैं।

स्वादुरम्लविपाकोऽन्यो व्रीहि पित्तकरो गुरु ।
बहुमूत्रपुरीषोष्मा त्रिदोषस्त्वेव पाटल ॥

निन्द्य व्रीहि—उपर्युक्त व्रीहियों से अन्य व्रीहि मधुर रसवाला, अम्लविपाकी, पित्तकारक और गरिष्ठ होता है। पाटल नाम का व्रीहि तो बहुमूत्र, मल तथा उष्णता को लानेवाला अति त्रिदोषकारक है। इसी लिए भोजन मे इस का निषेध करने के लिए ही शास्त्रकारने इस का निर्देश नहीं किया[2] है।

कङ्गुकोद्रवजूर्णाह्वगवेधुवरुणपादिका ।
श्यामाकतोयश्यामाकहस्तिश्यामाकशिल्बिकाः ॥
शिशिरोद्दाल- नीवार-वरुक-वरकोत्कटा ।
मधूलिकान्तर्निगण्डीवेणुपर्णीप्रशान्तिका ॥
गवेधुकाण्डलौहित्य-तोयपर्णी-मुकुन्दरा ।
कफपित्तहरा रूक्षा कषायमधुरा हिमा[3] ॥
वातला बद्धविण्मूत्रा लघवो लेखनात्मका ॥

कुधान्यकथन—कङ्गु (काकणी-प्रियगु), कोदो, जुआर, गदी या गर्मुटी, वरुणपादिक या चूर्ण-पादिक, श्यामाक (सावा), तोयश्यामाक (जल के समीप उत्पन्न होनेवाला सावा), हस्तिश्यामाक (स्थूलाकार सावा), शिल्बिक या शिम्बिर, शिशिरोद्दालक (शिशिर ऋतु मे होनेवाला कोदो विशेष), नीवार, वरुक (वरु), वरक, उत्कट, मधूलिका, अन्तनिर्गण्डी या शान्तनु-शण्डी, वेणुपर्णी, प्रशान्तिका, गवेधुक (जगली देवधान), अण्डलौहित्य, तोयपर्णी और मुकुन्दर ये सब कफपित्तनाशक, रूक्ष, कषायमधुर-रसवाले, ठण्डे, वात कारक, मल मूत्र को बाधनेवाले, लघु (हलके) तथा लेखन हैं। सुश्रुतकारने ये सब कुधान्य बताए हैं, इस लिए कि ये प्राय व्यवहार मे नहीं आते है। अब इन के विशेष गुणों को कहते हैं।

भग्नसधानकृत्तत्र प्रियङ्गुर्बृंहणी गुरु ।
कोरदूष परग्राही स्पर्शे शीतो विषापह ॥

१ पद्यार्धोऽयमिन्दुटीकापुस्तके नास्ति।

२ "कण्डनेन विना शुक्ला हैमन्ता शालय स्मृता। वार्षिका कण्डिता शुक्ला व्रीहयश्चिरपाकिन" तद्भेदा यथा—कृष्णव्रीहि पाटलश्च कुक्कुटाण्डक इत्यपि। शालामुखो जतुमुख इत्याद्या व्रीहय स्मृता॥" इति भावमिश्र। "चुण्ण सित स्मृत शालि, रक्तो व्रीहिरुदाहृत।,, इत्यरुणदत्त।

१ 'स्थिर'—स्थिरगुण कार्यरूपेण शरीरे चिरकाल तिष्ठतीत्यर्थ इति हेमाद्रि। 'स्थिरो हिम इति शरीरस्थैर्यकरो ज्वरश्रमक्लमग्लानिहर, इत्यरुण।

२ "त्रिदोषस्त्वेवेत्यत्रैवशब्दोऽतिशयख्यापनाय। अतिशयेन त्रिदोषल इत्यर्थ। अतित्रिदोषलत्वेनास्याऽभ्यवहारनिषेध करोति। अत एव च रसादिमत्त्व न व्यधादस्य शास्त्रकार" इत्यरुणदत्त।

३ गर्मूटीचूर्णपादिका ४ शिम्बिरा ५ शिम्बिरोदारु ६ कूबर ७ शान्तनुसण्डी ८ का, इति पाठान्तराणि।

उद्दालकस्तु वीर्योष्णो नीवार श्लेष्मवर्धन ।
शीतवीर्या विशेषेण स्निग्धा वृष्या मधूलिका ॥

प्रियगुआदिके गुण—प्रियगु या कङ्गु भग्नसधानकृत् (टूटी हुई हड्डी आदि को जोडनेवाली), बृहणी और गुरु (भारी) है। सुश्रुतने इसकी लाल, पीली, काली और श्वेत ऐसी चार जातियां लिखी हे और कहा है कि ये रूक्ष और कफहारक हैं। कोदो धान अतीव मलावरोध करनेवाला, छूने में ठण्डा तथा विषको दूर करनेवाला है। उद्दालक (कोदोकी ही एक जाति तृणधान्यविशेष) उष्णवीर्य है। नीवार कफको बढ़ानेवाला है और मधूलिका विशेषत स्निग्ध और वृष्य है।

अब जौ (यव) और गेहूके गुणों को कहते हैं।—

रूक्ष शीतो गुरु स्वादु सरो विड्वातकृद्यव ।
वृष्य स्थैर्यकरो मूत्रमेद पित्तकफान् जयेत् ॥
पीनसश्वासकासोरुस्तम्भकण्ठत्वगामयान् ।
गुणैर्न्यूनतरा ज्ञेया यवादन्ययवाह्वया ॥
उष्णा सरा वेणुयवा[१] कषाया वातपित्तला ॥
वृष्य शीतो गुरु स्निग्धो जीवनो वातपित्तहा।
सधानकारी मधुरो गोधूम स्थैर्यकृत्सर ।
पथ्या नन्दीमुखी शीता कषाया मधुरा लघु[२] ॥

जव के गुण—जौ (यव) रूक्ष, शीतवीर्य (ठण्डा), भारी, मधुर रसवाला, दस्तावर, मल (पुरीष) और वातकारक, वृष्य, स्थैर्यकर, मूत्ररोग-मेदोरोग-पित्तरोग-कफरोग इन को जीतनेवाला, पीनस-श्वास-कास-ऊरुस्तम्भ-गलगडादि कण्ठरोग तथा कुष्ठ आदि चमडी (त्वचा) के रोगों को हरने वाला है। विदेशी अन्ययव यव से कुछ हीन गुणोंवाला है। वेणुयव उष्ण, दस्तावर, कसैला और वात-पित्तकारक है।

गेहू के गुण—गेहूं वीर्य को बढ़ानेवाला, शीतवीर्य, गुरु, स्निग्ध (सचिक्कण), ओज को बढ़ानेवाला, वातपित्त नाशक, ऊरु आदि के टूटने को जोड़नेवाला, मधुर, स्थिर गुणवाला तथा सर (शरीर मे प्रसरणशील या दस्तावर) है। नन्दीमुखी अर्थात् पतला और लम्बा गेहूं पथ्य, शीतवीर्य, कषामधुर और हलका है।

इति शूकधान्यवर्ग ।

अब आचार्य शिम्बी (सेम या फली) से उत्पन्न होनेवाले धान्यों का वर्णन करते है—

अथ शिम्बिजधान्यवर्ग

शिम्बिजा मुद्गमङ्गल्यवनमुद्गमकुष्ठका ।
मसूरचवलाढक्यश्चणकाश्च पृथग्विधा[१] ॥
कपायस्वादुलघवो विबन्धाध्मानकारिण ।
रूक्षा बद्धमला[२] शीता विपाके कटुका हिता ॥
पित्तासृक्कफमेदस्सु सूपालेपादियोजनात् ॥

१ रक्ता पीताश्च कृष्णाश्च श्वेताश्चैव प्रियङ्गव । यथोत्तरप्रधाना स्यू रूक्षा कफहरा स्मृता इति।

२ दीर्घसूक्ष्मो गोधूमो-नन्दीमुखीति हेमाद्रि ।

शिम्बी धान्य—शिम्बी (फली) में से निकलनेवाले खेत और जगल मे होनेवाले दोनों प्रकार के मूग, मङ्गल्या (पीले रग की मसूर) चवला, अरहर, चना आदि नाना प्रकार के धान्य कषाय-मधुर रसवाले, लघु, स्रोतों का विबन्ध और आध्मान (अफारा) करनेवाले (अपान वायु को रोकने वाले), रूक्ष, मल (पुरीष) को बाधनेवाले, शीतवीर्य, कटुविपाकी और पित्त, रक्त, कफ और मेदवृद्धि मे सूप (दाल) के भोजन तथा आलेप (लेप), परिषेकयोजना के कारण हितकारी है।

विशेष वक्तव्य—यहा विबन्ध का अर्थ स्रोतों का विबन्ध ही समझना चाहिए न कि मलावरोध या मल का बाधना। इस लिए कि आगे "बद्धमला" पद भी स्पष्ट दिखाई दे रहा है। बद्ध मल का दूसरा पर्याय सग्राही है जो कि मल के भेदन करनेवाले द्रव्य से विपरीत होता है। भेदन द्रव्य मल को तोडता है और सग्राही मल को बाधता है। इस से पहले पढे हुए विबन्ध पद का भावार्थ स्रोतों के विबन्ध से ही है न कि मल को बाधने से। अब आचार्य इन में से कुछ के विशेष गुणों का वर्णन करते है। यथा—

सूप्यानामुत्तमा मुद्गा लघीयासोऽल्पमारुता ।
हरितास्तेष्वपि वरा मकुष्ठा क्रिमिकारिण ॥
वर्ण्या पर प्रलेपाद्यैर्मसूरा ग्राहिणो भृशम् ॥

मूगआदि सूपधान्यगुण—भोजनोपयोगी सूप (दाल) बनाने के काम में आनेवाले सब धान्यों में मूग श्रेष्ठ है लघु (हलके) तथा अल्प (किञ्चित्) वायुकारक है। इन मे भी हरे रग के मूग श्रेष्ठ है, मकुष्ठ (मौठ) क्रिमिकारक हैं। मसूर प्रलेपादि द्वारा श्रेष्ठ वर्ण को बढानेवाला और पूर्णतया मल (विष्ठा) को बाधनेवाला है।

राजमाषो गुरुर्भूरिशकृद्रूक्षोऽतिवातल ।
कषायस्वादुरुक्षोष्णा कुलत्था रक्तपित्तला ॥
पीनसश्वासकासार्शोहिध्मानाहकफानिलान् ।
घ्नन्ति शुक्राश्मरी शुक्र दृष्टि शोफ तथोदरम् ॥
ग्राहिणो लघवस्तीक्ष्णा विपाकेऽम्ला विदाहिन ।
निष्पावस्तु सरो रूक्ष कषायमधुरो गुरु ॥
पाकेऽम्लो वातविष्टम्भी स्तन्यमूत्रास्रपित्तकृत् ।
उष्णो विदाही दृक्छुक्रकफशोफविषापह ॥

राजमाषादि गुण—राजमाष (चवला) गुरु, बहुत मल (विष्ठा) को लानेवाला, रूक्ष और अतिवातकारक है। कुलथी—कषाय और मधुर रसवाली, रूक्ष, उष्णवीर्य, रक्त

१ "मुद्गोद्विविध ,-क्षेत्रमुद्गो वनमुद्गश्च।" मसूरो द्विविध ,-कृष्ण पाण्डुश्च इति हेमाद्रि ।

२ "मुद्गादिक यत् शिंबिधान्य तद्विबन्धकृत्। केषा विबन्ध करोति ? सामर्थ्यात् स्रोतसाम् , न तु पुरीषादीनाम्। तथा च सग्राहीत्यत्रैव पठति शास्त्रकृत्। सग्राहिलक्षण च त त्रान्तरे। यथा—"भेदि तत्पिण्डितान् भावान् शकृदादीन् भिनत्ति यत्। विपरीतमतो ग्राहि इति। तस्माद्विबन्ध स्रोतसामेवेत्यवेहि इत्यरुणदत्त ।

[अ हृ अ ६ श्लो १७ टीकायाम्]

पित्त को करनेवाली, पीनस-श्वास-खासी-अर्श (बवासीर) हिचकी-आनाह-कफ-वात-शुक्राश्मरी-शुक्र (वीर्य)-दृष्टि-सूजन तथा उदररोग इन सब को नष्ट करनेवाली, ग्राहिणी (मल को बाधनेवाली), लघु, तीक्ष्ण, अम्ल विपाकवाली और विदाहिनी है। निष्पाव (वाल-बालोर या राजशिम्बी) दस्तावर, रूक्ष, कषाय और मधुररसवाला, गुरु (भारी), अम्लविपाकी, अपानवायु को रोकनेवाला या अफारा लाने वाला, स्त्रियों के स्तन्य (दूध) को बढानेवाला, मूत्र को एव रक्त पित्त को पैदा करनेवाला, उष्ण तथा विदाही है, दृष्टि-वीर्य-कफ-शोथ और विष इन को नष्ट करनेवाला है।

विशेष वक्तव्य - यहा कुलथी के कषाय, मधुर और मलको बाधना ये गुण शिम्बिधान्यके सामान्य गुणोंकरके जानना चाहिए और उष्णवीर्य तथा रक्तपित्त कारिणी होनेसे इसे दृष्टि नाशिनी मानना चाहिए। सुश्रुतने कुलथीका कटुविपाक कहा है और यहा वाग्भट इसका अम्लविपाक बताते हैं। यह विरोध दिखाई देता है किन्तु यह विरोध नहीं है। जिस द्रव्यमे अनेक रस होते हैं वहा रसोंके अनुसार विपाक का विरोध नहीं, अपि तु अविरोध मानना चाहिए।

अब माष (उड़द) आदि शिम्बिधान्यों के गुणों का बखान करते हैं।—

माष स्निग्धो बलश्लेष्ममलपित्तकर सर ।
गुरूष्णोऽनिलहा स्वादु शुक्रवृद्धिविरेककृत् ॥
फलानि गुणवद्विद्यात्काकाण्डोलात्मगुप्तयो ।
कुशाम्रशिम्बी मधुरा वातपित्तहरा हिमा ॥
मधुरा शीतला गुर्व्यो बलघ्न्यो रूक्षणात्मिका ।
स्नेहाढ्या बलिभिर्योज्या विविधा शिम्बिजातय ॥
स्निग्धोष्णतिक्तकटुक कषायमधुरस्तिल ।
मेध्य केश्यो गुरुर्वर्ण्य स्पर्शशीतोऽनिलापह ॥
अल्पमूत्र कटु पाके मेधाग्निकफपित्तकृत् ।
कृष्णः प्रशस्तस्तमनु शुक्लस्तमनु चारुणः ॥
स्निग्धोमा स्वादु तिक्तोष्णा कफपित्तकरी गुरु ।
दृक्शुक्रहृत्कटु पाके तद्वद्बीज कुसुम्भजम् ॥

माष के गुण—माष (उडद) स्निग्ध (सुचिक्कण-चिकना), बलकारक, कफकारक, मल अर्थात् पुरीषकारक तथा पित्त कारक, सर (दस्तावर एव शरीर में प्रसरणशील), गुरु, उष्णवीर्य, वातहारक, मधुर रसवाला, वीर्य को बढ़ानेवाला और विरेचक है।

केवाच के गुण—रोम या शूकरहित केवाचके बीज तथैव शूकसहित फलीवाली केवाचके बीज-पूर्वोक्त उडद के समान गुणवाले जानने चाहिए। कुशाम्रशिम्बी (एक प्रकारका शिम्बि धान्य) मधुर रसवाली, वातपित्तको नष्ट करनेवाली तथा छूनेमें शीतल है।

मधुर, शीतल, गुरु, बलका नाश करनेवाली, रूक्ष ऐसी शिम्बिधान्यकी अनेक जातियाँ है। जिन शिम्बिधान्यों मे स्नेह (चिकनाई तेल आदि) विशेष हो, उनका सेवन बलवानों को ही करना चाहिए। अब वैसे स्निग्ध शिम्बिधान्यों के गुणों को कहते हैं।

तिल आदि के गुण— तिल-स्निग्ध, उष्णवीर्य, तिक्त, कटु, कषाय और मधुर रसवाला, बुद्धिको बढानेवाला, केशोंके लिए हितकारी, गुरु, वर्णको बढानेवाला, स्पर्श करनेपर ठण्डा, वात-नाशक, अल्पमूत्र, पाक में कटु, मेधा-जठराग्नि-कफ और पित्तको बढानेवाला है। सब प्रकारके तिलों में काले तिल श्रेष्ठ हैं। श्वेत तिल काले तिलोंसे हीन गुणवाले है और इसी प्रकार लाल तिल श्वेत तिलों से न्यून गुणवाले हैं।

अलसी— अर्थात् उमा स्निग्ध, मधुर और तिक्त रसवाली, उष्णवीर्य, कफपित्तकारिणी, गुरु, दृष्टि और वीर्य को हरनेवाली और पाक में कटु है।

कुसुम्भ या करॅके बीज—अलसी के समान गुणवाले हैं।

माषोऽत्र सर्वेष्ववरो यवक शूकजेषु च।
नवधान्यमभिष्यन्दि सेक्य केदारज च यत्॥
लघु वर्षोषित दग्धभूमिज स्थलसभवम् ।
शीघ्रजन्म तथा सूप्य निस्तुष युक्तिभर्जितम् ॥

शिम्बीधान्यो में श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ—सब प्रकार के शिम्बिधान्यों मे माष (उडद) अश्रेष्ठ है। इसी प्रकार शूकधान्यों में यवक (जौकी एक जाति) अश्रेष्ठ है। नवीन धान्य अभिष्यन्दि अर्थात् मलिनता से शारीरिक स्रोतों मे से कफको चुआने वाला या दही की तरह अपने पैच्छिल्य और गौरवगुण से रसवाहिनी सिराओं को बन्द कर शरीर में गौरव (भारीपन) लानेवाला है। इसी प्रकार बहुत जलवाले केदार मे उत्पन्न होनेवाला अन्न भी आभिष्यन्दी है। एक वर्ष तक सुरक्षित रखने के बाद अन्न लघु (हलका) होता है अर्थात् वह बहुत जल्दी पचनेवाला होता है। इसी प्रकार भूमि को दग्ध करके उस में बोया हुआ अन्न, बिना जल के केदार में उत्पन्न हुआ अन्न, जल्दी उत्पन्न होनेवाले मूग आदि सूप्य अन्न और युक्ति से भुने हुए निस्तुष अन्न ये सभी हलके (लघु) होते हैं। यहा नवीन अन्न के अभिष्यन्दित्व से पुराने अन्न का अनभिष्यन्दित्व तथैव पुराने अन्न के लघुत्व से नवीन अन्न का गुरुत्व अर्थ ही से स्वय सिद्ध होता है। इति शिम्बिधान्यवर्ग ।

अथ कृतान्नवर्ग ।

धान्य वर्ग के अनन्तर अब कृतान्न (तयार किए हुए विपाचित अन्न) वर्ग का आरम्भ करते हैं। इस मे मण्ड, पेया, विलेपी और ओदन ये मुख्य है। विपाचित चावल आदि के घनभाग में

१ "निष्पावो वल्ल इति हेमाद्रि । निष्पावो राजशिम्बीति" इन्दु।

२ "कषायस्वादुसग्राहित्व शिम्बीधान्यसामान्यलक्षणेनैषा वेद्यम्, दृष्टिनाशनत्व चोष्णवीर्यत्वेन रक्तपित्तकरत्वेन च" इत्यरुणदत्त ।

३ "ननु,-"कृष्ण कुलत्थो रसत कषाय कटुर्विपाके कफमारुतघ्न ॥" इति सुश्रुतेन विपाके कटुत्वमुक्तम्, इह त्वम्लत्वमिति विरोध । मैवम् । अनेकरसवदविरोध, इति हेमाद्रि ।

४ "काकाण्डोला-नि शूका कपिकच्छू ।" इति हेमाद्रि

१ "मालिन्यात् स्रोतसा स्रुतिरूप श्लेष्माण करोतीत्यभिष्यन्दि" इत्यरुण । पैच्छिल्याद्गौरवाद्द्रव्य रुध्वा रसवहा शिरा । धत्ते यद्गौरव तत्स्यादभिष्यन्दि यथा दधि ॥ इति शार्ङ्गधर ।

से छान कर अलग निकाला हुआ द्रवभाग मण्ड कहलाता है। कुछ घन भाग द्रव भाग में मिला हुआ पेया है। जिस द्रवभाग मे घनभाग अधिक होता है वह विलेपी कहलाती है। "अन्न पञ्चगुणे तोये यवागू षड्गुणे पचेत्" इस प्रमाण से पाच गुने जल मे पकाए चावलों का नाम ओदन है और ६ गुने जल में विपाचित चावलों को यवागू कहते हैं। यह सामान्य परिभाषा है। विशेष देखना हो तो ग्रन्थान्तरों में देख सकते हैं। अब इन मण्डादि के गुणों को कहते है।

> मण्डपेयाविलेपीनामोदनस्य च लाघवम्।
> यथापूर्वं शिवस्तत्र मण्डो वातानुलोमन ॥
> तृड्ग्लानिदोषशेषघ्न पाचनो धातुसाम्यकृत्।
> स्रोतोमार्दवकृत्स्वेदी सधुक्षयति चानलम्॥
> क्षुत्तृष्णाग्लानिदौर्बल्यकुक्षिरोगज्वरापहा।
> मलानुलोमनी पथ्या पेया दीपनपाचनी॥
> विलेपी ग्राहिणी हृद्या तृष्णाघ्नी दीपनी हिता।
> व्रणाक्षिरोगसशुद्धदुर्बलस्नेहपायिनाम्॥
> सुधौत प्रस्रुत स्विन्नोऽत्यक्तोष्मा चौदनो लघु।
> यश्चाग्नेयौषधक्काथसाधितो भ्रष्टतण्डुल॥
> विपरीतो गुरु क्षीरमासाद्यैर्यश्च साधित।
> इति सयोगसस्कारैरन्नान्यन्यानि चादिशेत्॥

मण्ड आदि के गुण—मण्ड, पेया, विलेपी और ओदन ये यथापूर्व लघु (हलके) है अर्थात् ओदन से विलेपी, विलेपी से पेया और पेया से मण्ड लघु है। साराश, इन सब मे मण्ड श्रेष्ठ (आरोग्यदाता) और वायु को अनुलोमनकर्ता—अपने स्थान से च्युत कुपित वायु को यथास्थान पर लानेवाला है। इतना ही नहीं, मण्ड तृष्णा, ग्लानि और शुद्ध होते हुए वातादि दोषों के शेष दोष को दूर करनेवाला है, पाचन है, धातुसाम्यकारी है, स्रोतों में मृदुता लानेवाला है, स्वेदकारक है और जाठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाला है।

पेया—भूख, प्यास, ग्लानि, दुर्बलता, कुक्षिरोग और ज्वर को दूर करती, मलानुलोमनी (प्रकुपित दोषों को शान्त करनेवाली) पथ्य है तथा दीपन-पाचन करनेवाली है।

विलेपी—मलका अवरोध करनेवाली, हृदय के लिए हित कारिणी, प्यास को दूर करनेवाली, व्रण, नेत्ररोग इन मे तथा स्नेहपान किए हुए सशोधित दुर्बल के लिए पथ्या है।

ओदन—अच्छा धोकर साफ किया हुआ, मण्ड से रहित, स्वेदित, सबाष्प, कुछ गरम (जो बिलकुल ठण्डा न हुआ हो) ऐसा चावलों का भात लघु (हलका) है। जो मरिच, चित्रक आदि अग्निप्रदीपन औषधियों के क्काथ के साथ पाचित तथा भूने हुए चावलों का ओदन (भात) भी लघु है। इस के विपरीत दूध या मासरस के साथ पका कर तयार किया हुआ ओदन (भात) गुरु अर्थात् भारी है। इसी प्रकार नाना प्रकार के द्रव्य सयोगों द्वारा पकाया हुआ अन्न ओदन भी गुरु तथा लघु होता है। साराश, जैसे गुणवाले द्रव्य के साथ पकाया जायगा वह अन्न वैसे ही गुणवाला लघु और गुरु होगा।

अब आचार्य मासरस आदि का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

> शुष्यता व्याधिमुक्ताना शुद्धाना शुद्धिकाङ्क्षिणाम्।
> कृशाक्षामक्षतोरस्कक्षीणवात्तविन्द्रियौजसाम्॥
> दृष्टिश्रवणवह्न्यायुर्बलवर्णस्वरार्थिनाम्।
> भग्नविश्लिष्टसधीना व्रणिना वातरोगिणाम्॥
> हृद्य पथ्य पर वृष्यो बृहण प्रीणनो रस।
> मौद्गस्तु पथ्य सशुद्धव्रणकण्ठाक्षिरोगिणाम्॥
> वातानुलोमी कौलत्थो गुल्मतूनीप्रतूनिजित्।
> प्रभूताभ्यन्तरमलो माषयूष पर स्मृत॥

मासरस के गुण—शरीर में मासवृद्धि न हो कर जो दिन प्रतिदिन सूख रहे है, जो व्याधि से मुक्त हुए हैं या जो व्याधि युक्त हैं, जिन का वमन-विरेचन कराने के कारण बल घट गया है, शारीरिक स्रोतों मे मार्दव प्राप्तकर जो वमन-विरेचनादि कराना चाहते हैं, स्थूलता नष्ट होकर जो कृश (दुबले) हो गये हैं, जिन का बल हीन हो गया है, जो उरक्षत के रोगी हैं, जो रसरक्तादि धातुओंसे क्षीण हे, जिन के वीर्य-इन्द्रिया और ओज क्षीण है, जो अच्छी दृष्टि-श्रवणशक्ति-जठराग्नि-आयु-बल-वर्ण और स्वर को ठीक रखना चाहते है या इन की कामना करते है, जिनकी हड्डी टूट गई है—सधियां ढीली पड गई है और जो व्रणरोगी एव वातरोगी है, इन सब के लिए मासरस हृद्य (हृदय को बल देनेवाला) पथ्य, वीर्य का परम वृद्धिकर्ता, पुष्टिकर्ता और तृप्तिकर्ता है।

मुद्गयूष—मूगों का रस अर्थात् मासरहित यूष वमन विरेचनादि द्वारा सशुद्ध रोगी के लिए तथैव व्रण, कण्ठ और नेत्र-रोगियों के लिए हितकारी (पथ्य) है।

कुलत्थयूष—कुलथी का निर्मांस यूष वायु को अनुलोमन करनेवाला तथा गुल्म-तूनी-प्रतूनी इन रोगों को जीतने वाला है।

माषयूष उडद का निर्मास रस या यूष अन्तर्मल (विष्ठा या पुरीष) को अति बढ़ानेवाला है।

विशेष वक्तव्य—मासरस के शास्त्रकारोंने तीन प्रकार बताए है जैसे कि कृत, अकृत और दकलावणिक। इन में पहला कृत मासरस वह है जो सोंठ, मरिच, पीपल नमक, स्नेह अर्थात् घृत तैलादि के साथ पका कर तयार किया जाता है और गाढ़ा होता है। अकृत मासरस इस के विपरीत पतला होता है अर्थात् मास के अतिरिक्त उस मे शुठी स्नेहादि नहीं

१ "सिक्थैर्विरहितो मण्ड पेया सिक्थसमन्विता। विलेपी बहुसिक्था स्यात्।" इति सुश्रुत

२ "स्विन्नस्त्यक्तोष्मा" इतीन्दुसमतपाठस्तत्कृत केचित्पठन्नाति व्याख्यान चेत्युभय हेयमेव चरकसुश्रुतादिविरुद्धत्वात्। तथा च चरक -"सुधौत प्रस्रुत स्विन्न सतप्तश्चौदनो लघु", इति। सुश्रुत - "स्विन्न सुप्रस्रुतस्तूष्णो विशदस्त्वोदनो लघु।" इति

१ "व्याधियुक्तानाम्" इत्यपि पाठान्तरम्।

२ "रोगाणा" इति हेमाद्रिसमत पाठ।

३ "माषसूप" इति पा०

रहते। दकलावणिक मासरस उसे कहते हैं जिस में मास अल्प होता है और जो जल, स्नेह और नमकयुक्त होता है।

मांसरसविधि—उपर्युक्त मासरस तयार करने की विधि इस प्रकार बतलाई गई है कि-"बकरे की जघाका या तीतर का निरस्थि मास ४ पल सूक्ष्म कूटा हुआ जल से धोकर उस में दो टङ्क पीपल, पीपलामूल, सौठ, चित्रक और धनियाका चूर्ण मिलावे और उसे डेढ आढक जल में पकावे। इस मे दो पल कूटा हुआ अनारदाना भी डाले। इस परिपक्व रस को भली भाति मल कर छान ले। उस को हींग, सधा नमक तथा जीरा इन से युक्त तथा धूपित करे। यह मासरस उपरिनिर्दिष्ट रोगियों के लिए परम पथ्य है।

इस के अतिरिक्त रस के यूष, खल और काम्बलिक ऐसे तीन प्रकार और बताए हैं। शुण्ठी स्नेहादि सह मास से बनाया जानेवाला रस, धान्यों से यूष, फलों द्वारा खल और मूलीतिलकल्क सह बनाया जानेवाला प्राय खट्टा रस काम्बलिक कहलाता है। इसमे भी तनु-सान्द्र (पतला-गाढ़ा) भेद से तथा अम्ल-मधुर भेद से दो दो प्रकार और होते हैं। हम विस्तारभय से अधिक न कह कर पाठ कों से अनुरोध करते है कि वे अष्टाङ्गहृदय की अरुणदत्तकृत टीका को देखें।

अब खल और काम्बलिक के गुणों का वर्णन करते हुए पूर्वोक्त रस आदि की परिभाषा को कहते हैं।

खलकाम्बलिकौ हृद्यौ छेदिनौ स्वौषधानुगौ।
पिशितेन रसस्तत्र यूषो धान्यै खल फलै ॥
मूलैश्च तिलकल्काम्लप्राय काम्बलिक स्मृत।
ज्ञेया कृताकृतास्ते तु स्नेहादियुतवर्जिता ॥
अल्पमासादय स्वच्छा दकलावणिका स्मृता।
विद्याद्यूषे रसे सूपे शाके चैवोत्तरोत्तरम् ॥
गौरव तनुसान्द्राम्लस्वादुष्वेषु पृथक्कथा।
तिलपिण्याकविकृति शुष्कशाक विरूढकम् ॥
शाण्डाकीवटक हृन्न दोषल ग्लपन गुरु।
पर्पटा लघवो रुच्या लघीयान् क्षारपर्पट ॥
हृद्या वृष्या रुचिकरा गुरवो रागखाण्डवा।
प्रीणना भ्रमतृट्छर्दिमदमूर्च्छाश्रमच्छिद ॥
तृट्छर्दिश्रमनुन्मन्थ शीत सद्योबलप्रद।
प्रमेहक्षयकुष्ठानि न च स्युर्मन्थपायिन ॥
रसाला बृहणी वृष्या स्निग्धा बल्या रुचिप्रदा।
श्रमक्षुत्तृट्क्लमहर पानक प्रीणन गुरु।
विष्टम्भि मूत्रलं हृद्यं यथा द्रव्यगुण च तत् ॥

खल-काम्बलिक के गुण—खल और काम्बलिक ये दोनों हृद्य (हृदय के लिए हितकारी या प्रिय), जमे हुए कफादि मलों को ढीले करनेवाले तथा जिन औषधियों के सस्कार से बनेगे उन्हीं के गुणों को करनेवाले हैं, उन्हीं औषधियों के अनुरूप फल देनेवाले हैं।

मासरसादिकी परिभाषा—मास के साथ स्नेह-शुण्ठी आदि करके तयार किया जानेवाला रस है। इसी प्रकार मासरहित मूग आदि धान्यों द्वारा बननेवाला रस यूष कहलाता है। बेर आदि फलों द्वारा निर्मित खल होता है और मूली, तिल, तिलकल्क एव दाडिमादि खट्टे पदार्थों से बननेवाला रस प्राय काम्बलिक कहलाता है। इन मे स्नेहादियुक्त रस, यूष और खल कृत कहलाते है। इसी प्रकार स्नेहादिवजित अकृत। स्वल्प मास, स्वल्प स्नेह आदि से बननेवाले स्वच्छ रस आदि को दकलावणिक कहते हैं।

यूषआदिकी गुरु लघुता—लघुता तथा गुरुता की रीति से देखा जाय तो यूष, रस, सूप (मूग आदि की दाल) और शाक इन को उत्तरोत्तर गुरु जानना चाहिए। साराश यह कि यूष से मासरस, मासरस से सूप और सूप से शाक को गुरु (भारी) समझना चाहिए। यही बात पतले और गाढे रस में या अम्ल या मधुर रस में समझ लेनी चाहिये अर्थात् पतले रस से गाढे रस को गुरु तथैव अम्ल रस से मधुर रस को गुरु या भारी जानना चाहिए। तिल और तिलकी खली से बने हुए पदार्थ, सूखे शाक, अकुरित धान्य और काजी के बड़े ये सब दृष्टिनाशक, त्रिदोषकारक, ग्लानिकारक तथा गुरु है। पापड़ लघु और रुचिकारक है। सज्जी आदि क्षारों से बननेवाले पापड़ अत्यन्त लघु हैं। राग (जो शक्कर, मधु आदि से मीठे पानक बनाए जाते हैं) और खाण्डव (खटाईसह शर्करादि से बनाये जानेवाले पानक) हृदय को बल देनेवाले, पुष्टिकारक, रुचिकर, गुरु, मन में प्रसन्नता लानेवाले, श्रम-तृषा-वमन-मद-मूर्छा तथा थकावट को दूर करनेवाले हैं। मन्थ (जल में घोला हुआ घृतसहित सत्तू) प्यास, वमन, थकावट को दूर करनेवाला, ठण्डा और शीघ्र बल को देनेवाला है। मन्थ के पीनेवाले प्रमेह, क्षय और कुष्ठ के रोगी नहीं होते। मरिच, शक्कर, केसर आदि सहित मथे हुए निर्जल

१ "ज्ञेया कृताकृतास्ते तु स्नेहादियुतवर्जिता। अल्पमांसोदक स्नेहा दकलावणिका स्मृता ॥" इत्यरुण। "अकृत कृतयूष च तनु सास्कारिक रसम्।" इति चरक। "अस्नेहलवण सर्वमकृत कटुकैर्विना। विज्ञेय लवणस्नेहकटुकै सस्कृत रसम्।" इति। तनुमिति स्वल्पमासत्वेनाघन, सास्कारिकमिति बहुना सस्नेहादिसस्कृत-त्वाद् घनम्। इति चक्र

२ "छागल सक्थिज मांस निरस्थि तैत्तिर तथा। चतुष्पलोन्मित सूक्ष्म कल्पित क्षालित जले ॥ पिप्पलीपिप्पलीमूलशुण्ठीचित्रकधान्यकै। द्विशाणै सयुते तोये काथ्य सार्धाढकोन्मिते ॥ मासेऽस्मिन्द्विपल तत्र दाडिमात्कुट्टिनात्क्षिपेत्। त रस मर्दित पूत हिङ्गुसैन्धवजीरकै ॥ युक्त सुधूपित पथ्य शुद्धाना शुद्धिका क्षिणाम् ॥" इत्याह रुणदत्त।

३ 'चाण्डाकी' इति पाठान्तरम्। ४ 'षाडवा' इति पा०

१ "फलैर्बदरादिभिर्य क्रियते स खल। मूलैस्तिलैस्तिलकल्कैश्च कृतो दाडिमाद्यम्लप्राय काम्बलिक।" इतीन्दु।

२ "सिताम्भ्वादिमधुरा रागस्तत्राच्छकान्तय। ते साम्ला खाण्डवा—॥" इति तन्त्रान्त

३ "द्रवालोडिता॰ सघृतपिष्का सक्तवो मन्थ।" इति

दही की बनी रसाला[1] (शिखरण) देह को बढ़ानेवाली, वीर्यप्रदा, स्निग्ध, बल को देनेवाली तथा रुचि-कारक है। पानक (जो गुड़, इमली आदि से संस्कृत जल होता है[2]) थकावट, भूख, प्यास, क्लम (ग्लानि) को दूर करनेवाला, तृप्तिकारक, गुरु, मलावरोधक, मूत्रल (पेशाब को लानेवाला), हृद्य (हृदय के लिए हितकारी या प्रिय) और जैसे द्रव्य के संस्कार से बनता है उसी द्रव्य के अनुरूप गुणों का करनेवाला है।

विशेष वक्तव्य—खल और काम्बलिक के विषय में कुछ टीकाकारों के मत भिन्न भिन्न है। डल्हन खल यूष को दो प्रकार का मानता है जैसे कि एक सतक्र शमीधान्यसे बननेवाला और दूसरा सतक्र शाक से बननेवाला। इन का स्पष्टीकरण करता हुआ डल्हन लिखता है कि तक्र-सह नाना प्रकार के शमी धान्यों द्वारा निर्मित स्निग्ध खल सग्राहक (मल को बाधनेवाले) है और सतक्र शाक-खल अर्थात् तक्र-सहित नाना प्रकार के शाक कैथ, खट्टा चूका, मरिच, जीरा, चित्रक इन के साथ परिपक्व यूष खलयूष कहलाता है और काम्बलिक उसे कहते हैं जो दही, अम्ल, लवण, स्नेह, तिल और उड़द समन्वित होता है[3] परन्तु जेजट उस व्यञ्जन को ही खल कहता है जो दही, दाडिम, उडद, शाक और स्नेह के साथ बनाया जाता है। नल भी जेजट की तरह एक ही प्रकार का खल मानता है परन्तु उस की प्रक्रिया ब से भिन्न है। ग्रन्थ विस्तार के भय से हम यहा सारी बाते नहीं लिखते है। देखने वाले सुश्रुत-सूत्र-स्थान के अध्याय ४६ मे डल्हन की निबन्ध सग्रह टीका मे देख सकते है।

तन्त्रान्तर मे सत्तू को रूक्ष और वायु-कारक कहा है परन्तु यहा यह बात नहीं कही है। यहा आगे सत्तूको लघु कहा है। जहा लघुत्व होता है, वहा रूक्षत्व और वातलत्व स्वय सिद्ध है। ऐसी अवस्था मे सत्तूको सतर्पण करनेवाला तथा शीघ्र बलप्रद कहना युक्तिसगत नहीं क्यों कि भुक्त आहार का परिणाम रस हो कर ही धातुओं की पुष्टि के लिए होता है, अन्यथा नहीं। इस का समाधान टीकाकार इस प्रकार करते हैं कि "सत्तू में तृप्तिप्रदत्व और सद्यो-बलप्रदत्व ये दोनों बातें उस के प्रभाव के कारण ही कही गई है। वाजीकरण और मद्य के इस में उदाहरण लेने चाहिए। मद्य एव वाजीकरण की तरह सत्तूमें भी सद्योबलप्रदत्व एव सतर्पणत्व उस के अचिन्त्य और प्रत्यक्ष प्रभाव से ही समझना चाहिए।[4]

अब आचार्य क्रमप्राप्त लाजा आदि के गुणों को कहते हैं।

लाजास्तृट्छर्द्यतीसारमेहमेदःकफच्छिदः ।
कासपित्तोपशमना दीपना लघवो हिता ॥
पृथुका गुरवो बल्या कफविष्टम्भकारिणः।
धाना विष्टम्भिनी रूक्षा तर्पणी लेखनी गुरुः॥
कण्ठनेत्रामयक्षुत्तृट्श्रमच्छर्दिव्रणापहाः ।
सक्तवो लघवः पानात्सद्य एव बलप्रदाः ॥
निचयात्कठिना गुर्वी प्रोक्ता पिण्डी मृदुर्लघुः।
सक्तूनां द्रवतायोगाल्लघीयस्यवलेहिका ॥
शष्कुलीमोदकादीनां व्याख्यातैव च कल्पना।
नोदकान्तरितान्न द्विर्न निशायां न केवलान् ॥
न भुक्त्वा न द्विजैश्छित्त्वा सक्तूनद्यान्न वा बहून्।
कर्कन्धुबदरादीनां श्रमतृष्णाक्लमच्छिदः ॥
सक्तवोऽम्लरसा हृद्या यथा द्रव्यगुणाश्च ते।

लाजा आदि के गुण—लाजा, पृथुका आदि के गुण निम्नलिखित क्रम से जानने चाहिये।

लाजा—तृषा, वमन, अतीसार, प्रमेह, मेदोरोग, कफ, कास और पित्तरोग को शमन करनेवाले, जाठराग्निको बढ़ाने वाले और ठण्डे (शीतवीर्य) है।

पृथुका गुरु, बल के देनेवाले, कफ और मलावरोध करने वाले हैं।

धाना—धान की लाही, मलको बाधनेवाली, रूक्ष, तृप्तिकारक, लेखन और गुण से गुरु है। धान (चावल) का लावा कण्ठरोग, नेत्ररोग, क्षुधा, तृषा, थकावट, वमन और व्रणरोग को हरनेवाला है।

सक्तू—सामान्यतया सत्तू लघु (हल्के) और जल के साथ सेवन (पान) करते ही तुरन्त बल के देनेवाले है। सत्तुओं के दो प्रकार होते हैं। जो कठिन है वह पिण्डी तथा पतली अवलेहिका है।

इन के भिन्न भिन्न गुणों का वर्णन करते हैं। जैसे कि—

पिण्डी—सत्तुओं के सचय से कठिन होने के कारण गुरु होती है और यही मृदु होती है तब पचने में लघु (हल्की) होती है।

अवलेहिका—सत्तुओं द्वारा द्रवयोग से बनी हुई अवलेहिका पचने में अत्यन्त लघु होती है अर्थात् जल्दी पचनेवाली होती है।

शष्कुली—अर्थात् पूरणपोली, पूरी, कचौरी तथा मोदक

---

१ रसालाप्रकारास्तु बहवो वर्णिता किन्तु बहुलप्रचाराररसालाविधानमेवास्माभि प्रदर्श्यते—"किञ्चित्कुङ्कुमसमिश्र विमस्तुदधि गालितम्। सशर्कर भवेत्पीता पकाम्ररससनिभा॥" इति क्षेमकुतूहलात्। अरुणस्तु—"करमथितेन मरिचशर्करादियुक्तेन दध्ना कृता रसाला।" इति पठति।

२ "गुडाम्लिकादिसस्कृतमुदकादिद्रव पानकम्" इति हेमाद्रि।

३ "सतक्राणि शमीधान्यानि स्निग्धानि सग्राहकाणि खलानि। सतक्रशाकस्तु कपित्थतक्रचाङ्गेरीमरिचाजाजिचित्रकै। सुपक खड यूषोऽयमथ काम्बलिकोऽपर। दध्यम्ललवणस्नेहतिलमाषसमन्वित॥" इति

४ "तन्त्रान्तरे चोक्त रूक्षवातलत्व सक्तूनामिह नोक्त लघुत्वादिनैवावगतत्वात्। ननु रूक्षवातलत्व चेदभ्युपगम्यते सक्तूना तत सतर्पणा इत्यनुपपन्नम्, सद्य एव बलप्रदा इत्येतदप्ययुक्तम्। भुक्तो ह्याहार परिणमन् रसधातुगतो धातुपुष्ट्यै नान्यथा। अत्राचक्ष्महे—प्रभावादुभयमप्येतदुक्तम्। सक्तूना ह्ययमचिन्त्य प्रत्यक्षवेद्य प्रभाव यत्पीता सन्त सद्य सतर्पयन्ति सद्य एव च बल प्रयच्छन्ति। वाजीकरण हि अपरिणतमेव स्वकार्य जनयति तथा च मद्य, अपरिणतमेव मद जनयति तस्मात्सतर्पणत्व बलप्रदत्व चैषामुपपन्नमेव।" इत्यरुणदत्तोऽष्टाङ्गहृदयसर्वाङ्गसुन्दराटीकायाम्।

आदि की गुरु और लघु गुणकल्पना उन की कठिनता और मृदुतापर पिण्डी एव अवलेहिका की तरह कर लेनी चाहिए।

सक्तुसेवन में विशेषता—ध्यान रहे कि सक्तुओं का सेवन उदकान्तरित रीति से नहीं करना चाहिए अर्थात् भोजन की तरह इन के सेवन करते हुए बीच बीच में जलपान न करे, न दो बार सक्तुका सेवन करे, न रात्रि में सक्तुपान करे और न जलादिद्रवरहित अकेले सक्तूका सेवन करे, न भोजन के बाद और न हाथ में लीहुई सक्तूकी पिण्डी को दांतों से किचरता हुआ सक्तूका सेवन करे तथा न प्रचुर प्रमाण में ही सक्तू खावे। कर्कन्धु (जगली बेर), पेमजी बेर आदि से तयार किए हुए अम्ल रसवाले सक्तू हृदय को बल देनेवाले होते हैं और जिस जिस द्रव्य के सस्कार से बने हुए सक्तुक उस उस द्रव्य के गुणों को करनेवाले, श्रम, तृष्णा एव ग्लानि को दूर करनेवाले होते हैं।

विशेष वक्तव्य—अब लाजा आदि का स्पष्टीकरण इस लिए करते हैं कि पाठकों को समझने में सुविधा हो। भुने हुए सतुष चावलों की लाही या खील को लाजा कहते हैं।[1] कच्चे और गीले, तुषसहित कुछ भुने, मुसलादि के आघात (चोट) से चिपटे या चपटे बनाए हुए चावल पृथुक[2] कहाते हैं। महाराष्ट्र में इन को पोहे कहते हैं और वहां इन का प्रचार भी प्रचुर है। भुने हुए जौ, गेहूँ, बाजराआदि धान्य को धाना[3] कहते हैं। इसी को भाषा में धानी नाम से पुकारा जाता है। तुषरहित भुने जौ आदि के चून या पिष्ट को सक्तू[4] या सत्तू कहते हैं। शष्कुली भाषा में उस पूरी को कहते हैं जो चावलों के पिष्ट में तिलमिश्रित करके तेल में तलकर बनाई जाती है परन्तु निघण्टुकार "चावलों के सूक्ष्म चूर्ण को बराबर के जल के साथ थोड़ा थोड़ा डालता जाय। इस प्रकार पका कर गाढ़ा बनावे। उस का पापड़सा बेल कर उस में मिश्री-नारियल की गिरी का चूर्ण पूर करके तिकोनी या अर्धचन्द्राकार बनावे और फिर स्वेदनयन्त्र में पकावे। इसे शष्कुली[5] कहते हैं। और मोदक प्रख्यात ही हैं।

पिण्याको ग्लपनो रूक्षो विष्टम्भी दृष्टिदूषण।
वेसवारो गुरु स्निग्धो बलोपचयवर्धन॥
मुद्गादिजास्तु गुरवो यथाद्रव्यगुणानुगा॥

पिण्याक और वेसवार के गुण—तिल की खली ग्लानिकारक, रूक्ष, मलावरोधक तथा दृष्टि को हानि पहुँचानेवाली है। वेसवार अर्थात् सोंठ, धनियाँ, जीरा, हींग आदि घृतादि स्नेह से सस्कृत कूटा हुआ मास या केवल घृतादि सस्कृत सुठी आदि गुरु, स्निग्ध, शरीर और बल को बढानेवाला है। सोंठ, धनियाँ आदि यही वेसवार मास से सस्कृत न करके मूंग आदि अन्न से सस्कृत किया जाय तो भी गुरु है और जैसे द्रव्य के साथ सस्कृत होता है तो वह (वेसवार) उसी (द्रव्य) के गुणों का करनेवाला है।

विशेष वक्तव्य—यहा माससस्कृत वेसवार से तात्पर्य उस पूरण का है जो मुद्ग-शालि आदि अन्नपिष्ट के बीच में पूरण कर घृतादिसे पकाया या तला जाता है। केवल अन्न-सस्कृत सौंठ आदि वेसवार वह है जो पूरी, कचौरी आदि मे भर कर घृतादि में तला जाता है। यहा आदि शब्द से माष (उडद) तुवरी (अरहर), चने, जौ आदि का ग्रहण किया गया है। सुश्रुत के मत से वेसवार वह है जो निरस्थि मास को स्वेदित कर पत्थरपर पीसा जाकर उस में सौंठ, मिरच, पीपल, गुड़ आदि मिला कर घृत आदि मे एक साथ पकाया जाता है।[1]

अब कुकूलादिपाचित अन्न के गुणों को कहते है—

कुकूलखर्पर[2]भ्राष्ट्रकन्द्वङ्गार[3]विपाचितान्।
एकयोनींल्लघून्विद्यादपूपानुत्तरोत्तरम्॥
(धारीकेण्डरिकाद्याश्च गुरवश्च यथोत्तरम्)[4]

कुकूलादिपाचित अन्न के गुण—एक ही जाति के (चावल, गेहूँ आदि) अन्न से बने पूप, रोटी आदि कुकूल (खड्ढ में तुषाग्नि द्वारा) खर्पर (मिट्टी का तवा) भ्राष्ट्र (भाड़ या भट्टी) और कन्दु (तन्दूर) या अङ्गार मे पकाए हुए उत्तरोत्तर लघु (हल्के) जानने चाहिए। साराश यह कि कुकूल से खर्पर, खर्पर से भ्राष्ट्र, भ्राष्ट्र से कन्दू और कन्दू से अंगारपर पकाए हुए पूप-रोटी आदि लघु (हल्के) हैं। इसी प्रकार इन पर पकाए हुए धारिका-इण्डिरिका आदि उत्तरोत्तर गुरु (भारी) हैं।

विशेष वक्तव्य—कुकूलका अर्थ इन्दु और अरुणदत्त बाष्पस्वेद मानते है किन्तु हेमाद्रि इसे मिट्टीका गर्ताकार तवा मानता है तथा और गोबर के उपले मानते हैं। हमारे मत से यह मिट्टी का तवा ही उचित प्रतीत होता है। यही मिट्टी का तवा औंधा (उल्टा) करने से खर्पर कहलाता है। यही छिद्रवाला भाड़ होता है। लोहेके औंधे तवेका नाम कन्दु है और काष्ठजन्य अग्नि को अङ्गार कहते है। हेमाद्रि अङ्गार, अङ्गारधानिका या अग्निपूर्ण सिगड़ी को कहता[5] है।

---

१ "सतुषधान्यानि भृष्टस्फुटितानि लाजानाहु," इति भावमिश्र।

२ "आर्द्रशालिधान्य मृदुभृष्ट मुसलाघातचिप्पटीभूतावयव पृथुका इत्युच्यते," इति डल्हन।

३ "यवादयश्च ये भृष्टा धानास्ते परिकीर्तिता।, इति राजनिघण्टु

४ "भृष्टानां निस्तुषयवाना चूर्णं सक्तव, इति हेमाद्रि।

५ "शष्कुल्य शालिपिष्टै सतिलैस्तैलपका क्रियन्ते।,, इति चक्रपाणिदत्त। "सुधौतानां तण्डुलाना पिष्ट सूक्ष्म विधाय च। तत्प्रमाण तत्र जल स्थाप्य चुल्ल्यां तु तत्पचेत्॥ अल्पमल्प विकीर्णाँश्च मेलयित्वा घन पचेत्। घनीभूते तु उत्तार्य तत्पर्पट्या सुयुक्तित॥ पूरण च निधायाथ सिता श्रीफलक तथा। त्रिवृत्त्वा तामर्द्धचन्द्रसमाना कारयेत्सुधी॥ एव शष्कुल्य काया पाच्या स्वेदनयन्त्रके।,, इति वैद्यनिघण्टु

१ "मांस निरस्थि सुस्विन्न पुनर्दृषदि पेषितम्। पिप्पलीशुण्ठीमरिचगुडसर्पिस्समन्वितम्। एकध्य पाचयेत्सम्यक् वेसवार इति स्मृत॥ इति

२ "कर्पर,, इति पाठान्तरम्। ३ कट्वङ्गार इति पा०। ४ पद्यार्धोऽयमिन्दुटीकाग्रन्थे नास्ति।

५ "कुकूलो-बाष्पस्वेद" इतीन्दु। "क्षारपाक" इत्यन्ये। "अपां बाष्पस्वेद" इत्यरुण "गोशकृदादिचूर्णसन्ताप" इत्यन्ये। "कुकूल श्वभ्रमिति मृण्मयमुत्तानमपूपपचनपात्र श्वभ्राकारम्" इति हेमाद्रि। तदेव (कुकूल) न्युब्ज खर्परम्। तदेव सच्छिद्र भ्राष्ट्रम्।

अथ मास वर्ग—अब यहा से आचार्य मासवर्ग का आरम्भ करते हैं ।

हरिणैणकुरङ्गर्ष्य[१]गोकर्णमृगमातृकाः ।
कालपुच्छकचारुष्कवरपोतशशोरणाः ॥
श्वदंष्ट्रा रामशरभकोहकार[२]कशम्बराः ।
करालकृतमालौ च पृषतश्च मृगाः स्मृताः ॥

मृगजातियाँ—हरिण, एण, कुरङ्ग, ऋष्य, गोकर्ण, मृगमातृक, कालपुच्छक, चारुष्क, वरपोत, शश, उरण, श्वदंष्ट्र, राम, शरभ, कोहकारक (कोट्टकारक या क्रोष्टुकारक, शम्बर, कराल, कृतमाल और पृषत ये १९ मृग जातियाँ हैं ।

विशेष वक्तव्य—यहा जिसका ताम्र या गौरवर्ण होता है वह हरिण है, कृष्णवर्णवाला एण कहलाता है, जो न काला हो और न ताम्रवर्ण हो वह कुरङ्ग है । नीलवर्ण के अण्डकोष वाला हरिण ऋष्य या ऋक्ष कहलाता है जिसका प्रसिद्ध नाम रोरुमृग भी है । गाय के कानों की तरह कर्णवाला तथा गधे के आकारवाला गोकर्ण है । मृगमातृक हरिण छोटा किन्तु शशक के सदृश और बडे पेटवाला होता है । काली पूछवाला कूलचर मृग कालपुच्छ कहलाता है । चारुष्क मृग वह है जो छोटा एव सुन्दर होता है । वरपोत भी एक मृग की जाति है । शश बिल में रहनेवाले खरगोश को कहते हैं । उरण भी शशकका ही एक भेद है । श्वदंष्ट्र चार दाढोंवाला अति दुष्ट कर्कटक नामसे कार्तिकपुर में प्रसिद्ध है । राम हिमालय के बडे मृग को कहते हैं । शरभ उस मृग को कहते हैं जो ऊट के समान, आठ पग और बडे सींगवाला होता है और जिसके चार पग पीठपर रहते हैं, यह काश्मीर में प्रसिद्ध है । कोहकार (इसे हेमाद्रि क्रोष्टुकार मानता है और इसी को चरक कोट्टकारक कहते हैं) यह मृगजाति का भेद सियार ही हो सकता है । शम्बर जिसे लोग साभर या बारहसिंगा कहते हैं । कराल उस हिमालय के कस्तूरीमृग का नाम है जिसके दांत नीचे की ओर होते हैं । पृषत चित्र-विचित्र बिन्दुओंवाले मृग को कहते है ।

मृग जाति की तरह ही अब मासोपयोगी विष्किर जाति का वर्णन करते हैं ।

लाववर्तीकवार्तीर[१]रक्तवर्त्मककुक्कुभाः[२] ।
कपिञ्जलोपचक्राख्यचकोरकुरुबाहवः[३] ॥
वर्तको वर्तिका चैव[४] तित्तिरि[५] क्रकर[६] शिखी ।
ताम्रचूडाख्यवरकगोनर्दगिरिवर्तिकाः ॥
तथा सारपदेन्द्राभ[७]वरटाश्चेति विष्किराः[८] ।

विष्किर जातिया—लावा (काला तीतर), बटेर, तिलियर, रक्तवर्त्मक (ग्रामचटक), कुक्कुभ (जल और स्थल में रहने वाले दोनों प्रकार के जगली कुक्कुट), गोरा तीतर, उपचक्र (एक प्रकार का चकोर), चकोर (लाल आखोंवाला विषसूचक), कुरुबाहु (कुरकुरा पक्षी जिसकी नील ग्रीवा, लाल शिखा और पख सुफेद होते हैं), छोटा बटेर, उससे भी छोटी बटेरी, तीतर, क्रकर (कयापक्षी जिसका गला पीला और काला, चोंच और पग काले, पीठ लाल होती है और जो तीतर से बड़ा होता है, लावा को मारता है । इसका शब्द क्रकच के समान होता है ।) मोर, ताम्रचूड (कुक्कुट), बगुला, गोनर्द (घोडा कङ्क), वरट (हस), गिरिवर्तिका (गेरी), पर्वत पर रहनेवाली बतख, सारपद, इन्द्राभ (मल्लकङ्क) ये विष्किर जाति के पक्षी हैं जो बिखेरकर खानेवाले है ।

अब प्रतुद[९] अर्थात् चोंच से चावल आदि को तोडकर खाने वाले पक्षियों का वर्णन करते हैं ।

शतपत्रो भृङ्गराज कोयष्टि[१०]र्जीवजीवक ।
खञ्जरीटकहारीतदुर्नामारिक्शार्गृहा[११] ॥
लट्वा लङ्गूषो वटहा गोदवेडो डिण्डिमाणव ।
जटी दुन्दुभिपाकारलोहपृष्ठकुलिङ्गका ॥
सारिकाशुकशार्ङ्गाख्यचिरीटीककुयष्टिका ।

लोहमय न्युब्ज कन्दु । अङ्गारशब्देन अङ्गारपूर्णं पात्र हसन्तीत्यादि । ” इति हेमाद्रि ।

१ “ऋक्ष” इति सुश्रुतहेमाद्रिसमत पाठ । २ “कोट्टकारक” “क्रोष्टुकारक” इति वा पाठान्तरम् ।

३ “एण कृष्णस्तयोर्ज्ञेयो हरिणस्ताम्र उच्यते ।
न कृष्णो न च ताम्रश्च कुरङ्ग सोऽभिधीयते ॥” इति सुश्रुत ।
“ऋक्षो नीलाण्ड, रोरु इति प्रसिद्ध” इति डल्हन । नीलाण्ड इति हेमाद्रि । मृगमातृका—“लघुपृथूदरा शशाभा” इति हेमाद्रि । “चारुष्क—चारुशरीर स्वल्पतनु मृगभेद” इति डल्हन । “शशो बिलेशय,” इति हेमाद्रि ।” उरण—शशकविशेष, इति जल्पकल्पतरुकारो गङ्गाधर । “श्वदंष्ट्रश्चतुर्दंष्ट्रोऽतिदुष्ट (कर्कटक) इति कार्तिकपुरे, इति चक्रडल्लनौ । “रामो हिमालये महामृग” इति चक्रदत्त । शरभ—अष्टापद, उष्ट्रप्रमाणो महाशृङ्ग पृष्ठगतचतुष्पाद काश्मीरे प्रसिद्ध, इति डल्लनचक्रदत्तौ ।” कराल—अधोनिष्क्रान्तदन्त हिमवदादिपर्वतेषु कस्तूरीमृग इति लोके, “पृषत—बिन्दुचित्रित” इति डल्लन ।

१ ‘लाववार्तिकवर्तीर, इति पाठान्तरम् ।’ लाववार्तीकवर्तीर इति अष्टाङ्गहृदये पाठ ।

२ ‘कुक्कुभा’ इत्यष्टाङ्गहृदयम् । ‘कर्करा, इतीन्दुसमत पाठ । ३ ‘कुरुबाहव’ इतीन्दुटीका-पुस्तके पाठ । ४ “चेति तित्तिरि” इति हृदयसमत पाठ । ५ “तित्तिरि” इतीन्दु । ६ ‘वकर” इति हेमाद्रिसमतपाठ । ७ “सारपदेन्द्राह्ववरटाश्चेति, इ दु–पाठ ।”

८ “लाव—प्रसिद्ध” ‘वार्तीकश्चटकभेद, ‘वर्तीर—कपिञ्जलभेद’ ‘रक्तवर्त्मक कुक्कुभविशेषणम्’ ‘कुक्कुभ प्रसिद्ध’ ‘कपिञ्जलो गौर तित्तिरि’ ‘उपचक्रश्चकोरभेद’ इत्यादि चक्रदत्त ।” चकोरो रक्ताक्षो विषसूचक, इति डल्लन । “कुरुबाहु—नीलग्रीवो, रक्तशिख, श्वेत पक्ष” “वर्तको वर्तीकादल्प” “तत्सदृशा वर्तिका ततोऽप्यल्पा” “क्रकर—क्रकचशब्दकारी पीतकृष्णगल कृष्णचञ्चुचरणो रक्तपृष्ठ” इति हेमाद्रि । “क्रकरो—लावान्तक कपिञ्जलात्स्थूल” इति डल्लन । “गोनर्दो घोडा कङ्क” इतिचक्रदत्त । “गिरिवर्तिका-गिरिकाख्या वर्तिकाभेद पर्वतचरीति, हेमाद्रि ।” इन्द्राभो मल्लकङ्क, इति चक्रदत्त । “वरटावरटी हस्योस्तत्पतौ वरट स्मृत, इति तारपाल ।” विकीर्य भक्षयन्तीति ते विष्किरा, इति हेमाद्रि ।

९ “ये प्रतुद्य निष्कृष्य भक्षयन्तीति प्रतुदसज्ञा प्राप्तास्ते प्रतुदा ।

१० ‘कोयष्टी, इति पा० । ११ ‘ग्रहा’ इति पा०, ‘दुर्नामागिरिशागृहा’ इति हेमाद्रिटीकासमत पाठ ।

मञ्जूलीयक[1]दात्यूहगोपा[2]पुत्रप्रियात्मजा. ॥
कलविङ्क[3]' परभृत कपोतोऽङ्गारचूडक ।
पारावत पाणविक इत्युक्ता' प्रतुदा द्विजा ॥

प्रतुदजातियॉ—शतपत्र (खाती चिडा-कठफोडा[4]), भृङ्गराज (काले रग का एक चिडा जिसके सिरपर कलगी[5] होती है), कोयष्टि (जल कुक्कुट-कोरुक-को[6] ा), जीवजीवक (वह पक्षी जो विष को देखते ही मर जाता है और जिसके स्वरूप को बतलाते हुए हेमाद्रि कहते हैं कि "यह एक पेट और दो सिर वाला" होता है। महेश्वर के मत से इसके दर्शन से जीवों को जीवन प्राप्त होता है और यह विष[7]-नाशक है। खञ्जरीटक (जिसे भाषा में खञ्जन पक्षी कहते हैं तथा इसके नेत्रों की चचल नेत्रों को उपमा दी जाती है।) हारीत (हरियाल जो हरा और पीला होता है), उलूक या उल्लू (दुर्नामारि), गिरिशागृह (पर्वतशायी प्रतुद पक्षि विशेष), लटवा (ग्राम्य चिड़ा), लट्टूषक, वटहा, सारस, उत्कट ध्वनिवाला डिण्डिमा नक, जटी (जटायु), दुन्दुभिवाकार, लोहपृष्ठ (कुलिङ्ग का एक भेद), कुलिङ्गक (बैया या बया), सारिका (मैना), शुक (तोता), शार्ङ्ग (चातक), चिरिटी (चिटाई), कङ्कु, यष्टिका या कङ्कुयष्टिका, मञ्जुलीयक, दात्यूह (नीलकण्ठ), गोपापुत्र या गोधापुत्र, प्रियात्मज (लोटन कबूतर), कलविङ्क (काले रग की चिड़िया), कोयल (परभृत), कबूतर, बुलबुल (अङ्गारचूडक), पारेवा कबूतर (पारावत), पाणविक (कबूतर का ही एक भेद) ये सब प्रतुद पक्षी कहाते है।

अब बिलेशयों अर्थात् बिल में रहनेवालों का वर्णन करते हैं।

श्वेत श्यामश्चित्रपृष्ठ. कालक. काकुली मृग ।
भेकचिल्लटकूचीकागोधाशल्लकशण्डका' ॥
वृषाहिकदलीश्वाविन्बकुलाद्या बिलेशया ॥

बिलेशय जाति—श्वेत-श्याम-चित्र विचित्र तथा काले रग की पीठवाले ऐसे चार प्रकार के काकुली मृग अर्थात् बिल में रहनेवाले जलसर्प[8] होते हैं। भेक (मेण्डक), चिल्लट, कूचोका (अपने अङ्ग को सकुचित करनेवाला-काटनेवाला सेहला), गोधा (गोह या गोहिरा), शल्लक (बड़ी गोह का अनुकरण करनेवाला गोधा जो साला नाम से प्रसिद्ध है) शण्डक बिल में रहनेवाला साडा), वृष (जगली मार्जार-वन बिलाव), सर्प, कदली (बडे बिलाव के समान व्याघ्र के आकारवाला कदलीहण्ड, नाम से पौण्ड्र देश में प्रसिद्ध है। कई इसे सर्प विशेष मानते है।), श्वावित् (सेह जिसके रोम शूलाकार होते है) और नकुल (न्यौला) आदि बिलेशय कहलाते हैं।

अब आचार्य छीनकर या बलात् मारकर खानेवाले प्रसहों का वर्णन करते हैं।

गोखराश्वतरोष्ट्राश्वद्वीपिसिहर्क्षवानरा ।
मार्जारमूष[1]कव्याघ्रवृकबभ्रुतरक्षव ॥
लोपाकजम्बुकश्येनचा[2]षोलूकश्ववायसा ।
शशघ्नीभासकुररगृध्र[3]वेश्यकुलिङ्गका ।
धूमिका मधुहा चेति प्रसहा मृगपक्षिण ॥

प्रसह जाति—गाय, गर्दभ, खचर, ऊट, घोड़ा, चीता, सिह, रीछ, बन्दर, बिलाव, मूसा, बाघ, भेड़िया, बभ्रु (बड़ा नकुल या श्वेत बालोंवाला भालू अथवा अति-बालोंवाला पर्वत में रहनेवाला कुत्ता[4]), तरक्षु (व्याघ्र का एक भेद), लोपाक (क्षुद्र सियार या लोमड़ी), सियार, सिकरा पक्षी, चाष (जगली चिड़ा), उल्लू, कुत्ता, कौआ, शशघ्नी (शशारि चील्ह के समान महाचरणवाली जो झपट कर खरगोश को ले जाती है।) भास (श्वेत शिखावाला गीध विशेष), कुरर (बेल-लाल रङ्ग श्वेत मस्तकवाला मछलियों को पकडनेवाला) गृध्र (गीध), वेश्य, कुलिङ्ग (काले रङ्गवाला घरका चिड़ा[6]) धूमिका (एक प्रकार की चिड़िया), मधुहा (एक प्रकार का पक्षी), ये गाय से जम्बुक तक पशु और श्येन से मधुहा तक पक्षी प्रसह कहलाते हैं।

अब महामृग अर्थात् महापशुओंको कहते हैं—

महिषन्यङ्कुरोहीतवराहरुरुवारणा ।
सृमरश्चमर खड्गो गवयश्च महामृगा ॥

महामृग जाति—भसा, न्यङ्कु (हरिण के सदृश विकट बहु-शृङ्गवाला[7]), रोहीत (लाल रग का मृग), वराह (सूअर), रुरु (साभर के आकार शरीरवाला, बहुत से विकट सींगों-वाला, जल के तटपर विचरनेवाला, शरद् ऋतु में सींगों को त्यागनेवाला, बड़ी जाति का मृग जो प्राय चेदिदेश में होता[8] है), वारण (हाथी), सृमर (जगली घोडा या।महाशूकर[9]),

१ 'मञ्जरीयक' इति पा०। २ 'गोधापुत्र' इति पा०। ३ 'कल पिङ्क, इति पाठान्तरम्।

४ 'शतपत्र —काष्ठकुट्टक' इति चरकटीकाया चक्रपाणिदत्त।

५ 'भृङ्गराज —कृष्णवर्णश्चटकसदृश शिखावान्' इति हेमाद्रि।

६ 'कोयष्टि —कोडा, इति चक्रदत्त।

७ 'जीवजीवक —विषदर्शनमृत्यु' इति चक्रडल्हनौ। 'एकोदरो द्विशिरा, इति हेमाद्रि। जीव जीवयतीति जीवजीव, तद्दर्शनेन विष नाशनात्, इति महेश्वर।

८ 'काकुलीमृगो—माडया सर्प इति ख्यात, तस्य श्वेत इत्या-दयश्चत्वारो भेदा' इति चक्रदत्त।

१. "मूषिक" इति पाठान्तरम्।

२ "चाषवान्तादवायसा" इत्यष्टाङ्गहृदयपाठ।

३ "गृध्रोलूककुलिङ्गका" इत्यष्टाङ्गहृदयपाठ। ४ "बभ्रुर्वैश्वानरे शूलपाणौ च गरुडध्वजे। विशाले नकुले पुसि" इति मेदिनी। "बभ्रु —अच्छभल्ल" इति हेमाद्रि। "बभ्रु —अतिलोमश कुक्कुर पर्वतकण्ठे भवति" केचिद्बृहन्नकुलमाहु" इति चक्रदत्त।

५ "शशघ्नी—शशघाती चिल्हाकार महाचरणनख प्रहारेण शशाहरणशील" इति योगीन्द्रनाथ। ६ भास —श्वेतशिखावान् गृध्रसदृशो गोष्ठचारी। "कुलिङ्गो गृहचटक" इति हेमाद्रि। "कुलिङ्ग —कालचटक" इति चक्रपाणि। ७ न्यङ्कु —कुरङ्गसदृशो विकट बहुविषाण इति हेमाद्रि।

८ "रुरु —विकटबहुविषाण शम्बराकारदेह सलिलतटचरत्वाच्छम्बरेभ्यो विचित्र। त्यजति शरदि शृङ्ग रौत्यतोऽसौ रुरु स्यात् पृथुल मृगविशेष प्रायशश्चेदिदेशे॥" इति डल्हन।

९ "सृमरो—महाशूकर" इति चक्र। सृमरो वनतुरग', इति

चमर (चामर गाय), खड्ग (गैण्डा) और गवय (रोज) ये महामृग हैं ।

अब जलचर पक्षियों का वर्णन करते हैं—

हससारसकादम्बबककारण्डवप्लवा ।
मृणालकण्ठचक्राह्वबलाकारक्तशीर्षका ॥
उत्क्रोशपुण्डरीकाक्षशरारिर्मणितुण्डिका ।
काकतुण्डघनारावमद्गुक्रौञ्चाम्बुकुक्कुटा ॥
नन्द्यास्यमल्लिकाद्याश्च पक्षिणो जलचारिण ॥

जलचर पक्षी—हस, सारस, कादम्ब (कलहस), बगुला, कारण्डव (श्वेत हस के समान छोटा हस या कौवा के समान मुखवाला, बड़े पैरवाला काले रङ्ग का पक्षी), प्लव (लमढीक), मृणाल-कण्ठ (बकका एक भेद), चक्राह्व (चकवा-चकवी), बलाका (बेला-पक्ति बाधकर उड़नेवाले एक प्रकार के बगुले), रक्तशीर्षक (लाल सिरवाला सारस विशेष), उत्क्रोश (एक प्रकार का कुरर), पुण्डरीकाक्ष (कमलनयन बक), शरारि (आटी-आड), मणितुण्डक, काकतुण्ड (श्वेत कारण्डव), मेघनाद, मद्गु (जलकाक), क्रौञ्च (कौंचबक), अम्बुकुक्कुट (काले रग का जलकुक्कुट), नन्दीमुख (पत्राटी-आडीका एक भेद), मल्लिक (हस विशेष) इत्यादि जलचारी पक्षी हैं ।

जलचारी पक्षियों के अनन्तर अब जल में रहनेवाले मत्स्यादिकों का वर्णन करते हैं ।

मत्स्या रोहितपाठीनकूर्मकुम्भीरकर्कटा ।
शुक्तिशङ्खोद्रशम्बूकशफरीवर्मिचन्द्रिका ॥
चुल्लकीनक्रमकरशिशुमारतिमिङ्गिला ।
राजीवचिलिचिमाद्याश्च मासमित्याहुरष्टधा ॥

जलचर मत्स्यादि—रोहित (रोहू मछली), पाठीन (बड़ी और निर्मल मछली), कूर्म (कछुआ), कुम्भीर (घड़ियाल), कर्कट (खेकडा या केकड़ा), शुक्ति (सीपका कीडा), शख (शख का कीडा), उद्र (ऊद बिलाव), शम्बूक (घोंघा शख का कीड़ा), शफरी (छोटी मछली), बर्मी (सर्पाकार मछली जिसे लोग बाम कहते है), चन्द्रिका (पार्श्व भाग मे बहुत काटोंवाली मछली), चुल्लकी (शिशुमार मगर का भेद), नक्र (मगर विशेष), मकर (मगरमच्छ), तिमिङ्गिल (बहुत बडी मछली जिसे अगरेजी में व्हेल कहते हैं), राजीव (कमल के पास रहनेवाली मछली) और चिलिचिम आदि ये सब मत्स्यों के भेद बताए हैं । सुश्रुत के मतानुसार इनमें के कुछ मत्स्य नदियों में और कुछ समुद्र में रहनेवाले हैं ।

इस प्रकार शास्त्रों के कथनानुसार (मृग, विष्किर, प्रतुद, बिलेशय, प्रसह, महामृग, जलचर और मत्स्य भेद से) मास के आठ प्रकार कहे गये हैं ।[1]

अब इन पूर्वोक्त मृग, विष्किरादि आठों जातियों की निवासभूमि का निर्देश करते है । यथा—

योनिष्वजावी व्यामिश्रगोचरत्वादनिश्रिते ।
आद्यान्त्या जाङ्गलानूपा मध्यौ साधारणौ स्मृतौ ॥
विकीर्यादिक्रियायोगैर्भक्षणाद्विष्किरादय ।

मृगादिकी निवासभूमि- उपर्युक्त मृग, विष्किरादि आठमास-योनियों मे से बकरा और भेड के व्यामिश्र गोचरत्व के कारण न इन्हें जाङ्गल कह सकते है और न आनूप ही । इस लिए कि बकरा और भेड ये दोनों जाङ्गल देश मे पाए जाते हैं त्यों अनूप देश में भी मिलते हैं अत इन दोनों का देश या निवास स्थान अनिश्चित है । इन आठों योनियों मे से आद्य और अन्त्य की तीन तीन योनिया क्रम से जाङ्गल और आनूप हैं । भावार्थ यह है कि आदि के तीन अर्थात् मृग, विष्किर और प्रतुद ये जागल हैं और अन्त्य के तीन अर्थात् महामृग, जलचारी और मत्स्य ये आनूप हैं । मध्य के दो अर्थात् बिलेशय और प्रसह ये साधारण देशज हैं ।

विष्किरादि नाम के कारण—इनकी विष्किर आदि सज्ञा इनके विकीर्यादि क्रियायोग के कारण है । जैसे कि—

विष्किर—चौच और चरण से प्रथम बिखेर कर फिर खाने वाले । लावा, बतख आदि,

प्रसह—जबर्दस्ती बल से छीन कर खाने वाले जैसे कि गायगर्दभादि ।

प्रतुद—चौच या पजेसे चोट लगा कर या तोड़ कर खानेवाले शतपत्र अर्थात् खाती चिड़ा-कठफोडा आदि ।

मृगमहामृग—जङ्गल मे विचरनेवाले हाथी, चीता, शरभ आदि ।

बिलेशय—बिल में रहनेवाले काकुली मृग, साडा आदि ।

चलचर—जल मे विचरनेवाले हस, सारस आदि ।

मत्स्य—जल में रहनेवाले मगर, मत्स्य आदि ।

इसी प्रकार अनूप देश में रहनेवाले आनूप, जाङ्गल देश के जाङ्गल आदि कहलाते हैं ।

अब इन सबके गुणों का वर्णन करते है ।

तत्र बद्धमला रुच्या मासानामुत्तमा हिमा ।
कषायस्वादुविशदा लघवो जाङ्गला हिता ॥
पित्तोत्तरे वातमध्ये सन्निपाते कफानुगे ।

हेमादि । १ "गण्डके खड्गखड्गिनौ" इत्यमर । २ तुण्डका इति पा० । ३ सद्यास्यो इति पा० । ४ 'कारण्डव शुक्लो हसमदृश' (हेमाद्रि) "कारण्डव शुक्लहसभेदोऽल्प । अन्ये करढव काकव क्त्रमाहु । उक्त च-"कारण्डव काकवक्त्रो दीर्घाङ्घ्रि कृष्णवर्णभाक् । इति डल्लन । ५ "रक्तशीर्षक-रक्तशिरा सारसभेद ।" इति चरकोपस्कारे योगीन्द्रनाथ ।

१ 'मृग्य वैष्किरिक किञ्च प्रातुद च बिलेशयम् । प्रासह च महामृग्यमप्चर मात्स्यमष्टधा" इति तन्त्रान्तरे ।

२ "प्रसह्य भक्षयन्तीति प्रसहास्तेन सज्ञिता ॥ ५३ ॥ भूशया बिलवासित्वादानूपानूपसश्रयात् । जले निवासाज्जलजा जले चर्याज्जलेचरा ॥ ५४ ॥ स्थलजा जाङ्गला प्रोक्ता मृगा जङ्गलचारिण । विकीर्य विष्किराश्चेति प्रतुद्य प्रतुदा स्मृता ॥ ५५ ॥ योनिरष्टविधा त्वेषा मासाना परिकीर्तिता ॥" इति चरकः (सूत्रस्थान अ २७ श्लो, ५३-५६)

ताम्रोऽत्र हरिणः कृष्णस्त्वणो हृद्यस्त्रिदोषजित् ॥
लघीयान् षड्रसश्चासौ ग्राही रूक्षो हिमः शशः ।
कटुपाकोऽग्निकृत्पथ्यः सन्निपातेऽनिलावरे ॥
तद्वल्लावोऽप्यरूक्षस्तु किञ्चिद्रूक्षः कपिञ्जलः ।
पारावताः कपोताश्च तद्वद्वन्या' सुपूजिताः ॥
ईषदुष्णगुरुस्निग्धा बृंहणा वर्तकादयः ।
तित्तिरिस्त्वेष्वपि वरो मेधाग्निबलशुक्रकृत् ॥
ग्राही वर्ण्योऽनिलोद्रिक्तसन्निपातहरः परम् ।
धन्वानूपविचारित्वात्स्निग्धोष्णगुरुबृंहणः ॥
नातिपथ्यः शिखी पथ्यः श्रोत्रस्वरवयोदृशाम् ।
तद्वच्च कुक्कुटो वृष्यो ग्राम्यस्तु श्लेष्मलो गुरुः ॥
मेधानिलकरा हृद्याः क्रकराः सोपचक्रकाः ।
गुरुः सलवणः काणकपोतः सर्वदोषकृत् ॥
गुरूष्णस्निग्धमधुरा वर्गाश्चातो यथोत्तरम् ।
मूत्रशुक्रकृतो बल्या वातघ्नाः कफपित्तलाः ॥
शीता महामृगास्तेषु क्रव्यादाः प्रसहाः पुनः ।
चक्षुष्याः सृष्टविण्मूत्रा मांसलाः कटुपाकिनः ॥
जीर्णार्शोग्रहणीदोषशोषार्तानां परं हिताः ।
गोधा नियच्छति विषं मूषकः शुक्रवर्धनः ॥
शुष्ककासश्रमात्यग्निविषमज्वरपीनसान् ।
कार्श्यं केवलवाताश्च गोमांसं सन्नियच्छति ॥
चटकाः श्लेष्मलाः स्निग्धा वातघ्नाः' शुक्रलाः परम् ।
गुरूष्णो महिषः स्निग्धः स्वप्नदार्ढ्यबृहत्त्वकृत् ॥
तद्वद्वराहः श्रमहा रुचिशुक्रबलप्रदः ।
हंसः स्वरकरः पित्तरक्तजिन्मधुरो हिमः ॥
कफपित्तकरा मत्स्याः परं पवननाशनाः ।
प्रतिस्रोतोविचारित्वादाकाशप्लवनेन च ॥
रोहितः प्रवरस्तेषां परं चिलिचिमोऽवरः ।
अगोचरविचारित्वात्सर्वदोषकरो हि सः ॥
कुलीरः परमं वृष्यो बृंहणः प्रीणनो गुरुः ।
नातिशीतगुरुस्निग्धं मांसमाजमदोषलम् ॥
शरीरधातुसामान्यादनभिष्यन्दि बृंहणम् ।
विपरीतमतो ज्ञेयमाविकं बृंहणं तु तत् ॥
अतिमेधं[2] त्यजेन्मांसं हतं व्याधिविषोदकैः ।
स्वयं मृतं धूमपूर्णमगोचरमृतं कृशम् ॥
सद्योहतं वयस्थं च शुद्धं सुरभि शस्यते ।
एणः कुरङ्गो हरिणः शशो लावः कपिञ्जलः ॥
तित्तिरि' क्रकरो गोधा श्वाविद्गृध्रो मृगाधिपः ।
बर्हिणः सारिका न्यङ्कुर्हंसो रोहितकच्छपौ ॥
वर्मी चाम्र्यः[1] स्ववर्गेषु प्रवरास्तेष्वपि स्मृताः ।
लावैणगोधाः सिंहश्च निन्दितौ गौः सदर्दुरः ॥
ऋष्य' काणकपोतश्च शेषमुक्तं यथायथम् ।
गुरूण्यण्डानि बालानां कषायलवणं पलम् ॥
वृद्धानां स्नायुभूयिष्ठमबल्यं गुरु दोषलम् ।
पुंस्त्रियो पूर्वपश्चार्धे गुरुणी गर्भिणी गुरुः ॥
लघुर्योषिच्चतुष्पात्सु विहङ्गेषु पुनः पुमान् ।
शिरःस्कन्धोरुपृष्ठस्य कट्या सक्थ्नोश्च गौरवम् ॥
तथाऽऽमपक्वाशययोर्यथापूर्वं विनिर्दिशेत् ।
शोणितप्रभृतीनां तु धातूनामुत्तरोत्तरम् ।
मासाद्गरीयो वृषणमेढ्रवृक्ककयकृद्गुदम् ॥

१ "मेदु" इति पाठान्तरम्।
२ "अतिमेध्य" इति पाठान्तरम्।

मांसों के गुण—ऊपर जाङ्गल, आनूप और मिश्र देशों के मृग, प्रसह, प्रतुद आदि मांसोपयोगी आठ जातियों का वर्णन किया गया। अब इनके मांस के गुणों का वर्णन करते हैं। जाङ्गल, मिश्र और आनूप इन सब में जाङ्गल मांस का प्रथम निर्देश किया गया है। तदनुसार उसी क्रम से वर्णन किया जाता है।

जाङ्गल मांस के गुण—जङ्गल में रहनेवाले जीव जाङ्गल कहलाते हैं। जाङ्गल मांस मल (पुरीष) को बाधनेवाले, रुचिकारक, सब मांसों में उत्तम, शीतवीर्य, कषाय-मधुर-रसवाले, विशद, लघु और उस सन्निपात मे पथ्य है जिसमें प्रधान पित्त हो अर्थात् पित्त प्रबल हो, वात मध्य हो तथा कफानुग (कफ इनका अनुगामी-हीन) हो।

हरिण मांस के गुण—हरिण और एणकी आकृति समान होती है। भेद इतना ही है कि ताम्रवर्णवाला हरिण कहलाता है और कृष्ण वर्णवाले की एण सञ्ज्ञा है। इन दोनों प्रकार के हरिण का मांस हृदय के लिये हितकारी (पथ्य), त्रिदोष को दूर करनेवाला, अति लघु तथा छहों रसोंवाला है।

शशक मांस के गुण—शशक अर्थात् खरगोश का मांस मल का अवरोध करता है, रूक्ष, शीतवीर्य, कटुपाकी, जठराग्नि-प्रदीपक और हीन-वायुवाले सन्निपातों में पथ्य (हितकारी) है।

लवा मांस के गुण—लवा का मांस भी तद्वत् अर्थात् खरगोश के मांस के गुणोंवाला है परन्तु यह उसकी तरह रूक्ष नहीं है।

तीतर और पारेवा आदि मांस के गुण—तीतर का मांस कुछ रूक्ष है और पारेवा (कबूतर) का मांस भी तद्वत् (उस तीतर मांस के गुणोंवाला) है परन्तु तीतर और पारेवा ये दोनों जङ्गली हों तो श्रेष्ठ हैं। विपरीत इसके घरों मे रहनेवाले तीतर पारेवा अपथ्य (हानिकारक) हैं।

बटेर और तीतर की विशेषता—बटेर आदि जितने जाङ्गल पक्षी हैं वे सब कुछ उष्ण, गुरु, स्निग्ध और बृंहण (शरीर को पुष्ट करनेवाले) हैं। इन सब मे तीतर श्रेष्ठ है। इस लिये कि तीतर मेधा (बुद्धि), जाठराग्नि, बल और वीर्य को बढ़ानेवाला, ग्राही, वर्ण को बढ़ानेवाला और वाताधिक सन्निपात का नाशक है। तीतर, जाङ्गल और आनूप दोनों प्रकार का होता है इस लिए वह स्निग्ध, उष्ण, गुरु और बृंहण है।

मयूर मांस के गुण—मोर का मांस अति पथ्य नहीं है तथापि श्रोत्र (कान), स्वर, वय और नेत्रों के लिये हितकारी है। सुश्रुत के मत से मोर का मास कषाय-मधुर-रसवाला, नमकीन, त्वचा तथा केशों के लिए पथ्य है, अरुचिका नाशक है, स्वर, मेधा, जाठराग्नि, नेत्र, कान एव इन्द्रियों को दृढ करनेवाला, स्निग्ध, उष्ण, तथा वायु-नाशक है, स्वेद-स्वर और बल को लानेवाला है[1]।

कुक्कुट मास के गुण—इसी प्रकार कुक्कुट (मुर्गे) का मास वृष्य (वीर्यवर्धक) है परन्तु गाव में रहनेवाले मुर्गे का मास कफकारक और गुरु है। इसके अतिरिक्त सुश्रुत इसे वातरोग, क्षय, वमन और विषमज्वर को हरनेवाला भी कहते हैं[2]।

क्रकर और उपचक्र के मास के गुण—क्रकर वह पक्षी है जो लावा को मारता है, गोरे तीतर से बडा होता है तथा भाषा में जिसका नाम कम है[3]। उपचक्र इसी का एक भेद है। क्रकर और उपचक्र इन दोनों के मास मेधा तथा जठराग्नि को बढानेवाले हैं।

काणकपोत मास के गुण—पीले या लाल रग के जङ्गली कबूतर (काणकपोत[4]) का मास किञ्चित् लवण रसवाला तथा त्रिदोषकारक है।

बिलेशयादि वर्गों का उत्तरोत्तर गुरुत्वादिकथन—जाङ्गल वर्ग के अनन्तर बिलेशयादि वर्ग उत्तरोत्तर गुरुत्व, उष्णत्व, स्निग्धत्व एव मधुरत्व में अधिक हैं। इसी प्रकार ये बिलेशयादि वर्ग उत्तरोत्तर बलवान् , मूत्रशुक्रकारक, बलवर्धक, वातहारक और कफपित्तकारक हैं। भावार्थ यह है कि बिलेशयों से प्रसह, प्रसहों से महामृग, महामृगों से जलचर और जलचरों से मत्स्य अधिक गुरु, उष्ण, स्निग्ध, मधुर, शुक्रमूत्रल, बलवर्धक, वायुनाशक और कफपित्तकारक है।

बिलेशयादि में महामृग और मास-भक्षक प्रसह के विशेष गुण—महामृग शीतवीर्यवाले हैं। मास भक्षक प्रसह चक्षुष्य (नेत्रों के लिए पथ्य), मलमूत्र को लानेवाले, मास को बढानेवाले पाक में कटु, जीर्ण, अर्श-सग्रहणी दोष और शोष (क्षय) रोगियों के लिये परम हितकारी हैं।

गोधा और मूषकमास के गुण—गोधा का मांस विषनाशक है और चूहे का मास वीर्य को बढानेवाला है।

गोमास के गुण—गोमास सूखी खांसी, श्रम, अत्यग्नि, विषमज्वर, कृशता एव केवल वायु का हरनेवाला है।

चटक मास के गुण चिडे तथा चिड़ियाओं का मास कफकारक, स्निग्ध, वायुनाशक और वीर्य की अच्छी वृद्धि करनेवाला है।

महिष-मास के गुण—महिष (भैंस-भैंसा) का मास गुरु, उष्ण, स्निग्ध, अच्छी निद्रा लानेवाला और पुष्टिकारक है।

शूकर-मास के गुण - सूअर का मास महिष-मास के गुणोंवाला होकर भी थकावट को दूर करनेवाला, रुचिकारक, वीर्य और बल को बढानेवाला है।

हस के मास के गुण - हस का मास स्वर को बढ़ानेवाला और पित्त रक्त को जीतनेवाला होने पर भी मेद को बढ़ानेवाला शीतवीर्य है। चरक के अनुरोध से कुछ लोग इसे अहिम (उष्ण) भी कहते हैं।

मत्स्यमास के सामान्य गुण—सामान्यत सब प्रकार के मत्स्य कफपित्तकारक और वायु के परमहारक हैं। सब मछलियों मे रोहित मछली इस लिए श्रेष्ठ है कि वह जल के स्रोत या प्रवाह के सम्मुख विचरती है और जल से ऊपर को उछलती है। इसी प्रकार चिलिचिम जाति की मछली सब मछलियों से नेष्ट है क्योंकि वह अगोचर विषय (कीचड़-शैवाल) आदि मे रहती है इसलिए त्रिदोषकारक है।

कुलीरमास के गुण—कुलीर (कर्कट या खकड़ा) का मास परम वृष्य, रुचिकारक और गुरु है।

बकरे और भेड के मास के गुण—बकरे का मास इस लिए श्रेष्ठ है कि वह वातादि दोषों की साम्यावस्था को नष्ट नहीं करता, वह अतिशीत, अतिस्निग्ध और अति गुरु भी नहीं है किन्तु वह शरीर धातु सामान्य के कारण अनभिष्यन्दि और बृहण (पुष्टिकारक) है। भेड का मास इससे विपरीत गुणवाला होते हुए भी अपनी विशेषता के कारण बृहण अर्थात् पुष्टिकारक है।

त्याज्य मांस—ऐसे प्राणी के मास का परित्याग करना चाहिए जो अतिमेद्य अर्थात् स्थूल हो, जिसकी मौत रोग से, विष से या जल में हुई हो, जो स्वय मर गया हो, धुआँ से घुटकर मरा हो या जिसके मरने का पता न हो कि क्यों कर मरा है अथवा जो बहुत दुबला (कृश) हो।

ग्राह्य मास—वह मास ग्रहण करने योग्य है जो ताजे मरे हुए पशु का हो, जो सर्वाङ्गपूर्ण जवान का हो, तृण-विष आदि से युक्त न हो और जिसमें दुर्गन्धि न आती हो।

मासोपयोगी वर्गों में श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ प्राणी—एण (काले रग का मृग), कुरङ्ग (वह मृग जो न काला हो और न ताम्र वर्ण का हो), हरिण (ताम्र वर्ण का मृग), शश (खरगोश), लावा, कपिञ्जल (गोरा तीतर), क्रकर, गोधा, श्वाविद् , गीध, सिह, शारिका, न्यङ्कु, हस, रोहित (मत्स्य-भेद), कछुआ और वर्मी (बाम) ये अपने वर्गों में श्रेष्ठ हैं। भावार्थ यह है कि एण, कुरङ्ग, हरिण और शश (खरगोश) ये मृगों में श्रेष्ठ हैं। इसी प्रकार लावा, कपिञ्जल, तीतर और क्रकर ये विष्किरों में, शारिका प्रतुदों में, न्यङ्कु महामृगों में, हस जलचारियों मे, रोहित, कछुआ और बाम ये जलज मत्स्यों में श्रेष्ठ हैं। इनमें भी लावा, एण, गोधा तथा सिह श्रेष्ठ हैं। इसी प्रकार गाय, मेंढक, रीछ, पीला या लाल कबूतर ये अपने वर्गों में त्याज्य हैं क्योंकि ये अश्रेष्ठ हैं।

---

१ "कषायस्वादुलवणस्त्वच्य केश्योऽरुचौ हित । मयूर स्वर मेधाग्निदृक्श्रोत्रेन्द्रियदार्ढ्यकृत् । स्निग्धोष्णोऽनिलहा वृष्य स्वेद स्वरबलावह ॥" इति।

२ 'बृहण कुक्कुटो वन्यस्तद्वद् ग्राम्यो गुरुस्तु स । वातरोग क्षयवमीविषमज्वरनाशन ॥ इति।

३ क्रकर लावान्तक कपिञ्जलात्स्थूल , 'कय, इति लोके, उपचक्र क्रकरभेद , इति डल्लन ।

४ 'काणकपोतो—वनवासी पाण्डुकपोत , अन्ये अरुणवर्णकमपि कपोतमाहु , इति डल्लन ।

शेष प्राणियों के मास के गुण यथायथ अर्थात् जैसे वर्णन हो चुका है उसी प्रकार जानने चाहिए।

पक्षियों के अण्डे और बालवृद्ध पक्षी-मास के गुण—**पक्षियों के अण्डे गुरु अर्थात् भारी हैं तथा बालपक्षियों का मास कषाय-मधुर रसवाला है। वृद्ध पक्षियों का मास स्नायुओं के अधिक रहने से बलहीन, गरिष्ठ और त्रिदोष कारक है।**

विशेष वक्तव्य-यहां वाग्भटने "गुरूण्यण्डानि" अर्थात् अण्डे गुरु या भारी हैं इतना ही कहकर छोड दिया है परन्तु चरक ने इसका विशेष वर्णन करते हुए लिखा है कि "हस, चकोर, कुक्कुट, मोर और चिडिया के अण्डे मधुर, अविपाकी (कठिनता से पचनेवाले) या अविदाही, तुरन्त बल के देनेवाले और वीर्यक्षीण-कास-हृद्रोग और क्षत (उर क्षत) रोगियों के लिये पथ्य हैं।"[1] यहाँ अविदाहीन, पाठ, अविपाकीनि की जगह कुछ प्रतियों मे है किन्तु अण्डे के मधुर गुरुत्व के कारण अविपाकीनि पाठ ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है। जो द्रव्य मधुर और गुरु है उसका देर से पचना स्वय सिद्ध है परन्तु आधुनिक विज्ञान में अण्डे के समान जल्दी पचनेवाली बहुत कम वस्तुए हैं। वैज्ञानिकों का कहना है कि कार्बोहाइड्रेट के अतिरिक्त अण्डे में आहार के सभी सामान प्रस्तुत है। साराश यह कि अण्डे में लोह-पोटाशियम-कलशियम-चर्बी-प्रोटीन-फास्फरस आदि खनिज पर्याप्त प्रमाण मे रहते हैं जिनसे इसका पाचन सहज में होता है। यह निश्चित हो चुका है कि अण्डे के ९५ प्रतिशत भाग का शोषण होता है इत्यादि इत्यादि।"

मृगादि नर-मादी के मास के गुण—**मृग आदि नर और मादीका पूर्व और पश्चार्ध भाग का मास गुरु है अर्थात् नर का पूर्वार्ध (नाभि से मस्तक तक का) और मादी का पश्चार्ध (नाभि से नीचे के भाग का) मास गुरु है। गर्भिणी का मास सर्वथा गुरु है।**

पशु-पक्षियों के मास का गुण—**चतुष्पाद (चौपाए) पशुओं में स्त्री (मादी) का और पक्षियों में नर का मास लघु है।**

अङ्गपरत्व मास के गुण—**सिर, स्कन्ध (कन्धा), जघा और पीठ का मास यथापूर्व गुरु है अर्थात् सिर से कन्धा, कन्धे से जघा और जघा से पीठ का मास लघु है। इसी प्रमाण से जघा से कटि, कटि से पीठ का मास गुरु है। आमाशय से पक्वाशय का मास यथापूर्व गुरु है अर्थात् आमाशय का मास गुरु है और आमाशय से पक्वाशय का मास कम गुरु (हल्का या लघु) है।**

रक्तादि धातुओं का गुरुलघुत्वकथन—**रक्तादि धातुओं मे उत्तरोत्तर गुरुत्व जानना चाहिए जैसे कि रक्त से मास, मास से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र (वीर्य) गुरु है।**

अण्डकोषलिङ्गवृक्कयकृद्गुदादिमांस के गुण—**मास से अण्डकोष का, अण्डकोष से लिङ्ग का लिङ्ग से वृक्क का, वृक्क से यकृत् का और यकृत् से गुदा का मास गुरु है।**

इति मासवर्ग।

अथ शाकवर्ग।

शाकं पाठाशठीसू[1]षासुनिषण्ण[2]सतीनजम् ।
त्रिदोषघ्नं लघु ग्राहि सराजक्षववास्तुकम् ॥
सुनिषण्णोऽग्निकृद् वृष्यस्तेषु राजक्षवः परम् ।
ग्रहण्यर्शोविकारघ्नो वर्चोभेदि[3] तु वास्तुकम् ॥
हन्ति दोषत्रयं कुष्ठं वृष्या सोष्णा रसायनी ।
काकमाची सरा स्वर्या चाङ्गेर्यम्लाग्निदीपनी ॥
ग्रहण्यर्शोऽनिलश्लेष्महितोष्णा ग्राहिणी लघुः ।
पटोलसप्तलारिष्टशार्ङ्गेष्टा[4]वल्गुजामृता ॥
वेत्राग्रबृहतीवासाकुन्तली[5]तिलपर्णिका ।
मण्डूकपर्णी कर्कोटकारवेल्लकपर्पटाः ॥
नाडी कलायगोजिह्वावार्ताकं वनतिक्तकम् ।
करीरं कुलकं[6] नन्दी कुचैला[7] शकुलादनी ॥
कठिल्लं केम्बुकं[8] शीतं सकोशातककर्कशम् ।
तिक्तं पाके कटु ग्राहि वातलं कफपित्तजित् ॥

पाठादिशाकों के गुण—**अब प्रथम सामान्यत शाकों के गुणों को कहते हैं, जैसे कि पाठा (पाढ़), कचूर, सूषा (कसौदी का भेद), सुनिषण्ण (जल मे होनेवाली चौपतिया), विष्णु क्रान्ता (कोयल), दूधी और बथुवे का शाक त्रिदोषनाशक, हल्का और ग्राही है। इनमें भी चौपतिया अग्नि को प्रदीप्त करनेवाली तथा वृष्य है। दुद्धी मल को बाधनेवाली है और विशेषत बवासीर के विकार को दूर करती है। बथुआ मल को ढीला करनेवाला या फोडनेवाला है।**

मकोय के गुण—**मकोय का शाक त्रिदोषनाशक, कोढ़ को दूर करनेवाला, वृष्य, कुछ उष्ण, रसायन (जरा-व्याधिको दूर करनेवाला), दस्तावर और स्वर के लिए हितकारी है।**

चाङ्गेरी के गुण—**खट्टे चूके का शाक अम्ल (खट्टा), अग्नि प्रदीपन, ग्रहणी, अर्श, वातकफरोग में पथ्य, उष्णवीर्य, मल को बाधनेवाला और लघु है।**

पटोलादि शीतवीर्य शाकों के सामान्य गुण—**पटोल, सातला, नीम, अगारवल्ली, बावची, गिलोय, बेतका अग्रभाग, दोनों छोटी-बडी कटेरी, अडूसा, अजमोदा या जगली तिल, तिलपर्णी (ब्रह्मदण्डी-तिलकण्टक), ब्राह्मी, ककोड़ा, करेला, पित्तपापड़ा, मछेछी, गोभी (जङ्गली गोभी) बैंगन, चिरायता, कैर, कुलक, नन्दी, काली पाढ़, चुटकी, लाल पुनर्नवा (साटी-इटसिट), केम्बुक, तुरई, कमीला ये सब शीतवीर्य, पाक मे कटु, तिक्त, मल को बाधनेवाले, वायुकारक और कफपित्त को जीतनेवाले हैं। यह इनके सामान्य गुणो का वर्णन हुआ। अब इन्हीं के विशेष गुणों को कहते हैं।**

हृद्यं पटोलं कृमिनुत्स्वादुपाकं रुचिप्रदम् ।
पित्तलं दीपनं भेदि वातघ्नं बृहतीद्वयम् ॥

---

१ "धार्तराष्ट्रचकोराणां दक्षाणां शिखिनामपि । चटकानां च यानि स्युरण्डानि च हितानि च ॥ रेतःक्षीणेषु कासेषु हृद्रोगेषु क्षतेषु च । मधुराण्यविपाकीनि सद्योबलकराणि च ॥" इति (चरक सूत्र स्थानाध्याय २७)

१ शूषा २ सुनिषण्ड ३ वर्चोभेदी तु वास्तुक ४ शार्ङ्गाष्टा ५ वाशाकुतली ६ कूलक ७ कुवेला ८ केबुक इति पाठान्तराणि।

वृष तु वमिकासघ्नं रक्तपित्तहरं परम् ।
कारवेल्लं सकटुकं दीपनं कफजित्परम्[१] ॥
वार्ताकं कटुतिक्तोष्णं मधुरं कफवातजित् ।
सक्षारमग्निजननं हृद्यं रुच्यमपित्तलम् ॥
करीरमाध्मानकरं कषायं स्वादुतिक्तकम् ।
कोषातकावल्गुजकौ भेदनावग्निदीपनौ ॥
श्यामाशाल्मलिकाश्मर्यफञ्जीकर्णकयूथिका ।
वृन्दादनीचारिवृक्षबिम्बीतनिकवृक्षका ॥
लोध्र शणः कर्बुदार[२] ससेलुर्विषमुष्टिका ।
भल्लातक कोविदार कमलोत्पलकिंशुकम् ॥
पटोलादिगुणं स्वादु कषायं पित्तजित्परम् ॥

पटोलके गुण—पटोल का शाक हृदय के लिए हितकारी, कृमिनाशक, पाक में मधुर और रुचिकारक है। तन्त्रान्तर में लिखा है कि "परवल के पत्ते पित्तनाशक हैं, इसकी बेल (वल्ली) कफनाशक है, फल इसके त्रिदोष को हरनेवाले है और इस (परवल) का मूल विरेचक अर्थात् दस्तावर है।

दोनों प्रकार की कटेरी के गुण—छोटी और बडी इन दोनों कटेरियों का शाक पित्तकारक, जठराग्निप्रदीपक, दस्तावर और वायु को हरनेवाला है।

अडूसे के गुण—अडूसे का शाक वमन और खासी को दूर करनेवाला तथा रक्तपित्त के शमन करने में परम श्रेष्ठ है।

करेला के गुण—करेला रस में कुछ कटु, जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाला तथा परम कफनाशक है।

बैंगन के गुण—वार्ताक अर्थात् बैगन का शाक कटु तथा तिक्त रसवाला, उष्णवीर्य, मधुर, कफवातनाशक, किञ्चित् क्षारयुक्त, जठराग्निप्रदीपक, हृदय का हितकारी, रुचिकारक है और पित्त को बढानेवाला नहीं है।

करीर के गुण—कैर या टैंटीका शाक अफारा करनेवाला, कषाय-मधुर और तिक्त रसवाला है।

जङ्गली तोरई और बावची के गुण—कोशातकी (तोरई) और बावची ये दोनों मल को भेदन करनेवाली तथा जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाली है।

श्यामाशाल्मलि आदि के सामान्य गुण—श्यामा (निशोत), सेम्हल, गम्भारी, फञ्जी (भारङ्गी), कर्णक, मेथी, बन्दाक, कसेरू, कुन्दरु (बिम्बी), तनिकवृक्ष (तिनिश), लोध, सण, कचनार, लिहसोड़ा, विषमूषिका, भिलावा, काचनार, कमलोत्पल और ढाक के पुष्प इन सब का शाक पूर्वोक्त पटोलादि गण के गुणोंवाला, मधुर, कषाय और विशेषत पित्तको जीतने वाला है।

अब पूर्वोक्त इन शाकों में से कुछ के विशेष गुणों को कहते है।

बद्धमूत्रा सरा फञ्जी करीरं स्यादभीरुजम्।
सतिक्तं लघु चक्षुष्यं वृष्यं दोषत्रयप्रणुत् ॥

कुछ शाकों के विशेष गुण—फञ्जी (भारगी-फाज) बद्धमूत्र को शमन करनेवाली और दस्तावर है। अभीरुज करीरम् (सतावरी के अङ्कुर) ये कुछ तिक्त, लघु, नेत्रों के लिए पथ्य, वृष्य तथा त्रिदोषनाशक है।

तन्दुलीयो हिमो रूक्षः स्वादुपाकरसो लघुः ।
मदपित्तविषास्रघ्नो[१] मुञ्जातं वातपित्तजित् ॥
स्निग्धं शीतं गुरु स्वादु बृंहणं शुक्रकृत्परम् ।
पालक्या पिच्छिला गुर्वी श्लेष्मला भेदिनी हिमा ॥
मदघ्न्युपोदका चञ्चुर्ग्राही तौ पूर्ववत्तथा ।
विदारी वातपित्तघ्नी मूत्रला स्वादुशीतला ॥
जीवनी बृंहणी कण्ठ्या गुर्वी वृष्या रसायनी ।
चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी जीवन्ती मधुरा हिमा ॥
शाकाना प्रवरा न्यूना द्वितीया किञ्चिदेव तु ।
वातपित्तहरा भण्डी पर्वणी पर्वपुष्पिका ॥

चौलाईशाक के गुण—चौलाईका शाक शीतवीर्य, रूक्ष, पाक और रस में मधुर, लघु (हलका), मद-पित्त और विषविकार का शमन करनेवाला है।

मुञ्जातकन्द के गुण—मुञ्जात कन्द (जो कि काश्मीर देश में प्रसिद्ध है) का शाक वात पित्त को जीतनेवाला, स्निग्ध, शीतवीर्य, गरिष्ठ, मधुर, बृंहण और विशेषत वीर्यवर्धक है।

पालक का शाक—पिच्छिल, गुरु, कफकारक, दस्तावर और शीतल है।

पोईका शाक—मद (नशा) को दूर करनेवाला है

चञ्चुका शाक—मल को बाधनेवाला है। पोई और चञ्चु ये दोनों पूर्ववत् अर्थात् पालक के समान गुणवाले (पिच्छिल, गुरु, कफकारक, दस्तावर और शीतल भी) हैं किन्तु पालक दस्तावर है और चञ्चु मलावरोधक। यही पालक और चञ्चु मे भेद है। शेष गुण समान हैं।

विदारी शाक के गुण—विदारीकन्द का शाक वातपित्तनाशक, मूत्र को लानेवाला, मधुर, शीतल, जीवनप्रद, पुष्टिकारक, कण्ठ के लिए पथ्य, गुरु, वीर्यवर्धक और रसायन (बुढापा और रोग से बचानेवाला-पुरुष को वार्धक्य और रोग से मुक्त करने वाला) तथा बल्या इस पाठ से बलका देनेवाला है।

जीवन्ती शाक के गुण—जीवन्ती अर्थात् डोडी का शाक नेत्रों के लिए हितकारी, त्रिदोषको दूर करनेवाला, मधुर और शीतल है। इतना ही नहीं, जीवन्ती सब शाकों मे श्रेष्ठ है। दूसरी जीवन्ती मधुर नहीं होती है, वह इससे गुणो मे कुछ न्यून है।

भिण्डीका शाक-वातपित्तहारक है (इस लिए कि यह मधुर और शीतल होती है)। इन्दु भण्डी का अर्थ मञ्जिष्ठा

१ 'कफपित्तजित्' इति पाठान्तरम्। २ 'कच्छुदार, इति पाठान्तरम्। ३ 'पटोलपत्र पित्तघ्न वल्ली चास्य कफापहा। फल त्रिदोष शमन मूल चास्य विरेचनम्॥' इति।

१ 'विषाघ्न, इति पा० २ 'बल्या, इति पाठान्तरम् ३ "मुञ्जातक औत्तरापथिककन्द" इति चक्रदत्त। "कन्दविशेष काश्मीरे प्रसिद्ध" इति हेमाद्रि।

और पर्वपुष्पी का नागदन्ती (हस्तिशुण्डी) करता है परन्तु हमें तो भण्डी का अर्थ भिण्डी ही समुचित प्रतीत होता है।

पर्वणी-पर्वपुष्पिका शाक के गुण—पर्वणी और हाथीशुण्डी शाक के गुण भी भिण्डी शाक के तुल्य ही जानना चाहिए। पर्वणी हस्तिशुण्डी ही का एक भेद है।

कूष्माण्डतुम्बकालिङ्गकर्कार्वेर्वारुतिण्डिशम्[3] ।
तथा त्रपुसचीनाकचिर्भिटं[4] कफवातकृत् ॥
भेदि विष्टम्भ्यभिष्यन्दि स्वादुपाकरसं गुरु ।
वल्लीफलानां प्रवरं कूष्माण्डं वातपित्तजित् ॥
बस्तिशुद्धिकरं वृष्यं त्रपुसं त्वतिमूत्रलम् ।
तुम्बं रूक्षतरं ग्राहि कालिङ्गोर्वारुचिर्भिटम्[5] ॥
बालं पित्तहरं शीतं विद्यात्पक्वमतोऽन्यथा ।
शीर्णवृन्तं तु सक्षारं पित्तलं कफवातजित् ॥
रोचनं दीपनं हृद्यमष्ठीलानाहनुल्लघु ।

कूष्माण्ड आदि शाकों के गुण—कूष्माण्ड (कुम्हडा या कोहला), तुम्ब (मीठी तुम्बी-दूधिया), कालिङ्ग (तरबूज), कर्कारु (बहुत छोटा कुम्हडा), एर्वारु (खीरा ककडी), तिण्डिसी, चीना ककडी, खरबुजा, चिभडी (ककडी का एक भेद), ये सब कफ-वात-कारक, दस्तावर, अफारा लानेवाले, अभिष्यन्दि, पाक और रस मे मधुर तथा गुरु हैं। इस प्रकार इनका सामान्य वर्णन करके अब विशेष वर्णन करते है कि "वल्लीफलाना" अर्थात् बेल मे लगनेवाले फलों मे कूष्माण्ड सब से श्रेष्ठ है। कूष्माण्ड वातपित्त को जीतनेवाला, बस्ति (मूत्राशय) का शोधन करनेवाला और वृष्य (वीर्य को बढानेवाला) है।

खीरा ककडी के गुण—खीरा ककडी अति मूत्रल (मूत्र को अधिक लानेवाली) है।

तुम्बी के गुण - मीठा अलाबू-दूधिया विशेष रूक्ष एव मल को बाधनेवाला है।

तरबूज-खीरा ककडी और चिभडी—ये तीनों कच्चे पित्तनाशक और शीतल है। परन्तु ये ही पके हुए विपरीत गुणवाले अर्थात् पित्तकारक एव उष्णवीर्य होते है।

शीर्णवृन्त कालिङ्ग आदि के गुण—पक जाने के कारण शीर्ण वृन्त (बेल से आपो आप दूर हो जानेवाले) कालिङ्ग, उर्वारुक, कूष्माण्ड तथा चिभडी ये किञ्चित् क्षारसहित, पित्तकारक, कफवातहारक, रुचिकारक, जठराग्निप्रदीपक, हृदय को बल देनेवाले, अष्ठीला ओर आनाह रोग को दूर करनेवाले तथा लघु हैं। अरुणदत्त ने शीर्णवृन्त की व्याख्या कर्चरशाक की है और वह छोटी कचरी हो सकती है परन्तु हमने इसक व्याख्या इन्दु और हेमाद्रि के कथनानुसार की है।

मृणालबिसशालूकशृङ्गाटककशेरुका ।
नन्दीमाषककेलुटकौञ्चादनकलोड्यकम्[1] ॥
सतरूढं कदम्बं च रूक्षं ग्राहि हिमं गुरु ।
कदम्बनालिकामार्षकुटिञ्जरकतुम्बकम्[2] ॥
चिल्लीनिष्पावलट्वाककुरूढकगवेधुका ।
जातुका[3] सालकल्याणी त्रिपर्णी[4] पीलुपर्णिका ॥
कुमारजीव[5]लोणीका यवशाकं सुवर्चला ।
कुकुण्डनलिनीमुष्टवृकधूमकलक्ष्मणम्[6][7] ॥
आलुकानि च सर्वाणि तथा सूप्यानि रालकं ।
जीवन्तकश्चञ्चुपर्णी प्रपुन्नाटकुठेरकम्[8] ॥
स्वादु रूक्षं सलवणं वातश्लेष्मकरं गुरु ।
शीतलं सृष्टविण्मूत्रं प्रायो विष्टभ्य जीर्यति ।
स्विन्नं निष्पीडितरसं स्नेहाढ्यं नातिदोषलम् ॥

कमल-नाल आदि के गुण—कमल की नाल और मूल, सिंघाडा, कसेरू, नन्दी, माषक, केम्बुक का कन्द, कमलगट्टा, जगली चौलाई, कमलकन्द, कदम्ब इनके शाक, रूक्ष, ग्राही (मलको बाधनेवाले), शीतल और गुरु है।

कदम्बादि शाक के गुण—श्वेत कमल और उसकी नाल, माठ, जगली बथुवा, गूमा (द्रोणपुष्पी), श्वेत बथुआ, सेम (राजमाष-चवला), लट्वाक (करञ्जपत्र), कुरूढक, गवेधुक (गुर्चपत्र का शाक), जातुका (हिङ्गपत्र), त्रिपर्णी, हसपदी (कन्दशाक विशेष), शालकल्याणी, पीलुपर्णी (मोरटक-मूर्वा), कुमारजीव (पुत्रजीव-जियापोता), लोणी (नोनिया), यवशाक, हुलहुल, कुकुण्ड (ककरौंधा), कमलपत्र, राजसर्षप (राई-सरसों), मजीठ, पाकर (पर्कटी), सब प्रकार के आलु (आलु-रतालु-पिण्डालु), मूंग, मौठ और अरहर आदि की पत्तियाँ, सालई के पत्र, जीवन्तक, चञ्चुपर्णी, पॅवाड, श्वेत तुलसी, इन सबके शाक मधुर, रूक्ष, किञ्चित् नमकीन, वातकफकारक, गुरु, शीतवीर्य, मलमूत्र को लानेवाले तथा प्राय विष्टम्भी (अफारा करके फिर पचनेवाले) है परन्तु इनको स्वेदन कर (उबाल कर) पानी या रस निचोड लिया जाय और फिर घृत तेल आदि स्नेह से सयुक्त कर छौंके जावे या भून लिए जावे तो ये किसी प्रकार के दोषविशेष के करनेवाले नही होते है।

लघुपत्रा तु या चिल्ली सा वास्तुकसमा मता ।
तर्कारीवरुणं[9] स्वादु सतिक्तं कफवातजित् ॥
वर्षाभ्वौ कालशाकं च सक्षारं कटुतिक्तकम् ।
दीपनं भेदनं हन्ति गरशोफकफानिलान् ॥
दीपना कफवातघ्नाश्चिरबिल्वाङ्कुराः[10] सराः ।

१ "भण्डी मञ्जिष्ठा" इतीन्दु । "भण्डी स्वनामख्याता" इति चक्र ।

२ "पर्वणी-हस्तिशुण्डीति लोके" "पर्वपुष्पिका हस्तिशुण्ड्याम्,, इति वैद्यकशब्दसिन्धु ।

३ "कर्कारिर्वारुतिन्दिशम्,, इति पाठान्तरम् "तिन्दिशम्,, इति पा०

४ "चिर्भटं" इति पा० ५ 'कालिङ्गोर्वारुचिर्भटम्।

१ कलम्बु। २ माष। ३ यातुका। ४ श्रीपर्णी।

५ कुमारी। ६ कुश्माण्डवीणिनीस्वर्चावृकधूमकलक्ष्मणा।

७ लक्ष्मणा। ८ कुबेरकम्, ९ तकारी। १० चिरिबिल्वाकुरा इत्यादीनि पाठान्तराणि।

लघुरुष्णा सरा तिक्ता सोरुबूका च लाङ्गली ॥
वातलौ कटुतिक्ताम्लौ भेदिनौ तिलवेतसौ ।
तद्वत्पञ्चाङ्गुलो वशकरीरास्तु विदाहिन ॥
वातपित्तकरा रूक्षा कटुपाका कफापहा ।
बिल्वरास्नाबलाशाक वातघ्नमतिसारजित् ॥
वायु वत्सादनी हन्यात्कफ कंज्ञीरचित्रकौ ।
पत्तूरो दीपनस्तिक्त प्लीहार्श कफवातजित् ।
कृमिकासकफोत्क्लेदान् कासमर्दो जयेत्सर ।
रूक्षोष्णमम्ल कौसुम्भ गुरु पित्तकर सरम् ॥
सक्षारमधुर स्निग्धमुष्ण गुरु च सार्षपम् ।
शाकानामवर बद्धविण्मूत्र सर्वदोषकृत् ॥
यद्बालमव्यक्तरस किञ्चित्क्षार सतिक्तकम् ।
तन्मूलक दोषहर लघु सोष्ण नियच्छति ॥
गुल्मकासक्षयश्वासव्रणनेत्रगलामयान् ।
स्वराग्निसादोदावर्तपीनसाश्च महत्पुन ॥
रूक्षोष्ण कटुक स्वादु बिपाके सर्वदोपकृत् ।
गुर्वभिष्यन्दि च स्निग्धसिद्ध तदपि वातजित् ॥
वातश्लेष्महर शुष्क सर्वमाम तु दोषलम् ।
कटूष्णो वातकफहा पिण्डालु पित्तवर्धन ॥

श्वेत बथुवे के गुण—श्वेत बथुआ (चिल्ली) बथुवे के समान गुणवाला है।

अग्निमन्थ के गुण—तर्कारी, अरणी, अगेथु या अग्निमन्थ मधुर रसवाला, कुछ तिक्त और कफवात का हरनेवाला है।

बरना के गुण—वरुण वृक्ष या बरना अग्निमन्थ के समान गुणवाला है।

पुनर्नवा और कालशाक के गुण—श्वेत और रक्त दोनों प्रकार का पुनर्नवा (साटी-इटसिट) तथा कालशाक (नरिचा Asort of Pothorb) कुछ क्षारयुक्त, रस मे कटु और तिक्त, अग्निप्रदीपक, दस्तावर, गर (कृत्रिम विष) शोथ-कफ-वायु के रोग इनको नष्ट करनेवाले है।

लताकरञ्ज के गुण—लता-करञ्ज (करञ्जुआ) के अकुर जठराग्नि को बढानेवाले, कफ-वात-नाशक और दस्तावर हैं।

एरण्ड और लागली के गुण—एरण्ड और लाङ्गलकी (गज पीपल-वृष्टपर्णी या केवाच) के पत्र का शाक हल्का, उष्ण, दस्तावर तथा तिक्त रसवाला है।

तिल और अम्लबेतपत्र के गुण – जङ्गली या खेत मे बोए हुए तिल के पत्ते तथा अम्लबेत के पत्ते वायुकारक, कटु और तिक्त, दस्तावर एव अम्ल है।

लाल एरण्डपत्र के गुण—उपर्युक्त तिल और अम्लबेतपत्र के जो गुण है वे ही गुण लाल एरण्ड के पत्रों के शाक के हैं।

बास के अङ्कुरो का गुण—बास के अकुरों का शाक विदाही, वातपित्तकारक, रूक्ष, पाक के समय कटु एव कफ को दूर करनेवाला है।

१ सोरुपूका। २ गण्डीरचित्रकौ इति पाठान्तराणि।

बेल, रास्ना और खिरेटी के पत्तों का गुण—बेल, रास्ना तथा खिरेटी के पत्र वायु और अतिसार के हरनेवाले है।

गुडूची और बन्दाक के गुण—नीमगिलोय के पत्र या किसी वृक्ष का बादा वायुका नाशक है।

थूहर और चित्रक के गुण—थूहर और चित्रक का शाक कफ को हरता है।

पत्तूर के गुण—पत्तूर (शालिञ्च या जलपीपल) का शाक जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाला, तिक्त, तिल्ली-अर्श-कफ और वायु को शमन करता है।

कसौन्दी के गुण—कासमर्द या कसौन्दी का शाक क्रिमि-रोग-खासी-कफ का प्रकोप इनको जीतनेवाला है तथा दस्तावर है।

करड या कौसुम्भ का शाक—रूक्ष, उष्ण, अम्ल, भारी, पित्त-कारक और सर (दस्तावर) है।

सरसो का शाक—कुछ क्षारयुक्त, मधुर, स्निग्ध, उष्ण एव भारी है। इतना ही नही, सरसों के पत्तों का शाक सब शाकों से अवर (नेष्ट) है, मल-मूत्र को रोकनेवाला और त्रिदोष कारक है।

मूली के शाक के गुण—जो सूक्ष्म अर्थात् पतली हो, जिसमे कटु-मधुरादि रसों का ज्ञान न हो और जो कुछ क्षार और कुछ तिक्त रसवाली हो, ऐसी मूली त्रिदोषनाशक, लघु, कुछ उष्ण, गुल्म-खासी-क्षय-श्वास-व्रण-नेत्र-कण्ठरोग-स्वरभङ्ग-अग्निमान्द्य-उदावर्त और पीनस रोग को दूर करनेवाली है। स्थूल अर्थात् बडी मूली रूक्ष, उष्ण, कटु, विपाक मे मधुर, त्रिदोषकारक, गुरु और अभिष्यन्दी है परन्तु यही मूली यदि घृत-मास आदि स्निग्ध पदार्थो के साथ सिद्ध की हुई है तो वायु को हरनेवाली होती है। सब प्रकार की सूखी मूली वात और कफ को हरनेवाली है और कच्ची मूली त्रिदोषकारक है।

पिण्डालुशाक के गुण—पिण्डी जो ऊपर से पीली दिखाई देती है उसका शाक कटु, उष्ण, वात और कफ को दूर करनेवाला है और इसी प्रकार पित्त को बढानेवाला है। हेमाद्रि पिण्डालु वाराहीकन्द को[1] कहता है।

कुठेरशिग्रुसुरससुमुखासुरिभूस्तृणा ।
धान्यतुम्बुरुशैलेययवानीशृङ्गवेरका ॥
पर्णाशो गृञ्जनोऽजाजी[2] कण्डेरो जलपिप्पली ।
फणिज्जार्जकजम्बीरखराश्वा[3]कालमालिका ॥
दीप्यकक्षवकद्वीपीबस्तगन्धादि बद्धविट् ।
रसे पाके च कटुक दोषोत्क्लेदकर[4] लघु ॥
विदाहि रूक्ष तीक्ष्णोष्ण हृक्शुक्रकृमिनाशनम् ।
वर्गो हरितकाख्योऽयमुपदशेषु युज्यते ॥
वासनो व्यञ्जनाना च हृद्यो दीपनरोचन ।

१ 'पिण्डालु—वाराहीकन्द। स हि वक्त्रालुरुच्यते। उक्त स्वायुर्वेदप्रकाशे पण्डितकेशवेन 'वाराहीकन्द पिण्डालुस्तथा शबरकन्दक। प्रोक्तो मूलकमूलाभो वक्त्रालुरत्वक्छदस्तथा॥'' इत्यादि २ जीरक गजपिप्पली ३ खराह्वा ४ दोषोत्क्लेशकर इति पाठान्तराणि।

हरितक-वर्ग और उसके गुण—श्वेत तुलसी, सहजना, कृष्ण तुलसी, सुमुख (तुलसी का ही एक भेद), राई, भूस्तृण (एक प्रकार का सुगन्धित तृण), धनिया, तुम्बुरु, छारछरीला, अजवायन, अदरक, पर्णाश, गाजर, जीरा, स्याहजीरा, कण्डीर, जलपीपल, फणिज्जक, (लाल मिर्चा-मरुवा), आर्जक (खर पत्र-पोदीना), जम्भीरी नीबू, खराश्वा (अजमोदा), काल माला (कृष्णार्जक-पुदीने का एक भेद या वन-तुलसी), यवानी (अजवायन विशेष) चवक (राई का एक भेद), द्वीपी (चित्रक) और अजगन्धा आदि ये सब मल (पुरीष) को बाधनेवाले, रस और पाक मे कटु, दोषोत्क्लेदकर (वातादि दोषों को कुपित कर स्थान से विचलित करनेवाले), लघु, विदाही, रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण, दृष्टि-वीर्य-कृमिरोग इनको नष्ट करनेवाले है। कुठेर से लेकर बस्तगन्धा तक द्रव्यों का यह हरितक वर्ग कहलाता है। इस वर्ग का उपयोग भोजन के साथ के चटनी आदि शालनों के रूप मे किया जाता है[1] क्योंकि चटनी आदि मे सब सभार हरे ही लिए जाते है। इसी लिए इसका नाम हरितक वर्ग है। यह हरितक वर्ग भोजनोपयोगी सब व्यञ्जनों के लिए वासन (सब व्यञ्जनों को सुवासित करने वाला), हृदय को बल देनेवाला, अग्निप्रदीपक तथा रोचन (रुचिकारक) है।

सर्व सामान्य गुणों को कहने के अनन्तर अब इनमे से कुछ के विशेष गुणों को कहते हैं।

हिध्माकासविषश्वासपार्श्वरुक्पूतिगन्धहा ।
सुरस सुमुख[2] शोफगरहा धानका पुन ॥
कपायतिक्तमधुरा मूत्रला न च पित्तकृत् ।
खराश्वा[3] बस्तिशूलघ्नी चित्रको दीपनः पर[4] ॥
पत्रे सक्षारमधुरो मध्ये मधुरपिच्छिल ।
तीक्ष्णोष्णो लशुन कन्दे कटुपाकरसः सर ॥
हृद्य केश्यो गुरुर्वृष्य स्निग्धो दीपनपाचन[5] ।
भग्नसधानकृद्बल्यो रक्तपित्तप्रदूषण ॥
किलासकुष्ठगुल्मार्शोमेहक्रिमिकफानिलान् ।
सहिध्मापीनसश्वासकासान् हन्ति रसायनम् ॥
पलाण्डु[6]स्तद्गुणैर्न्यूनो विपाके मधुरस्तु स ।
कफ करोति नो पित्त केवलानिलनाशन ॥
दीपन सूरणो रुच्य कफघ्नो विशदो लघु ।
विशेषादर्शसा पथ्यो भूकन्दस्त्वतिदोषल ॥
पुष्पे पत्रे[7] फले नाले कन्दे च गुरुता क्रमात् ।
वरा शाकेषु जीवन्ती सार्षप त्ववर परम् ॥

तुलसी और वनतुलसी के गुण—तुलसी और वनतुलसी ये दोनों हिचकी, कास, विष, गर (कृत्रिम विष), श्वास, पसली की पीडा, सडियल दुर्गन्ध, सूजन इनको दूर करनेवाली है।

धनियाँ के गुण—हरी धनियाँ कषाय, तिक्त और मधुर, मूत्र को खोलनेवाली है और पित्तकारक नही है।

कलौजी-अजमोद-अजवायन के गुण—अजवायन, अजमोदा और कलौजी बस्ति (पेडू) के शूल को हरनेवाले है।

चित्रक के गुण—चित्रक जठराग्नि को प्रदीप्त करने मे सबसे श्रेष्ठ है।

लहसुन के गुण—लहसुन के पत्ते कुछ क्षारयुक्त और मधुर है, पत्तों के कठिन मध्यभाग मधुर एव पिच्छिल है तथा मूल या कन्द तीक्ष्ण और उष्ण है। लहसुन पाक और रस मे कटु, सर (सर्वस्रोतों मे प्रसरणशील और दस्तावर), हृदय के लिए हितकारी, केशों के लिए पथ्य (केशों को बढाने एव सुरक्षित रखनेवाला), गुरु, वृष्य (वीर्यप्रद), स्निग्ध, रुचिकारक, अग्निप्रदीपक, टूटी हुई अस्थियों को जोडनेवाला, बलदायक, रक्तपित्त को दूषित करनेवाला, किलास-श्वित्र (कुष्ठ के भेद), वातगुल्म-अर्श-प्रमेह-कृमि-कफ-वात-हिचकी-पीनस-श्वास और कास रोग को नष्ट करनेवाला तथा रसायन की तरह शरीर के लिए हितकारी है। साराश, लहसुन न जल्दी बुढापा आने देता और न रोगों को ही होने देता है।

पलाण्डु के गुण—प्याज अर्थात् कादा लहसुन के समान गुणवाला है अर्थात् उन्ही गुणो को कुछ न्यून प्रमाण मे करता है। प्याज विपाक मे मधुर, कफकारक है परन्तु पित्तकारक नही है। साराश, केवल वायु को नष्ट करता है किन्तु पित्त को नष्ट नही करता है।

सूरणकन्द के गुण—सूरण जठराग्नि को प्रदीप्त करता, रुचिकारक, कफनाशक, विशद, लघु और अर्श (बवासीर) रोग के लिए अति हितकारी (पथ्य) है।

भूकन्द के गुण—जो पृथ्वी को फाडकर वर्षाकाल मे छत्राकार सफेद उगता है, वह भूकन्द केवल त्रिदोष को बढाने वाला है।

पुष्प-पत्र-फलादि में उत्तरोत्तर गुरुता—शाकवर्ग मे शाकोपयोगी पदार्थ पुष्प, पत्र, फल, नाल और कन्द कहे गये है। इनमे पुष्प से पत्र, पत्रों से फल, फल से नाल और नाल से कन्द मे उत्तरोत्तर गुरुता होती है। भावार्थ यह है कि कन्द से नाल, नाल से फल, फल से पत्र और पत्र से पुष्प लघु (हल्का) होता है।

समस्त शाकों में श्रेष्ठाश्रेष्ठत्व—सब शाकों मे जीवन्ती अर्थात् डोडी का शाक उत्तम है और सबमे नेष्ट (हीन) शाक सरसों का है। साराश, जीवन्ती सर्वथा पथ्य तथा सरसों का शाक कुपथ्यकारक है।

इति शाकवर्ग ।

अथ फलवर्ग ।

अब यहाँ से आचार्य फलवर्ग का आरम्भ करते है। फलों मे भी सर्व श्रेष्ठ का निर्देश प्रथम करते हुए कहते है कि—

द्राक्षा फलोत्तमा वृष्या चक्षुष्या सृष्टमूत्रविट् ।
स्वादुपाकरसा स्निग्धा सकषाया हिमा गुरु ॥
निहन्त्यनिलपित्तास्रतिक्तास्यत्वमदात्ययान् ।
तृष्णाकासज्वरश्वासस्वरभेदक्षतक्षयान् ॥
उद्रिक्तपित्तान् जयति त्रिदोषान् स्वादु दाडिमम् ।
पित्ताविरोधि नात्युष्णमम्ल वातकफापहम् ॥

१ "अय च कुठेरादियों हरितकाख्यो वर्ग उपदशेषु युज्यते। उपदशो येन सहान्न भोक्तु युज्यते।" इतीन्दु। २ शोफगधहा ३ खराह्वा ४ परम् ५ रोचनदीपन ६ पलण्डु ७ पत्रे पुष्पे इति पाठान्तराणि।

सर्व हृद्य लघु स्निग्ध ग्राहि रोचनदीपनम्॥

दाख के गुण—द्राक्षा (अंगूर) सब फलों मे उत्तम, वृष्य, नेत्रों के लिए हितकारी, मल-मूत्र-प्रवर्तक, रस तथा पाक मे मधुर, स्निग्ध, कुछ कषायरसवाली, शीतल, गुरु, वात-पित्त रक्त-मुह का तिक्त (कडुआ) रहना-मदात्यय-तृष्णा-खाँसी-ज्वर-श्वास-स्वरभेद-उर क्षत और क्षय इन रोगों को दूर करती है।

विशेष वक्तव्य—यहा द्राक्षा को फलों मे उत्तम कहा है परन्तु सुश्रुत के कथनानुसार उत्तम फलों मे अर्थात् दाडिम, आवला, द्राक्षा, खजूर, फालसा, चिरौंजी और बिजौरा मे इसकी गणना होने से भावार्थ निकलता है कि उक्त उत्तम फलों मे से यह भी एक है। हेमाद्रि सब फलों मे द्राक्षा को उत्तमोत्तम मानते है। महर्षि चरक ने इसे उदावर्त, मुखशोष आदि हरनेवाली कहा है, वही भाव वाग्भट के द्राक्षा को स्निग्ध, वृष्य, मलमूत्र प्रवर्तिनी कहने मे आजाता है। उपर्युक्त गुण उत्तम द्राक्षाके है। हीन गुणवाली द्राक्षाकी कल्पना देश भेदसे कर लेनी चाहिए।

अनारके गुण दाडिम अर्थात् अनार पित्ताधिकसमस्त दोषों को जीतनेवाला, मधुर (मीठा) तथा पित्तका अविरोधी (न तो पित्तकारक और न पित्तका नाशक) है। खट्टा अनार कुछ उष्ण और वातकफका नाश करनेवाला है। सब प्रकारके अनार हृदयको बल देनेवाले, लघु, स्निग्ध, मलको बाधनेवाले, रुचिकारक तथा जठराग्निको प्रदीप्त करनेवाले है।

मोचखर्जूरपनसनारिकेलपरूषकम्।
आम्रातकतालकाश्मर्यराजादनमधूकजम्॥
सौवीरबदराङ्कोल्लफल्गुश्लेष्मातकोद्भवम्।
वातामाभिषुकाक्षोडमुकूलकनिकोचकम्॥
ऊरुमाण प्रियाल च बृंहण गुरु शीतलम्।
दाहक्षतक्षयहर रक्तपित्तप्रसादनम्॥
स्वादुपाकरस स्निग्ध विष्टम्भि कफशुक्रलम्[3]।

कदली आदि के सामान्य गुण—केला, खजूर या खारिक, पनस, नारियल, फालसा, अम्रातक या आम, ताल के फल, खम्भारी, खिरनी, महुआ के फल, सौवीर देश के बेर, बेल, अञ्जीर, लिसौडा, बादाम, अभिषुक (न्योजा), अखरोट, पिस्ता, निकोचक (पिस्ता का ही एक भेद), उरुमाण या ऊरुमाण (मायीफल), चिरौंजीदाना ये सब सामान्यत बृंहण (पुष्टिकारक) गुरु, शीतवीर्य, दाह-क्षत (उर क्षत)-क्षय इन रोगों के नाश करनेवाले, रक्त-पित्त-प्रसादन (रक्त पित्त को निर्मल करनेवाले) पाक और रस मे मधुर, स्निग्ध, विष्टम्भकारक, कफ और वीर्य को बढानेवाले है।

विशेष गुणकथन—सामान्य गुणों को कहने के अनन्तर अब इनमे से कुछ के विशेष गुणों को कहते है।

नारिकेल गुरु स्निग्ध पित्तघ्न स्वादु शीतलम्।
बलमासकर हृद्य बृंहण बस्तिशोधनम्॥
मोच स्वादुरस प्रोक्त कषाय नातिशीतलम्।
रक्तपित्तहर वृष्य रुच्य श्लेष्मकर गुरु॥
स्निग्ध स्वादु कषाय च राजादनफल गुरु।
फल तु पित्तल ताल सर काश्मर्यज हिमम्॥
शकृन्मूत्रविबन्धघ्न केश्य मेध्य रसायनम्।
मधूकजमहृद्य तु बदर सरणात्मकम्॥
वातामाद्युष्णवीर्य तु कफपित्तकर सरम्।
पर वातहर स्निग्धमनुष्ण च पियालजम्॥
पियालमज्जा मधुरो वृष्य पित्तानिलापह।
कोलमज्जा गुणैस्तद्वच्छर्दितृट्कासजिच्च स॥

नारियल के गुण—नारिकेल गुरु, स्निग्ध, पित्तघ्न, मधुर, शीतवीर्य, बल और मास को बढानेवाला, हृदय के लिए हितकारी, बृंहण और बस्ति-शोधन (मूत्राशय को शुद्ध करनेवाला) है।

कदली-फल के गुण—केले के फल रस मे मधुर, कषाय और कुछ शीतल, रक्तपित्तनाशक, वीर्यवर्धक, रुचिकारक, कफकारक और गुरु है।

खिरनी के गुण—राजादन के फल स्निग्ध, मधुर, कषाय और गुरु है।

ताड के फलों के गुण—तालफल पित्तकारक है।

खम्भारी-फलों के गुण—काश्मरी अर्थात् खम्भारी के फल सर (दस्तावर), शीतवीर्य, मल-मूत्र के अवरोध को दूर करनेवाले, केशों के लिए हितकारी, मेधावर्धक (बुद्धि को बढानेवाले) तथा रसायन (जरावस्था और व्याधि को दूर करनेवाले) है।

महुआ और बेर के गुण महुए के फल हृदय के लिए अहृद्य (अप्रिय) है और बदरीफल (बेर) दस्तावर है।

बादाम आदि के गुण—बादाम आदि (बादाम, न्योजा, अखरोट, पिस्ता आदि) उष्ण वीर्य, कफपित्तकारक और सर (दस्तावर) है परन्तु इनमे पियाल अर्थात् चिरौंजीदाना वातनाशक, स्निग्ध और अनुष्ण (शीतवीर्य) है। पियाल के बीज मधुर, वृष्य, पित्त और वात को हरनेवाले है।

बेर की गुठली के गुण—यद्यपि बेर की मज्जा पियालमज्जा के समान गुणकारी है तथापि यह वमन, प्यास और कास को जीतनेवाली है।

पक्वापक्व बादाम आदि में भेद बादाम आदि को पहले सामान्यतया शीतवीर्य कहे है और यहाँ उष्णवीर्य कह दिया है सो विरोध नही है। क्यों कि ऐसा बादाम आदि की पक्व

---

१ द्राक्षेति—'उत्तमेति सिद्धे फलग्रहणमुत्तमेभ्योऽप्युत्तमार्थम्। उत्तमा युक्तानि सुश्रुतेन-दाडिमामलक द्राक्षा खर्जूर सपरूषकम्। राजादन मातुलुङ्ग फलवर्गे प्रशस्यते॥" इति

२ "उदावर्तहरत्व चरकमुनिनाऽस्या उक्तम्। तच्च स्निग्धत्व-वृष्यत्वसृष्टविण्मूत्रत्वेनेहोक्तप्रायम्। अन्यासां च द्राक्षाणा गुणहीनत्व देशाद्यनुरोधात्कल्प्यम्" इत्यरुणदत्त।

३ 'कफशुक्रकृत' इति पाठान्तरम्।

और अपक्व अवस्था को लेकर कहा है अर्थात् बादाम आदि कच्चे शीतल है और पके हुए उष्ण है।

अब तैन्दू आदि फलों के सामान्य गुणों को कहते है।

तिन्दुकाश्मन्तकासीनफलिनीबिम्बतोदनम् ॥
टङ्काश्वकर्णबकुलगाङ्गेरुधवधन्वनम् ।
श्वेतपाककपित्थानि सिञ्चती भव्यजाम्बवम् ॥
क्षीरिवृक्षफल बीज पौष्कर कफपित्तजित् ।
कषायमधुर रूक्ष शीतल गुरु लेखनम् ॥
विबन्धाध्मानजनन स्तम्भन वातकोपनम् ।

तिन्दुकादि के गुण—तैन्दुआ, अश्मन्तक (अम्लोट), आसीन, प्रियङ्गु, बिम्ब (कुन्दू), तोदन (काश्मीर देश की एक इमली की जाति या शहतूत), टङ्क (नील कपित्थ), अश्वकर्ण (साल का फल Shored robuster), बकुल, गङ्गेरन, धव (धामन), धन्वन (धामन का ही एक भेद), श्वेतपाक, कैथ, सिञ्चती (पेमजी बेर), भव्य (कमरख), जाम्बव (जामुन), क्षीरिवृक्ष अर्थात् बड, गूलर, पीपल, प्लक्ष और बेतस के फल, पौष्कर (कमल गट्टे) ये सब कफ और पित्त को जीतनेवाले, कषाय और मधुर, रूक्ष, शीतवीर्य, गुरु, लेखन, मलावरोध और अफारा को करनेवाले, स्तम्भन और वायु को कुपित करनेवाले है।

गुण विशेष—सामान्य गुणों के अनन्तर अब इनमे से कुछ के विशेष गुणों को कहते है।

कपित्थमाम कण्ठघ्न कषायाम्ल त्रिदोषकृत् ॥
पक्व रुच्य कषायाम्ल स्वादु हिध्माबमिप्रणुत् ।
दोषघ्न खाडवारिष्टरागयुक्तिषु पूजितम् ॥
विषघ्नमुभय ग्राहि कपित्थान्येवमादिशेत् ।
बृहण वातपित्तघ्न स्निग्ध सिञ्चितिकाफलम् ॥
भव्य विशदमम्ल च जाम्बव त्वतिवातलम् ।
विष्टम्भकृदकण्ठ्य च साम्ल तु क्षीरिवृक्षजम् ॥
पित्तश्लेष्मघ्नमम्ल च वातल चाक्षकीफलम् ।

कपित्थ के गुण—कच्चा कैथ कण्ठघ्न (स्वरभेद कर्ता-कण्ठ के लिये अपथ्य) कषाय, अम्ल और त्रिदोषकारक है। पका हुआ कैथ रुचिकारक, कषाय, अम्ल, मधुर, हिचकी और वमन को दूर करनेवाला, त्रिदोषशामक, खाडव-अरिष्ट और राग की योजनाओं मे श्रेष्ठ है। कच्चे और पक्के कपित्थादि फलों को सामान्यतया विषनाशक और ग्राही (मल को बाँधने वाले) समझना चाहिए।

पेमजी बेर के गुण—पेमजी तथैव उन्नाव नामक मीठा बेर बृहण, वातपित्तनाशक और स्निग्ध है।

कमरख के गुण— भव्य अर्थात् कमरख के फल विशद तथा अम्ल है।

जामुन के गुण—जामुन के फल अति वातकारक, मलमूत्र का अवरोध करनेवाले और कण्ठ के लिये अपथ्य अर्थात् हितकारी नही है।

क्षीरिवृक्ष-फलों के गुण—बड, गूलर, पीपल, पाखर आदि क्षीरि वृक्षों के फल कुछ अम्ल रसवाले है और इनके गुण पूर्वोक्त समझने चाहिये।

बहेडे के फल के गुण—बहेडे के फल पित्त और कफ के नाशक अम्ल और वायुकारक है।

बाल कषायकट्वम्ल रूक्ष वातास्रपित्तकृत् ॥
सपूर्णमाम्रमम्ल तु रक्तपित्तकफप्रदम् ।
स्वादु साम्ल गुरु स्निग्ध मारुतघ्नमपित्तलम् ॥
हृद्य पर्यागत श्लेष्ममासशुक्रबलप्रदम् ।
सहकाररसो हृद्य सुरभिस्निग्धरोचन ॥
दीपन॰ पित्तवातघ्न शुक्रशोणितशुद्धिकृत् ।

कच्चे आम के गुण—कच्चा आम कषाय, कटु, अम्ल, रूक्ष, वातरक्त और पित्तकारक है। सभी प्रकार के आम अम्ल, रक्तपित्त तथा कफ के करनेवाले है। मधुर अर्थात् मीठे आम कुछ अम्ल, गुरु, स्निग्ध, वात और पित्त के शमन करनेवाले हैं। इतना ही नहीं, मधुर (मीठे) आम हृद्य है, वीर्य को तथा बल को देनेवाले है।

आमरस के गुण—आम का रस हृदय को हितकारी,[1] सुगन्धित, स्निग्ध, रुचिकारक, जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाला, पित्त और वात को शमन करनेवाला, वीर्य तथैव रक्त की शुद्धि करनेवाला है।

कषाय रोचन हृद्य वातल लवलीफलम् ॥
गुर्वग्निसादकृद्बिल्व दोषल पूतिमारुतम् ।
पक्व बाल पुनस्तीक्ष्ण पित्तल लघु दीपनम् ॥
वातश्लेष्मघ्नमुष्ण च स्निग्ध ग्राह्युभय परम् ।
वृक्षाम्ल ग्राहि रूक्षोष्ण लघु रोचनदीपनम् ॥
वातश्लेष्महर किञ्चिदून कोशाम्रज तत ।
फल करञ्ज विष्टम्भि पित्तश्लेष्माविरोधि च ॥
गुरूष्णमधुर रूक्ष केशघ्न च शमीफलम् ।
कटुपाकरस पीलु तीक्ष्णोष्ण भेदि पित्तलम् ॥
कृमिगुल्मोदरगरप्लीहार्श कफवातजित् ।
सतिक्त स्वादु यत्पीलु नात्युष्ण तत्त्रिदोषजित् ॥

हरफारेवडी के गुण—लवलीका फल रुचिकारक, हृदयके लिए हितकारी और वातकारक है।

बिल्वफलके गुण—पका हुआ बेलका फल गुरु, अग्निमन्द-कर्ता, त्रिदोषकारक और पूतिमारुतको करनेवाला अर्थात् दुर्गन्धयुक्त डकार और अपान वायु को लानेवाला है परन्तु बेल का कच्चा फल तीक्ष्ण, पित्तकारक, लघु, दीपन (जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाला) और वात तथा कफ को हरनेवाला है।

---

१ 'क्षीरिवृक्षभव, २ 'षाडवारिष्टरागयुक्तिषु, ३ 'कपित्थान्येव मादिशेत्, इति पाठान्तराणि।

१॰ 'दीपनरोचनम्, इति पाठान्तरम्।

२ 'पूतिमारुतम्-पूतिगुण दुर्गन्धकर च मारुतमुद्गारादौ, इती दु। 'पूतिमारुतम्—दुर्गन्ध्यधोवातप्रवर्त्तकम्, इति हेमाद्रि।

कच्चा और पका ये दोनों प्रकार के बेल के फल स्निग्ध एव परमग्राही (अतिमलावरोधक) है।

वृक्षाम्ल के गुण—तिन्तिडीक या कोकम के फल मल को बाँधनेवाले, रूक्ष, उष्ण, लघु, रुचिकारक और जठराग्नि प्रदीपक है।

आम की गुठली के गुण—कोशाम्र वृक्षाम्ल से कुछ हीनगुण, और वायु-कफ का नाशक है।

करञ्जफल के गुण—करञ्ज का फल अफाराकारक, पित्त और कफ का अविरोधी अर्थात् पित्त और कफ को नष्ट नही करता है।

शमीफल के गुण—शमी के फल (सागर या सागरी) गुरु, उष्ण, मधुर, रूक्ष एव केशघ्न (केशों का नाशकारी) है।

पीलु के फल के गुण—पीलु का फल पाक और रस मे कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, दस्तावर, पित्तकारक, कृमि-गुल्म-उदर-विष-प्लीह-अर्श-कफ और वातरोग का नाशक है परन्तु जो पीलु, कुछ तिक्त और मधुर है वह त्रिदोषनाशक है और अत्युष्ण भी नहीं है।

नीप शताह्विक प्राचीनामल तृणशूल्यकम् ।
अस्मादल्पान्तरगुणमैङ्गुद सविकङ्कतम् ॥
त्वक्तिक्ता कटुका स्निग्धा मातुलुङ्गस्य वातजित् ।
बृहणं मधुर मास वातपित्तहर गुरु ॥
लघु तत्केसर कासश्वासहिध्मामदात्ययान् ।
आस्यशोषानिलश्लेष्मविबन्धच्छर्द्यरोचकान् ॥
गुल्मोदरार्शःशूलानि मन्दाग्नित्व च नाशयेत् ।
भल्लातकस्य त्वङ्मास बृहण स्वादु शीतलम् ॥
तदस्थ्यग्निसम मेध्य कफवातहर परम् ।
स्वाद्वम्ल शीतमुष्ण च द्विधा पालेवत[1] गुरु ॥
रुच्यमत्यग्निशमन रुच्य मधुरमारुकम् ।
पक्वमाशु जरा याति नात्युष्ण गुरु दोषलम् ॥

कदम्ब आदि के गुण—कदम्ब, शतावरी, प्राचीन आमलक या पानीय आमलक और केतकी इनके फल पीलु से थोड़े अन्तरवाले है अर्थात् इनके गुण प्राय पीलु से ही जानने चाहिये। इसी प्रकार के गुणवाले इङ्गुदी (हिंगोट) और विकङ्कत के फल है।

बिजौरे के गुण—बिजौरे की त्वचा (फल की त्वक्) कटु, तिक्त, स्निग्ध और वायु को जीतनेवाली है। बिजौरे के फल का गूदा बृहण, मधुर, गुरु और वातपित्त को हरनेवाला है। बिजौरे की केसर लघु है तथा कास-श्वास-हिचकी-मदात्यय-मुखशोष-वायु-कफ-विबन्ध (अफारा-मलावरोध)-छर्दि-अरोचक-गुल्म-उदर-अर्श-शूल और मन्दाग्नि इन सब को हरनेवाली है।

भिलावा के गुण—भिलावे के फल की त्वचा और उसका गूदा बृहण, मधुर और शीतल है। उसकी गुठली अग्नि के समान उष्ण, मेधा को बढ़ानेवाली, कफ और वात को शमन करने मे परम श्रेष्ठ है।

दोनों प्रकार के आडू—मधुर, अम्ल, शीत, उष्ण और गुरु है। बडा आडू छोटे की अपेक्षा रुचिकारक, अत्यग्निशामक और मधुर है। हमारी एव हमारे कई मित्रों की सम्मति मे पालेवत ही आडू है। बडे और छोटे के भेद से इसकी दो जातिया आज वर्तमान है। हमने यही समझ कर यहा व्याख्या की है, परन्तु एक निघण्टुकार कहते है कि पालेवत द्वीपान्तरीय खजूर है। इन्दु अपनी व्याख्या मे आरुक, वीरसेन, वीराची और नारुक नाम से आडू की चार जातियाँ मानते है।

पका हुआ आडू—बहुत जल्दी पचता है और अति उष्ण, गुरु और दोषकारक नही होता है। भावार्थ यह है कि किञ्चित् उष्ण, गुरु और दोषकारक होता है।

द्राक्षापरूषक चार्द्रमम्ल पित्तकफप्रदम् ।
गुरूष्णवीर्यं वातघ्न सर सकरमर्दकम् ॥
तथाम्ल कोलकर्कन्धुलिकुचाम्रातकारुकम् ।
ऐरावत दन्तशठ सतूद मृगलिण्डिकम् ॥
नातिपित्तकर पक्व शुष्क च करमर्दकम् ।
दीपन भेदन शुष्कमम्लिकाकोलयो[2] फलम् ॥
तृष्णाश्रमक्लमच्छेदि लघ्विष्ट कफवातयो ।

आर्द्र द्राक्षादि के गुण—आर्द्र अर्थात् गीले या कच्चे द्राक्षा, फालसा और करौंदा अम्ल, गुरु, उष्णवीर्य, दस्तावर, पित्त-कफकारक तथा वात के नाशक हैं। इसी प्रकार कोलकर्कन्धु (बड़े और छोटे बेर), लिकुच (बड़हर), अम्बाड़ा, आडू, नारङ्गी, नीबू, शहतूत और मृगलिण्डिक (अम्ल फल विशेष) ये भी आर्द्र (कच्चे) हों तो द्राक्षापरूषकादि की तरह गुणोंवाले हैं।

पके और सूखे करौन्दा, बेर और इमली के गुण—पका और सूखा करौदा कुछ पित्तकारक है। सूखी इमली और बेर अग्नि-प्रदीपन, दस्तावर, तृष्णाश्रमग्लानिनाशक, लघु, कफ और वात में इष्ट अर्थात् कफवात को शमन करनेवाले है या कफ-वात रोगी के लिये पथ्य है।

अब त्याज्य फल, धान्य और शाक का वर्णन करते हैं—

फलानामवर तत्र लिकुच सर्वदोषकृत् ॥
हिमानलोष्णदुर्वातव्याललालादिदूषितम् ।
जन्तुजुष्ट जले मग्नमभूमिजमनार्तवम् ॥
अन्यधान्ययुत हीनवीर्यं जीर्णतयापि[3] च ।
धान्य त्यजेत्तथा शाक रूक्षसिद्धमकोमलम् ॥
असजातरस तद्वच्छुष्क चान्यत्र मूलकात् ।
प्रायेण फलमप्येव तथाऽऽम बिल्ववर्जितम् ॥

[1] 'पारावतम्' इति पाठान्तरम्।

[1] पालेवत —द्वीपान्तरीयखर्जूरी वृक्षे, इति वैद्यनिघण्टुकार। "आरुक वीरसेन च वीराची नारुक तथा। विद्याज्जातिविशेषेण तच्चतुर्विधमारुकम् ॥" इतीन्दु

[2] 'अम्लिकाकोलयो फलम्' इति पाठान्तरम्।

[3] 'जीर्णतयाति च, इति पाठान्तरम्।

त्याज्य फलानि—जैसे पहले फलों मे सबसे श्रेष्ठ द्राक्षा को कह आए है, उसी प्रकार सब फलों मे हीन या नेष्ट बडहर (लिकुच) का फल है क्योंकि वह सर्वदोषकृत् (वात-पित्त और कफ इन तीनो दोषों को करनेवाला) है।

जो धान्य हिम (कुहिरा या पाला) से, अनल (अङ्गार के लगने या दावाग्नि) से, उष्ण (अतिआतप) से, दुर्वात (पुरोवातादि) से, व्याल (सर्प) आदि की लार के लगने से दूषित हो, जिसमे जन्तु (घुण-कीडे) लग गये हों, जो जल मे डूबकर सड गया हो, और जो अभूमि अर्थात् विपरीत स्मशानादि दुष्ट भूमि में पैदा हुआ हो, जो विना ऋतु का अर्थात् जिस ऋतु मे प्रकृति से पैदा होता है उस ऋतु मे न होकर अन्य ऋतु मे उत्पन्न हुआ हो, जो अन्य (विजातीय धान्य) से युक्त हो (जैसे कि रक्तशालि यवक के साथ या मूग उडद के साथ) जो बहुत पुराना होने से हीन वीर्य हो गया हो ऐसे धान्य का कदापि सेवन नही करना चाहिए अर्थात् उसे त्याग देना चाहिए।

इसी प्रकार उस शाक को भी त्याग देना चाहिए जो रूक्ष सिद्ध (घृतादि स्निग्ध पदार्थों के साथ सिद्ध न करके रूक्ष ही पकाया गया हो), जो अकोमल (कच्चा रह जाने से कठोर या अधिक पका हुआ हो), असजातरस (जिसमे रस न हो अथवा अपरिपूर्ण स्वरूप जैसे कि नमक है तो मिर्ची नही है—मिर्ची है तो नमक-हल्दी धनियाँ आदि नही है) ऐसे तथा मूली के अतिरिक्त अन्य सूखे शाक को त्याग देना चाहिए। क्योंकि मूली सूखी भी गुणकारी है।

इसी प्रकार केवल कच्चे बेल को छोडकर अन्य समस्त कच्चे फलों का प्राय त्याग करना चाहिए। केवल बिल्वफल को कच्चा लेना चाहिए क्योंकि वह कच्चा ही त्रिदोष का नाशक है। यहाँ प्राय शब्द का प्रयोग इस लिए किया है कि धान्य शाकादिका सबन्ध रहता है, गूलर का फल सदैव जन्तु जुष्ट ही रहता है, कमलनाल सदा जल मे निमग्न (डूबी) ही रहती है, कुसुम्भ और गोधूम साथ मे ही होते है परन्तु ये सब काम मे आते है। ये सब पूर्वोक्त कथन के अपवादरूप है, इसी लिए यहाँ प्राय शब्द का प्रयोग किया गया है।

इति फलवर्ग ।

अब इस अध्याय का उपसहार करते हुए मात्रादि प्रकरण को कहते है।

शूकशिम्बिजपक्वान्नमासशाकफलाश्रयै ।
वर्गैरन्नैकदेशोऽय भूयिष्ठमुपयोगवान् ॥
निर्दिष्टो रसवीर्याद्यैर्यथास्व कर्मसाधने ।
न शक्य विस्तरेणापि वक्तु सर्व तु सर्वथा ॥
हिताहितत्वेऽप्येकान्तनियमोऽस्मादनिश्चित ।
मात्रायोगक्रियादेशकालावस्थादिभेदत ॥
ततस्ततो यतो दृष्टास्ते ते भावास्तथा तथा ।

अथ मात्रादिप्रकरण— रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव एव सस्कारादि द्वारा क्रियासाधन (अपने काम करने मे जिसका जिस जिस प्रकार से उपयोग हो सकता है) ऐसे प्ररमोपयोगी केवल अन्न के एक देश (आहार) का वर्णन यहाँ शूक धान्य, शिम्बि धान्य, पक्वान्न, मास, शाक और फलों के आश्रय से ६ वर्गों करके किया गया है। केवल थोडे मे एक देश का वर्णन इस लिए किया गया है कि-विस्तार करके भी कोई किसी सपूर्ण विषय का वर्णन कदापि नही कर सकता क्योंकि हिताहितत्व अर्थात् पथ्यापथ्यत्व मे भी कोई एक ही नियम निश्चित नही है। साराश वे भिन्न भिन्न भाव वैसे ही देखने मे आते है जैसे कि उनका मात्रा, सयोग, क्रिया, देश, काल स्वभाव और विषयावस्थादि भेद से उपयोग होता है। मात्रादि विशेषवशात् पथ्य भी अपथ्य मे और अपथ्य भी पथ्य मे परिणत हो जाता है। इसी लिए हिताहितत्व-विषय मे कोई भी एकान्त निश्चित नियम नही है, यह कहा गया है।

मात्रया सेवित मद्य हन्ति रोगास्तदुद्भवान् ।
निषेव्यमाण तिलशो विषमप्यमृतायते ॥
हीनातिमात्रमशन मरुन्निचयकोपनम् ।
भजतो विषरूपत्व तुल्याशे मधुसर्पिषी ॥
क्षारोऽम्लरससयोगे मधुरीभवति क्षणात् ।
उत्तुण्डक्यास्तिन्दुकेन तिक्तता मधुरायते ॥
हिङ्गुगैरिकसिन्धूत्थ गन्धवर्णरसाधिकम् ।
पूगताम्बूलशखेभ्यो वर्णगन्धरसोद्भव ॥
कोद्रवो हन्त्यसृक्पित्त करोत्येव विदाहिभि ।
कुष्ठ तत्कार्यपि तिलो हन्ति भल्लातकै सह ॥
गुड कर्ताग्निसादस्य स हिनस्त्यभयादिभि ।
तृष्यत्यग्ने समदन सर्पिरप्युपदिश्यते ॥
जीवनीयमपि क्षीर विषलेशेन मृत्यवे ॥
तुल्ये अपि हतोऽन्योऽन्य विषे स्थावरजङ्गमे ।
सक्तवो वातला रूक्षा पीतास्ते तर्पयन्ति तु ॥

उपयुक्त मात्रा के गुण— उपयुक्त मात्रा मे सेवन किया हुआ विष भी अमृत का काम करता है और अनुपयुक्त या अति मात्रा मे प्रयुक्त किया हुआ अमृत भी विष हो जाता है। इस लिए मात्रा, सयोग आदि का विचार करना नितान्त आवश्यक है अत अब इस विषय को विस्तारपूर्वक तथा उदाहरण-सहित कहते है।

विज्ञों से छिपा नही है कि मद्य मादक है परन्तु यही मद्य उपयुक्त मात्रा से सेवन किए जाने पर उसी से होनेवाले मदात्ययादि रोगों को दूर कर देता है। विष मारक है परन्तु यही एक एक तिल की मात्रा के क्रम से सेवन किये जाने पर अमृत का काम करता है। आहार ही मनुष्य के लिए या प्राणीमात्र के लिए स्वास्थ्यकर (स्वाथ्य को ठीक रखनेवाला) है। हीनाधिक मात्रा के दोष—उचित मात्रा को छोडकर यदि इसी का हीनाधिक मात्रा मे सेवन किया जाता है तो वायु के सचय और प्रकोप को करता है। हीन मात्रा मे सेवन किया जाता है तो वायु को कुपित करनेवाला होता है और यदि अधिक मात्रा में सेवन किया जाता है तो यह तीनों दोषों को कुपित कर देता है। मधु और घृत ये दोनों समान मात्रा मे विष के रूप में परिणत होते है। ये मात्रा विशेष के उदाहरण हैं।

और कुछ उदाहरण—चार अम्लरस के मिलाने से क्षण भर में मधुर रस के भाव को प्राप्त हो जाता है। उत्तुण्डकी[1] (करञ्ज) तिन्दुक (तेन्दू) के सयोग से तिक्तता को छोड देती है अर्थात् मीठी हो जाती है। हीग, गेरू और सैन्धव नमक इन तीनों के मिलने से गन्ध, वर्ण और रस में अधिकता आ जाती है। हीग से गन्ध में, गेरू से वर्ण मे तथा सैन्धव से रस में अधिक भाव प्राप्त होता है। सुपारी, कत्था, चूना तथा पान के सयोग से वर्ण, गन्ध और रस की उत्पत्ति हो जाती है। कोद्रव (कोदो धान्य) रक्तपित्तनाशक होते हुए भी विदाही पदार्थों के साथ रक्तपित्तकारक होते हैं। तिल कुष्ठ रोग को करनेवाले होने पर भी भिलावे के साथ कुष्ठ को दूर करनेवाले होते है। गुड अग्निमन्द करता है परन्तु हरीतकी आदि के साथ प्रयुक्त करने से अग्निप्रदीपक होता है। तृषा-रोग मे अति अग्निप्रदीपन होते हुए भी घृत, मोम (मधूच्छिष्ट) के साथ पथ्यकारक होते है। दूध जीवनदान देनेवाला होता हुआ भी विष के साथ मृत्यु का कारण होता है। स्थावर और जङ्गम ये दोनों प्रकार के विष मारक है परन्तु दोनों सम मात्रा मे साथ होने से तारक हो जाते है। साराश, स्थावर विष का रोगी जगम विष के सयोग से और जगम विषवाला स्थावर विष का सयोग पाते ही विष से मुक्त होकर बच जाता है। सत्तू वातकारक और रूक्ष होता हुआ भी जल के साथ पिया जाय तो बडा तृप्तिकारक होता है। ये सब सयोग विशेष के उदाहरण है।

विनापि चोपयोगेन मणिमन्त्रादि कार्यकृत् ।
आर्द्रकाज्जायते शुण्ठी सस्कारेण लघीयसी ॥
लघुभ्योऽपि हि सक्तुभ्यो गुरव सिद्धपिण्डिका. ।
भृष्ट क्षुण्णोऽपि पृथुको रक्तशालेर्लघोर्गुरु ॥
शालि पिष्टो गरीयस्त्व गोधूमादपि गच्छति ।
लघुपित्तहरा लाजा व्रीहितो गुरुपित्तलात् ॥
सग्राहिणो लघोर्मुद्गात्कुल्माषो भेदनो गुरु ।

स्वभावविशेष—गुडूची आदि औषधियों की तरह उपयोग न करके भी मणिमन्त्रादि ज्वरादि रोगों को शमन करने का कार्य करते है। यह स्वभावविशेष का उदाहरण है।

सस्कारविशेष—अदरख से ही सोंठ बनती है परन्तु वह उसकी अपेक्षा बहुत हल्की होती है। इसी प्रकार हल्के सत्तुओं से सिद्ध की हुई पिण्डी गुरु (भारी) होती है। लघु रक्तशालि (साठी चावल) से भूना एव कूटा हुआ पृथुक अर्थात् पोहा गुरु होता है। हल्का चावल पीसा जाने पर गेहू से भी अधिक गुरु हो जाता है। गुरु और पित्तकारक धान से लाजा लघु तथा पित्तहारक होता है। सग्राही और लघु मूग से बना हुआ कुल्माष (काजी या अर्धस्विन्न मूग) गुरु और दस्तावर होता है। ये सब सस्कारविशेष के उदाहरण है।

आम ग्राहितर तक्र तत्खलीकृतमन्यथा[2] ।
गुडात्तोयाच सुतरा मूत्रल गुरुपानकम् ॥
गरीयो गुडदध्युत्थ[3] रसाला चातिशुक्रला ।
दण्डाभिमथनाद्ध्नो गुरुणश्चातिशोफदात् ॥
अनुद्धृतस्नेहमपि तक्र शोफहर लघु ।
सर्पि स्निग्धतर हन्ति नार्दित नवनीतवत् ॥
चक्षुष्योऽपि हि गोधूमस्तैलपक्वस्तु दृष्टिहा ।
मूलक दोषजनन स्निग्धसिद्ध[1] त्रिदोषहम् ॥
उष्ण विषीभवत्येव विषघ्नमपि माक्षिकम् ।
दुर्भाजनस्था द्राक्षाम्ला दोषला च प्रजायते ॥
श्लक्ष्णशुष्कघनो लेपश्चन्दनस्यापि दाहकृत् ।
त्वग्गतस्योष्मणो रोधाच्छीतकृत्त्वन्यथागुरो ॥
मेध्यस्तिल स्पर्शशीतो[2]ऽमेध्य तैल खलो[3]ऽहिम ॥
तस्यैव श्लेष्मकारित्व न तैलस्य खलस्य वा ।
दध्नि श्वयथुकारित्व न तक्रनवनीतयो ॥

क्रिया एव स्वभावविशेष—कच्ची मही (छाछ—तक्र) अति ग्राही होने पर भी वह खलीकृत (पकाया हुआ) ग्राही नही रहता। अदरक शुण्ठी के रूप मे परिणत हो जाने पर अति सग्रहण होता है। ये सस्कारविशेष के उदाहरण है। गुड और जल ये दोनों मूत्रल है परन्तु इन दोनों से दधियुक्त बनाया हुआ पानक अतिमूत्रल होता है। यह सस्कार—सयोगविशेष का उदाहरण है। गुडदधियुक्त पानक अतिमूत्रल होता है। परन्तु गुड दधि से बनी रसाला गुरु एव अतिवीर्यकारी होती है। दही शोथकारक तथा अति गुरु है परन्तु उसी की दण्ड-मन्थानकद्वारा मथकर बनाई हुई छाछ चिकनाई न निकाली हुई शोथ को दूर करनेवाली तथा लघु होती है। घृत अति स्निग्ध होते हुए भी अर्दित रोग को नही मिटाता जैसे कि नवनीत (नौनी या मक्खन) मिटा सकता है। ये क्रियाविशेष एव स्वभावविशेष के उदाहरण हैं।

गोधूम (गेहू) चक्षुष्य अर्थात् नेत्रों के लिए हितकारी है परन्तु यही तेल के साथ पका हुआ होने से दृष्टि को नाश करनेवाला होता है। मूली का शाक दोषों को कुपित करने वाला है परन्तु वही स्नेह-सिद्ध (घृतादि के साथ पकाया हुआ) दोषों को कुपित न करके त्रिदोषशामक होता है। इसी प्रकार मधु (शहद) विष का नाशक होने पर भी उष्ण करने पर विष हो जाता है। ये सस्कारविशेष के उदाहरण हैं। दोषों को हरनेवाली द्राक्षा दुर्भाजन (लोह आदि के बने हुए बर्तन) मे रखने से खट्टी और दोषों को कुपित करनेवाली बन जाती है। चन्दन दाहशामक है परन्तु उसी का श्लक्ष्ण (बारीक) सूखा हुआ गाढ़ा लेप दाह को करनेवाला होता है। इस लिए कि वह त्वचागत दाह को अपने परिशुष्क घनत्व से रोकनेवाला हो जाता है। इसके विपरीत उष्णवीर्य होकर भी अगर का अश्लक्ष्ण—गीला और पतला लेप शीतकृत् अर्थात् दाहशामक होता है। तिल मेध्य (पुष्टिकर) और स्पर्शशीत है परन्तु उसी से निकला हुआ तेल तथा खल अमेध्य (अपुष्टिकर) और अहिम (उष्ण) होता है क्योंकि श्लेष्मकारित्व तिल मे ही रहता है न कि तेल और खली में।

१ 'उत्तुण्डकी करञ्जके' इति वैद्यनिघण्टु ।
२. 'नागरीकृतमार्द्रकम्' इति पा०। ३ 'गुडदध्युत्था' इति पा०।

१ 'सिद्धन्तु' इति पा०। २ 'मध्यम्' इति पा०।
३ 'हिम' इति पा०।

इसी प्रकार जैसे कि शोथकारित्व दही में रहता है वैसे तक्र और नवनीत मे नहीं रहता। यह भी क्रिया-स्वभावविशेष का उदाहरण है।

अब देशसात्म्यादि के उदाहरणों को कहते हैं—

भूमिसात्म्य दधिक्षीरकरीर मरुवासिषु ।
क्षार' प्राच्येषु मत्स्यास्तु सैन्धवेष्वश्मकेषु तु ॥
तैलाम्ल कन्दमूलादि मलये कोङ्कणे पुन ।
पेया मथ उदीच्येषु गोधूमोऽवन्तिभूमिषु ॥
बाल्हीका बालवाश्चीना' शूलीका यवना शका ।
मासगोधूममार्द्वीकशस्त्रवैश्वानरोचिता ॥
देहसात्म्य घृत क्षीर मद्य मास च कस्यचित् ।
पेया यूषो रसोऽन्यस्य गोधूमोऽन्यस्य शालय ॥
अहितैरपि तेषा च तैरेवोपहित हितम् ।

देश और देहसात्म्यकथन—अपथ्य होते हुए भी दही, दूध और करीर (कैर) मारवाड मे रहनेवालों के लिए पथ्य है सात्म्य हैं। इसी प्रकार प्राच्य (पूर्व) देश में रहनेवालों के लिए क्षार, सिन्धुदेशवासियों के लिए मछली, अश्मकदेश वासियों को तेल और खटाई, मलयपर्वतपर रहनेवालों के अर्थ कन्द, मूल आदि, कोङ्कणदेशवासियों को पेया, उत्तरदेश वासियों को मन्थ, अवन्ति (उज्जयिनी या मालवा) देश वासियों को गेहू पथ्य है और इसी प्रकार बाल्हीक (बलख), बाल्हव (बलूच), चीन, शूलीक, यवन और शक इनको मास, गेहू, दाख (अगूर) ये सब अपनी अपनी जठराग्नि के अनुसार उचित पथ्य हैं। ये सब भूमि या देशसात्म्य के उदाहरण हैं। किसी को घृत, किसी को दूध, किसी को मद्य, किसी को पेया तो किसी को यूषरस पथ्य होता है। किसी को गेहू पथ्य है तो किसी को चावल हितकारी है। अहितकारी तथा अपथ्य पदार्थ भी सात्म्य होने से पथ्य हो जाते है। ये देहसात्म्य के उदाहरण बताए गये है।

अन्नपानौषध दोषमात्राकालाद्यपेक्षया ॥
सात्म्य ह्याशुबल धत्ते नातिदोष च बह्वपि।
स्रसन सत्पयो गव्य भवति ग्राहि कस्यचित् ॥
मन्दोऽग्निर्भवति प्राय कफवातोत्तरे हिमे।
विषघ्नेनापि पयसा देहेऽहेर्वर्धते विषम् ॥
स्थूलस्थविरबालादौ वमनादिर्निषिध्यते ।
तक्रभाम कफ कोष्ठे हन्ति कण्ठे करोति तु ॥
वातहृत्त्वेऽपि मृद्वीकाखर्जूर कोष्ठवातकृत्।
नातिपथ्य शिखी पथ्य श्रोत्रस्वरवयोदृशाम् ॥
दृष्टे स्पर्शाहिम द्रव्य श्रोत्रस्योष्ण तु पूजितम्।
पय स्वादु सर शीत विपरीत ततो दधि ॥
कालेन जायते तस्मात्क्षीरवच्च पुनर्घृतम् ।
वयो दधि च वातघ्नमजात वातल तु तत् ॥
तक्र ग्राहि कषायाम्लमम्लमेव तु भेदनम्।
धातकीगुडतोयानि कारण मद्यसुक्तयो ॥
शीते न तु तदाद्यन्ते स्निग्धाम्ललवणा हिता।

उदमन्थदिवास्वप्नौ ग्रीष्मादन्यत्र गर्हितौ ॥
समयोगेऽपि घर्माद्या वातादिचयहेतव ।
आश्च्योतनमभिष्यन्दे युञ्जीतोर्ध्व दिनत्रयात् ॥

सात्म्यासात्म्यकथन—दोष (वात, पित्त, कफ), मात्रा और काल (शीत-उष्ण-वर्षा) की अपेक्षा करके अन्न, पान और औषध ये सात्म्य होते हुए बल को बढानेवाले होते है। साराश यह कि दोष-काल आदि में असात्म्य माने हुए अन्नपान और औषध सात्म्य हो जानेपर (ओकससात्म्यतया) सात्म्य ही होते हैं। सात्म्य हो जाने से अधिक मात्रा मे सेवित भी अन्न-पान-औषध अतिदोषकारक नहीं होते अपितु किञ्चित् दोषकारक ही रहते हैं। स्रसन (सारक) होते हुए भी किसी के लिए गाय का दूध मलावरोध करनेवाला होता है। शीतकाल अग्निप्रदीपक होते हुए भी कफ औरवायु की अधिकता होने से अग्निमान्द्य करता है। दूध विषको दूर करनेवाला होते हुए भी सर्प के देह में गया हुआ विषको बढानेवाला होता है। वमनविरेचनादि समस्त दोषों के शमनकारक होते हुए भी स्थूल, वृद्ध और बालक आदि के लिए वर्जित है। कच्ची मही (तक्र) कोष्ठगत कफ को दूर करता है परन्तु वही कण्ठ मे कफ को करता है। द्राक्षा और खजूर वातहारक होने पर भी वह कोष्ठ (पेट) मे वायु को करती है। ये स्वभावविशेष के उदाहरण है।

अपथ्य भी पथ्य— मयूर (मोर) स्वास्थ्यविषय मे अतिपथ्य नही है परन्तु वही कान, स्वर, वय और नेत्रों के लिये पथ्य है। यह विषयविशेष (स्थानविशेष) का उदाहरण है। हिम द्रव्य तेज का विपरीतार्थकारी होने पर भी तेजोभव दृष्टि के लिये उसका स्पर्श पथ्य है। उष्ण वायु का नाशक है परन्तु वायव्य कानों के लिये वह पथ्य है। यह स्वभावविशेष का उदाहरण है। दूध, मधुर, दस्तावर और शीत है परन्तु उसी से बना हुआ दही इससे विपरीत अम्ल, ग्राही और उष्ण होता है। कालान्तर से उसी दही से बना हुआ घृत पुन दूध के समान गुणवाला होता है। ये अवस्थाविशेष के उदाहरण हैं। दूध और दही ये दोनों वातघ्न है परन्तु उसी दही से अजात अर्थात् फटा हुआ दूध या दही वातकारक होता है। यह भी अवस्थाविशेषवश होता है। तक्र कषाय, अम्ल और ग्राही (मलावरोधक) है परन्तु वही केवल अम्ल होने से भेदन (दस्तावर-मल को फोड़नेवाला) होता है। यह भी अवस्थाविशेष की बात है। धातकी, गुड और जल ये मद्य और सुक्त के कारण होते हैं। वस्तुत मद्य और सुक्त भिन्न है परन्तु इनके कारण धातकी आदि एक ही हैं। यह सस्कारकालविशेष के कारण होता है। शीतकाल मे स्निग्ध, अम्ल और लवण पथ्यकारक होते हुए भी ये शीतकाल के आदि और अन्त मे अपथ्य होते हैं। यह कालविशेष का उदाहरण है। इसी कालविशेष के कारण बहुद्रव सत्तू और दिन मे शयन ये ग्रीष्म ऋतु के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं मे गर्हित (वर्जित या अपथ्य) है। ग्रीष्म आदि ऋतु समयोग मे भी क्रम से वात-पित्त-कफ के सचय की कारण बनती हैं। यह सब कालस्वभावविशेष से होता है।

ऋतुष्वन्यो रसेष्वन्यो रौक्ष्ये स्नेहे बले क्रम ॥

रसायन काकमाची सद्य पर्युषिता विषम् ।
मूलक दोषजिद्बाल विपरीत तु कन्दवत् ॥
ज्वरे पेया कषायाश्च सर्पि क्षीर विरेचनम् ।
षडह षडह युञ्ज्याद्वीक्ष्य दोषबलाबलम्[1] ॥
छर्दिहृद्रोगगुल्मार्ते वमन च चिकित्सिते ।
निषिद्धमपि निर्दिष्ट बस्तिरर्शसकुष्ठिनो ॥
ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्व प्रमेहे तुल्यदूष्यता ।
रक्तगुल्मे पुराणत्व सुखसाध्यत्वहेतव ॥

ऋतु और रसपरत्व रौक्ष्य, स्नेह और बल का क्रम—हेमन्त आदि ऋतुओं तथा मधुरादि रसों मे रौक्ष्य, स्नेह और बल का क्रम भिन्न २ रहता है। यथा—

रौक्ष्य का क्रम—शिशिर ऋतु का रौक्ष्य किञ्चित् रहता है, वही वसन्त मे उससे अधिक और ग्रीष्म मे उससे भी अधिक होता है। वही रौक्ष्य वर्षा मे कुछ कम, शरद् में उससे कम और हेमन्त में इससे भी कम हो जाता है। यह रौक्ष्य-क्रम हुआ।

स्नेह का क्रम—वर्षा ऋतु में किञ्चित् स्नेह रहता है, वही शरद मे उससे अधिक और हेमन्त मे उससे भी अधिक हो जाता है। वही शिशिर मे कुछ कम, वसन्त मे उससे कम और ग्रीष्म मे उससे भी कम हो जाता है। यह स्नेह अर्थात् स्निग्ध का क्रम हुआ।

बल का क्रम—शिशिर मे अधिक बल रहता है, वसन्त में उससे कम अर्थात् मध्यम और वही ग्रीष्म मे उससे कम अर्थात् हीनबल होता है। वही वर्षा में न्यून बल होता है, शरद् मे मध्यम बल अर्थात् वर्षा से कुछ अधिक और वही हेमन्त मे अधिक बल हो जाता है।

इस प्रकार ऋतुपरत्व रौक्ष्य, स्नेह और बल के क्रम को कहकर अब मधुरादि रसपरत्व रौक्ष्य, स्नेह और बल के क्रम को कहते है। यथा—

रसपरत्व रूक्षक्रम—तिक्त, कटु और कषाय ये उत्तरोत्तर रूक्ष हैं अर्थात् तिक्त किञ्चित् रूक्ष है, कटु उससे कुछ अधिक रूक्ष और कषाय इस कटु रस से भी अधिक रूक्ष है। यह रस-परत्व रूक्षक्रम हुआ।

रसपरत्व स्नेहक्रम—पूर्वोक्त तिक्त, कटु और कषाय जैसे उत्तरोत्तर रूक्ष हैं इसी प्रकार मधुर, अम्ल और लवण ये यथापूर्व स्निग्ध है अर्थात् लवण किञ्चित् स्निग्ध है, अम्ल इससे अधिक स्निग्ध है और मधुर इससे भी अधिक स्निग्ध है। यह रसपरत्व स्निग्धक्रम हुआ।

रसपरत्व बलक्रम—मधुर अति बल्य है तो अम्ल इससे न्यून बल्य है और लवण इससे भी न्यून। लवण से तिक्त, तिक्त से कटु और कटु से कषाय न्यून बल्य है। साराश, मधुरादि रस उत्तरोत्तर हीनबल है अर्थात् रसों मे सबसे अधिक बलवान मधुर रस है और कषाय रस सब रसों से हीन बलवाला है।

[1] 'रोगबलाबलम्' इति पा०।

रौक्ष्यस्नेहादि में ऋतुकारण—यह सब कुछ स्वभावविशेष से होता है। निष्कर्ष यह है कि ऋतुविशेष के आश्रय से ही रसों का रौक्ष्य-स्नेहसपादन होता है। इसी को कालस्व-भावविशेष कहते है। हेमन्त ऋतुमे मधुर जितना स्निग्ध होता है उतना स्निग्ध वह अन्य ऋतुओं में नही रहता। अम्ल रस स्निग्ध है परन्तु वही वर्षा ऋतु मे अति-स्निग्ध हो जाता है। लवण स्निग्ध होते हुए भी शरद् ऋतु मे अति स्निग्ध होता है। तिक्त रूक्ष है वही शिशिर मे अतिरूक्ष हो जाता है। कटु की रूक्षता ग्रीष्म मे अधिक बलवान् हो जाती है इसी प्रकार कषाय रस वसन्त मे बलवान् हो जाता है। इस प्रकार यह रसों का ऋतुपरत्व स्नेहरूक्ष को लेकर वैशिष्ट्य बताया गया।

बल के क्रम मे भी ऋतुपरत्व इसी प्रकार व्यभिचार होता है। यथा अम्लादि से बलवान् मधुर वसन्त मे अतिबलवान् होता है। अम्ल और मधुर से न्यून बल होते हुए भी लवण रस शरद् मे अधिक बलवाला हो जाता है। मधुर, अम्ल और लवण इनसे न्यून बलवाला होकर भी तिक्त रस शिशिर में अधिक बलवान् होता है। मधुरादि से हीन बलवाला कटु रस ग्रीष्म मे तथा मधुरादि से हीन बलवाला कषाय वसन्त ऋतु मे अधिक बलवान् हो जाता है।

अवस्थाविशेष—काकमाची (मकोय) तुरन्त सिद्ध की हुई रसायन (जराव्याधि की दूर करनेवाली) होती है परन्तु वही एक दिन की बासी (पर्युषिता) होने से विष के तुल्य हो जाती है। यह अवस्थाविशेष का उदाहरण है।

जातिविशेष—बाल मूली त्रिदोषहारिणी है परन्तु वही कन्दवत् होने से त्रिदोषकारिणी होती है। यह जातिविशेष का उदाहरण है।

बलाबलविशेष—ज्वरों में दोषों के बलाबल को देख छठे के छठे दिन पेया, कषाय, घृत, दूध और विरेचन की व्यवस्था का आदेश है। यह व्याधि की अवस्थाविशेष के कारण कहा गया है परन्तु इससे यह भी ध्वनित होता है कि कही व्याधि के न्यूनाधिक बल के अनुसार छ दिन से अधिक या न्यून अवधि मे भी यह व्यवस्था कर सकते है। छ दिन का कथन तो केवल सर्वसामान्यतया किया गया है। अथवा यह कथन प्रयोगप्रतिषेधार्थ है।

विधि और निषेध—छर्दि, हृद्रोग, गुल्म इनकी चिकित्सा में वमन का निषेध होते हुए भी वह निर्दिष्ट किया गया है। इसी प्रकार बस्ति निषिद्ध होते हुए भी अर्श और कुष्ठ मे निर्दिष्ट भी किया है। भावार्थ यह है कि ऊर्ध्वगामी दोष मे वमन अपथ्य है परन्तु त्रिदोष की छर्दि तथा सतत वमन के रोग मे वमन को ही पथ्य कहा है। हृद्रोग और गुल्म मे वाताधिक्य के भय से वमन का निषेध है कि कही वात न बढ़ जाय परन्तु कफ से वायु के रुक जाने पर वमन ही उस समय हितकारी होता है। इसी प्रकार अर्श एव कुष्ठ मे बस्ति वर्जित होने पर भी अतिदोष तथा ओषधियों से क्षयित होने और वायु के बढ़ जाने पर अर्श मे बस्ति ही उस समय पथ्य होती है। कुष्ठ रोगी के दोष क्लेदित होने पर अति रूक्षावस्था मे बस्ति का देना ही पथ्य होता है। ये रोगावस्थाविशेष के उदाहरण हैं।

तुल्यर्त्वादिविशेष—सब व्याधियों मे ऋतु और दोषों की समानता असाध्यता का कारण होती है परन्तु यही ज्वर की अवस्था मे अतिसुखसाध्यता का हेतु मानी गई है इस लिये कि ज्वर में ऋतु और दोषों के सादृश्य रहने से एक ही मार्ग की क्रिया की जाती है और ज्वर का शमन बहुत जल्दी हो जाता है। यह बात अन्य रोगों मे नही है। यह सम्प्राप्तिविशेषवशात् जानना चाहिये। भावार्थ यह है कि ज्वर मे तुल्यर्तुदोषत्व, प्रमेह मे तुल्यदूष्यता और रक्तगुल्म में पुराणत्व ये सुखसाध्यता के लक्षण माने गये है।

नेत्राभिष्यन्द मे आश्चोतन पथ्य होते हुए भी तीन दिन तक उसका निषेध किया गया है। यह अवस्थाविशेष का उदाहरण है।

अञ्जन पक्वदोषस्य प्रतिश्याये च नावनम् ।
नातिप्रवृद्धे तिमिरे सिरामोक्षो विधीयते ॥
दुष्टास्रसम्भवेऽपीष्टो नास्रपित्ते सिराव्यध ।
अपथ्य पथ्यमप्यन्न निशाया नेत्ररोगिणाम् ॥
अहिता सक्तव शुष्का हितास्ते तु प्रमेहिण ।
गुल्मिन क्षीरदध्यादि हपुषाद्यैर्हित युतम्[1] ॥
वातल वातकोपेऽपि वर्षासु मधु शस्यते ।
तदेव मद्य मद्यस्य विषस्य तु विषान्तरम् ॥
घृतमानूपदेशोत्थ हेमन्ते च बलाधिकम् ।
आलस्यगौरवे रूप वातजेऽपि ज्वरे पुर ॥
स्वेदैर्याति शम दाह प्रायो लशुनपानज[2] ।
दिवा स्वप्नाज्जरा याति भुक्तमन्येद्युरद्य न ॥

अवस्थाविशेष में अजनादि—दोषों की पक्वावस्था मे अञ्जन करना, प्रतिश्याय मे नस्य देना तथा तिमिररोग अधिक न बढा हो तब सिरामोक्ष कराना चाहिए। ये अवस्थाविशेष के कारण विधान या उदाहरण है।

रोगविशेष—यद्यपि सिरामोक्ष कराना या सिराव्यध दूषित रक्त के सभव मे इष्ट है तथापि रक्तपित्त मे सिराव्यध इष्ट नही होता। यह रोगविशेष के स्वभाव का उदाहरण है।

रोगस्वभावविशेष—अन्न सबके लिए सर्वदा पथ्य है किन्तु वही रात्रि मे नेत्ररोगियों के लिए अपथ्य होता है। यह प्रदेश एव रोगस्वभावविशेष का उदाहरण है।

कारणविशेष—शुष्क सत्तू अपथ्य है किन्तु वही प्रमेह रोगियों के लिए पथ्य या हितकारी है। यह कारणविशेष का उदाहरण है।

द्रव्यशक्तिविशेष—गुल्मरोगियों के लिए दूध और दही अपथ्य हैं किन्तु ये ही हपुषा (हाऊबेर) आदि से युक्त पथ्य होते हैं। यह द्रव्यशक्तिविशेष का उदाहरण है।

वस्तुस्वभावविशेष—मधु (शहद) वातकारक होते हुए भी वर्षाऋतु के वातप्रकोप मे पथ्य (हितकारी) होता है। जिस मद्य से मदात्यय रोग होता है उसी (मद्य) से मदात्यय-

१ 'हपुषाद्यैर्युत 'हितम्' इति पा०।
२ 'पाकज-' इति पाठान्तरम्।

का शमन होता है। विष से विषान्तर (अन्य विष) का शमन होता है। साराश यह कि यथा मद्य ही मद्य का नाश करता है तथा विष भी विष का शमन करता है। यह उपयोग या वस्तु स्वभावविशेष का उदाहरण है।

कालवस्तुस्वभाव—अनूप देश का घृत हेमन्त में अधिक बलवान् होता है। वायु के लघु (हल्का) होने पर भी उसी वातज्वर के पूर्वरूप मे आलस्य और गौरव ये लक्षण होते हैं। लहसुन के पाक या उपयोग से उत्पन्न होनेवाला दाह प्राय उसी के समान उष्ण स्वेद से शान्त होता है। दिन के सोने से पहले दिन का किया हुआ आहार पच जाता है परन्तु उसी दिन का किया हुआ आहार उस दिन के सोने से दूसरे दिन नही पचता। ये कालवस्तुस्वभाव के उदाहरण है।

कोष्ठे रुद्धोऽग्निकृद्वायुर्मेदसार्शोभिरग्निहृत् ।
दुष्पान दुर्जर सर्पिर्दीपन च पयोऽन्यथा ॥
सर्पादिशवकोथेभ्यो वृश्चिकाना समुद्भव ।
ते तैरेव पुनर्दष्टा सद्यो जहति[1] जीवितम् ॥
स्वयमेव विष तीव्र तान् पुनर्नातिबाधते ।
सर्वाङ्गव्यापि तेषा च शुक्रवत्ससृत विषम् ॥
तन्मासमुपयोगाय मासवर्गे च पठ्यते ।
छर्दिघ्नी मक्षिकाविट् च मक्षिकैव तु वामयेत् ॥

स्थानरोगावस्थाविशेष—कोष्ठ (पेट) मे अवरुद्ध वायु अग्निकृत् (अग्नि को प्रदीप्त करनेवाला) होता है परन्तु वही मेद और अर्श रोग की अवस्था मे अग्निहृत् (जठराग्नि को मन्द करनेवाला) होता है। यह स्थान और रोगावस्थाविशेष का उदाहरण है।

द्रव्यस्वभाव-अवस्थाविशेष—घी का पान करना दुर्जर (कठिनाई से पचने या न पचने) के कारण दुष्पान कहलाता है परन्तु उसी घृत का जनक दूध घृत के विपरीत जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। यह द्रव्यस्वभाव एव द्रव्य की अवस्था विशेष का उदाहरण है।

स्वभावविशेष—सर्पादि के शव के सड़ने से बिच्छुओं की उत्पत्ति होती है परन्तु जिनसे उत्पत्ति होती है वे ही सर्प आदि बिच्छुओं के दश (काटने) से प्राणों का त्याग करते अर्थात् मर जाते है। यह स्वभावविशेष से होता है। विष स्वय ही तीव्र या तेज है परन्तु वह उन सर्पादिकों मे रहते हुए भी उनको बाधा नही देता। शुक्र (वीर्य) प्राणीमात्र के समस्त शरीर मे रहता है, उसी प्रकार सर्प आदि के शरीर मे विष व्याप्त रहता है परन्तु देहोपयोग के लिए इन सर्पादि के मास का उपयोग करना मासवर्ग मे कहा गया है। यह अवस्थाविशेष है। मक्खी की विष्ठा छर्दि (वमन) रोग का नाश करती है परन्तु स्वय मक्षिका वमन कराती है। यह स्वभावविशेष है।

कफे लङ्घनसाध्येऽपि कर्तरि ज्वरगुल्मयो ।
तुल्येऽपि देशकालादौ लङ्घन न समजसम्[2] ॥
सर्वथा दोषजित्तक्र ग्रहण्या दोषकृद् व्रणे ।

१ 'मुञ्चति' इति पा०। २ 'सम मतम्' इति पाठ।

पीनसश्वासकासादौ सिद्धमेव प्रशस्यते ॥
इत्येतेऽन्ये च बहव सूक्ष्मा दुर्लभहेतुका ।
कर्मवैचित्र्यभावेषु[1] किञ्चित्तेषा निदर्शितम् ॥
दिशानया शेषमपि स्वयमूहेत बुद्धिमान् ।
न शास्त्रमात्रशरणो न चानालोचितागम ॥

इति मात्रादिप्रकरणम् ।

सम्प्राप्ति आदि विशेष—कफमात्र के लघन साध्य होने पर भी ज्वर और गुल्म के कारणीभूत कफ के लिए देशकालादि की तुल्यता मे भी लघन ठीक नही है। केवल ज्वर के लिए लघन अतिपथ्य होने पर भी कफोत्पन्न ज्वर एव गुल्म मे लघन पथ्य नही है। यह सम्प्राप्तिविशेष है। ग्रहणीरोग मे तक्र सर्वथा दोषों को जीतनेवाला होने पर भी वह पूयादि करनेवाला होने से व्रणरोग मे हितकारी नही है किन्तु विपरीत त्रिदोषकारक है। यह रोगस्वभावविशेष है। पीनस, श्वास, कास आदि मे सिद्ध (परिपक्व) किया हुआ तक्र ही अच्छा होता है न कि कच्चा। यह सस्कारस्वभावविशेष है।

शास्त्र और गुरूपदेश की आवश्यकता—इस प्रकार जो बतलाए गये सो तथा और भी ऐसे कई भावविशेष है जो नितान्त सूक्ष्म हैं और जिनका मूलकारण बडी दुर्लभता से मिलता है। इसलिए इन विचित्र कर्म एव धर्मवाले भावों के विषयों में कुछ थोडासा सक्षेप मे कहा गया है। बुद्धिमान् वैद्य को चाहिए कि वह इस दिखाई हुई दिशा या मार्ग से शेष भावों का विचार स्वय कर ले। केवल शास्त्रमात्र के भरोसे पर ही न रहे और न शास्त्रों की समालोचना किए विना ही कुछ करे। भावार्थ यह है कि समस्त वस्तुओं या भावों का विचार शास्त्रावलोकन, गुरुजनों के उपदेश तथा स्वय अपनी बुद्धि से छान बीन के साथ किया करे।

इत्यष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दी याख्याया सप्तमोऽध्याय ॥ ७ ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः

अथातोऽन्नरक्षाविधिमध्याय व्याख्यास्याम । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय ।

अन्नरक्षाविधि—अब इससे आगे अन्नरक्षाविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि आत्रेयादि महर्षियों ने पहले किया है।

ईश्वराणा वसुमता विशेषेण तु भूभुजा प्रायेण मित्रेभ्योऽप्यमित्रा भूयासो भवन्ति। ततस्तत्प्रयुक्ता समासन्नवर्तिनोऽन्नपानादिषु विष प्रयच्छन्ति। स्त्रियश्च तत्प्रणिधिप्रयुक्ताः[3] सौभाग्यलोभेन। तस्माद्राजा कुलीन स्निग्धमाप्तमास्तिकमार्यमार्यपरिग्रह दक्ष दक्षिण निभृत शुचिमनुद्धतमनलसमव्यसनिनमनहकृतमकोपनमसाहसिक वाक्यार्थावबोधकुशल निष्णातमष्टाङ्गे यथाऽऽम्नायमायुर्वेदे सुविहितयोगक्षेम सन्निहितागदादियोग सात्म्यज्ञ च प्राणाचार्य परिगृह्णीत।[1] तमर्थमानाभ्या यथाकाल गुरुमिव शिष्य पितरमिव पुत्र पूजयेत्। प्रतिकूलमपि तद्वच साम्प्रत मतमिति प्रतिमन्येत। न हि भद्रोऽपि गजपतिर्निरङ्कुश श्लाघनीयो जनस्य। तस्मात्तदायत्तमाहारविहार प्रति चात्मान कुर्यात्। उपात्तमपि खलु जीवितमुपायबलेन स्वसमयमधितिष्ठति।[2] अपि च—

राजा का उत्तरदायित्व—इसके पहले अन्न और पान का स्वरूप बताया गया। अन्नपान सर्वथा पथ्य होते हुए भी विष आदि के योग से नाना व्याधियों एव मृत्यु तक का कारण हो जाता है। इसी बात को सामने रखकर अन्नरक्षाविधि अध्याय का आरम्भ किया गया है। अन्नरक्षा का सबन्ध जितना राजा से है उतना औरों से नही है। इसी लिए कहते है कि—राजा की रक्षा हो नाना प्रकार के ऐश्वर्यवाले धनवान् तथा विशेष करके राजा लोग इनके मित्र बहुत रहते है, परन्तु मित्रों से भी अमित्र (शत्रु) बहुत रहते है। इन शत्रुओं के कहने-सिखाने या बहकाने से सदैव राजा के पास रहनेवाले (दास, दासी, स्त्रियाँ आदि) राजा के अन्नपान आदि मे विष मिला देते है। इतना ही नही, शत्रुओं के नियुक्त किए हुए गुप्तचरों (जासूसों) के कहने से स्त्रियाँ-रानियाँ भी सुहाग के लोभ से कि "इस वस्तु को राजा को अन्नपानादि मे खिला दी जायगी तो तुम्हारा सुहाग बहुत समय तक बना रहेगा-राजा का प्रेम तुमसे ही विशेष रहेगा" राजा के अन्नपान मे विष डाल देती है। इस लिए राजा को चाहिए कि वह ऐसे प्राणाचार्य (वैद्यराज) को सदैव अपने पास मे रक्खे जो कुलीन (अच्छे कुल का जन्मा हुआ), अपना सच्चा प्रेमी, यथार्थ बोलनेवाला, आस्तिक (धर्म में विश्वास रखनेवाला), सदाचारी, सदाचारयुक्त कुटुम्बवाला, चतुर, राजा और प्रजा इन दोनों को चाहनेवाला, राजकाज मे दृढ निश्चयवाला, शुद्धान्त करण, नम्र, आलस्यरहित (आज्ञा पाते ही उठकर तैयार होनेवाला), अव्यसनी (सब प्रकार से सुखी या भाग-गाजा-मद्यादि दुर्व्यसनों से रहित), अहकार से रहित, शान्त प्रकृतिवाला, किसी काम को बिना विचारे एकदम न करनेवाला, कही हुई बात को बहुत जल्दी समझनेवाला, यथाशास्त्र आयुर्वेद के आठों अङ्गों मे प्रवीण, योगक्षेमवाला (अलब्ध को प्राप्त और लब्ध को रक्षण करनेवाला), नाना प्रकार के औषध पास मे रखनेवाला तथा देश-काल-बलाबल के अनुसार औषध, अन्न और विहार के सुखावह उपयोग को जाननेवाला हो।

राजा द्वारा वैद्य का सम्मान—राजा को चाहिये कि वह समय समय पर उस वैद्यराज की धन एव समान से इस प्रकार सेवा करे जैसे कि शिष्य गुरु की तथैव पुत्र पिता की सेवा करता है। वैद्यराज के समय पर कहे हुए प्रतिकूल (उलटे या चुभनेवाले) वचन को भी अपने लिए उस समय अनुकूल समझे। इस लिए कि हाथी का श्रेष्ठ महावत (गज-

१ 'धर्मा विचित्रा 'भावेषु' इति पाठान्तरम्।

१ "परिगृह्णीयात्" इति पा २ 'स्वयमधितिष्ठति' इति पा.।
३ 'स्त्रियस्तत्प्रणिधिप्रयुक्ता अमित्रचारचोदिता' इतीन्दु ।

पति) भी निरकुश (अकुशरहित) शोभा को प्राप्त नही होता—वह हाथी को अपने वश मे नही रख सकता और बिना अकुशवाले महावत का हाथी अनेक विघ्न कर सकता है अत महावत के लिए अकुश रखने की नितान्त आवश्यकता है। उदाहरणार्थ यहाँ गजपति वैद्य को और हाथी राजा को समझना चाहिये। राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपने आप को तथैव अपने आहार–विहारों को उस वैद्य के आधीन कर दे। साराश, कर्मसयोग से दु खी होनेवाला शारीरिक जीवन उपाय के बल से सदैव सुखी जीवन के रूप मे रह सकता है। यह महान् उपायबल वैद्य के ही आधीन समझना चाहिए।

अपने आहार–विहारों को वैद्य के ही अधीन क्यों कर देना चाहिए? इसके समाधानार्थ स्पष्टीकरण करते है कि—

अपि च बहुपरिग्रहा नरपतय । सन्ति चाशुकारिण शूलसन्यासादय प्रतिक्षण प्रत्यवेक्षणीयावस्थाश्च रोगिणो विशेषेण राजान । ते हि प्रमादपरिगता दु खासहिष्णवश्च स्वयमप्यपथ्यरुचय सन्निहिता हितप्रियवचनप्रायपरिवाराश्च। तस्माद्भिषजो राजा राजगृहासन्ने निवेशन कारयेत्। तथाहि—सर्वोपकरणेषु नृपतिशरीरोपयोगिष्वपरोक्षवृत्तिर्भवति। स सम्यक्सम्पन्नमन्न सुपरीक्षित विशुद्धमग्न्यादिषु प्रागुपनीत शिखिना दृष्टमभिप्रोक्षित प्रोक्षणै पुरस्थितो राजान हस्तबद्धौषधिरत्न भोजयत्। भुञ्जानस्यास्य दुन्दुभीन गदप्रलिप्तान्वादयेत्।

वैद्य के अधीन राजा के आहार–विहार राजा लोग बहुपरिवारवाले होते है। शूल, सन्यासादि तुरन्त अपना प्रभाव दिखानेवाले रोग भी ऐसे है जो तुरन्त ही मनुष्य को मार डालते है। इस लिए प्रतिक्षण रोगियों एव विशेषत राजाओं की अवस्था को देखते रहना चाहिए क्यों कि ये रोगी और राजा लोग स्वतन्त्र रहने के कारण प्रमाद करनेवाले, दुख को नहीं सहनेवाले और स्वय अपथ्य मे रुचि रखनेवाले होते हैं और वैसे ही उनके पास रहनेवाले सेवक आदि भी ठकुर सोहाती कहनेवाले अर्थात् उनकी हाँ मे हाँ मिलाकर मीठे बोलनेवाले होते है। इस लिए राजा को चाहिए कि वह अपने राजगृह के समीप ही वैद्य का सन्निवेशन (निवासस्थान) बनवा दे ताकि वह (वैद्य) राजा के शरीरोपयोगी समस्त उपकरणों (सामग्रियों) को प्रत्यक्ष देखा करे या देखता रहे। भावार्थ यह है कि वैद्य के इस प्रकार सावधान रहने से ही अन्न की रक्षा भली भाँति हो सकती है। अब राजा के लिए सिद्ध किए हुए अन्न के विषय मे वैद्य के कर्त्तव्य को कहते है—

नृपतिभोजनविधि—सम्यक् सम्पन्न अर्थात् साध्वी स्त्रियों द्वारा बनाया हुआ, अच्छी तरह से वक्ष्यमाण प्रकार से परीक्षण किया हुआ, विशुद्ध, प्रथम अग्निमक्षिकादि को प्रदान कर देखा हुआ, मयूर करके अवलोकन किया हुआ तथा सुपर्ण मन्त्र से अभिमन्त्रित जल से प्रोक्षण किया हुआ वह अन्न, वैद्य को चाहिए कि वह सामने उपस्थित रहकर हाथ मे ओषधि और रत्न बाधे हुए राजा को सेवन करावे। भोजन करते समय राजा के सामने अगदप्रलिप्त (विषनाशक ओषधियों से प्रलिप्त) नगारे वजाये जावे ताकि उनके शब्द से विष का नाश हो।

विशेष वक्तव्य सम्यक् सम्पन्न अन्न वह होता है जो भली भाँति पाचित और स्रावण बाष्पोद्गमनादि क्रियाओं द्वारा विशुद्ध कर लिया जाता है। भोजन करने पर ऐसा अन्न विकारकारी नही होता। अग्नि, मक्षिका तथा मोर पक्षी की दृष्टि द्वारा सुपरीक्षित होने से अन्न के सविषत्व और निर्विषत्व का पता लग जाता है। सुपर्णमन्त्रादि प्रोक्षणों द्वारा प्रोक्षित (सिक्त) होने से सविष अन्न भी निर्विष हो जाता है। विषनाशक अगद से प्रलिप्त नगारों के शब्द से सर्पविष तक नष्ट हो जाता है अत ऐसे नाना प्रकार के अगदों के प्रयोग देखना हो तो देखे सुश्रुतसहिता के कल्पस्थान का अध्याय ५ वॉ।

सुपरीक्षित अन्न ही राजा आदि को सेवन कराना चाहिए यह पहले कह चुके है अत अब अन्नपरीक्षा विधि बताते है।

तत्र सविषमन्न स्राव्यमानमविस्राव्य भवति चिरेण पच्यते, पक्व च सद्य पर्युषितमिव निरूष्म स्तब्ध च जायते, यथास्ववर्णगन्धरसैर्व्यापद्यते प्रक्लिद्यते, चन्द्रिकाचित च भवति।

सविष–अन्नपरीक्षा—विषमिश्रित अन्न चुवाया जाय तो उसका स्राव अशक्य होता है, बडी देर से पचता है। पकने पर या पककर तयार होते ही वह बासी अन्न (एक अहोरात्र के बासी अन्न) की तरह ठण्डा और कठिन दिखाई देता है। उस अन्न का अपना असली वर्ण, गन्ध और रस (मधुर–अम्ल लवणादि) नष्ट हो जाता है, सडा हुआ सा (क्लेदितसा) दिखाई देने लगता है तथा उसमे चन्द्रिका अर्थात् मोरपख की चन्द्रिका के आकारवाले नीले मण्डल दिखाई देने लगते है।

अन्नपरीक्षा के अनन्तर अब व्यजन (पान) की परीक्षा बताते है।

व्यञ्जनानामाशुशुष्कत्व भवति क्वाथस्य श्यामता हीनातिरिक्तविकृताना चात्र छायाना दर्शनमदर्शनमेव वा फेनपटलसीमन्तकोर्ध्वविविधराजितन्तुबुद्बुदप्रादुर्भाव। विशेषेण लवणोल्वणे फेनमाला। रसस्य मध्ये नीला राजी। पयसस्ताम्रा। मद्यतोययो काली। दध्न श्यावा। तक्रस्याऽऽनीलपीता। मस्तुन कपोताभा। धान्याम्लस्य कृष्णा। द्रवौषधस्य कपिला। घृतस्य सलिलाभा। क्षौद्रस्य हरिता। तैलस्यारुणा वसागन्धश्च।

व्यञ्जनपरीक्षा—विषसहित व्यञ्जन (वृन्ताक आदि दही

१ "राजानमन्नं भोजयेत्। किं भूतमन्नम्? सम्यक्साध्वाभि स्रवणबाष्पोद्गमनादिक्रियाभि सपन्नम्। सुपरीक्षित वक्ष्यमाणेन विधिना, प्रथम चाग्निमक्षिकादिभ्यो दत्त, तथा सविष निर्विष चेति परिज्ञात भवति। शिखिना मयूरेण दृष्ट, प्रोक्षणै सुपर्णमन्त्रोदकादिभि प्रोक्षित सिक्त, तया हि सविषमपि निर्विषी भवति।" इतीन्दु।

तक्र दाडिम आदि से संस्कृत द्रव पदार्थ) सूप आदि जल्दी सूख जाते है और सविष व्यञ्जन का क्वाथ मलिन तथा कृष्ण-वर्ण होता है, उस काढ़े मे देखने से देखनेवाले को अपनी छाया हीन (भुजा आदि से हीन), विकृत (सिर आदि से हीन) दिखाई देती है या छाया ही नहीं दिखाई देती। दूसरे आचार्यों के मत से हीन (अपने बिम्ब-प्रमाण से न्यून), अतिरिक्त (अपने बिम्बप्रमाण से अधिक), विकृत (तुल्य प्रमाण मे दिखाई देने पर भी वह अन्य जाति की) दिखाई देती है वह सविष व्यञ्जन का क्वाथ फेनवाला होता है, उसमे सीमन्त अर्थात् बीच मे से दो विभाग दिखानेवाली रेखा बन जाती है, ऊपर अनेक रंग की रेखाएं दिखाई देती हैं, तन्तु-तन्तु और बुद्बुदे से दिखाई देने लगते है। विशेष नमकीन व्यञ्जन मे फेनपटल विशेष होते है। रस (मासरस) मे नीले रङ्ग की, दूध मे ताम्रवर्ण की, मद्य और जल मे काले रंग की, दही मे कपिश रंग की, तक्र मे नीली और पीली, मस्तु मे कपोत वर्ण, कांजी से काले रंग की, द्रव ओषधि मे और घृत में कपिलवर्ण की, शहद मे हरे रंग की और सविष तेल मे लाल रंग की रेखाएं दिखाई देती और उस तेल की गन्ध वसा (चर्बी) की आती है।

अब सविष फल आदि की परीक्षा का वर्णन करते है।

फलानामामानां पाकः, पक्वानां प्रकोथः। द्रव्याणामार्द्राणां सहसाम्लानत्वमन्यत्स्वभावः, शुष्काणां श्यावता वैवर्ण्यं च, कठिनानां मृदिमा, मृदूनां कठिनत्वम् माल्यस्य म्लानता गन्धनाशः स्फुटिताग्रत्वम्। आस्तरणप्रावरणानां श्याममण्डलता तन्तुरोमपक्ष्मसदनं च। लोहमणिमयानां पङ्कमलोपदेहः स्नेहरागगौरवप्रभावर्णस्पर्शनाशश्च।

सविषफलादिपरीक्षा—विष के संयोग से कच्चे फल पकने जैसे हो जाते है और पके हुए फल सड़ने लगते है। कमलनाल मूली आदि गीले द्रव्य विष के संयोग से मैले दिखाई देते है उनका असली रूप विरूप मे परिणत होता है और वे पके हुए की तरह नरम हो जाते है। सोंठ आदि सूखे द्रव्य सविष होने से काले पड़कर बदरंग होते है। कठिन द्रव्यों मे मृदुता और मृदु द्रव्यों मे काठिन्य आ जाता है। सविष पुष्प मलिन होकर उसकी सुगन्ध नष्ट होती, कलियाँ बिखरने लगती है। बिछाने और ओढने के वस्त्र विषाक्त होने से उनमे काले धब्बे पड़ते और उनके तन्तु उखड़ने या झड़ने लगते हैं। मणिमय सुवर्ण-रजत आदि धातु विष के कारण गीले मलिन होते है और उनकी स्निग्धता-रंग-गौरव-प्रभा-वर्णस्पर्शादि नष्ट होते हैं।

अब आचार्य विष देनेवाले की परीक्षा के विषय मे कहते है कि—

विषदस्तु स्वदोषशङ्कया त्रस्तो भीतः स्वेदवेपथुमान् शुष्कश्यावक्त्रः समन्तात्सोद्वेगं विलक्षोऽभिवीक्षते। यत्र चानेन विषं प्रयुक्तं तद्विशेषेण। तथा स्रस्तोत्तरीयः स्तम्भकुड्यादिभिरात्मानमन्तर्धत्ते स्खलितगतिर्दीनो लज्जावानस्थानगामी पृष्टोऽसंबद्धमुत्तरं ददाति नैव वा, विवक्षुर्मुह्यत्यङ्गुली स्फोटयति ग्रीवामालभते शिरः कण्डूयत्योष्ठौ परिलेढि जृम्भते भुवं लिखति क्रियासु त्वरते विपरीतमाचरति स्वभूमौ च नावतिष्ठते।

विष देनेवाले की परीक्षा—विष का देनेवाला अपने दोष की शङ्का के मारे त्रस्त (सताए हुए की तरह दुःखी) रहता है, डरपोक की तरह डरता है, उसके शरीर मे पसीना तथा कम्प होता है, उसका मुँह सूखा हुआ मलिन (उतरा हुआ) रहता है, वह चारों ओर उद्वेग से अस्पष्ट दृष्टि से देखता है, जिसमें या जिसके द्वारा विषप्रयोग किया गया है वह उसी वस्तु को विशेषतः देखा करता है, उसका उत्तरीय वस्त्र (अंगोछा) कन्धे से नीचे गिरता है, वह (विष देनेवाला) अपने को किसी स्तम्भ (खम्भा) या भींत की आड मे छिपाता है अर्थात् वह स्तम्भ भींत आदि के पीछे छुपता रहता है, चलने मे ठोकरे खाता, लुढकता या गिरने जैसी चेष्टा करता है, वह दीन-लज्जित (शर्मिन्दा) होता है, विना कारण हॅसता और पूछने पर कुछ का कुछ असम्बद्ध अण्ट का सण्ट उत्तर देता है या कुछ उत्तर ही नही देता है, जो कहना चाहता है उसका उसे स्मरण नही रहता और कुछ का कुछ कहता है अर्थात् बनावटी बात बनाता है, वह अपनी अंगुलियाँ मोडता, ग्रीवा (गर्दन) को छूता, सिर को खुजलाता, होठों को चाटता, जम्भाइयां लेता, भूमि को कुचरता, काम में जल्दी करता है, विपरीत आचरण करता और एक जगह पर स्थिर होकर नही बैठता है।

इस प्रकार विष देनेवाले की परीक्षा करके सविष अन्न की अग्नि आदि में भी परीक्षा करने का विधान बताते हैं।

नृपाज्ञया त्वरयापि केचिदपराधान्तराद्वानवस्थितसत्त्वा समाचरन्त्येव तस्मादग्न्यादिष्वपि परीक्षेत। वह्निस्तु सविषमन्नं प्राप्यैकावर्तो रूक्षमन्दार्चिरिन्द्रायुधवदनेकवर्णज्वालो भृशं चटचटायते। कुणपगन्धी धूमश्चास्य मूर्च्छाप्रसेकरोमहर्षशिरोवेदनापीनसदृष्ट्याकुलतां जनयति।

तत्र नलदकुष्ठलामज्जकैः क्षौद्रप्लुतैर्नस्यमञ्जनं च कुर्यात्। धूममेवापामार्गविडङ्गबलाद्वयचित्रकमेषशृङ्गीपुष्पसुमनक्षारकद्राक्षाघृतगुडकृतं पिबेत्।

सविष अन्न की अग्निद्वारा परीक्षा—राजा की आज्ञा से जल्दी बबड़ानेवाले तथा अन्य अपराधों से भी जिनका चित्त

१ "व्यञ्जनानि वार्ताकादीनि दधितक्रदाडिमादिसंस्कृतानि" इत्यरुणदत्तः।
२ "हीना भुजादिहीना, अधिका विकृता-शिरोविरहलक्षण विकारोपेता' इत्यरुण। हीना-बिम्बप्रमाणन्यूना। अतिरिक्ता-अधिका। विकृता-तुल्यप्रमाणाप्यन्यजातीया" इति हेमाद्रिः।
३ "म्लानत्वमुत्पक्वत्वभाव" इति पा०। ४ 'वैवर्ण्यं वा' इति पा०। ५ 'मृदुता' इति पा०। ६ "पक्ष्मसातनं च" इति पाठान्तरम्।

१ 'अस्थानगामी, २ 'नृपाज्ञात्वरयापि, ३ दृष्ट्याकुलतां, ४ 'क्षौद्रद्रुतैः, ५ 'धूममेव वा, इति पाठान्तराणि इन्दुटीकापुस्तके।

ठिकाने नही रहता है वे भी पूर्वोक्त आचरण अर्थात् विष-प्रयोग करनेवाले के लक्षण जैसे कहे है वैसे ही करते है। केवल विष देनेवाला ही वैसा नही करता है। इस लिए अग्नि आदि मे भी सविष अन्न की परीक्षा कर लेनी चाहिए। वह इस प्रकार है कि—विषमिले हुए अन्न के अग्नि मे डालने से अग्नि एकावर्त अर्थात् बाई या दाहिनी ओर के एक ही आवर्त वाली ज्वालावाला, रूक्ष–मन्द ज्वालावाला तथा इन्द्रधनुष की तरह नीली–पीली–लाल आदि अनेक वर्ण की ज्वालावाला होते हुए पूर्णरूप से चट–चट शब्द करता है। इतना ही नहीं, वह अग्नि कुणपगन्धी (शव के जलने की सी गन्धवाला) होता है और उस अग्नि के धुवे से मूर्च्छा, प्रसेक (मुँह से लारों का टपकना), रोमहर्ष, सिर मे पीडा, पीनस और दृष्टि की आकुलता (दृष्टि का कम हो जाना) ये रोग हो जाते है। और इन विकारों की शान्ति के लिए जटामासी, कूट और सुगन्धवाला इन तीनों को सम भाग लेकर शहद मे मिलाकर नस्य दे या अञ्जन करावे या अपामार्ग, वायविडङ्ग, कची, खिरेटी, चित्रक, मेढासिगी, लवङ्ग और चमेली के कोमल पत्तों का दाख, घृत और गुड से तयार किया हुआ धूमपान करावे अर्थात् हुक्का पिलावे।

स्नेहलवणयोगादपि चाग्निरित्थ स्यात्। अतो वयोभि परीक्षेत। तत्र विषजुष्टाहाराभ्यवहारात्काका क्षामस्वरा भवन्ति। मक्षिका सविषान्ने न निलीयन्ते. निलीना वा[1] विपद्यन्ते। दृष्ट एव चास्मिश्चकोरास्याक्षिणी[2] विरज्येते। कोकिलस्य स्वरो विकृतिमेति। हसस्य गति स्खलति। कूजति भृङ्गराज। माद्यति क्रौञ्च। विरौति कृकवाकु। विक्रोशति शुक[3] सारिका च। छर्दयति चामीकरोऽन्यतो याति कारण्डवो म्रियते जीवजीवको ग्लायति वा। हृष्टरोमा भवति नकुलः। शकृद्विसृजति[4] वानरो, रोदिति पृषतो हृष्यति मयूरो दर्शनादेव चास्य विष मन्दतामुपैति। विषदूषितस्य पुनराहारस्योष्मा मयूरकण्ठाभोऽभ्युदेति। तद्बाष्पेण धूमवन्मूर्च्छादय। तेषा तद्वदेव साधनम्। हस्तेन स्पृष्टमन्न विषवद्दाहशोफस्वापनखशातान्करोति। तस्य श्यामेन्द्रगोपसोमोत्पलैर्लेप।

पक्षियों से सविष अन्नपरीक्षा— अग्नि पर डालने से सविष अन्न जैसे चटचट शब्द करता है, ठीक इसी प्रकार तेल और नमक के सयोगवाला अन्न भी अग्नि पर डालते ही चट–चट शब्द करता है। इस लिए आहारोपयोगी अन्न की परीक्षा वयोभि अर्थात् पक्षियों के द्वारा भी करनी चाहिए। विषयुक्त अन्न के खाने से कौआ क्षाम (दबा हुआ सा) स्वरवाला हो जाता है। सविष अन्न पर मक्खियाँ नही बैठती और बैठ ही गई तो मर जाती है। विषमय अन्न के देखते ही चकोर की आखे लाल होती हैं। कोयल का स्वर बिगड जाता है। हस की गति मे स्खलन होता है अर्थात् उसकी चाल जैसी है, वैसी नही रहती। भ्रमर गुजार करने लगता है। क्रौञ्च पक्षी मदमत्त होता है। कृकवाकु[1] (कुक्कुट) रोने लगता है। शुक सारिका (तोता–मैना) चिल्लाने लगती है। चामीकर वमन करता है। कारण्डव विष के पास नही ठहरता अपितु अन्यत्र चला जाता है। जीवजीवक विष को देखते ही मर जाता है या ग्लानि को प्राप्त होता है। नकुल (न्यौलिया) के बाल खडे हो जाते है। बन्दर मलविसर्जन करने लगता है। पृषत रोने लगता है। मोर हर्षायमान होता है और उसके देखने से विष मन्द पड जाता है।

और भी विषदूषित आहार की परीक्षा—विषदूषित आहार (अन्न) का बाष्प मोर के कण्ठ के समान नीले रङ्ग का निकलता है। उस बाष्प से भी धूमवत् अर्थात् विष के धुँवे की तरह मूर्च्छा, रक्तपित्त, अर्दित आदि विकार होते है। इन विकारों की शान्ति के लिए भी धूम से होनेवाले विकारों की चिकित्सा ही करनी चाहिए जिसका वर्णन पहले कर आए हैं।

विषदूषित आहार को हाथ से छूने पर वैसे ही दाह, शोथ, स्वाप (सो जाना), नखशातन (नखों का गिरना) आदि विकार होते हैं जैसे कि विष के छूने से होते है। इसलिए इसकी चिकित्सा भी विषस्पर्श से होनेवाले विकारों की तरह करनी चाहिए अर्थात् इन दाह आदि के शमनार्थ श्यामा (प्रियङ्गु), इन्द्रगोप (बीरबहूटी) और सोम (कायफल या ब्राह्मी[2]) और कूट का लेप करना चाहिए।

अभ्यवह्रियमाण त्वोष्ठचिमिचिमान्तर्वक्त्रदाहजिह्वामूलगौरवहनुस्तम्भदन्तहर्षलाला करोति रसापरिज्ञान च। तत्र धूमोक्त दन्तकाष्ठोक्त कर्म।

आमाशयगत स्वेदमदमूर्च्छाच्छर्दिवैवर्ण्याध्मानरोमहर्षदाहारुचिदृष्टिहृदयोपरोधान्। बिन्दुभिश्चाचयमङ्गाना करोति। तत्र मदनफलालाबुबिम्बीकोशातकीफलैर्दधिमधुयुक्तमाशु वमन दद्यात्त्रिष्पावाम्बुभिर्वा। तत स्निग्धशरीर विरेचयेत्। त्रिफलात्रिकटुनागपुष्पमधुकबर्हिणपर्णीबृहतीद्वयचूर्णं सिहव्याघ्रवृकतरक्षु[3]द्वीपिमार्जारशृगालमृगगोधानामन्यतमपित्त[4]युक्त सक्षौद्र पानमेष जीवनो नामागद पर सर्वविषौषधम्। तस्मिन् जीर्णे व्योषातिविषा[5]सिद्धा पयसा घृतेनचोपस्त[6]म्भिता यवागू पाययेत्। परिणतायाः च तस्या त्रिकटुकसिद्धेन मुद्गयूषेण किञ्चिल्लवणेन ससर्पिष्केण मृदु[7]मोदन भोजयेत्। मधुकशिरीषचन्दनैश्चैनमालिम्पेत्।

विषमिश्रित आहार से होनेवाले विकारों की चिकित्सा—विष

---

१. निलीना च, इति पा०। २ चास्मिंस्तु चकोरा, इति पा०। ३ शुक सारिका चेत्यारभ्य जीवजीवको ग्लायतिपर्यन्त पाठो मुद्रिते मूलपुस्तके भ्रमत पूर्णविरामलेखादशुद्ध इव भाति, अष्टाङ्गहृदयस्थ शुद्धपाठस्य दर्शनात्। ४ शकृद्विसर्जति, इति पाठान्तरम्।

१ "कृकवाकुस्ताम्रचूड कुक्कुटश्चरणायुध" इत्यमरकोश। २ 'सोम —सोमवल्क कटफल इति हेमाद्रि। 'सोमो ब्राह्मी' इतीन्दु। ३ 'तरक्षुद्वीपि, इति पाठान्तरम्। ४ 'पित्तरसयुक्तम्' इति पा०। ५ 'श्यामान्योषातिविषासिद्धेन,' इति पा०। ६ 'चोपस्तम्भिताम्, इति पा०। ७ 'मृद्वोदनम्' इति पाठान्तरम्।

मिश्रित आहार के मुख मे पहुचने से होठों मे चिमचिमाहट, मुख मे दाह, जीह्वामूल मे जडत्व, हनुस्तम्भ, दन्तहर्ष, लार का टपकना और रस का ज्ञान न होना, ये विकार होते है। इनकी शान्ति के लिए जैसे धूमविधि एव दन्तकाष्ठोक्त उपचार कहे है वे ही उपाय करने चाहिए जैसे कि आगे कहे गये है।

आमाशयगत विषदूषित अन्न के विकार तथा उनकी चिकित्सा—विषमिश्रित अन्न के आमाशय में पहुचने से स्वेद, मद, मूर्च्छा, वमन, विवर्णता, आध्मान (पेट का फूलना), रोमहर्ष, दाह, अरुचि, नेत्र और मन की क्रिया मे प्रतिबन्ध (रुकावट), शरीर मे जलबिन्दु के आकारवाले फोंडों का उठना[1] ये विकार होते है। इनकी शान्ति के लिए मैनफल, कडवी तुम्बी, बिम्बी, जगली कटु तोरई इनके फलों से शहद और दही से युक्तकर तुरन्त वमन कराना चाहिए। अथवा–निष्पाव (वाल–वल्ल) के जल को पिलाकर वमन कराना चाहिए। इसके अनन्तर स्नेहनद्वारा शरीर को स्निग्ध करके विरेचन (जुलाब) देना चाहिए। हरड, बहेडा, आवला, सोंठ, मिरच, पीपल, नाग केशर, मुलेठी, मोरशिखा, छोटी और बडी दोनों कटेली इनके चूर्ण को सिह, व्याघ्र, चीता, तरस, बब्बर शेर, बिलाव, सियार, हरिण और गोधा (गोह) इनमे से किसी एक के पित्त या पित्त के रस और शहद मे मिलाकर सेवन कराना चाहिए। यह जीवन नाम का अगद सब प्रकार के विषों को नष्ट करने मे श्रेष्ठ औषध है। इस अगद के पच जाने पर प्रियगु, सोंठ, मिरच, पीपल तथा अतीस से सिद्ध किए हुए दूध या घृत से सयुक्त यवागू पिलानी चाहिए। [पाठान्तर से प्रियगु, आदि से सिद्ध की हुई यवागू दूध या घृत से सयुक्त कर पिलानी चाहिए।] इस यवागू के पच जाने पर सोंठ, मिरच और पीपल से पकाया हुआ किंचित् नमक और घृत से युक्त मूगों का यूष नरम भात के साथ देना चाहिए। उस विषाक्त रोगी के शरीर मे मुलेठी, सिरस के बीज और चन्दन का लेप करना चाहिए।

पक्वाशयगत तृड्दाहमदमूर्च्छा[2]तीसाराटोपतन्द्रेन्द्रियविकृतिबलभ्रंशकार्श्यपाण्डुत्वोदराणि जनयति। तत्र नीलिनीफलयुक्तेन सर्पिषा विरेचन समाचिक च दूषीविषारि दध्ना पाययेत्। दन्तकाष्ठप्रयुक्ते तु विषे कूर्चकविशरणमौषधगन्धो रूक्षता जिह्वादन्तौष्ठमासशोफश्च[3]। तत्र प्रच्छाय धातकीपुष्पजाम्बवास्थिहरीतकीचूर्णै सक्षौद्रै सप्तच्छदकल्केन वा प्रतिसारण कुर्यात् दाडिमकरमर्दभव्याम्रात[4]ककोलबदररस[5] क्षौद्रयुत गण्डूषम्। अनेन जिह्वानिर्लेखनकवलगण्डूषा व्याख्याता।

पक्वाशयगत विषदूषित अन्न के विकार और उनकी शान्ति के उपाय—विषमिश्रित अन्न के पक्वाशय में जाने से तृष्णा, दाह, मद, मूर्च्छा, अतिसार, आटोप (अफारा), तन्द्रा, इन्द्रियविकृति (मनोविकृति तथा इन्द्रियों मे विकार), बल का नाश, कृशता, पाण्डुता और उदररोगों की उत्पत्ति होती है। इनकी शान्ति के लिए नीलिनीफल (हब्बुल् नील–जयपाल) युक्त घृत से विरेचन करावे और दूषीविष–चिकित्सा मे कहे हुए दूषी–विषारि नामक अगद का दही के साथ सेवन करावे।

दन्तकाष्ठ (दतौन) में विष के विकार एव उनकी शान्ति —दन्तकाष्ठ मे विषप्रयुक्त करने से कूर्चकविशरण (दतौन की कूँची का बिखरना), उस मे लगाई हुई विष ओषधि की गन्ध, रूक्षता, तालु–दाँत–जीभ और होंठों के मास मे सूजन ये विकार होते है। इनको शान्ति करने के लिए विषाक्त मास को पछने से छीलकर धाय के फूल, जामुन की गुठली और हरड के चूर्ण मे शहद मिलाकर या सप्तच्छद (सप्तपर्ण–सतौना) के कल्क से प्रतिसारण करे अर्थात् इन ओषधियों को मुख मे धारण कर लार टपकावे। अनार, कैरोन्दा, निम्ब, आम, अम्बाडा तथा छोटे बेरों का रस शहद मे मिलाकर कुल्ली करावे। इस प्रकार यह जिह्वानिर्लेखन, कवलग्रह और गण्डूष करने का विधान बताया गया है।

अञ्जनप्रयुक्तेऽश्रुदूषिकोपदेहदाहरागवेदना[1]दृष्टिविभ्रमा भवन्त्यान्ध्य च। तत्र सर्पि पान योज्यम्। शृतेन पयसा सप्तकृत्व पिप्पलीर्भावयेत्। ततस्तत्कल्केन सर्पिर्विपक्व नेत्रतर्पणम्। कपित्थमेषशृङ्गीभल्लातकाना पुष्पैर्वरणनिर्यासेन चाञ्जनम्[2]। बृहतीशिरीषबीजप्रपौण्डरीकनागबलाचूर्ण सप्तकृत्वो मधुना भावयेत्। तच्च स्रोतोऽञ्जनसुवर्णचूर्णयुक्तमञ्जनम्[3]।

नस्यधूमप्रयुक्ते शिरोरुक्कफास्राव खेभ्यो रुधिरागमनमिन्द्रियवैकृत च। तत्रातिविषाश्वेताकाकमाचीमदयन्तिकाकल्कक्षीरसिद्ध सर्पिर्नस्ये पाने च विदध्यात्।

विषदूषित अञ्जन के विकार और उनकी शान्ति—अजन अर्थात् सुर्मे मे विष प्रयुक्त करने से नेत्रों से आसू गिरना, नेत्रमल (गीड) का जमना, प्रलेप होकर नेत्रों का चिपक जाना, नेत्रों का वर्ण लाल हो जाना, वेदना, दृष्टिविभ्रम (देखने मे भ्रान्ति या असत्य दर्शन) और अन्धत्व (अन्धा हो जाना) ये विकार होते है। इन विकारों की शान्ति के लिए रोगी को घृत पिलाना चाहिए अथवा सात बार औटाये हुए दूध की पिप्पली को प्रत्येक बार सुखा सुखाकर भावना देना और फिर उन पिप्पलियों के कल्क को घृत मे पकाकर उस घृत का नेत्रों पर तर्पण करना (तरेडा देना) चाहिए अथवा कैथ, मेढासिगी और भिलावे के पुष्पों से सयुक्त (विभावित) वरुण वृक्ष के गोंद का अञ्जन देना तथा बडी कटेली, सिरस के बीज, प्रपौण्डरीक और गङ्गेरन के चूर्ण को शहद की सात भावना देकर उसे श्वेत सुर्मा और सुवर्णचूर्ण मे मिलाकर अञ्जन कराना चाहिए।

नस्य और धूमपान में विष के विकार और उनकी चिकित्सा—नस्य तथा धूमपान (हुक्का की तमाखू आदि) मे विष मिश्रित

१ "चक्षुर्हृदयरोधन—नेत्रयोर्मनसश्च क्रियाप्रतिबन्ध। बिन्दुभिरङ्गानामाचय —जलबिन्द्वाकारस्फोटव्याप्ताङ्गत्वम्" इति हेमाद्रि।
२. 'तृड्दाहमूर्च्छा, इति पा०। ३ "तालुदन्तजिह्वोष्ठमासशोफश्च" इति पा०। ४ "भव्याम्रातक, इति पा०।
५ "बदररसक्षौद्रयुक्त, इति पा०।

१ "देहरागवेदना" इतिपाठान्तरम्।
२ "चाञ्जनम्" इति पा०। ३ अस्याग्रे 'देयम्' इत्यधिक पाठ।

होने से सिर में पीडा, कफ या लारों का गिरना, नाक-कान-मुख-नेत्र आदि स्रोतों से रक्त का आना, इन्द्रिय-विकृति अर्थात् मन आदि इन्द्रियों मे विकार पैदा होना ये रोग होते हैं। इनकी शान्ति के लिए अतीस, श्वेता (अपराजिता-कोयल), मकोय और नवीन कोमल मोगरे के पान इन सबके कल्क में सिद्ध किए हुए घृत का पान करावे और इस घृत का नस्य देवे।

अभ्यङ्गप्रयुक्ते त्वग्दाहस्वेदपाकस्फोटावदरणानि। तत्र शीताम्बुपरिषिक्तस्य चन्दनतगरोशीरकुष्ठवेणुपत्रिकामृतासोमवल्लीश्वेतापद्मकालेयकैरनुलेपनम्। एतान्येव च सकपित्थरसगोमूत्राणि पानम्। गिरिकर्णिकाश्वेतमूलप्रियङ्गुसारिवामधुकसर्पसुगन्धामृगैर्वारुमूलानि शेलुक्वाथपिष्टानि प्रलेपः[1]। अनेनोद्वर्त्तनोद्घर्षण-परिषेकानुलेपनभूषणयानशय्याऽऽस्तरणवस्त्रकवचरथ-पादुकोपानत्पादपीठा व्याख्याता[2][3]।

अभ्यङ्ग में मिश्रित विष के विकार तथा शान्ति- उबटनादि मे विष के मिश्रित होने से त्वचा मे दाह, पसीना, चमडी का पकना, फोडे-फुन्सियों का होना, शरीर का अवदारण (खण्डश फटना), ये विकार होते हैं। इनको शमन करने के लिए शरीर पर शीतल जल छिड़कने के अनन्तर चन्दन, तगर, खस, कूट, वेणुपत्रिका (हिङ्गुपत्री), गिलोय, सोमवल्ली (ब्राह्मी) श्वेता (अपराजिता-गिरिकर्णिका-कोयल), कमल और कालेयक (काला अगर) का लेप करे अथवा इन ही ओषधियों को कैथ के रस और गोमूत्र में मिलाकर पान करावे अथवा गिरिकर्णिका (कोयल), पुनर्नवा, प्रियगु, अनन्तमूल, मुलेठी, सर्पगन्धा, इन्द्रायन और कतकमूल (निर्मली की जड) इन सबको लिहसौडे के काढे मे पीसकर लेप करावे। इस प्रकार से यह उद्वर्त्तन, घर्षण, परिषेक, अनुलेपन, भूषण (अलङ्कार), वाहन, शय्या, आस्तरण, कवच, पादुका (खडाऊ), उपानत् (जूते), पादपीठ आदि में प्रयुक्त विष का शमनोपाय बताया गया। साराश, इन सब में से किसी मे भी विष का प्रयोग किया गया हो तो उपर्युक्त उपाय ही करने चाहिए।

विशेषतस्त्वाभरणकृते विकारेऽश्वगन्धापामार्गकिणिहीखदिरशिरीषकल्कैर्गोपित्तप्रयुक्तैः प्रदेहः। पादपीठकृते श्लेष्मातकसर्पसुगन्धाकल्को[4] मधुयुक्तः। छत्रप्रयुक्ते स्फोटानां[5] क्षिप्रपाकानां पक्वजाम्बवप्रकाशानां प्रादुर्भावः। तत्र मधुकपाटलाकसेरुकरोध्राञ्जनकुष्ठसर्पसुगन्धाखदिरशिरीषकल्कैः सर्वगात्रप्रदेहः। अनेन चामरव्यजने व्याख्याते।

आभरण, पादपीठ और छत्र मे प्रयुक्त विष की सामान्य चिकित्सा ऊपर कह चुके है। अब इनकी विशेष चिकित्सा को कहते है। यथा—

आभरण विषशमन—आभरण मे विष प्रयोग हुआ हो तो उसकी विशेष चिकित्सा के लिए असगन्ध, अपामार्ग, अपराजिता, खदिर और सिरीसबीज का कल्क गोरोचनयुक्त कर लेप करे।

पादपीठविषशान्ति—पादपीठ मे विषप्रयुक्त किया हो तो उसके विकारो की शान्ति के लिए लिहसौडा, सर्पगन्धा, आम और आम्रातक की छाल के कल्क को शहद मे मिलाकर लेप करे।

छत्र में प्रयुक्त विष के विकार और उनकी शान्ति—छत्र मे विष के प्रयोग करने से जल्दी पकने वाले फोडे-फुन्सी और उनकी वेदना होती है। ये फोडे पके हुए जामुन के आकारवाले होते है। इनकी शान्ति के लिए मुलेठी, पाटला, कसेरू, लोध, सुर्मा तथा अजन (अर्जुन) कूट, सर्पगन्धा, खैर और सिरीस के बीजों का कल्क बनाकर सारे शरीर मे लेप करना चाहिए। इसी प्रकार से चामर (चँवर) और पखे मे विष प्रयुक्त किया हो तो चिकित्सा करे।

शिरोऽभ्यङ्गप्रयुक्ते वेदना[1] ग्रन्थिजन्म केशच्यवनं च। तत्र श्यामापालिन्दीतन्दुलीयकचूर्णघृतर्क्षपित्तैः सुभावितकृष्णमृत्प्रलेपः[2]। गोमयमालतीमूषिककर्ण्यन्यतमकल्को[3] रसो वाऽऽगारधूमो वा। श्लेष्मातकत्वक्पाटलाशिरीषमधुकहरिद्राद्यैरजाक्षीरालोडितैः परिषेकः। अनेन शिरःस्नान[4]-स्नपनोदक-कङ्कतक-स्रगुष्णीषा व्याख्याता।

कर्णपूरणप्रयुक्ते शोफशूलपाकाः श्रोत्रवैगुण्यं च। तत्र बहुपत्रास्वरसो घृतक्षौद्रयुक्तः[5] प्रतिपूरणं सोमवल्करसो वा सुशीतः।

मुखालेपप्रयुक्ते मुखस्य श्यावता पद्मकण्टका भवन्त्यभ्यङ्गजाश्च विकाराः। तत्र मधुकपयस्याबन्धुजीवककुभपुनर्नवाचन्दनैः सघृतैर्लेपः[6] सर्पिषः पानं च।

सविषपुष्पाघ्राणाच्छिरोव्यथा साश्रुनेत्रत्वं गन्धाज्ञानं च। तत्रानन्तरोक्तो विधिर्बाष्पोदितश्चेति।

शिरोऽभ्यङ्ग में प्रयुक्त विषके विकार तथा उनकी शान्ति—शिरोऽभ्यङ्ग मे विष के प्रयोग करने से सिर मे पीडा, गाठों का उठना और केशों का गिरना ये विकार होते है। इनकी शान्ति के लिए अनन्तमूल, पालिन्दी (काली निशोत) और चौलाई इनके चूर्ण, घृत तथा रीछ के पित्तकी भावना दी हुई काली मिट्टी का लेप करे। अथवा—गोबर, मालती और मूषाकर्णी इन मे से किसी एक के रस मे घरका धुँवा मिलाकर

१ मृगोर्वारुकतकमूलानि, इति पा०।
२ 'अनेनोद्वर्त्तनघर्षण, इति पाठ।
३ कवचपादुकोपानत् इति पा०।
४ 'सुगन्धाम्रकल्क, इति पाठा०।
५ 'वेदना स्फोटानाम्' इतिपाठा०।

१ शिरोवेदना, इति पा०। २ "सुभावितया कृष्णमृदा लेपः" इति पा०। ३ "मूषिककर्ण्यन्यतमरसो वागारधूमो वा" इति पा०
४ "शिरःस्नानोदक" इति पा०। ५ "घृतक्षौद्रसंयुक्तः" इति पा०।
६ "सघृतैर्लेपो मधुसर्पिषोः पानम्" इति पा०।

लेप करे। अथवा—लिहसोडा की छाल, पाटला, सिरीस केबीज, मुलेठी, हल्दी, दारुहल्दी, इन सबके चूर्ण को बकरी के दूध मे मिलाकर परिषेक (तरेडा) करे। इसी प्रकार सिर धोने एव स्नान करने के जल, कङ्कतक[1] (कघी या कघा), माला और पगडी में प्रयुक्त किए हुए विष की चिकित्सा करनी चाहिए।

कर्णपूरण में प्रयुक्त विष के विकार और उनकी चिकित्सा—सुगन्धित तेल, इत्र आदि कान मे डालने योग्य द्रव्यों मे विष का प्रयोग करने से कान का सूजना, कान मे शूल और पकना ये विकार होते है—श्रोत्रवैगुण्य—सुनाई न देना या विपरीत सुनाई देना होता है। इनको शमन करने के लिए बडी कटेली (बहुपत्रा) का स्वरस घी और शहद मे मिलाकर कान मे डालना चाहिए।

मुख के लेप में प्रयुक्त विषविकार एव उनकी शान्ति- मुखलेप मे विषमिश्रित होने से मुँह का काला पड जाना, पद्मकण्टक (क्षुद्ररोगों मे कहा हुआ एक रोग), और अभ्यङ्ग मिश्रित विषके विकार चमडी का जलना (त्वग्दाह) और स्वेद आदि होते हैं। इनके शमनार्थ मुलेठी, क्षीरकाकोली, विदारीकन्द या दुद्धी, जियापोता, भारङ्गी, पुनर्नवा तथा चन्दन का लेप घृत मे मिलाकर करे और शहद-घी को मिलाकर पिलावे।

विषदूषित फूलों के सूँघने से होनेवाले विकार तथा उनकी चिकित्सा—विष से दूषित पुष्पों के सूघने से सिरमे पीड़ा, नेत्रों से आसू बहना और सुगन्ध-दुर्गन्ध का ज्ञान न होना ये विकार होते है। इनकी शान्ति के लिए अनन्तरोक्त (सब से पीछे कही हुई) मुखप्रलेप मे विषमिश्रित से होने वाले विकारों की चिकित्साविधि करनी चाहिए। अथवा बाष्पोदित विधि (सविष अन्न की बाफ से होनेवाले विकारों की शमनविधि) करनी चाहिए। इसका वर्णन पहले हो चुका है।

भवन्ति चात्र।

फलमूलच्छदादीना द्रव्यात्प्रक्षालनोदकम् ।
भाजनव्यञ्जनाना च तथा कुर्यादतन्द्रित ॥
घ्रेयाणि घ्रापयित्वा तु स्पृश्यान्सस्पृश्यतानपि ।
प्रतीवाप ततो दत्त्वा प्रतीक्ष्यैवैकनाडिकाम् ॥
ततो विज्ञाय शुद्धि च भाजनस्योदकस्य च ।
आहारमुपयुञ्जीत यथावद्वसुधाधिप ॥
मन्द तीक्ष्णविषाभ्यांशाद्विषमुत्क्षीयते भृशम्[2] ।
तस्मात्तीक्ष्णविष हस्ते बध्नीयात्कुशलो भिषक् ॥
विषसधारण धन्य रक्षोघ्न प्रीतिवर्धनम् ।

वैद्यद्वारा विषों से रक्षा - वैद्य को चाहिए कि वह सावधान तथा फल, मूल, पत्र, वर्तन, जल आदि भोजन समयोपयोगी समस्त समान को प्रथम शुद्ध कर ले। जल से भली भाति प्रक्षालन कर के अथवा फल, मूल और इसी प्रकार विषनाशक ओषधियों के पत्रों के प्रक्षालनोदक से व्यञ्जनादि के पात्रों को प्रक्षालन करे। उनमें से सूघने योग्यों को सूघकर, स्पर्श करने योग्यों का स्पर्श करके फिर उन प्रक्षालित पात्रों तथा व्यजनों मे विषनाशक ओषधियों का प्रतीवाप देकर एक घडी तक प्रतीक्षा करे। इस के अनन्तर पात्रों-व्यञ्जनों की सम्यक् शुद्धि का निश्चय कर यथावत् आहार की योजना राजा करे। ध्यान रहे कि तीक्ष्ण विषके अभ्यास एव पास मे रखने से मन्द विष का सर्वथा नाश होता है अत वैद्य का कर्त्तव्य है कि वह हाथ में विष को बँधावे या बाधे क्यों कि विष का सधारण करना धन्य, राक्षसों का नाशक और प्रीतिवर्धक है।

इसी प्रकार कुशल वैद्य को चाहिए कि वह अपना औषधालय सदा सुसज्जित रक्खा करे। वह औषधालय कैसा होना चाहिए अब इसको कहते है। साथ ही मे उसी के पास भोजनागार कैसा चाहिए इसका भी वर्णन करते है—

सापिधानघटीमूर्षाफलकस्थापितौषधम्[1] ।
प्रागुदीच्योर्दिशोर्गुप्त भैषज्यागारमिष्यते ॥
उच्चै प्रशस्तदिग्देश बहुवातायन महत् ।
महानस सुसमृष्ट विश्वास्यजनसेवितम् ॥
सद्वा स्थाधिष्ठितद्वार[2] कक्ष्यावत्सुवितानकम्[3] ।
सुधौतदृढकुम्भादि परिशुद्धजलेन्धनम् ॥
स्वकर्मकुशला दक्षा सूदास्तत्राप्रमादिन ।
कृत्तकेशनखा· पित्र्या राज्ञ कृत्यैरसगता ॥
तेषामधिपतिर्विप्र कुलज सुपरीक्षित ।
सविभक्तश्च भक्तश्च शुचिर्वैद्यवशानुग ॥
सर्वेऽपि भूभृदासन्ना शास्ता सततमीदृशा ।
मिथोविग्रहसघातरहिता भूभृते हिता ॥
तान्वैद्यो गुणवानेको मनसा प्रतिजागृयात् ।
भूभृद्देहोपकरणसरक्षणसमुद्यत ॥

औषधालय का वर्णन— वैद्यराज का औषधालय ऐसा चाहिए कि जो पूर्व या उत्तर दिशा मे सुरक्षित स्थान मे हो और जिसमे यथास्थान घडियों, थैलों तथा बहु कोष्ठकवाले काष्ठफलकों मे ओषधियाँ रक्खी हुइ हों।

रसोई घर का वर्णन—भोजनागार अर्थात् रसोई घर ऐसा चाहिए कि जो प्रशस्त दिशा एव अच्छे उच्च स्थान मे हो, जिसमे वायुसचार के लिए बडे बडे बहुत से झरोखे (गवाक्ष) बने हुए हों, जो अच्छी तरह से लिपा-पोता हो, जिसमे विश्वास करने के योग्य सब जन (सेवक या नौकर) हों, जिसके द्वार पर द्वारपाल (पहरेदार) स्थित हो, जिसके अलग-अलग कोठों या विभागों के ऊपर के भागों मे वितान (चादनी) तनी हुई हो, जिसमें शुद्ध जलसे धुये हुए कलश (घडे) आदि सब बर्तन हों, विशुद्ध जल एव इ धन (जलाने के काष्ठ) हों, रसोई बनानेवाले सूद (पाचक रसोइये) अपने कर्म में कुशल-चतुर और अप्रमादी (फुर्तीवाले) हों तथा उन रसोई बनानेवाले पाचकों के केश और नख कटे हुए हों, वे राजा से पिता की तरह प्रेम करनेवाले हों, वे 'राज्ञ कृत्यैरसगता, हों अर्थात् राजा के साथ क्रोध-लोभ और भय से कुटिलता करनेवालों के साथी न हों क्यों कि कुटिलों के साथी बन जाने से वे राजा के विपरीत

१ "कङ्कतक तु प्रसाधनम्" इत्यमरमाला।
२ 'विषाभ्यासात्, इति पा०।

१ मूटफलक, इति पा०। २ 'सद्द्वा स्था, इति पा०।
३ 'कक्ष्या गृह प्रकोष्ठे स्यात्, इति कोश।

बर्ताव करके उसे क्षति पहुचा सकते है। इन सब का अध्यक्ष अच्छी तरह परखा हुआ, कुलवान्, अलग रहते हुए भी राजा का भक्त, निर्मल और वैद्य की आज्ञानुसार काम करने वाला ब्राह्मण हो। राजा के पास रहनेवाले भी सब सज्जन हों, परस्पर मे लडाई-झगडा करनेवाले न हों और राजा के निरन्तर भक्त हों-हितचिन्तक हों। इन सब को राजा के शरीर के लिए सब उपकरण (सामग्री) की रक्षा करने मे तैयार ऐसा अकेला गुणवान् वैद्य मन से (सावधानतया) निरीक्षण करनेवाला-अपने वश मे रखनेवाला हो।

वैद्य केवल राजा का ही रक्षण न करे अपितु उसके लिए लडनेवाले योद्धाओं का भी चिकित्सादि करके सरक्षण करे। इसी लिए अब आचार्य उपदेश करते है कि—

अर्थाभ्यमित्र्य[1] व्रजतो जिगीषो-
वैद्य सुसज्जौषधशस्त्रयन्त्र'।
तुङ्गध्वजाख्यातनिवासभूमि-
र्युद्धागत योधजन चिकित्सेत् ॥

वैद्य योद्धाओं की भी चिकित्सा करे—ऊची ध्वजा कर के जिसकी निवासभूमि (घर) प्रख्यात है और जो अच्छी अच्छी ओषधियों एव शस्त्रक्रिया के उपयोगी शल्यतन्त्रोक्त शस्त्रों तथा यन्त्रों से सुसज्जित है उस वैद्यराज को चाहिए कि वह राजा के विजय की कामना से उस के शत्रुओं के सामने जानेवाले युद्धागत अपने योधाओं की भी चिकित्सा करे। इतना ही नहीं, शत्रुओं के सामने जानेवाले राजा तथा उसकी सेना का निम्नलिखित विषयों में भी अपने चिकित्सा कौशल्य द्वारा रक्षण करे। यथा—

पन्थानमुदक छाया भक्त यवसमिन्धनम्।
दूषयन्त्यरयो यस्मात्तान्विद्याच्छोधयेत च[2] ॥
प्रस्थान वा निवेश वा नाविज्ञाय प्रयोजयेत्।
भूवारितृणकाष्ठाश्ममार्गोन्मार्ग[3]वनस्पतीन् ॥
विषेणोपहता भूमि कचिद्दग्धेव लक्ष्यते।
प्रम्लानतृणगुल्मादि-मृतकीटसरी-सृपा ॥
वि ीर्यन्ते खुरनखा दाहकण्डूरुजान्विता'।
छर्दिर्मूर्च्छा ज्वरो मोह शिरोदु ख च जायते ॥
तत्र शोभाञ्जनान्मूल सोमवल्लीमुशीरकम्।
मा ुलुङ्गरस हिङ्गु पाययेद्दधिमात्रया ॥
मूत्राण्यजाविहस्तिभ्यो मासानि रुधिराणि च।
सर्वगन्धै समायोज्य पचेत्पक्वे च निक्षिपेत् ॥
सोमराजी सुनन्दाख्या सरला[4] गन्धनाकुलीम्।
चारटीं त्रायमाणा च प्रोक्षयेत्तेन ता भुवम् ॥

विष षित मार्गादि से रक्षा—शत्रु पर चढाई कर जानेवाले राजा और उसकी सेना के लिए उसके शत्रु राजा जिस मार्ग से जाना चाहता है वह मार्ग, उस मार्ग मे आनेवाले जलाशय, गहरी वृक्षों की छाया, भोजन की चावल आदि सामग्री, घास, इन्धन इन सब को विषप्रयोग कर दूषित कर देते है, इस लिए भूमि, जल, घास, काष्ठ, पत्थर, मार्ग (जिस से राजा और उसकी सेना जाना चाहती है), उन्मार्ग (कपट से और कोई मार्ग स्थिर किया हो), वनस्पति इन सब की जाच न करते हुए वैद्य को चाहिए कि वह ऐसे मार्ग से राजा को न प्रस्थान करने दे और न कही वैसी जगह तम्बू या डेरा डालकर ठहरने दे।

विषदूषित भूमि की परीक्षा—विष से दूषित भूमि कही कही जली हुई सी दिखाई देती है, उस पर के तृण-गुल्म आदि कुम्हला जाते है, कीडे, मकोडे, सर्प, विच्छू आदि मरे हुए पडे दिखाई देते है, उस भूमि पर चलने से प्राणियों के खुर, नख गिर पड़ते है और वे दाह, खाज, वमन, मूर्च्छा, ज्वर, बेहोशी से दु खित होते है और उन के सिर मे पीड़ा होती है।

विषदूषित भूमि के रोगों की चिकित्सा—विषदूषित भूमि से होनेवाले रोगों की शुद्धि के लिए सहॅजन की जड, गिलोय या बावची, खस, बिजोरे का रस और हीग को पीस कर दही के साथ पिलावे।

विषदूषित भूमि की शुद्धि—पूर्वोक्त लक्षणोंवाली भूमि हो तो बकरी, भेड और हाथी का मूत्र, इनके मास और रक्त इन सब में सुगन्धित द्रव्य सम मात्रा मे मिलाकर पकावे और पक जाने पर उस मे बावची, रास्ना, देवदारु, गन्धनाकुली (सर्पाक्षी-सर्प-गन्धा), पद्मचारिणी और त्रायमाण के चूर्ण को मिलाकर उस से भूमि का भली भाति प्रोक्षण करे। इस प्रकार विषदूषित भूमि की परीक्षा और उस के शमनोपाय को कहने के अनन्तर अब आचार्य विषदूषित जल की परीक्षा और उसकी शुद्धि का उपाय बताते हैं।

सविष विरस तोय कवोष्ण राजिभिश्चितम्।
फेनिल गुरु विच्छिन्न खगैरनभिनन्दितम् ॥
मृताकुलितमत्स्य च स्पर्शाद्दृक्शोफकण्डुकृत्[1]।
ओदन साधितस्तेन भुक्तमात्रो[2] विदह्यते।
पिदग्धः पच्यते कृच्छ्रा पक्वो मूर्च्छा ज्वरप्रद ॥
दर्शयेत्सर्वतो नीलपीतलोहितकर्बुरम्[3]।
तत्र शिग्र्वादिमगद भूमिदोषोदित पिबेत् ॥
अजशृङ्गी विशालाख्या विषघ्नीमुत्तमारणीम्।
फणिज्जक प्रतिविषा दग्ध्वा तद्भस्म गालयेत् ॥
बहुशो गालित तच्च पाचयेत्तत्र च क्षिपेत्।
कल्कयित्वा प्रतीवाप सरला[4] रजनीद्वयम् ॥
एलामुदीच्य मञ्जिष्ठा सुनन्दा बाकुचीमपि।
पात्यन्ते बिन्दवस्तस्माद्यत्र तन्निर्विषी भवेत् ॥
पाटलापारिभद्राश्च कर्णशम्याकशिग्रुकान्[5]।
कलशान्तर्गतान् दग्ध्वा प्रक्षिपेत्सविषेऽम्भसि ॥

---

१ "यो गच्छत्यल विद्विषत प्रति। सोऽभ्यमित्र्योऽभ्यमित्रीयोऽप्यभ्यमित्राण इत्यपि॥" इत्यमर
२ 'तद्विद्यात्' ३ 'मार्गोन्मार्गं' ४ 'सरल' इति च पाठान्तरम्।

१ कण्डुमत्, २ 'भुक्तमात्रोऽपि' ३ कर्बुरलोहितम्, ४ सरल। ५ सिग्रकान्, सिग्रक सि दुवार।

विषदूषित जल के लक्षण—विष से दूषित किया हुआ जल विरस (स्वादरहित), कवोष्ण (कुछ उष्णताको लिए), नाना रग की लहरोंवाला, फेनयुक्त, भारी, विच्छिन्न, पक्षियों से त्याज्य, जिसमे मछलियाँ तलफती हो या मरी हुई हों, छूने पर पीडाकारक-सूजन और कण्डुकारक इन लक्षणों वाला होता है और उस जलसे तयार किए हुए भोजन के सेवन से दाह उत्पन्न होता है। वह विदग्ध अन्न बडी देर से पचता है तथा पचने पर मूर्च्छा और ज्वर को करता है। उस विषदूषित जलका रङ्ग चारों ओर से नीला, पीला, कबरा और लाल होता है।

विषदूषित जलका शोधन -विषदूषित जल की शुद्धि के लिए पहिले भूमिशुद्धि के लिए बताया हुआ शिग्रु आदि अगद पिलाना चाहिए या जलाशय मे डालना चाहिए। इसके अतिरिक्त मेढासिगी, इन्द्रायन, गिलोय, उत्तमारणी (उत्तरण), मरुआ और अतीस को जलाकर राख करे। इस भस्म को जल में मिलाकर कई बार कपडे से छानकर फिर इस प्रकार पकावे कि वह गाढा हो जाय किन्तु आधा पकने के बाद इसमे देवदारु, हल्दी, इलायची, खस, मजीठ, सुनन्दा (रास्ना) और बाबची को पीसकर मिलावे। इस बने हुए औषध को जल मे मिलाकर इसकी बूदे जहा भी टपकाई जावेगी वह जगह, जल या जलाशय निर्विष होंगे। अथवा जल को शुद्ध करने के लिए पाटला, नीम, अश्वकर्ण, पलास, अमलतास और सहॅजन (इन्दुके पाठानुसार निर्गुण्डी-सम्हालू) इन सब के पञ्चाङ्ग को एक घडे मे डालकर जलावे और इनकी बनी हुई राख को जल मे डालना चाहिए। इससे जल शुद्ध होकर विषरहित हो जाता है।

अब विषदूषित वृक्षों की छाया के लक्षणों को और उनके शमनोपाय बताते है—

शीते घर्मो हिमश्चोष्णे मारुतो विषसयुत ।
भ्रममूर्च्छादिकारी च शिग्र्वादिस्तत्र चेष्यते ॥
देवदारुनतानन्तामधुकाञ्जनगैरिकम् ।
वज्रकन्द लता लोध्र विकिरेत् श्लक्ष्णचूर्णितम् ॥
वृक्षाग्रेषु पताकासु दूष्येषु सुमहत्सु च ।
सर्वतश्चूर्णसपर्कान्निर्विषो जायतेऽनिल ॥
विकृता भवति च्छाया पादपे विषदूषिते ।
निर्गन्धमतिगन्ध वा तत्पुष्प हृच्छिरोरुजम् ॥
कुर्यात्फलपलाशादि कण्डूपाकातिसारकृत् ।
भूमिमुद्दिश्य यत्प्रोक्त तत्सर्व तत्र चेष्यते ॥

विषदूषित वायु के लक्षण और शान्ति—मार्ग, वृक्ष और पत्थर आदि मे विष के प्रयोग करने से उस विष से युक्त होकर वायु दूतिष हो जाता है। वह विषाक्त वायु शीतकाल मे उष्ण और उष्णकाल मे शीतस्पर्शवाला होता है अर्थात् वायु का स्पर्श विपरीत होता है। उस विषैले वायु से चक्कर आना, बेहोशी आदि अनेक रोग होते है। इनकी शान्ति के लिए जो पहले सहॅजन का मूल आदि भूमिशोधनार्थ विधान कहा है वही करना चाहिए। इसके अतिरिक्त देवदारु, तगर, सारिवा, मुलेठी, अर्जुन वृक्ष, इन सब की छाल, गेरू, थूहर, प्रियगु और लोध इन सबको समभाग मे लेकर चूर्ण बनाकर विषदूषित बडे बडे वृक्षों, ध्वजाओं एव सर्वत्र छिडकने पर उस चूर्ण का सपर्क होते ही वायु निविष (शुद्ध) हो जाता है।

वृक्ष के विषदूषित होने से उसकी छाया मे विकृति पैदा होती है, उसके पुष्प गन्धरहित या बहुत गन्धवाले होते है और उनके सूघने से छाती (हृदय) और सिर मे पीडा होती है। उस वृक्ष के फल और पत्र कण्डूपाक (खुजली सूजन) और अतीसार के करनेवाले होते है। इन सब की शान्ति के लिए जो उपाय भूमि के सशोधनार्थ कहे है, वे ही करने चाहिए।

शत्रु को मारने के लिए लोग कई दिन तक विष का अभ्यास कराकर विषकन्या तयार करते है। राजा को चाहिए कि वह उस प्रकार कन्याओं से भी बचता रहे। इस लिए कहते है कि—

न च कन्यामविदिता सस्पृशेदपरीक्षिताम् ।
विविधान्कुर्वते योगान् कुशला खलु मानवा ॥
आजन्म विषसयोगात्कन्या विषमयी कृता ।
स्पर्शोच्छ्वासादिभिर्हन्ति तस्यास्त्वेतत्परीक्षणम् ॥
तन्मस्तकस्य[1] सस्पर्शान्म्लायेते पुष्पपल्लवौ ।
शय्याया मत्कुणैर्वस्त्रे यूकाभि स्नानवारिणा[2] ॥
जन्तुभिर्म्रियते ज्ञात्वा तामेव दूरतस्त्यजेत् ।

विषकन्या की परीक्षा—शत्रु पर चढ़ाई कर जानेवाले राजा को चाहिए कि वह बिना जानी हुई और बिना परीक्षा की हुई किसी कन्या से स्पर्शतक न करे क्यों कि चतुर लोग अनेक प्रकार के प्रयोग करके राजा को छलते है। उसी मे का एक विषकन्यावाला प्रयोग है। जन्म से लेकर विष के सयोग कराने से कन्या विषमयी अर्थात् विषकन्या हो जाती है। उस कन्या के छूने से, श्वासोच्छ्वास से मनुष्य मर जाता है। उस विषकन्या की परीक्षा यह है कि उसके मस्तक, केश और हाथ से स्पर्श होते ही पुष्प और पत्र कुम्हला जाते है। उसकी शय्या मे मत्कुण (खटमल) मर जाते है। उसके कपडो मे जुए मर जाती है और उस के स्नान किए हुए जल में मक्खियाँ आदि जीव मर जाते है। इस प्रकार से परीक्षा कर उस विषकन्या का दूर ही से त्याग करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त और भी उपदेश करते है कि—

नाप्रोक्षित नाविदित भिषजा नानवेक्षितम् ॥
नाप्राशित च सूदाद्यै कश्चिदप्याहरेन्नृप ॥

राजा के लिए अप्रोक्षितादि अन्न का निषेध—राजा को चाहिए कि वह ऐसे अन्न का सेवन कदापि न करे जो मन्त्र या अगद के जल से प्रोक्षण न किया गया हो, जिसे वैद्य ने न देखा हो

---

१ तथाजश्रृङ्गादीन दग्ध्वा भस्मोदकेन समिश्र्य गालयेत्, पुनः श्रावयेत्। बहुशश्च गालित पचेदाघनीभावात्। प्रतीवापमर्ध पक्वे देयम्, इतीन्दु।

[1] 'तद्धस्तकेशसस्पर्शात्' इति च पाठान्तरम्।
[2] 'स्नानवारिणि' इति पाठान्तरम्।

और जो पाचक (रसोइया) ने प्राशन न किया हो अर्थात् जिसे रसोइया ने न खाया हो।

"रसोइया के बिना खाए उस अन्न को राजा सेवन न करे" इस नियम का कारण यही प्रतीत होता है कि मित्र, बाधव आदि पाचक के सकटभय से भी विषदाता कदाचित् उस अन्न मे विष प्रयुक्त नही कर सकता। साराश, राजा की मृत्यु न होकर हमारे मित्र या बन्धु पाचक (रसोइया) की ही मृत्यु हो जायगी इस भय से विषदाता विष का प्रयोग नही करता।

अब आचार्य विषादिसर्वदोषघ्न सर्वार्थसिद्ध नामक अञ्जन का वर्णन करते है—

धन्य सर्वार्थसिद्धाख्य पापरक्षोविषापहम् ।
पर चक्षुष्यमायुष्य शत्रुघ्न वक्ष्यतेऽञ्जनम् ॥

अथ शुक्लपक्षे पुण्येऽहनि पुष्यपुनर्वसुहस्तचित्रा-मृगशिर श्रवणरेवतीशतभिषक्प्राजापत्योत्तराणामन्यत मेन नक्षत्रेण योगमुपगते भगवत्यौषधिपतौ प्रशस्ते मुहूर्त्ते सिन्धुस्रोत समुत्थ स्निग्ध सप्रभ गन्धवर्णच्छे-दैर्नीलोत्पलाभमञ्जनमाहरेत्। तस्याष्टौ भागा। कनक-रजतोम्दुंबराणामेकैको भागस्तत्सर्वं मूषाया प्रक्षिप्य बलिमङ्गलपूर्वकमग्निमुपसमाधाय खदिरकदरधवस्य न्दनान्यतमदारुभिर्गोमयैर्वा प्रज्वालयेत्। ततश्चार्याव-लोकितेश्वरमार्यतारा ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रादित्यसोमवरुण वैश्वानरवायुविष्णुजनकभरद्वाजधन्वन्तरिसुश्रुतभव्यसु-कन्या-स्कन्दच्यवनवैनतेयानन्यॉश्च यथा विध्युक्त-देवता सुमनोऽक्षतलाजस्वस्तिकसयावनिस्तुषयवसस्कृ तगुडघृतमिश्रपायसैरर्चयित्वा वृद्धवैद्यब्राह्मणाश्च शुक्ल-वाससो महतीभिर्दक्षिणाभि पूजयित्वा तस्मिन्नग्नौ तदञ्जन ध्मात ध्मातमावर्त्य पृथक् पृथङ्निषेचयेद्गो-शकृद्रसमूत्रघृतदधिक्षौद्रवसामज्जतैलमद्यसर्वगन्धाम्बु-शर्करोदकेक्षुरसेषु तथा हरीतक्यामलकविभीतककाश्म र्यमृद्वीकाशृङ्गाटककसेरुकोत्पलनलिनसौगन्धिकमृणा-लिकाकाथेषु तथा लावकपिञ्जलैणशशहरिणकुलीररसेषु तथा मधुकचन्दनकालानुसार्यनलदपद्मकोशीरमञ्जि ष्ठानन्तागैरिककुङ्कमोदकेषु। तत शुक्लवाससि बध्वा द्वादशरात्रमान्तरिक्षेऽम्भसि वासयेत्। ततश्छायाया विशोष्य स्फटिकमुक्ताप्रवालकालानुसार्यप्रतीवाप पुन रपि बलिमङ्गलपूर्वक महद्वाससा कन्यया दृषदि पेष-यित्वा सुवर्णरजतताम्रशङ्खशैलद्विरदरदनगवलवैदूर्य स्फटिकमेषशृङ्गासनसारान्यतमघटितायामञ्जनिकाया निधापयेत्। अथ पुनरपि पूर्ववत्कृतस्वस्त्ययन सावि त्रेण कर्मणा सर्वविद्द्विजन्मा विधिवत्तदभिसस्कुर्यात्। ततो गजस्कन्धमारोप्य पाण्डुरच्छत्रचामरबालव्यजने रनुगत तथा शङ्खदुन्दुभिस्वनैर्द्विजातिवरप्रयुक्तैश्च वेदवादमिश्रै पुण्याहघोषैः कृतपुष्पोपहार वैद्यगृहा न्नायकगृहमनुप्रवेशयेत्। अनन्तर च तेन विदेहाधि पोपदिष्टेन सर्वार्थेषु सिद्धेनाञ्जनेन यथोक्तानामेवाञ्जन भाजनद्रव्याणामन्यतमया शलाकया गोत्राह्मणपूजा पूर्वक शुचि सनियमो भूत्वा धारणीमिमा विद्यामधी यान पूत पूर्वमक्षिदक्षिणमञ्जयेत्। नमश्चक्षु परि शोधनराजाय तथागतायार्हते सम्यक् सबुद्धाय। तद्यथा—ॐ चक्षु प्रज्ञाचक्षुर्ज्ञानचक्षुर्विज्ञानचक्षुर्विशो धय स्वाहा। ततः पर तामेव धारणीमनुस्मरन् साय प्रात प्रत्यहमेतत्परम पवित्रमारोग्यकरमूर्जस्कर सर्व विघ्नहरमञ्जनमश्विभ्यामिन्द्रस्य वृत्रवधाभ्युदितस्य प्राक् प्रकल्पितम्। तस्मादेतद्राज्ञा राजमहामात्राणा च मही विजिगीषमाणाना ब्राह्मणाना च वेदाध्ययनम न्यद्वा महच्छास्त्रमवगाहमानाना प्रसन्नमना भिषक प्रकल्पयेदिति।

सर्वार्थसिद्धाञ्जन की विधि—अब धन, सर्वसिद्धि और आयुष्य के बढानेवाले, नेत्रों के लिए हित करनेवाले, पाप–राक्षस और विष के हरनेवाले, शत्रु का नाश करनेवाले ऐसे परम श्रेष्ठ सर्वार्थसिद्ध नामक अञ्जन को कहते है। शुक्ल पक्ष की द्वादशी, नवमी आदि किसी श्रेष्ठ तिथि मे, पुष्य–पुनर्वसु–हस्त–चित्रा–मृगशीर्ष–श्रवण–रेवती–शततारका–रोहिणी–उत्त राफाल्गुनी–उत्तराषाढा और उत्तराभाद्रपदा इन मे से किसी भी शुभ नक्षत्र का योग भगवान् चन्द्रमा के साथ होने पर शुभ मुहूर्त्त मे समुद्र के स्रोतों से उत्पन्न चिकना, चमकदार, गन्ध–वर्ण और पत्रों (पर्त्तो) से युक्त तथा नील कमल के रगवाले अञ्जन अर्थात् सुर्मे को ग्रहण करे। इस सुर्मे के ८ भाग लेवे और सुवर्ण, रजत (चादी–रूपा) तथा ताबा का एक एक भाग ले कर इन सब को एक मूषा (घडिया) मे डाल कर बलि–मङ्गल–पूर्वक अग्नि को लाकर खैर, कदर (खदिरविशेष), धव और तिनिश इन मे से किसी एक के काष्ठ या गोमय अर्थात् गाय के गोबर के सूखे कण्डों से प्रज्वलित करे। इस के अनन्तर आर्यावलोकितेश्वर–आर्यतारा–ब्रह्मा–दक्ष–अश्विनीकुमार–रुद्र–इन्द्र आदित्य–सोम-वरुण–अग्नि–वायु–विष्णु–जनक–भरद्वाज–धन्वन्तरि–सुश्रुत–भव्य सुकन्या (सुन्दर कुमारिका), स्कन्द–च्यवन–गरुड और अन्य देवताओं का पुष्प, अक्षत, लाजा–स्वस्तिक, सयाव (हलुआ), तुषरहित यवों से सस्कृत गुड और घृतमिश्रित दूध से यथाविधि पूजन कर, वृद्धों–ब्राह्मणों और वैद्यों को शुभ्र वस्त्र और महती दक्षिणा देकर उस पूर्वस्थापित एव प्रज्वलित अग्नि में उस सुर्मे की मूस को रख धमा–धमाकर गलावे–द्रवित करे और गाय के गोबर का निचोड कर निकाला हुआ

१ 'सूदादीनां प्राशननियमो मित्रबान्धवादिव्यापत्तिभयात्कदा चिन्न ददाति विषम्' इतीन्दु।

२ "शुल्बमौदुम्बर रक्त म्लेच्छास्य ताम्रकविदु" इति हारावली।

३ 'स्यन्दनानामन्यतम' इति पा०। ४ 'चवन'

५. 'मावृत्य' ६. 'गवयशृङ्ग'

१ 'विषहर' २ 'भ्युद्यतस्य' इति पाठान्तराणि।

रस, गोमूत्र, गाय का घी और दही, शहद इन पञ्चामृत के द्रव्यों मे अलग, अलग बुझावे–भावना दे। इसी प्रकार वसा, मज्जा, तेल, मद्य, सब प्रकार की सुगन्धित ओषधियों का जल, शर्करोदक (शरबत), ईख का रस इन मे तपा तपा कर गला गला कर अलग अलग बुझावे तथा इसी प्रकार हरड़, बहेडा, आवला, खम्भारी, द्राक्षा, सिघाडा, कसेरू, कमोदिनी, कमल, सौगन्धिक (कमलविशेष) या तज–पत्रज–इलायची और कमल की नाल इन सब के काढों मे अलग अलग तपा तपा कर गला गला कर उस मूषा मे के सुर्मा–सोना चादी–ताबा को बुझावे। इसी प्रकार लावा–तीतर–कृष्णमृग–खरगोश–लाल मृग–खेकडा इन सब के मासरस में अलग अलग बुझावे। इसी प्रकार मुलेठी, चन्दन, तगर, जटामासी, पद्माख, खस, मजीठ, सारिवा, गेरू, केसर इन सब के जलों मे उस सुर्मे आदि को तपा तपा कर गला गला कर अलग अलग बुझावे। इस के अनन्तर शुद्ध श्वेत कपडे मे बाध कर बारह दिन तक आन्तरिक्ष जल (ऊपर से बरसते हुए अधर ग्रहण किए हुए जल या आकाश से वरसे हुए जल) मे रक्खे। इसके अनन्तर उस सुर्मे या अञ्जन को छाया मे सुखा कर उस मे स्फटिक–मोती–मूगा और तगर का प्रतीवाप दे अर्थात् ये द्रव्य उस मे डाले। इस के बाद पुन बलि–मङ्गल–पूर्वक जिस के वस्त्र अविच्छिन्न (फटे हुए नही) हों ऐसी कुमारिका कन्या के द्वारा खरल मे पिसवाकर सुवर्ण, रजत, ताम्र, शख, शिला, हाथीदात, भैंसे का सीग, मूँगा, स्फटिक, मेढे का शृङ्ग, विजयसार इन मे से किसी एक से तयार की हुई अञ्जनिका (सुर्मादानी) में उस कन्याद्वारा वैद्य को चाहिए कि उस सुर्मे को रखावे। इस के अनन्तर फिर पूर्ववत् अथर्ववेद के अनुसार गायत्री जपनेवाले ब्राह्मण से स्वस्ति–वाचन कराकर उस सुर्मादानी को सुसस्कृत करे। तत्पश्चात् उस सुर्मादानी को हाथी के स्कन्ध पर रख कर स्वच्छ छत्र किए हुए, चॅवर–बालव्यजन डुलाते हुए, शख–नगारे बजाते हुए, श्रेष्ठ द्विजातिकृत वेदमन्त्रों से पुण्याहवाचन का घोष करते हुए जिस पर पुष्पोपहार चढा हुआ है उस सुर्मादानी को वैद्य के घर से नायक अर्थात् राजा या जिसने वह अञ्जन तयार करवाया है, उस के घर मे प्रविष्ट करे। इस के बाद अञ्जन के लिए जिन जिन धातुओंद्वारा बनाई जाती है उनमे से किसी एक धातु से बनी हुई सलाई–द्वारा इस सर्वार्थसिद्ध करने वाले अञ्जन को नियम एव गो–ब्राह्मणपूजन–पूर्वक शुद्ध हो कर आगे कही हुई धारणी विद्या के "नमश्चक्षु परिशोधन राजाय तथागतायाहत सम्यक् सबुद्धाय ॐ चक्षु प्रज्ञाचक्षुर्ज्ञानच क्षुर्विज्ञानचक्षुर्विशोधय स्वाहा' इस मन्त्र से जप करता हुआ पवित्र वैद्य प्रथम दाहिनी आख मे लगावे।

इसी प्रकार नित्यप्रति साय, प्रात धारणी विद्या को स्मरण करता हुआ इस परम पवित्र आरोग्य कर–ऊर्जस्कर–सर्वविष–विघ्ननाशक अजन का सेवन करे। वृत्रासुरवध के लिए समुद्यत इन्द्र के अर्थ पहले ही अश्विनीकुमारों ने इस अञ्जन की कल्पना की है। इस लिए पृथ्वी को विजय करने की इच्छावाले राजाओं, राजाओं के अमात्यों, वेदाध्ययन एव किसी महत् शास्त्र का अवगाहन करनेवाले ब्राह्मणों के लिए वैद्य को चाहिए कि वह प्रसन्न मन से इस अञ्जन की योजना करे।

भवन्ति चात्र[1]।

अथ योगा प्रवक्ष्यन्ते बृहस्पतिकृता शिवा।
यान् सेवमानो नृपति शत्रुभ्यो नैति वञ्चनाम्॥
बिल्वाढकीयवक्षारपाटलीबाह्लिकोषणा।
श्रीपर्णीशाल्मलीयुक्ता नि क्वाथप्रोक्षण परम्॥
सविष प्रोक्षयेत्तेन सद्यो भवति निर्विषम्।
यवसैन्धनपानीयवस्त्रशय्यासनौदनम्॥
कवचाभरणच्छत्रवालव्यजनवेश्म च।
सेलुपाटल्यतिविषाशिग्रुगोपीपुनर्नवम्॥
समङ्गा विषमूलत्वक्कपित्थवृषशोणितम्।
सहदन्तशठ तद्वत्प्रोक्षण विषनाशनम्॥
लाक्षा प्रियङ्गु मञ्जिष्ठासमङ्गालहरेणुका।
सयष्ट्याह्वामधुयुता[3] बभ्रुपित्तन कल्किता॥
निखनेद्गोविषाणस्था सप्तरात्र महीतले।
तत कृत्वा मणि हेम्ना बद्ध हस्तेन धारयेत्॥
सस्पृष्ट सविष तेन सद्यो भवति निर्विषम्।
मनोह्वालशमीपुष्पत्वक्छिनशाश्वेतसर्षपा॥
कपित्थकुष्ठमञ्जिष्ठा पित्तेन श्लक्ष्णकल्किता।
शुनो गौ: कपिलायाश्च सौमाख्योऽय वरोऽगद॥
विषजित्परम कार्यो मणिरत्र[4] च पूर्ववत्।
मूषकाजरुहा वापि हस्ते बद्धा विषापहा॥
हरेणुमासीमञ्जिष्ठारजनीमधुक मधु।
अक्षत्वक् सुरस लाक्षा श्वपित्त पूर्ववन्मणि॥
वादित्राणि पताकाश्च पिष्टैरेभिश्च लेपितै[5]।
श्रुत्वा दृष्ट्वा समाघ्राय सद्योभवति निर्विष॥
त्र्यूषण पञ्चलवण मञ्जिष्ठा रजनीद्वयम्।
सूक्ष्मैला त्रिवृता पत्र विडङ्गानीन्द्रवारुणीम्॥
मधुक चेति सक्षौद्र गोविषाणे निधापयेत्।
तस्मादुष्णाम्बुना मात्रा प्राग्भक्त योजयेत्तथा[6]॥
विष भुक्त जरा याति निर्विषेऽपि न दोषकृत्।
जतुसर्जरसोशीरसर्षपापत्रवालकै॥
सवेल्लारुष्करपुरै कुसुमैरर्जुनस्य च।
धूपो वासगृहे हन्ति विष स्थावरजङ्गमम्॥
न कीटा सविषास्तत्र नोन्दुरा न सरीसृपा।
न कृत्या कार्मणाद्याश्च[7] धूपोऽय यत्र दह्यते॥
शिखिपिन्छ बलाकास्थि सर्षपाश्चन्दन घृतम्।

१ 'चात्र श्लोका' इति च पाठ। २ 'पञ्चताम्' इति पाठान्तरम्।
३ 'यष्ट्याह्वमधुसयुक्ता इति पा०। ४ 'मणिरत्न च' इति प०
५ 'लेखिता' इति पा०। ६ 'विनियोजयेत्' इति पा०
७ 'कर्षणाद्याश्च' इति पा०

धूपो विषघ्नः शयनवसनासनगेहगः ॥
विशालाव्योषमञ्जिष्ठायष्टीलवणपञ्चकम् ।
द्विनिशापत्रवेल्लैलात्रिवृच्चूर्णं समाक्षिकम् ॥
पूर्वोक्तं त्र्यूषणादि च स्नानीयेऽम्भसि योजयेत् ।
क्वाथोऽथवार्ककुसुमश्वेतापामार्गसर्षपैः ॥
सदध्याज्यः कृतो युक्तैः समाचीनाकुलीयकैः ।
कल्को वा चन्दनक्षीरिपलाशद्रुमवल्कलैः ॥
मूर्वैलवालुसुरसनाकुलीतन्दुलीयकैः ।
क्वाथः सर्वेषु कार्येषु काकमाचीयुतैर्हितः ॥
रोचनापत्रनेपालीकुङ्कुमैस्तिलकान्बहून् ।
विषैर्न बाध्यते स्याच्च नारी नरः नृपप्रियः ॥
चूर्णैर्हरिद्रामञ्जिष्ठाकिणिहीकणनिम्बजैः ।
दिग्ध निर्विषतामेति गात्रमित्याह गौतमः ॥

बृहस्पतिप्रोक्त विषनाशक प्रयोग—अब आचार्य बृहस्पति के निर्माण किए हुए ऐसे कुछ प्रयोगों का वर्णन करते है, जिनके सेवन करने से राजा आदि कोई भी शत्रुओं की ठगाई मे नहीं आ सकता। अथवा वह शत्रुओंद्वारा नहीं मारा जा सकता।

विषनाशकप्रोक्षण—बेल, अरहर, जवाखार, पाटली, बाल्हीक[४] (केसर या हीग) काली मिरच, कायफल और सेम्हल इन सबको समभाग मे लेकर काढा बनावे और फिर उस काढे का निकाढ़ा (निःक्वाथ) तयार करे यह काढा या निकाढा विष का नाश करने मे श्रेष्ठ प्रोक्षण है । विषयुक्त पदार्थ पर इसके छिडकने से वह तुरन्त निर्विष हो जाता है। घास, इन्धन, वस्त्र, जल बिछौना, आसन, अन्न (भात आदि) कवच, आभरण (अलकार) छत्र, चँवर, पखा तथा घर इनके सविष होने पर छिडकाव करने से ये सब तुरन्त निर्विष हो जाते है। जिन वस्तुओं का काढा बनाकर वस्त्र से छान लिया जाता है, परन्तु कषाय बनाने के बाद उन वस्तुओं को न फेक कर पुनरपि जल डाल कर काढा बनाया जाता है । इसका नाम निकाढा (निःक्वाथ) कहते है। निकाढ़े का प्रयोग दक्षिण मे विशेष किया जाता है।

ल्हिसौडा, पाडल, अतीस, सहॅजन, अनन्तमूल, पुनर्नवा, मजीठ, विषमूलत्वक् (वत्सनाभादि किसी जगम विषके मूल की छाल), कैथ, वृषशोणित (बैल का रक्त या अडूसा, हिगुल परन्तु यहा वृषभरक्त ही उचित प्रतीत होता है इसलिए कि अन्यान्य विषनाशक प्रयोगों मे भी भिन्न भिन्न प्राणियों के पित्त आदि का उल्लेख दिखाई देता है।) और जम्भीरी नींबू का प्रोक्षण भी विष का नाशक है ।

विषनाशक मणि का विधान—पीपल की लाख, प्रियगु, मजीठ, समङ्गा (लजालू-हाथाजोडी,), हरताल, रेणुकाबीज, मुलेठी, इन सबको पीस शहद मे मिलाकर नकुल (न्यौलिया-बभ्रु) के पित्त से मर्दन करे और कल्क बनावे। इस कल्क को गाय के सीग मे भरकर पृथ्वी मे सात दिन तक गाड दे। इसके पश्चात् बाहर निकाल कर इसका मणि (गोलाकार मणिवत्) बनाकर उसे सोने मे मँढावे। इसके हाथ मे धारण करने से विष नष्ट होता है। इतना ही नही, विषसहित वस्तु को इस मणिसहित हाथ का स्पर्श होते ही वह निर्विष हो जाती है।

विषनाशक मणि की द्वितीय विधि—मैनसिल, हरताल, शमी के पुष्प और छाल, हल्दी, सफेद सरसों, कैथ, कूट और मजीठ इन सबको समान भाग मे लेकर कुत्ते और कपिला गाय के पित्त (गोरोचन) के साथ मर्दन कर कल्क तयार करे। इस कल्क से भी पूर्ववत् मणि तयार करे। भावार्थ यह कि इस कल्क को भी पूर्ववत् गाय के सीग मे भर कर पृथ्वी मे सात दिन तक गाड देवे। फिर निकाल कर मणि तयार करे और सोने मे मँढाकर अपने हाथ मे धारण करे तो उस हाथसे स्पर्श करनेवाला सब प्रकार के विष का नाशक होता है। इसका नाम सौम्य अगद है। यह विशेषत विष का नाशक माना गया है।

विषनाशिनी मूषिकाजरुहा बूटी का वर्णन—मूषिका अथवा अजरुहा इन दोनों बूटियों मे से किसी एक को हाथ मे बाधने से वह विषको दूर करती है। इन्दु का कथन है कि मूषिका नामक एक ओषधि है और कुछ लोगों के मतानुसार वह द्रावन्ती है। अजरुहा प्लक्षरुहा (पाकर वृक्ष पर उगनेवाली एक बूटी) है। सुश्रुत के कल्पस्थान मे भी इन बूटियों का वर्णन आया है परन्तु टीकाकार डल्हण महर्षि उशना के वचनों को उद्धृत कर कहते हैं कि "अजरुहा वह बूटी है जिसका कन्द श्वेतवर्णयुक्त, पिडिकावाला, तोडने पर सुर्मे की तरह काले रग का होता है तथा ओषधि सूघने, पीने और लेप करने से विष का नाश करती है। इसी के तुल्य गुणोंवाली मूषिका बूटी है और वह काले रग की तथा लोमशा (रोमवाली) होती है।

विषनाशक और भी मणिविधान—रेणुकाबीज, जटामासी, मजीठ, हल्दी, मुलेठी, शहद, बहेडे की छाल, तुलसी, लाख इन सबको कुत्ते के पित्त मे मर्दन कर के, गाय के सीग मे भर, भूमि मे सात दिन तक गाडकर निकाले और पूर्ववत् मणि बनाकर सोने मे मँढावे और हाथ मे धारण करे तो विष का नाश होता है। इन ओषधियों को पीस कर यदि वादित्रों (नगारे आदि बाजों) ध्वजा-पताकाओं पर लेप कर दे तो उन बाजों-ध्वजा पताकाओं के सुनने, देखने और सूघने आदि से भी तुरन्त विष का नाश हो जाता है।

विष को पचानेवाला चूर्ण- सौठ, मिरच, पीपल, पाचों नमक (सौवर्चल, सैन्धव, बिड, औद्भिद और सामुद्र), मजीठ हल्दी, दारुहल्दी, छोटी इलायची, निशोत, तेजपात, वायवि

१ 'योज्य स्नानीयेऽम्भसि भूपते' इति पा० २ 'कतकानाकुलीद्वयैः' इति पा० ३ 'बहून्' इति पा० ४ 'बाल्हीक कुङ्कुमम्' इतीन्दुः । 'बाल्हीक हिङ्गुरामठम्, इत्यमरः ।

१ 'मूषिका नामौषधि । द्रवन्तीति केचित्। अजरुहा प्लक्षरुहा। इतीन्दु, "मूषिकाजरुहा वापि हस्ते बद्धातु भूपते । करोति निर्विषं सर्वं मन्त्र विषसमायुतम्। इति सुश्रुतकल्पस्थान अ० १) मूषिकेत्यादि अजरुहा लक्षणमुशनसा प्रोक्तम्-कन्दः श्वेतः सपिडिको भेदे चाञ्जनसन्निभः । गन्धलेपनपानैस्तु विष जरयते नृणाम्॥ दष्टानां विषपीतानां ये चान्ये विषमोहिता । विष जरयते तेषा तस्मादजरुहा स्मृता ॥ मूषिका लोमशा कृष्णा भवेत्सापि च तद्गुणा॥" इति टीकाकारो डल्हण ।

डङ्ग, इन्द्रायन, मुलेटी इन सब के समान भाग चूर्ण को शहद में मिलाकर गाय के सीग मे रक्खे। इसमे से चूर्ण की मात्रा उष्णोदक से भोजन के पहले सेवन करावे। इससे बाद मे खाया जानेवाला अन्नसह विष भी पच जाता है। विष न खाया हुआ हो तो भी इस चूर्ण की मात्रा से किसी प्रकार की हानि नहीं होती।

विषनाशक धूपविधि— लाख, राल, खस, सरसों, पत्रज, नेत्रबाला, बायविडङ्ग, भिलावा, गूगल (मतान्तर से बेल, भिलावा और यव) और अर्जुन वृक्ष के पुष्प इनका धूप जिस घर में जलाया जाता है, वहा के स्थावर-जङ्गमादि सब विषों का नाश हो जाता है, उस घर मे विपैले कीडों, मूषकों और सर्प, विच्छू आदि का उपद्रव नही होता और न किसी का किया मन्त्र-यन्त्र-टोनाटोटका ही चल सकता है। इसी प्रकार मोरके पख, बला का (बगुले का एक भेद) की अस्थि, सरसों, चन्दन और घृत का धूप जलाने से भी वह धूप शयन, वस्त्र, आसन और घर के विष का नाश करता है।

विषनाशक स्नान, जल-विधि—इन्द्रायन, सौंठ, मिरच, पीपल, मजीठ, मुलेठी, लवण पञ्चक (सोंचर-सैंधा-बिड-खारी और समुद्र नमक), दारुहल्दी, हल्दी, तेज-पात, बायविडङ्ग, इलायची और निशोत इन सब को पीस कपडछान करे, फिर शहद के साथ मिला कर पहले कहा हुआ त्र्यूषणादि चूर्ण मिलावे फिर इस चूर्ण को स्नान करने के जल मे डाले। अथवा—आक के पुष्प, श्वेत अपामार्ग, सरसों, मकोय, नाकुलीयक (सर्पगन्धा) इन सबका काढ़ा दही और घृत से सयुक्त कर स्नान करने के जल मे मिलावे। अथवा—चन्दन, क्षीरिवृक्ष (आक या बड, पीपल, गूलर, पाकर आदि किन्तु यहा पूर्वकथनानुसार आक ही अभीष्ट है) और पलाशके वक्कल, मूर्वा, नेत्रबाला, तुलसी, सर्पगन्धा, चौलाई का कल्क या कषाय बनाकर स्नानीयादि सभी प्रकारके जलमें प्रयुक्त करे। इस औषधि-सस्कृत जलमे स्नानादि करने पर विषका शमन हो जाता है।

विषनाशक तिलक—गोरोचन, तेजपान, मैनसिल, केसर इन सबको साथ में पीसकर ललाट मे बहुत से तिलक लगाने से उसे विष की बाधा नहीं हो सकती और वह तिलक लगानेवाला नर, नारी और नरेश इन सब का प्रिय (प्यारा) होता है।

विषनाशक उबटन—हल्दी, मजीठ, अपामार्ग के बीज, नींब की निबौरी इन सबको पीस शरीर पर लेप करने से सब शरीर निर्विष होता है, यह गौतम मुनिजीका कथन या आदेश है।

नस्यपानाञ्जनालेपैर्युञ्ज्यात्सजीवनादिकान्[1] ।
अगदान्विषजग्धस्य तीक्ष्णानि वमनानि च ॥
पिप्पलीमधुकक्षौद्रशर्करेक्षुरसैः सह ।
द्विनिशापत्रवेल्लैलात्रिवृच्चूर्णं समाक्षिकम् ॥
विरेचन सिरामोक्ष प्राप्त विस्रावण यदि ।
हृदयावरण कार्यं[1] प्रागेव[2] हितमिच्छता ॥
पिबेद्घृतमजेयाख्यममृत चाप्यभुक्तवान् ।
सर्पि क्षौद्र दधि क्षीरमन्तत शीतल जलम् ॥
सितामधुकपालिन्दीकल्कवन्मासमिष्यते ।
गोधाहरिणबभ्रूणा सकणाशुण्ठि पार्षतम् ॥
सनागर सातिविष शिखिन ससितोपलम् ।
सुशीता सघृताश्चैषा यथास्व कल्पिता रसा ॥
विषपीताय दद्याच्च शुद्धायोर्ध्वमधस्तथा ।
सूक्ष्म ताम्ररज काले सक्षौद्र हृद्विशोधनम् ॥
शुद्धे हृदि तत शाण हेमचूर्णस्य दापयेत् ।
न सज्जते हेमपाङ्गे पद्मपत्रेऽम्बुवद्विषम् ॥
जायते विपुल चायुगरेऽप्येष विधि स्मृत ।
इत्थ विषगरादिभ्यो रक्षेद्वैद्यो नरेश्वरम् ॥
स्यात्तदुच्छेद उच्छेद प्रजाना सर्वकर्मणाम् ।

विषको दूर करने के सर्वसामान्य उपाय—जिसने विष खा लिया हो उसके लिए वैद्य को चाहिए कि वह नस्य-पान-अञ्जन और लेपों की तथैव सजीवन आदि अगदों की योजना करे। तीक्ष्ण अर्थात् तेज वमन करावे। इस वमन के लिए पीपल, मुलेठी, शहद, शर्करा और ईख के रस की योजना करे। इसी प्रकार दारुहल्दी, हल्दी, पत्रज, बायविडङ्ग, इलायची और निशोत के चूर्ण को शहद में मिलाकर विरेचनार्थ देवे। रक्त निकालने की आवश्यकता हो तो सिरामोक्षण विधि से फस्त खुलवावे परन्तु रोगी या राजा का हित चाहनेवाले वैद्य को चाहिए कि वह सबसे प्रथम विषप्रतिषेधाध्याय मे कहे हुए विधान के अनुसार हृदयावरण (घृत के द्वारा हृदय को आवरण करने की क्रिया) करे क्यों कि शरीर में जितनी सिरायें हैं वे सब हृदय से सलग्न हैं और इनके द्वारा दौडता हुआ सब विष हृदय मे पहुँच जाता है किन्तु घृत से प्रतिछन्न (ढके हुए) हृदय को विष अति पीडा नही कर सकता। अभुक्तवान् (भोजन न किया हुआ खाली पेट) विषप्रतिषेधाध्याय मे वर्णित अजेय-घृत तथा अमृत-घृत का पान करे। इसी प्रकार घृत, शहद, दही और दूध का पान करे। इनके अभाव मे या अन्ततोगत्वा शीतल जल का पान करे। मिश्री, मुलेठी और पालिन्दी (श्याम विधारा) के कल्क के साथ गोह, हरिण और नकुल के मास का सेवन कराना चाहिए। श्वेत विन्दुवाले हरिण का मास पीपल के साथ या सोंठ के साथ, इसी प्रकार मोर का मास सोंठ, अतीस और शर्करा के साथ सेवन करना चाहिए। इन पूर्वोक्त गोधा आदि के मास-रस (सीरुआ) भी यथा योग्य ओषधियोंसे युक्त कर ठण्डे किए हुए घृत से मिश्रित कर पिलाना चाहिए।

---

१ 'सजीवनात्मकान्, इति पा० २ 'भुक्तस्य, इति पा०

१ 'प्रागेवामित्रमध्यता' इति पाठान्तरम्। २ "हृदयावरण घृतपानेन हृदयाच्छादनम्। हृदयस्य सर्वधातुमूलत्वादाहारमार्गत्वात् प्रधान-मर्मत्वाच्च तस्मिन् विषघ्नघृतादिभि प्रच्छादिते सति विष सहसा नाति विसर्पति। उक्त चालम्बायनेन—'या सिरा सर्वगात्रेषु हृदये सप्रतिष्ठिता। नाभिरस्य विष सर्वं हृदय सप्रधावति॥ घृतेन तु प्रतिच्छन्न विष नातिप्रपीडयेत्। निर्वाणजनन सपि प्राणिनां प्राणवधनम्॥' इतीन्दु।

समयानुसार विष पीनेवाले को वमन-विरेचनादि देकर उसके ऊर्ध्व और अधोभाग को शुद्ध करके हृदय को शोधन करनेवाले सूक्ष्म ताम्रचूर्ण का सेवन शहद के साथ करावे। इससे तीक्ष्ण वमन होकर हृदय के शुद्ध हो जाने पर एक शाण (चार माशे) सुवर्णचूर्ण का सेवन करावे क्योंकि सुवर्ण का पान करनेवाले के शरीर में कमलपत्र पर जैसे जल-बिन्दु फैल नही सकता ठीक उसी प्रकार विष फैल नही सकता। वह दीर्घायुवाला होता है। यही विधान गर (कृत्रिम विष) के विषय में करना चाहिए। वैद्य को चाहिये कि वह इन सब प्रकारों से गर और विष से राजा का रक्षण करे। अन्यथा राजा का रक्षण नही होने से प्रजा भी सुरक्षित नहीं रह सकती राजा के विनाश होते ही उसकी प्रजा के भी सभी कारोबारों का नाश हो जायगा।

आज्ञाधैर्यक्षमात्यागा मानुषत्वेऽप्यमानुषा ।
यद्राज्ञ[1] कर्मभिस्तस्मादाराध्योऽसावातीन्द्रियै ॥
यत्र साक्षान्नृपस्तत्र विज्ञातः प्रविशेद्भिषक् ।
न समतोऽप्यनुचित यानस्थानासन भजेत् ॥
उचित[2] पुरतो राज्ञस्तिष्ठेद्वाक्य न चाक्षिपेत् ॥
अहीनकाल राजार्थ स्वार्थं प्रियहितै सह । ।
देशे काले परार्थं च वदेद्धर्मार्थसहितम् ॥
नानुशिष्यादपृष्टच्छन्त महद्देतद्धि साहसम् ।
नाचरेदहितेनैन मूलच्छेदकर हि तत् ॥
अनुकूल हित वाच्यमहिताद्वारयेन्मिथ ।
उदारै सान्त्वयन्वाक्यैर्दोषश्चेत्तदुपेक्षया ॥
तूष्णी वा प्रतिवाक्ये स्याद्वर्जयेद्द्वेषसकथाम् ।
विपश्चिदप्यचित्तज्ञो बालिशोऽपि तु भाववित ॥
अतिप्रियोऽपि द्वेष्योऽपि यात्याशु विपरीतताम् ।
निवेद्य राज्ञे कुर्वीत कार्याणि सुलघून्यपि ॥
न यायान्न चिर तिष्ठेत्कोशस्थानावरोधयो ।
स्वल्पेऽपि दर्शयेत्तुष्टि लाभेऽनुद्धतमानस ॥
मिथ कथनमन्येन कौलीन द्वन्द्ववादिताम् ।
वस्त्रादि राज्ञ सदृश राजलीला च वर्जयेत् ॥
दत्त यत्त नृपेणैव तद्धार्यं तुष्टिवृद्धये ।
हसितव्ये स्मितं कुर्यात्प्रभोरेवानुवृत्तित ॥
उच्यमानेऽवलम्बेत परमर्मणि मूकताम् ।
स्वमर्मणि तु बाधिर्यधैर्यमाधुर्यसौष्ठवम्[3] ॥
अत्यायासेन नात्मान कुर्यादतिसमुच्छ्रितम् ।
पातो यथा हि दु खाय नोच्छ्राय सुखकृत्तथा ॥

राजसेवकों को हितोपदेश—राजा भी मनुष्य है और हम भी मनुष्य हैं, यह भाव अपने मन मे कदापि नही लाना चाहिए क्योंकि मनुष्य होते हुए भी आज्ञा, धैर्य, क्षमा और दान ये राजा के अमानुष कर्म हैं अर्थात् इन कर्मों को जैसे राजा कर सकता है वैसे अन्य मनुष्य नही कर सकते। इस लिए मन, वचन और कर्म से राजा की आराधना करनी चाहिए। राजा जहा प्रत्यक्ष बैठा हो तथापि वैद्य को चाहिए कि वह अपने आने की प्रथम सूचना देकर ही राजा के पास जाना चाहिए। प्रविष्ट होने पर समत (पूजित) होते हुए भी वैद्य को अनुचित स्थान, वाहन और आसन पर नही बैठना चाहिए किन्तु राजा के सामने उचित आसन पर बैठना चाहिए। राजा की कही हुई बात पर आक्षेप नही करना चाहिये अर्थात् उसके अनुकूल बोलना चाहिए। जिसमे राजा का अर्थ हो ऐसी बात को भी उचित समय देखकर कहना चाहिए। जिसमें अपना स्वार्थ हो ऐसी बात को राजा के प्रिय तथा अपने चाहनेवालों को साथ में लेकर कहना चाहिए। जिसमें परमार्थ हो ऐसा धर्म और अर्थ से मिला हुआ वचन देश और काल की अनुकूलता का विचार कर कहना चाहिए। बिना पूछे राजा को धर्मार्थ-सहित बात भी नहीं कहनी चाहिए। अहिताचरण करते हुए राजा की सेवा कदापि नही करनी चाहिए क्यों कि यही महासाहस कहलाता है। न राजा को अहित करके—अहित को लेकर सेवन करना चाहिए क्यों कि अहिताचरण सेव्य और सेवक इन दोनों के मूलोच्छेदकारक है-दोनों का सत्यानाश करने वाला है। इस लिए राजा से जब जब मिले तब तब उसके अनुकूल एव हित की बात ही करे। राजा को अहिताचरण करने से रोके। यदि राजा का दोष हो तो तत्काल कुछ भी न कहे परन्तु एकान्त में उदार वचनों द्वारा समझा बुझाकर उसको कहे। समझाने पर भी यदि राजा प्रति वाक्य (विपरीत उत्तर जैसी बात) कहे तो आप मौन रहे उस समय कुछ भी न कहे। राजा के पास बैठ कर द्वेष कथा जिसमे वैर की वृद्धि हो, नही करनी चाहिए। राजा के मन के भाव को जान कर तदनुसार बर्ताव करना चाहिए क्यों कि राजाओं के चित्त की बात को न पहिचानने वाला अति प्रिय विद्वान् भी उनके लिए बहुत जल्दी अप्रिय हो जाता है और राजाओं के मनोभाव को जानने वाला अप्रिय मूर्ख ही क्यों न हो वह उनके लिए बहुत जल्दी प्रिय बन जाता है। चाहे लघु (छोटे) कार्य ही क्यों न हों, उन सबको राजा को निवेदन करके ही करने चाहिए। जहा राजा का कोष (खजाना) हो तथा अवरोध (पर्दानशीन रानियों का रनवास) हो जहा के लिए जाने की मनाही हो, वहा नही जाना चाहिए। यदि जाना ही पडे तो वहा अधिक समय तक नही बैठना चाहिए। राजा द्वारा स्वल्प लाभ होने पर भी शान्त चित्त से उसमे सन्तोष प्रकट करना चाहिए। राजा के सामने परस्पर सम्बाद किसी की निन्दा, कुकर्म का कथन, द्वन्द्ववादिता (मैने उसको यों कहा तब उसने मुझे यों कहा फिर मैने उसे यों कहा इत्यादि बाते) नही करनी चाहिए। राजा के समान वस्त्र धारण नही करना चाहिए और न राजलीला (राजा की नकल) भी करनी चाहिए। राजा की दी हुई वस्तु को ही उसके सन्तोषार्थ धारण करना चाहिए। यहा राजा की दी हुई वस्तु को ही अर्थात् 'दत्त यत्तु नृपेणैव' इसमे के एव शब्द से ध्वनित होता है कि राजदारा (राजा की रानी) आदि की दी हुई वस्तु को नहीं धारण करना चाहिए। राजा के हॅसने पर मालिक के अनुकरणार्थ अपने को मुस्कुराना चाहिए अपितु

१ 'यद्राजा कर्मभिस्तस्मादाराध्योऽसावतन्द्रितै', इति पाठ।
२ उचिते, इति पा०। ३ 'बाधिर्य धैर्यमाधुर्यसौष्ठवम्', इति च पाठान्तरम्।

राजा ही की तरह नहीं हँसना चाहिए। राजा या और कोई परमर्म (दूसरे के गुप्त दोषों) का कथन करे तो अपने को मौन रहते हुए कुछ भी नही कहना चाहिए। अपने दोषों को सुन कर बाधिर्य-धैर्य-माधुर्य और सौष्टव को धारण करना चाहिए अर्थात् निज दोषों को सुनते ही अधीर नही होना चाहिए अपि तु बहरापन धारण करके अपनी मिष्टता तथा सौज्यन्य आदि स्थिर रखने चाहिए। अत्यन्त परिश्रम करके अपने को अति ऊँचा (धन मानादि वाला) बनाने की चेष्टा नहीं करना चाहिए क्यों कि अपना पतन जिस प्रकार दु ख के लिए होता है ठीक उसी प्रकार अपना उच्छ्राय (अति ऊँचेपना) भी सुख कारी नही होता। साराश, "पतनान्ता समुच्छ्रया" इस नीति से अति उच्चता भी पतन के लिए होती है।

आसन्नसेवा नृपते क्रीडा शस्त्राहिपावकैः ।
कौशलेनातिमहता विनीतैः सा निरुह्यते[1] ॥
प्राप्य दुष्प्राप्यमैश्वर्यं बहुमान च भूपते ।
यथोपभुञ्जीत चिर तथा स्यादप्रमादवान् ॥
विदध्यात्परित शय्या रक्षामन्त्राभिमन्त्रितान् ।
रात्रौ सिद्धार्थकान् भूतिमक्षतैरन्विता शुचिम् ॥
रक्षाशक्ति तथोच्छीर्षे सयवाङ्कुरयावकाम् ।
सदूर्वं पूर्णकलश सपुष्पफलपल्लवम् ॥
उपहार च सध्याया भुक्त्वा चान्ते निशासु च ।
एतत्स्वस्त्ययन कर्म कर्त्तव्य शुचिनाऽऽशु च ॥
आयुष्य पौष्टिक भूतविषकार्मणपाप्मजित् ॥
सक्षेप एष विषपालनसाधनाय
प्रोक्तस्तु विस्तरविधि पुनरुत्तरेषु ।
आलोक्य सम्यगखिल मतिपूर्वकारी
युञ्जीत त परिकलय्य विकारचिह्नम् ॥
इति विषगररक्षोरक्षणायोपदेश
भजति नरपतिर्यो नित्यमेवाप्रमत्त ।
निजपुरारिपुवृन्दैरप्रधृष्यो महात्मा
जनयति स जनाना क्षेमयोगौ चिराय ॥

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽष्टमोऽध्याय ।

राजसेवा में सावधानी—सदैव पास मे रहकर राजा की सेवा करना मानो शस्त्र, साप और अङ्गार के साथ खेलना है। साराश, राजा के सन्निकट रहकर उसकी सेवा करना तलवार की धार पर चलना है, सापों को खिलाना तथा अङ्गार के साथ खेलना है अत विनीत पुरुषों को अति कुशलतापूर्वक (होशियारी के साथ) उसे निबाहना पडता है न कि सुखसे या लापरवाही से। राजा के दुष्प्राप (बडी कठिनता से मिलने वाले) बहुमान तथा ऐश्वर्य को पाकर उसे इस प्रकार से चिर काल तक भोगना चाहिए कि जिसमे किसी प्रकार का प्रमाद न प्राप्त हो जाय।

राजस्वस्त्ययनकर्म—वैद्य का कर्त्तव्य है कि वह रात्रि मे राजा के लिए शय्या की योजना करे और वह इस प्रकार की हो कि उसके चारों तरफ रक्षामन्त्रों से अभिमन्त्रित शुद्ध सरसों तथा अक्षतों से मिश्रित भस्म छिडका हुआ रहे। सिरहाने की ओर यवाक्षतसहित रक्षाशक्ति (रक्षार्थ देवी) की तथैव दूर्वा, पुष्प, फल, पत्रसहित जलपूर्ण कलश की स्थापना करे। ये सब सन्ध्या (रात्रि) के भोजन के बाद करे। यही विधि रात्रि के अन्त मे भी करे क्यों कि यह स्वस्त्ययन कर्म आयु और पुष्टिका देनेवाला, भूतबाधा, कृत्या (शत्रुओं द्वारा होने वाले मन्त्र, तन्त्र, टोने-टोटके) आदि पाप कर्मों से बचानेवाला है।

विषसे रक्षा करने की साधना के लिए यह सक्षेप मे कहा गया है। इसी का विस्तारसहित वर्णन उत्तरतन्त्र मे किया गया है। भली भाति सम्पूर्ण अवलोकन कर, बुद्धिपूर्वक विषविकार के लक्षणों को जाच कर इस विधि की योजना करनी चाहिए। इस प्रकार वर्णन किए हुए इस विष, गर और राक्षसों से बचने के उपदेश को नित्यप्रति प्रमादरहित हो कर जो राजा मानता है, वह महात्मा अपने नगर के शत्रुसमूह से क्षति को प्राप्त न होता हुआ अपनी प्रजा के योगक्षेम को चिरकाल तक सम्पन्न करता है।

इति वाग्भटाचार्यकृतेऽष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिका
ख्याहिन्दीव्याख्यायामन्नपानरक्षाविधिर्नामा
ष्टमोऽध्याय ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः ।

अथातो विरुद्धान्नविज्ञानीयमध्याय व्याख्यास्याम ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय ।

विरुद्धान्नविज्ञानाध्याय—अन्न ही आहार में मुख्य है परन्तु यदि वही विरुद्धान्न रहा तो वह विष या गर की तरह मारनेवाला होता है अर्थात् विष की तरह तुरन्त मारनेवाला या गर की तरह कालान्तर से मारनेवाला या रोगों को उत्पन्न करनेवाला होता है। इस लिए विष गरादिरक्षोपदेश के अनन्तर अब आचार्य जिससे विरुद्ध अन्न का ज्ञान हो ऐसे अध्याय का व्याख्यान करेगे जिस प्रकार से पहले आत्रेय आदि महर्षियों ने किया है।

ग्राम्यानूपौदकपिशितानि मधुगुडतिलपयोमाषमूलकबिसैर्विरूढधान्यैश्च नैकध्यमद्यात्[1]। विशेषत पयसा मत्स्यान्। उभय ह्येतन्मधुररसविपाकत्वादभिष्यन्दि शीतोष्णवीर्यत्वात्परस्पर विरुद्धम्। तेष्वपि विशेषेण चिलिचिम। स पुन शकली लोहितनयन सर्वतो लोहितराजि[2] प्रायो भूमौ विचरति[3]। सोऽत्यभिष्यन्दितमत्वात्सुतरा व्याधीनुपजनयत्यामविष च।

१ 'निरुध्यते, इति च पाठ ।

१ "विरुद्धमपि चाहार विषाद्विषगरोपमम् ।" कस्यचिद्विरुद्धाहारस्य विषवत्सद्योमारकत्वात्कस्यचित् गरवत्कालान्तरनाशकत्वाद्रोगजनकत्वाच्चोपमानद्वयमुक्तम्, इति हेमाद्रि । २ 'लोहितराजिर्लोहितप्रभाकर' इत्यपि पाठ । ३ 'चरति' इति च पाठ ।

विरुद्धान्न के एक साथ खाने का निषेध—ग्राम मे रहनेवाले, अनूप देश के उत्पन्न हुए तथा जल से पैदा होनेवाले प्राणियों के मास, शहद, गुड, तिल, दूध, उडद, मूली, कमल की नाल और अङ्कुरित धान्यों के साथ मिलाकर नही खाने चाहिए। विशेषत दूध और मछली साथ मे नहीं खानी चाहिए क्यों कि ये दोनों (दूध और मछली) मधुररसविपाकवाले होने से अत्यन्त अभिष्यन्दि है और शीतोष्ण वीर्यवाले होने से परस्पर विरोधी है। इनमे भी चिलिचिम नामक मत्स्य विशेष विरोधी है। चिलिचिम मत्स्यों में भी लाल नेत्रोंवाला, सारे शरीर पर लाल रेखाओंवाला तथा प्राय जलाशय के समीप की भूमिपर विचरने वाला शकली नाम का मत्स्य विशेष विरोधी है। वह अत्यन्त अभिष्यन्दी होने से अनेक व्याधियों को उत्पन्न करता और आम विष को पैदा करता है।

सर्व[1] चाम्ल द्रव[1]मद्रव पयस्यैकध्य विरुद्धम्। तत उत्तर वा विरुद्ध फल च। कङ्गुवरकमकुष्ठकु[2]लत्थमाषनिष्पावाश्च। मूलकादि हरितक भक्षयित्वा पय सेव्य कुष्ठाबाधभयात्। पौष्कर रोहिणीक जातुक वा शाक सह मधुपयोभ्या नाभ्यवहरेत्। ताभ्या च सह कपोतान् सर्षपतैलभृष्टान्। तथा सर्षपतैलभृष्टाना मत्स्यवराहाणा मासानि। बदराणि श्वाविद्वराहमासानि चैकध्यम्। पित्तेनाममासानि। दध्ना कुक्कुट पृषत च। कुसुम्भ शाकेनौरभ्रम्। सौवीरकेण तिलशष्कुली। क्षीरेण लवणम्। मूलकेन माषरूपम्। नवनीतेन मू[3]लशाकम्। उपोदका मैरेयमार्द्वीकाभ्याम्। पीलूनि करीरै। बिसै विरूढकानि। दध्ना माषसूपेन गुडेन मधुना घृतेन वा लकुचफलम्। दध्ना तक्रेण तालफलेन वा कदली फलम्। पिप्पलीमरिचाभ्या मधुना गुडेन वा काकमाचीम्। तामेव मत्स्यपचने शृङ्गबेरपचने वा भाजने सिद्धामन्यत्र वा सिद्धा रात्रिमुषिताम्। कांस्य[5]भाजने दशरात्रोषित सर्पि। मद्यदधिमधुभल्लातकेषु चोष्णम्।

परस्पर विरुद्धान्न—सभी प्रकार के अम्ल (काजी, इमली, करौन्दा, कैथ आदि) पदार्थ चाहे पतले हों चाहे गाढे (और फल) ये सब दूध के साथ मिलाकर खाने से विरुद्ध होते हैं। इन पदार्थों को आगे पीछे भी नही खाना चाहिये अर्थात् दूध पीने के पहले अम्ल पदार्थों का सेवन तथैव दूध पीने के बाद अम्ल पदार्थों का सेवन नही करना चाहिए। इसी प्रकार कगु (कगुनी) वरक (तृणधान्य विशेष), मोठ, वाल (सेम की फली), कुलथी, उड़द और मटर भी दूध के साथ मिलने से विरुद्ध होते हैं अत इनको भी दूध के साथ में मिलाकर नही खाने चाहिए। ऐसे ही हरितक (हरी) मूली आदि खाकर ऊपर से दूध नही पीना चाहिए या दूध पीकर हरी मूली आदि नहीं खाना चाहिए क्योंकि इससे कोढ़ रोग हो जाने का भय

१ पाठोऽय नास्तीन्दुटीकापुस्तके। २ 'वल्लकुलत्थ, इति च पाठ। ३ 'शाकम्, इति पाठ। ४ अस्याग्रे मुद्रितमूलपुस्तके 'नाभ्यवहरेत्। ताभ्यां, इति पाठस्त्वसाधुरेव मात्यष्टाङ्गहृदयादर्शपाठात्। ५ 'कसभाजने' इति च पाठ।

होता है। वस्तुत यह विरोध मूली आदि कच्चे शाकों के साथ दूध पीने का है किन्तु उबालकर घृत मे भूनी हुई मूली आदि हरितकों के दो भेद हो जाते हैं यथा हरितकत्व और शाकत्व (कच्चे और पक्के) साराश, दूध पीने का निषेध कच्चे के साथ समझना चाहिए न कि उबाले हुए घृत मे भूनी हुई मूली आदि शाकों के लिए[1]। इसी प्रकार अन्यान्य पदार्थों के विरोध को भी बताते है। यथा—

कमल की नाल या मूल (भिस या भें), रोहिणीक, जातुक (हीग आदि) इनको शहद और दूध के साथ न खावे। इसी प्रकार शहद और दूध के साथ सरसों के तेल मे भूने हुए कबूतर के मास को भी न खावे। सरसों के तेल मे भूने हुए मत्स्य, सेह और सूअर के मास भी विरुद्ध होते है। बेर, सेह, वराह (शूकर) का मास इनको एक मे मिलाकर न खावे। इसी प्रकार कच्चे मास (पकाने पर भी जो पूरे न पके हों) बकरे आदि प्राणियों के पित्तों के साथ न खावे। चित्र-विचित्र मृग और कुक्कुर का मास दही के साथ, कुसुम्भ (करं) शाक के साथ भेड़ का मास, काजी के साथ तिल की पूडी, दूध के साथ नमक, मूली के साथ उडद की दाल, मक्खन के साथ किसी भी प्रकार का शाक, मैरेय और द्राक्षामद्य के साथ पोई का शाक, पीलू के साथ करीर (कैर), कमलमूल के साथ विरूढान्न (भिगोने पर अकुर फूटे हुए मूँग, मौठ आदि धान्य) न खावे। दही, उडद की दाल, गुड, शहद और घृत इनमे से किसी एक के साथ बडहर, दही-छाछ, ताड के फल इनमे से किसी एक के साथ केला, पीपल, स्याह मिर्च, शहद, गुड इनमे से किसी के साथ मकोय का सेवन न करे। उसी मकोय का सेवन ऐसी अवस्था मे भी न करे जब कि वह मछली पकाए हुए या अदरख सोंठ के पकाए हुए वर्तन मे पकाई गई हो और किसी भी वर्तन मे पकाई हुई मकोय एक दिन की बासी हो तो भी न खावे। कासा के वर्तन मे रखा हुआ घी दस दिन तक खाये इसके बाद न खावे[3]। मद्य, दही, शहद, भिलावा इनमे से किसी के साथ उष्ण पदार्थ न खावे।

तक्रसिद्ध काम्पिल्लको विरुद्ध, अङ्गारशूल्यो भास, सुराकृशरापायसाश्चैकध्य विरुद्धा। मधुसर्पिर्वसातैलोदकानि समघृतानि द्विशस्त्रिश समस्तानि वा। मधुघृते वा[4] दिव्योदकानुपाने। मधुपुष्करबीज, पद्मोत्तरिकाशाक शार्करो मैरेयो मधु च सहोपयुक्त (सर्व विरुद्ध) वात चातिकोपयति। हारिद्रकसर्षपतैलभृष्टो विरुद्ध पित्त चातिकोपयति। पायसो मन्थानुपानो

१ 'हरितक मूलककुठेरकादि भुक्त्वा पयस्त्यजेत्, न पुन शाक मूलकादि स्निग्धस्विन्न शाकसाधनेन साधित भुक्त्वा क्षीर न भक्षयेत्। एतस्मादेव च शापकादीनामुभयस्वरूप वेद्यम्, हरितकत्व शाकत्व च, इत्यरुण।

२ 'अपक्वान्यपरिपूर्णपाकानि मासानि पित्तेन सह भुक्तानि विरुद्धानि, इतीन्दु।

३ "कांस्यभाजने दशरात्रस्थित घृत नाभ्यवहरेत्। यावद्दशरात्र तावन्न विरोध, ततो विरोध" इतीन्दु

४. 'भिन्नांशे' इति पाठ। ५ पाठोऽयमिन्दुटीकापुस्तके नास्ति।

विरुद्ध श्लेष्माणं चातिकोपयति। उपोदका तिलकल्कसिद्धा हेतुरतिसारस्य। बलाका वारुण्या कुल्माषैश्च विरुद्धा। सैव वराहवसापरिभृष्टा सद्यो व्यापादयति। गोधालावतित्तिरिमयूरकपिञ्जलाश्चैरण्डदार्वग्निसिद्धा ऐरण्डतैलसमूर्छिता। हारीतमांसं हारिद्रशूलकावसक्तं हरिद्राग्निप्लुष्टं च। तदेव भस्मपांशुपरिध्वस्तं सक्षौद्रं च। तथा मत्स्यनिस्तलनसिद्धा पिप्पल्यः। शीतोष्णं नवपुराणमामपक्वं च नैकध्यमद्यात्। सलिलाऽभ्यवगाहः सहसोष्णाभितप्तस्य त्वग्दृष्ट्योरुपघाताय तृष्णाभिवृद्धये च। तथैव च पयःपानं रक्तपित्ताय। शरीरेणायस्तस्य सहसाऽभ्यवहारश्छर्दिषे गुल्माय वा। वाचा त्वायस्तस्य स्वरसादाय। इत्यन्नपानद्रव्यविरोधैकदेशो बाहुल्येनोपयोगी कथितः। भेषजद्रव्याणां तु यथोपदेशमेव प्रयोगो न्याय्यतरः। तद्विरोधः पुनरतिप्रसङ्गभयान्नोक्तः। न च तद्विज्ञानमेकान्तभद्रकम्। अपि च—

अन्य भी विरुद्धाहार–विहार—तक्र (छाछ) मे पकाया हुआ कमोला विरुद्ध होता है। भास पक्षी का मास शूल द्वारा अगार पर सिद्ध किया विरुद्ध होता है। मद्य, खिचडी और दूध ये एक साथ खाने से विरुद्ध होते है। समभाग मे लिए हुए शहद, घृत, वसा (चर्बी), तेल और जल इनमें से दो दो या तीन तीन पदार्थ एक साथ मिलाकर खाने से विरुद्ध होते है और ये सब समभाग मे मिलाए हुए भी विरुद्ध होते हैं। मधु और घृत ये समभाग मे तो विरुद्ध होते ही है परन्तु भिन्नांश (न्यूनाधिक भाग) में भी आकाश से बरसे हुए जलके अनुपान से विरुद्ध हो जाते है। भावार्थ यह है कि मधु या घृत के सेवन के बाद आकाश से बरसा हुआ तालाब–नदी आदि का जल नही पीना चाहिए क्योंकि न्यूनाधिकप्रमाण मे एक साथ सेवन किए हुए मधु और घृत के अनन्तर दिव्य जलका पीना विरुद्ध होता है। शहद और कमलगट्टे एक साथ खाने मे विरुद्ध है।

प्रश्नोत्तरिका अर्थात् कुसुम्भ–करड का शाक शर्करामद्य–मैरेयमद्य और शहद के साथ सेवन करना निषिद्ध है क्योंकि यह वात को अत्यन्त कुपित करता है। हारिद्रक नाम का भूमि मे उत्पन्न होनेवाला कन्द सरसों के तेल से भूना हुआ विरुद्ध होता है और वह पित्त को अत्यन्त कुपित करता है। दूध के साथ तयार किए हुए ओदन (भात) पर मन्थ का पीना विरुद्ध है और यह कफ को अत्यन्त कुपित करता है। उपोदका (पोई का शाक) तिलकल्क के साथ पकाया हुआ अतीसार का कारण होता है। बलाका पक्षी का मास, मद्य और कुल्माष (काजी–कुलथी तथा आधे पके गेहू चना आदि) के साथ विरुद्ध होता है। इतना ही नही, बलाका–मास, शूकर की वसा (चर्बी) के साथ भूना हुआ तुरन्त मारने वाला होता है। गोधा (गोह), लवा, तीतर, मोर और कपिञ्जल (तीतरविशेष) ये अण्डी के काष्ठ से पकाए हुए तथा एरण्ड तेल मे भूने हुए विरुद्ध है। हारीत (हरियल पक्षी) का मास हारिद्रा (दारुहल्दी) के काष्ठ पर लपेट कर सेका हुआ तथा दारुहल्दी के काष्ठ की अग्नि पर सिद्ध किया हुआ तुरन्त प्राणों को हरने वाला है। यही हारीत का मास भस्म और धूल से युक्त शहद के साथ भी प्राणहारक होता है। इसी प्रकार जिसमे मछलिया तली गई हों उस अवशिष्ट रहे हुए तेल आदि मे पकाई पीपल भी विरुद्ध होती है। शीतल और उष्ण, नवीन और पुराना, कच्चा और पका हुआ पदार्थ सयोग भी विरुद्ध होता है। भावार्थ यह है कि स्पर्श से या वीर्य से शीत और उष्ण पदार्थ को एक साथ मिलाकर न खावे, नये और पुराने चावल आदि अन्न एक साथ मिलाकर न खावे और न कच्चा और पक्का पदार्थ ही एक साथ मिलाकर खावे।

अग्नि तथा कडी धूप से सतप्त शरीरवाले को चाहिए कि एकदम शीतल जल मे घुस कर स्नान न करे क्योंकि इस प्रकार से सहसा अवगाहन करना चमडी और दृष्टि के लिए घातक होता है और इससे तृष्णा की अभिवृद्धि होती है। इसी प्रकार तपे हुए शरीर मे दूध या ठण्डे जल का पीना रक्तपित्त को करनेवाला है। शरीर से परिश्रम करके थके हुए मनुष्य का एक दम भोजन कर लेना छर्दि (वमन) और गुल्म का कारण होता है। वाणी का परिश्रम अर्थात् व्याख्यानादि करके एक दम भोजन कर लेना स्वरसाद (स्वरभङ्ग) का कारण होता है।

जो बहुत करके काम मे आता है—उपयोगी है, वही इस प्रकार से यहा अन्नपान के द्रव्यों के विरोध का प्रदर्शन करनेवाला एक देशीय वर्णन किया गया है। ओषधि के काम मे आनेवाले गुडूची आदि द्रव्यों का प्रयोग तो उसी प्रकार से करना न्याय्यतर है जैसे कि शास्त्रों में वर्णन किया गया है। उनके विरोध का वर्णन यहा अति विस्तार के भय से नही किया गया है क्योंकि उक्त द्रव्य विरुद्ध विज्ञान सर्वथा ठीक ही हैं, यह बात भी नही है। उदाहरणार्थ किसी शास्त्रीय प्रयोग मे एक द्रव्य उसीमें वर्णित किसी द्रव्यसे विपरीत भी दिखाई दे तो वहा असमञ्जस मे पडकर ऊहापोह नहीं करना चाहिए क्यों कि ऊहापोह मे पडने से वैद्य उस शास्त्रीय प्रयोग को तयार नहीं कर सकेगा अत शास्त्र मे जैसा उपदेश हो उसी प्रकार से प्रयोग को तयार करना चाहिए। इसी लिए कहा गया है।

---

१ 'हारिद्रसीमिकावसक्त' इत्यपि पाठ। २ 'स्नेहसिद्धा' इति च पाठ। ३. 'प्रश्योत्तरिका कुसुम्भ' इतीन्दु। ४ 'हारिद्रो नाम भूप्रसव कन्दरूप' इतीन्दु। ५ 'कुल्माष काञ्जिके कुलत्थे च' इति राजनिघण्टु। अर्धस्विन्नास्तु गोधूमा अन्येऽपि चणकादय। कुल्माषा इति कथ्यन्ते, इति त आन्तरे।

१ हारिद्रशूलक दारुहरिद्राकाष्ठकृत शूलम्। हरिद्रावह्निना दारुहरिद्राकाष्ठाग्निना, इति हेमाद्रि।

२ सामान्येन स्पर्शेण वा वीर्येण वा शीतमुष्ण च सह नाद्यात्। तथा नव पुराण च शालिद्रव्यादि आम पक्व चाहारद्रव्यमित्येकशब्दार्थ इतीन्दु।

३ "यतस्तेषा विरोधे ज्ञाते सयोगकल्पनाया स्वरूपमतिर्भिषक् कदाचिन्मुह्यति यतोऽवश्य केनचिदशेन कश्चित्केनचिद्विरुध्यते अत। एतच्च बुध्यमानो भिषक् शास्त्रान्वयिनमप्यूह कर्तुं न शक्नोति। यत्र तु शास्त्र बहुप्रविशति तथाविध ऊह कार्य एव। तस्माद्यथोपदेशेन प्रयोगो न्याय्यतर" इतीन्दु।

उत्क्लेश्य दोषान्न हरेद्द्रव्य यत्तत्समासत ।
विरुद्ध तद्धि धातूना प्रत्यनीकतया स्थितम् ॥
बलिना मिथो गुणाना विषमतया समतयाप्युभयथाऽपि ।
सस्कारादिवशादपि भवति निसर्गादपि विरोध ॥
क्षीर कुलत्थै पनसेन[1] मत्स्यैस्तप्त दधि क्षौद्रघृते समाशे ।
वार्यूखरे[2] रात्रिषु सक्तवश्च तोयान्तरास्ते यवकास्तथैव[3] ॥
कुशाग्रीयधियामेतदुदाहरणमात्रकम् ।
उपनीतबल विद्वान् सर्वत्र क्रमते यत ॥

सक्षेप में विरुद्ध द्रव्य के लक्षणादि कथन—दोषों को उत्क्लेशित (अपने स्थान से विचलित) करके जो द्रव्य बाहर निकाल नही सकता अथवा वही दोषों के स्थानपर उनका शमन नही कर सकता और जो दोष एव धातुओं का प्रतिपक्षी बनकर शरीर मे स्थित रहता है, सक्षेप मे उसी द्रव्य को विरुद्ध समझना चाहिए। विषमता, समता, विषमसमता, सस्कारादि और प्रकृति के कारण यह विरोध बलवान् गुणों या बलवान् गुणोंवाले द्रव्यों मे ही परस्पर मे होता है। सस्कारादिवशात् इसमें के आदि शब्द से मात्रा, देश, काल, सयोग और स्वभाव का भी ग्रहण किया गया है। अब क्रम से इनके उदाहरण देकर बताते है।

पारस्परिक विषमता से विरोध—जैसे कि "क्षीर कुलत्थै" दूध अपने बलवान् मधुर विपाक और शीतवीर्य गुणों से बलवान् अम्लविपाकी तथा उष्णवीर्य कुलत्थ से विरुद्ध है। यह विषमता या असमानतावाले बलवान् गुणोंके विरोध का उदाहरण है अर्थात् इसमे एक द्रव्य मधुरविपाकी शीतवीर्य है तो दूसरा अम्लविपाकी-उष्णवीर्य है। यही इन दोनों में विषमता या असमानता है।

समताविरोध—जैसे कि "क्षीर पनसेन" अर्थात् दूध मधुरविपाकी और शीतवीर्य होते हुए भी अपने समान शीतवीर्य-मधुरविपाकी पनस (कटहल) से विरुद्ध है। यह बलवान् समान गुणों के पारस्परिक विरोध का उदाहरण है।

समविषमताविरोध—यथा "क्षीर मत्स्यै" अर्थात् दूध मछलियों से विरुद्ध है। यहाँ दूध मधुर-शीतवीर्य है और मत्स्य-मधुर-उष्णवीर्य है। दूध और मत्स्य दोनों मधुरविपाकी होने से दोनों मे समानता है परन्तु दूध शीतवीर्य है और मत्स्य उष्णवीर्य है अत यहाँ वीर्यमें दोनों की विषमता है। यह सम विषमता के विरोध का उदाहरण है।

सस्कार विरोध—जैसे कि "तप्त दधि" अर्थात् तपाने से दही विरुद्ध होता है। यह सस्कार विरोध का उदाहरण है।

मात्राविरोध—यथा "क्षौद्रघृते समाशे" अर्थात् शहद और घृत समान प्रमाण या मात्रा मे लेने से विरुद्ध हो जाते हैं। यह मात्राविरोध का उदाहरण है।

देशविरोध—जैसे कि "वार्यूषरे" अर्थात् ऊषर भूमिस्थित जल विरुद्ध होता है। यह देशविरोध का उदाहरण है।

कालविरोध—जैसे कि "रात्रिषु सक्तवश्च" रात्रि मे सत्तू विरुद्ध होता है। यह कालविरोध का उदाहरण है।

सयोगविरोध—यथा "ते तोयान्तरा" अर्थात् वही सत्तू जल के साथ पीना रात्रि मे विरुद्ध है। यह सयोगविशेषविरोध का उदाहरण है।

स्वभावविरोध—यथा "यवकास्तथैव" अर्थात् केवल यवक (जगली धान्यविशेष) विरुद्ध होते है। यह निसर्ग—प्रकृति या स्वभावविरोध का उदाहरण है।

अन्ततो गत्वा कुशाग्रबुद्धिवाले विद्वानों के लिए यह केवल उदाहरणमात्र कहा गया है क्योंकि सब प्रकार से पूर्ण विद्वान् के लिए विशेष विस्तार की आवश्यकता नही रहती है। विशेष विद्यासपन्न विद्वान् अपनी बुद्धि से सब कुछ जान लेता है।

अब आचार्य विरुद्धाशन (विरुद्ध भोजन) से होनेवाले विकार तथा उनके शमनोपायविषय में कहते हैं—

विस्फोटशोफमदविद्रधिगुल्मयक्ष्म-
तेजोबलस्मृतिमतीन्द्रियचित्तनाशान् ।
कुर्याद्विरुद्धमशन ज्वरमस्रपित्त
मष्टौ गदाश्च महतो विषवच्च मृत्युम् ।
तेष्वाशु कुर्यात्सशुद्धि शम वा तद्विरोधिभि ।
द्रव्यैस्तैरेव वा पूर्वं शरीरस्याभिसस्कृतिम् ॥
व्यायामस्निग्धदीप्ताग्निवयस्थबलशालिनाम् ।
विरोध्यपि न पीडायै सात्म्यमल्प च भोजनम् ॥
दोषादिवैपरीत्येन हरन्ती[1] रोगिणो रुजम् ।
ऐकध्य दधिदुग्धादि योजना न विरुध्यते ॥
योगादिभेदाद्यद्वा[2] पथ्यानामप्यपथ्यता ।
तद्धेदान्तरतस्तद्वद्विरोधोपि निवर्त्तते ॥

विरुद्ध आहार से होनेवाले रोग—जो मनुष्य परस्पर विरोधी द्रव्यों का आहार करता है इसी का नाम विरुद्धाशन या विरुद्ध आहार है और यह विरुद्ध आहार विस्फोटक, शोथ, मदात्यय, विद्रधि, गुल्म, क्षय, तेज-बल-स्मरणशक्ति-बुद्धि, मन और चित्त का नाश करता है। इतना ही नहीं, विरुद्धाहार ज्वर, रक्तपित्त, आठ महारोग अर्थात् वातव्याधि, अश्मरी (पथरी), कुष्ठ, प्रमेह, उदररोग, भगन्दर, अर्श (बवासीर) और सग्रहणी इन रोगों को करता है[3]—विष के समान जो मृत्यु है, उसको करता है। भावार्थ यह है कि कभी कभी विरुद्धाहार विषूचिका आदि रोगों को उत्पन्न कर तुरन्त मारनेवाला होता है।

विरुद्ध आहारजन्य रोगों के शमनोपाय—विरुद्ध आहार से उत्पन्न हुए रोगों की अवस्था मे कुपित दोषों की शुद्धि करना इष्ट है अर्थात् रोगी को वमन-विरेचनादि देकर दोषों का निर्हरण करना चाहिए। यदि रोगी वमन, विरेचनादि के योग्य न हो तो "शमो वा तद्विरोधिभि" अर्थात् सेवन किये हुए विरुद्ध

१ "वसेन च" इति पाठ ।
२ "वार्यूषरे" इति पाठ ।
३ "यवकास्तथा च" इति पाठ ।

१- 'हरते रोगिणां रुजम्' इति च पाठ । २ 'योगादिभेदाय द्वा' इति 'च' पाठ । ३ "वातव्याध्यश्मरीकुष्ठमेहोदरभगन्दरा । अर्शांसि ग्रहणीत्यष्टौ महारोगास्तु दुस्तरा ॥' इति।

द्रव्यों के जो जो विरोधी द्रव्य हों उन्हे पेट में देकर दोषों का शमन कर डालना चाहिए। अथवा पहले ही से विरुद्धाशन के विरोधी द्रव्यों का सेवन कराकर शरीर की अभिसस्कृति (सस्कार) कर डालना चाहिए ताकि व्याधि उत्पन्न ही न हो सके।

व्यायामादि मे युक्त पुरुष के लिए **विशेष**- जो पुरुष व्यायाम करता है, जिसके लिए स्निग्ध एव वृष्य आहार सात्म्य हो रहा है, जिसकी जठराग्नि प्रदीप्त है, जो जवान और बलवान् है, उसके लिए विरुद्ध अल्प भोजन सात्म्य होकर पीडाकारक नहीं होता। कहीं कहीं देखा गया है कि दोष, दूष्य, बल, काल आदि के विपरीत होने से विरुद्ध द्रव्य यथेच्छ सेवन करने पर रोगकारक न होकर रोगो के हरनेवाले होते है जैसे कि नित्यप्रति सेवन करने केकारण सात्म्य होकर दूध-दही की एक साथ योजना किसी के लिए विरुद्ध नही होती अपितु सुखकारक ही होती है। सयोगविशेष के कारण पथ्य पदार्थों की भी अपथ्यता दिखाई देती है। इसी प्रकार अपथ्य द्रव्य भी सयोगविशेष से पथ्यकारक हो जाते हैं। साराश यह कि पथ्य द्रव्य सयोगविशेषवशात् विरोधी हो जाते है और अपथ्यकारी द्रव्यों का सयोगविशेष से विरोध नष्ट हो जाता है अर्थात् वे पथ्यकारी बन जाते है।

यद्यपि कई दिनों तक सेवन करने से अपथ्य द्रव्य भी सात्म्य हो जाता है परन्तु वस्तुत अपथ्य अपथ्य ही है अत सात्म्यता को प्राप्त हुए अपथ्य को भी धीरे धीरे छोड देना चाहिए। अब आचार्य इसके क्रमको बताते है।

पादाशेन त्यजेत्सात्म्यमहित हितमाचरेत्।
एकान्तर ततश्चोर्ध्व द्व्यन्तर त्र्यन्तर तथा ॥
क्रमेणानेन सत्यक्ता दोषा सवर्धिता गुणा ।
प्रभवन्ति न पीडायै प्राप्नुवन्ति स्थिरात्मताम् ॥

सात्म्य अपथ्य को भी त्यागने का विधान--जिस अपथ्यकारी द्रव्य को अभ्यास द्वारा सात्म्य कर लिया गया है, उसे एकदम छोड नही सकते क्योंकि उसका एकदम छोडना हानिकारक होता है अत उस अपथ्य को एक एक दिन, दो दो दिन या तीन तीन दिन के अन्तर से पादाश करके सहज में छोडने का विधान बताते है। साराश यह है कि लगातार सेवन किए हुए अपथ्य का कुछ दिन चौथा भाग या सोलहवाँ भाग कम, करके सेवन करे। उस कम किए हुए चौथे या सोलहवे भाग की पूर्ति पथ्य या हितकारी द्रव्यों से करता जावे। इस प्रकार क्रम क्रम से अपथ्य पदार्थ को कम करते हुए तथैव पथ्य को बढ़ाते हुए अपथ्य का सर्वथा त्याग कर सकता है। चौथा भाग कम करने के क्रम से १६ दिन और सोलहवे भाग को कम करने के क्रम से ६३ दिन लगते है परन्तु चाहे जैसा दुर्व्यसन क्यों न हो, अवश्य इस अवधि में छूट जाता है।

अपथ्यत्यागविधि—पहले दिन अपथ्य तीन भाग और पथ्य एक भाग मिलाकर भोजन की पूर्ति करे। दूसरे दिन चारों भाग अपथ्य के ही सेवन करे। पुन तीसरे दिन तीन भाग अपथ्य और एक भाग पथ्य, चौथे दिन दो भाग अपथ्य और दो भाग पथ्य के, पाचवे और छठे दिन तीन भाग अपथ्य और एक भाग पथ्य का, सातवे दिन दो भाग अपथ्य और दो भाग पथ्य के सेवन करे। आठवे दिन एक भाग अपथ्य और तीन भाग पथ्य के, नवमे दिन तथैव दशम और ग्यारहव दिन दो भाग अपथ्य तथा दो ही भाग पथ्य के, बारहवे दिन एक भाग अपथ्य और तीन भाग पथ्य के सेवन करे। तेरहवे दिन चारों भाग पथ्य के, चौदहवे-पन्द्रहवे और सोलहवे दिन एक भाग अपथ्य तथा तीन भाग पथ्य के सेवन करे। सत्रहवे दिन चारों भाग पथ्य के सेवन करे। इसी प्रकार सोलहवे भागके त्याग की कल्पना कर लेनी चाहिए। इस विधि से क्रम क्रम से दोष (अपथ्य) के त्याग करने से दोषों के स्थान मे गुणों की वृद्धि होने से दोष पीडा नही कर सकते और आत्मा मे स्थिरता की प्राप्ति होती है।

त्रितय चेदमुपष्टम्भनमाहार स्वप्नो ब्रह्मचर्य च। एभिर्युक्तियुक्तैरुपष्टब्धमुपस्तम्भै शरीर बलवर्णोपचयोपचितमनुवर्तते यावदायुष सस्कार। तत्राहार उक्तो वक्ष्यते च।

शरीर के तीन उपस्तम्भ—आहार, स्वप्न (निद्रा) और ब्रह्मचर्य (स्त्रीसगादि से बचकर वीर्य का सरक्षण) ये शरीर को धारण करनेवाले तीन उपस्तम्भ है। युक्तियुक्त इन तीनों उपस्तम्भों करके यह शरीर जबतक मनुष्य की आयु है, बल, वर्ण और पुष्टि से युक्त (नीरोग) रहता है। इन तीन उपस्तम्भों मे से आहार का वर्णन आचुका है और कुछ आगे उत्तरतन्त्र के ज्वरादि अध्यायों मे वर्णन किया जायगा। अब क्रमप्राप्त स्वप्न (निद्रा) का वर्णन करते है।—

लोकादिसर्गप्रभवा[1] तमोमूला तमोमयी।
बाहुल्यात्तमसो रात्रौ निद्रा प्रायेण जायते ॥
श्लेष्मावृतेषु स्रोत सु श्रमादुपरतेषु च ।
इन्द्रियेषु स्वकर्मभ्यो निद्रा विशति देहिनम् ॥
सर्वेन्द्रियव्युपरतौ मनोऽनुपरत यदा ।
विषयेभ्यस्तदा स्वप्न नानारूप प्रपश्यति ॥
निद्रायत्त सुख दु ख पुष्टि कार्श्य बलाबलम्।
वृषता क्लीबता ज्ञानमज्ञान जीवित न च ॥
अकालेऽतिप्रसगाच्च न च निद्रा निषेविता।
सुखायुषी परा कुर्यात्कालरात्रिरिवापरा ॥
सैव युक्ता पुनर्युक्ते निद्रा देह सुखायुषा।
योगाभियोगिनो बुद्धिर्निर्मला तपसा यथा ॥

निद्रा की उत्पत्ति आदि का वर्णन—निद्राकी उत्पत्ति लोकों के आदि सर्ग अर्थात् जगत् के उत्पत्तिकाल मे हुई है और इसकी उत्पत्ति में मूलकारण तमोगुण है इसी लिए यह निद्रा तमोमूला कहलाती है, तमोगुण का निद्रा मे प्राचुर्य होने से इसे तमोमयी भी कहते है। तमोगुण की अधिकता होने के कारण निद्रा की प्रवृत्ति प्राय रात्रि मे ही हुआ करती है। निद्रा दिन से भी प्रवृत्त होती है, इसी लिए यहा प्राय शब्दका निर्देश किया गया है। निद्रा के आने मे तमोगुण को लेकर कौन कौन से कारण होते है? इसी के उत्तर में कहते है कि आहाररस से बने हुए कफ से शरीरगत स्रोतों के रुक जाने से, ज्ञानेन्द्रियों

(१) 'कालादिसर्गप्रभवा' इत्यपि पाठ ।

तथा कर्मेन्द्रियों के अपने अपने विषय के ग्रहण करने मे असमर्थ हो जाने से तथा परिश्रम करने के बाद थककर इन्द्रियों के उपरति (विश्रान्ति) ग्रहण करने से मनुष्य के एव शरीरधारी के शरीर मे निद्रा प्रवेश करती है।

नाना प्रकार के स्वप्न दिखाई देने का कारण—उपरति अर्थात् विश्रान्ति के समय मे जब इन्द्रियाँ अपने विषयों को छोड देती है परन्तु उन विषयों में मन के अनुपरत रहने से वह नाना प्रकार के स्वप्न देखता है। साराश, नाना विषयों में सलग्न मन इन्द्रियों की तरह विश्रान्ति धारण नही करता है तभी वह नाना प्रकार के स्वप्न देखता है। इन्द्रियों की तरह मन भी विश्रान्ति धारण कर लेता है तब सोने की अवस्था में स्वप्नों की सृष्टि नही होती है।

नियमानुसार निद्रा की आवश्यकता—मनुष्य को चाहिए कि वह नियमानुसार निद्रा का सेवन करता रहे क्योंकि निद्रा के ही आधीन सुख-दु ख, पुष्टि-कृशता, बल-नैर्बल्य, पुरुषत्व-नपुसकत्व, ज्ञान-अज्ञान तथा जीवन और मरण है। भावार्थ यह है कि नियमानुकूल सुख की नीद लेनेवाले को ही सुख, पुष्टि, बल, पुरुषत्व, ज्ञान और जीवन (आयु) की प्राप्ति होती है। विपरीत इसके जो यथानियम सुख की नीद नही लेता है, वही पुरुष दु ख, कृशता, निर्बलता, नपुसकता, अज्ञान तथा मृत्यु को प्राप्त होता है।

दुष्ट निद्रा के दोष—अकाल अर्थात् जो समय निद्रा लेने का नही है उसमे निद्रा का सेवन करना या सोना, निद्रासेवन के समय में भी अधिक सोना और निद्रा का सेवन ही न करना ये तीनों सुख और आयु को इस प्रकार नष्ट करते है जिस प्रकार कालरात्रि मनुष्य को मार डालती है। भावार्थ यह है कि निद्रा का मिथ्यायोग, अति-योग और हीनयोग ये तीनों कालरात्रि की तरह सुख और आयु को नष्ट करनेवाले हैं। 'अकालेऽतिप्रसगाच्च' इस वाक्य का यही भावार्थ इन्दु और अरुणदत्त को मान्य है। वे इसमें निद्रा के मिथ्या-योग, अतियोग और हीनयोग का वर्णन मानते है परन्तु हेमाद्रि इस मे निद्रा के सम्यग्योग का भी वर्णन मानते हैं। अपने अर्थ की पुष्टि के लिए वे 'परा कुर्यात्' इस एक पद मे 'परा कुर्यात्, ऐसा पदच्छेद कर के निद्रा के परा और अपरा ऐसे दो भेद करते हुए व्याख्या करते है कि-"अकाल में सेवन की हुई (मिथ्यायोगवाली)" अतिप्रसङ्ग से सेवन की हुई (अति योगवाली), बिलकुल सेवन न की हुई (हीनयोगवाली) और निषेविता (नियमानुसार सेवन की हुई सम्यक् योग वाली) ये निद्रा के चार प्रकार है। इनमे से चौथी नियमानुसार सेवन की जानेवाली परा निद्रा सुख और आयु को करने वाली है, और अपरा (मिथ्यायोग-अतियोग-हीनयोगवाली) निद्रा कालरात्रि की तरह है अर्थात् वह सुख और आयु का नाश करनेवाली है। इसी एक पद्य में वर्णित इन चार प्रकार की निद्राओं मे हेमाद्रि सग्रहोक्त सात प्रकार की निद्राओं तथा निद्रा जन्य सुखदु खादि का अन्तर्भाव भी मानते हैं। इस एक ही पद्य मे सग्रहोक्त इन सारी बातों का स्पष्टीकरण करके दिखानेवाला हेमाद्रि का यह व्याख्यान अष्टाङ्गहृदय के लिए अवश्य उपयुक्त माना जा सकता है क्यों कि अष्टाङ्गहृदय ग्रन्थ अष्टाङ्गसग्रह का सार है। इस एक पद्य के अतिरिक्त अष्टाङ्ग हृदय मे और कोई पद्य ऐसा नही है जिस के द्वारा हेमाद्रिकृत यह सग्रहोक्त स्पष्टीकरण हो सके। साराश यह कि यहा अष्टाङ्ग सग्रह मे तो इस पद्य का अर्थ निद्रा के मिथ्या-अति-हीन योग के दोष का निदर्शक ही हो सकता है जो हमने ऊपर लिखा है। अष्टाङ्गहृदय की हेमाद्रिकृत व्याख्या के अनुसार निद्रा के सम्यक् योग के वर्णन का अन्तर्भाव इस पद्य मे यहा नही किया जा सकता क्यों कि इसके पीछे का श्लोक निद्रा के सम्यग्योगफल का निदर्शक है और न इसमे सुखदु खादि एव निद्रा के सात प्रकारों का ही अन्तर्भाव मान सकते क्यों कि यहा इन सब का अलग अलग स्पष्ट वर्णन मिलता है।

विधियुक्त निद्रा के गुण—विधिवत् निद्रा के सेवन करने से वह (निद्रा) मनुष्य-शरीरको सुख और आयु से युक्त करती है अर्थात् विधिवत् निद्रा शरीरको सुखी, आयुष्मान् एव ऐसा निर्मल (निर्दोष) बना देती है जैसे कि योगाभ्यासियों की तपस्या से बुद्धि निर्मल हो जाती है।

रात्रौ जागरण रूक्ष स्निग्ध प्रस्वपन दिवा।
अरूक्षमनभिष्यन्दि त्वासीनप्रचलायितम् ॥
ग्रीष्मे वायुचयादानरौक्ष्यरात्र्यल्पभावत ।
दिवास्वप्नो हितोऽन्यस्मिन् कफपित्तकरो हि स ॥
मुक्त्वातिभाष्ययानाध्वमद्यस्त्रीभारकर्मभि ।
क्रोधशोकभयै क्लान्तान् श्वासहिध्मातिसारिण ॥
वृद्धबालाबलक्षीणक्षततृट्छूलपीडितान् ।
अजीर्ण्यभिहतोन्मत्तान् दिवा स्वप्नोचितानपि ॥
धातुसाम्य तथा ह्येषा श्लेष्मा चाङ्गानि पुष्यति।

रात्रिमें जागने तथा दिनमें सोनेका निषेध—रातमे जागरण करना रूक्षताको बढाकर वायुको कुपित करता है तथा दिनमें सोना स्निग्धताको बढाकर कफको कुपित करता है। इस लिए रात्रिमे जागना और दिनमें सोना निषिद्ध है परन्तु दिनमें बैठेबैठे निद्राका लेना न रूक्षताको और न अभिष्यन्द (स्निग्धता) को ही करता है। साराश, दिनमे बैठे बैठे नीद लेनेसे न वायुका कोप होता और न कफका ही। कफका सचय तो दिनमे शय्या बिछाकर सोने से ही होता है। इस प्रकार हेमाद्रिने खारणादि और भेडके प्रमाणोंको बताते हुए वाग्भटके "अरूक्षमनभिष्यन्दि त्वासीनप्रचलायितम्" इस वचनकी भली भाति पुष्टि कर दी है।

ग्रीष्ममें दिनका सोना हितकारी—ग्रीष्म ऋतुमे वायुका

---

(१) 'अकाल इति। अकाले सेविता-मिथ्यायोगरूपा, अतिप्रसङ्गात्सेविता-अतियोगरूपा, न च सेविता-हीनयोगरूपा, निषेविता-नियतत्वेन सेविता सम्यग्योगरूपा चेति चतुर्धा निद्रा। तत्र परा-चतुर्थी निद्रा, सुखायुषी कुर्यात्। अपरा-त्रिविधा असम्यग्योग रूपा, कालरात्रिरिव-सहारप्रवृत्तमहाकालीव, सुखायुषी हन्त्यादित्यर्थ। इति हेमाद्रि।

(१) "इन्द्रियाणि श्रमाद्रूक्षो वातलो जागरो निशि। तदालस्या दिवा स्वप्न स्निग्ध पित्तकफोल्वण। आसीन-प्रचल-स्वप्न निरभिष्यन्दिबृहण॥" इति खारणादि। स्वप्नकामो दिवा काममुपविष्ट शयीत वा। प्रस्तीर्णाङ्गस्य जन्तोर्हि श्लेष्मा कोष्ठे प्रवर्तते॥" इति भेड।

सचय होनेसे, आदानकाल की रूक्षता और रातके छोटो होने से दिन मे सोना हितकारी है परन्तु अन्य ऋतुओं मे आगे बताए हुए प्राणियों को छोड़ कर दिन में सोना कफपित्तकारक होता है।

सब ऋतुओं में दिन में सोने का विधान—जिसने अतिभाषण किया हो अर्थात् जो व्याख्यान-प्रवचनादि करके थक गया हो, जो घोडे आदिकी सवारी करके या मार्ग चलकर थक गया हो, जिसने मद्यपान किया हो, स्त्रीसङ्ग कर के या भार को उठा कर श्रम को प्राप्त हुआ हो, क्रोध-शोक और भयसे पीडित हो, जो श्वास, हिचकी और अतीसार रोग से पीडित हो, जो वृद्ध, बाल, निर्बल और क्षीण हो, जो उर क्षत[1], तृष्णा, शूल और अजीर्ण रोग से पीडित हो, जिसने शस्त्र, लाठी आदि की मार खाई हो, जो उन्मादरोगी (पागल) हो और जिन को दिन मे सोने का अभ्यास हो इन सबके लिए दिन में सोने का निषेध नही है इस लिए कि इनका कफ कुपित न होकर धातु-साम्य करनेवाला तथा इनके अङ्गों को पुष्ट करने वाला होता है।

विशेष वक्तव्य—यहा "मुक्त्वातिभाष्ययानाध्व" आदि द्वारा जिनके लिए दिनमे स्वाप (सोने) का निषेध नही किया है किन्तु इसका भावार्थ वस्तुत केवल मुहूर्त्तमात्र अर्थात् दो घडी तक[2] सोने से ही है। इससे अधिक नहीं सोना चाहिए। यों तो दिनमे सोना कफकारक होने से वर्जित है परन्तु जिन को नित्य प्रति दिनमे सोने का अभ्यास हो गया है, उनको दिनमें अवश्य सोना ही चाहिए। क्यों कि उनके दिनमें न सोने से वातादि दोष कुपित होकर दुःखदायी होते हैं[3]। यहा अजीर्ण रोगी के लिए भी दिन मे सोने का विधान किया है परन्तु यह उचित प्रतीत नही होता। इस लिए कि दिन का सोना कफवृद्धिकारक है, कफ की वृद्धि से अग्निमान्द्य होता है और अग्निमान्द्य से अजीर्ण आहार का पाक नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में अजीर्णरोगी का दिन मे सोना कैसे ठीक मान लिया जाय? इसका समाधान यह है कि दिन में सोने से अजीर्ण रोगी का धातुसाम्य होता है, धातु साम्य होने से अपने स्थान मे स्थित दोष अग्निमान्द्य न करके जठराग्नि को पाचनक्षम बनाते हैं। ऐसी अवस्था में बढ़ा हुआ कफ भी अग्निमान्द्य नही करता किन्तु अङ्गों को पुष्ट करता है। इस विवाद को मिटाने के लिए ही अन्त में शास्त्रकार ने स्पष्ट कर दिया है कि "इनका धातुसाम्य होकर कफ इनके अङ्गों की पुष्टि करता[4] है।"

बहुमेद कफा स्वप्यु स्नेहनित्याश्च नाहनि ।
विषार्त्त कण्ठरोगी च नैव जातु निशास्वपि ॥
हलीमकशिरोजाड्यस्तैमित्यगुरुगात्रता ।
ज्वरभ्रमतिभ्रंशस्रोतोरोधाग्निमन्दता ॥
शोफारोचकहृल्लासपीनसार्धावभेदका ।
कण्डूरुक्कोठपिटकाकासतन्द्रागलामया ॥
विषवेगप्रवृत्तिश्च भवेदहितनिद्रया ।
अपच्यमानो बाहुल्यात्स्रोतास्यावृणुते कफ ॥
तत स्रोतस्सु रुद्धेषु जायते गात्रगौरवम् ।
गुरुगात्रस्य चालस्यमालस्यादतिनिद्रता ॥
विरेक कायशिरसोर्वमन रक्तमोक्षणम् ।
धूमक्षुत्तृड्व्यथाहर्षशोकमैथुनभीक्रुध ॥
चिन्तोत्कण्ठाऽसुखा शय्या सत्त्वोदार्यं तमोजय ।
रूक्षान्न चाहिता निद्रा वारयन्ति प्रसङ्गिनीम् ॥
एत एव च विज्ञेया निद्रानाशस्य हेतव ।
कालशीलक्षयो व्याधिर्वृद्धिश्चानिलपित्तयो ॥

पुरुषविशेष को दिन तथा रात्रि में भी सोने का निषेध—जिनके शरीर में मेद और कफ की अधिकता है उनको ग्रीष्म ऋतु में दिन मे भी शयन नही करना चाहिए तथैव जो कण्ठरोगी है और विष से पीडित है उन्हें रात्रि मे भी कदापि शयन नही करना चाहिए। इस लिए कि रात्रि मे कफ की वृद्धि होकर उसका कण्ठ अवरुद्ध हो जायगा या कण्ठरोग भयङ्कर वृद्धि को प्राप्त कर लेगा। इसी प्रकार रात में सोने से विषरोग भी असाध्यता को धारण कर लेवेगा।

अकालशयन से होनेवाले रोग—बिना समय के सोने से अर्थात् जिस समय का सोना निषिद्ध बताया गया है उस समय मे कदापि शयन नही करना चाहिए इस लिए कि अकाल के शयन से मनुष्य के शरीर में हलीमक, शिरोजाड्य (मस्तक का भारी रहना), स्तैमित्य (शरीर मे ऐसा भास होना कि जैसे बदनपर गीला कपड़ा लपेटा हुआ है), शरीर मे जडता, ज्वर, भ्रम (चक्कर आना), बुद्धि का नष्ट हो जाना, शारीरिक स्रोतों का कफ से रुक जाना, अग्निमान्द्य, सूजन अरोचक, हृल्लास (उबकाइयो का आना), पीनस, आधा सीसी, कण्डू (खाज या खुजली), अग अग में पीडा, कोठ (चमडी पर लाली आदि लिए हुए मण्डलाकार धब्बे या दाग होना), फोडे-फुन्सिया, खासी, तन्द्रा और कण्ठ रोग ये रोग होते है तथा विष के वेग की प्रवृत्ति होती है अर्थात् विष का वेग अधिक बढता है।

अतिनिद्रा के कारण और उनकी चिकित्सा—बढ़ा हुआ कफ न पचकर शारीरिक स्रोतों मे व्याप्त होकर उन्हे रोक देता है। स्रोतों के रुक जाने से शरीर मे जडता आती है-शरीर भारी हो जाता है। शरीर की जड़ता से आलस्य की प्रवृत्ति होती है

---

१ 'क्षत क्षतकासो, अभिहत शस्त्रप्रहारादिपीडित" इति हेमाद्रि। "क्षत शस्त्रादिच्छिन्न, अभिहतो लगुडादिना" इत्यरुण।

२ "प्रतिषिद्धेष्वपि तु बालवृद्धस्त्रीकर्षितक्षतक्षीणमद्यनित्ययानवाहनाध्वकर्मपरिश्रान्तानामभुक्तवता मेद स्वेदकफरसरक्तक्षीणाना मजीर्णिना च मुहूर्त्त दिवास्वपनमप्रतिषिद्धम्" इति सुश्रुत।

३ 'उचितो हि दिवास्वप्नो येषा नित्य शरीरिणाम्। वातादय प्रकुप्यन्ति तेषामस्वपता दिवा॥' इति

४ ननु, अजीर्णिना दिवास्वप्नो न युक्त, दिवास्वप्नस्य कफवृद्धिकरत्वात् कफवृद्ध्या चाग्निमान्द्यम्। अग्निमान्द्यादजीर्णान्नस्यापाक। इत्युक्तम्तेषा दिवास्वप्न। अत्रोच्यते-दिवास्वप्नेनाजीर्णिना धातुसाम्य भवति। धातुसाम्ये च सति स्वस्थानस्थितैर्दोषैरनुपहतो वह्नि पचनक्षमो भवति। कफस्तु वृद्धोऽपि नैनेषामग्निमान्द्य विधत्ते। अपित्वङ्गाना पुष्टिमादधाति। अत एवानन्तरमेवोवाच शास्त्रकार -"धातुसाम्य तथा ह्येषा श्लेष्मा चाङ्गानि पुष्यति" इत्यरुणदत्त।

और आलस्य के कारण अतिनिद्रता होती है। इस अतिनिद्रा का नाश करने के लिए शरीर और सिर को विरेक देना अर्थात् विरेचन देकर शारीरिक दोषों का गुदमार्ग से अधःपात करना या शरीर से बाहर निकालना इसी प्रकार नस्यादि देकर मस्तिष्क में भरे हुए कफ को बाहर निकालना, रक्तमोक्षण कराना और इन उपायों के अतिरिक्त धूमपान कराना, भूखा और प्यासा रखना, पीडा देना, हर्ष–शोक–मैथुन–भय–क्रोध और चिन्ता की उत्कण्ठा में प्रवृत्त करना, जिस पर सोने से सुख न हो, ऐसी शय्या की योजना करना, मन की शुद्धि, तमोगुण को जीतना, रूखे अन्न का खिलाना ये सब प्रसगोपात्त अहितनिद्रा का नाश करनेवाले हैं। इनसे वायु और पित्त की वृद्धि होकर कफ का नाश होता है।

निद्रानाश के कारण—उपर्युक्त अहित या अतिनिद्रानाश के जो उपाय बताए गए है इन्हीं को निद्रानाश के कारण समझना चाहिए। इनके अतिरिक्त काल, अभ्यास, रस रक्तादि धातुओं की क्षीणता, रोग, वायु और पित्त की वृद्धि इन को भी निद्रानाशके हेतु जानना चाहिए। यथा काल—प्रभात में मनुष्य सोता हुआ जग ही जाता है। शील—किसी का किसी नियत समयपर जागने का अभ्यास होता है। क्षय–रसरक्तादि धातुओं के क्षीण होने से वायु और पित्त वृद्धि को प्राप्त होकर निद्रा नही लेने देते। रोग–रोग की पीडा सोने नहीं देती। वातपित्त की वृद्धि भी नींद नही आने देती अत ये सब निद्रानाश के कारण हैं।

अब आचार्य निद्रानाश से होनेवाले रोगों एव उनके शमनोपायों को कहते हैं—

निद्रानाशादङ्गमर्दशिरोगौरवजृम्भिका ।
जाड्यग्लानिभ्रमापक्तितन्द्रारोगाश्च वातजा ॥
कफोऽल्पो वायुनोद्धूतो धमनी सनिरुध्य तु ।
कुर्यात्सज्ञापहा तन्द्रा दारुणा मोहकारिणीम् ॥
उन्मीलितविनिर्भुग्ने परिवर्तिततारके ।
भवतस्तत्र नयने स्रुते लुलितपक्ष्मणी ॥
अर्धत्रिरात्रात्सा साध्या न सा साध्या तत परम् ।
यथाकालमतो निद्रा रात्रौ सेवेत सात्म्यत ॥
असात्म्याज्जागरादर्धं प्रात स्वप्यादभुक्तवान् ।
शीलयेन्मन्दनिद्रस्तु क्षीरमिक्षुरस रसान्[१] ॥
आनूपौदकमासाना भक्ष्यान् गौडिकपैष्टिकान् ।
शालीन्मद्यानि माषाश्च कीलाटान्माहिष दधि ॥
अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानमूर्द्धश्रवणपूरणम् ।
चक्षुषस्तर्पण लेप शिरसो वदनस्य च ॥
प्रवाते सुरभौ देशे सुखा शय्या यथोचिते ।
सवाहन स्पर्शसुख चित्तज्ञैरनुजीविभि ॥
सर्पि क्षीरानुपान च जीवनीयै श्रृत पिबेत् ।
कान्ताबाहुलताऽऽश्लेषो निर्वृति कृतकृत्यता ॥
मनोऽनुकूला विषया काम निद्रा सुखप्रदा' ।

१, 'रसम्' इति पा०।

ब्रह्मचर्यरतेर्ग्राम्यसुखनिस्पृहचेतस ॥
निद्रा सतोषतृप्तस्य स्व काल नातिवर्तते ।
एतान्येव च भूयिष्ठ निद्रालु परिवर्जयेत् ॥
कालस्वभावामयचित्तदेह-
खेदै कफागन्तुतमोभवा च ।
निद्रा बिभर्ति प्रथमा शरीर
पापात्मिका व्याधिनिमित्तमन्त्या[१] ॥

निद्रानाश से होनेवाले रोग—मनुष्य को निद्रा न आने से अथवा जितनी निद्रा का सेवन करना चाहिए उतनी निद्रा न लेने से अङ्गमर्द (शरीर का टूटनाहडफूटन), मस्तक की जडता (सिर का भारी रहना), जृम्भिका (जम्भाइयों का आना), जाड्य (बुद्धि का नष्ट हो जाना), ग्लानि, भ्रम (चक्कर आना), अपचन, तन्द्रा तथा वायु के आक्षेपादि अनेक रोग होते हैं। विद्रानाश होने से वायु की वृद्धि होकर वह कफ को शुष्क करता है। वायु के द्वारा सूखा हुआ वह अल्प कफ धमनियों मे चिपटता और रुकावट पैदा करता है। इतना ही नही, धमनियों को रोक कर वह कफ सज्ञा को नष्ट करनेवाली, बेहोशी लानेवाली ऐसी दारुण तन्द्रा को करता है कि उस तन्द्रा की अवस्था मे खुले हुए नेत्र फटे से हो जाते है, नेत्रों की पुतलिया फिर कर उलट जाती है, नेत्रों से पानी बहता और भौहें भी टेढी हो जाती है। यह दारुण तन्द्रा साढे तीन दिन तक साध्य रहती है परन्तु इसके अनन्तर असाध्य हो जाती है।

यथा समय निद्रा सेवन का उपदेश—निद्रानाश होने से जो जो विकार होते है वे सब ऊपर बता चुके है। अङ्गमर्दादि भयङ्कर तन्द्रा आदि रोग प्राणों के नाश करनेवाले है इस लिए मनुष्य को चाहिए कि वह जिस प्रकार सात्म्य हो रात्रि मे निद्रा का सेवन करे। जागरण करना मनुष्यों के लिए असात्म्य है अत जागरण जहा तक बने नही करना चाहिए। प्रसङ्गवशात् यदि जागरण हो ही जाय तो उसकी दोष शान्ति के लिए जितने समय तक जागरण किया है उससे आधे समय तक प्रात क ल भोजन के पहले नीहार पेट निद्रा का सेवन करना चाहिए।

निद्रानाश के शमनोपाय जिसकी निद्रा कम हो गयी हो अथवा जिसे निद्रानाश रोग लग गया हो वह दूध, ईख का रस, अनूपदेश के पशु–पक्षियों तथैव जल मे रहनेवाले मत्स्य आदि प्राणियों का मास रस (सोरुवा) गुड और पिष्ट (चावल आदि के आटे) से बने हुए भक्ष्य पदार्थ, भात (चावल), मद्य, माष (उडद), किलाट (उष्ण किए हुए दूध मे दही–नीबू आदि का अम्ल रस डाल कर बनाया हुआ चूसा जिसे हलवाई कलाकन्द आदि मे डाला करते है। इसे अँगरेजी में Inspissated milk कहते है। यह गुरु, वात नाशक, पुरुषत्व और निद्रा को लानेवाला[२] है), भैंस का

१ 'पाप्मान्तगा व्याधिनिमित्तमन्या।' इति पाठान्तरम्।

२ "पक्व दध्ना सम क्षीर विज्ञेया दधिकूर्चिका। तक्रेण तक्रकूर्चा-स्यात्तयो पिण्ड किलाटक ॥ गुरु किलाटोऽनिलहा पुस्त्वनिद्राप्रद स्मृत ॥" इति

दही, अभ्यङ्ग, उद्वर्तन (उबटन), स्नान, सिर मे तेल लगाना, कान मे तेल का डालना, आखों का तर्पण (छाटना), सिर और मुख पर निद्रा लानेवाले लेप करना, समुचित सुगन्धित स्थान मे जहा अच्छी हवा आती हो शय्या बिछा कर उस पर लेटना या सोना, अपने मन के अनुकूल चलनेवाले सेवकों द्वारा सवाहन (अङ्गमर्दन-पगचप्पी) आदि कराना जिस से सुख की प्राप्ति हो, जीवनीय गण[1] का काढा अर्थात् जीवन्ती, काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवक, ऋषभक और मुलेठी का कषाय पीकर ऊपर से घृत मिश्रित दूध का पान करना, प्रिय स्त्री का मैथुन के अतिरिक्त आलिङ्गन करना, चिन्ता न करना, कृतकृत्यता (सर्वथा सतुष्ट रहना), अपने मन को प्रिय ऐसे विषयों मे रहना इनका सेवन करे । ये सब सुख की नीद लानेवाले उपाय है। जो सदैव ब्रह्मचर्य मे रत है, जिसका चित्त ग्राम्य सुख (मैथुनसुख) की इच्छा नही करता, जो सर्वदा सतुष्ट और तृप्त रहता है उसको समय पर निद्रा आ ही जाती है। ये उपर्युक्त सब उपाय जिसको निद्रा नही आती है, उसके लिए है अत जो निद्रालु है, जिसे नीद अच्छी आती है उसको चाहिए कि वह इन कथित दुग्ध आदि का विशेष सेवन न करे।

निद्रा के सात प्रकार—निद्रा के निम्न लिखित सात प्रकार है।—

(१) कालस्वभावा—काल के स्वभावानुसार नित्य प्रति आनेवाली वह प्राकृतिक निद्रा है जिससे इस शरीर की धारणा होती है।

(२) आमयखेदप्रभवा—रोग के खेद-पीडा-परिश्रम से आनेवाली।

(३) चित्तखेदप्रभवा—चित्त या मन के खेद या परिश्रम से आनेवाली।

(४) देहखेदप्रभवा—शारीरिक परिश्रम के कारण आनेवाली।

(५) कफप्रभवा—कफ, आम आदि के कारण आनेवाली।

(६) आगन्तुकी—चोट, शस्त्रप्रहारादि से बेहोशी (नष्ट सज्ञा) के रूप मे आनेवाली।

(७) तमोभवा—तमोगुण बाहुल्य से आनेवाली।

इनमे से आदि और अन्त की ये दोनों निद्रा तारक और मारक है। पहली काल स्वभावा शरीर को धारण करनेवाली है और अन्त की सातवी तमोभवा निद्रा पापात्मिका है, रोग की हेतुभूत है जो कि अन्त मे प्राणी को मृत्यु की गोद में सुला देती है। बीच की रोग, चित्त तथा शरीर के खेद से आनेवाली, कफ से आनेवाली तथैव आगन्तुक ये पाचों निद्राए भी रोगों की हेतु या कारणीभूत है।

इस प्रकार निद्रा (स्वप्न) और ब्रह्मचर्य का वर्णन हुआ। अब आचार्य अब्रह्मचर्य (स्त्रीगमन) के अनौचित्य और औचित्य का वर्णन करते है—

१ "जीवकर्षभकौ मेदा महामेदा काकोली क्षीरकाकोली मुद्गपर्णीमाषपर्ण्यौ जीवन्ती मधुकमिति दशेमानि जीवनीयानि भवन्ति।" इति चरक ।

ग्राम्यधर्मप्रवृत्तौ तु रजस्वलामनिष्टाचारामशस्ताम तिस्थूलामतिकृशा गर्भिणी सूतिका[1]मनुत्ताना विकृताङ्गी गणिकामप्रजस दुष्टयोनिमन्ययोनिमन्यस्त्रिय विशेषाच्च वयोवर्णवृद्धा सगोत्रा गुरुमित्रबन्धुभृत्यपत्नीं वर्णिनी तथा चैत्यचत्वरचतुष्पथोपवनश्मशानायतनसलिलौषधिद्विजगुरुसुरनृपालयेष्वहनि गोसर्गे[2] मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे पर्वदिनेष्वनङ्गे[3] पिपासुरप्रणीतसकल्पो[4] वा न गच्छेत्। विशेषेण चातिव्यवायिता[5] गर्भिणी नवप्रसूतामृतुमती सवृतयोनि च न विपरीतव्यवाये योजयेत् । मूर्धादिघात च परिहरेत् । न च निषेकाभिमुख शुक्र धारयेत् । मन शरीरस्थितिमात्रमेव सेवेद्व्यवाय न च तत्पर स्यादिति।

निषिद्ध मैथुन—ग्राम्यधर्म अर्थात् मैथुन मे प्रवृत्त होनेवाले मनुष्य को चाहिए कि वह रजस्वला, अनिष्टाचारा (दुराचारिणी) अशस्ता (जन्म से ही हीन आकृतिवाली), अतिस्थूला, अतिकृशा (अत्यन्त दुबली), गर्भवती, सूतिका (जो सूतिकावस्था मे हो जिसे प्रसूति हुए डेढ महीना पूरा न हुआ हो) अनुत्ताना (उल्टी सोई हुई), विकृताङ्गी (जन्म से ही कुबडी आदि), वेश्या, बन्ध्या, दुष्टयोनि (उपदशादि व्याधियों से जिसकी योनि दूषित हो), अन्य योनि (मनुष्ययोनि के अतिरिक्त पशु आदि योनि) और अन्य स्त्री ('दूसरे की स्त्री), इनसे सभोग न करे। विशेषत अपने से वय और वर्ण (ब्राह्मणादि) मे वृद्धा (ऊची) या अधिक हो, सगोत्रा (जो अपने गोत्रकी हो), जो अपने गुरु-मित्र-भाई या भृत्य (नौकर-सेवक) की स्त्री हो, जो ब्रह्मचारिणी हो, इनसे भी सभोग न करे। चैत्य अर्थात् किसी मृतक की समाधि या नगर के बाहर का बडा वृक्ष, चत्वर (अगन), चतुष्पथ (चौहट्टा या जहा चार रस्ते मिलते हों), उपवन (बागबगीचा), श्मशान (मरघट) की जगह का घर, जलाशय (कूप-वापी-तालाब आदि), ओषधिस्थान, ब्राह्मण-गुरु-देवता का गृह, वधस्थान, राजा का घर, इन स्थानों में स्त्रीसभोग न करे। इसी प्रकार दिन मे, गोसर्ग (रात्रि के अन्त मे अर्थात् प्रभात में) मध्याह्न तथा आधी रात मे, (अमावस्या-पूर्णिमा-व्यतीपात-वैधृत-ग्रहण आदि के दिन मे) स्त्रीसङ्ग, न करे। अनङ्ग (योनि नामक अङ्ग के अतिरिक्त हस्त, ऊरू आदि अन्य अङ्गों) मे मैथुन की चेष्टा न करे। जिस समय पिपासा (प्यास) लगी हुई हो अथवा अप्रणीत सकल्प (बिना इच्छा) के भी स्त्रीसभोग न करे। विशेष करके अतिव्यवायिता (अति मैथुन मे प्रवृत्त महाभोग शरीर वाली स्त्री), गर्भवती, तुरन्त की प्रसूत हुई स्त्री, ऋतुमती (रजस्वला, परन्तु यहा "ऋतुमती" पाठ प्रामादिक प्रतीत होता

१ "सूता—असपूर्णाध्यर्द्धमासप्रसूतिम्।" इति हैमाद्रि ।

२ "प्रभाते गोसर्गोसर्गौ" इति हारावली । "गोसर्गे प्रत्यूषे" इति चक्रदत्त ।

३ "अनङ्ग योन्यभिधानादङ्गादन्यत् पाण्यूर्वादि" इतीन्दु ।

४ "अप्रणीतसकल्पोऽनुत्पन्नतदिच्छ" इतीन्दु ।

५ "अतिव्यवायिता महाभोगशरीरा" इतीन्दु।

है। इसलिए कि इसी गद्य मे पहले रजस्वला पाठ आ चुका है। यहा "नवप्रसूतामृतुमती सवृतयोनि च" इस पाठ के पूर्वापरसन्दर्भ को देखते टीकाकार इन्दु का कथन ही समुचित प्रतीत होता है क्योंकि सवृतयोनिविशेषण अनृतुमती बाला के लिए ही घटता है। इन्दुका कथन है कि "यहा असजातर्तवा अनृतुमती बाला ही का ग्रहण करना अभीष्ट है। इन्दु कहता है कि कुछ लोग ऋतुमती ऐसा पाठ मानते हैं।" परन्तु यह इन्दुका मत नही है। साराश यह है कि इन लक्षणोंवाली स्त्रियों से भी सभोग न करे। विशेषत उक्त लक्षणोंवाली स्त्रियों की योजना विपरीतरति मे न करे। हा, 'सवृतयोनि' इसको विशेषण न माना जाय तो कदाचित् विपरीत रति विषयमे ऋतुमती यह पाठ भी घट सकता है, न गद्य मे आया हुआ "रजस्वला" पाठ भी आपत्तिकारक हो सकता है और न यह ऋतुमती पाठ पुनरुक्त ही माना जा सकता है क्यों कि यह विषय विपरीत रति का है।) भावार्थ यह है कि विशेषत विपरीतरति में अतिमैथुनप्रिय महाभोग शरीरवाली स्त्री, रजस्वला या अनृतुमती-सवृतयोनि (जिसकी योनि बराबर खुली न हो) ऐसी बाला स्त्री, गर्भिणी, नवप्रसूता स्त्री को प्रयुक्त न करे। सभोगसमय में स्त्रीशरीर पर सिर आदि अङ्गों को न पटके, वीर्यस्राव होता हो तो उसको न रोके, जब तक मन मे उत्सुकता और शारीरिक सामर्थ्य का अनुभव होता रहे तब तक ही मैथुन करे।

अब आचार्य मैथुनविधि के औचित्य को कहते हैं—

विस्रब्धहृष्टो रहसि तत्कामस्तरुणः पुमान् ।
समस्थिताङ्ग सुरभिर्मुक्तमूत्रादिरव्यथ ॥
नानाशितो नात्यशितो वृष्याणा तर्पितस्त्र्यहात्[1] ।
नारीं नारीगुणैर्युक्ता सहपूर्वगुणा व्रजेत् ॥
द्व्यहाद्वसन्तशरदो पक्षाद्वृष्टिनिदाघयो[3] ।
सेवेत कामत काम हेमन्ते शिशिरे बली ॥
स्नानाङ्गरागव्यजनेन्दुपाद
मासासवक्षीररसान् रसालाम् ।
भक्ष्यान् सिताढ्यान् सलिल सुशीत
सेवेत निद्रा च रतान्ततान्त ॥
स्त्रीससर्गाद्धि सद्य स्या-
त्क्लीबता बलिनामपि ।
एव त्वाप्यायते शीघ्र तेषा शुक्र च धाम च ॥
दृष्ट्यायुरोज शुक्राणा क्षय मेढ्राश्रयान् गदान्।
वायो कोपमधर्म च मूढ प्राप्नोत्यतोऽन्यथा ॥

उचित मैथुनविधि—स्त्रीगमनसे तीन दिन पहले जिसने वृष्य (वीर्यवर्धक-पुष्टिकारक) पदार्थों का उपभोग कर तृप्ति प्राप्त कर ली हो, जो भूखा न हो और अत्यधिक भोजन भी न किया हुआ हो, जो स्त्रीसग की कामनावाला हो, तरुण हो, जिसे केलिक्रिया मे हर्ष हो, मलमूत्रादिका जिसने विसर्जन कर लिया हो, जिसे किसी प्रकार की व्यथा या पीडा न हो, पुरुष को चाहिये कि वह वसन्त तथा शरद् ऋतुमे दो दो या तीन तीन दिन के अन्तर से, वर्षा तथा ग्रीष्म ऋतु मे एक एक पक्ष अर्थात् पन्दरह पन्दरह दिन के अन्तर से और यदि बलवान् हो तो हेमन्त एव शिशिर ऋतु मे सुगन्धियुक्त होकर एकान्त मे पूर्वोक्त स्त्री के सपूर्ण गुणों से युक्त स्त्री से समस्थिताङ्ग (समतल पर अपने शरीर को स्थित कर) यथेच्छ स्त्रीसभोग करे।

मैथुन के अन्त में कर्त्तव्य—स्त्रीसभोग के अनन्तर तान्त अर्थात् क्लान्त (थके हुए) मनुष्यको चाहिए कि वह स्नान, अङ्गलेपन, पखे की हवा, चन्द्रमा की किरणे, मासरस, आसव, दूध, मास, रसाला नामक तैयार किया हुआ पेय पदार्थ मिश्री से मिश्रित भक्ष्य (भोजन के पदार्थ), शीतल जल और निद्रा का सेवन करे क्यों कि स्त्रीससर्ग से बलवानों तक में बहुत जल्दी क्लीबता (नपुसकता) आ जाती है परन्तु उपर्युक्त पदार्थों के सेवन से उन स्त्रीससर्गी मनुष्यों मे शीघ्र ही पुनरपि शुक्र (वीर्य) एव धाम (तेज) की वृद्धि होती है। निरन्तर स्त्रीसभोग करने से तथा उपर्युक्त साधन के करने से मूढ मनुष्य दृष्टि, आयु, ओज और वीर्य के क्षय तथैव मेढ् (लिङ्गेन्द्रिय) के आश्रय मे रहनेवाले उपदश-प्रमेहादि रोगों, वायु के प्रकोप एव अधर्म को प्राप्त होकर दुःखी हो जाता है।

अब आचार्य स्त्रीसभोग के समय जिनका पहले निषेध प्रदर्शित किया गया है अब उनके अवगुणों का वर्णन करते है—

उत्तानो वेगरोधी वा वृद्धिमेहाश्मशर्करा ।
तिमिरादिगदोत्पत्ति मूर्धाद्याहननाद्‌ध्रुवम् ॥
भ्रमक्लमोरुदौर्बल्यबलधात्विन्द्रियक्षया ।
अपर्वमरण च स्याद्विशेषेणातिमैथुनात् ॥
न[1] चर्ते षोडशाद्वर्षात्सप्तते परतो न च ।
आयुष्कामो नरः स्त्रीभि सयोग कर्तुमर्हति[2] ॥
अतिबालो ह्यसपूर्णसर्वधातु स्त्रिय व्रजेत् ।
उपतप्येत सहसा तडागमिव[3] काजलम् ॥
शुष्क रूक्ष यथा काष्ठ जन्तुजग्ध विजर्जरम् ।
स्पृष्टमाशु विशीर्येत तथा वृद्धस्त्रिय व्रजन् ॥

विपरीतरति आदि के दोष—उत्तान अर्थात् चित्त लेट कर विपरीत मैथुन के करने तथैव होते हुए वीर्यस्राव के रोकने से मनुष्य अण्डवृद्धि या अन्त्रवृद्धि, प्रमेह, पथरी या अश्मरी रोग को प्राप्त होता है। मस्तक, छाती आदि के हनन (पटकने) से तिमिरादि (तिमिर-आखोंके सामने अधियारी आना, हृदय शूल आदि) रोग होते हैं। अतिमैथुन से भ्रम (चक्कर आना), क्लम (ग्लानि), हृदयदौर्बल्य, बल-वीर्य और इन्द्रिय (मन आदि) का नाश होता है। इतना ही नहीं, अकाल मृत्यु तक हो जाता है।

१ "अत्रानृतुमत्यसजातार्तवा बाला। ऋतुमतीमिति केचित् पठन्ति।" इतीन्दु

२ "त्र्यहम्" इति पाठान्तरम्।

३ "द्व्यहाद्वसन्ते तस्या ते पक्षात्तद्वदनोदये। सेवेत सेवत इत्यपि पाठान्तरम्।

१ "न चोनषोडशाद्वर्षात्" इत्यपि पाठ।

२ "गन्तुमर्हति" इति पाठान्तरम्।

३ "तटाकमिव काजलम्" इत्यपि पाठ।

बाल और वृद्ध को मैथुन का निषेध -आयुष्य को चाहने वाले मनुष्य को चाहिए कि वह १६ वर्ष की अवस्था से पहले और ७० वर्ष की अवस्था के अनन्तर स्त्रियों से सभोग न करे। साराश यह कि स्त्रीसभोग नाशकारी होने के कारण उपर्युक्त अवस्थाओं में मनुष्य स्त्रीसभोग नही कर सकता क्यों कि १६ वर्ष की आयु तक मनुष्य अतिबाल होता है। उसके रस, रक्तादि सातों धातु असपूर्ण रहते हैं अर्थात् पूरे नहीं बनते, अपि तु कच्चे रहते हैं। ऐसी अवस्था मे स्त्रीसभोग करके मनुष्य इस प्रकार सूख जाता है जैसे कि काजल (थोडे जल वाला तालाव) सूर्य के द्वारा सन्तप्त होकर सूख जाता है। भावार्थ यह है कि १६ वर्ष तक मनुष्य उत्तरोत्तर पुष्ट होता है--उसकी रस-रक्तादि सातों धातुए पक्की होती है परन्तु स्त्री सम्भोग के कारण यह न होकर वह दिनप्रतिदिन उपतप्येत (सूखता जाता है) या सतापको प्राप्त होता है। इसी प्रकार ७० वर्ष के अनन्तर मैथुन करके वृद्ध मनुष्य भी ऐसा सारहीन हो जाता है जैसे कि सूखी-रूखी-घुन लगी हुई पोली लकडी छूते ही तुरन्त विखर जाती है। इस लिए मनुष्यको सर्वथा वीर्यका सरक्षण करना चाहिए। शास्त्रकार आज्ञा देते है कि—

कामस्य तेज परम हि शुक्र
माहारसारादपि सारभूतम् ।
जितात्मनातत्परिरक्षणीय
ततो वपु सन्ततिरप्युदारा ॥
अप्रमत्तो भजेद्भावास्तदात्वसुखसञ्ज्ञकान् ।
सुखोदर्केषु सज्जेत देहस्यैतदल हितम् ॥
प्रज्ञापराधोऽसात्म्यार्थसयोग कालवैकृतम् ।
हितेऽपि रतमाहारे योजयन्त्यामयैर्नरम् ॥

वीर्य के सरक्षण की परमावश्यकता—मनुष्य को चाहिए कि वह आहार से सार से भी अधिक सारभूत, शरीर के परम तेजोरूप ऐसे अपने वीर्य का सरक्षण करे क्यों कि वीर्य की रक्षा करने से ही अपना शरीर एव अपनी सतति ये दोनों बलवान् होते हैं। इसी लिए कहा है कि 'तदात्वसुखसञ्ज्ञक' अर्थात् तत्काल उस थोडे से सुखसमय के लिए ही जिन की सुखसज्ञा है ऐसे क्षणिक सुखसञ्ज्ञक स्त्रीसङ्ग, आहार, विहारादि भावों का सेवन अप्रमत्त होकर (बडे सोच विचार के साथ) करे। मतवाले की तरह बिना सोचविचार के इनका सेवन न करे क्योंकि अप्रमत्ततया सेवन किए हुए सुखरूप फल देनेवाले इन भावों में ही मनुष्य अपने शरीर का पूर्ण हित कर सकता है। इन भावों का विचारपूर्वक सेवन न करना ही प्रज्ञापराध, असात्म्यार्थ सयोग तथा कालवैकृत है। ये ऐसे हैं कि हिताहार करते हुए मनुष्य को भी रोगों का साथी बना देते हैं।

नापथ्यसेविन सद्य प्रबाधन्ते तदा मला ।
प्रकोप प्रतिबध्नन्ति भिन्नैर्दूष्यादिभिर्यदा[1] ॥
न च सर्वोपचारोऽपि सर्वदा सर्वदोषकृत् ।
न हि सर्वाण्यपथ्यानि तुल्यदोषाणि नैव च ॥
सर्वे तुल्यबला दोषा न सर्वाणि वपूंषि च ।
व्याधिक्षमत्वे शक्तानि यतोऽपथ्य तदेव तु ॥
गच्छत्यपथ्यतमता तुल्यदूष्यादिवर्द्धितम् ।
त एव च पुनर्दोषा हेतुभिर्बहुभिश्चिता ॥
मिथो विरुद्धा बलिनो दीर्घकालानुबन्धिन ।
सर्वे सम प्रकुप्यन्ति[1] प्राप्याल्पमपि कारणम् ॥
प्राणायतनमाश्रित्य गम्भीरा सर्वमार्गगा ।
देहे[2] हितोचिते ते स्युश्चिरादप्याशुकारिण ॥
अहितान्यपि चान्येषामभ्यासादुपशेरते ।
दोषाश्चैषा क्षय यान्ति कर्मवाततपादिभि ॥
भिन्नाहारवय सात्म्यप्रकृतीना सम भवेत् ।
एको विकृतवाय्वादियुगपत्सेवनाद्गद ॥
वातादीना तु विकृतिर्विकृताद्ग्रहचारत ।
भौमान्तरिक्षदिव्येभ्य उत्पातेभ्यश्च जायते ॥
सभव पुनरेतेषा कर्मण सामुदायिकात् ॥

पथ्य की नितान्त आवश्यकता—प्राय देखा जाता है कि अपथ्य सेवन करनेवाले को वात, पित्त एव कफ, ये दोष तुरन्त किसी प्रकार की बाधा नही देते। इससे अपथ्यसेवी समझता है कि अपथ्यसेवन से भी किसी प्रकार की हानि नहीं होती परन्तु उसका यह समझना कदापि ठीक नहीं हो सकता क्यों कि अपथ्य का सेवन तुल्यदोषदूष्यादि की अवस्था में तुरन्त बाधाकारक नही होता परन्तु वही आगे चलकर दूष्य-दोषादि की भिन्न अवस्था प्राप्त होने पर बाधाकारक होता है। जैसे कि आनूप देश मे सेवन किया हुआ पित्तकोपकारक पदार्थ दु खकारक नहीं होता परन्तु वही आगे चलकर देशदूष्यादि की भिन्न अवस्था को प्राप्त होकर सद्योमारक (तुरन्त मारने वाला) होता है। भावार्थ यह है कि अपथ्य किसी भी अवस्था मे पथ्य नही हो सकता अपितु अपथ्य ही रहता है।

अपथ्य मे व्यभिचार—यह बात भी नही है कि सब प्रकार का अपचार (अपथ्यसेवन) सर्वदा सब दोषों का करनेवाला होता है क्यों कि सब प्रकार के अपथ्य तुल्यदोषवाले नहीं होते अर्थात् जिन द्रव्यों का एक ही साथ मे समिलित सेवन होता है उनमें एक दूसरे के विरोधी द्रव्य भी होते है इस लिए अपथ्यसेवन सर्वदोषकारी नही होता। परस्पर विरोधी द्रव्यों की तरह न उस अपथ्य सेवन मे सब दोष तुल्य बल वाले ही रहते है, कारण यह कि अपथ्यसेवन में किसी पदार्थ का स्वल्प भाग रहता है तो किसी का अधिक रहता है और न सब शरीर ही तुल्य व्याधिक्षम रहते है। जो व्याधिक्षम शरीर रहता है उसका न्यूनाधिक अवस्थावाले दोष कुछ भी बिगाड नही कर सकते। भावार्थ यह है कि—उक्त अपथ्य-सेवन तभी अपथ्यतमता को प्राप्त होता है जब कि वह तुल्य दोषादि से वृद्धि को प्राप्त हो जाता है।

चिरकाल के बाद भी सचित दोषों का एकदम प्रकोप—सर्व स्रोतों में व्याप्त होनेवाले ऐसे गम्भीर दोष जो बहुत से शीत-गुर्वादि कारणों से सचित होते है, परस्पर विरोधी तथा बलवान्, दीर्घ काल तक शरीर में रहनेवाले चिरकाल के

१ "प्रति विघ्नन्ति" इति पा०।

१ "समप्रकुपिता" इति पा०।
२ "देहेऽहितोचिते" इत्यपि पाठ।

अनन्तर भी स्वल्प कारणको पाकर प्राणायतन (हृदयादि) के आश्रित रहते हुए एकदम कुपित होकर हितोचित देह मे या अहिताचारी देह में आशुकारी (शीघ्र ही प्राणहारक) बन जाते है। कई मनुष्यों के अभ्यास करने से अहितकारी (अपथ्य द्रव्य) भी उपशम बन जाते है-सा म्यवत् हो जाते है। उनके वायु आदि दोष भी वातातपकर्म (चलने-फिरने, हवा और धूप मे फिरने, लवनादि) से नष्ट हो जाते है। भिन्न भिन्न आहार, वय, सात्म्य और, प्रकृति ये सब दोषसाम्य करते है। साराश, मनुष्य रोगी नही होता परन्तु किसी एक ही काल में इन सब के कारण एक रोग तब उत्पन्न होता है जब कि मनुष्य एकदम एक ही समय मे वायु पित्तादि समस्त दोषों को कुपित करनेवाले पदार्थों का सेवन करता है। इतना ही नही, उक्त एक रोग को उत्पन्न करनेवाली वातादि दोषों की विकृति तब होती है जब कि ग्रहचार और भौमान्तरिक्ष उत्पात होते है। भावार्थ यह है कि मनुष्य के सूर्य, चन्द्र, मगल आदि ग्रहों की दशा अनिष्ट होती है-भौम, आतरिक्ष और दिव्य उत्पात होते है। इन अनिष्ट ग्रहों तथा भौम-आन्तरिक्ष-दिव्य उत्पातों का सभव मनुष्य प्राणी के पूर्वजन्म और इस जन्म के सचित कर्मसमुदाय से होता है।

वात, पित्त और कफ इन तीन दोषों मे वायु ही प्रधान है। विना वायु के पित्त-कफ कुछ भी नही कर सकते अर्थात वायु के साहाय्य के विना कफ और पित्त पङ्गु रहते है। साराश, इस भूतल पर जनपदविध्वसकारी महामारी आदि रोगों का मुख्य कारण बिगडा हुआ वायु ही हुआ करता है। वायु के बिगडनेवाले दुष्ट ग्रहों के चार एव भौम, दिव्य, आन्तरिक्ष उत्पात है। इस लिए अब आचार्य दुष्ट ग्रहचार तथा भौमादि उत्पातों द्वारा बिगडे हुए वायुके लक्षणों का वर्णन करते है—

दुष्टो वायुरभिष्यन्दी स्तिमिताऽत्युष्णशीतल ।
कुण्डली भैरवरव पुरुषोऽनार्तवो बली ॥
अन्योन्यव्याहतगति पासुबाष्पविषान्वित ।
रसवर्णादिविकृतमपक्रान्तविहङ्गमम् ॥
निन्दितप्रभव तोयमुपक्षीणजलाशयम् ।
मक्षिकामूषिकाव्यालबहूत्पानप्रदूषित ॥
देशोऽपथ्यान्नबहुलो नष्टधर्ममहौषधि ।
कालश्च विपरीतोऽतिहीनर्नालिङ्गो यथायथम् ॥
एते दुष्परिहारत्वादहितायोत्तरोत्तरम् ।
येषामनियत कर्म तस्मिन्काले सुदारुणे ॥
कर्म पञ्चविध तेषा योज्य तद्वद्रसायनम् ।
शस्यते देहवृत्तिश्च[1] भेषजै पूर्वमुद्धृतै ॥
ब्रह्मचर्य दया दान सदाचाररति शम ।
सद्धर्म सत्कथा पूजा देवर्षीणा जितात्मनाम् ॥
देशानामविपन्नाना साधूना च निषेवणम् ।
दैवव्यपाश्रय चेष्ट कर्म जीवितरक्षणम् ॥
हेमन्तादिषु कुर्वीत स्व स्व चाकालिकेष्वपि ।
विधि तच्छीलन यस्माच्छीतादिद्वन्द्वकारितम् ॥
ऋतुचर्या हि शीतोष्णवृष्टिदोषप्रतिक्रिया ।
अत एवर्तुचर्याया हेमन्तशिशिरौ समौ[1] ॥

उत्पातादिजन्य दुष्ट वायु तथा जल आदि के लक्षण—बिगडा हुआ वायु अभिष्यन्दी (मलिनता के कारण शारीरिक स्रोतों से स्राव करानेवाला), वेगरहित, अत्यन्त उष्ण तथा कभी अत्यन्त शीतल, कुण्डली (आवर्तवान्-भूतोलिया) भयङ्कर शब्दवाला, रूखा, ऋतुसे विपरीत अर्थात् जिस ऋतु में जिस दिशा का वायु प्राय बहा करता है उससे विपरीत, बलवान् (बडे वेगवाला), अन्योन्यव्याहतगति (दिशाविशेष से परस्पर रुद्ध मार्ग), धूल-बाष्प एव विषसे युक्त होता है। इस वायु की बिगडी हुई अवस्था मे उससे जल भी दूषित हो जाता है अर्थात् उत्पातों के समय का जल निन्दित भावों को लेकर या निन्दित देशों से उत्पन्न होने से वर्ण-रस आदि से बिगडा हुआ, पक्षियों कर के त्याज्य, क्रिमिकीटादि को उत्पन्न करनेवाला तथा जलाशय मे से जल्दी सूख जानेवाला होता है। इसी प्रकार उस दुष्ट वायु से देश भी दूषित होकर वह मक्खियाँ, मूसे, सर्प आदि के भयङ्कर उत्पातों से प्रदूषित अपथ्यकारी बहुत से अन्नों से युक्त होता है और महौषधियों के गुणों को नष्ट करनेवाला होता है। उस दुष्ट वायु से काल भी दुष्ट होता है अर्थात् अति विपरीत (शीत काल मे अति उष्णता एव उष्ण काल मे शीतता), प्राप्त ऋतु मान से अतिलिङ्ग (उस ऋतु के मान से अत्यधिक चिह्नोंवाला), विपरीत लिङ्ग (एक ऋतु में दूसरी ऋतु के लक्षणों का होना), हीनलिङ्ग (प्राप्त ऋतु के लक्षणों से नितान्त हीन लक्षणोंवाला) होता है। इस प्रकार वातादि दोष, देश और काल ये सब अपनी विकृति (दुष्टता) के कारण दुष्परिहारी (जिनका शमन करना कठिन होता है) होने से उत्तरोत्तर अहितकारी होते जाते है।

दुष्ट दोष-देश-काल के शमनोपाय—उक्त दारुण काल मे जिनके कर्म नियमित नही होते उनके लिए पञ्चविध कर्म (वमन-विरेचन-स्नेहन-स्वेदन और बस्ति) की योजना करनी चाहिए और उसी प्रकार किसी भी रसायन की योजना करनी चाहिए। प्रथम वर्णन किए हुए औषधों के द्वारा देह का सरक्षण करना चाहिए। इनके अतिरिक्त ब्रह्मचर्य, दया, दान, सदाचार, शान्तता, सद्धर्म सत्कथा, जितात्मा ऋषियों एव देवताओं का पूजन करना चाहिए। इतना ही नही, उस बिगडे हुए देशका परित्याग करे जहा का जलवायु आदि शुद्ध हो उस देश मे जाकर रहना चाहिए-सज्जनों का सेवन, दैवव्यपाश्रय (मन्त्र, बलि, हवनादि) जीवनरक्षा के करने वाले कर्मों को करना चाहिए।

ऊपर कह चुके है कि दुष्ट-देश-दोषादि के समय सब बाते विपरीत होती है वैसे ऋतुवैपरीत्य भी होता है। यदि अकालिक ऋतु दिखाई दे अर्थात् वर्तमान ऋतु के समय हेमन्तादि अन्य ऋतुओं के लक्षण दिखाई दे तो उस समय मे उन दिखाई देनेवाले हेमन्तादि ऋतुओं की ऋतुचर्या का ही पालन करना चाहिये। इस लिए कि उस काल में विपरीतता के कारण शीत, उष्ण और वर्षा का द्वन्द्व उपस्थित हो जाता

१ "देहवृद्धिश्च" इत्यपि पाठ ।

१ 'हेम तशिशिरे समे" इति पाठान्तरम्।

है और वस्तुत ऋतुचर्या का सेवन करना ही शीत, उष्ण तथा वृष्टिदोष की प्रतिक्रिया है। ऋतुचर्याविधि मे हेमन्त और शिशिर ऋतु को समान मानना चाहिए।

अब आचार्य आयु के विषय को कथन करते हुए काल मृत्यु और अकालमृत्यु का सोदाहरण विवेचन करते है।

सर्वप्राणभृता नित्यमायुर्युक्तिमपेक्षते ।
दैवे पुरुषकारे च स्थित ह्यस्य बलाबलम् ॥
अन्यजन्मकृत कर्म दैव पौरुषमैहिकम् ।
विद्याते कर्मणी त्रेधा श्रेष्ठमध्यावरत्वत ॥
तयोरुदारयोर्युक्तिर्दीर्घस्य सुसुखस्य च ।
नियतस्यायुषो हेतुर्विपरीतस्य चापरा ॥
मध्या मध्यस्य मिश्रस्य सकीर्णा शृणु चापरम् ।
दैव पुरुषकारेण दुर्बल ह्युपहन्यते ॥
तथा दैवेन बलिना पौरुष कर्म दुर्बलम् ।
दृष्ट्वा तदेके मन्यन्ते नियत मानमायुष ॥
कर्म किञ्चित्क्वचित्काले विपाके नियत महत् ।
किञ्चित्त्वकालनियत प्रत्ययै प्रतिबोध्यते[1] ॥
एव च द्विविधो मृत्यु कालाकालविभेदत ।
उपदिष्टस्ततश्चैष हिताहितविधिक्रम ॥

आयु में युक्ति की आवश्यकता—सब प्राणियों की आयु युक्ति (सम्यक् योग) की अपेक्षा करती है अर्थात् दीर्घ एव सुखी जीवन के लिए सम्यक् योग की आवश्यकता रहती है। मनुष्य की आयु का बलाबल दैव और पुरुषकार (प्रारब्ध और पुरुषार्थ) पर स्थित (निर्भर) रहता है । पूर्व जन्म के किए हुए कर्मो का नाम दैव या प्रारब्ध है और इस जन्म मे किए जानेवाले कर्मों का नाम पुरुषार्थ है । दैव और पुरुषार्थ ये दोनों श्रेष्ठ, मध्यम और हीनभेद से तीन प्रकार के होते हैं । इन दोनों उदार प्रारब्ध और पुरुषार्थ पर ही जीवन अवलम्बित रहता है। जिनके प्रारब्ध और पुरुषार्थ श्रेष्ठ होते हैं उन का जीवन सुखी और दीर्घ होता है और विपरीत इसके प्रारब्ध और पुरुषार्थ के हीन होने से आयु भी दुःखी और अल्प होती है। इसी प्रकार मध्यम तथा सकीर्ण प्रारब्ध और पुरुषार्थ हुए तो आयु भी मध्यम तथा सुख दुःख से मिश्रित होती है। साराश, प्रारब्ध और पुरुषार्थ के अनुसार ही मनुष्य के जीवन में सम्यक् योग, मध्यम योग तथा हीनयोगादि की प्राप्ति होती है और तदनुसार ही मनुष्य का जीवन क्रमश सुखी, मध्यमसुखी, अल्पसुखी आदि होता है । और भी कारण को सुनिये जो कि कालमृत्यु—अकाल मृत्यु—दुःखसुखमयी आयु का हेतु होता है । दैव और पुरुषार्थ के बलाबल के कारण देखा जाता है कि कभी दुर्बल दैव बलवान् पुरुषार्थ से दब जाता है तो कभी बलवान् दैव से निर्बल पुरुषार्थ दब जाता है। साराश, दैव और पुरुषार्थ इन दोनों मे जो बलवान् होता है उसी की विजय होती है। इसको देखकर कई ऐसा मानते है कि आयु का प्रमाण नियत है। इनके मत से दैव और पुरुषार्थ न्यूनाधिक प्रमाण मे निश्चित ही कहे जा सकते है। इससे नियत मृत्यु अर्थात् कालमृत्यु ही सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त कोई महत्कर्म किसी समय अपने विपाक या परिणाम में निश्चित होता है और जो किसी कर्म के विपाक का काल निश्चित नहीं होता तथापि वह निश्चितसा ही है इस लिए कि वह भी अन्य कारणों से जाना जाता है। इससे कई लोग नियत मृत्यु को ही मानते है परन्तु उनका मानना ठीक नही है। उपर्युक्त कथन से मृत्यु की नियतता और अनियतता स्पष्ट दिखाई देती है। इस प्रकार से कालमृत्यु तथा अकालमृत्यु ये मृत्यु के दो भेद कहे गये है और यही हिताहित विधिक्रम है अर्थात् हितकारी विधि कालमृत्यु का और अहितकारी विधि अकाल मृत्यु का कारण है। तात्पर्य यह है कि ससार मे कालमृत्यु और अकालमृत्यु ये दोनों दिखाई देते हैं अत काल और अकालमृत्यु इन दोनों मे से किसी एक ही पक्ष का ग्रहण करना ठीक नहीं है।

अब आचार्य अपने इस विषय को युक्ति-प्रयुक्तियों द्वारा सिद्ध करते है—

एकोत्तर मृत्युशत ब्रुवते वेदवादिन ।
तत्रैक कालसयुक्त शेषास्त्वागन्तव स्मृता[1] ॥
श्येनाजिरादियागेन[2] भ्रातृव्यस्य तथा च तै ।
दैर्घ्यश्रवस[3]सामाद्यैर्विहित स्वात्मनो वध[4] ॥
आयुष्कामस्य तत्प्राप्तिस्तथेष्ट्या मित्रविन्दया ।
सर्वस्मादेव चात्मान गोपायेदीदृशी स्मृति[5] ॥
तथा मरणमुद्दिष्ट सौगताना चतुर्विधम् ।
विषमापरिहारेण जायते नियतायुषाम् ॥
ध्रुव रोगित्वमन्येषा मृत्युरेव त्वपर्वणि ।
अकाण्डशस्त्रघाताद्यै प्रत्यक्षो मृत्युरन्यथा ॥
उद्भ्रान्तचण्डमातङ्गतुरङ्गादिसमागमम् ।
अरातिदुष्टवाय्वादिसाहसाहितभोजनम् ॥
वर्जयेदिति न ब्रूयुर्मुनयो दिव्यचक्षुष ।
दैवव्यपाश्रयादीश्च रसायनविधि न वा[6] ॥
न वा तेऽपि यथाकाममायुष स्थितिमाप्नुयु ।
अहिसिहगजादिभ्यो विदुषा न भय भवेत् ॥
मिथ्या प्राकारदुर्गाणि मिथ्यामारणरक्षणम् ।
आयुष्कामस्य मिथ्यैव परदारादिवर्जनम् ॥
मन्त्रदेवतयाहूता नाचक्षीरन्महाहय ।
विषसुप्तप्रबुद्धस्था भावाभावौ तदायुष ॥
सन्यासरोहिणीकादिग्रस्तस्य सहसा भवेत् ।
उपेक्षया न मरण जीवित वा चिकित्सया ॥
प्रत्यह नृसहस्रस्य युद्धेऽन्योन्यमभिघ्नत. ।
साधुवृत्तस्य चातुल्या न भवेदायुष स्थिति ॥
नायुर्वेदविषमिन्द्राद्या नौषधैरार्तमश्विनौ ।

१ "किञ्चिन" इत्यपि पाठान्तरम्।

१ "तस्मादुभयदृष्टत्वादेकान्तग्रहणमसाधु" इति चरकेऽग्निवेश प्रत्यात्रेय । २ श्येनादिना च यागेन । ३ दीर्घश्रवस । ४ "विहितस्त्वात्मनो वध" इति पा० । ५ "श्रुति" इति पा० । ६ 'रसायनविधि विना" रसायनविधींस्तु इति पा० ।

उपक्रमैरन्न भवेदकालमरण यदि ॥
घटानामामपक्वाना पालनापरिपालनै ।
चिराशुकालवर्तित्व[1] चित्रस्थाना च दृश्यते ॥
इत्यत्यन्तप्रसिद्धेऽपि सिद्धे सर्वागमैरपि ।
दृष्टेऽप्यकालमरणे विचिकित्सेत्कथ बुध ॥
गुणवद्भिषगादीना सभवे सभवेत्तु य ।
मृत्युस्त कालज प्राहुरितर तद्विपर्यये ॥

अकाल और कालमृत्यु का समर्थन—वेदवादियों का कथन है कि मृत्यु एक सौ एक प्रकार के है—इन में एक कालमृत्यु है और शेष (१००) आगन्तुक अर्थात् अकालमृत्यु है। भावार्थ यह है कि-यदि मृत्यु एक ही प्रकार का होता तो वेदवादी इस प्रकार नही कहते। श्येनाजिरादि याग द्वारा भ्रातृव्य (शत्रु[2]) के वध का विधान है और इसी प्रकार दैर्घ्य श्रवसमादियागों द्वारा अपने बध का विधान बताया गया है। इतना ही नहीं, आयु को कामनावाले के मित्रबिन्दानामक इष्टिसे आयु की प्राप्ति का विधान है। "सब प्रकारसे अपनी रक्षा करे" ऐसा स्मृति या श्रुति का कथन है। बौद्धों के मत में भी मरण चार प्रकार का माना गया है। साराश यह है कि यदि आयु नियत ही होती-एक ही होती तो उपर्युक्त विधानों एव युक्तियों के कथन की आवश्यकता ही न रहती और न सौगत (बौद्ध) ही चार प्रकार की आयु मानते। इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि काल-मृत्यु की तरह अकाल-मृत्यु भी अवश्य है। इस के अतिरिक्त प्राय देखा जाता है कि विषम आहारविहारादि का परित्याग न करने से नियतायु (काल मृत्युवाले) भी निश्चय ही रोगी हो जाते है और उनमे से कई अनियतायु अकाल मे ही मर जाते हैं। इतना ही नही, भयङ्कर शस्त्रघात आदि से अकाल मे ही प्रत्यक्ष मृत्यु दिखाई देती है। यदि इस प्रकार अकाल-मृत्यु न दिखाई देती तो हमारे दिव्य दृष्टिवाले मुनियों को यह उपदेश ही न करना पडता कि "मनुष्य को प्रचण्ड मतवाले हाथी-घोड़ों आदि के समागम से-दुष्टों, शत्रुओं, बिगडे हुए वायु आदि, साहस और अहित भोजन से बचना चाहिए।" उन महर्षियों को यह भी उपदेश न करना पडता कि "आयु के सरक्षणार्थ मनुष्य को दैवव्यपाश्रय (देवताराधन-होम-बलि-तर्पण आदि) करना चाहिए।" न वे मुनि उक्त विधियों से यथेच्छ दीर्घायु भोगने मे ही समर्थ होते। इसी प्रकार आचार्य और भी अपने पक्ष का समर्थन करते हुए कहते हैं कि—

यदि आयु का प्रमाण नियत ही होता अर्थात् एक सौ एक मृत्युओं में कहा हुआ एक कालमृत्यु ही होता-शेष एक सौ अकालमृत्यु ही न होते तो फिर सर्प, सिह, हाथी आदि से विद्वानों को किसी प्रकार का भय ही नही रहता, आयु की रक्षा के लिए प्राकार-दुर्ग आदि की रचना ही व्यर्थ ठहरती, मारणरक्षण (मारणप्रयोग की शान्ति के लिए रक्षा का विधान) भी मिथ्या ठहरता। इतना ही नहीं, आयुष्य की कामनावाले के लिए परस्त्रीसङ्ग आदि का निषेध व्यर्थ होता, विषदोष से प्रसुप्त (बेहोशी में पडे हुए) मनुष्य की मन्त्र देवता द्वारा प्राप्त सचेतनावस्था मे उसमे स्थित वासुकी आदि महासर्प उसके आयु की भावाभावकथा को प्रत्यक्ष बोलकर नही बताते। यदि अकालमृत्यु न होती तो सन्यासरोहिणी आदि रोगो से उपेक्षा करने पर भी सहसा मनुष्य नही मरता। न चिकित्सा द्वारा जीवन की ही कोई अपेक्षा रहती। प्रतिदिन युद्ध मे परस्पर आघात करनेवाले सहस्रों सदाचारी मनुष्यों के आयु की स्थिति अतुल्य (भिन्न भिन्न) न रहती। इन्द्रादि देव आयुधों द्वारा शत्रुओं पर चढाई ही न करते और न अश्विनीकुमारों को ओषधियों द्वारा रोगियों की चिकित्सा ही करनी पडती। इन सब प्रमाणों से सिद्ध है कि कालमृत्यु की तरह अकालमृत्यु भी अवश्य है। और भी आचार्य कहते है कि—

मिट्टी के कच्चे और पक्के घडों का पालन तथा अपालनवशात् चिराशुकालवर्तित्व देखा जाता है अर्थात् कच्चे घडे भी पालना करने से चिरकाल तक नष्ट नही होते तथा पक्के हुए घडे भो पालना न करने से शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। भित्तिस्थ चित्रों के भावों की भी पालना-अपालनावशात् घडोंवाली दशा देखी जाती है। इस प्रकार अत्यन्त प्रसिद्ध तथा सर्वशास्त्रों से सिद्ध अकालमृत्यु को देखते हुए भी न जाने विद्वान् क्यों इसके विषय में विचिकित्सा (शङ्का या सन्देह) करते हैं?

काल और अकाल मृत्यु की सक्षिप्त व्याख्या—गुणवान् अर्थात् आयुर्वेदशास्त्रोक्त अपने गुणों से युक्त वैद्यादि (वैद्य, औषधि, रोगी और परिचारक) के रहते हुए भी जो मृत्यु होती है, उसी को कालमृत्यु कहते हैं और इसके विपरीत अर्थात् चिकित्सा के चार पाद वैद्य आदि के न मिलने पर होनेवाले मृत्यु को अकालमृत्यु कहते है।

अब इसी विषय को पुन आचार्य दृष्टान्त से समझाते है—

यथा रथो वाह्यमानो न्यायेन क्रमश क्षयम् ।
यायादात्मवतामायुस्तथान्येषा विपर्यय ॥
शुचितैलदशो दीप कीटवाताद्यपीडित ।
दीप्तिमान्वर्तते सम्यक् यथैवास्नेहसक्षयात् ॥
स एवातो यथा च स्याद्विपरीतो विपर्यये ।
हिताहितोपचारेण तथैव[1] पुरुषो ध्रुवम् ॥
सर्वमन्यत्परित्यज्य शरीर पालयेदत ।
तदभावे हि भावाना सर्वाभाव शरीरिणाम् ॥
नगरी नगरस्येव रथस्येव रथी सदा ।
स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत् ॥

शरीरसरक्षण को नितान्त आवश्यकता—न्यायेन अर्थात् समभाग आदि की योजना कर के चलता हुआ रथ जैसे क्रम क्रम से क्षय को प्राप्त होता है या नष्ट होता है, ठीक इसी प्रकार सम-आहार-विहारादि करने-वाले आत्मवान् (बलवान्) पुरुषों की आयु क्रम क्रम से क्षीण होती है। एकदम नष्ट नहीं होती। इन आत्मवान् पुरुषों की आयु से

१ "चिराल्पकालवर्तित्वम्" इत्यपि पाठ।
"बाहुल्यात्र" इत्यपि पाठ।
२ "भ्रातृव्यौ भ्रातृजद्विषौ" इत्यमर।

१ "तथा" इति पाठान्तरम्।

विषम आहार-विहारादि करनेवाले अनात्मवान् (निर्बल) पुरुषों के आयु की गति विपरीत होती है अर्थात् वह क्रमश क्षीण नहीं होती अपितु एकदम अकाल में ही नष्ट हो जाती है। अथवा अच्छे तेल और बत्तीवाला कीट-वायु आदि से सुरक्षित दीपक तेल का नाश जबतक नहीं होता तब तक बराबर दीप्तिमान् (जलता हुआ) प्रकाश देता है परन्तु इस की विपरीत दशा में वही दीपक न जलता हुआ रह सकता और न प्रकाश ही दे सकता है। ठीक यही बात हिताहित आहारादि के सेवन से पुरुष के विषय मे जानना चाहिए। इस लिए सभी बातों को एक तरफ छोड कर मनुष्य को चाहिए कि वह शरीर की रक्षा करे क्योंकि शरीर की रक्षा न होने से शरीर-धारियों के सभी भावों का सब प्रकार से अभाव हो जाता है। नगर का पति अपने नगर की तथा रथवाला अपने रथ की जैसे रक्षा करता है, ठीक इसी प्रकार मनुष्य को शरीर रक्षा के समस्त कृत्यों मे सावधान रहना चाहिए।

अब आचार्य हिताहार विहार तथा सदाचार का हितोपदेश करते है—

आहारकल्पनाहेतून् स्वभावादीन्विशेषत' ।
समीक्ष्य हितमश्नीयाद्देहो ह्याहारसम्भव ॥
भीलज्जायन्त्रणालोभहर्षशोकवशगत ।
न जातु धारयेद्वेगास्तद्धि सर्वापदा पदम् ॥
हितमभ्यसत पुसो नाकाले कालदष्ट्रया ।
सजायते परामर्शो बलोत्साहेन्द्रियायुषाम् ॥
अहितानि च सत्यज्य दोषमप्याप्नुयाद्यदि ।
तथाप्यानृण्यमायाति साधूनामात्मवानिति ॥
यच्च रोगसमुत्थान न शक्यमिह केनचित् ।
परिहर्तुं न तत्प्राप्य शोचितव्य मनीषिणा ॥
हिताहारविहाराणा सदाचारनिषेविणाम् ।
लोकद्वयव्यपेक्षाणा जीवित ह्यमृतायते ॥
गृध्नुर्ग्राम्यमुखे वश्य क्लेशाना हतसत्पथः ।
मूढो जीवत्यनर्थाय दुर्गति परिबृहयन् ॥
विदुषान्त'शरीरस्थान्नित्य सनिहितानरीन् ।
जित्वा वर्ज्यानि वर्ज्यानि चिर जीवितुमिच्छता ॥
तदात्वे चानुबन्धे वा तस्मात्कर्माशुभोदयम् ।
स्मरन्नात्रेयवचनो न धीमान्कर्तुमर्हति ॥

इति श्रीमद्वाग्भटकृतावष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थाने विरुद्धान्नविज्ञानीयो नाम नवमोऽध्याय ॥ ९ ॥

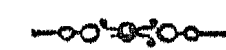


सर्वमामाय हितोपदेश—प्रकृति, सस्कार, मात्रा आदि आहारकल्पना के हेतुओं का भली भाति अवलोकन करके हितकारी पदार्थों का ही आहार करना चाहिए क्यों कि शरीर की उत्पत्ति तथा धारणा आहार पर ही अवलम्बित है। भावार्थ यह है कि अपनी प्रकृति के विरुद्ध आहार नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार सस्कारविरुद्ध जैसे कि गरम किया हुआ दही, मात्राविरुद्ध जैसे कि शहद और घृत का सममात्रा में सेवन करना अहितकारी है, अत इन सब बातों का विचार करके हिताहार ही का सेवन करना चाहिए, इसलिए कि शरीर की उत्पत्ति (भली और बुरी बनावट) आहार के ही आधीन है।

भय, लज्जा, कष्ट, लोभ, हर्ष और शोक के वशीभूत होकर मल मूत्रादि के प्राप्त हुए वेगों को कदापि नही रोकना चाहिए क्योंकि इनका रोकना ही समस्त आपदाओं का घर है। हितकारी आहार के अभ्यास करनेवाले मनुष्य के बल, उत्साह, इन्द्रिय तथा आयु का नाश यम की दाढों से अकाल मे नही हो सकता अर्थात् यम की दाढे मिथ्याहार बिहारी के बल, उत्साह, इन्द्रिय और आयु का नाश अकाल मे कर सकती हैं। अहितकारी पदार्थों के त्यागने पर यदि दैववशात् दोष की भी प्राप्ति हो जाय तो भी सज्जनों मे वह आत्मवान् पुरुष हिताहार आदिद्वारा आनृण्यमायाति (ऋण से मुक्त होता है) क्योंकि हिताहारादि कर के वह शुभ कर्म ही करता है। रोग का समुत्थान हो जाय और वह किसी भी उपाय से दूर नही हो सकता है तो ऐसे रोग को प्राप्त होकर बुद्धिमान् को उसकी चिन्ता नही करनी चाहिए।

हिताहार-विहार के करनेवाले, सदाचार के सेवक, इह लोक और परलोक के सुधरने की इच्छावाले पुरुषों का जीवन अमृत के समान होता है। इस के विपरीत ग्राम्यसुख (स्त्री सभोगादि इन्द्रियों के सुख) से तृप्त न होनेवाला (लोभी), रागलोभादि क्लेशों के वशीभूत, सन्मार्ग का परित्याग कर कुमार्ग में प्रवृत्त ऐसा मूर्ख दुर्गति को बढाता हुआ केवल अनर्थ के लिए ही जीता है। इस लिए दीर्घ जीवन की इच्छा वाले विद्वान् को चाहिए कि वह नित्यप्रति इस शरीर के सबन्धी भीतर रहनेवाले रागादि शत्रुओं को जीतकर दिनचर्या आदि वर्णित वर्जित आहार-विहार आदि का त्याग करे। भगवान् आत्रेय के वचन का स्मरण कर बुद्धिमान को चाहिए कि वह तत्काल या कालान्तर में अशुभ फल को देनेवाले अशुभ कर्म को न करे।

इति श्रीवाग्भटविरचितेऽष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिका हिन्दीव्याख्यायां विरुद्धान्नवर्णनीयो नाम नवमोऽध्याय ॥ ९ ॥



अथ दशमोऽध्यायः।

सुरक्षित अन्नपान भी बिना विधि के सेवन करनेपर कभी कभी मरण तथा रोग का कारण हो जाता है अत अन्नपान में विधि की विशेष आवश्यकता रहती है अत आचार्य अन्नपान विधिप्रदर्शनार्थ अध्याय का आरम्भ करते हुए कहते हैं कि—

अथातोऽन्नपानविधिमध्याय व्याख्यास्याम इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय ।

अन्नपानविधि—अब हम जिसमें अन्नपानविधि का प्रतिपादन किया गया है उस अन्नपानविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया है।

विधिविहितमन्नपानमिष्टेन्द्रियार्थमायतनमायुषो ब्रुवते । यत्तदायत्तानि ह्योजस्तेजोधात्वेन्द्रियबलतुष्टि-

पुष्टिप्रतिभारोग्यादीनि । तदिन्धना चान्तरग्ने स्थिति । अग्निमूल च देहधारणमिति ।

विधिविहित अन्नपान में प्राणियों का प्राणत्व—विधि से किया हुआ अन्नपान इन्द्रियार्थों के लिए इष्ट अर्थात् अभिमत, हितकारी एव प्रिय कहा गया है और यह (विधिविहित अन्नपान) आयु का आयतन (स्थान आश्रम या घर) कहा जाता है। इसलिए कि ओज, तेज, धातु, इन्द्रिय, बल, तुष्टि, पुष्टि, प्रतिभा तथा आरोग्यादि ये सब विधिविहित अन्नपानके आधीन है। इस अन्नपानरूप इन्धनसे ही अन्तराग्नि (जाठराग्नि) की स्थिति है तथा देह की धारणा मे अग्नि ही मूल कारण है।

विशेष वक्तव्य—यहा अन्नपानविधि से वह विधि अभीष्ट है जो चरक के इन्द्रियोपक्रमणीय अध्याय मे "नारत्नपाणि" इत्यादि पद्यों में तथा रसविमानाध्याय मे "तदेतदाहारविधानम्" आदि ग्रन्थ मे वर्णित है। इसी प्रकार "विधिविहितमन्नपानमिष्टेन्द्रियार्थम्" से उस अन्नपान से तात्पर्य है जो इष्टवर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शवाला होता है क्योंकि शास्त्रकारों ने प्रत्यक्ष फल का अनुभव करके इसी इष्टवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शवाले विधिविहित अन्नपान को ही प्राणियों (समस्त ससार के पशु पक्षी आदि जीवों) तथा प्राणिसञ्ज्ञकों (मनुष्यों) का प्राण माना है। प्राणी शब्द से उपलब्ध होनेपर भी यहा प्राणिसञ्ज्ञक शब्द का निर्देश स्थावरप्राणियों के निषेधार्थ है।

अथात्मवान् स्वभावसयोगसस्कारमात्रादेशकालोपयोगव्यवस्था सप्ताहारकल्पनाविशेषाणा स्वास्थ्यास्वास्थ्यफलाना हेतुभूता समीक्ष्य हितमेवानुरुद्ध्येत।

आहार की सप्तविध कल्पना—बुद्धिमान को चाहिए कि वह स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य की हेतुभूत स्वभाव, सयोग, सस्कार, मात्रा, देश, काल और उपयोगव्यवस्था, इन सात कल्पनाओं का पूर्ण विचार करके हितकारी आहार के लिए ही प्रयत्न करे अर्थात् अहितकारी आहार या अन्नपान का परित्याग करे।

यह देखा जाता है कि अनेक प्रकार के द्रव्यसयोगसस्कारादिविशेष से विलक्षण कार्य करनेवाले होते है। इसलिए अब आचार्य पूर्वोक्त स्वभाव सयोग सस्कारादि का विवेचन करते है।

तत्र स्वभावतो दिव्योदकरक्तशालिषष्टिकमुद्गैणलावादयो लघव । क्षीरेक्षुव्रीहिमाषानूपामिषादयो गुरव इति। ते खल्वपि सयोगादिविशेषैरन्यथात्व प्रतिपद्यन्ते। तत्र सयोगो नाम द्वयोर्बहूना वा सहतीभाव । स विशेषमारभते यन्नैकशो नैकदोषाणि द्रव्याणि। सस्कारस्तु तोयाग्निसन्निकर्षशौचमन्थनदेशकालभावनाभाजनादिभिरुपजन्यते । मात्रा पुन पिण्डपरिणामत समुदायेन प्रतिद्रव्यापेक्षया चाहारराशि । देशो द्रव्यस्योपयोक्तुश्चोत्पत्त्यवस्थाने। तत्र पुनरुपयोक्ता स्वस्थातुरत्वत प्रकृतिभेदतश्च परीक्ष्य ।

स्वभाववर्णन—स्वभाव द्रव्य के स्वरूप को कहते है, जैसे कि दिव्योदक (आकाश से बरसा हुआ जल), लाल चावल, साठी चावल, मूग, हरिण, लवा आदि स्वभाव से ही लघु हैं तथा दूध, ईख का रस, यव, उडद, अनूपदेश का मास आदि ये स्वभाव से गुरु हैं किन्तु ये लघु और गुरु स्वभाववाले होते हुए भी सयोगादिविशेष अर्थात् सयोग-सस्कार-मात्रा-देश-काल-उपयोग-व्यवस्था-विशेष से अन्यथा भाव को प्राप्त हो जाते है । तात्पर्य यह है कि प्रत्येक द्रव्य सयोग-सस्कार आदि से अपने स्वरूप या स्वभाववाला नही रहता अर्थात् लघु पदार्थ गुरु हो जाता है और गुरु पदार्थ लघु के स्वरूप में बदल जाता है।

सयोगवर्णन—सयोग दो दो या बहुत से द्रव्यो के साहित्य (एक साथ समिलन) का नाम है । जो कार्य एक द्रव्य विशेष से नहीं होता, वही अनेक द्रव्यों के समिलन से हो जाता है। उदाहरणार्थ अकेले मूँगों से सूप की सिद्धि नही होती किन्तु वही अग्नि-जल, नमक, मिरच-हल्दी आदि के मिलने से हो जाती है। अन्य द्रव्यों के मिलने से उस द्रव्य का वह स्वरूप भी नही रहता और वह दूसरे रूप मे बदल जाता है, जैसे कि पहले कह चुके है कि सयोग सस्कारादि से पदार्थ गुरु से लघु और लघु से गुरु के रूप में बदल जाता है।

सस्कारकथन—सस्कार उसे कहते है जो जल और अग्नि के सनिकर्ष, धोने, मथने आदि से तथा देश, काल, भावना, भाजन (मिट्टी-तावा-लोहा आदि के बरतन) आदि के सयोग से प्राप्त होता है अर्थात् इन सब के सस्कार से द्रव्य अपने मुख्य गुण से रहित होकर विलक्षण कार्य करनेवाला हो जाता है । उदाहरणार्थ अमृत रूप मधुर दही ताम्रपात्र के सस्कार से विष हो जाता है।

मात्रा का वर्णन—मात्रा के दो प्रकार है जैसे कि किसी एक द्रव्य के पिण्ड परिमाण स्वरूपवाली और दूसरी नाना प्रकार के द्रव्यों के समुदाय-स्वरूपवाली । उदाहरणार्थ किसी भी एक द्रव्य के गुरुत्व-लघुत्व का कुछ भी विचार न करते हुए उसी के पिण्ड से कुक्षि के दोनों भागों का पूरण कर देना। इसी प्रकार नाना प्रकार के द्रव्यसमुदाय से जैसे कि गुरु द्रव्यों का आहार करके आधी तृप्ति प्राप्त करना और कुछ तृप्ति लघु द्रव्यों के आहार से कर लेना। साराश, आहारराशि का नाम ही मात्रा है और उसके दो प्रकार है जैसे कि पूर्णतृप्ति और अपूर्णतृप्ति।

देश का वर्णन—देश उसे कहते है जो उपयोग मे लानेवाले या उपयोग करनेवाले पुरुषों एव द्रव्यों की उत्पत्ति और स्थिति का स्थान होता है । इस से यह सोचा जा सकता है कि किस गुणविशिष्टदेश में द्रव्य या उस को उपयोग मे

---

१ "नारत्नपाणिर्नास्नातो नोपहतवासा नाजपित्वा नाहुत्वा देवताभ्य इत्यादि।" चरक सू अ ८।

२ "इष्टगन्धरसस्पर्शं विधिविहितमन्नपान प्राणिना प्राणिसञ्ज्ञकाना प्राणमाचक्षते कुशला, प्रत्यक्षफलदर्शनात्।" इति चरक सू अ २७।

३ "प्राणिनामित्यनेनैव लब्धेऽपि प्राणिसञ्ज्ञकानाम्, इति वचन स्थावरप्राणिप्रतिषेधार्थं, वृक्षादयो हि वनस्पतिसत्वानुकारोपदेशाच्छास्त्रे प्राणिन उक्ता, न तु लोके प्राणिसञ्ज्ञका, किं तर्हि जङ्गमा एव।" इति चक्रदत्त ।

१ "स्वभावो द्रव्यस्वरूपम्" इतीन्दु । २, "सयोगोऽनेकस्य

लानेवाले पुरुष की उत्पत्ति हुई है या द्रव्य एव पुरुष किस प्रकृति के हैं तथा वे किस प्रकार के देश मे स्थित हैं । पुरुष द्रव्य तथा पुरुष की प्रकृति के अनुसार अमुक प्रकृतिवाले इस देश मे स्वस्थ रह सकता है या रोगी हो सकता है इत्यादि बातों का निर्णय देशविशेष से वैद्य कर सकता है।

काल का वर्णन करने के निमित्त अब आचार्य कहते हैं कि—

कालस्तु ऋतुव्याध्यपेक्षो जीर्णाजीर्णलक्षणश्च । अजीर्णे हि पूर्वस्याहारस्यापरिणतो रस उत्तरेण ससृज्यमान सर्वान्दोषान् प्रकोपयत्याशु । जीर्णे तु स्वस्थानस्थेषु दोषेषु वातानुलोम्यात्सृष्टेषु मूत्रपुरीषवेगेषु विशुद्धेषूद्गारहृदयस्रोतोमुखेषु विशदकरणे लघुनि शरीरेऽग्नावुदीर्णे जाताया बुभुक्षायामभ्यवहृतमन्नमप्रदूषयद्दोषानायुर्बलवर्णानभिवर्द्धयति । केवलमयमेव कालो भोजनस्य। अतीतकाल पुनस्तद्वातविष्टब्ध कृच्छ्राद्विपच्यते कर्शयत्यन्नरुचि च पुनरुपहन्ति।

काल का वर्णन—अन्नपानादि के उपयोग मे काल दो प्रकार से माना गया है, जैसे कि एक ऋतुव्याध्यपेक्ष और दूसरा जीर्णाजीर्णलक्षण । अन्न-पानार्थ काल के ये दोनों प्रकार (ऋतु और व्याधि की अपेक्षावाले) स्वस्थ एव रोगी के लिए माने गए हैं । उदाहरणार्थ किस किस ऋतु में स्वस्थ पुरुष को किस प्रकार का आहार हितकारी है और किस प्रकार का अहितकारी । यह स्वस्थ के लिए कहा गया है और व्याध्यपेक्ष काल रोगी के लिए है जैसे कि किस किस व्याधि के काल मे किस प्रकार का अन्नपान हितकारी होता है और किस प्रकार का अहितकारी । यहा ध्यान रहे कि ऋतुकाल यद्यपि स्वस्थ के लिए कहा गया है परन्तु ऋतुकाल भी स्वस्थ की तरह आतुर के लिए भी हिताहित आहार का निदर्शक हो सकता है, जैसे कि शरद् ऋतु में उत्पन्न होनेवाली कफज व्याधि मे उस के विपरीत होते हुए भी अत्यन्त तीक्ष्ण तथा उष्ण पदार्थों का सेवन नहीं कराया जा सकता, इसलिए कि शरद ऋतु पित्त का प्रकोप-काल है और ये अत्यन्त तीक्ष्ण तथा उष्ण पदार्थ भी पित्त के बढाने मे सहायक हो सकते हैं।

काल का दूसरा प्रकार है जीर्णाजीर्णलक्षणवाला काल। जिस समय मे किया हुआ आहार जीर्ण हो जाता है अर्थात् पच जाता है उसको जीर्णलक्षणवाला काल कहते है और जिस में किए हुए आहार का परिपाक नही होता अर्थात् किया हुआ आहार जीर्ण नहीं होता उसे अजीर्णलक्षणवाला काल कहते है। ऋतुव्याध्यपेक्षकाल की तरह इन दोनों जीर्णाजीर्ण (कालों) का निर्देश भी क्रमश स्वस्थ और आतुर को अधिकृत करके ही किया गया प्रतीत होता है। इसलिए कि स्वस्थ की जाठराग्नि प्रदीप्त होने के कारण वह आहार को जीर्ण करने वाली होती है और आतुर (रोगी) की मन्दाग्नि आहार को जीर्ण करने मे समर्थ नही होती अर्थात् अजीर्णलक्षणवाली होती है। इतना ही नही, सूक्ष्म विचार करने से जीर्णाजीर्ण लक्षणवाले दोनों काल स्वस्थ और आतुर इन दोनों के लिए घट सकते है। अजीर्णे अर्थात् अजीर्ण लक्षणवाले काल मे पहले किए हुए आहार का अपरिणत (अपक्व या कच्चा) रस आज के किए हुए आहार के रस मे मिल कर बहुत जल्दी सब दोषों को प्रकुपित कर देता है। जीर्णे अर्थात् जीर्णलक्षणवाले काल मे वातादि दोषों के अपने अपने स्थान मे स्थित रहने से, वायु के अनुलोमन होने के कारण मल (पुरीष) मूत्र वेग के ठीक रहने से, डकार-हृदय के स्रोतों के मुख विशुद्ध रहने से, निर्मल इन्द्रियोंवाले लघु शरीर मे जठराग्नि के प्रदीप्त होने के कारण क्षुधा लगने पर किया हुआ आहार वात आदि दोषों को प्रदूषित न करता हुआ आयु, बल और वर्ण को बढानेवाला होता है अत केवल यही एक काल भोजन करने या अन्नपान करने का है। इस जीर्णकाल के अतिक्रान्त होने या बीत जाने पर किया हुआ भोजन अतीतकाल-भोजन कहलाता है और यह वात विष्टब्धी, अन्न को देर से पचानेवाला, अन्न की रुचि को कम करनेवाला या नष्ट करनेवाला है। भावार्थ यह है कि इन दोषों को करनेवाला होने से अतीतकाल आहार करने के लिए हितकारी नही है।

अष्टाङ्गसग्रहटीकाकार इन्दु तो अजीर्णलक्षणकाल में अजीर्ण के दो प्रकार मानता है। जैसे कि एक अन्नाजीर्ण और दूसरा रसाजीर्ण या रसशेषाजीर्ण। "अजीर्णे हि पूर्वस्याहारस्यापरिणतो रस उत्तरेणोपससृज्यमान सर्वान्दोषान् प्रकोपयत्याशु" इस वाक्य की टीका करता हुआ वह लिखता है कि— "अजीर्ण के दो प्रकार है, एक अन्न के अजीर्णत्व से और दूसरा आहारसार (आहाररस) के जीर्ण न होने से। अन्न के अजीर्ण मे भोजन की इच्छातक नहीं होती और आहारसार के अजीर्ण मे पूर्वाहार के और आज के किए हुए आहाररसोंका समिश्रण होकर वह वायु आदि के उपलेप आदिद्वारा मार्गरोधादि करके शीघ्र ही प्रकोप को करता है।"

उपयोगव्यवस्था तु नास्नातो न दिग्वासा नैकवस्त्रधृक् न मलिनवसनो नाहुत्वा नाजपित्वा नानिरूप्य देवताभ्यो न पितृभ्यो नादत्त्वाग्रमग्नये न गुरुभ्यो नातिथये नाभ्यागतेभ्यो न श्वभ्य श्वपचेभ्य प्रत्यवेक्ष्य चाश्रितानपि तिरश्च परिगृहीतान् प्रशस्तदेशकालोपकरणयुक्त स्रग्वी विभूषित सुगन्धिरार्द्रपाणिपाद सुविशुद्धवदनोऽभिमतसहाय केशमक्षिकाद्यजुष्टमनिन्द्यमनिन्दन्न न निन्दित पुनर्नोष्णीकृत नात्युष्णमनुपदग्ध सुसिद्धमलोलो नासात्म्य नाविदित नाविदितागम नातिसाय नातिप्रगे नाकाशे नातपे नान्धकारे नाधो वृक्षस्य

साहित्यम्" इतीन्दु । १ 'जीर्णेऽपि, इति पा०। २ "अथवातुरस्यापि ऋत्वपेक्षा वर्तत एव । तथा हि शरदि श्लेष्मजेऽपि व्याधौ तद्विपरीतान्यपि अत्यर्थतीक्ष्णोष्णानि दातु न पार्यन्ते।" इतीन्दु ।

१ "अजीर्णस्य तु द्वैविध्यमन्नत्वेनाहारसारत्वेन च । अन्ने त्वजीर्णे भोजनेच्छापि न भवति। आहारसारे त्वजीर्णे उत्तरेणाद्यतनेन रसेन मिश्रीभूते वातादीनामुपलेपेन मार्गरोधादिना प्रकोप शीघ्रमेव।" इति

२ "नादत्वाग्रमन्नमग्नये" इति पा०। ३ "चाश्रितोपाश्रितानपि" इति पा०। ४ "तिरश्चोऽपि स्वपरिगृहीतान्' इति पाठ ।

न शय्यास्थो नोन्नम्य प्रदेशिनी न पात्रे भिन्ने नासवृत्ते न मलिने भावदूषिते वा न चासनस्थितेन हस्तेन प्राङ्मुख सुमना शुचिभक्ताक्षुधितानुकूलजनोपहित हितमन्नमश्नीयात्। न पर्युषितमन्यत्र मासोपदशभक्ष्येभ्य। नाशेषमन्यत्र दधिमधुघृतसलिलसक्तुशुक्तपायसेभ्यः[1]। अपि च। स्निग्ध लघूष्णमविलम्बितमनतिद्रुतमजल्पन्नहसंस्तन्मना॰ समीक्ष्य सम्यगात्मानम्।

अन्नपानकी उपयोगव्यवस्था—आहार का उपयोग किस प्रकार से किया जाय, किस प्रकार से न किया जाय अत आचार्य इस विषय मे कहते है कि—विना स्नान किए हुए, कुछ भी वस्त्र न धारण करते हुए-नङ्गे बदनसे, केवल एक वस्त्र पहने हुए या मलिन वस्त्र पहने हुए, तिलघृतादि से विना हवन किए, बिना जप (ईश्वरस्मरण) के, देवताओं और पितरों को बिना अर्पण किए, परोसे हुए प्रत्येक अन्न मे से थोडा २ विना अग्निको अर्पण किए, गुरु—बान्धवादि—समागत अतिथि—अभ्यागत-श्वान-पक्षी-चाण्डाल आदि को बिना दिए, अपने आश्रय मे रहनेवालों-अपने आश्रितों के भी आश्रय में रहने वालों, गाय, अश्व आदि तथा स्वजनों को विना अर्पण किए मनुष्य को भोजन नही करना चाहिए।

भोजन की विधि—भोजन करनेवाले को चाहिए कि वह प्रशस्त-देशकालोपकरणयुक्त अर्थात् श्रेष्ठ स्थान, श्रेष्ठ समय और श्रेष्ठ भोजन की सामग्री से युक्त होकर, पुष्पमाला-रत्नादि से विभूषित, सुगन्धियुक्त होकर, हस्तपादप्रक्षालन कर, जल से भली भाति मुख की शुद्धि करके अपने मन के अनुकूल चलनेवाले सहायकों को लेकर ऐसे आहार या अन्नपान का सेवन करे जिसमे केश, मक्खिया आदि न पडे हों, जो भाव दुष्ट न हो अर्थात् जिस के देखने से मास आदि की भावना प्राप्त न हो। अनिन्द्य (श्रेष्ठ) आहारसामग्री के प्राप्त होने पर भी उस की निन्दा करता हुवा भोजन न करे (कई मनुष्यों को देखते है कि वे चाहे जैसा श्रेष्ठ आहार सामने क्यों न आवे वे उसमे दोष निकालते हुए उस की निन्दा करते है, और भोजन करते है। अन्न ही प्राण है अत शुद्ध एव सिद्ध आहार मे कदापि दोष नही निकालना चाहिए। सन्तप्त न होते हुए बडी शान्ति के साथ भोजन करना चाहिए।) ऐसे आहार को करना चाहिए कि जो ठण्डा होनेपर पुनरपि गरम न किया गया हो, जो अति उष्ण न हो, जो अग्निद्वारा दग्ध न हुआ हो, जो भली भाति पकाया हुआ हो अर्थात् कच्चा न हो, जो असात्म्य (अपनी प्रकृति के लिए हानिकारक) न हो, जिस के गुण और अवगुण अपने जाने पहिचाने हुए हों, जो शास्त्रों से अनुमोदित हो (जिसका शास्त्रोंने निषेध नही किया हो)। नातिसाय-नातिप्रगे अर्थात् सायकाल के तथा प्रात काल के आरम्भ मे भोजन नही करना चाहिए। इसी प्रकार बिना छत के स्थानमें, धूप मे, अन्धेरे में, वृक्ष के नीचे, शय्या (खटिया या गद्दी) पर बैठकर भोजन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार तर्जनी अगुली को सुकडाकर भोजन न करे, न फूटे हुए बर्तन मे, न ढके हुए पात्र मे, न मैले (मलिन) पात्र मे ही भोजन करना चाहिए। न भावदूषित, न आसन पर हाथ रखकर, न हाथ मे पात्र लेकर, न हाथ मे लेकर ही भोजन करे।

पूर्वाभिमुख (पूर्व दिशा की ओर मुख करके), प्रसन्न मन से पवित्र-अपने भक्त अक्षुधित (जो भूखे न हों) ऐसे अपने अनुकूल रहनेवालोंका परोसा हुआ हितकारी अन्न (भोजन) सेवन करना चाहिए। मास तथा दातों से तोडकर खाए जाने वाले भक्ष्यों के अतिरिक्त अर्थात् कच्चे फलादिकों को छोड कर जो कि सिद्ध अन्नों के साथ खाए जाते है उन उपदशों[1] के सिवाय-फलादि को छोड़कर पर्युषित (बासी अन्न) को नहीं खाना चाहिए। दही, शहद, घृत, जल, सत्तू, शुक्त और दुग्ध निर्मित पदार्थों के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का अशेष भोजन नही करना चाहिए अर्थात् इनमे से कुछ भोज्य भाग शेष रखना चाहिए परन्तु दही, शहद, घृतादि पदार्थ पूरे सेवन कर लेने चाहिए-इन मे से शेष नहीं छोडना चाहिए। अविलम्बित (अनर्गल-बीच मे न ठहरते हुए), अनतिद्रुत (बहुत जल्दी जल्दी से नही अपितु शान्ति के साथ धीरे धीरे), न बोलते, न हँसते हुए, भली भाति तन्मना (आहार म मनको तल्लीन करते हुए), समीक्ष्य सम्यगात्मानम् अर्थात् यह अच्छी तरह से देखता हुआ कि यह अन्नपान मेरे लिए हितकारी होगा या अहितकारी इत्यादि विचार करता हुआ भोजन करे कि जो अन्नपान स्निग्ध, उष्ण और लघु हो।

अब आचार्य अपने कहे हुए इन स्निग्ध, उष्ण, लघु, अविलम्बित, अनतिद्रुत आदि के गुणावगुणों का क्रम से कथन करते हुए कहते है कि—

स्निग्धलघूष्णानि हि वह्निमौदर्यमुदीरयन्ति कोष्ठ परिशोधयन्ति धातून्न विकुर्वते[2] क्षिप्र जीर्यन्त्यनिलमनुलोमयन्ति। तथा स्निग्ध दृढीकरोतीन्द्रियाण्युपचिनोति शरीरमपचिनोति जरस बलमभिवर्धयति वर्णप्रसादमभिनिर्वर्तयति। लघु च पुन स्वभावादिभिरन्नमप्रतिपीडयद्दोषानव्यथमान परिणाममेति। विपन्नमपि चाल्पदोष भवति। उष्ण पुनर्जनयति रुचिमुपशोषयति श्लेष्माणम्।

विलम्बित तु भुञ्जानो न तृप्तिमधिगच्छति बहु च भुङ्क्ते शीतीभवति चान्नजात विषमपाक च भवति। अतिद्रुत तु भुञ्जानस्य जल्पतो हसतोऽन्यमनसो वा भवेदुत्स्नेहनमवसादन भोजनस्याप्रतिष्ठान गुणदोषाविभावन च।

समीक्ष्य सम्यगात्मनमिति ममेद सात्म्यमिदम-

१ "शुक्तपायसेभ्योऽपि च" इति पाठ।

२ नातिसाय नातिप्रग इति चैत्याचार्यस्य दिनारम्भे दिनक्षये च भोजनप्रतिषेधोऽभीष्ट।" इतीन्दु

१ "शुच्यादिगुणयुक्तेन परिजनेनोपहित ढौकितम्। उपदश यदग्निसिद्धमपि फलादि दन्तेनोपदश्यान्नेन सह भुज्यते।" इतीन्दु

२ "स्निग्धादीनि त्रीणि धातून् रसादीन् निर्मलीकरणेन उपबृहकत्वेन च न विकुर्वते" इतीन्दु।

सात्म्यमिति नित्यमप्रमत्त प्रत्यवेक्षेत। तत्र सात्म्य नाम सहात्मना भवत्यभ्यस्त तदौचित्यादुपशेत इत्येके[1]। सात्म्यविपरीतमनुपशयादसात्म्यम्। अन्ये पुनः प्रकृति-वयोदेशर्तुदोषव्याधिवशेन सात्म्य बहुविधमिच्छन्ति। ते ह्युपशयमात्रमङ्गीकृत्य विपरीतगुणमप्युपचारेण सात्म्यमाचक्षते। तुल्यगुण चानुपशयादसात्म्यम्। सात्म्य तु प्रवरावरमध्यविभागेन त्रिविधम्। तत्र सर्वरस प्रवरमेकरसमवर मध्य तु मध्यममेव। तेषु प्रवर समदोषस्योपदिशन्तीति। तेषामपि क्रमेण सात्म्य-मपि चाहित पादेन पादाशेन वा विवर्जयेदित्युक्त प्राक्। तत्र यदाहारजात समान् धातूननुवर्तयति विषमाश्च समीकरोति तत्समासतो हितम्। विपरीतमहितम्। तत्पुनर्मात्रायोगादिवैचित्र्यादनियतमपि यथोपदेश यथा भूयिष्ठ च शीलयेत्परिहरेच्च। तथा विशेषत समशन-मध्यशनममात्राशन विषमाशन च वर्जयेत्।

स्निग्ध, लघु और उष्ण आहार के गुण--**स्निग्ध, लघु और उष्ण ये तीनों जाठराग्नि को प्रदीप्त करते है, कोष्ठ (उदर) का परिशोधन करते है, रसरक्तादि धातुओं को निर्मल बनाकर उनका उपबृहण करते है-उन्हें विकृत या दूषित नही करते। आहार को जल्दी पचाते हुए वायुका अनुलोमन करते है। स्निग्ध, लघु और उष्ण इन तीनों मे सूक्ष्म विचार करने से प्रत्यक्ष तीनों दोषों की साम्यावस्था का छुपा हुआ निर्देश दिखाई देता है। यथा स्निग्ध से कफ, लघु से वायु और उष्ण से स्पष्ट पित्त का पता चलता है। आयुर्वेद का सिद्धान्त ही है कि वात, पित्त और कफ इन तीनों की साम्यावस्था शरीर का उपबृहण करनेवाली है। समन्वयरूप से इन तीनों के फल का वर्णन कर के अब आचार्य स्निग्ध,लघु और उष्ण के अलग अलग गुणों का वर्णन करते है। जैसे कि—**

स्निग्ध आहार के गुण—**स्निग्ध आहार इन्द्रियों को दृढ (मजबूत) करता है, शरीर को पुष्ट करता है, वृद्धावस्था को दूर करता, बल को बढ़ाता और शरीरवर्ण की निर्मलता को बनाए रखता है।**

लघु आहार के गुण—**लघु आहार अपने लघु स्वभावादि (स्वभाव-सयोग-सस्कारादि) के कारण दोषों को प्रकुपित न करते हुए अन्न को ऐसे परिणाम पर पहुँचाता है कि जिसमें किसी प्रकार की पीडा नहीं होती। यदि कदाचित् पीडा भी हुई तो वह विशेष नहीं होती।**

उष्ण आहार के गुण—**उष्ण आहार रुचि को उत्पन्न करता तथा कफका शोषण करता है।**

विलम्बित आहार के दोष—**विलम्बित अर्थात् ठहर ठहर कर आहार करनेवाला तृप्ति को प्राप्त नहीं होता हुआ अधिक अन्न खा जाता है और ठहर ठहर कर भोजन करनेवाले का आहार सब ठण्डा हो जाता है अत उसका समपाक न होकर विषमपाक होता है। साराश यह कि उसकी समाग्नि भी विषमाग्नि के रूपको धारण कर लेती है।**

अतिद्रुत आहार के अवगुण—**बहुत जल्दी जल्दी आहार करनेवाला भोजन करते समय अन्य लोगों के साथ बातचीत करता और हँसता है। इससे उसका मन भोजन मे न रहकर अन्यान्य विषयों मे चला जाता है। इतना ही नही, उसके भोजन की स्नेहता नष्ट होकर समुचित आहार के गुणों का अवसादन होता अर्थात् वे गुण मन्द हो जाते है अत उससे उसको अग्निमान्द्य की प्राप्ति होती है, भोजन के हिताहितकारी द्रव्यों का विचार नही कर सकता अत भोजन की अप्रतिष्ठा होती है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह विलम्बित और अतिद्रुत भोजन न किया करे।**

हिताहित आहारादिनिरूपण—**"समीक्ष्य सम्यगात्मानम्" अर्थात् अपने विषय मे अच्छी तरह हिताहित का विचार कर के भोजन करे। भावार्थ यह है कि मेरे लिए यह आहार सात्म्य (पथ्यकारी या हितकारी) है या असात्म्य (अपथ्यकारी या अहितकारी) है इसका विचार नित्यप्रति आहार करते समय आलस्य को छोडकर अवश्य किया करे।**

सात्म्यासात्म्याहारनिरूपण—**सात्म्य उसे कहते है जो जन्म से लेकर अपनी आत्मा के साथ अभ्यास करने से सात्म्य (अपने लिए सुखकारी) हो गया है। इतना ही नही[1], कभी कभी स्वल्पकाल के अभ्यास से भी सात्म्य हो जाता है। वही सात्म्य किया हुआ आहार समुचित रीति से उपयोग मे लाने से सुखकारी या उपशय होता है। यह कुछ लोगों का मत है। सात्म्य से विपरीत अनुपशय (दुखकारक) आहार को असात्म्य कहते है परन्तु कुछ लोग प्रकृति, वय, देश, ऋतु, दोष और व्याधि के कारण अनेक प्रकार का सात्म्य मानते है। इतना ही नही, वे जन्म से लेकर अभ्यास करने से बने हुए सात्म्य की अपेक्षा न करते हुए प्रकृति-देश-वय-ऋतु आदि के अनुसार शरीरसवर्धक द्रव्य-गुणों से विपरीत गुणवाले पदार्थ को भी सम्प्रति सुखका हेतु होने से सात्म्य कहते है। इसी प्रकार तुल्यगुणविशिष्ट पदार्थ को भी अनुपशय (असुखकारी) होने से असात्म्य मानते है।**

सब प्रकार का सात्म्य श्रेष्ठ, हीन और मध्यमभेद से तीन तरह का होता है। इनमें श्रेष्ठ सात्म्य वह है जो सर्वरससात्म्य कहलाता है। इसमे प्रकृति और वातादि दोषों का साम्य रहता है। हीन सात्म्य वह है जो एक रससात्म्य होता है। इस मे प्रकृति और दोषों की समानता न रहकर असमता रहती है। मध्यम सात्म्य वह है जिस मे प्रकृति और दोषों का कुछ साम्य रहता है तो कुछ असाम्य रहता है। ध्यान रहे कि विषम दोष और प्रकृतिवाला हीन तथा मध्यम सात्म्य भी अभ्यास करने से श्रेष्ठ एव सर्वरससात्म्य बन सकता है। इस लिए अहितकारी सात्म्य का पाद तथा पादाश (चौथाई या षोडशाश) क्रम से जैसे कि पहले कहा गया है, धीरे धीरे परित्याग कर के सर्वरससात्म्य को प्राप्त कर लेना चाहिए। अहितकारी सात्म्य वह है जिसे शास्त्रकारों ने ओकससात्म्य कहा है। उदाहरणार्थ जैसे मनुष्य अभ्यासद्वारा गाजा, भाग, अफीम, तम्बाकू आदि अहितकारी-असात्म्य पदार्थों को भी अपने लिए सात्म्य बना लेता है परन्तु वे तात्कालिक सुख के

१ "भव यतस्तदौचित्यात" इति पाठान्तरम्।

१ "स्वल्पकालाभ्यस्तमपि सात्म्यमेव" इन्दु।

आभास मात्र को देनेवाले है न कि सर्वरससात्म्य के देनेवाले। इसीलिए शास्त्रकारों का उपदेश है कि ऐसे अहितकारी सात्म्य को पाद या पादाश विधि से धीरे धीरे छोड देना चाहिए।

सात्म्यासात्म्य की सक्षेप मे व्याख्या—जो आहार समधातुओं को ठीक रखता है न्यूनाधिक नही होने देता और विषम धातुओं को साम्यावस्था मे लाता है वही समासत (सक्षेपत) सात्म्य है और जो इसके विपरीत है उसे असात्म्य समझना चाहिए।

जिसका स्वरूप अनियमित है ऐसे मात्रा-सयोग-सस्कारादि के कारण विचित्र हिताहित आहार का शास्त्रों के उपदेशानुसार जहा तक बन सके सेवन और परित्याग करना चाहिए। विशेषत समशन, अध्यशन, अमात्राशन और विषमाशन का परित्याग करना चाहिए। अब क्रमश आचार्य इन समशनादि का वर्णन करते हैं।

तत्र पथ्यापथ्यमेकत्रभुक्त समशनम्। भुक्तस्योपरिभुक्तमध्यशनम्। अमात्राशन पुन पृथगेवोपदेक्ष्यते। अप्राप्तातीतकाल तु भुक्त विषमाशनमिति।

समशन, अध्यशनादि के लक्षण—पथ्य और अपथ्य पदार्थो को एक साथ मिला कर खाने का नाम समशन है। भोजन कर लेने पर भी थोडे समय के बाद पुन भोजन करना अध्यशन कहलाता है। अमात्राशन का स्पष्टीकरण आगे चलकर अलग किया जायगा। भोजन करने के उचित समय पर भोजन के न करने से या भोजन समय के बीत जाने पर जो भोजन किया जाता है उसे विषमाशन कहते है।

भुञ्जानस्तु पेयायूपरसान् व्यञ्जनानि राजतेषु पात्रेषु निदध्यात्। परिशुष्कप्रदिग्धानत्युष्ण च पय सौवर्णेषु। खलकट्वरकाम्बलिकान् कास्येषु। रागखाण्डवसट्टकान् वज्रवैडूर्यविचित्रेषु। घृतमायसे। पय सुशीत ताम्रमये। पानीयपानकानि च मृद्हेमस्फटिकमयेषु। ओदन च विस्तीर्णे मनोरमे स्थाने। अन्यथा हि वर्णगन्धरसान्यत्वादहित स्यात्। अपि च—

अन्नपानोपयोगी पात्रो का वर्णन—भोजन करनेवाले को चाहिए कि वह पेया, यूष, रस और व्यञ्जनों को राजत (रूपेके) पात्रों में रक्खे। परिशुष्क अर्थात् बहुघृत मे पकाया हुआ पुन गरम जल से सिद्ध कर जीरकादि युक्त मास और प्रदिग्ध अर्थात् पूर्ववत् सिद्ध मास गाढी छाछ तथा त्रिजातक (तज-पत्रज-इलायची) से युक्त, जो अधिक उष्ण न हो ऐसा दूध, इन को सोने के पात्रों मे रक्खे। खल (लेह के सदृश अन्न सिद्धि का एक प्रकार), कट्वर (दूध माखन Butter milk, दही की मलाई, दही का सर या नोड, तक्र या तक्रादिसाधित व्यञ्जन विशेष) तथा काम्बलिक (दहीमस्तु आदि से सिद्ध किया हुआ अम्लयूष) इन्हें कासे के पात्रों मे रक्खे। रागखाण्डव, शर्करा, काला और सेधा नमक से युक्त कोकम-इमली-फालसा-जामुन-रस से राई डालकर बनाया हुआ राग तथा खाडव (मधुर-अम्ल-लवण रसोंद्वारा बना हुआ अनेक प्रकार का व्यञ्जन) और सट्टक सौठ मिरच पीपल जीरक दाडिम शर्करायुक्त मथा हुआ दही) इन्हें वज्र, वैडूर्य आदि के चित्र विचित्र पात्रों मे रक्खे। घृत को लोहे के पात्र मे रक्खे। अच्छे ठण्डे पीने योग्य जल को ताम्रपात्र मे और इसी प्रकार पीने के योग्य पानकों को मिट्टी, सुवर्ण और स्फटिकमय पात्रों मे रक्खे। ओदन अर्थात् मॉडरहित भात को अच्छे विस्तीर्ण स्थान (थाली आदि पात्र) मे रक्खे। यदि इस प्रकार न किया जायगा तो इन सब अन्नपानादि द्रव्यों के वर्ण, गन्ध और रस में अन्यत्व आने (बिगाड आ जाने) से अहित होने का सभव होगा। भावार्थ यह कि उन के सेवन करने से वे हानिकारक होंगे।

दक्षिणपार्श्वे भक्ष्य स्थापयेत्। सव्ये पेय मुखोद्घर्षणपिण्डीं च। मध्ये भोज्यमिति यथाग्निसात्म्य तु प्राक् द्रवमुपशुष्क वाश्नीयात्। प्रागेव तु गुरु स्वादु स्निग्ध च। मध्येऽम्ललवणम्। अन्ते रूक्ष द्रवमितररसयुक्त च। तत्र मन्दाग्नेर्द्रवोष्णेन समुत्तेजितोष्मणोऽन्यदुपयुक्त सम्यक्पाकमेति।

भक्ष्यभोज्यादि के स्थापना प्रकारादि—भक्ष्य (लड्डू आदि) को दाहिनी ओर, पेय (पीने के योग्य) पदार्थ और मुखोद्घर्षण पिण्डी को बाई ओर तथा भोज्य (भात आदि) बीच मे अपने सामने रक्खे। अपनी जठराग्नि की सात्म्यता या बलानुसार पहले द्रव और उपशुष्क पदार्थों का सेवन करे और पहले ही गुरु, मधुर और स्निग्ध पदार्थो का सेवन कर लेवे। भोजन के मध्य मे अम्ल और लवण रसवाले पदार्थों का सेवन करे और अन्त मे रूक्ष, द्रव और इतर रसयुक्त पदार्थों का सेवन करे। इस प्रकार आहार के करने से मन्दाग्निवाले की जठराग्नि द्रव और उष्ण से उत्तेजित होकर और पदार्थ के सेवन करने पर भी वह उसे पचा देती है।

आहारविधिवर्णन के अनन्तर अब आचार्य अनुपानों को कहते है।

अनुपान तु सलिलमेव श्रेष्ठ सर्वरसयोनित्वात्सर्वभूतसात्म्यत्वाज्जीवनादिगुणयोगाच्च। तच्छीत दधिमधुगोधूममद्यविशेषेपु सर्वेपु च विदाहिपु शरद्ग्रीष्म-

१ "मास बहुघृते पक्व सिद्ध चोष्णाम्बुना मुहु। जीरकाद्यै समायुक्त परिशुष्क तदुच्यते॥ तदेव घनतक्राढ्य प्रदिग्ध सत्रिजातकम्।" इति राजनिघण्टु।

२ "खड यूषविशेष, सतक्रशमीधान्य, सतक्रशाकश्च।" कट्वर तक्रम्। अन्ये तु "सौवीराम्लमथात्यम्ल काञ्जिक कट्वर विदु। अन्ये तु तदधोभाग तक्र वा ह्यम्लता गतम्। मस्नेह दधिज तक्रमाहुरन्ये तु कट्वरम्।" इति उल्हन सु० सू० अ० ४६-४५०

१ "दधिमस्त्वम्लसिद्धस्तु यूष काम्बलिक स्मृत।" इति उल्हन सु० सू० अ० ४६-४५२

२ "सितारुचकसिन्धूत्थै सवृक्षाम्लपरूषकै। जम्बूफलरसैर्युक्तो रागो राजिकया कृत॥" "षाडवा पुनर्मधुराम्ललवणसयोगजा नानाविधा, विशेषत सूदेभ्यो ज्ञेया।" "सट्टकस्तु—" लवङ्गव्योष खण्डैस्तु दधि निर्मथ्य गालितम्। दाडिमबीजसयुक्त चन्द्रचूर्णाव चूर्णितम्॥ सट्टकम् इत्यादि उल्हन। ३ "द्रवद्रव्यमिति"। च पाठ

योश्च । उष्ण पिष्टमयेष्वन्येषु च दुर्जरेषु हेमन्ते च । द्रवद्रव्यविज्ञान चेक्षेत । क्षीर शालिषष्टिकयोस्तथोपवासाध्वभाष्यस्त्रीव्यायामक्लान्तबालवृद्धेषु । मासरस शोषादिषु । वाते त्वम्लानि च । पित्ते शर्करोदकम् । त्रिफलोदक तु सक्षौद्र श्लेष्मणि प्रायशश्चाक्षिगलरोगेषु । मस्त्वेव वा दध्नि कूचीकाकिलाटयोश्च । धान्याम्ल मस्तु तक्र वा शाकावरान्नेषु । मद्य मासेषु फलाम्लमम्बु वासवाश्च विविधान्विभज्य प्रयोजयेत् । विशेषतस्तु मध्वासवान् ग्राम्येषु । तीक्ष्णान् फलासवानन्येषु । न्यग्रोधादिफलासवान्विष्किरेषु । अर्कसेलुशिरीषकपित्थासवान्बिलेशयेषु दिग्धहतेषु च । अम्लफलासवान् प्रसहेषु । कासेक्षुपद्मबीजशृङ्गाटककसेरुकमृद्वीकामदिरासवान् क्षौद्रयुक्त वा शीतमुदकमुदश्विद्वा महामृगेष्वौदकेषु च । सुरा प्रतुदेषु तथा श्रमार्तेषु कृशेषु च । मधूदक स्थूलेषु । मद्य मद्यमाससात्म्यात्पाग्निषु च । अपि च । समासेनान्नविपरीतमविरोधि च ।

अनुपानकथन—अनुपान अर्थात् भोजन करने के अनन्तर पीने में जल ही श्रेष्ठ है इसलिए कि जल मधुरादि सब रसों को उत्पन्न करनेवाला, सब प्राणियों के लिए सात्म्य एव जीवनादि गुणों करके युक्त है । इस मे यह विशेष है कि दही, शहद , गेहू, मद्य विशेष एव सब प्रकार के विदाही पदार्थों के सेवन करने के बाद तथा शरद् और ग्रीष्म ऋतु में शीतल जल का पीना श्रेष्ठ है। पिष्टमय एव जल्दी न पचनेवाले अन्य अन्नों के सेवन करने के पश्चात् तथा हेमन्त ऋतु में उष्ण जल का पीना श्रेष्ठ है। इस विषय मे विशेषत द्रवद्रव्यविज्ञानीय[1] अध्याय का अवलोकन करना चाहिए। शालिधान्य एव साठी चावल सेवन के पश्चात् तथा उपवास-मार्ग का चलना-व्याख्यान-स्त्रीसग-व्यायाम की थकावट-बालक और वृद्ध इन सब के लिए दूध का पीना हितकारी है । शोष (क्षय) आदि मे मासरस, बढ़े हुए वात में अम्लादि एव मासरस, बढ़े हुए पित्त मे शक्कर का जल (शर्बत) पीना हितकारी है। इसी प्रकार बढ़े हुए कफ तथा नेत्र और गलरोग मे शहद मिश्रित त्रिफला का औटाया हुआ जल श्रेष्ठ है। कूचिका तथा किलाट सेवन के अनन्तर मस्तु (दुगुने जल के साथ बनाया हुआ दही का तक्र[2]) का पीना श्रेष्ठ है । कूची उस फटे हुए घनीभूत दूध का नाम है जो गरम दूध मे दही या तक्र डालने से बनता है और किलाट अम्ल पदार्थ के योग से नष्ट (फटे हुए) गरम दूध के घन भाग को कहते है। इसी को अगरेजी में Inspissatted milk कहते है । इसी प्रकार से कच्चे दूध को फाड़ने का नाम क्षीरशाक[3] है। दही का अनुपान पहले शीतल जल कह चुके हैं परन्तु यहा फिर मस्तु अनुपान कहा सो दही कूची और किलाट के समुच्चयार्थ है । दही के लिए दोनों अनुपानों के समुच्चय प्रतिषेधार्थ ही मस्तु एव कहा है। साराश, शीतल जल और मस्तु ये दोनों अनुपान दही के लिए है परन्तु कूचिका और किलाट के लिए केवल मस्तु ही अनुपान है । शाक और अवरान्न (विदलित अन्न दाल आदि) के लिए धान्य की काजी, मस्तु और तक्र का अनुपान ठीक है । सब प्रकार के मासों के अनन्तर मद्य, फलाम्ल (अगूर आदि के सिर्के), जल अथवा भली भाति विभाजन करके नाना प्रकार के अनुपान की योजना करना चाहिए। जगली पशुओं के मास-सेवन के बाद फलोंद्वारा निर्मित तीक्ष्ण आसवों का अनुपान उत्तम है । विष्किर (बिखेरकर खानेवाले कुक्कट आदि) के मास के लिए न्यग्रोधादि अर्थात् बड आदि के फलों के आसवों का अनुपान प्रयुक्त करना चाहिए । बिलेशय (बिल मे रहनेवाले शशक आदि) तथा दिग्धहत (बाण आदि से मारे हुए) पशु-पक्षियों के मास के लिए आक, लिहसोडा, सिरस और कैथ के आसवों का अनुपान उचित है । प्रसह जाति के पशु-पक्षियों के मास के अनन्तर खट्टे फलों के आसवों का अनुपान देना चाहिए। महामृग अर्थात् सिंह, हाथी आदि, औदक (जल मे रहनेवाले), पशु-पक्षियों के माससेवन के पश्चात् कास, ईख, कमलगट्टे, सिघाडे, कसेरू एव दाख के बने मद्य तथा आसवों का, शहदयुक्त ठण्डा जल और मट्ठे (उदश्वित्) का अनुपान देना चाहिए । निर्जल, चौथाई या आधा जल देकर मथे हुए दही का नाम उदश्वित्[2] है । इसी प्रकार प्रतुद = गीध, काक, आदि पक्षियों के माससेवन के बाद तथैव परिश्रम से थके हुए दुर्बलों के लिए सुरा नाम की मदिरा का अनुपान, स्थूल शरीरवालों के लिए शहद मिलाया हुआ जल का अनुपान श्रेष्ठ है । जिनके लिए मद्य-मास सात्म्य हो रहे हों और जिनकी जठराग्नि मन्द हो तो उनके लिए मद्यका अनुपान हितकारी है। सक्षेप मे अनुपान वही ठीक होता है जो आहार का विरोधी एव अविरोधी अर्थात् रसरक्तादि धातुओं के विरुद्ध न हो । यहा आहार से विपरीत का तात्पर्य आहार गुणों से विपरीत का है जैसे कि स्निग्ध का रूक्ष और रूक्ष का स्निग्ध, शीत का उष्ण और उष्ण का शीत, मधुर का अम्ल और अम्ल का मधुर । इसमे यहा प्रश्न हो सकता है कि अम्ल का मधुर और मधुर का अम्ल अनुपान ग्रहण करने से दही (अम्ल) का दूध (मधुर) और दूध (मधुर) का अनुपान दही (अम्ल) अर्थात् काजी आदि लेना उचित होगा क्या ? इसी के समाधानार्थ कहा गया है कि जो अनुपान रसरक्तादि धातुओं के विरुद्ध न हो वही लेना उचित[3] है।

अब आचार्य अनुपान के कर्म एव गुणों का वर्णन करते है। यथा—

---

१ "अष्टाङ्गसग्रह सूत्रस्थानीयाध्याय"। २ "उक्त दधि द्विगुणवारियुत तु मस्तु।" राजनिघण्टु

३ "नष्टदुग्धस्य पक्वस्य पिण्ड प्रोक्त किलाटक । अपक्वमेव यन्नष्ट क्षीरशाक हि तत्पय ॥ पक्व दध्ना सम क्षीर विज्ञेया दधिकूचिका। तक्रेण तक्रकूची स्यात्तयो पिण्ड किलाटक ॥" इति।

१ "उभयानुपानसमुच्चयप्रतिषेधार्थमेवकारकरणम्। तेन शीतोदक वा मस्तु वा दध्न अनुपानमित्यर्थ । कूचिकाकीलाटयोश्च मस्त्वेव" इतीन्दु ॥

२ "तक्र ह्युदश्विन्मथित पादाम्ब्वर्धाम्बुनिर्जलम्" इत्यमर ॥

३ "यदाहारगुणै पान विपरीत तदिष्यते। अन्नानुपान धातूना दृष्ट यन्न विरोधि च ॥" इति चरक स्पष्टीकरणमस्यावलोकनीय श्रीयोगीन्द्रनाथकृते चरकोपस्कारे।

अनुपानं खलु तर्पयति प्रीणयत्यूर्जयति बृंहयति देहस्य पर्याप्तिमभिनिर्वर्तयति भुक्तमवसादयत्यन्नसंघातं भिनत्ति मार्दवमापादयति क्लेदयति सुखपरिणामिता-माशुव्यवायिता चाहारस्योपजनयति[1]।

अनुपान के गुण—अनुपान मनुष्यको तृप्त करता है, शरीर और इन्द्रियों का पोषण कर उन्हें पुष्ट करता है, बलको बढाता है, पुष्ट करता है। भोजन किए हुए अन्न की व्याप्तिको सुख दायिनी बनाता है। भुक्त अन्नको पचाता, अन्नसंघात अर्थात् बंधे हुए अन्न को भेदन करता (ढीला करता) है और उसमें मृदुता लाता है। इतना ही नहीं, अन्न को क्लेदन करता अर्थात् गीला करता है, किए हुए आहारके परिणामको सुख कारक बनाता और आहार को सारे शरीर मे जल्दी व्याप्त करता है।

विशेष वक्तव्य—महर्षि भेलका कहना है कि अनुपान अन्न को सुख से पचाता, रुचि उत्पन्न करता, अपकर्षण करता और मनुष्यों को सात्म्यता प्रदान करता है। सुश्रुताचार्य अनुपान के अनेक गुणों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि स्थिरता को प्राप्त हुआ कठोर अन्न अनुपान के बिना अनेक रोगों को देने-वाला होता है अतः अनुपानका सेवन अवश्य करना चाहिए।

अनुपान जिनके लिए नही देना चाहिए अब उनका वर्णन करते है।

वर्ज्यं तूर्ध्वजत्रुगदश्वासकासप्रसेकहिध्मास्वरभेदोर-क्षतिभिर्गीतभाष्यप्रसक्तैश्च। तेषां हि प्रदूष्यामाशयमुर-कण्ठस्थितमाहारजं स्नेहमासाद्य तदभिष्यन्दाग्निसाद-च्छर्द्यादीनामयान् विदध्यात्। पीत्वा च भाष्यगेया-ध्वस्वप्नान्न शीलयेत्। पानं तु प्रक्लिन्नदेहमेहकण्ठाक्षिरो-गव्रणिनः इति[2]।

अनुपाननिषेध—ऊर्ध्वजत्रुगदवाले (मुख-दांत-कण्ठ-नाक-कान तथा सिर के रोगी), श्वास, खांसी, प्रसेक (लारका मुख से टपकना), हिचकी, स्वरभेद, उर क्षत तथा गायन-भाषण करनेवाले प्राणियों को चाहिए कि वे भोजन करने के बाद अनुपान सेवन न करे अर्थात् जलपानादि न करे। यदि ये लोग जलपानादि अनुपान का सेवन करेंगे तो वह अनुपान आमाशय को दूषित करके छाती और कण्ठ में स्थित आहारो त्पन्न स्नेह को प्राप्त कर उनके लिए अभिष्यन्द, अग्निमान्द्य, वमन एवं इसी प्रकार के अन्य रोगों को करता है। उपर्युक्त ऊर्ध्वजत्रुगत रोगवालों को चाहिए कि वे जलपान (अनुपान) करके भाष्य (व्याख्यान), गाना, मार्ग का चलना तथा सोना इन कर्मों को न करे क्योंकि इस प्रकार करने से इनका सेवन किया हुआ अनुपान देह को क्लिन्न (गीला) बनाकर प्रमेह, कण्ठरोग, नेत्ररोग, एवं व्रणरोगको उत्पन्न करनेवाला होता है।

भोजन करने के बाद क्या करना चाहिए अब उसका वर्णन करते हैं।

ततः पाणिगतमन्नमन्येनापनीय दन्तान्तरस्थं च शनैः शोधनेन विशोध्य विधाय लेपगन्धस्नेहापनोद-माचान्तोऽङ्गुल्यग्रगलिताम्बुपरिषिक्तनेत्रस्ताम्बूलादिकृ-तवदनवैशद्यो धूमपानाद्धृतोर्ध्वकफवेगः पदशतमात्रं गत्वा वामपार्श्वेन संविशेत्। द्रवोत्तरभोजनस्तु शय्यां नातिसेवेत्। यानप्लवनवाहनाग्न्यातपांश्च भुक्तवा-न्वर्जयेत्।

भोजनोत्तर कर्त्तव्य कर्म—भोजन करने के अनन्तर हाथ में लगे हुए अन्न को दूसरे सूखे हाथ से दूर कर, दांतों मे लगे हुए अन्न को वक्ष्यमाण शस्त्रविधि मे वर्णित दन्तशोधनयन्त्र से धीरे धीरे साफ कर, लेप-गन्ध-चिकनाई को दूरकर जिसने आचमन कर लिया है, अंगुलियों के अग्रभाग से टपकते हुए जल से जिसने नेत्रों को परिषिक्त किया है, ताम्बूलादि (नाग रबेल के पान, चूना, कत्था, सुपारी, लवङ्ग, इलायची आदि) से जिसने मुख को विशद (साफ) किया है, धूमपान द्वारा जिसने ऊर्ध्व कफ के वेग को दूर कर दिया है उसे चाहिए कि वह शतपद मात्र (केवल सौ पावडे) चलकर फिर बाएं पसवाडे से लेट जावे। द्रव पदार्थों के बाद भोजन करनेवाले को चाहिए कि वह विशेष न सोवे। भोजन के पश्चात् तुरन्त ही वाहन पर कूदकर सवारी करना, वाहन, अग्नि तथा धूप इनका सेवन नही करना चाहिए।

अब आचार्य आहार के परिणामकारक भावों का वर्णन करते हैं।

आहारपरिणामकरा पुनरूष्मा[1] वायुः क्लेदः[2] स्नेहः कालः समयोगश्च। यत्रोष्मा पाचयति[3] वायुरपकर्षति क्लेदः शैथिल्यमापादयति स्नेहो मार्दवं जनयति कालः सर्ववपुर्व्याप्तिमभिनिर्वर्तयति समयोगस्त्वेषां परिणाम-साम्यकरः संपद्यते। समयोगस्य पुनः कारणान्युचितो हितश्च देवसंस्कारोऽभ्यवहारश्चेष्टा शयनं सौमनस्यं च। परिणामतस्त्वाहारगुणाः शरीरजगुणभावमापद्यन्ते यथास्वमविरुद्धाः। विरुद्धजास्तु विहिताश्च विरोधिभि-र्विहन्यु शरीरमिति। भवन्ति चात्र।

आहार के परिणामकारक भाव—ऊष्मा (पित्त), वायु क्लेद (कफ), स्नेह, काल और समयोग ये आहार के परिणाम कारक भाव है। इनमें से ऊष्मा (जठराग्नि) आहार को पचाता है। वायु अपकर्षण करता है अर्थात् अन्न के भली भांति परिपाक के लिए उसे एक स्थान से दूसरे, दूसरे से तीसरे स्थान मे खींचकर ले जाता है। क्लेद अन्न के संघात को ढीला करता है। स्नेह अन्न में मार्दवता (मृदुता) लाता है अर्थात् उसकी कठिनता को नष्ट करता है। काल सारे शरीर में आहार की व्याप्ति करता है और इन सबका समयोग अन्न के परिणाम रूप बननेवाले धातुओं में साम्यता लाता है। उचित,

१ चाहारमुपनयति इति पा० २ स्थिरता गतमक्लिन्नमन्नमद्रव पायिनाम्। भवत्याबाधजननमनुपानमतः पिबेत्॥ इति

१ पुनरिमे भावाः। तद्यथा ऊष्मा वायुरितीन्दुः। २ स्नेह क्लेद पा०। ३ पचति पा०। ४ अन्नपरिणाम पा०। ५ तु पुन पा०। ६ परिणमतस्त्वाहारस्य गुणा पा०। ७ शरीरगुण पा०। ८ विहताश्च पा०। ९ वायुः स्थानात्स्थानमन्नस्य पाकायापकर्षति इतीन्दुः।

हितकारी, देहसस्कार, आहार, चेष्टा, शयन और सौमनस्य (मनकी विशुद्धता) ये सब समयोग के कारण है। समयोग के कारण किया हुआ आहार परिणाममें क्रमसे अविरुद्ध रहते हुए अपने गुरुत्व, द्रवत्वादि गुण शरीरस्थ गुरुत्व-द्रवत्वादि गुणों के साथ एकत्वभाव को प्राप्त होते है। असम्यक् योग से किया हुआ आहार परिणाम मे विरोधी गुणों से मिलकर शरीर का नाश करता है। साराश,' 'वृद्धि समानै सर्वेषा विपरीतैविपर्यय " इस उक्तिका फल समयोग एव विषम योग के कारण होता है। इसी लिए कहा है कि—

कुकूलभृष्टपृथुकान् सुपिष्टकृततन्दुलान्[१] ।
न जातु भुक्तवानद्यान्मात्रयाद्यात्सुकाङ्क्षित ॥
शाकावरान्नकट्वम्लकषायलवणोत्कटम्[२] ।
त्यजेदेकरसासात्म्य गुरु शुष्क च भोजनम् ॥
वक्ष्यते यन्निदानादौ सर्वरोगप्रकोपनम् ।
अत्यभिष्यन्दि विष्टम्भि विदाहि हिमरूक्षणम्[२] ॥
किलाटदधिकूचीकामत्स्यशुष्कामममूलकम्[३] ।
क्षारपिष्टविरूढाद्य तत्समस्त न शीलयेत् ॥
शीलयेच्छालिगोधूमयवषष्ठिकजाङ्गलम् ।
सुनिषण्णकजीवन्तीबालमूलकवास्तुकम् ॥
पथ्यामलकमृद्वीकापटोली मुद्गशर्करा ।
घृतदिव्योदकक्षीरक्षौद्रदाडिमसैन्धवम् ॥
त्रिफला मधुसर्पिर्भ्या निशि नेत्रबलाय च ।
स्वास्थ्यानुवृत्तिकृद्यच्च रोगोच्छेदकर च यत् ॥
स्वभावमात्रायोगादिपरस्परविपर्ययै ।
भोजनानि विरुध्यन्ते तानि विद्वान्विवर्जयेत् ॥
त्यागाद्विषमहेतूना समाना चोपसेवनात् ।
विषमा नानुबध्नन्ति जायन्ते धातव समा ॥

सात्म्यासात्म्यविवेक—तुषों की अग्नि से भूने हुए पृथुक (कृतान्न-वर्गोक्त पोहे), इन्दु-समत पाठ के अनुसार काण्डस्थ कच्चे अन्न[४] एव जौ, अत्यन्त पिसे हुए चावल इन्हें भोजन करने वाला कदापि न खावे। यदि अति आकाक्षा ही हो तो मात्रा से खावे अर्थात् बहुत कम खावे। शाकाधिक अवरान्न अर्थात् कटु, अम्ल, कषाय, लवण ये जिसमे अधिक हों, जो भोजन केवल एक रस वाला हो और जो असात्म्य हो, जो गुरु तथा शुष्क हो, निदानादि मे कहे हुए सब रोगों के करने वाले, दोषों को कुपित करने वाले, अति अभिष्यन्दी विष्टम्भी-विदाही-हिम, गुरु एव रूक्ष हों इनका सेवन नही करना चाहिए। इसी प्रकार किलाट-दही-कूचिका-मत्स्य-सूखी और कच्ची मूली-क्षार-पिष्ट और विरूढान्न (जिसको भिगोने पर अकुर फूटते है) इन सबका सेवन नही करना चाहिए। इस लिए कि ये सब सेवन करने के योग्य नही है।

आहार के योग्य पदार्थ—शालि (चावल) गेहू, जौ, साठी चावल, जागल पशु-पक्षियोंका मास, सुनिषण्णक (चौपतिया) जीवन्ती, वाल मूलक (छोटी मूली), बथुवा, हरड़, आवला, मुनक्का, दाख, परवल, मूग, मिश्री, घृत (घी), दिव्योदक (आकाश से बरसा हुआ जल), दूध, शहद, अनार, सैन्धव नमक इन सबका सेवन करना चाहिए। नेत्रों को बलवान् बनाने के लिए रात्रि मे शहद और घृत के साथ त्रिफला का सेवन करे। सक्षेपत भोजन वही करना चाहिए जो स्वस्थ के स्वास्थ्य को सदैव बराबर अच्छा रक्खे और जो रोगों का नाश करने वाला हो।

त्याज्य भोजन—विद्वान् को ऐसे भोजनों का परित्याग करना चाहिए जो प्रकृति, मात्रा और सयोग आदि से परस्पर विरुद्ध होने के कारण विपरीत भोजन कहलाते है। इस भोजनोपदेशके करने का मुख्य हेतु यह है कि दोष (वात-पित्त-कफ), धातु (रस रक्तादि) इनके बिगाडने वाले जितने कारण है उनके त्याग करने से तथा दोष धातु की साम्यावस्था वनी रखने के जितने कारण है, उनके सेवन से विपरीत राग आदि नही होने पाते और धातु-साम्य भी बना रहता है। साराश यही है कि मनुष्य को विषम हेतुओं का परित्याग तथा सम हेतुओं का सदा सेवन करना चाहिए।

उपसहार में अब आचार्य राजा, धनवान्, सुखीजन एव सर्वसाधारण के लिए और भी अन्नपान आदि भोजन का उपदेश करते है।

अन्नेन कुक्षेर्द्वावशौ पानेनैक प्रपूरयेत् ।
आश्रय पवनादीना चतुर्थमवशेषयेत् ॥
मन्दानलबलारोग्यनृपेश्वरसुखात्मसु ।
योज्य क्रमोऽय सतत नावश्यमितरेषु च ॥

भोजन की विशेष विधि—भोजन करने वाले को चाहिए कि वह कुक्षि (कुख या पेट) के दो भाग अन्न से और एक भाग पान अर्थात् जल आदि पेय पदार्थो से पूर्ण करे और पेट का चौथा भाग वात-पित्त-कफ के सचरण के लिए खाली रक्खे इस लिए कि वह वात-पित्त-कफ का आश्रय है। इस भाग के खाली न रखने से वातादि दोषों को सचरण के लिए स्थान नही मिलेगा अत वे वातादि दोष भुक्त अन्नादिका अवपीडन कर विषूचिका आदि रोगों को करेंगे। कुक्षि के इन चार भागों की कल्पना ठीक ठीक नही की जा सकती इस लिए आचार्यो का कथन है कि भोजन के द्वारा पूर्ण तृप्ति, अर्ध तृप्ति तथा तृतीयाश तृप्ति आदि से यह कल्पना कर लेनी चाहिए। उपर्युक्त भोजन की यह नित्य योजना मन्दाग्नि-निर्बल-रोगी-राजा-धनवान् एव सुखी जनों के लिए है। किन्तु अन्य सर्वसाधारण व्यक्तियों के लिए आवश्यक नही है। साराश यह कि वे अपने अग्निबल, भूख आदि के अनुसार यथेच्छ आहार कर सकते है।

अब आचार्य वात-पित्त-कफ आदि के अति सेवन के फलको कहते है।

करोति रूक्ष बलवर्णनाश त्वग्रूक्षता वातशकृन्निरोधम् ।
स्निग्ध त्वतिश्लेष्मचयप्रसेकहृद्गौरवालस्यरुचिप्रणाशम् ॥
अत्युष्णमन्न मददाहतृष्णाबलप्रणाशभ्रमरक्तपित्तम् ।
शीत तु सादारुचिवह्निनाश हृल्लासविष्टम्भनरोमहर्षान् ॥

१ औकुलाभ्योषपृथुकानितीन्दु । २ गुरुरूक्षणमिति पा०। ३ शाकादिमूलकमित्यपि पा०। ४ औकुल काण्डस्थान्यपकानि भृष्टानि शस्यानि। अभ्योषस्तद्विधा एव यवा इतीन्दु ।

अतिस्थिर मूत्रशकृद्विबन्धमतृप्तिमव्याप्तिमशीघ्रपक्तिम् ।
अतिद्रव पीनसमेहकासस्यन्दान्करोत्यग्निबल च हन्ति ॥
अतिमधुरमनलशमन भुक्तमसात्म्य न पुष्टये वपुष ।
अतिलवणमचक्षुष्य तीक्ष्णात्यम्ल जरा साक्षात् ॥

इति विधिमवलम्ब्य योऽन्नपानबलमिव विग्रहवत्सदोपयुक्ते तनुमपि तनुजा रुज त्वनाप्य व्रजति नर स समाशतस्य पारम् ॥

इत्यष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽन्नपानविधिर्नामदशमोऽध्याय ॥ १० ॥

अति सर्वत्र वर्ज्य—"अति सर्वत्र वर्जयेत्" इस नीति के अनुसार अतिरूक्ष, अतिस्निग्ध, अत्युष्ण, अतिशीत, अति स्थिर, अतिद्रव, अतिमधुर, अतिलवण एव अति-अम्ल का सेवन कदापि नहीं करना चाहिए क्योंकि इनके अति सेवन से अति हानि एव रोगों की सभावना होती है। यथा—

अतिरूक्ष के अवगुण—अति रूक्ष के सेवनसे बलऔर वर्णका नाश होता है, त्वचा (चमडी) में रूक्षता आती है और अपान वायु एव मल (विष्ठा) का अवरोध होता है।

अतिस्निग्धसेवन के अवगुण—अति स्निग्ध अन्नका आहार करने से कफ का सचय होता है, मुख से लारों का टपकना, छातीमे भारीपन, आलस्य एव रुचिका नाश ये लक्षण होते है।

अत्युष्ण अन्नसेवन से हानि—अति गरम पदार्थ का सेवन करने से मद, दाह, तृष्णा, बलका नाश, चक्कर आना, तथा रक्तपित्त ये विकार होते है।

अति शीत आहार से हानि—अति शीत अन्न के सेवन करने से अग्निमान्द्य, अरुचि, शरीर मे जडता, उबकाई, पेटका फूलना तथा रोमहर्ष (बालोंका खडा होना) ये विकार होते हैं।

अति स्थिर अन्नसेवन के बिगाड—अति स्थिर अर्थात् कठिन अन्न के खाने से मल-मूत्र का रुकना, तृप्ति का न होना, अव्याप्ति अर्थात् किए हुए आहार का शरीर में यथास्थान न पहुँचना तथा आहार का जल्दी न पचना ये रोग होते है।

अतिद्रवसेवन से होनेवाले रोग—अति द्रव अर्थात् पतले पदार्थ के सेवन करने से पीनस, प्रमेह, खासी, नेत्राभिष्यन्द तथा अग्नि के बल का नाश करता है अर्थात् जठराग्नि मन्द हो जाती है।

अति मधुर सेवन से हानि—अति मधुर पदार्थों के भक्षण करने से जठराग्नि का मन्द हो जाना, भोजन किया हुआ सात्म्य न होना अर्थात् सुखकारक न होकर दु खदायी होना और न उससे शरीर की ही पुष्टि होना ये विकार हो जाते है।

अति लवण सेवन के विकार—अति लवण (नमकीन) खाने से नेत्रों में विकार उत्पन्न करता है।

अति अम्ल सेवन से बिगाड—अति तीक्ष्ण एव अम्ल पदार्थों का सेवन साक्षात् जरा अर्थात् बुढापे को लानेवाला है।

इस प्रकार इस विधि से अपने शरीर एव बलाबल के अनुसार नित्यप्रति आहार का उपयोग करता है, वह शरीर से उत्पन्न होनेवाली किसी छोटीसी (क्षुद्र) व्याधि से भी पीडित न होता हुआ सौ वर्ष की आयु को पार कर जाता है अर्थात् वह दीर्घायु होता है।

इति श्रीमद्वाग्भटकृताष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दी व्याख्याया दशमोऽध्याय ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः ।

सुरक्षित एव अच्छी तरह भोजन किया हुआ अन्न भी कभी अमात्रा (अप्रमाण) के कारण महारोगों तथा मृत्यु का कारण होता है। इस लिए अब आचार्य मात्राशितीय अध्याय का वर्णन करते है।

अथातो मात्राशितीयमध्याय व्याख्यास्याम । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय ।

मात्राशितीय अध्याय—जिसमे उचित मात्रा मे भोजन करने का हितकारी उपदेश हो, अब हम उस मात्राशितीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षि कर गये हैं। यहा मात्रा शब्द से सम्यक् योग जाना जाता है जो कि असम्यग्योग के त्याग से प्राप्त होता है। सम्यग्योग के विपरीत असम्यग्योगवाला भोजन सात प्रकार का कहा है जैसे कि सकीर्णाशन, विरुद्धाशन, अमात्राशन, अजीर्णाशन, समशन, अध्यशन और विपरीताशन। इन सब का वर्णन यथा स्थान किया जायगा अत यहा व्यर्थ विस्तार करना ठीक नही।

अब आचार्य मात्रा का लक्षण कहते है—

मात्राशी स्यात्। मात्रा पुनरग्निबलाहारद्रव्यापेक्षिणी। कुक्षेरप्रतिपीडनमाहारेण हृदयस्यासरोध पार्श्वयोरविपाटनमनतिगौरवमुदरस्य प्रीणनमिन्द्रियाणा क्षुत्पिपासोपरति स्वस्थानासनशयनगमनोच्छ्वासप्रश्वासहास्यसकथासु सुखानुवृत्ति साय प्रातश्च सुखेन परिणमन बलवर्णोपचयकरत्व चेति मात्राया लक्षणम्।

मात्रा के लक्षण—मनुष्य को चाहिए कि वह मात्राशी अर्थात् उचित प्रमाण (मात्रा) मे भोजन करनेवाला हो। प्रत्येक मनुष्य के भोजन की मात्रा उसके जठराग्नि, बलाबल, आहार एव द्रव्य के अनुसार रहनी चाहिए। मात्रा के लक्षण-विषय मे आचार्य कहते हैं कि जिससे पेट मे पीडा न हो, जिस आहार से हृदय मे रुकावट (सरोध) न हो, जिससे पसवाडों मे पीडा तथा तनाव न हो, पेट अति भारी न हो, जिससे भली भाति इन्द्रियों की तृप्ति हो, क्षुधा एव तृषा की मन मे इच्छा न रहे, अपने स्थान-आसन-शयन-गमन-श्वासोच्छ्वास-हास्य और बोलने मे सुख की प्रतीति हो, सायकाल और प्रात काल का किया हुआ आहार अच्छी तरह पच कर वह

१ अशन अशितम्। मात्रया अशित मात्राशितम्। तस्मै हितो मात्राशितीय इति। २ मात्राशब्देन सम्यग्योगो लक्ष्यते स चासम्यग्योगस्य त्यागात्सभवति। स पुन सप्तधा,—"सकीर्णाशन, विरुद्धाशन, अमात्राशन, अजीर्णाशन, समशन, अध्यशन विषमाशन चेति हेमाद्रि।

बल और वर्ण का बढानेवाला हो, यही सम्यक् मात्रा का लक्षण है। साराश यह कि सायकाल का किया हुआ आहार पच कर प्रात भोजन की पुन इच्छा हो, इसी प्रकार प्रात काल का किया हुआ भोजन भली भाति पचकर सायकाल में पुन भोजन की इच्छा हो और जिससे बल और वर्ण की वृद्धि हो यही उचित मात्रा का लक्षण है।

मात्रा का लक्षण कहने के अनन्तर अब मात्रा के प्रमाण विषय मे कहते है—

त्रिभागसौहित्यमर्धसौहित्य वा गुरूणा समुपदिश्यते। लघूनामपि नातिसौहित्यम्। अनिलानलगुणबहुलानि हि लघूनि तुल्यगुणत्वादग्निसधुक्षणान्यविधिना चाल्पदोषाणि। इतराणि तु पृथिवीसलिलगुणबहुलान्यसामान्याद्विपरीतान्यन्यत्र व्यायामाग्निबलात्।

अमात्रापुनरशनस्य हीनताधिक्य च। तत्र हीनमात्रमशन बलवर्णोपचयमनोबुद्धीन्द्रियोपघातकर विबन्धकृदवृष्यमनायुष्यमनौजस्य सारविध्मापनमलक्ष्मीजननमशीतेश्च वातविकाराणामायतनम्।

आहारकी मात्राका प्रमाण—गुरुपदार्थों के भोजन को मात्रा प्रमाण त्रिभागसौहित्य या अर्धसौहित्य कहा गया है अर्थात चार भाग (पेट भर) खाने की अपेक्षा तीन भाग खाकर अथवा आधा खाकर ही तृप्ति मान लेना चाहिए। भावार्थ यह है कि गुरु पदार्थों के भोजन मे एक सेर की जगह तीन पाव या आधसेर ही आहार करना चाहिए। लघु पदार्थ भी अति तृप्ति के रूप मे नहीं खाने चाहिए।

लघु और गुरु द्रव्यों के गुण दोष—लघु द्रव्यों मे वायु और अग्नितत्व के गुणों की अधिकता रहती है अत वे तुल्य गुण तत्व के कारण अग्नि प्रदीप्त करनेवाले होते हैं और न वे समुचित मात्रा मे सेवन न करने पर भी विशेष दोषकारक होते है परन्तु गुरु द्रव्यों की बात ऐसी नहीं है क्योंकि गुरु पदार्थ पृथ्वी और जलतत्त्वगुणभूमिष्ठ होने से अग्नि-वायुगुणभूयिष्ठ लघु पदार्थों की तरह अग्निप्रदीपक नहीं होते अपितु मन्दाग्नि को करनेवाले होते है। अग्नि, वायु और लघु पदार्थों की गुण समता की तरह गुरु पदार्थ जो कि भूमिजलतत्त्वभूयिष्ठ होने से अग्नि और वायु से गुणसाम्यता नहीं रखते। इसी लिए गुरु द्रव्य अग्नि को बुझाने अर्थात् मन्द करनेवाले हैं। व्यायाम करनेवालों के लिए अग्निमान्द्यवाली बात लागू नहीं होती इस लिए कि व्यायाम करनेवालों की जठराग्नि व्यायाम से प्रदीप्त रहती है और अन्न को पचा देती है।

आहार की न्यूनाधिकता भी अमात्रा ही है—आहार की अधिकता तथा हीनता (न्यूनता) का नाम भी अमात्रा ही है। इस लिए कि हीन या अधिक मात्रा मे किया हुआ भोजन भी हानिकारक होता है। इसी के स्पष्टीकरणार्थ आचार्य कहते है कि हीनमात्रा में किया हुआ आहार बल-वर्ण-पुष्टि-मन-बुद्धि और इन्द्रियों का नाश करता है। इतना ही नहीं, हीन मात्रा का भोजन मलावरोध करनेवाला, अवृष्य (दुर्बलता-कृशता) को लानेवाला, आयु और ओज का नाश करता है, बल को कम करनेवाला, दारिद्रय को पैदा करनेवाला तथैव अस्सी प्रकार के वायु रोगों का आयतन (घर) है।

अब आचार्य अधिक मात्रा के दोषों का कथन करते है—

अतिमात्र पुन सर्वदोषप्रकोपनमाहु। तेन हि प्रपीड्यमाना वातादयो युगपत्प्रकुपिता कुक्ष्येकदेशस्थास्तदेवापरिपक्वमाविश्य विष्टम्भयन्तोऽलसकमभिनिर्वर्त्तयन्ति। सहसा वाधरोत्तराभ्या मार्गाभ्या प्रच्यावयन्तो विषूचिकाम्[1]। अपि च।

अति मात्रा के दोष—अतिमात्र अर्थात् अधिक प्रमाण मे किए हुए आहार को वायु आदि समस्त दोषों को प्रकुपित करनेवाला कहा गया है। उस अधिक मात्रा मे सेवन किए हुए अन्न से पेट के ठसाठस भर जाने एव उसमे जगह न रहने से वात, पित्त और कफ ये तीनों दोष पीडायमान होते हुए एकदम प्रकुपित होते है और वे पेट के किसी एक देश में स्थित होकर उस अपक्व अन्न (आमाशय) में प्रवेश करके विष्टम्भ (अफारा) को करते हुए अलसक नाम के रोग ( ) को उत्पन्न करते है। अथवा वे वायु आदि समस्त दोष अधरोत्तर मार्ग (गुदा और मुख) से बाहर निकलते हुए एकदम विसूचिका रोग (Cholera) को उत्पन्न करते है। और भी आचार्य अब अलसक तथा विसूचिका की निरुक्ति को कहते है।

प्रयाति नोर्ध्व नाधस्तादाहारो न च पच्यते।
आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसक स्मृत ॥
विविधैर्वेदनोद्भेदैर्वाय्वादिभृशकोपत।
सूचीभिरिव गात्राणि विध्यतीति विसूचिका ॥

अलसक और विसूचिका की निरुक्ति—जो किया हुआ आहार न तो ऊपर की ओर जाता है और न नीचे की ओर अर्थात् जो किया हुआ आहार ऊपर की ओर जाकर न तो मुख मार्ग से वमन होकर बाहर निकलता है और न नीचे की ओर जाकर गुदमार्ग से ही दस्ते होकर निकलता है और न पचता ही है अपितु वह आहार नाभि और स्तनों के बीच के आमाशयप्रदेश[2] मे क्रियाहीन आलसी की तरह पड़ा रहता है इस लिए इस रोग का नाम अलसक कहा गया है। वायु आदि दोषों के अत्यन्त कोप से जिसमें नाना प्रकार की वेदनाए होतीं और जिसमे शरीर के गात्रों मे सूची (सुई) के टोंचने की सी पीड़ा होती है अत उसे विसूचिका रोग कहते है।

अब अलसक और विसूचिका मे वातादि तीनों दोषो के भिन्न-भिन्न लक्षणों को कहते है—

तत्र वात शूलानाहाङ्गमर्दमुखशोषप्रलापकम्पमूर्च्छाभ्रमजृम्भोद्वेष्टनाक्षिप्रवेशशिरोहृदयातिरुक्शिराकुञ्चनस्तम्भनानि करोति।

पित्त पुनर्ज्वरातिसारान्तर्दाहवैवर्ण्यतृषामदभ्रमप्रलपनानि।

---

[1] "विसूचिकाम्" इति पाठान्तरम्।
[2] "नाभिस्तनान्तर जन्तोरामाशय इति स्मृत।"

श्लेष्मा तु छर्द्यरोचकप्रसेकाङ्गसादाविपाकशीतज्वरगात्रगौरवाणि।

विशेषतस्तु दुर्बलस्याल्पाग्नेर्बहुश्लेष्मणो वातमूत्रपुरीषवेगविधारिणोऽन्नपानमनिलप्रपीडित श्लेष्मणा विबद्धमार्गमलसत्वादबहिर्मुखी भवेत्। छर्द्यतीसारवर्जानि यथोक्तानि शलादीन्युपजनयत्यतिमात्राणि। अति मात्रदुष्टास्तु दोषा प्रदुष्टामबद्धमार्गास्तिर्यग्गच्छन्त कदाचिदस्य शरीर दण्डवत्स्तम्भयन्ति ततस्तमलसक मसाध्य ब्रुवते।

अलसा विसूचिकागत प्रकुपित वायुके लक्षण--वायु के अधिक कुपित होने से शूल, आनाह, शरीर का टूटना, मुँह का सूखना, प्रलाप (बेहोशी मे बकना), शरीर का कापना, मूर्च्छा (बेहोशी), भ्रम (चक्कर आना), जम्भाई, उद्वेष्टन अर्थात् रस्सी से जकडकर बाधने जैसी शरीर मे पीडा का होना, आखों का भीतर बैठ जाना, सिर और हृदय मे अत्यन्त पीडा, सिराओं का सिकुडना, स्तम्भन अर्थात् हनुस्तम्भ-मन्यास्तम्भ ऊरुस्तम्भादि होना, इन सब रोगों का करनेवाला होता है।

कुपित पित्त के लक्षण- अधिक कुपित हुआ पित्त ज्वर, अतीसार, अन्तर्दाह (पेट मे जलन), वैवर्ण्य (शरीर के रग का बेरग हो जाना), तृषा, मद, भ्रम और प्रलाप को करने वाला होता है।

कुपित कफ के लक्षण—कफ अधिक कुपित होकर वमन, अरुचि, प्रसेक (मुँह से लार का टपकना), अङ्गग्लानि, अप चन, शीतज्वर एव गात्रगौरव (शरीर मे जडता) को करता है।

विशेषत जो प्राणी निर्बल होता है, जिसकी जठराग्नि मन्द होती है, जो कफाधिक प्रकृतिवाला-अपान वायु, मूत्र, मल (पुरीष) के वेगों को रोकनेवाला होता है, उसका किया हुआ अन्नपान वायु-द्वारा प्रपीडित होने से तथैव कफ के द्वारा शारीरस्रोतों के भर जाने से मार्ग न मिलने के कारण बाहर नही आ सकता अर्थात् वह अन्नपान न तो मुख से वमन होकर बाहर निकलता है और न विरेचन होकर गुदमार्गद्वार बाहर ही आ सकता है अत वमन-विरेचन के अतिरिक्त ऊपर लिखे हुए वातादि तीनों दोषों के शूल, आनाह आदि लक्षणों को अतिमात्रा मे सेवन किया हुआ अन्नपान प्रगट करता है।

दण्डालसक के कारण—प्रदुष्ट आम कर के मार्ग के रुक जाने से अत्यन्त कुपित हुए वातादि दोष कभी कभी तिर्छे मार्ग से जाते हुए शरीर को दण्डवत् (लक्कड की तरह) स्तम्भन करते हैं अर्थात् शरीर को जकड़ कर इधर उधर हिलने तक नही देते हैं। इस प्रकार के अलसक को असाध्य कहा गया है। शरीर को दण्डवत् स्तम्भित करने के कारण ही शास्त्रकारों ने इस रोग का नाम असाध्य दण्डकाल सक कहा है।

१ अत्यर्थदुष्टास्तु दोषा दुष्टामबद्धखा। यान्तस्तिर्यक्तनु सर्वा दण्डवत्स्तम्भयन्ति चेत॥ दण्डकालसक नाम त त्यजेदाशुकारिणम्॥ इति।

विरुद्धाध्यजीर्णाशनशीलिन[१] पुनरामदोषमामविष मामनन्ति विषसदृशलिङ्गत्वात् तत्परमसाध्यमाशुकारि[२]तया[३] विरुद्धोपक्रमत्वाच्च। न च केवल मात्रयैव कृत्स्न माहारफलमवाप्तु शक्यस्वभावादीना भिन्नफलत्वात्। तथाहि—गुरुरूक्षशुष्कशीतद्विष्टविष्टम्भिविदाह्यशुचिविरुद्धात्यम्बुपानद्रवमकाले काले वा कामक्रोधलोभेर्ष्याह्रीशोकोद्वेगभयक्षुदुपतप्तेन वा यदन्नपानमुपयुज्यते तदप्याममेव प्रदूषयति।

आमविष एव आम की समानता--आचार्यो का कथन है कि विरुद्धाशन, अध्यशन, अजीर्णाशन करनेवालों का आम दोष आम विष के रूप मे परिणत हो जाता है क्योंकि उसके सब लक्षण विष के समान होते है। वह आशुकारि अर्थात् शीघ्र ही मनुष्य को मार डालता है, इस लिए तथा विरुद्धोपक्रम होने से परम असाध्य है। जिसमे एक दोष के शमनार्थ दी हुई ओषधि दूसरे दोष के लिए अत्यन्त विरुद्ध होती है यही विरुद्धोपक्रम है अत यह परम असाध्य होता है किन्तु यहा विरुद्धोपक्रम की कई विपरीत व्याख्या करते हुए कहते है कि—यहा आम को विष के समान पीडाकारक कहा है। "आम के अजीर्ण मे उष्ण क्रिया करनी चाहिए और विष मे शीतक्रिया" यही यहा विरुद्धोपक्रम है। इसी अथ को हेमाद्रि, अरुण और इन्दु ने भी माना है।

केवल मात्रा से ही किए हुए सपूर्ण आहार की फल-प्राप्ति नही हो सकती क्यों कि मात्रा से आहार करनेवालों मे भी कभी कभी आमदोष दिखाई देता है इस लिए स्वभाव, सयोग, काल आदि से भी आहार के फल को जानना चाहिए क्योंकि स्वभावादि भिन्न भिन्न फलवाले होते है। कहा भी है कि—गुरु, रूक्ष, शुष्क, शीत, द्विष्ट, विष्टभि, विदाही, अशुचि, विरुद्ध, अत्यम्बुपान (जल का अधिक पीना) और द्रव पदार्थ अपने स्वभावादि के कारण तथा समय असमय में काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, लज्जा, शोक, उद्वेग, भय एव क्षुधा से सतप्त प्राणी जिस अन्नपान का उपयोग करते है, वह (अन्नपान) भी आम ही को प्रदूषित या कुपित करता है। अब आचार्य इनकी चिकित्सा का वर्णन करते है। यथा—

तत्र साध्यमाम दुष्टमलसीभूतमुल्लिखेत्पाययित्वा सलवणमुष्ण वारि। तथा त्वच्छर्दयन्तमतिलीनदोष कृष्णानागदन्तीकल्कयुक्त पाययेत्। मदनफलकषाय वा पिप्पलीसिद्धार्थककल्कयुक्तम्। दन्तीमार्गविकावचूर्णित वा कोशातकीरसम्। अवस्थापेक्षी वा वमन-

१ "विरुद्धाध्यशनाजीर्णशालिन" इत्यपि पाठ। २ तत्परमसाध्यानामाशुकारितया इति पाठ। ३ आशु शीघ्र स्व कर्म मारण करोतीत्याशुकारि। तत्र हि दोषास्तथाविध कोपमाप द्यन्ते। यत्रैकस्मिन् दोष औषधमन्यस्मिन्दोषेऽत्यर्थं विरुध्यत इति विरुद्धोपक्रमत्वम्। अन्येत्वन्यथा ब्रुवति। यदि विषसदृशस्वरूप पीडाकर्तृत्वेन तत्रामो भवति विषे शीता क्रिया आमे अजीर्णे चोष्णा इत्युपक्रमविरोध इति हेमाद्रि।

कल्पोक्तानि तीक्ष्णवमनानि। तत स्वेदनवर्तिप्रणिधा-नाभ्यामुपाचरेत्। अपि च।

दुष्ट आम के शमनोपाय—**यदि कोठे मे एक जगह ठहरा हुआ आलसीभूत दुष्ट आम साध्य हो तो उसके शमनार्थ नमक मिला हुआ उष्ण जल पिलाकर आम का वमन कराना चाहिए। दोष के अतिलीन होने से जिसे नमकमिश्रित उष्ण जल से वमन न हो तो वही उष्ण जल पीपल और नागदन्ती (बृहद्दन्तीमूल) के कल्क को मिलाकर पिलाना चाहिए अथवा पीपल और सरसों के कल्क को मिलाकर मैनफल का काढा पिलाना चाहिए अथवा कोशातकी (जगली कटु तोरई) का रस दन्तीमूल और पीपल का चूर्ण मिलाकर पिलावे। इसके अतिरिक्त रोगी की रोगावस्थाके अनुसार कल्पस्थान में कहे हुए तीक्ष्ण वमनो का प्रयोग करना चाहिए। इसके अनन्तर स्वेदनविधि तथा वर्ति (वातानुलोमिनी फलवर्ती-गुदवर्ती) द्वारा उपचार करे।**

इस प्रकार वमन-विरेचन से भली भाति शोधन होकर रोगी के आमदोष से उत्पन्न समस्त विकार तुरन्त शमन हो जाते हैं परन्तु कोठे में अजीर्णान्न के निकल जाने से कभी वायु का शूल हो जाता है इस लिए कहते है कि—

सम्यग्विशुद्धस्य शाम्यन्ति तदुपद्रवा।
शूले निरन्नकोष्ठेऽद्भि कोष्णाभिश्चूर्णिता पिबेत्॥
हिङ्गुप्रतिविषाव्योषसौवर्चलवचाभया।
अथवा पिप्पलीमूलत्रिवृतादारुसैन्धवम्॥
शुण्ठीस्नुक्क्षीरलवणपिप्पलीमरिचानि च।
पाठाम्लवेतसक्षारयवानीपौष्कराणि च॥

वायुशूल के शमनोपाय—**भलीभाति वमन-विरेचन द्वारा शुद्ध रोगी के समस्त उपद्रव शान्त हो जाते हैं। ऐसी अवस्था मे कोठे मे अन्न नही रहने से यदि शूल हो तो नीचे लिखे हुए चूर्ण गरम पानी के साथ सेवन कराना चाहिए।**

(१) हींग, अतीस, सौठ, मिरच, पीपल, सौंचर नमक, बच और हरडे का चूर्ण बना कर देवे। अथवा—

(२) पीपलामूल, निशोत, देवदारु और सैंधा नमक का चूर्ण सेवन करावे या—

(३) सौठ, थूहरका दूध, सैंधा नमक, पीपल और काली मिरच का चूर्ण दे। अथवा—

(४) पाठ, अमलबेत, जवाखार, अजवायन और पोहकर मूल का चूर्ण बनाकर सेवन करावे। ध्यान रहे कि उपर्युक्त चूर्णों की सब ओषधियाँ समभाग मे लेनी चाहिए इस लिए कि जहा भाग न कहा हो वहा सम भाग लेना चाहिए।

द्विरुत्तर हिङ्गुवचाग्निकुष्ठ-
सुवर्चिकाक्षारविडाजमोदम्।
शूलोदरानाहविसूचिकार्शो-
हृद्रोगगुल्मोर्ध्वसमीरणघ्नम्॥

मुस्ताजमोदपूतीकवचाशुण्ठ्यग्निधान्यकैः।
सबालकसठीबिल्वैः क्वाथ तृट्शूलवान्पिबेत्॥
पिबेद्विपक्व ह्यमृताकषाय
कदम्बनिम्बार्जुनवृक्षकाणाम्।
क्वाथ सुखोष्ण लवणप्रगाढ
विसूचिकाजीर्णविषापमर्दिनम्॥

हिंग्वादि चूर्ण—**हीग १ तोला, बच २ तोले, चित्रक ४ तोले, कूट ८ तोले, सज्जीखार १६ तोले, बिड नमक ३२ तोले और अजमोदा ६४ तोले इन सबका चूर्ण पूर्वोक्त कुनकुने जल से लेने से यह शूल, उदर, आनाह, पेटका फूलना, विसूचिका (हैजा), बवासीर, हृद्रोग, गुल्म और ऊर्ध्ववातका नाश करनेवाला है।**

मुस्तादि कषाय—**नागरमोथा, अजमोदा, करज के बीज, बच, सौंठ, चित्रक, धनियाँ, खस, कचूर और बेलकी गिरी इन सबको समभाग लेकर काढाकर तृषा और शूलरोगवाले को पीना चाहिए।**

अमृताकषाय तथा कदम्बादिकाढा—**विसूचिका, अजीर्ण, तथा विष के रोगी को चाहिए कि वह गुर्च (गुडूची) का काढा पीवे अथवा कदम्ब, नीम और अर्जुन वृक्ष की अन्तर छाल का काढा नमक मिश्रित कर गुन गुनासा पीवे।**

रास्नाकट्फलषड्ग्रन्थाबृहतीद्वयजोङ्गकैः।
गुग्गुल्वतिविषाकुष्ठपत्रव्याघ्रनखाम्बुदैः॥
कुर्याच्छुष्कैः समूत्रैर्वा लेपोद्वर्तनधूपनम्।
सरुकचानद्रुमुदरमम्लपिष्टैः प्रलेपयेत्॥
दारुहैमवतीकुष्ठशताह्वाहिङ्गुसैन्धवैः।
यवचूर्णैश्च सक्षारतक्र कोष्ठार्तिजित्परम्॥
योजयेत्सैन्धवान्तैश्च तत्र विण्मूत्रसग्रहे।
नाम्यमानानि चाङ्गानि भृश स्विन्नानि वेष्टयेत्॥
विसूच्यामतिवृद्धायां पार्ष्ण्योर्दाह प्रशस्यते।
द्विक्षारजीर्णपिण्याककुष्ठारुष्करपत्रकैः॥
सशुक्तसैन्धवैस्तैल पक्वमभ्यञ्जने हितम्।
सुच्छर्दितविरिक्तस्य गात्रायामेऽतिदारुणे॥
भल्लातकमधूच्छिष्टजीर्णपिण्याकनागरैः।
घृततैल पचेत्साम्लैस्तच्च खल्लीघ्नमुत्तमम्॥
त्वक्पत्ररास्नागुरुशिग्रुकुष्ठै—
रम्लप्रपिष्टैः सवचाशताह्वैः।
उद्वर्तन खल्लिविसूचिकाघ्न
तैल विपक्व च तदर्थकारि॥
तदहश्चोपवास्यैन विरिक्तवदुपाचरेत्।
सामान्येनेति सिद्धोक्ता विसूच्यलसकक्रिया॥

अलसक विसूचिकादिपर और भी सर्वसामान्य उपचार—**अलसक-विसूचिकादि की अवस्था में पेट मे पीड़ा हो या पेट फूला हुआ हो तो रास्ना, कायफल, बच, छोटी और बडी कटेरी, अगर, गूगल, अतीस, कूट, पत्रज, व्याघ्रनख (नख-**

१ स्वेदवतीति पाठान्तरम्। २ उल्लिखेत्=नर आम वमेदित्यर्थः। इन्दु। ३ वा इति पा०। ४. भागेऽनुक्ते सम प्रोक्तम्।

१ बतिमित्यपि पाठ.। स्वेदवतीति पा०।

नाखूना नामक द्रव्य) और नागरमोथा इन सबको कूट छान कर इन का सूखा ही उबटन करे या इनका गोमूत्र मे मिलाकर लेप करे, धूप दे या सेक करे। इसी प्रकार देवदारु, चोक, कूट, सतावर, हींग और सैंधा नमक इन को मद्य, काजी आदि खट्टे पदार्थोंसे पीस कर पेट पर लेप करे। अथवा जौ का आटा, जवाखार और छाछ इन का लेप भी कोष्ठ (उदर) की पीडा को जीतने में परम श्रेष्ठ औषध है। यदि मल और मूत्र रुक गया हो तो पूर्वोक्त देवदारु, चोक, कूट, शतावर, हींग और सैंधा नमक की वर्ती (बत्ती) बनाकर उस का गुदा में प्रयोग करे। इतना, ही नही, रोग के कारण शरीर के जो जो अङ्ग सिकुड गये हों उन पर इन वस्तु ओं द्वारा बारबार स्वेदन करे और उनपर चर्म आदि का वेष्टन बाध दे।

अत्यन्त बढी हुई विसूचिकामे पार्ष्णियों (गुल्फों के निम्न भाग) मे दाह बहुत होता है। वैसी अवस्था मे सज्जीखार, जवाखार, पुरानी तिलकी खली, कूट, भिलावा, तेजपात अथवा भिलावे के पान इन सब को समान भाग शुक्त (सिर्का) से मिश्रित तेल और सैंधा नमक के साथ पका कर इस तेल की मालिश करना परम हितकारी है। वमन-विरेचन के अन्त मे यदि दारुण गात्रायाम हो अर्थात् खल्ली पडती हो बायटे आते हों तो भिलावे, मोम, पुरानी खली, सौंठ और अम्ल पदार्थ के साथ पकाए हुए तैल एव घृतका मर्दन करना श्रष्ठ है।

तज, पत्रज, रास्ना, अगर, सहँजने की छाल, कूट, बच और शतावर को अम्लरस में पीस कर लगाया हुआ उबटन भी खल्ली और विसूचिकाका नाश करता है।

उपर्युक्त क्रिया जिस दिन को जाय उस दिन रोगी को लघन दिला कर विरेचनवत् उपचार करे। इस प्रकार अलसक-विसूचिकादिके विषय मे सामान्यत सिद्ध क्रियाओं का वर्णन किया गया। अब विशेष क्रिया को कहते है—

आमदोषेषु[१] त्वन्नकाले जीर्णाहार दोषोपलिप्तामाश[२]यस्तिमितगुरुकोष्ठमनन्नाभिलाषमभिसमीक्ष्य पातये[३] दोषशेषपाचनार्थमौषध वह्निसधुक्षणहेतोश्च[४]। अजीर्णाहार पुन न पाययेत् यत आमसन्न आमदोषमौषधमाहारजात चाशक्त पक्तुम्[५]ग्न इत्येषां[६] विभ्रमोऽतिबलत्वादुपरतानलमप्यद्धा[७]लमातुर सहसा[८] निपातयेत्[९]।

शेष रहे आमदोषों में विशेष वक्तव्य—शेष रहे हुए आम दोषों मे आहार के पच जाने पर भी जिस का आमाशय वायु आदि दोषों करके उपलिप्त अर्थात् दूषित है, जिस का कोष्ठ (उदर) अचल (स्तिमित) एव भारी है, जिम की अन्नपर अभिलाषा नही है, ऐसे पुरुष को भली भाति देखकर भोजन समय मे शेष दोषों के पाचनार्थ तथा जठराग्नि को सधुक्षण (सुलगाने) के लिए ओषधि का पान करावे किन्तु जिसका आहार नहीं पचा है उसे ओषधि नहीं पिलानी चाहिए क्यों कि उस की आमदोष से दुर्बल हुई अग्नि एकदम आम दोष, ओषधि और आहार को पचा नहीं सकती अपि तु विपरीत इसके वह आमदोष-औषध-आहार के दोषों को बढानेवाली सामग्री या व्यापत्ति[१] बलवती बनकर एकदम रोगी को मार डालती है क्यों कि उक्त रोगी के अग्नि और बल पहले ही से मन्द हुए रहते हैं।

अब आचार्य आमदोषों के शमनार्थ अन्य उपायों का वर्णन करते है—

आमदोषजानां पुनर्विकाराणामपतर्पणेनैवोपशमो भवति। तत्तु त्रिविधम्—लङ्घनपाचनमवसेचन च। तत्र लङ्घनमल्पदोषाणाम्। तेन ह्यनिलानलवृद्ध्या वातातपपरीत इवाल्प सलिलाशयोऽल्पदोष प्रशोषमापद्यते। लङ्घनपाचनाभ्या मध्यदोषो वातातपाभ्या पांसुभस्मावकिरणैरिव चानतिमहान् सलिलाशय। बहुदोषाणा पुनर्दोषावसेचनमेव कार्यम्। न ह्यस्राविते पल्वलोदकौघे शाल्यादिपुष्टिर्भवति।

आम दोष के शमनार्थ और भी उपाय—आमदोष से उत्पन्न होनेवाले आलस्य, जडता, अग्निमान्द्यादि विकारो का उपशम (नाश) अपतर्पण से ही होता है। वह अपतर्पण तीन प्रकार का होता है जैसे कि लङ्घन, लङ्घनपाचन और अवसेचन। यहा लघन अर्थात् उपवास का विधान अल्प दोषों के लिए हैं क्यों कि लघन या उपवास से वायु और अग्नि की वृद्धि होकर अल्प दोष इस प्रकार शान्त हो जाता है जसे कि वायु तथा धूप से घिरा हुआ अल्प जलवाला जलाशय सूख जाता है।

दोष की मध्य अवस्था मे उपवास और पाचन ओषधिका उपयोग करने से वह मध्य दोष इस प्रकार शान्त हो जाता है जैसे कि वायु और धूप द्वारा रेत तथा भस्म के गिरने या भर जाने से अनतिमहान् जलाशय (जो जलाशय बहुत बडा नही है) सूख जाता है। बढे हुए दोषों मे दोषों का अवसेचन ही करना चाहिए अर्थात् रोगी को वमन-विरेचनादि सशोधन देकर दोषों को शरीर से बाहर निकालना चाहिए। इस तरह करने से दोष इस प्रकार नष्ट हो जाते है जैसे कि पल्वल (वर्षाकालीन अल्प सरोवर) का जल सूख जाने से उसमे बोए हुए शालि (धान) आदि की पुष्टि नही हाती। साराश, उसमें के चावल आदि आप ही नष्ट हो जाते है।

तस्मात्सतर्पणनिमित्ताना नान्तरेणापतर्पणमस्ति शान्ति। अपतर्पणनिमित्ताना च नान्तरेण सतर्पणमिति एवमन्येषामपि व्याधीना यथा स्व निदानविपरीतमौषधमवचारयेत्। सति त्वनुबन्धे निदानविपरीतमपास्य व्याधिविपरीतमेव तदर्थकारि वा। विमुक्तामदोषस्य पुनः परिपक्वामदोषशेषस्य दीप्ते चाग्नावभ्यङ्गास्थापनानुवासन विधिवत्स्नेहपानं च युक्त्या प्रयोज्य प्रसमीक्ष्य दोषौषधादीन्यनन्तराणीति। भवन्ति चात्र—

व्याधियों के उपचार में विचार—इससे सिद्ध है कि सतर्पण

१ शेषेषु त्वामदोषेषु इति पा० २ आमशय ३ लाघिय ४ सधुक्षणार्थम् ५ आमदोषदुर्बलोऽग्निर्युगपदामदोष ६ पक्तुम्। ७ अपि चैषा ८ उपरतानलबल ९ सहसैव

१ एषामामाशयादीना विभ्रमो दुष्टोत्कर्षिणी सामग्री इतीन्दु। विभ्रमो व्यापत्तिरिति हेमाद्रि।

के कारण उत्पन्न हुए रोगों की शान्ति अपतर्पण के विना नही होती और इसी प्रकार अपतर्पणजन्य रोगों का नाश विना सतर्पण के नही होता। इसी प्रकार अन्यान्य व्याधियों की ओषधि भी यथायोग्य निदानविपरीत ही होनी चाहिए। निदानविपरीत ओषधि करने पर भी अनुबन्ध (व्याधियों का तांता) बना ही रहे तो फिर निदानविपरीत ओषधि का परित्याग कर व्याधिविपरीत ओषधि करनी चाहिए अथवा तदर्थकारी (उस व्याधिविपरीत के अर्थ को करनेवाली) ओषधि का सेवन कराना चाहिए। आमदोष से विमुक्त होने पर या आमदोष के परिपक्व होने एव जठराग्नि के प्रदीप्त होने पर दोष-ओषधि आदि की अवस्था को अच्छी तरह देख कर युक्ति के साथ रोगी के लिए विधिवत् अभ्यङ्ग, आस्थापन, अनुवासन तथा स्नेहपान की योजना करनी चाहिए। यहा ध्यान रहे कि—

य श्यावदन्तोष्ठनखोऽल्पसञ्ज्ञो
वम्यर्दितोऽभ्यन्तरगात्रनेत्र ।
क्षामस्वर सर्वविमुक्तसन्धि-
र्यायान्नरोऽसौ पुनरागमाय ॥
व्योष करञ्जस्य फल हरिद्रे
मूल समावाप्य च मातुलुङ्ग्या ।
छायाविशुष्का गुटिका कृतास्ता
हन्युर्विसूची नयनाञ्जनेन ॥
शिरीषनक्ताह्वफणिज्जबीज-
त्रायन्त्यपामार्गफलानि वर्ति ।
बस्तस्य मूत्रेण विसूचिकाघ्नी
प्रलेपधूपाञ्जननस्ययोगै ॥

असाध्य विसूचिका के लक्षण—जिस विसूचिका-रोगी के दात, होंठ और नख काले पड गए हों, जो अल्पसञ्ज्ञ हो अर्थात् कम होश मे हो, वमन से पीडित हो, जिसके नेत्र भीतर की ओर चले गए हों, जिसका कण्ठ धीमा पड गया हो और जिसकी सन्धियाँ विमुक्त (ढीली पड गई) हों वह मनुष्य इस ससार मे पुनर्जन्म लेने के लिए जायगा अर्थात् मर जायगा। इन असाध्य लक्षणोंवाला न हो तो उस विसूचिका रोगी के लिए अब चिकित्सा का कथन करते हैं।

विसूचिकाहर शुण्ठ्यादि अञ्जन—सोंठ, काली मिरच, पीपल, करजुए की मीगी, हलदी, दारुहलदी और बिजौरे की जड इन सब ओषधियों को समान भाग मे लेकर जल से पीस ले और गोली बनावे और छाया में सुखावे। नेत्रों में इस गुटिका का अञ्जन करने से विसूचिका रोग नष्ट होता है।

विसूचिका वर्ती—सिरस के बीज, करजुए की गिरी, गन्ध तुलसी (जगली तुलसी) अथवा मरुवे के या लाल मिरच के बीज, त्रायमाण तथा ओंगा (अपामार्ग) के बीज इन सबको बकरे[१] (बकरी) के मूत्र में पीस कर बत्ती बनावे। यह बत्ती, प्रलेप, धूप, अञ्जन और नस्य के योग से विसूचिका को दूर करने वाली है।

अजीर्ण च कफादाम विष्टब्धमनिलाद्भवेत्।
विदग्ध पित्तदोषेण त्रिप्रकारमिति स्मृतम् ॥
तत्रामे गुरुतोत्क्लेद शोफो गण्डाक्षिकूटयो ।
उद्गारश्च यथाभुक्तमविदग्ध प्रवर्त्तते ॥
विष्टब्धे शूलमाध्मान विविधा वातवेदना ।
मलवाताप्रवृत्तिश्च स्तम्भो मोहोऽङ्गपीडनम् ॥
विदग्धे भ्रमतृण्मूर्च्छा पित्ताच्च विविधारुज ।
उद्गारश्च सधूमाम्ल स्वेदो दाहश्च जायते ॥
लङ्घन कार्यमामे तु विष्टब्धे स्वेदन भृशम्।
विदग्धे वमन यद्वा यथावस्थ हित भवेत् ॥

अजीर्ण के तीन प्रकार—अजीर्ण रोग तीन प्रकार का कहा है इनमे से कफ से होनेवाले को आमाजीर्ण, वायु से विष्टब्धाजीर्ण तथा पित्त से उत्पन्न अजीर्ण को विदग्धाजीर्ण कहते है। इनमें—

आमाजीर्ण के लक्षण—गुरुता (शरीर का भारी रहना), उबकाई, गाल और अक्षिकूट (आखों के किनारों) पर सूजन, जैसा आहार किया गया है वैसे ही बिना पचे अन्न की डकारें आना ये लक्षण आम से उत्पन्न अजीर्ण के है।

विष्टब्धाजीर्ण के लक्षण—पेट मे शूल, पेट का फूलना, नाना प्रकार की वातजन्य वेदनाओं का होना, मल (विष्ठा) तथा मूत्र का रुकना, स्तम्भ (ऊरुस्तम्भादि से अगों) का अकडना, बेहोशी, एव शरीर मे पीडा ये लक्षण वायु से होनेवाले विष्टब्धाजीर्ण के है।

विदग्धाजीर्ण के लक्षण—भ्रम (चक्कर आना) प्यास, मूर्च्छा, पित्तजन्य नाना प्रकार की वेदना, तीक्ष्णता के कारण पेट मे से सधूम (साथ मे लिए हुए धुए की तरह) खट्टी डकारों का आना, पसीना और दाह का होना ये लक्षण पित्त से होनेवाले विदग्धाजीर्ण के होते है।

सब अजीर्णों की सर्वसामान्य चिकित्सा—आमाजीर्ण में लङ्घन, विष्टब्धाजीर्ण मे भली भाति स्वेदन करे तथा विदग्धाजीर्ण मे वमन कराना चाहिए अथवा अजीर्ण की जैसी अवस्था हो और उसमे जिससे हित हो वही चिकित्सा करनी चाहिए।

गरीयसो भवेल्लीनादामादेव विलम्बिका।
कफवातानुविद्धामलिङ्गा तत्समसाधना ॥

विलम्बिका के लक्षण और चिकित्सा—बढ़े हुए, महास्रोतों मे लीन (सश्लिष्ट या चिपटे हुए) आम से या आमाजीर्ण से ही विलम्बिका नामक रोग (अजीर्ण) होता है। यह कफ और वायु से अनुविद्ध एव आमाजीर्ण के लक्षणोंवाली होती है। इस लिए इसकी चिकित्सा भी तत्समा अर्थात् आमाजीर्ण की चिकित्सा के समान ही करनी चाहिए।

विशेष वक्तव्य—सुश्रुत ने भी इस बात का समर्थन किया है और इसको दुश्चिकित्स्य बताया है। सुश्रुत लिखते है कि "आहार किया हुआ अन्न कफ-वात से दूषित होकर कोष्ठ मे ही चिपटा हुआ रहता है परन्तु ऊर्ध्व एव अधोमार्ग से मुखमार्ग से वमन होकर और गुदमार्ग से विरेचन होकर बाहर नही निकलने पाता इस दुश्चिकित्स्य रोग को प्राचीन महर्षियों

१ "गोजाविमहिषीणा तु स्त्रीणा मूत्र प्रशस्यते। खरोष्ट्रेभनराश्वाना पुसा मूत्र हित स्मृतम् ॥" इति भावमिश्र

ने विलम्बिका नाम दिया है। खरनाद भी इसकी उत्पत्ति आम से ही मानते है। यह इन सबका मत ठीक प्रतीत होता है। जेज्जटाचार्य इसे अलसक मानते है, इसमे भी कोई आपत्ति प्रतीत नही होती क्योंकि विलम्बिका और अलसक मे कोई भेद नही दिखाई देता। मूल मे भी यह स्पष्ट है कि "स्रोतों मे लीन बढे हुए आम से ही विलम्बिका होती है। आमाजीर्ण की तरह यह भी कफ-वातयुक्त होने से इसकी चिकित्सा भी आमाजीर्णवत् करने का आदेश है।" फिर भी हेमाद्रिने भेड के—"यदा भुक्त विदग्ध च नोर्ध्व नाध प्रवर्तते। तां विलम्बीं विगर्हन्ति विषकल्पा विसूचिकाम्॥" इस कथन के आधार पर विषकल्पता और विदग्धता के कारण इसमे पित्तोल्वणता मान ली है। इतना ही नही, इसके अजीर्ण को त्रिदोष का मानकर चिकित्सा भी तदनुकूल करना सिद्ध किया है परन्तु यह तर्क ठीक प्रतीत नही होता क्योंकि मूल में "आमादेव विलम्बिका" कहने पर विदग्धाजीर्ण-मूलकता रह ही कैसे सकती है? साराश, इसके हेतु और लक्षणों पर विचार करने से हेमाद्रि का यह तर्क शोचनीय हो जाता है। पाठकों को चाहिए कि वे इस पर अवश्य विचार करे।

अब रसशेषाजीर्णादि के विषय मे कहते हैं—

रसशेषेऽन्नविद्वेषो हृदयाशुद्धिगौरवे ।
तत्राभुक्त्वा दिवा स्वप्यात्क्षुद्वानद्यान्मित लघु ॥
यामैश्चतुर्भिर्द्वाभ्या च भोज्यभैषज्ययो समे ।
पाकोऽग्नौ युक्तयोर्द्रावतीक्ष्णे मन्दे पुनश्चिरात् ॥
सभक्तमौषध तस्मान्मन्दाग्नेरवचारयेत् ।
पूर्वाह्णे भोजन सात्म्य लघुदीपनबृहणम् ॥
प्रातराशे त्वजीर्णेऽपि सायमाशो न दुष्यति ।
अजीर्णे सायमाशे तु प्रातराशो हि दुष्यति ॥
दिवा प्रबोध्यतेऽर्केण हृदय पुण्डरीकवत् ।
तस्मिन्विबुद्धे स्रोतासि स्फुटत्व यान्ति सर्वश ॥
व्यायामाच्च विचाराच्च विक्षिप्तत्वाच्च चेतस ।
न क्लेदमुपगच्छन्ति दिवा तेनास्य धातव ॥
अक्लिन्नेष्वन्नमासक्तमन्यत्तेषु न दुष्यति ।
अविदग्धेष्विव पय स्वन्यत्समिश्रित पय ॥
रात्रौ तु हृदये म्लाने सवृतेष्वयनेषु च ।
यान्ति कोष्ठे परिक्लेद सवृते सर्वधातव ॥
क्लिन्नेष्वन्यदपक्वेषु तेष्वासक्त प्रदुष्यति ।
विदग्धेषु पय स्वन्यत्पयस्तप्तेष्विवार्पितम् ॥
नैशे तस्मादजीर्णेऽन्ने नान्यद्भुञ्जीत भोजनम् ।

रसशेषाजीर्ण का वर्णन—यह रसशेषाजीर्ण रक्त को बनाने वाले उस परिपक्व रस का नहीं है किन्तु आमाशयगत उस अपक्व रस का समझना चाहिए जो मन्दाग्नि के कारण पूर्णतया परिपक्व नही होता अपितु कुछ अपक्व रहता है[1]। अन्न के पचने मे शुद्ध डकार के आनेपर भी यदि कुछ अपक्व रस शेष रह जाय तो वह भी अजीर्ण का कारण होता है। उस अपक्व रस से होनेवाले अजीर्ण का नाम ही रसशेषाजीर्ण है। रसशेषाजीर्ण के होनेपर अन्नविद्वेष अर्थात् अन्न के खानेपर बिलकुल रुचि न रहना, हृदय मे पीडा अर्थात् छाती का दुखना और भारी रहना ये लक्षण होते है। ऐसी अवस्था मे मनुष्य को कुछ भी न खाकर दिन मे सोना चाहिए। भूख लगने पर अल्प मात्रा मे लघु (हल्का) भोजन करना चाहिए। समाग्नि के होनेपर उचित मात्रा मे किए हुए आहार का पचन ठीक चार प्रहर मे होता है इसी प्रकार समाग्निवाले की औषधि का पचन ठीक दो प्रहर मे होता है। इन दोनों आहार एव औषधि का पचन तीक्ष्णाग्नि होनेपर बहुत जल्दी होता है और मन्दाग्नि की अवस्था में चिरात् अर्थात् विलम्ब से होता है। इस लिए मन्दाग्नि की अवस्था मे भोजन के साथ औषधि का भी सेवन कराना चाहिए।

दिन और रात के भोजन की युक्तायुक्तता—पूर्वाह्ण मे किया हुआ भोजन सात्म्य, लघु, दीपन और बृहण (पुष्टिकारक) होता है। प्रात अर्थात् पूर्वाह्ण मे किए हुए भोजन के न पचनेपर भी साय भोजन कर लिया जाय तो भी वह किया हुआ भोजन दूषित या दोषकारक नही होता परन्तु सध्या काल के किए हुए भोजन के न पचने पर प्रात भोजन कर लिया जाय तो वह दोषकारक हो जाता है। इसका स्पष्टीकरण अब दृष्टान्त द्वारा करते है कि जैसे दिन मे सूर्य द्वारा कमल का पुष्प खिलता है, ठीक इसी प्रकार दिन मे सूर्य द्वारा मनुष्य का हृदय-कमल भी खुला रहता है। हृदय के खुले रहने से शरीर के सब स्रोत भी खुले रहते है–इस लिए तथा दैनिक शरीर के व्यायाम एव मानसिक विचारविक्षेप होने से मनुष्य के वात-पित्त-कफ-रसरक्तादि धातु भी क्लेद को प्राप्त नही होते। इन धातुओं के क्लेदित न होने से उनके साथ मिलनेवाला अन्न (आहार) भी दूषित नही होता जैसे कि बिना तपाए हुए दूध मे अन्य वैसे ही दूध के मिलाने से उसमे किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नही हो सकता अर्थात् वह दूध फटकर नष्ट नहीं होता। परन्तु रात्रि मे सूर्य के न रहने से मनुष्य का हृदय म्लान (कमलपुष्प की तरह बन्द) होने से शारीरिक स्रोत भी बन्द हो जाते है। शारीरिक स्रोतों के खुले न रहने से उसके बन्द कोष्ठ मे वातादि सभी धातुएं क्लेद को प्राप्त होती है। उन अपक्व (कच्ची) धातुओं की क्लेदितावस्था मे उनके साथ मिलनेवाला अन्न (आहार) इस प्रकार दूषित हो जाता है जैसे कि तपाए हुए दूध मे कच्चा दूध मिलते ही वह फटकर नष्ट हो जाता है। इसी लिए कहा है कि—रात्रि के किए हुए भोजन के न पचनेपर अर्थात् जब तक रात्रि का किया हुआ भोजन न पच जाय तब तक अन्य भोजन नहीं करना चाहिए।

अब आचार्य इस अध्याय के उपसहार मे जीर्णाहारादि के लक्षण आदि का वर्णन करते हैं।

---

१ "दुष्ट तु भुक्त कफमारुताभ्या प्रवर्तते नोर्ध्वमधश्च यस्य॥ विलम्बिका ता भृशदुश्चिकित्स्यामाचक्षते शास्त्रविद पुराणा॥" इति। "आमाजीर्ण विलम्बिका" इति खरनाद।

२ "मत्यन्तेन न दुष्यति" इत्यपि पाठान्तरम्।

१ "ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्। दुष्टमामाशयगत रसमाम प्रचक्षते॥" इति।

उद्गारशुद्धिरुत्साहो वेगोत्सर्गो यथोचित ।
लघुता क्षुत्पिपासा च जीर्णाहारस्य लक्षणम् ॥
प्राय प्रज्ञापराधेन रोगग्राम प्रजायते ।
नृणामशनलुब्धाना विशेषेण विसूचिका ॥
दोषोपनद्ध यदि लीनमन्न पित्तोल्बणस्यावृणुयान्न वह्निम्।
जायेत दुष्टा तु ततो बुभुक्षा या मन्दबुद्धीन्विषवन्निहन्ति॥

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थाने मात्राशितीय-
नामैकादशोऽध्याय ।

जीर्णाहार के लक्षण—**शुद्ध डकार का आना, मनमे उत्साह, मलमूत्रादिका यथोचित विसर्जन, शरीर में फुर्ती, भूख और प्यास की यथोचित प्रवृत्ति ये भली भाति आहार के पच जाने के लक्षण हैं।**

प्रज्ञापराध का परिणाम—**प्रज्ञापराध अर्थात् त्याज्य वस्तुओं के सेवन तथा सेवन करने योग्य वस्तुओं के त्याग से भोजन लोलुप मनुष्यों को प्राय सभी प्रकार के रोग होते हैं और विशेषत विसूचिका (महामारी) होती है। द्रवस्वरूप पित्त की अधिकतावाले पुरुष का किया हुआ आहार वायु तथा कफद्वारा अवरुद्ध होकर पेट के एक भाग मे रहता हुआ अग्नि के सयोग को प्राप्त नही कर सकता। उस समय भोजन की दुष्ट इच्छा होती है और वह मन्दबुद्धिवालों को विष की तरह मार डालती है।**

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसग्रहेसूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दीव्या
ख्याया मात्राशितीयनामैकादशोऽध्याय ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः।

पिछले अध्याय के आहार का वर्णन करने के अनन्तर अब आचार्य मिथ्याहारादि से उत्पन्न होने वाले रोगों के निवारण में उपयुक्त ऐसे द्रव्यों (औषधियों) के विषय में कहते हैं कि—

अथातो द्विविधौषधविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्याम
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय ।

द्विविधौषधविज्ञान—**दो प्रकार के औषधका जिस से ज्ञान होता है, अब हम उस द्विविधौषधविज्ञानीय अध्याय को कहते हैं जैसे कि आत्रेय आदि महर्षियोंने पहले कहा है।**

द्विविधमौषधमूर्जस्कर रोगघ्नं च । उभयमपि चोभयात्मकम्। बाहुल्येन तु निर्देशः । तत्रोर्जस्कर द्विविधं रसायन वाजीकरण च। रोगघ्नमपि द्विविध रोगस्य प्रशमनमपुनर्भवकर च। पुनश्च द्विविध द्रव्य मद्रव्य च। तत्र द्रव्य त्रिविध भौममौद्भिद जङ्गममिति। तेषु वक्ष्यमाणहेमादिलवणान्त प्रायेण भौमम्। औद्भिद तु पुनर्वनस्पति-वानस्पत्यवीरुदौषधिभेदेन चतुर्विध भवति। तत्र फलिनो वनस्पतिः । पुष्पफलवान्वानस्पत्य । वल्लीगुल्म वीरुत्। फलपाकान्ता त्वौषधिरिति। जङ्गमोद्भव तु मधुघृतादि जङ्गम द्रव्यमाहु ।

द्रव्यों के दो प्रकार—**शरीर के लिए इष्ट एव अनिष्टताका विचार करने पर द्रव्यों के दो प्रकार होते हैं, जैसे कि औषध और अनौषध। औषध उसे कहते हैं जो शरीर के लिए पथ्य अर्थात् हितकारी है और अनौषध वह है जो शरीर के लिए अपथ्य या अहितकारक है। सब से प्रथम आचार्य हितकारक औषधका वर्णन करते है। अनौषध (अपथ्य किंवा अहितकारी) का वर्णन आगे करेंगे।**

द्विविधौषध—**औषध के दो प्रकार हैं जैसे कि ऊर्जस्कर और रोगघ्न[1]। इन में ऊर्जस्कर औषध वह है जो व्याधि को नष्ट करके बल, वर्ण और उपचय (पुष्टि) को करता है। इतना ही नहीं, ऊर्जस्कर में यह विशेषता है कि वह केवल व्याधि को नष्ट करके ही बल, वर्ण और उपचयको नहीं करता, अपि तु स्वस्थावस्था में सेवन करने पर भी यह बल, वर्ण एव उपचय को करनेवाला है। दूसरा रोगघ्न औषध वह है जो व्याधि का नाश करनेवाला है। व्याधि का नाश होने पर ही शरीर में बल, वर्ण और उपचयकी प्राप्ति होती है। इसीलिए ऊर्जस्कर तथा रोगघ्न इन दोनों को "उभयमपि चोभयात्मकम्" कहा है अर्थात् ये दोनों व्याधि के नष्ट करनेवाले और बल, वर्ण और पुष्टि के देनेवाले हैं। इन दोनों में से जिस का पहले निर्देश किया गया है, वह बाहुल्येन या प्राधान्येन किया गया है। भावार्थ यह है कि ऊर्जस्कर तथा रोगघ्न इन दोनों के उभयात्मक होने पर भी ऊर्जस्कर इन दोनों में मुख्य एव प्रधान है।**

रसायन और वाजीकरण के लक्षण—**उपर्युक्त ऊर्जस्कर औषध के भी दो भेद है अर्थात् रसायन और वाजीकरण। इन में से रसायन उसे कहते हैं जो रोग का नाश करता है और बुढ़ापा जल्दी नहीं आने देता[2]। भगवान् आत्रेय के मतानुसार जो स्वस्थ को बल और पुष्टि देता है वह रसायन है[3]। इतना ही नही, रसायन वह है जो मनुष्यको दीर्घायु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, तारुण्यादि अनेक फलों का देनेवाला है। भगवान् धन्वन्तरिजी भी रसायन उस औषधि को कहते हैं जो वय स्थापन, आयु-मेधा और बलकारक तथा रोगों को नष्ट करने में समर्थ[4] होती है। कुटीप्रावेशिकादि इस को सेवन विधियों का वर्णन यथास्थान में किया जायगा। वाजीकरण का भावार्थ सक्षेप में यह है कि जो औषधि सतान आदि सुखों की देनेवाली और मैथुन के समय मनुष्य को वाजी (घोड़े) की तरह बल[5] देनेवाली होती है।**

रोगघ्न औषध के दो प्रकार—**रोगघ्न औषध के भी दो प्रकार हैं, एक रोगप्रशमनकर और दूसरा रोगापुनर्भवकर। इन में रोगप्रशमनकर वह औषध है जो केवल रोग का नाश करता है परन्तु रोगापुनर्भवकर वह औषध है जो रोग का नाश करके**

---

१ "भेषज द्विविध च तत्। स्वस्थस्योर्जस्कर किंचित्किंचिदार्तस्य" इति चरक । २ "रसायन हि तत्प्रोक्त यज्जराव्याधिनाशनम्।" इति तन्त्रान्तरे ३ "स्वस्थस्योर्जस्कर यत्तु तद्वृष्य तद्रसायनम् । प्राय दीर्घमायु स्मृतिं मेधामारोग्य तरुण वय । इत्यादि" । ४ "वय स्थापनमायुर्मेधाबलकर रोगापहरणसमर्थं चेति।" ५ "अपत्यसन्तानकर यत्सद्य सप्रहर्षणम्। वाजीवातिबलो येन यात्यप्रतिहत स्त्रिय ॥" इति चरक ।

मनुष्यशरीर में पुन उस रोग को उत्पन्न नहीं होने देता।

द्रव्याद्रव्यरूपेण औषध के दो प्रकार—और भी औषध के दो प्रकार है जैसे कि द्रव्य और अद्रव्य। यहा द्रव्यौषध भौम, औद्भिद और जङ्गमभेद से तीन प्रकार का माना गया है। इन में से भौमद्रव्य वे है जिन का वर्णन इसी अध्याय में आगे किया जायगा जैसे कि सोने से लेकर नमक तक वक्ष्यमाण द्रव्य। औद्भिद द्रव्य भी वनस्पति, वानस्पत्य, वीरुत् और औषधभेद से चार प्रकार का माना गया है। इन में वनस्पति वह है जिस में विना पुष्प के फल आते हैं जैसे कि गूलर, वट, अश्वत्थादि। वानस्पत्य वह है जिस में पुष्प आने के अनन्तर फल आते है जैसे कि आम, निम्ब आदि। वीरुत् औषधि वह है जो लता (बेल) गुल्मवाली अथवा भूमि से सलग्न सूक्ष्म शाखावाली होती है। औषधी वह है जो फल और पाक के अन्त मे नष्ट हो जाती हैं जैसे कि गेहूँ, यव आदि आदि। प्राणियों से उत्पन्न होनेवाले द्रव्य जङ्गम कहलाते हैं—जैसे कि शहद, घृत, कस्तूरी, अम्बर आदि आदि।

इस प्रकार भौम, औद्भिद और जङ्गमभेद से द्रव्यौषधि का सक्षेप में वर्णन हुआ। अब आचार्य अद्रव्यौषधि का वर्णन करते हैं। विना द्रव्य के औषधि (चिकित्सा) का नाम अद्रव्यौषधि है। यथा—

अद्रव्य पुनरुपवासानिलातपच्छायामन्त्रसान्त्वदानभयोत्त्रासक्षोभणहर्षणभर्त्सनस्वप्नजागरणसवाहनादि।

अद्रव्यौषधियों का वर्णन—उपवास, वायु का सेवन, धूपका सेवन, छाया, मन्त्र, शान्तिप्रदान करना, दान, भय, विशेष त्रास, क्रोध करना, हर्षण (हर्ष की बात सुनाना), फटकारना, सोना, जागरण करना और सवाहन (शरीर को मलना) ये अद्रव्य औषध हैं अर्थात् इन में द्रव्यकी आवश्यकता नही होती किन्तु इन अद्रव्यों से भी रोग का नाश हो जाता है।

विशेष वक्तव्य—अनिल (वायु) को शास्त्रकारोंने द्रव्य माना है किन्तु सकलेन्द्रियग्राहित्व एव प्रत्यक्षगोचरत्व न होने से वायु को केवल यहीं व्यवहारार्थ अद्रव्य माना है परन्तु वस्तुत वायु द्रव्य है।

जिस के ऊर्जस्करत्व तथा रोगघ्नत्व ऐसे दो भेद माने गए हैं उसी औषधि के पुन तीन प्रकार बताते हैं। यथा—

पुनरपि च त्रिविधमौषधं दैवव्यपाश्रय युक्तिव्यपाश्रय सत्त्वावजयश्चेति। तत्र दैवव्यपाश्रयं मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिधानगमनादि। युक्तिव्यपाश्रयमाहारौषधयोजनादि। सत्त्वावजय पुनरहितान्मनोनिग्रह।

औषधि के और भी तीन प्रकार—ऊर्जस्करत्व और रोगघ्नत्व ऐसे द्विविध औषधि के और तीन प्रकार कहे है (१) दैवव्यपाश्रय (२) युक्तिव्यपाश्रय और सत्त्वावजय। इनमे दैवव्यपाश्रय औषधि वह है जिसमे मन्त्र, औषधि, मणि, मङ्गल, बलिदान, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्तिवाचन, प्रणिधान-प्रणिपात (ईश्वरपूजन-परमात्मा को नमस्कार), तीर्थस्थानगमनादि विधियों का अवलम्बन किया जाता है। युक्तिव्यपाश्रय औषधि वह है जिसमें आहार और ओषधियोजनादि किए जाते हैं। सत्त्वावजय उसे कहते है जिसमें अहितकारी मिथ्या आहारविहारादि की ओर जाते हुए मनको रोका जाता है। साराश, मिथ्याहारविहार एव पापप्रवृत्ति से मनको रोकने का नाम सत्त्वावजय चिकित्सा है।

इनके अतिरिक्त और भी औषधि के तीन प्रकार माने गए है। यथा—

पुनरपि च त्रिविधम्। अपकर्षण प्रकृतिविधान[1] निदानत्यागश्च। ते पुनरपकर्षणादयो द्विविधा बाह्याभ्यन्तरभेदेन। तत्र बाह्यापकर्षण ग्रन्थ्यर्बुदोपपद्मकृमिशल्यादिषु शस्त्रहस्तयन्त्रादिभि। आभ्यन्तर पुनर्वमनविरेचनादिभि। प्रकृतिविधान सशमनम्। तद्बाह्यमभ्यङ्गस्वेदप्रदेहपरिषेकोन्मर्दनादि। आभ्यन्तर यदन्तरमनुप्रविश्याविक्षोभयद्दोषान् शमयति। निदानत्यागो यथादोष शीतोष्णासन[2]व्यायामादीना वर्जनम्, स्निग्धरूक्षाद्यनभ्यवहारश्च। तत्र शस्त्रादिसाध्ये भेषजमनुक्रमते न तु भेषजसाध्ये शस्त्रादि।

औषध के और भी तीन प्रकार—अपकर्षण, प्रकृतिविधान तथा निदानत्याग ये और भी औषधि के तीन प्रकार माने गए है। ये अपकर्षणादि भी बाह्य एव अन्तर्भेद से दो दो प्रकार के कहे गए है जैसे कि बाह्यापकर्षण तथा अन्तरपकर्षण, बाह्यप्रकृतिविधान और अन्त प्रकृतिविधान ऐसे ही निदानत्याग।

यहा बाह्य अपकर्षण उसे कहते है जो ग्रन्थि, अर्बुद, उपपद्म, कृमि, शल्य आदि रोगों मे शस्त्र, हाथ एव यन्त्रादि द्वारा किया जाता है अर्थात् उक्त रोगों को शस्त्र, हस्त एव यन्त्रों द्वारा बाहर से ही दूर कर दिया जाता है। अन्तरापकर्षण वह है जिसमें वमन, विरेचनादि कराकर भीतर के दोषों को नष्ट कर दिया जाता है।

प्रकृतिविधान का दूसरा पर्याय सशमन है जिसके द्वारा देहस्थ दुष्ट दोषादि को शमन करके उन्हें साम्यावस्था में लाना है। जो दोषों को बाहर नहीं निकालती किन्तु उनकी दुष्टता को शरीर मे ही शान्त कर देती है, साम्यावस्थावाले दोषों को नहीं छेडती, विषम दोषों को साम्यावस्था मे लाती है उस चिकित्सा को सशमन[3]-चिकित्सा कहते है। यही अन्त सशमन चिकित्सा है या अन्त प्रकृतिविधान है। बाह्यप्रकृतिविधान या बाह्यसशमन चिकित्सा वह है जो अभ्यङ्ग, स्वेद,

१ "वानस्पत्य फलै पुष्पात्तैरपुष्पाद्वनस्पति। औषधि फलपाकान्ता॥ लता प्रतानिनी वीरुद्गुल्मि युलप इत्यपि" इत्यमरकोष।

२ "अनिलस्यासकलेन्द्रियग्राहित्वादमूर्तत्वाच्चाद्रव्यत्वमत्रैव व्यवहारार्थम्।" इतीन्दु। ३ "प्रणिपात' इत्यपि पाठान्तरम्।

१ प्रकृतिविघाते इत्यपि पाठ। २ शीतोष्णाशन इ० पा०।
३ "न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि। समीकरोति विषमान् शमन तच्च सप्तधा। पाचन दीपन क्षुत्तृड्व्यायामातपमारुता॥" इति।

प्रदेह, परिषेक (तरेडा), उन्मर्दनादि क्रियाओं द्वारा की जाती है। यह सशमन-चिकित्सा तथा प्रकृतिविधान सात प्रकार का है जैसे कि पाचन, दीपन, क्षुधा, तृषा, व्यायाम, धूप एव वायु का सेवन।

निदानत्याग उसे कहते हैं जिसमे वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषों के अनुसार रोगादि के कारण शीत, उष्ण, आसन तथा व्यायाम आदिका तथैव स्निग्ध, रूक्ष आदि आहार का परित्याग कराया जाता है। साराश, निदानत्याग उन आहार-विहार आदिका छोडना है जिनसे रोग की उत्पत्ति हुई है।

ध्यान रहे कि शस्त्रक्रियासाध्य रोग को ओषधि दूर कर सकती है परन्तु औषधिसाध्य ग्रहणी आदि रोगों को शस्त्र क्रिया दूर नही कर सकती।

पुनरपि त्रिविध हेतुविपरीत व्याधिविपरीतमुभयार्थकारि च। तत्र हेतुविपरीत गुरुस्निग्धशीतादिजे व्याधौ लघुरूक्षोष्णादि तथेतरस्मिन्नितरत्। व्याधिविपरीत द्वौ मूलोपक्रमौ (तौ च स्नेहस्वेदौ) लङ्घनबृहणे। पञ्चकर्माणि वमनादीनि सधूपधूमाञ्जनादीनि च। तथा विम्लापनोपनाहनपाटनादीनि।

पुनरपि औषधि के तीन भेद—अपकर्षणादि औषधि के तीन भेद कह कर फिर भी उसी औषधि के तीन भेद कहते है यथा (१) हेतुविपरीत (२) व्याधिविपरीत और (३) उभयार्थकारि अर्थात् हेतु और व्याधि इन दोनों के बिपरीत। यहा हेतुविपरीत औषध वह है जो व्याधि के हेतु गुरु, स्निग्ध और शीत के विपरीत क्रमश जैसे लघु, रूक्ष तथा उष्णगुणवाला औषध दिया जाता है इस लिए कि गुरु का विपरीत लघु, स्निग्ध का विपरीत रूक्ष एव शीत का विपरीत उष्ण है। इसी प्रकार व्याधि के हेतु यदि लघु, रूक्ष और उष्ण हैं तो वहा इनके विपरीत पूर्वोक्त गुरु, स्निग्ध एव शीतगुणवाली औषधि दी जाती है। विशेषत व्याधिविपरीत औषधि वहा प्रयुक्त की जाती है जहा हेतुविशेष की ओर नही देखा जाता। व्याधिविपरीत औषधि के मूल दो उपक्रम है प्रथम लङ्घन और दूसरा बृहण। लङ्घनचिकित्सा उसकी की जाती है जो व्याधि अनेक कारणों से है। जो अनेक कारणों से कृश है, उनके लिए बृहण-चिकित्सा की जाती है। साराश, स्थूल के विपरीत लङ्घनचिकित्सा है, वैसे ही कृशताबहुल व्याधि के लिए बृहण चिकित्सा है। पञ्चकर्म अर्थात् वमन, विरेचन, स्नेहन, स्वेदन और वस्ति, इसी प्रकार धूम्रपान, धूप, अञ्जन आदि ये सब इन उपक्रमों मे आते हैं। गुल्म आदि शस्त्रक्रियासाध्य व्याधियों के विपरीत विम्लापन, उपनाहन, पाटन आदि क्रिया की जाती है।

यच्च दोषशमनत्वे सत्यपि ज्वरे विशेषतो[१]ऽभिहित मुस्तापर्पटक यवाग्वश्च प्रमेहे रजनी यवान्न चेत्यादि। रक्तपित्ते चोर्ध्वगे विरेचनमधोगे वमनम्। उभयार्थकारि पुनर्दैवव्यपाश्रयमौषधम्। तथा छर्द्यां छर्दनमतीसारेऽनुलोमन[२] मदात्यये मद्यपान तुच्छदग्धेऽग्निप्रतपन पित्तेऽन्तर्गूढे[३] विमार्गगे वा स्वेद कट्वम्ललवणतीक्ष्णोष्णाभ्यवहारश्च बहि प्रवर्तनाय स्वमार्गापादनाय च। श्लेष्मणि चान्तर्निगूढे स्तब्धे बहि शीतोपचारस्तत्पीडितस्योष्मणोऽन्त प्रवेशेन कफविलयनायेति[१]। एव विध ह्यविपरीतमेव सद्भेषज हेतुव्याधिविपरीतमर्थं करोति।

अप्रधान विशेष—उपर्युक्त दोषशमन करते हुए भी अन्यान्य विशेष बातों पर ध्यान देना होता है जैसे कि ज्वरमें नागरमोथा, पित्तपापडा और अनेक प्रकारकी यवागू प्रशस्त होती है। इसी प्रकार प्रमेह में हल्दी तथा यवान्न नेक माना गया है। ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त मे जैसे विरेचन दिया जाता है तथा अधोगामी रक्तपित्त मे वमन कराया जाता है।

उभयार्थकारी औषधका वर्णन—उभयार्थकारी औषधि वह होती है जो हेतु और व्याधि इन दोनोंके विपरीत कार्य करनेवाली होती है। इसके भी दो प्रकार माने गए है दैवव्यपाश्रय और औषध। दैवव्यपाश्रय उपाय वह है जिसमे देवताराधन, हवन, बलि, मणि, मन्त्रादि द्वारा चिकित्सा की जाती है। औषधिद्वारा जैसे कि छर्दि रोगमे वमन, अतीसारमे विरेचन, मत्ययमे मद्यपान, थोडे जले हुएको अग्निसे तपाना, शरीरमे पित्तके कुपित होने या अन्य विपरीत मार्गगामी होनेपर उसको बाहर निकालनेके लिए या अपने मार्गपर लानेके लिए स्वेद तथा कटु, लवण, अम्ल, तीक्ष्ण एव उष्ण पदार्थोका सेवन कराना। इसी प्रकार कफके अन्तर्निगूढ (भीतर कुपित या स्तब्ध) हो जानेपर उस कफसे पीडित रोगीकी जठराग्नि को भीतर प्रविष्ट करके कफका नाश करनेके लिए बहिर्भागमे ठण्डा=शीतोपचार करना। इस प्रकार हेतु और व्याधिके अविपरीत औषध भी हेतु तथा व्याधिके विपरीत कार्य करनेवाली होती है।

अब क्रमप्राप्त अनौषधका वर्णन करते है यथा—

अनौषध पुनर्द्विविधमेव। बाधनमनुबाधन च। तत्र सद्य प्राणहर बाधन कालान्तरेणानुबाधनमिति। पर चातो रसवीर्यादिभेदेन यथास्थूलमौषधैकदेश उपदिश्यते।

अनौषधिकथन—अनौषध भी दो ही प्रकारका है एक बाधन और दूसरा अनुबाधन। यहा बाधन औषध उसे कहा है जो तुरन्त प्राणोंको हरण करता या मनुष्यको मार डालता है और अनुबाधन वह है जो सेवन करनेके अनन्तर कुछ कालके बीतनेपर प्राणोंको हरण करता है।

अब इसके आगे आचार्य रस-वीर्य आदिके भेदसे स्थूल मानसे अर्थात् थोडेमें औषधियोंके एक देशका उपदेश करते है।

सुवर्ण बृहण स्निग्ध मधुर रसपाकयो।
विषदोषहर शीत सकषाय रसायनम्॥
रूप्य स्निग्ध कषायाम्ल विपाके मधुर सरम्।
वयस स्थापन शीत लेखन वातपित्तजित्॥
ताम्र सतिक्तमधुर कषाय लेखन लघु।

१ विशेषतो हितम्। २ विरेचनम्। ३ निगूढे।

१ कफो विलयनामुपयाति इति पाठा तराणि।

कटुपाकरसं शीतं रोपणं कफपित्तजित् ॥
कांस्यं कषायानुरसं विशदं लेखनं लघु ।
दृष्टिप्रसादनं रूक्षं तिक्तं पित्तकफापहम् ॥
सतिक्तलवणं भेदि पाण्डुत्वक्रमिवातनुत् ।
लेखनं पित्तलं किञ्चित्त्रपु सीसं च तद्गुणम् ॥
चक्षुष्यं कृष्णलोहं च कषायं स्वादुतिक्तकम् ।
लेखनं वातलं शीतं क्रमिकुष्ठकफप्रणुत् ॥
गात्रशैथिल्यपालित्यपाण्डुघ्नं शोषशोफजित् ।
तद्वत्तीक्ष्णं विशेषेण तद्विकाषि सुदुर्जरम् ॥
पद्मरागमहानीलपुष्परागविदूरका ।
मुक्ताविद्रुमवज्रेन्द्रवैडूर्यस्फटिकादिकम् ॥
मणिरत्नं सरं शीतं कषायं स्वादु लेखनम् ।
चक्षुष्यं धारणात्तत्तु पापालक्ष्मीविषापहम् ॥
धन्यमायुष्यमोजस्यं हर्षोत्साहकरं शिवम् ।
सक्षारं उष्णवीर्यश्च काचो दृष्टिकृदञ्जनात् ॥
शंखोदधिमलौ शीतौ कषायावतिलेखनौ ।
तुत्थकं कटु सक्षारं कषायं विशदं लघु ॥
लेखनं भेदि चक्षुष्यं कण्डूक्रमिविषापहम् ।
विशदो गैरिकं स्निग्धः कषायमधुरो हिमः ॥
कफघ्नी तिक्तकटुका मनोह्वा लेखनी सरा ।
स्निग्धं कषायकटुकं हरितालं विषप्रणुत् ॥
कषायं मधुरं शीतं लेखनं स्निग्धमञ्जनम् ।
रक्तपित्तविषच्छर्दिहिध्माघ्नं दृक्प्रसादनम् ॥
स्रोतोऽञ्जनं वरं तत्र ततः सौवीरकाञ्जनम् ।
कफघ्नं तिक्तकटुकं छेदि सोष्णं रसाञ्जनम् ॥
स्वादु हिध्माप्रशमनं कासमेहक्षयापहम् ।
कफघ्नमुष्णं कटुकं शिलाजतु रसायनम् ॥
तिक्तं च च्छेदनं योगवाहित्वात्सर्वरोगजित् ।
विशेषात्कृच्छ्रमेहार्शःपाण्डुशोफकफापहम् ॥
कषाया मधुरा रूक्षा कासघ्नी वशरोचना ।
तुगाक्षीरी क्षयश्वासकासघ्नी मधुरा हिमा ॥

सुवर्ण के गुण—सोना बृंहण (पुष्टिकारक), स्निग्ध, रस और विपाक में मधुर, विष के दोष को हरनेवाला, शीतवीर्य, कुछ कसैला और रसायन (बुढापा को जल्दी न आने देनेवाला और रोगों का नाश करनेवाला) है।

रूपे के गुण—रजत (चांदी) स्निग्ध, कुछ कसैला, अम्ल रसवाला, विपाक में मधुर, सर (सारक-दस्तावर-सारे शरीर में प्रसरणशील), वय स्थापन, शीतवीर्य, लेखन, वायु और पित्त को जीतनेवाला है।

ताम्र के गुण—तांबा कुछ तिक्त और मधुर रस को लिए हुए कसैला, लेखन, लघु, रस और विपाक में कटु, शीतवीर्य, व्रणों को रोपण करनेवाला, कफ और पित्त को जीतनेवाला है।

कांसे के गुण—कांसा पीछे से कसैला, विशद, लेखन, हल्का (लघु), दृष्टि को साफ करनेवाला, रूखा, तिक्त, पित्त तथा कफ का नाशक है।

कथील के गुण—रांगा (वङ्ग) कुछ तिक्तता लिए हुए लवण रसवाला, सर, पाण्डु, कृमि और वायु का नाशक, लेखन एवं किंचित् पित्तकारक है।

सीसे के गुण—सीसा अर्थात् नाग भी वङ्ग के समान गुणवाला है।

लोहे के गुण—लोहा कसैला, मधुर, तिक्त, लेखन, वातकारक, शीतवीर्य, कृमि-कुष्ठ-कफ-गात्रशैथिल्य (शरीर का ढीलापन)-पालित्य (बालों का सुफेद होना), पाण्डुरोग-क्षयरोग और सूजन इन सब को दूर करनेवाला है।

तीक्ष्ण लौह के गुण—तीक्ष्ण लौह अर्थात् फौलाद उपर्युक्त लौह के सब गुणोंवाला होते हुए भी विशेषत विकासी और दुर्जर अर्थात् देर से पचनेवाला है।

माणिक्यादि के गुण—माणिक्य अर्थात् पद्मराग (सिंहल द्वीप का लाल माणिक्य[1]), महानील (नीलकान्त मणि या नीलम), पुष्पराज (पुखराज), विदूरक (वैडूर्य मणि का एक भेद), मोती, मूगा (विद्रुम), हीरा, वैडूर्य तथा स्फटिक आदि सब मणि और रत्न सर, शीतवीर्य, कषाय, मधुर, लेखन और चक्षुष्य (नेत्रों के लिये हितकारी) हैं। इतना ही नहीं, इन रत्नों को शरीर पर धारण करने से ये धन-धान्य के बढानेवाले, आयुष्य के देनेवाले, बल, हर्ष और उत्साह के देनेवाले, कल्याणकारी, पाप, दरिद्रता तथा विष के हरनेवाले हैं।

काच के गुण—काच कुछ क्षारयुक्त और उष्णवीर्य है तथा अञ्जन करने से काच दृष्टि को देनेवाला अर्थात् परवाल, फूला आदि का काटनेवाला है।

शख और समुद्रफेन के गुण—शख और समुद्रफेन ये दोनों शीतवीर्य, कषायरसवाले तथा अतिलेखन हैं।

तुत्थ के गुण—तुत्थ अर्थात् तूतिया (नीला थोथा) कुछ क्षारयुक्त, कटु, कषाय, लघु, अधिक मात्रा में पेट में पहुचने से मारक, लेखन, दस्तावर, नेत्रों के लिए हितकारी, कृमि-कण्डू (खुजली) और विष को दूर करनेवाला है।

गेरू के गुण—गैरिक अर्थात् सोना गेरू विशद, स्निग्ध, कषायरसवाला, मधुर और शीतवीर्य है।

मैनसिल के गुण—मन शिला रस में तिक्त और कटु, कफ को दूर करनेवाली, लेखन और सर है।

हरताल के गुण—हरताल, स्निग्ध, कषाय तथा कटुरसवाला और विषनाशक है।

सुर्मा के गुण—सुर्मा कषाय-मधुर-रसवाला, शीतवीर्य, लेखन, स्निग्ध, रक्तपित्त-विष-वमन तथा हिचकी का हरनेवाला है। सुर्मा विशेषत नेत्रों की ज्योति को बढानेवाला है। यहां अञ्जन के दो भेद हैं, स्रोतोञ्जन और सौवीराञ्जन। अञ्जनों में स्रोतोञ्जन श्रेष्ठ है और इस से भी अधिक श्रेष्ठ सौवीराञ्जन

१. सरम्। २ तु। ३ धान्य इति पाठान्तराणि।

१. "सिंहले तु भवेद्रक्त पद्मरागमनुत्तमम्।" इति तन्त्रान्तरे।

है। अञ्जन के विषय में बडामत भेद है। कई सुफेद सुर्मा को स्रोतोञ्जन कहते है तो कई काले सुर्मे को सौवीराञ्जन कहते हैं परन्तु वस्तुत काला सुर्मा स्रोतोऽञ्जन है और सुफेद सुर्मा सौवीराञ्जन है। इन दोनों मे सौवीराञ्जन (सुफेद सुर्मा) अधिक लाभकारी है। चक्रदत्त काले सुर्मे को सौवीराञ्जन कहते है और भावमिश्र सुफेद सुर्मे को जिनकी इच्छा हो चक्रदत्त तथा भावप्रकाश में देख ले।

रसोत के गुण—**रसाञ्जन अर्थात् रसोत कफनाशक, तिक्त और कटु रसवाला, छेदन तथा उष्णवीर्य है। यह दारुहल्दी के काढे तथा बकरी के दूध से तयार किया हुआ अत्युत्तम होता है।**

शिलाजीत के गुण—**शिलाजीत, मधुर, हिक्का को दूर करनेवाला, कास-प्रमेह और क्षयरोग का नाश करनेवाला, कफहारक, उष्णवीर्य, कटु रसवाला तथा रसायन अर्थात् बुढ़ापे को जीतनेवाला तथा समस्त रोगों का नाशक है। यह (शिलाजीत) तिक्त और छेदन भी है। यह योगवाहि होने के कारण नानानुपानों से सब रोगो को जीतनेवाला है। इन के अतिरिक्त यह मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह, अर्श, पाण्डु, शोथ एव कफ के रोगों को विशेष करके जीतनेवाला है।**

विशेष वक्तव्य—**वाग्भटाचार्य ने शिलाजतु का वर्णन करते हुए उसे पहले स्वादु अर्थात् मधुर कहा है। इसके अनन्तर इसे उष्णवीर्य, कटु और तिक्त भी कह डाला है। पाठक यह देखकर भ्रम में न पडे। वाग्भटाचार्य कभी भी भूल करने वाले नहीं हैं। शिलाजीत वस्तुत मधुर, समशीतोष्णवीर्य, उष्णवीर्य, कटु, तिक्त आदि सब कुछ है। आचार्यों ने इसे सुवर्ण-रजत-ताम्र-लौह-योनिभेद से चार प्रकार का माना[1] है और तत्तद् योनि के अनुसार शिलाजतु के रस, वीर्य, विपाकादि का कथन किया है। भगवान् धन्वन्तरि के मत में योनिभेद से यह छ प्रकार का माना[2] गया है और कहा गया है इसे योगवाहि आदि होनेसे मधुमेह, क्षयादि भयकर व्याधियों को दूर करनेवाला भी। हमने आचार्यों के शिलाजतुविषयक वर्णन का बारबार अनुभव किया है और तदनुसार ही इसे एक अमोघ औषधि के रूप मे पाया है। विस्तारभय से हम विशेष न लिखकर पाठकों से अनुरोध करते हैं कि वे सुश्रुत सहितान्तर्गत चिकित्सास्थान के मधुमेहचिकित्सित नामक १३ वें अध्याय एव एतद्विषयक अन्य तन्त्रों के प्रकरणों को भी अवश्य देख और शिलाजतु से लाभ उठावें।**

बसलोचन के गुण—**वसलोचन कषाय रसवाला, मधुर, रूक्ष और खांसी को दूर करनेवाला है।**

तुगाक्षीरी के गुण—**तवखीर (वसलोचन का एक भेद) क्षय, कास और श्वास रोग का नाशक, मधुर रसवाली तथा शीतवीर्य है।**

अब आचार्य सब प्रकार के लवणों और क्षारों का वर्णन करते हुए कहते है कि—

विष्यन्दि[5] लवण सर्व सूक्ष्म सृष्टमल मृदु[1]।
वातघ्न पाकि तीक्ष्णोष्ण रोचन कफपित्तकृत् ॥
सैन्धव तत्र सस्वादु वृष्य हृद्य त्रिदोषनुत्।
लघ्वनुष्ण दृश पथ्यमविदाह्यग्निदीपनम् ॥
लघु सौवर्चल हृद्य सुगन्ध्युद्गारशोधनम्।
कटुपाक विबन्धघ्न दीपनीय रुचिप्रदम् ॥
ऊर्ध्वाध कफवातानुलोमन दीपन विडम्।
विबन्धानाहविष्टम्भशूलगौरवनाशनम्[6] ॥
विपाके स्वादु सामुद्र गुरु श्लेष्मविवर्धनम्।
सतिक्तकटुक क्षार तीक्ष्णमुत्क्लेदि चौद्भिदम् ॥
कृष्णे सौवर्चलगुणा लवणे गन्धवर्जिता।
रोमक लघु पासूत्थ सक्षार श्लेष्मल गुरु ॥
लवणाना प्रयोगे तु सैन्धवादि[2] प्रयोजयेत्।
गुल्महृद्ग्रहणीपाण्डुप्लीहानाहगलामयान् ॥
श्वासार्श कफकासाश्च शमयेद्यवशूकज।
स्वर्जिका तद्गुणान्न्यूना क्षारेण तु ततोऽधिका ॥
क्षार सर्वश्च[3] परम तीक्ष्णोष्ण कृमिजिल्लघु।
पित्तास्रदूषण[4] पाकी छेद्यो हृद्यो विदारण ॥
अपथ्य कटुलावण्याच्छुक्रौज केशचक्षुषाम् ॥

नमक के सर्वसामान्य गुण—**सब प्रकार के नमक (लवण) विष्यन्दि[5] अर्थात् जमे हुए कफ आदि को पतला करनेवाले, सूक्ष्म (स्रोतोगामि), मल-मूत्र को साफ विसर्जन कराने वाले, मृदु, वातनाशक, पाचक, तीक्ष्ण, उष्ण, रुचिकारक, कफ और पित्त को करनेवाले हैं। अब इनका भिन्न भिन्न वर्णन करते हैं।**

सैन्धव नमक के गुण—**सैन्धा नौन कुछ मधुर, वृष्य, हृदय के लिये हितकारक, त्रिदोषनाशक, हलका, कुछ उष्ण, नेत्रों के लिए पथ्य, अविदाहि (कुछ दाह करनेवाला) तथा जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाला है।**

सोंचर नमक के गुण—**सौवर्चल अर्थात् सोंचर नमक लघु, हृद्य, सुगन्धि, दुष्ट डकार की शुद्धि करनेवाला या साफ डकार लानेवाला, पाक में कटु, स्रोतों के विबन्ध को दूर करनेवाला[6], जाठराग्निप्रदीपक और रुचिकारक है इसीलिए इसका नाम रुचक है।**

विड नमक के गुण—**बिड अर्थात् बिरिया नमक (सौवर्चल का ही एक भेद) लोम (विपरीत) हुए कफ और वायु का अनुलोमन करनेवाला अर्थात् क्रमश ऊर्ध्व तथा अधोभाग की ओर करनेवाला, अग्निप्रदीप्तकर्ता, विबन्ध (मलावरोध),**

१ "निदाघे घर्मसतप्त धातुसार धराधरा। निर्यासवत्प्रमुञ्चन्ति तच्छिलाजतु कीर्तितम्॥ सौवर्ण राजत ताम्रमायस च चतुर्विधम्। शिलाज कटुतिक्तोष्ण कटुपाक रसायनम्॥" इत्यादि भावमिश्रा। २ "त्रप्वादीनां तु लोहाना षण्णामन्यतमान्वयम्। ज्ञेय स्वगन्धतश्चापि षड्योनि प्रथित क्षितौ॥" इति सुश्रुत।

१. विदु। २ सैन्धवादीन्। ३ वाताश्च। ४ पित्तासृग्दूषण। इति पाठान्तराणि। ५ "विष्यन्दि, स्त्यानस्य कफादिसघातस्य विलीनविग्रहतामुत्पादयतीत्यर्थ।" इत्यरुणदत्त। ६ "विबन्ध स्रोतसाम्" इतीन्दु।

आनाह (पेटका फूलना), विष्टम्भ (वायु[1] का अवरोध), शूल तथा गौरव (शरीर का भारीपन) इन सबका नाशक है।

सामुद्र नमक के गुण—पागा (समुद्र नमक) विपाक मे मधुर, गुरु और कफ को बढानेवाला है।

खारी नमक के गुण—खारी नमक (औद्भिद) कुछ तिक्त, कटु, क्षार और उत्क्लेदन कर्ता अर्थात् रस-रक्तादि धातुओं को ढीला करनेवाला है।

काले नमक के गुण—काला नमक (सोंचर नमक का भेद) सोंचर नमक के समान गुणवाला होते हुए भी इसमे सोंचर नमक के जैसा गन्ध नहीं होता।

साभर नमक के गुण—साभर नमक (रौमक लवण) जो कि साभर झील से पैदा होता है अथवा वहा की मिट्टी पर जमता है वह लघु, कुछ क्षारयुक्त, कफकारक और गुरु है। अन्य तन्त्रकारों ने इसके स्निग्ध, रुचिकारक, ठडा, वृष्य[2], सूक्ष्म, नेत्रों को हितकारी और त्रिदोषनाशक ये गुण अधिक लिखे हैं।

लवणप्रयोगविधि—उपर्युक्त लवणोंके प्रयोग मे जहाँ एक लवण, लवणद्वय, लवणत्रय, लवणचतुष्टय या लवणपञ्चक कहा हो तो वहा सैन्धवादि लवणों का क्रमसे प्रयोग करना चाहिए। साराश यह कि एक लवण में सैन्धव, लवणद्वय[3] मे सैधव-सौवर्चल, लवणत्रय मे सैन्धव, सौवर्चल, विड इत्यादि प्रयोग में लेने चाहिए।

जवाखार के गुण—यवक्षार गुल्म, हृद्रोग, सग्रहणी, पाण्डु, प्लीह, आमाह, गले के (कण्ठगत रोग), श्वास, अर्श, कफ, कास (वायु का कास) इन सब रोगों को शमन करनेवाला है।

सज्जीखारके गुण—सज्जीखार अर्थात् स्वर्जिका जवाखारसे कुछ न्यून गुणवाली है परन्तु इसमें जवाखारकी अपेक्षा खार अधिक रहता है।

सब प्रकारके क्षारोंके गुण—सामान्यतया सब प्रकारके क्षार अतितीक्ष्ण, उष्ण, कृमिरोगनाशक, लघु, पित्त तथा रक्तको दूषित करनेवाले, पाचक, छेद्य अर्थात् मेद, कफ और ग्रन्थि आदिके[4] छेदनेवाले पके फोड़ोंको फोडनेवाले, कटु, नमकीन होनेके कारण वीर्य, ओज (बल), केश और नेत्रोंके लिए हानिकारक हैं।

इस प्रकार लवण और क्षारवर्गका वर्णन करके अब आचार्य हरीतकी आदि औषधियोंके गुणोंका वर्णन करते हैं।

पथ्या कषायभूयिष्ठा स्वादु पाके रसात्यये ।
रसैः पञ्चभिरायुक्ता रूक्षा विलवणा लघु[5] ॥
दीपनी पाचनी मेध्या वयस स्थापनी परम् ।
उष्णवीर्या सराऽऽयुष्या बुद्धीन्द्रियबलप्रदा ॥
कुष्टवैवर्ण्यवैस्वर्यपुराणविषमज्वरान् । ।
शिरोऽक्षिपाण्डुहृद्रोगकामलाग्रहणीगदान् ॥
सशोषशोफातीसारमेहमोहवमिकृमीन्[1] ।
श्वासकासप्रसेकार्शःप्लीहानाहगरोदरम् ॥
विबन्ध स्रोतसा गुल्ममूरुस्तम्भमरोचकम् ।
हरीतकी जयेद्व्याधीस्तास्ताश्च कफवातजान् ॥
तद्वदामलक शीत माधुर्यात्पित्तजित्परम् ।
कफ कटुविपाकित्वादम्लत्वान्मारुत जयेत् ॥
पर च कण्ठ्य चक्षुष्य हृद्य दाहज्वरापहम् ।
आक्ष तु तद्गुणान्न्यून[2] कषायमधुर हिमम् ॥
कासश्वासगलश्लेष्मपित्तशुक्रहर लघु ।
पर केश्यस्तु तन्मज्जा शुक्रघ्न च ततोऽञ्जनम् ॥
इय रसायनवरा त्रिफलाद्यामयापहा ।
रोपणी त्वग्गदक्लेदमेदोमेहकफास्रजित् ॥

हरड के गुण—हरीत की सदा पथ्या (हित करनेवाली), अधिक कषाय रसवाली, भरपूर रसोंकी अवस्थामें मधुर विपाकवाली, विलवणा अर्थात् केवल एक लवणरससे हीन, पाच रसोंसे युक्त (मधुर, अम्ल, कटु, तिक्त और कसैली), लघु, रूक्ष, अग्निप्रदीप्त करनेवाली, आमादि दोषोंको पचाने वाली, मेधाबुद्धिको बढ़ानेवाली, आयुको स्थिर करनेमें श्रेष्ठ, उष्णवीर्य, सर (दस्तावर) एव शरीरके सब स्रोतोंमें पसरने वाली (सर्वस्रोतव्यापिनी), आयुकी देनेवाली, बुद्धि और इन्द्रियोंको बल देनेवाली, कुष्ट-विवर्णता-स्वरभेद-पुराना विषम—ज्वर—शिरोरोग-नेत्ररोग-पाण्डुरोग-हृद्रोग-कामला-सग्रहणी-राजयक्ष्मा (शोष)-सूजन-अतीसार-प्रमेह-मूर्च्छा-पेटका फूलना (आनाह)-गर (कृत्रिम विष)-उदररोग-शारीरिक स्रोतों का रुकना-गुल्म (बायगोला)-ऊरुस्तम्भ-अरोचक-कफ और वायुसे उत्पन्न होनेवाले रोग इन सबको जीतती है अर्थात् हरड इन सब व्याधियोंको हरनेवाली है। यद्यपि यहां मूलमे हरीतकीको कफ और वातसे उत्पन्न रोगोंको हरनेवाली ही कही है परन्तु महर्षि खारणादिके कथनानुसार हरड पित्तविकारोंको भी हरनेवाली है। वात-कफ-विकार हरने मे मुख्य कारण हरडका उष्णवीर्यत्व है किन्तु कषाय-मधुरत्वके कारण हरड पित्तशामक भी है ऐसा खारणादि या खरनादका कथन[3] है।

आमला के गुण—हरड़के समान गुणवाला होने पर भी आमला शीतवीर्य है और वह त्रिदोषनाशक है अर्थात् आमला अपनी मधुरतासे पित्तको, कटुविपाकी होनेके कारण कफको और अम्ल होनेके कारण वायुको जीतनेवाला है। इतना ही नहीं, आमला कण्ठ, नेत्र और हृदयके लिए भी परम हितकारी है तथा दाहज्वरको भी नष्ट करनेवाला है।

बहेडा के गुण—बिभीतक अर्थात् बहेडा यह आमलासे

१ विबन्धो मलावरोध । आनाहो बद्धोदरता। विष्टम्भो वातावरोध इति हेमाद्रि ।

२ स्निग्ध रुच्य हिम वृष्य सूक्ष्म नेत्र्य त्रिदोषहृत्। शाकम्भरीय कथित गुडाख्य रौमक तथा।॥ इति भावमिश्रा । ३ यत्र त्वेक लवण द्वे लवणे त्रीणि लवणानीत्यादिसख्यया प्रयोगस्तत्र सैन्धवादिर्यथास्थितक्रमो योज्य । सैधव, सैन्धवसौवर्चले, सैन्धवसौवर्चल बिडान्येवमन्येऽपि इतीन्दु । ४ छेदी-मैद श्लेष्मादिग्रन्थिच्छ । विदारण पक्वगण्डादीनामित्यरुणदत्त । ५ कषाया मधुरा पाके रूक्षा विलवणा लघु । इति इ द्ररुणदत्तादिसम्मतपाठ ।

१ क्रिमीन्। २ तद्गुणन्यूनम्। ३ "स्वाद्वम्लभावात्पवन कटु तिक्ततया कफम्। कषायमधुरत्वाच्च पित्त हन्ति हरीतकी॥" इति।

कुछ न्यून गुणोंवाला है, कषाय और मधुर रसवाला तथा शीतवीर्य है। बहेडा श्वास, कास, गलेके रोग, कफ, पित्त और वीर्यको हरनेवाला है, लघु (हलका) है। इसके फलका गूदा केशोंके बढानेमे परम श्रेष्ठ है और इसका अञ्जन नेत्रके कृष्णभागमें होनेवाले सव्रण और अव्रण शुक्ररोगका नाश करनेवाला है।

त्रिफला के गुण—हरड, बहेडा और आवला इन तीनोंके मिलनेसे त्रिफला कहलाती है। त्रिफला परम रसायन है तथा नेत्रके रोगों को हरनेवाली, व्रणोंकी रोपण करनेवाली, कुष्ठ आदि चमडीके रोग, क्लेद (व्रणोंका स्राव), मेद, प्रमेह, कफ, रक्त इन सब रोगोंको शमन करनेवाली है।

विशेष वक्तव्य—ऊपर मूलमे तथा उसके भाषानुवादमें बहेडाको शीतवीर्य लिखा है परन्तु अष्टाङ्गहृदयकी टीकामे हेमाद्रिने "कटु पाके हिम,, इसमे अकार श्लेष मानकर बहेडा को अहिम अर्थात् उष्णवीर्य कहा है जो कि सुश्रुतके मतसे ठीक भी प्रतीत होता है।

त्रिफलाके अनन्तर अब आचार्य चतुर्जात आदि औषधियोंके गुणोंका वर्णन करते हुए कहते है कि—

पत्रक कफवातघ्न त्रिसुगन्धि त्रिजातकम्[२] ।[१] ।
केसर रक्तगुदजविषपित्तकफापहम्[३] ॥
तद्युक्त तच्चतुर्जात नातिशीतोष्णमुच्यते ।
पित्तप्रकोपि तीक्ष्णोष्ण रूक्ष रोचनदीपनम् ॥
रसे पाके च कटुक कफघ्न मरिच लघु ।
श्लेष्मला स्वादुशीतार्द्रा गुर्वी स्निग्धा च पिप्पली ॥
सा शुष्का विपरीतात स्निग्धा वृष्या रसे कटु ।
स्वादुपाकानिलश्लेष्मकासश्वासापहा[४] सरा ॥
न तामत्युपयुञ्जीत रसायनविधिं विना ।
नागर दीपन वृष्य ग्राहि हृद्य विबन्धनुत् ॥
रुच्य लघु स्वादुपाक स्निग्धोष्ण कफवातजित् ।
तद्वदार्द्रकमेतच्च त्रय त्रिकटुक जयेत् ॥
स्थौल्याग्निसदनश्वासकासश्लीपदपीनसान् ।
चविका पिप्पलीमूल मरिचाल्पान्तरं गुणै ॥
चित्रकोऽग्निसम' पाके शोफार्श क्रिमिकुष्ठहा ।
पञ्चकोलकमेतच्च मरिचेन विना स्मृतम् ॥
गुल्मप्लीहोदरानाहशूलघ्न दीपन परम् ।

पत्रज के गुण—तेजपात कफ और वायुको हरनेवाला है।

त्रिसुगन्धि या त्रिजातक के गुण—तज (दालचीनी), पत्रज और इलायची ये तीनों त्रिसुगन्धि कहलाते है और इन ही को कई त्रिजातक कहते हैं। इन तीनोंमें नागकेसर मिलानेसे इनकी चतुर्जात सज्ञा होती है। यह न तो अतिशीत है और न अत्युष्ण।

नागकेसर के गुण—नागकेसर रक्तार्श अर्थात् खूनी बवासीर, विष, पित्त और कफको दूर करनेवाला है।

चतुर्जातक के गुण—चतुर्जात अर्थात् तज, पत्रज, इलायची और नागकेसर यह पित्तको प्रकुपित करनेवाला है तथा तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, रूक्ष, रुचिकारक एव जठराग्निप्रदीपक है।

विशेष वक्तव्य—कई लोग नागकेशरवत् चतुर्जातकको न अति उष्ण तथा न अति शीत समझते हुए उसके तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, रूक्षादि गुणोंमे शङ्का करते हुए "तद्युक्त तच्चतुर्जातम्" इत्यादि पद्यके उत्तरार्धको मरिचके गुणोंके साथ पढ़ते है परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि त्रिफलाकी तरह त्रिजातकचतुर्जात कके व्यवहारमें उसके पित्त-प्रकोपादि गुणोंके विषयमे शका करना व्यर्थ है इसलिए कि किसी भी तन्त्रकारनेचातुर्जातके पित्तप्रकोपादि गुणोंके विपरीत नहीं लिखा है अपितु चिकित्सा कलिकाकारने इससे मिलता जुलता ही वर्णन किया है। साराश, पित्तप्रकोपि आदि गुण मरिचके नहीं हैं, चतुर्जात एव त्रिजातकके ही है। अरुणदत्त-हेमादि आदि प्राचीन आचार्योका यह मत होनेपर भी हमारा निजी अनुभव है कि नागकेशर, तज, पत्रज एव इलायचीका उपयोग करनेपर इससे रक्तार्श (खूनी बवासीर) का शमन हुआ है। किसी भी प्रकारसे गिरता हुआ रक्त सौम्यानुपानके साथ चातुर्जातके देने से अवश्य बन्द हो जाता है। इतना ही नहीं, केवल तज और मिश्री समभागमें मिश्रीके साथ देने से चाहे जैसे भ्रम या चक्कर आते हों बन्द हो जाते है। हेमाद्रि आदि जैसे आचार्योंके कथनपर ननु नच करना छोटे मुँह बडी बात करना है अत पाठक क्षमा करेंगे किन्तु हमारी साग्रह प्रार्थना है कि हमारे लेखानुसार भी पाठक अवश्य अनुभव करके देखे।

मरिच के गुण—काली मिरच रस और पाक में कटु, कफ नाशक तथा लघु है। हेमाद्रि आदि के अतिरिक्त यदि उन के मतानुसार जो ऊपर के आधे श्लोक को मरिच के गुणों में मानते है, उन के मतानुसार मरिच रस-पाक में कफ नाशक, लघु, पित्त को कुपित करनेवाली, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, रूक्ष, रुचिकारक एव जठराग्नि को दीपन करनेवाली है।

पीपल के गुण—पिप्पली यदि गीली हो तो वह कफकारक, मधुर रसवाली, शीतवीर्य, गुरु और स्निग्ध है। सूखी पीपल इन कथित गुणों से विपरीत स्निग्ध, वृष्य, पाक और रस में मधुर, वात, कफ, श्वास और खासी को शमन करनेवाली, सर (दस्तावर या शरीर के सब स्रोतों में व्याप्त होनेवाली) है। वर्धमान पीपल आदि रसायनविधि के अतिरिक्त पीपल का अधिक सेवन नही करना चाहिए इसलिए कि आचार्यों के मत मे पिप्पली, क्षार और नमक इन का सेवन अधिक मात्रा मे करना हानिकारक है। पिप्पली योगवाहिनी है अत इस का अधिक प्रयोग अन्य द्रव्यों के साथ हो सकता है परन्तु

---

१ "भेदन लघु रूक्षोष्ण वैस्वर्यं क्रिमिनाशनम्। चक्षुष्य स्वादु पाक्यच्च कषाय कफपित्तजित् ॥" इति।

२ सकेसर चतुर्जात त्वक्पत्रैल त्रिजातकम्। इत्यपि पाठ।

३ केसर रक्तगुदजे यादि पद्यमेक इन्दुव्याख्याग्रन्थे नास्ति।

४ श्वासकासापहा इति पाठान्तरम्। ५ केचित्पूर्वार्धमपठित्वोत्तरार्द्ध मरिचेन योजयन्ति तदसत्। त्रिफलावत्त्रिजातकचतुर्जातकाभ्यामपि व्यवहारात्पित्तप्रकोपित्वादिगुणयोगशकाया निर्बीजत्वाच्च। नहि त न्त्रान्तरे एतत्प्रतिकूलगुणा उक्ता किन्त्वनुकूला। यथा चिकित्सा कलिकाया (श्लो०६०) त्वक्पत्रकैल त्रिसुगन्धमेतत्प्रकीर्तित वातकफ प्रहारि। वर्ण्यं विषघ्न च सनागपुष्प ज्ञेय चतुर्जातकमेतदेव॥ इति हेमाद्रि।

अकेली पिप्पली प्रचुर मात्रा में अवश्य हानि करनेवाली होती है।

सोंठ के गुण—शुंठी अग्नि को प्रदीप्त करनेवाली, वृष्य, ग्राहिणी (मलका अवरोध करनेवाली), हृदय के लिए हित कारिणी, विबन्ध (वायु का अवरोध) को दूर करनेवाली या रुके हुए स्रोतों को खोलनेवाली, रुचिकारक, लघु, पाक मे मधुर, स्निग्ध, उष्णवीर्य, कफ और वायु की हरनेवाली है।

अदरक के गुण—सौंठ के समान ही अदरक के गुण है तथापि सौंठ अदरकसे लघु अर्थात् हल्की है।

त्रिकटु के गुण—सौंठ, मिरच, पीपल ये तीनों समभाग में मिले हुए त्रिकुटा या त्रिकटु कहलाते हैं। त्रिकटु मेदोरोग (स्थूलता), अग्निमान्द्य, श्वास, कास, श्लीपद (हाथीपाव) और पीनस रोग को हरनेवाला है।

चव्य और पीपलामूल के गुण—चव्य और पीपरामूल ये दोनों काली मिरच के समान गुणवाले है अर्थात् ये भी रस और विपाक में कटु, कफनाशक, लघु तथा उष्णवीर्य हैं। मूल में गोल मिरच और चव्य-पीपरामूल के गुणों में कुछ थोड़ा अन्तर बताया है इसका भावार्थ यह है कि चव्य और पीपरामूल मरिच से कुछ विशेष गुणवाली है। पीपलामूल उष्ण होते हुए भी निद्रा लाती है यह उस के प्रभाव से जानना चाहिए।

चित्रक के गुण—चित्रक पचनक्रिया में अग्नि के समान है और शोथ, अर्श, कृमि तथा कुष्ट को नाश करनेवाला है।

पञ्चकोल के गुण—मरिच को छोड़कर पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक और सौंठ इन पाच वस्तुओं के समान भाग में मिलने से इन की पञ्चकोल संज्ञा होती है यथा-"पिप्पलीपिप्पली मूलचव्यचित्रकनागरैः पञ्चकोलमिति ख्यातम्" यह पञ्चकोल गुल्म, प्लीह, उदर, आनाह तथा शूलरोग का नाशक है-जठराग्नि के प्रदीप्त करने में श्रेष्ठ है।

अब आचार्य दशमूलादि कई पञ्चमूलों एव उन के गुणों का वर्णन करते है—

बिल्वकाश्मर्यतर्कारीपाटलाटिण्टुकैर्महत् ।
जयेत्कषाय तिक्तोष्ण पञ्चमूल कफानिलौ ॥
ह्रस्व बृहत्यंशुमतीद्वयगोक्षुरकै स्मृतम् ।
स्वादुपाकरस नातिशीतोष्ण सर्वदोषजित् ॥
बलापुनर्नवैरण्डै शूर्पपर्णीद्वयेन च ।
मध्यम कफवातघ्न नातिपित्तकर लघु ॥
अभीरुवीराजीवन्तीजीवकर्षभकै स्मृतम् । ।
जीवनाख्य तु चक्षुष्य वृष्य पित्तानिलापहम् ॥
तृणाख्य शरदर्भेक्षुशालिकाशैस्तु पित्तजित् ।
अजशृङ्गी हरिद्रा च विदारी सारिवामृता ॥
बल्याख्यं कण्टकाख्य तु श्वदंष्ट्राभीरुसैर्यकैः ।
सहिंस्राकरमर्दाकै सर्वदोषहरे च ते ॥

बृहत्पञ्चमूल के गुण—बेल, खम्भारी, अरणी (अग्निमन्थ), पाटला तथा अरलू की जड़ इन पांचों के मूल को बृहत्पञ्च मूल कहते है। यह कषाय और तिक्त रसवाला, उष्णवीर्य, वायु एव कफ को जीतनेवाला है।

लघु पञ्चमूल के गुण—छोटी और बडी ये दोनों कटेरी, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी तथा छोटे गोखरू इन पाचों के मूल लघु पञ्चमूल कहलाता है। यह रस और पाक में मधुर, कुछ शीत और कुछ उष्ण अर्थात् किञ्चित् शीत और कुछ उष्ण (न अति शीत और न अति उष्ण) तथैव सर्वदोष (त्रिदोष) को जीतनेवाला है।

मध्यम पञ्चमूल के गुण—बला (खिरेटी) पुनर्नवा (साटी-इटसिट), एरण्ड, दोनों शूर्पपणी अर्थात् माषपर्णी और मुद्ग पर्णी इन पांचों के मूल को मध्यम पञ्चमूल कहते है। यह बलादि पञ्चमूल कफ और वायु का नाशक, कुछ पित्तकारक एव लघु है।

जीवनीय पञ्चमूल के गुण—शतावर, काकोली, जीवन्ती (डोडीका शाक), जीवक और ऋषभक इन पाचों के मूल का नाम जीवनमूल कहते हैं। यह नेत्रों के लिए हितकारी, वृष्य, (वीर्यवर्धक), पित्त तथा वातको शमन करनेवाला है।

तृणपञ्चमूल के गुण—मूज, दर्भ, ईख, शालि (चावल), काश (कुशा की एक जाति) इन पाचों के मूल मिल कर तृणपञ्चमूल कहलाता है। यह पित्त को शमन करनेवाला है।

वल्लिपञ्चमूल और कण्टकपञ्चमूल के गुण—मेढासिंगी (मेष-शृङ्गी), हल्दी, विदारी, सारिवा और गिलोय इन पाचों के मूल को वल्लिपञ्चमूल कहते है और गोखरू, सतावर, पिया बासा, कटेली और करौंदा इन पाचों के मूल मिल कर कण्टक-पञ्चमूल होता है। ये दोनों (वल्लीपञ्चमूल और कण्टकपञ्चमूल) सर्वदोषों के हरनेवाले (त्रिदोषनाशक) हैं।

विशेष वक्तव्य—लघु पञ्चमूल के गुणों में "नातिशीतोष्ण" का अर्थ हमने कुछ शीत और कुछ उष्ण (न अति शीत और न अति उष्ण) लिखा है। यही अर्थ अरुणदत्त को अभीष्ट है परन्तु हेमाद्रि के मतानुसार यहा नाति शब्द निषेधार्थक है न कि ईषदर्थ अर्थात् कुछ शीत और कुछ उष्ण यह अर्थ नहीं-इसलिए कि उष्ण और शीत एक जगह नहीं रह सकते। हेमाद्रि के मत से (लघु पञ्चमूल अनुष्ण (शीत) है किन्तु उष्ण नहीं है। हेमाद्रि का कहना यह भी है कि इस लघु पञ्चमूल में गोखरू के स्थान में सुश्रुत एरण्ड कहते है परन्तु वर्तमान उपलब्ध सुश्रुत मे गोखरू का ग्रहण किया है। कदाचित् हेमाद्रि के समय में उपलब्ध किसी सुश्रुत मे गोक्षुर के स्थान में "एरण्ड" पाठ मिलता हो।

कारवीकुञ्चिकाजाजीकबरीधान्यतुम्बरु ।
अन्नगन्धहरं रुच्य दीपन कफवातजित् ॥
बाष्पिका कटुतिक्तोष्णा कृमिश्लेष्महरा परम् ।
तद्वच्च राजिका विघ्नसादनी दीपनी परम् ॥

१ ग्राहि-मलानाम्। विब धनुत-वायोरिति हेमाद्रि।
२ आर्द्रकाज्जायते शुण्ठी सस्कारेण लघीयसी। इति।
३ मरिचात्स्तोकविशेष गुणैर्भवति। इत्यरुण।

१ "नाति शब्दोऽत्र निषेधे, न त्वीषदर्थे, शीतोष्णयोरेकत्रानवस्थानात्, अनुष्णाशीतमित्यर्थ। सुश्रुतेन तु गोक्षुरस्थाने एरण्ड पठित।" इति।

शूलाटोपहरा रुच्या दीप्यक कोष्ठशूलजित् ।
अहृद्या सर्षपा स्निग्धा बाष्पिकावच्च कीर्त्तिता[1] ॥
हिङ्गु वातकफानाहशूलघ्न पित्तकोपनम् ।
कटुपाकरसं रुच्य दीपन पाचनं लघु ॥
पित्तास्रकोपि तच्चैव श्रेष्ठ बोष्काणदेशजम् ।
ततो न्यूनगुण त्वन्यद्द्रव्यमञ्जनधूपनम् ॥
शताह्वाकुष्ठतगरसुरदारुहरेणव ।
एलैलवालुसरलत्वग्व्याघ्रनखचोरका ॥
लघूष्णा कटुका पाके कफवातनिबर्हणा ।
सैर्यकस्तिक्तमधुर स्निग्धोष्ण कफवातजित् ॥
बस्तिमूत्रविबन्धघ्नो वृष्यो गोक्षुरको हिम ।
पाचन कफपित्तघ्न तिक्त शीत विषाद्वयम् ॥
कफघ्न तिक्तकटुक मुस्त सग्राहि पाचनम् ।
तिक्ताऽमृता त्रिदोषघ्नी ग्राहिण्युष्णा रसायनी ॥
दीपनी ज्वरतृड्दाहकामलावातरक्तनुत् ।
तिक्तशीतौ ज्वरहरौ लघू भूनिम्बपर्पटौ ॥
निम्बस्तिक्तो हिम कुष्ठकृमिपित्तकफापह ।
महानिम्ब पर ग्राही कषायो रूक्षशीतल ॥
गुग्गुलुः पिच्छिलस्पर्शो विशदोऽभ्यवहारत ।
सस्वादु सकटुस्तिक्त सकषायो रसायनम् ॥
व्रण्यः स्वर्य कटु पाके रूक्ष सूक्ष्मोऽग्निदीपन ।
क्लेदमेदोऽनिलश्लेष्मगण्डमेहापचीकृमीन् ॥
पिटकाग्रन्थिशोफाश्च हन्त्युष्ण स्रसनो लघु ।

कलौंजी-मेथी-जीरा-हिङ्गुपत्री-धनियाँ और तुम्बरु के गुण—**कलौंजी-कारवी-या कालाजीरा, मेथी, जीरा, हिंगुपत्री (बाष्पिका), धनियाँ और तुम्बुरु (जो मिरचके समान गोल फटे मुखवाला होता है) ये सब अन्नके गन्ध को हरनेवाले अर्थात् सुगन्धित करनेवाले, रुचिकारक, अग्निप्रदीपक, कफ और वायु को जीतनेवाले हैं ।**

कालीजीरी के गुण—**बाष्पिका (जीरे की ही एक जात जिसे लोग जगली जीरा या काली जीरी कहते हैं,) यह कटु, तिक्त रसवाली, उष्णवीर्या, कृमि और कफ के हरने में श्रेष्ठ है ।**

राई के गुण—**राई तद्वत् अर्थात् बाष्पिका के समान कटु, तिक्त रसवाली, उष्णवीर्य, कृमि और कफको हरनेवाली है। इतना ही नही राई नाना प्रकार के विघ्नों को दूर करनेवाली, अग्निप्रदीपन मे श्रेष्ठ, शूल, आटोप, कोष्ठशूल इन सबको नष्ट करनेवाली है तथा रुचिकारक है ।**

अजवायन के गुण—**अजवायन कोष्ठशूल[1] अर्थात् हृदय से लेकर बस्ति पर्यन्त के शूलको नष्ट करनेवाली है ।**

सरसों के गुण—**सरसों हृदय के लिए अपथ्य, स्निग्ध एव बाष्पिका के समान गुणोंवाली अर्थात् यह भी कटु-तिक्त रसवाली, उष्णवीर्य, कृमि और कफ की नाश करनेवाली है ।**

हींग के गुण—**हिङ्गु वायु, कफ, आनाह (पेट का फूलना), मलका अवरोध, शूल आदि रोग इनका शमन करनेवाला है, पित्तकारक, रस तथा पाक में कटु, रुचिकारक, दीपन, पाचन, लघु, रक्तपित्तको कुपित करनेवाला है और यह बोष्काण (बुखारा) देशका उत्तम होता है । साराश, अन्य देशोत्पन्न हींग इससे न्यून गुणवाला होता है । हींग द्रव्य (पतले पदार्थ पेय आदि) तथा धूपन कर्म में श्रेष्ठ है ।**

सोफ, कूट, तगर, देवदार, सम्हालू, इलायची, सुगन्धबाला, सरल, तज, व्याघ्रनख और चोरक के गुण—**ये सब लघु, उष्णवीर्य, पाक में कटु, कफ तथा वायु के रोगों को हरनेवाले है ।**

पियावासा के गुण—**सैर्यक (पियाबासा) अर्थात् कठसरैया तिक्त, मधुर, स्निग्ध, उष्णवीर्य, कफ और वायु के रोगों को जीतनेवाला है ।**

गोखरू के गुण—**गोखरू बस्तिरोग, मूत्र की रुकावट (मूत्राघात-मूत्रकृच्छ्रादि) को दूर करता है । इसके अतिरिक्त यह वृष्य (पुष्टिकारक) एव शीतवीर्य है ।**

अतीसके गुण—**कडवी और मीठी ये दोनों अतीस पाचनी, कफपित्तनाशिनी, तिक्त और शीतवीर्या है ।**

नागरमोथा के गुण—**मुस्तक (नागरमोथा) कफनाशक, तिक्त, कटु, मलको बाधनेवाला और पाचन है ।**

गिलोय के गुण—**गुर्च (गुडूची) या गिलोय तिक्त, त्रिदोषनाशक, मलको बाधनेवाली, उष्णवीर्य, रसायन, अग्निप्रदीपक, ज्वर, तृषा-दाह-कामला तथा वातरक्त को दूर करनेवाली है ।**

चिरायता और पित्तपापडा के गुण—**चिरायता तथा पित्तपापडा ये दोनों तिक्त रसवाले, शीतवीर्य, ज्वर के हरण करनेवाले तथा लघु हैं ।**

नीम के गुण—**नीम तिक्त रसवाला, शीतवीर्य, कोढ, कृमि, पित्त और कफ के रोगों का नाशक है ।**

बकायन के गुण—**बकायन (महानिम्ब) मल के बाधने में अतिश्रेष्ठ, कषाय रसवाला, रूक्ष तथा शीतवीर्य है ।**

गूगल के गुण—**गूगल स्पर्श करने पर स्निग्ध, खाने पर विशद, कुछ मधुर तो कुछ कटु, तिक्त रसवाला, कुछ कसैला, रसायन (जराव्याधिनाशक), फोडे फुन्सियोंके रोगियों के लिए नितान्त हितकारी, स्वर्य (स्वर को बढाकर ठीक करनेवाला), पाक में कटु, रूक्ष, सूक्ष्म (शरीर के सब स्रोतों में प्रविष्ट होनेवाला), अग्निप्रदीपक, क्लेद-मेद-वायु-कफ-गलगण्ड-गण्डमाला-अपची-प्रमेह-कृमिरोग-प्रमेहपिटिका—ग्रन्थि और सूजन इन सबको हरनेवाला, उष्णवीर्य, लघु तथा स्रसन (मलको अधोभाग मे लाकर विरेचन करानेवाला[1] "स्रसयति मलम्" इति स्रसनम्, स्रसु अध पतने (भ्वा०आ०से०) है।**

अब आचार्य शखपुष्पी आदि के गुणों का कथन करते हैं यथा—

शङ्खपुष्पी सरा तिक्ता मेध्या कृमिविषापहा ।

१ "स्थानान्यामाग्निपकाना मूत्रस्य रुधिरस्य च । हृदुण्डुक फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥" इति

१ "पक्तव्य यदपक्त्वैव श्लिष्ट कोष्ठे मलादिकम् । नयत्यध स्रसन तद्यथा स्यात्कृतमालकम् ॥" इति शार्ङ्गधर ।

कटु तिक्तोष्णमगुरु स्निग्धं वातकफापहम् ॥
पित्तास्रविषतृड्दाहक्लमघ्नं गुरु रूक्षकम्[1] ।
सर्वं सतिक्तमधुरं चन्दनं शिशिरं परम् ॥
लघु रक्तं तथोशीरं बालकं पाचनं च तत् ।
ज्वरातीसारवमथुरक्तपित्तक्षतापहम् ॥
मधुकं रक्तपित्तघ्नं व्रणशोधनरोपणम् ।
गुरु स्वादु हिमं वृष्यं चक्षुष्यं स्वरवर्णकृत् ॥
कटुतिक्ते निशे मेहकुष्ठ[2]पित्तकफापहे ।
प्रलेपाज्जयतः कण्डूं शोफं दुष्टव्रणं विषम् ॥
प्रपौण्डरीकं चक्षुष्यं शिशिरं व्रणरोपणम् ।
कषायतिक्तमधुरं रक्तपित्तप्रसादनम् ॥
बलात्रयं स्वादु वृष्यं स्निग्धं शीतं बलप्रदम् ।
तत्र नागबला बल्या क्षतक्षीणहिता गुरुः ॥
ताम्बूलं कटु सक्षारं रुच्यमुष्णं कफप्रणुत् ।
भेदि समोहकृत्पूगं कषायं स्वादु रोचकम्[3] ॥
जातिपत्री कटुफलं कङ्कोलक[4]लवङ्गकम् ।
लघु तृष्णापहं हृद्यं वक्त्रदौर्गन्ध्यनाशनम् ॥
सस्वादुतिक्तस्तृष्णाघ्नः कर्पूरश्छेदनो हिमः ।
लताकस्तूरिका तद्वन्मुखशोषहरा परम् ॥

शङ्खाहुली के गुण—शखपुष्पी सर (दस्तावर शारीरिक सब स्रोतों में प्रसरणशील), तिक्त रसवाली, मेधाबुद्धिको बढ़ाने वाली, कृमि तथा विषरोगको हरनेवाली है।

अगर के गुण—अगुरु कटु एवं तिक्त रसवाला, उष्णवीर्य, स्निग्ध, वायु और कफका नाशक, गुरु, रूक्ष, पित्त-रक्त-विष-तृष्णा-दाह-ग्लानि इन सबको दूर करनेवाला है।

सब प्रकार के चन्दनों के गुण—सब प्रकार के चन्दन सामान्यतया कुछ तिक्त तथा मधुर और शीतवीर्य है। रक्तचन्दन श्वेतचन्दन से लघु (हल्का) है।

खस और वाला के गुण—खस और वाला ये दोनों पाचन हैं। इतना ही नहीं, इनमें चन्दन तथा अगर के भी गुण हैं अर्थात् ये ज्वर, अतीसार, वमन, रक्तपित्त और उरःक्षतादि रोगों के नाशक है।

मुलेठी के गुण—मधुकरक्तपित्त नाशक, व्रणोंका शोधन रोपण करनेवाली, गुरु, मधुर रसवाली, शीतवीर्य, वृष्य, नेत्रोंके लिए पथ्य, स्वर और वर्ण को करनेवाली है।

हल्दी और दारुहल्दी के गुण—हल्दी और दारुहल्दी ये दोनों कटु और तिक्त, प्रमेह, कुष्ठ, पित्त और कफके रोगोंको हरनेवाली है। इसके अतिरिक्त लेप करने से ये दोनों कण्डु (खाज-खुजली), सूजन, दुष्टव्रण तथैव विषरोग को नष्ट करनेवाली है।

पुण्डरिया के गुण—प्रपौण्डरीक नेत्रों के लिए हितकारी, शीतवीर्य, व्रणरोपणकर्ता, कषाय-तिक्त और मधुर रसवाला तथा रक्तपित्तको शमन करनेवाला है।

बलात्रय के गुण—तीनों बला और बला (खिरेटी), अतिबला (कघी) और नागबला (गगेरन) मधुर, वृष्य, स्निग्ध, शीतवीर्य, गुरु और बलको बढ़ानेवाली हैं। इनमे की गङ्गेरन (नागबला) हाथी के समान बल देनेवाली, क्षतक्षीणहिता (जो शस्त्र के घाव से क्षीण हो गया हो और जो उरःक्षतादि से क्षीण हो गया हो तो उसके लिए नितान्त हित करनेवाली) है। इसका स्वरस घाव पर छोड़ते ही तलवार आदि शस्त्र का घाव तुरन्त मिलकर ठीक हो जाता है।

ताम्बूल के गुण—नागरवेल का पान कटु (चरपरा) और क्षारयुक्त (चूने के साथ) रुचिकारक, उष्णवीर्य तथा कफका नाश करनेवाला है।

सुपारी के गुण—सुपारी अर्थात् पूगीफल सर (दस्तावर), अधिक सेवन करने पर मूर्छा (बेहोशी) को करनेवाला, कषाय एवं मधुर रसवाला तथा रुचिकारक है।

जायपत्री-कबाबचीनी-कङ्कोल और लवङ्ग के गुण—जायपत्री आदि ये चारों लघु, तृष्णाशामक, हृदयके लिए हितकारी, मुखकी दुर्गन्धको दूर करनेवाले अर्थात् मुखको सुगन्धित करनेवाले हैं।

कपूर के गुण—कपूर कुछ मधुर, तिक्त, तृष्णा को दूर करने वाला छेदन और शीतवीर्य है।

लताकस्तूरी के गुण—लताकस्तूरी अर्थात् मुश्कदाना भी कपूर के समान गुणवाला (मधुर और कुछ तिक्त, तृषाशामक, छेदन, शीतवीर्य) तथा मुखशोष को मिटाने मे श्रेष्ठ है।

इसके अनन्तर अब आचार्य सक्षेप में पुष्पवर्ग के गुणों को कहते हैं यथा—

कषायमधुरं शीतं पद्मं पित्तकफास्रजित् ।
तद्वद्बकुलपुन्नागकुमुदोत्पलपाटलम् ॥
सचम्पकं ततो न्यूनं गुणैः कोरण्टकिंशुकम् ।
मालतीमल्लिकापुष्पं तिक्तं जयति मारुतम् ॥
विषपित्तकफान्नागं सिन्धुवारं च तद्गुणम् ।
कफघ्नं कैतकं तिक्तं, शैरीषं विषहारि च ॥
वातलं पुष्पमागस्त्यं कषायं कफपित्तजित् ।
चातुर्थिकज्वरहरं नावनेनोपयोजितम् ॥
बन्धूकं श्लेष्मलं ग्राहि तद्वदेव च यूथिका ।
कफघ्नमुष्णवीर्यं च कुङ्कुमं व्रणशोधनम् ॥

कमल आदि पुष्पों के गुण—कमलका पुष्प कषाय रसवाला, शीतवीर्य, पित्त-कफ और रक्त के दोषों को शमन करनेवाला है। बकुल (मौलसिरी), पुन्नाग (नागकेसर), कमोदिनी, पाटल (गुलाब) तथा चम्पा के पुष्प भी कमलपुष्पके समान हैं। कुन्द, कोरण्टक (पियाबासा) और किंशुक (पालाशपुष्प) इनसे हीन गुणवाले हैं।

चमेली और मोगरे के पुष्प के गुण—चमेली तथा मोगरा के पुष्प तिक्त और वायुशामक हैं।

नागकेशर के पुष्प के गुण—नागकेशर का पुष्प विष-पित्त और कफको जीतनेवाला है।

निर्गुण्टी के पुष्प—नागकेशरके समान गुणवाले हैं।

१ वातलम्। २ कुष्ठमेह। ३ रोचनम्। ४ तक्कोलक इति पा०

केवडा के गुण—**केतकी अर्थात् केवड़ा तिक्त रसवाला तथा कफनाशक है।**

सिरसपुष्प के गुण—**सिरस का पुष्प विशेषत विष को दूर करनेवाला है।**

अगस्तिपुष्प के गुण—**अगस्तिया का पुष्प कसैला, वायु कारक, कफ और पित्तको जीतनेवाला है। इसके स्वरसकी नस्य देने से यह चातुर्थिक ज्वरको हरता है।**

जुही के पुष्पके गुण—**जाई और जुहीके पुष्प बन्धूकपुष्प के समान हैं।**

बन्धूक पुष्प के गुण—**दुपहरिया का पुष्प कफकारक, ग्राही (मलावरोधक) है।**

केशर के गुण—**असली काश्मीरिक कुकुम (केसर) कफ नाशक, उष्णवीर्य और व्रणोंको शोधन करनेवाला है।**

बावची और पॅवाड़बीज के गुण—**बावची तथा पॅवाडके बीज ये दोनों कटिवात और कफके हरनेवाले हैं। तन्त्रान्तर मे रक्तशोधन, कुष्ठ आदि रोगनाशन इत्यादि और भी इनके अनेक गुणों का वर्णन किया गया है।**

ओषधियों के गुणों का वर्णन सक्षेप में करने के अनन्तर अब आचार्य बैठने, चलने फिरने आदि के गुणों का भी वर्णन करते हैं। यथा—

आस्या वर्णश्लेष्ममेद सौकुमार्यकृदन्यथा ।
अतोऽध्वाग्निबलायूषि कुर्याच्चक्रमण सुखम् ॥
मारुतस्यानुलोम्य च खुडस्तम्भश्रमापहम् ।
अन्वर्थसज्ञ पादत्र बलदृकशुक्रकृत्तकम्[1] ॥
वर्ण्यं नेत्रहित छत्र वातवर्षातपापहम् ।
प्रवातो रौक्ष्यवैवर्ण्यस्तम्भकृद्दाहतृड्भ्रमान ॥
श्रमाग्निमूर्च्छाश्च जयेदप्रवातस्ततोऽन्यथा ।
प्राग्वायुरुष्णोऽभिष्यन्दी त्वग्दोषार्शोविषकृमीन् ।
सन्निपातज्वरश्वासमामवायु[2] च कोपयेत् ॥
पश्चिम शिशिरो हन्ति मूर्च्छां दाह तृष विषम् ॥
दक्षिणो मारुत श्रेष्ठो नेत्र्योऽङ्गबलवर्धन ।
रक्तपित्तप्रशमनो न च वातप्रकोपन ॥
उत्तरो मारुत स्निग्धो मृदुर्मधुर एव च ।
कषायानुरसः शीतो दोषाणामप्रकोपन ॥
आतपो भ्रमतृट्स्वेददाहमूर्च्छाविवर्णता ।
कुर्यात्पित्तास्रवह्नींश्च छाया त्वेतानपोहति ॥
तम कषायकटुक ज्योत्स्ना मधुरशीतला ।

भवति चात्र—

रसादि भेदैरिति भेषजाना
दिङ्मात्रमुक्त न यतोऽस्ति किञ्चित् ।
अनौषध द्रव्यमिहावबोधो
रूपस्य तेषा वनगोचरेभ्य ॥

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसग्रहे विविधौषधविज्ञानीयो नाम द्वादशोऽध्याय ॥ १२ ॥

कुछ भी न करके ठाले बैठे हुए के गुण—**निष्क्रिय अर्थात् कुछ भी हाथ-पग न हिलाते आसन बैठने से वर्ण, कफ, मेद और सुकुमारता की वृद्धि होती है किन्तु अध्वा (मार्ग चलने फिरने) के गुण इससे विपरीत है।**

चलने फिरने के गुण—**मार्ग में चलते फिरते रहने से वर्ण, कफ, मेद और सुकुमारता नष्ट होकर जठराग्नि, बल, आयु और सुख की वृद्धि होती है। इतना ही नही, मनुष्य के चलने फिरने तथा व्यायाम करने से खुड (वातरक्त), स्तम्भ (ऊरुस्तम्भ एव शरीर का जकडना), थकावट आदि कई रोगों का नाश होता है।**

पगरखी के गुण—**पदत्राण या पगरखी का नाम ही अन्व र्थक है अर्थात् इससे पगों की रक्षा होती है और इसके धारण करने से बल, दृष्टि एव वीर्य की रक्षा होती है।**

छाता के गुण—**छाता रखने से, वर्णवृद्धि, नेत्रों की रक्षा तथा वीर्य की वृद्धि होती है और वायु, वर्षा तथा धूप से रक्षा होती है।**

प्रवात और अप्रवात के गुण—**प्रवात अर्थात् खुला सामने का प्रचुर पवन रूक्षता, विवर्णता तथा अङ्ग-प्रत्यङ्गोंका जकडना, दाह, तृषा और भ्रमका करनेवाला है। अप्रवात (इससे विपरीत) स्निग्धता, सुवर्णता, अङ्ग-प्रत्यङ्ग मे फुर्ती इन सब को बढानेवाला, दाह, तृषा और श्रमको शमन करनेवाला, थकावट, उष्णता, मूर्च्छा आदि को जीतनेवाला है।**

पूर्वाई पवन के गुण—**पूर्व दिशा की हवा उष्ण, अभिष्यन्दी, त्वचाके दोष, अर्श, विष, कृमि, सन्निपातज्वर और श्वास कर्ता आम तथा वात को कुपित करनेवाला है।**

पश्चिम की वायु के गुण—**पश्चिम दिशाकी पवन शीतल है, मूर्च्छा, दाह, तृषा और विष को दूर करनेवाली है।**

दक्षिण दिशा का वायु के गुण—**दक्षिण दिशाका पवन श्रेष्ठ, नेत्रोंके लिए हितकारी, शारीरिक बल को बढानेवाला, रक्त पित्तनाशक एव वायुको कुपित करनेवाला नही है।**

उत्तर दिशा की हवा के गुण—**उत्तर दिशाका वायु स्निग्ध, मृदु, मधुर होते हुए पीछे से कषायरसवाला, शीतवीर्य तथा दोषों (वात-पित्त-कफ) को कुपित करनेवाला नहीं है।**

धूप तथा छाया के गुण—**आतप अर्थात् धूप भ्रम, तृषा, स्वेद, दाह, मूर्छा, विवर्णता, पित्त, रक्त और अग्नि को बढ़ाने वाला है। छाया के गुण धूपसे विपरीत है अर्थात् धूप के भ्रम, तृषा, स्वेद, दाह, मूर्च्छा, विवर्णता, पित्त, रक्त और अग्नि इन सब को छाया शमन करनेवाली है।**

अधेरे और रात की चांदनी के गुण—**अन्धकार कषाय एव कटु रसवाला है और ज्योत्स्ना (रात मे चन्द्रमा की चादनी) अन्धकार के विपरीत मधुर और शीतवीर्य (ठण्डी) है।**

इस अध्याय के उपसहार मे आचार्य कहते हैं कि—यहां रसादि (रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव) के भेद से ओषधियों का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है जो कि कुछ भी नहीं के बराबर है। अनौषध-द्रव्योंका बोध यहा केवल इस लिए कराया गया है कि वे शारीरिक द्रव्यों की वृद्धि के नाशकारक हैं अत वैद्य को चाहिये कि वह इन द्रव्यों (ओषधियों) के

[1] शुक्रवर्धनम् इत्यपि पाठ । [2] मामवायु च इत्यपि पाठ ।

रूप का ज्ञान बनगोचरों अर्थात् रात दिन जंगल में विचरने वाले तापसों, ग्वालों (गौओं के चरानेवालों) तथैव बकरियों के चरानेवालों से प्राप्त करे । भगवान आत्रेय का भी यही उपदेश है। सक्षेप मे कहा जाय तो इस ससार मे कोई भी वस्तु अनौषध नहीं है किन्तु सब औषध है। उदाहरणार्थ हम जिसे अनौषध मानते है, उस मारनेवाले विष का भी यथासमय औषध रूप से उपयोग किया जाता है और यह कई बार देखा गया है कि सस्कारवशात् उसी मारक विष ने आसन्न-मृत्युको भी जीवनदान दिया है।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसग्रहेऽर्थप्रकाशिकाख्याया हिन्दीव्याख्याया विविधौषधविज्ञानीयो नाम द्वादशोऽध्याय ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः ।

अथातोऽग्र्यसंग्रहमध्याय व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय ॥

अग्र्यसग्रह—एक ही कार्यकी करनेवाली ओषधियोंसे जो अत्यधिक बलवान् या श्रेष्ठ कार्य करता है उस द्रव्य को अग्र्य कहते है। इस लिए अब आचार्य प्रत्येक रोग के शमनादिकार्य में अत्यधिक काम करनेवाले द्रव्य का जिसमें प्रथम निर्देश है ऐसे अग्र्य-सग्रहणीय नामक अध्यायका व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया है। यथा—

श्रेष्ठमुदकमाश्वासनस्तम्भनक्लेदनानाम्। स्नान सुरा च श्रमहराणाम्। क्षीर जीवनीयानाम्। मास बृहणीयानाम्। रस प्रीणननानाम्। लवणमन्नद्रव्यरुचिकराणाम्। तिन्दुकमनन्नद्रव्यरुचिकराणाम्। अम्ल हृद्यानाम्। कुक्कुटो बल्यानाम्। तैल वातश्लेष्मप्रशमनानाम्। सर्पिर्वातपित्तप्रशमनानाम्। मधु श्लेष्मपित्तप्रशमनानाम्। स्वेदो मार्दवकराणाम्। व्यायाम स्थैर्यकराणाम्। क्षार पुस्त्वोपघातिनाम्। आम कपित्थमकण्ठ्यानाम्। आविक सर्पिरहृद्यानाम्। माहिष क्षीर स्वप्नजननानाम्। मन्दक दध्यभिष्यन्दकराणाम्। इक्षुर्मूत्रजननानाम्। यवा पुरीषजननानाम्। जाम्बव वातजननानाम्। कुलत्था अम्लपित्तजननानाम्। माषा शष्कुल्योऽविक्षीर च पित्तश्लेष्मजननानाम्। दुरालभा पित्तश्लेष्मोपशोषणानाम्। उपवासो ज्वरहराणाम्। वृषो रक्तपित्तप्रशमनानाम्। कण्टकारिका कासघ्नानाम्। लाक्षा सद्य क्षतघ्नानाम्। नागबलाभ्यास क्षयक्षतघ्नानाम्। पुष्करमूल हिध्माश्वासकासपार्श्वशूलहराणाम्। अजापय शोषघ्नस्तन्यकररक्तसग्रहणप्रशमनानाम्। मृद्भृष्टलोष्टप्रसादश्छर्दितृष्णातियोगप्रशमनानाम्। अरुष्करश्चित्रकमूल च शुष्कार्शप्रशमनानाम्। कुटजो रक्तार्श:प्रशमनानाम्। लाजाश्छर्दिघ्नानाम्। यावशूक स्रसनीयपाचनीयार्शोघ्नानाम्। तक्राभ्यासोऽर्श श्वयथुग्रहणीदोषघृतव्यापत्प्रशमनानाम्। क्रव्यान्मासाभ्यासोऽर्शःशोषग्रहणीदोषघ्नानाम्। मुस्त सग्रहणीयदीपनीय पाचनीयानाम्। अतिविषा सग्रहणीयपाचनीयसर्वदोष हराणाम्। बिल्व सग्रहणीयदीपनीयवातकफप्रशमनानाम्। उदीच्य निर्वापणदीपनीयच्छर्द्यतीसारहराणाम्। कट्वङ्ग सग्रहणीयदीपनीयानाम्। कुटजत्वक् श्लेष्मपित्तरक्तसग्रहणीयोपशोषणानाम्। उत्पलकुमुदकिञ्जल्कोऽनन्ता च सग्रहणीयरक्तपित्तप्रशमनानाम्। काश्मर्यफल रक्तसग्रहणीयरक्तपित्तप्रशमनानाम्। गन्धप्रियङ्गु शोणितपित्तातिवेगप्रशमनानाम्। पृश्निपर्णी रक्तसग्रहणीयदीपनीयपाचनीयवातहरवृष्याणाम्। शालिपर्णी वृष्यसर्वदोषहराणाम्। बला सग्रहणीयबल्यवातहराणाम्। पिप्पलीमूल पाचनीयदीपनीयानाहहराणाम्। चित्रकमूल दीपनीयपाचनीयगुदशोफशूलहराणाम्। गोक्षुरको मूत्रकृच्छ्रानिलहराणाम्। हरिद्रा प्रमेहहराणाम्। रक्तावसेको विद्रधिविसर्पपिटिकागण्डमालापहराणाम्। एरण्डतैलाभ्यासो वर्ध्मगुल्मानिलशूलहराणाम्। लशुनो गुल्मानिलहराणाम्। हिङ्गुनिर्यासश्छेदनीयदीपनीयानुलोमिकवातकफप्रशमनानाम्। अम्लवेतसो भेदनीयदीपनीयानुलोमिकवातश्लेष्महराणाम्। उष्ट्रीक्षीरमुदरश्वयथुघ्नानाम्। अयोरज पाण्डुरोगघ्नानाम्। खदिर कुष्ठघ्नानाम्। विडङ्ग कृमिघ्नानाम्। रास्ना वातहराणाम्। एरण्डमूल वृष्यवातहराणाम्। गुग्गुलुर्मेदोऽनिलहराणाम्। अमृता सग्रहणीयदीपनीयवातश्लेष्मशोणितविबन्धप्रशमनानाम्। मदनफल वमनाऽऽस्थापनानुवासोपयोगित्रिवृत् सुखविरेचनानाम्। चतुरङ्गुलो मृदुविरेचनानाम्। स्नुक्पयस्तीक्ष्णविरेचनानाम्। प्रत्यक्पुष्पी शिरोविरेचनानाम्। त्रिफला तिमिरघ्नानाम्। त्रिफलागुग्गुलु व्रण्यानाम्। शिरीषो विषघ्नानाम्। आमलक वय स्थापनानाम्। हरीतकी पथ्यानाम्। क्षीरघृताभ्यासो रसायनानाम्। समघृतसक्तुप्राशाभ्यासो वृष्योदावर्तहराणाम्। सकल्पो नक्रेतश्च वृष्याणाम्। दौर्मनस्यमवृष्याणाम्।

सर्वरोगनाशक मुख्य ओषधियो का वर्णन—सान्त्ववचन, धन दानादि आश्वासनके समस्त भावों मे जल श्रेष्ठ है। इतना ही नही, जल स्तम्भन तथा क्लेदन करनेवाली समस्त ओषधियों

१ "एककार्यकराणामौषधाना योऽत्यर्थ कार्यकर सोऽग्र्य" इतीन्दु। "अग्र्याणा बलवत्कार्यकारिणाम्" इति शिवदाससेन। "अग्र्य शब्द श्रेष्ठवचन" इति चक्रपाणिदत्त।
२ मन्नद्र यारुचि। ३ कुलत्थो। ४ शूलारुचि।

१ शोषणीयानाम्। २ योग। ३ साल। ४ वासनोपयोगिनाम्। इत्यादीनि पाठान्तराणि।
५ आश्वासकरा सन्ति बहवो भावा सान्त्ववचनधनदानादय स्तेषा श्रेष्ठतममुदकम्। इति गङ्गाधरकविराज।

मे मुख्य है। इसी प्रकार थकावट (श्रम) को दूर करनेवाले सब पदार्थोंमें स्नान तथा मद्य मुख्य है। ऐसे ही जीवनदान देनेवालों मे दूध, बृहण अर्थात् शरीर को पुष्ट करनेवालों मे मास, तृप्तिकारकों मे रस, अन्नद्रव्य के साथ [1]रुचिकारक सब पदार्थों में नमक, अन्नातिरिक्त अन्य द्रव्योंमें रुचिकारकों में तिन्दुक (तेन्दूका फल), सब प्रकारके रुचिकारकों में (हृदयके लिए आह्लाद देनेवालों) मे अम्ल (खट्टा रस), और बलका रकों में कुक्कुट मुख्य है। वायु और कफ के नाश करनेवाले सब द्रव्यों मे तेल, वात तथा पित्तशामकों में घृत, कफ और पित्तके हरनेवालों द्रव पदार्थों मे मधु (शहद), मृदुता लाने वालों मे स्वेद, शारीरिक अङ्ग-प्रत्यङ्ग को सुदृढ (मजबूत) करनेवालों मे व्यायाम और पुरुषत्वघात या वीर्यके नाशकारकों मे क्षार मुख्य है। कण्ठ को विगाड़ने (स्वरभङ्ग आदि करनेवालों) में कच्चा कपित्थ (कैथका फल), सब प्रकार से अरुचि करनेवालों मे मेड का घृत और निद्रा लानेवाली समस्त ओषधियों में भैंस का दूध मुख्य या श्रेष्ठ है। स्रोतों के स्राव मे मलिनता लानेवाले सब द्रव्योंमें मन्दक अर्थात् कच्चा मीठा दही मुख्य है। मूत्रोत्पादन करनेवालों मे ईख, पुरीष (विट्) को उत्पन्न करनेवालो मे यव, वायुको पैदा करनेवालों में जाम्बव अर्थात् जामुनका फल और अम्लपित्त को पैदा करनेवालोंमें सबसे बलवान् या मुख्य कुल्थी है। पित्त और कफको पैदा करनेवालों में उडद (माष), शष्कुली (तिलमिश्रित गेहू के आटे की स्नेह-भजित पूरी) और भेड का दूध मुख्य है। भावार्थ यह है कि पित्त और कफको पैदा करनेवाले सब द्रव पदार्थों में भेड़का दूध, कठिन पदार्थों मे माष और भक्ष्य पदार्थों मे शष्कुली श्रेष्ठ है जैसे कि कविराज गङ्गाधर चरक टीका जल्पकल्पतरुमे कहते है—"यत श्लेष्मपित्तजननाना भक्ष्याणा मध्ये शष्कुल्य श्रेष्ठतमा श्लेष्मपित्तजनना। न तु कठिनाना द्रवाणा मध्ये। कठिनाना माषा। द्रवाणामविक्षीरम्।" इति। पित्त और कफके शोषण करनेवालों मे धमासा (दुरालभा) मुख्य है। ज्वरको हरनेवालों मे उपवास या लङ्घन, रक्तपित्तका नाश करनेवालों में अडूसा, खासी को दूर करनेवाले सब औषधों मे कटेरी तथा तुरन्त के हुए क्षत के हरनेवालों मे अर्थात् उर क्षतशामकों मे लाख मुख्य है। क्षत तथैव उर क्षतको दूर करनेवालों में नागबला (गगेरन) का अभ्यास, हिचकी-श्वास-कास-पार्श्वशूल इन रोगों के नाश करनेवालों में पुष्करमूल और शोथको दूर करनेवाली तथा स्त्रियों के स्तनों में दूध पैदा करनेवाली रक्तसग्राही एव रक्तपित्तको दूर करनेवाली सब ओषधियों मे [2]बकरी का दूध मुख्य है।

वमन और तृषाके अति वेगको रोकनेवालों मे भुना अर्थात् तपाया जाकर जलमें बुझाए हुए [3]मिट्टी के ढेले का जल श्रेष्ठतम है। भिलावा और चित्रकमूल शुष्कार्श-सूखे हुए मस्सेको हरनेवाले सब द्रव्यों में मुख्य है। रक्तार्श (खूनी बवासीर) को शमन करनेवालों में कुडाछाल अर्थात् कुटज श्रेष्ठ है। वमन अर्थात् छर्दिरोगशामकों में लाजा (धान या चावलकी खील), पके या कच्चे मलको कोठेसे बाहर निकालने या अनुलोमन करनेवाले, जठराग्निको प्रदीप्त करने तथैव अर्शरोगको शमन करनेवाले सब द्रव्योंमें जवाखार (यावशूक) मुख्य है। तक्र या छाछका अभ्यास अर्श-शोथ-ग्रहणी-दोष-घृत के अधिक सेवन से होनेवाली व्यापत्ति (अजीर्णादि) इन सबको शमन करनेवाले सब औषधों में श्रेष्ठ या मुख्य है। क्रव्याद अर्थात् व्याघ्र आदि के मास का अभ्यास अर्श-शोष (क्षय) और सग्रहणी इन सबके दोष शमन करनेवालों मे श्रेष्ठ है। सग्रहणीय (मल को बाधनेवाले), अग्निप्रदीपन करनेवाले तथा पाचन द्रव्य इन सब में नागरमोथा मुख्य है। सग्रहणीय-पाचनीय तथा सर्वदोषशमनीय सब द्रव्यों में अतीस मुख्य है। इसी प्रकार सशमन-दीपन-वमन और अतीसारहरण करनेवाले सबों द्रव्य में सुगन्धवाला और सग्रहणीय-दीपनीय एव वात-कफनाशक ऐसे सब द्रव्यों में बेल (बिल्व) मुख्य माना गया है। सग्रहणीय—दीपनीय सब द्रव्यों में कट्वङ्ग[1] अर्थात् अरलू या कमल—केसर मुख्य है। कफ—पित्त—रक्त—सग्रहण तथा इनके शोषण करने मे कुडे की छाल मुख्य है। सग्रहणीय एव रक्तपित्त को शान्त करनेवाले सब द्रव्यों मे कमलकेसर, कुमोदिनी ओर सारिवा मुख्य है। सग्रहणीय तथा रक्तपित्तशामकों मे खम्भारी का फल (काश्मरी-फल) श्रेष्ठ है। रक्तपित्त के अतिवेगको रोकनेवाले सब द्रव्यों मे गन्ध-प्रियङ्गु, रक्तसग्रहणीय-दीपनीय-पाचनीय वायु के हरनेवाले सब वृष्य पदार्थों में पृष्ठपर्णी मुख्य है। वृष्य तथैव सब दोषों को हरनेवाले सब द्रव्यों में शालिपणी श्रेष्ठ है। सग्रहणीय-बलदायक एव वातहर सब औषधियों मे खिरेटी (बला) अत्युत्तम है। पाचनीय-दीपनाय-आनाह (फूलना पेटका) को दूर करनेवाले सब औषधों मे पीपलामूल श्रेष्ठ है। दीपन-पाचन-गुदाकी सूजन-अर्श और शूल को शमन करनेवालों में चित्रक सर्व श्रेष्ठ है। गोखरू मूत्रकृच्छ्र तथा वायुनाशक द्रव्यों मे मुख्य है। प्रमेहनाशक सब द्रव्यों में हरिद्रा विद्रधि-विसर्प-प्रमेहपिटिका तथा गण्डमालानाशक सब ओषधियों से रक्त मोक्षण कराना नितान्त श्रेष्ठ है। वर्ध्म (बद या अण्डकोश वृद्धि), वायु-शूल, इनके हरनेवालों मे एरण्ड तैल का अभ्यास मुख्य है। गुल्म (बायगोला) तथा वायु के हरने वालों मे लहसुन मुख्य है और छेदनीय दीपनीय-वातादि का अनुलोमनकारक तथा कफ को शमन करनेवालों मे हाग सब से उत्तम है। भेदनीय (दस्तावर), दीपनीय, अनुलोमन, वात और कफ को शान्त करनेवालों मे अमलबेत मुख्य है। उदरशोथ (पेट की सूजन) दूर करनेवालों मे उष्ट्रीक्षीर (ऊटनी का दूध), पाण्डुरोग-नाशकों मे लौहभस्म, कोढ (कुष्ठ) को शमन करनेवाले सब द्रव्यों मे खदिर अर्थात् कत्था मुख्य है। कृमिरोगनाशकों मे वायविडङ्ग, वायुरोगहारकों मे रास्ना उत्तम है। इसी प्रकार वृष्य और वायुरोग शमन करनेवालों में एरण्ड का मूल मुख्य है। मेद और वायुव्याधि को

१ हृद्यानामिति रुच्यानाम्। इति चक्रपाणिदत्त। २ अजाक्षीर शोषघ्नस्तन्यसात्म्यदोषघ्नसाग्राहिकशोणितपित्तप्रशमनानामिति चरक। ३ मृद्भृष्टलोष्ट्रनिर्वापितमुदकम्। इति चरक सम्मतपाठ।

१ "कट्वङ्ग कमलोद्भव रज" इति सुश्रुतटीकाया डल्हनोऽम्बष्ठादिगणे अ ३८ किन्तु "मण्डूकपर्णपत्त्रोर्णनटकट्वङ्गटुण्टुका। श्योनाकशुकनासर्क्षदीर्घवृन्तकुटन्नटा ॥ शोणकश्चारलौ" इत्यमरसिंह।

मिटानेवालों में गूगल श्रेष्ठ है। सग्रहणीय-दीपनीय-वात-कफ-रक्त-विबन्ध (स्रोतों मे बहनेवाले रस रक्तादि धातुओं का रुकना), इन सबको शमन करनेवालों मे गिलोय अत्युत्तम है। वमन, आस्थापन और अनुवासन के उपयोग में आने वाले सब द्रव्यों मे मैनफल मुख्य है। सुख से विरेचन करानेवालों मे निशोत, मृदु विरेचन करानेवालों में अमलतास, तीक्ष्ण विरेचक द्रव्यों मे थूहर का दूध और शिरोविरेचन करानेवालों में अपामार्ग (ओङ्गा) मुख्य या सबसे बलवान् है। नेत्र के तिमिर रोग को नष्ट करनेवालों में त्रिफला, व्रणोंको ठीक करनेवालों में त्रिफला-गूगल, विषको दूर करनेवालों में सिरस, वय स्थापन अर्थात् वृद्धावस्था को दूर करनेवालों में आमला, सब प्रकार के पथ्यों मे हरड़, सब तरह के रसायनों मे दूध और घृत का अभ्यास और वृष्य एव उदावर्तशामकों में घृतसहित सत्तू का सेवन सर्वोपरि है। वृष्य तथा शुक्रप्रवृत्तिकारकों मे स्त्रीविषयक सकल्प और मगर का वीर्य मुख्य है। इसके विपरीत अवृष्यों (वीर्य की हीनतावालों) में मन की दुष्टता या मनका बिगडना मुख्य है। इसी प्रकार—

तैलगण्डूषाभ्यासो दन्तबलरुचिकराणाम्। चन्दनोदुम्बर निर्वापणा[3]लेपनानाम्। रास्नागुरुणी शीतापनयनप्रलेपनानाम्। लामज्जकोशीरे दाहत्वग्दोषस्वेदापनयनप्रलेपनानाम्। कुष्ठ वातहराऽभ्यङ्गोपनाहोपयोगिनाम्। मधुक चक्षुष्यवृष्यकेश्यकण्ठ्यवर्ण्य[4] विरञ्जनीयरोपणीयानाम्। अजीर्णाशन ग्रहणीदूषणानाम्। विरुद्धवीर्याशन निन्दितव्याधिकराणाम्। गुरुभोजन दुर्विपाकानाम्। अतिमात्राशनमामदोषहेतूनाम्। यथाग्न्यभ्यवहारोऽग्निसधुक्षणानाम्। यथासात्म्यमाहारविहारौ सेव्यानाम्। एकासन शयन-भोजन सुखपरिणामकरा[5]णाम्। विषमाशनमग्निवैषम्यकराणाम्। काले भोजनमारोग्यकराणाम्। सुदर्शनमन्न श्रद्धाजननानाम्। वेगधारणमनारोग्यकराणाम्। तृप्तिराहारगुणानाम्। अनशनमायुषो ह्रासकराणाम्। प्रमिताशन गवेधुकान्न च कर्शनीयानाम्। उद्दालकान्न रूक्षणीयानाम्। मद्य सौमनस्य जननानाम्। मद्याक्षेपो धीधृतिस्मृतिहराणाम्। स्त्रीष्वतिप्रसङ्ग शोषद्वाराणाम्। शुक्रवेगनिग्रह[6] षाण्ढ्यकराणाम्। पादाभ्यामुद्वर्तनमन्नश्रद्धाजननानाम्। सूनादर्शनमन्नाश्रद्धाजननानाम्। मिथ्यायोगो व्याधिमुखानाम्। रजस्वलागमनमलक्ष्मीमुखानाम्। ब्रह्मचर्यमायुष्याणाम्। परदारगमनमनायुष्याणाम्। अयथाप्राणमारम्भ प्राणोपरोधिनाम्। विषादो रोगवर्धनानाम्। हर्ष प्रीणनानाम्। शोक शोषणानाम्। निर्वृति सुखकराणाम्। आश्वासो बलकराणाम्। पुष्टि स्वप्नकराणाम्। स्वप्नस्तन्द्राकराणाम्। सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्। एकरसाभ्यासो दौर्बल्यारोचकान्यतमदोषप्रकोपकराणाम्। अग्निरामस्तम्भशीतशूलोद्वेष्टकप्रशमनानाम्। गर्भशल्यमाहार्याणाम्। अजीर्णमुद्धार्याणाम्। बालो मृदुभेषजार्हाणाम्। वृद्धो याप्यानाम्। गर्भिणी तीक्ष्णौषधव्यवायव्यायामवर्जनीयानाम्। सौमनस्य गर्भधारणानाम्[1]। सन्निपातो दुश्चिकित्स्यानाम्। आमो विषमचिकित्स्यानाम्। ज्वर शीघ्ररोगाणाम्। कुष्ठ दीर्घरोगाणाम्। राजयक्ष्मा रोगसमूहानाम्। प्रमेहोऽनुषङ्गिणाम्। जलौकसोऽनुशस्त्राणाम्। बस्तिर्यन्त्राणाम्। हिमवानोषधिभूमीनाम्। सोम ओषधीनाम्। मरुभूमिरारोग्यदेशानाम्। आनूपभूमिरहितदेशानाम्। निर्देशकारित्वमातुरगुणानाम्। अनिर्देशकारित्व रिष्टानाम्[2]। भिषक् चिकित्साङ्गानाम्। सिद्धिर्वैद्यगुणानाम्[3]। नास्तिको वर्ज्यानाम्। लौल्य क्लेशकराणाम्। आत्मवत्तोषकारिणाम्। शास्त्रसहितस्तर्क साधकानाम्। दृष्टकर्मता निस्सशयकराणाम्। असमर्थता भयकराणाम्। तद्विद्यसभाषा बुद्धिवर्धनानाम्। आचार्य शास्त्राधिगमहेतूनाम्। आयुर्वेदोऽमृतानाम्[4]। सद्वचनमनुष्ठेयानाम्। वायु प्राणसज्ञाप्रदानहेतूनाम्। सर्वसन्यास सुखानामिति। तत्रोदकाग्निमृद्भृष्टलोष्टप्रसादतक्राभ्यासरक्तावसेकैरण्डतैलाभ्यासोष्ट्रीक्षीरमदनफलमद्याक्षेपैकरसाभ्यासगर्भिणी[5]नामेकैकस्मात्समुदायाच्च निर्धारणम्। पुष्करमूलादीना तु समुदायादेवेति। भवति चात्र—

अग्र्याणा शतमुद्दिष्ट पञ्चपञ्चाशदुत्तरम्।
अल्पमेतद्विजानीयाद्धिताहितविनिश्चये ॥

इत्यष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽग्र्यसङ्ग्रहो नाम त्रयोदशोऽध्याय ॥ १३ ॥

दातोंको बलवान् बनानेवाले एव रुचिकारक ओषधियोंमे तैल[6] सबसे श्रेष्ठ है। चन्दन और गूलर ये दोनों दाह-शामक[7] सब लेपों मे मुख्य है। रास्ना और अगर ये दोनों शीत को दूर करनेवाले लेपों में मुख्य हैं। लामज्जक और उशीर अर्थात् वीरण नामक तृणकी दीर्घ तथा अल्प नालवाली जड़ (सूक्ष्म तथा स्थूल खस) दाह, चमडी के दोष और पसीना इनको दूर करनेवाले लेपों में मुख्य हैं। कूट वायुनाशक अभ्यङ्ग और वायुनाशनार्थ पिसे हुए द्रव्योंकी पिण्डी बनाकर बाधनेके सब उपनाहोपयोगी[8] ओषधियों में श्रेष्ठ है। नेत्रहितकारक, पुष्टिकारक (वीर्यवर्धक), केशोंके लिए हितकारी, कण्ठको सुधारनेवाले, वर्णवृद्धिकारक, रञ्जक और रोपणीय सब

१ स्रोतस्तु धात्वादीनामवहनम् इतीन्दु। २ वय स्थापन जराहरणमितीन्दु। ३ दाहनिर्वापण। ४ बल्यविरेचनीय। ५ सुख नाशकराणाम्। ६ विनिग्रह। ७ पुष्टिकराणाम्। इति पाठान्तराणि

१ अस्याग्रे 'असौमनस्य दु खजननानाम्" इत्यपि पाठ। २ अनिर्देशकारित्वमरिष्टानाम्। ३ वैद्याङ्गानाम्। ४ अस्याग्रे "सद्वैद्यद्वेष प्राणत्यागहेतूनाम् इत्यपि। ५ रसगर्भिणीनाम्। ६ तैलमत्र तैलमेव ग्राह्य सर्वतैलश्रेष्ठत्वात् इत्याचार्या। ७ निर्वापण शमनम् इतीन्दु। ८ उपनाहो वातादिहरणाय पिष्टद्रव्यपिण्डी बन्ध, इतीन्दु।

द्रव्योंमें मुलेठी अर्थात् मधुक सब में मुख्य है। ग्रहणी को दूषित करनेवालोंमें अजीर्णाशन अर्थात् पहले किए भोजन के न पचने पर पुन भोजन का करना मुख्य है। आठ प्रकार की निन्दित[१] व्याधियों के उत्पन्न करनेवाले सबमें विरुद्ध वीर्याशन जैसे कि शीतवीर्य पदार्थ के साथ उष्णवीर्य पदार्थ का सेवन करना मुख्य है। बहुत देरसे या कठिनाई से पचनेवाले पदार्थों में सबसे बलवान् गरिष्ठ (नितान्त भारी या गुरु) पदार्थ का सेवन करना मुख्य माना गया है। आम दोष की उत्पत्ति करनेवाले सब कारणों में अतिमात्रा में भोजन करना ये बलवत्तर कारण हैं। जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाले सब कार्यो में अपने अग्नि-बल के अनुसार भोजन करना मुख्य कार्य है। सेवन करने योग्य सब कर्मों मे यथासात्म्य आहार-विहार अर्थात् अपनी आत्मा को सुखदायक ऐसा आहार-विहार मुख्य माना गया है। सुख के नाश करनेवाले कारणों में एकासन-शयन-भोजन अर्थात् एक साथ म मिलकर बैठना-सोना और भोजन करना यह मुख्य कारण है। इसी प्रकार अपनी सम जठराग्नि को बिगाड़ने वालों मे अर्थात् समाग्नि को विषमाग्नि का रूप देनेवालों में विषमाशन मुख्य है। आरोग्यता प्रदान करनेवालों में श्रेष्ठ नियत समय पर भोजन करना है। श्रद्धा उत्पन्न करनेवालों मे अच्छे अन्न का दर्शन मुख्य है। अनारोग्यकर अर्थात् अस्वस्थता या रोगके उत्पन्न करनेवालों मे मल मूत्रादि के वेगों का रोकना यह मुख्य है। आहार के सब गुणों में, तृप्ति और आयु के नाश करनेवालों में उपवास मुख्य है। मनुष्य को दुर्बल बनानेवालों मे सब से मुख्य प्रमितान्नभक्षण या गवेधुकान्न-भक्षण (तुले हुए आहार का करना या देवधान का खाना) मुख्य है। रूक्षता लाने वाले सब द्रव्यों मे मुख्य उद्दालकान्न अर्थात् जगली कोदोधान्य (Cardia myxa or Latifalia) है। मानसिक प्रफुल्लता प्रदान करनेवालों में मद्य सब में मुख्य है। बुद्धि-धारणा और स्मरणशक्ति को नष्ट करनेवालों में सब से बलवान् मद्याक्षेप (मद्य का वह वेग जिसमें मनुष्यका अपनी सब सुधबुध भूल जाना) है। शोष रोग के सब कारणों मे मुख्य कारण स्त्रियों से अतिप्रसङ्ग करना है। मनुष्य को नपुसक बनानेवाले सब कारणों मे मुख्य वीर्य के वेग को नितान्त रोकना है। अन्न में श्रद्धा उत्पन्न करनेवालों में सब से मुख्य पगों से उबटन लगाना है। इसी प्रकार अन्न में अश्रद्धा उत्पन्न करनेवालों कारणों में सब से मुख्य सूना दर्शन अर्थात् शस्त्रादि द्वारा प्राणियों के वध स्थान का देखना है। रोगों के उत्पन्न करनेवाले सब कारणों में मुख्य काल-अर्थ और कर्मों का मिथ्यायोग है। अलक्ष्मी के कारणों मे सब से मुख्य कारण रजस्वला के साथ सभोग करना है। आयु की वृद्धि करनेवाले सब कारणोंमें मुख्य ब्रह्मचर्य-पालन या वीर्य का सरक्षण करना है। आयु के नाश करनेवाले सब कर्मों में मुख्य कर्म परस्त्री में गमन करना है। प्राणोपरोध अर्थात् प्राणों का नाश करनेवाले सब कारणों में मुख्य अपने बल के विपरीत कर्म का आरम्भ करना है। रोग के बढ़ानेवाले कारणों में सब से मुख्य विषाद या खेद करना है। सब प्रकार से तृप्ति प्रदान करनेवालों में हर्ष मुख्य है।

१ अतिदीर्घश्चातिह्रस्वश्चातिलोमा चालोमा चातिकृष्णश्चाति गौरश्चातिस्थूलश्चातिकृशश्चेति।

शारीरिक रस-रक्तादि धातुओं को शोषण करनेवालो कारणों में बलवान् शोक है। सर्वथा सुख कारकों मे निर्वृति-सब प्रकार से निश्चिन्तता मुख्य है। बल एव साहस प्रदान करनेवालों मे आश्वासन, और सोने के सुख को देनेवालों मे पुष्टि मुख्य है। इसी प्रकार तन्द्राकारकों में अधिक शयन, बलकारकों मे सब प्रकार के मधुर आदि रसों का अभ्यास तथा दुर्बलता-अरोचकता इनमे से किसी भी दोष को प्रकुपित करनेवालों में सबसे बलवान् किसी भी एक रस का अभ्यास करना है। आम को पेट में एक जगह स्तम्भित करने, शीत, शूल, पिण्डिको द्वेष्टन के हरनेवालों मे सब से उत्तम अग्नि है। निकालने योग्य सब शल्यों मे मुख्य गर्भशल्य है। उद्धार करने योग्य सब रोगों मे मुख्य अजीर्ण है। मृदु ओषधियों के योग्य सब में मुख्य बालक है। सब याप्य रोगियों मे वृद्ध मुख्य है। तीक्ष्ण ओषधि-मैथुन-व्यायाम वर्जितो मे सब से मुख्य गर्भिणी है। गर्भ की धारणावाले सब विचारों मे मुख्य सामनस्य (मनकी पवित्रता) है। जिसकी चिकित्सा करना अति कठिन है ऐसे दुश्चिकित्स्यों में सब से मुख्य रोग सन्निपात है। विषम चिकित्स्य सब व्याधियों में आम, शीघ्र होनेवाले रोगों मे ज्वर, दीर्घ काल तक रहनेवाले रोगों मे कुष्ठ, रोगों के समूहों में क्षय तथा फिर फिरकर होनेवाले अनुषङ्गी[१] सब से बलवान् प्रमेह है।

सुश्रुतोक्त त्वक्, सार, स्फटिक आदि सब अनुशस्त्रों[२] में जो कि भीरु, बालक, स्त्री आदि के काम मे आते है जलौका (जोंक) सब से श्रेष्ठ है। इसी प्रकार सब यन्त्रों मे बस्ति उत्तम है। ओषधि उत्पन्न करनेवाली सब भूमियों मे हिमालय पर्वत सब से उत्तम है। सब ओषधियों मे सोम, आरोग्यदायक सब भूमियों में मरुदेश की भूमि, अहितकारी देशों में सब से मुख्य अनूप देश है। रोगी के सब गुणों मे निर्देशकारित्व (सब ठीक ठीक बतलाना) मुख्य बात है। सब अरिष्टों में अनिर्देशकारित्व अर्थात् अपनी प्रकृति का हाल ठीक ठीक न बतलाना मुख्य है। चिकित्सा के सब अङ्गों मे वैद्य और वैद्य के समस्त गुणों मे सिद्धि और वर्जित जनों मे नास्तिक ये मुख्य हैं। क्लेश करनेवाली सब बातों में लोलुपता, सतोषकारक सब भावों में आत्मवत् भाव अर्थात् अपनी ही तरह सब प्राणियों मे सुख-दुःख का अनुभव मुख्य है। साधकों में शास्त्रीय प्रमाण को लेकर तर्क (पृच्छा) करना अत्युत्तम है। निःसशय करनेवाले सब कार्यों में दृष्टकर्मता (प्रत्यक्ष देखा हुआ और किया हुआ कर्माभ्यास) सब से प्रधान है। भयकारी सब भावों में असमर्थता, बुद्धि को बढानेवाले सब साधनों में तद्विद्य सभाषा (उस उस विषय के जाननेवाले विद्वानों का परस्पर सभाषण) सर्वोत्तम है। शास्त्रीय ज्ञान-प्राप्ति के समस्त हेतुओं में आचार्य मुख्य है। जीवन दान देनेवाले सब शास्त्रों में आयुर्वेद सर्वोपरि है। (प्राणों के नाश करनेवाले हेतुओं में अच्छे वैद्य से द्वेष करना यह मुख्य हेतु है) पालन करनेवाली सब बातों में सद्वचन (सज्जनों के

१ अनुषङ्गी पुनर्भावी इति चक्रपाणिदत्त। २ अनुशस्त्राणि तु त्वक्सारस्फटिककाचकुरुविन्दजलौकोऽग्निक्षारनखगोजीशेफालिका शाकपत्रादय।

वचन या सत्य भाषण) सर्वोपरि है। प्राण सञ्ज्ञा देनेवाले सब कारणों मे वायु प्रधान कारण है । सब प्रकार के सुखों मे सर्वसन्यास अर्थात् सब प्रकार की झझटों का परित्याग कर देना श्रेष्ठ है।

ध्यान रहे कि यहा जल, अग्नि, मिट्टी का तपाया या भूना हुआ ढेला का जल, तक्र का अभ्यास, रक्तमोक्षण, एरण्ड तैल का अभ्यास, ऊटनी का दूध, मैनफल, मद्यात्तेप, एक ही किसी रस का अभ्यास एव गर्भिणी इन सब का एक एक से तथा समुदाय रूप से निर्धारण (विचार) करना चाहिए। किन्तु पुष्करमूल आदि का विचार तो समुदाय रूप से ही करना चाहिए।

विशेष वक्तव्य—यहा जल, अग्नि आदि का एक एक रूप से या समुदाय रूप से निर्धारण का भावार्थ यह है कि ये द्रव्य एक एक प्रयोग मे लाने से तथा समुदाय रूप से (अन्य द्रव्यों के सयोग से) भी ये फलप्रद होते हैं । पुष्करमूलादि समुदाय-रूप से ही ठीक फल देते हैं अर्थात् पुष्करमूल हिक्कादि हरने मे मुख्य होते हुए भी उसका प्रयोग उक्त रोगनाशक अन्य द्रव्यों के साथ मे ही करना चाहिए।

यहा इस अध्याय मे इस प्रकार १४४ अग्रयों का वर्णन किया गया तथापि हिताहित का निर्णय या निश्चय करने में इस वर्णन को अल्प ही समझना चाहिए ।

इति वाग्भटाचार्यकृताष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दी व्याख्यायामग्र्यसग्रहणीयो नाम त्रयोदशोऽध्याय ॥१३॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः ।

अथ शोधनादिगणसग्रहमध्याय व्याख्यास्याम । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय ।

शोधनादिगणसग्रह—वैद्यक शास्त्रगत पञ्चकर्म मे वमन-विरेचन (शोधन) ही मुख्य हैं अत अब आचार्य जिसमे शोधनादि गणों का विवेचन है ऐसे शोधनादिगणसग्रह नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया है। यथा—

मदनजीमूतकेक्ष्वाकुकोशातकीद्वयफलपुष्पपत्राणि। कुटजकरञ्जत्रपुससर्षपपिप्पलीविडङ्गैलाप्रत्यक्पुष्पीहरे-णुपृथ्वीकाकुस्तुम्बुरुप्रपुन्नाटाना फलानि शारदानि च हस्तिपर्णीकोविदारकर्बुदारारिष्टाश्वगन्धानीपविदुलबिल्व बिम्बीबन्धुजीवकश्वेताशणपुष्पीवचाचित्राचित्रकमृगेन्द्र-वारुणीसुषवीचतुरङ्गुलस्वादुकण्टकपाठापाटलीशार्ङ्गेष्टाम-धूकमूर्वासप्तपर्णसोमवल्कद्वीपिशिग्रुसुमन सौमनस्यायवा-नीवृश्चीवपुनर्नवामहासहाक्षुद्रसहेक्षुकाण्डकालक्तपिप्प-लीमूलचविकानलदोशीरह्रीबेरमूलानि। शाल्मलीशा-ल्मलुकाभद्रपर्ण्यैरावत्युपोदकोद्दालकधन्वरसाञ्जनराजा-दनोपचित्रागोपश्रृङ्गाटिकापिच्छा । प्रियङ्गुपुष्पम्। तालीसपत्रम्। हरिद्राश्रृङ्गबेरकन्दौ । मधूकदारुहरि-द्रासारौ । तगरगुडूचीमधुफाणितक्षीरक्षारलवणानि चेति वमनोपयोगीनि।

शोधनीयवमन द्रव्य—मैनफल,देवदाली (बन्दाल), कडवी तुम्बी, छोटी और बडी जगली कडवी तोरई, इन सबके फल, पुष्प और पत्र, इन्द्रजव, कञ्जा, कड़वी ककडी, सरसों, पीपल, बायविडङ्ग, छोटी इलायची, ओंगा, सम्हालू, बड़ी इलायची, धनिया और पॅवाड के शरद ऋतु में आए हुए फल, हस्तिपर्णी (महाकोशातकी), नीले फूल का पियाबासा, कचनार, रीठा, असगन्ध, कुडा, विदुल (वेत), बेल, बिम्बी (जगली कुन्दरु या गोल्हा), दुपहरिया (सूरजमुखी), श्वेत दूर्वा, सण, आक, वच, चित्रा (लघुदन्ती एव बृहद्दन्ती) चित्रक, इन्द्रायण, करेला, अमलतास, स्वादुकण्टक (छोटे गोखरू), पाढ़, पाटल, शार्ङ्गेष्टा (काकजघा या गुञ्जा), महुआ, मुलेठी, मूर्वा (मोरटा-पीलुपर्णी-धनुर्गुणोपयोगिनी), सतौना, कायफल, द्वीपी (थूहरविशेष), कटु सहॅजना, सुमन (घृतकरञ्ज या चमेली), जायपत्री (सौमनस्या), अजवायन, लाल और श्वेत पुनर्नवा (साठी-इटसिट), महासहा (श्वेतपुष्पवाला पियाबासा), क्षुद्रसहा (लाल इन्द्रायण), ईख, आल या मजीठ, पीपलामूल, चव्य, जटामासी, खस (उशीर), हाऊ बेर एव सुगन्धवाला, इन सब की जड (मूल), शाल्मली (सेम्भल), रोहीतक = रोहिडा (शाल्मलुक), प्रसारणी, ऐरावणी, उपोदका (कटु पोई), उद्दालक (Cordia myxa or latipalia), ह्विसौडा, धमासा, रसोत, खिरनी, उपचित्रा (लघुदन्ती या बृहद्दन्ती), अर्थात् जयपाल (जमालगोटा), अनन्तमूल (शारिवा), श्रृङ्गाटिका (जगली कडुवा सिंघाडा-सुरजान तलख), आकाशवेल या पूग (सुपारी), प्रियङ्गु के पुष्प, तालीसपत्र, हल्दी और अदरक के कन्द, महुवा और दारुहल्दी का सार, तगर, गिलोय, शहद, गुड की राब, दूध, क्षार और सब प्रकार के नमक ये सब वमन कराने में उपयोगी द्रव्य हैं।

त्रिवृत्श्यामादन्तीद्रवन्तीशङ्खिनीसप्तलाऽजगन्धाऽ-जश्रृङ्गीवचागवाक्षीछगलान्त्रीसुवर्णक्षीरीचित्रककिणिही हस्त्पञ्चमूलवृश्चीवपुनर्नवावास्तुकशाकशालमूलानि । तिल्वकरम्यककाम्पिल्लकपाटलीत्वच । त्रिफलापीलु-पियालकुवलबदरकर्कन्धुकाश्मर्यपरूषकद्राक्षानीलिनी-क्लीतनिकोदर्याविडङ्गपूगपञ्चाङ्गुलफलानि। चतुरङ्गुल-फलपत्राणि। पूतिकत्वक्फलपत्राणि। महावृक्षसप्तपर्ण-ज्योतिष्मतीक्षीराणि । क्षीरमस्तुमद्यधान्याम्लमूत्राणि चेति विरेचनोपयोगीनि।

विरेचन द्रव्य—काली और श्वेत निशोत, दन्ती, जयपाल (बृहद्दन्ती), चोरपुष्पी, सातला (थूहर का एक भेद), अजमोदा, अजश्रृगी (मेषश्रृङ्गी-मेढासिगी A plant, described as a milky and thorny plant with a front crooked figure like a rams horn इति वैद्यकशब्द सिन्धु), बच, इन्द्रायण बडी, बिधायरा (वृद्धदारुक), सुवर्णक्षीरी

१ कालवृन्त इत्यपि पाठ । २ अविमूत्रमजामूत्र गोमूत्र माहिष तथा। हस्तिमूत्रमथोष्ट्रस्य हयस्य च खरस्य च ॥ इति चरके।

(रेवतचीनी या चोक), चित्रक, किणिही (श्वेत अपामार्ग किन्तु विरेचनोपयोगी होने से यहा श्वेत कोयल या कृष्ण कटभी ही लेना चाहिए क्यों कि इनका एक पर्याय किणिही भी है। 'वैद्यकशब्दसिन्धु' मे रिसर्च स्कालरों ने इसके विषय मे Achyranthes aspeda लिखा है।) लघु पञ्चमूल अर्थात् शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, छोटी और बडी दोनों कटेरी और छोटा गोखरू, श्वेत और रक्त पुनर्नवा, बथुआ, शाक और सालवृक्ष इन सबके मूल। लोद, महानिम्ब (बकायन), कमीला, पाढलवृक्ष, इन सबकी छाल। त्रिफला (हरड, बहेडा, आवला), पीलू, पियाल (चिरौंजी Buchanania Latifalia), कुवल (बेरका एक भेद) बदर (बेर), कर्कन्धु (बेरविशेष), खम्भारी, फालसा मुनक्का, नील, मुलेठी, वृक्षकरञ्ज (पूति करञ्ज), बायविडङ्ग, सुपारी और एरण्ड, इन सबके फल। इनमे भी अमलतास के फल और पत्र, करञ्ज वृक्ष की छाल-फल और पत्र, थूहर-सप्तपर्ण (सतौना) और मालकागनी इनका दूध लेना चाहिए। दूध, दहीका तोड, मद्य, काजी तथा आठ प्रकार के मूत्र (भेड, बकरी, गाय, महिषी, हस्ति, ऊट, घोडा, और खरका मूत्र), ये सब विरेचन के उपयोग में आनेवाले द्रव्य है।

कोशातकीदेवदालीसप्तलाकारवेल्लिकास्वरसा ,अर्कक्षीरमुष्णोदक चेत्युभयात्मकानि। बस्तिषु तु तेषु तेष्ववस्थान्तरेषु यान्युपयुज्यन्ते द्रव्याणि तान्येवासंख्येयत्वान्नोपदिश्यन्ते। रसस्कन्धेभ्य एव यथादोष यथावस्थ च विभजेत्।

वमनविरेचन उभयोपयोगी द्रव्य—जगली कडवी तोरई, बन्दाल, सातला (थूहरविशेष) और करेला इनके स्वरस तथा आक का दूध और उष्ण जल ये उभयात्मक है अर्थात् वमन और विरेचन इन दोनों के करानेवाले है।

बस्तिकर्म में द्रव्यो की योजना—बस्तिविधान मे जिन २ अवस्थाओं के अनुसार द्रव्यों की कल्पना की जाती है, उनका वर्णन यहा नही किया जाता है। इस लिए कि वे द्रव्य असख्य है। उनकी विभाजनकल्पना रसस्कन्धों से ही जैसा दोष और जैसी अवस्था हो, उसके अनुसार कर लेनी चाहिए।

सर्वेषु तु प्रायो मदनकुटजजीमूतकेक्ष्वाकुकोशातकीद्वयत्रपुषसिद्धार्थकशताह्वाफलानि। बलादशमूलैरण्डत्रिवृद्वचायष्ट्याह्वकुष्ठरास्नापुनर्नवाकत्तृणमूलानि। सरलदेवदारुहपुषाहिङ्गुरसाञ्जनव्योषपत्रैलाऽमृतायवकोलकुलत्थगुडलवणमस्तुधान्याम्लमूत्रस्नेहक्षौद्रक्षीराणि चेति निरूहोपयोगीनि।

निरूहोपयोगी द्रव्य—प्राय सब प्रकार की निरूहबस्तियों मे मैनफल, इन्द्रजौ, देवदाली, कडवी तुम्बी, कटु तोरई दोनों प्रकार की, कटु ककडी, सरसों और सोंफ इन सबके फल तथा खिरेटी, दशमूल, एरण्ड, निशोत, बच, मुलेठी, कूट, रास्ना, साटी, कत्तृण (एक प्रकार का घास), इन सबके मूल लेना चाहिए। चीड, देवदार, हाऊबेर, हींग, रसोत, सोंठ, मिरच, पीपल, पत्रज, इलायची, गिलोय, जौ, बेर, कुलथी, गुड, नमक, मस्तु, काजी, मूत्र (गोमूत्रादि), स्नेह (घृत तैलादि चारों प्रकारके), शहद और दूध ये सब निरूहबस्ति मे उपयोगी हैं।

अपामार्गविडङ्गमरिचपिप्पलीशिरीषबिल्वाजाज्यजमोदवार्त्ताकपृथ्वीकैलाहरेणुफलानि। तालीसतमालतर्कारीहरितकवर्गपत्राणि[1]। सर्षपफलपत्राणि। शिग्रुफलपत्रत्वच। हरिद्रामूलकलशुननागरकन्दपत्राणि। अतिविषाकन्दा। कुष्ठवचाभार्ङ्गीश्वेताकिणिहीनागदन्तीज्योतिष्मतीगवाक्षीवयस्थावृश्चिकालीबिम्बीकरञ्जमूलानि। अर्कालर्कपुष्पमूलानि। रोध्रमदनसप्तपर्णनिम्बपीलुबीजानि। मुरङ्गीमातुलुङ्गीलवङ्गपुष्पाणि। अगुरुसुरदारुसरलसल्लकीजिङ्गिण्यसनरसाञ्जनहिङ्गुलाक्षानिर्यास। तमालशालतालमधूकदार्वीसारा। तेजस्विनीमेषश्रृङ्गीवराङ्गेङ्गुदीबृहतीद्वयत्वच। राजादनमज्जक्षौद्रलबणानि मद्यानि गवादिशकृद्रसमूत्रपित्तान्येवविधानि चेन्द्रियोपशमनान्यन्यान्यपि तथा स्नेहा क्षीर रक्त मासरसो धान्यरसस्तोयमिति शिरोविरेचनोपयोगीनि।

शिरोविरेचन-उपयोगी द्रव्य—अपामार्ग (ओंगा), बायविडग, मरिच, पीपल, सिरस, बेल, जीरा, अजमोदा, वार्ताक (वृन्ताक बैंगन), छोटी और बडी दोनों इलायची, सम्हालू (निर्गुण्डी), इन सबके फल। तालीस, तमाल, तर्कारी (अग्निमन्थ या अरणी), हरितक वर्गकी सब ओषधियाँ इन सबके पत्र। सरसों के फल और पत्र, सहजने के फूल, पत्र और छाल। हल्दी, मूली, लहसुन, सोंठ इनके कन्द और पत्र। अतीस के कन्द। कूट, वच, भारगी, श्वेत अपामार्ग, नागदन्ती (जयपाल मोटा), मालकाङ्गुनी, इन्द्रायन, काकोली, क्षीरकाकोली, बरहण्टा, बिम्बी (कुन्दरु) तथा करञ्ज इन सबके मूल। श्वेत और रक्त दोनों प्रकार के आक (मदार) इनके मूल और पुष्प। लोद, मैनफल, सतौना, नीम और पीलु इन सबके बीज। लाल फूलका सहँजना, बिजौरा और लवङ्ग इन सबके पुष्प। अगर, देवदार, चीढ, सालई, जिङ्गिणी[2] अर्थात् काला सेम्हल, बिजयसार, रसोत, हीग और लाख इन सबका गोंद (निर्यास), तथा ताड, तमाल, साल, महुआ, दारुहल्दी इन सबके सार अर्थात् भीतरी परिपक्व काला काष्ठ। तेजस्विनी (महाज्योतिष्मती = मालकागुनी बड़ी), मेंढासिगी, वराङ्ग (तज), हिगोट, दोनों प्रकार की छोटी और बडी कटेरी, इन सबकी छाल। खिरनी की मज्जा अर्थात् फल के अन्दर का गूदा, शहद, सब प्रकार के नमक, सब प्रकार के मद्य, मेंढी आदि आठ पशुओंके मूत्र, गोबर या लीद का निचोडा हुआ रस, मूत्र और पित्ते तथा इसी प्रकार के इन्द्रियोपशमकारक द्रव्य, स्नेह (घृत, तेल, बसा और मज्जा),

१ अविमूत्रमजामूत्र गोमूत्र माहिष तथा। हस्तिमूत्रमथोष्ट्रस्य हयस्य च खरस्य च॥ इति चरके।

१ "कुठेरशिग्रुसुरससुमुखासुरिभूस्तृणा। मूलक चुक्रिका चेति वर्गं हरितक विदु॥"। २ "जिङ्गिणी कृष्णशाल्मलि" इतीन्दु।

दूध, रक्त, मांसरस, धान्यरस और जल ये सब शिरोविरेचन के उपयोगी पदार्थ है ।

मधुकपद्मकमञ्जिष्ठासारिवामुस्तापुन्नागकेसरैलवालुकसुवर्णत्वक्तमालपृथ्वीकाहरेणुलाक्षाशतपुष्पासल्लकीशर्करामदनकमरुबकन्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षलोध्रत्वक्पद्मोत्पलानि सर्वगन्धद्रव्याणि च कुष्ठतगरवर्ज्यानि प्रायोगिकधूमोपयोगीनि[1] ।

प्रायोगिक धूमोपयोगी द्रव्य—मुलेठी, पद्माख, मजीठ, अनन्तमूल, नागरमोथा, नागकेसर केसरकाला सुगन्धबाला, सुवर्ण (हरिचन्दन), तज, तमालपत्र (पत्रज), बडी इलायची, निर्गुण्डी, लाख और सौंफ, सालई, शक्कर, मैनफल, मरुआ तथा बड, गूलर, पीपल (अश्वत्थ), पाकर, लोद, इन सबकी छाल, कमल, कमोदिनी ये सब, कूट और तगर को छोडकर सुगन्धिद्रव्य प्रायोगिक धूममें उपयुक्त पदार्थ है। स्वस्थवृत्तोक्त स्नेहवर्जित धूमपान का नाम यहा प्रायोगिक धूम समझना चाहिए।

अगुरुगुग्गुलुसल्लकीशैलेयकनलदह्रीबेरहरेणूशीरमुस्तध्यामकत्वराङ्गश्रीवेष्टकस्थौणेयकपरिपेलवैलवालुककुन्दरुकसर्जरसयष्ट्याह्वफलसारस्नेहमधूच्छिष्टबिल्वफलमज्जयवतिलमाषकुङ्कुमानि मेदोमज्जवसासर्पीषि च स्नैहिकधूमोपयोगीनि ।

स्नैहिक धूमोपयोगी द्रव्य—अगर, गूगल, सालईका गोंद, छारछरीला, जटामासी, सुगन्धबाला, सम्हालू, खस नागरमोथा, ध्यामक (सुगन्धि तृण विशेष), दालचीनी, श्रीवेष्टक (सल्लनिर्यास-गन्धाबिरोजा), गठौना, जलमुस्तक (केवटी मोथा), काला सुगन्धिबाला, कुन्दरु गोंद, राल, मुलेठी, फलसार, स्नेह (तैल), मोम, बेल के फल की मज्जा (गूदा), जौ, तिल, माष (उडद), केशर, मेद (चर्बी), मज्जा, वसा और घृत ये सब स्नैहिक धूमपान के उपयोगी द्रव्य है ।

शिरोविरेकद्रव्याणि[2] गन्धद्रव्याणि च तीक्ष्णानि मनोह्वा हरिताल चेति तीक्ष्णधूमोपयोगीनि ।

तीक्ष्ण धूमोपयोगी द्रव्य—प्रथम शिरोविरेचनोपयोगी कहे हुए द्रव्य, गन्धद्रव्य, स्वर्णक्षीरी, दन्ती आदि तीक्ष्ण द्रव्य, मैनसिल और हरताल ये सब तीक्ष्ण धूमोपयोगी द्रव्य है ।

भद्रदारुकुष्ठतगरवरुणबलाऽतिबलाऽऽर्तगलकच्छुरावृकीकुबेराक्षीवत्सादन्यर्कालर्ककतकभार्ङ्गीकार्पासीवृश्चिकालीपत्तूरप्रभृतीनि विदार्यादिगणो वीरतरादिस्तृणाख्यवर्ज्यानि षट्पञ्चमूलानि चेति वातशमनानि ।

वातशामक द्रव्य—देवदारु, कूट, तगर, बरना (वरुणवृक्ष), खिरेटी, सहदेवी, आर्तगल (नीले पुष्पवाली कटसरैया), केवाच, पाढ, करञ्जुआ, गिलोय, आक, श्वेतपुष्प का आक, निर्मली, भारङ्गी, लाल फूलका कपास, वृश्चिकाली (बरहण्टा Fragia in volucrata) और पत्तूर (जलब्राह्मी या शालिञ्च नामक शाकविशेष) आदि और आगे कहे जानेवाले विदार्यादि गण तथा वीरतरादि गण की सब ओषधिया, तृणपञ्चमूल तथा तृणषण्मूल (कुश, काश, शर, इक्षु, दर्भ और शालिमूल) इन पाच या छ तृणमूलों को छोड करके इस गद्य मे वर्णित सभी ओषधियाँ वायुको शमन करनेवाली है ।

दूर्वाऽनन्तामोचरसमञ्जिष्ठापरिपेलवकालाकालीयकदलीकन्दलीपयस्याऽऽत्मगुप्तानालिकेरखर्जूरद्राक्षाविदारीबदरीबलानागबलानागपुष्पाशतावरीशीतपाक्योदनपाकीतृणशूल्यगुमतीद्वयारिष्टकारिष्टाटरूषकेत्कटप्रियङ्गुधातकीधन्वनश्यन्दनखदिरकदरपियालतालशालसर्जतिनिशाश्वकर्णगुन्द्रावानीरपद्मापद्मकपद्मबीजमृणालकुमुदनलिनसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रसेवालकह्लारोत्पलकाकोल्युत्पलिकाशालूकशृङ्गाटककसेरुकक्रौञ्चादनप्रभृतीनि शीतवीर्याणि सारिवादि पद्मकादि पटोलादिर्न्यग्रोधादिर्दाहहरो महाकषायस्तृणपञ्चमूल चेति पित्तशमनानि।

पित्तशामक द्रव्य—दूर्वा, सारिवा, मोचरस, मजीठ, केवटी मोथा, काली निशोत, कालीयक (अगर एव चन्दनविशेष), केला, कमलगट्टा, क्षीरकाकोली, केवाच, नारियल, खजूर, द्राक्षा (अगूर), विदारीकन्द, बेर, खिरेटी, गङ्गेरन, नागकेशर, सतावर, काकोली, नीलपुष्प की कटसरैया, तृण (गन्धतृण विशेष), शूली (एक प्रकार का तृण), शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, नीम, रीठा, अडूसा, इत्कट, प्रियङ्गु, धाय के फूल, धव, धामन, श्यन्दन, खैर, गन्धा खैर (इरिमेद), चिरौञ्जी, ताड, शाल, राल, तिनिश (तीवस), अश्वकर्ण (पलाश विशेष), गूदी, जलवेतस, गुलाब, पद्माख, कमलबीज, कमल की नाल, कुमोदिनी, नीलकमल (नीलोफर), सौगन्धिक-पुण्डरीक शतपत्रनामक कमल की जाति विशेष, जलका सेवाल, कल्हार उत्पल-कुमोदिनीभेदविशेष, काकोली, कमलिनी, शालूक, सिघाडे, कसेरू, क्रौञ्चादन (मृणाल) आदि शीतवीर्य ओषधियाँ तथैव आगे कहे जानेवाले सारिवादि, पद्मकादि, न्यग्रोधादि इन गणों के सब द्रव्य, दाहहर महाकषाय के द्रव्य (चरक-सूत्रस्थान अ० ४ गद्य ४१ मे वर्णित), तथा तृणपञ्चमूल (कुश, काश, शर (मूज), ईख और दर्भ के मूल) ये सब पित्तशामक है ।

शीतशिव[1]शतपुष्पासरलसुरदारुरास्नेङ्गुदीसातलासुमन काकादनीलाङ्गलीहस्तिकर्णमुञ्जातलाज्जकप्रभृतीन्यारग्वधादिरसनादिरर्कादि सुरसादिर्मुष्ककादिर्वत्सकादिर्मुस्तादि शीतघ्नश्च महाकषायो वल्लीकण्टकपञ्चमूले च श्लेष्मशमनानीति ।

कफशामक द्रव्य—शीतशिव (कर्पूर या सेन्धा नमक) तथा अन्यों के मत से शीत=कपूर और शिव=धतूरा, सौफ, चीढ, देवदारु, रास्ना, हिङ्गोट, सातला (थूहर विशेष),

१ मधुकादीनि प्रायोगिके स्वास्थ्यवृत्तिके धूमे योगमर्हन्तीति इन्दु । २ "तीक्ष्णानि शिरोविरेचनद्रव्याणि हैमवतीदन्त्यादीनि" इतीन्दु ।

१ शीतशिव कर्पूर इति डल्हन । शीतशिव सैन्धवलवणम् इति राजवल्लभनिघण्टु ।

सुमन (जाति), कटेरी, कलिहारी, हस्तिकर्ण (पलाश विशेष), मूज, सुगन्धिबाला आदि तथा आगे कहे जानेवाले आरग्वधादि-असनादि-अर्कादि-सुरसादि-मुष्ककादि- वत्स कादि-मुस्तादि इन गणों की ओषधिया, शीतघ्न महाकषाय (चरक सूत्र अ० ४ गद्य ४२), पूर्ववर्णित वल्लिपञ्चमूल तथा कण्टकपञ्चमूल के द्रव्य ये सब कफ के शमन करनेवाले हैं।

भवति चात्र—

समीक्ष्य दोषदूष्यादीनमी वर्गा सुयोजिता ।
सर्वामयजयायाल जायन्ते नियतात्मनाम् ॥

इत्यष्टाङ्गसग्रहसूत्रस्थाने शोधनादिगणसग्रहो नाम चतुर्दशोऽध्याय ।

विचारपूर्वक योजना की आवश्यकता—ध्यान रहे कि आहार-विहारादि द्वारा पथ्य से रह कर अपनी आत्मा को वश मे रखनेवाले मनुष्यों के लिए दोष और दूष्यादिका भलीभाति विचार कर प्रयोग करने के लिए इन उपर्युक्त वर्गो की योजना की गई है। इनको विचारपूर्वक प्रयुक्त करने से ये समस्त व्याधियों को जीतने में पर्याप्त होते हैं। साराश यह कि विचारपूर्वक इनके प्रयोग करने से अवश्य समस्त रोगोंका नाश हो सकता है।

इति वाग्भटाचार्यकृताष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाख्यहिन्दी व्याख्याया शोधनादिगणसग्रहो नाम चतुर्दशोऽध्याय ॥१४॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः ।

अथातो महाकषायसग्रहमध्याय व्याख्यास्याम । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

महाकषायसग्रह—अब जिसमे महाकषायों का सग्रह किया गया है, उस महाकषायसग्रह नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि आत्रेयादि महर्षियों ने पहले किया है।

आनन्त्यादौषधानामामयाना चानन्ता एव कषाया । ये तु सुतरामुपयोगवन्त प्रकर्षवर्तिनो वा ते जीवनीयादिसज्ञा प्रत्येक दशकषायसयोगात्पञ्चचत्वारिशन्महाकषाया वक्ष्यन्ते । यत्प्रतिबोधार्थमेव[1] मन्दबुद्धीनाम् । बुद्धिमतामुदाहरणमात्रदर्शनार्थम्[2] । शक्य हि बुद्धिमद्भि स्वादुशीतस्निग्धादीन् जीवन्त्यादिषु साधारणान् गुणानालोच्य क्षीरेक्षुद्राक्षाऽक्षोडविदारीकन्दादिष्वपि तद्गुणेषु जीवनीयादित्वमवधारयितु यथोक्तानुसरणमेव तु श्रेयो मन्दबुद्धेरिति । व्यस्ताश्च ते चत्वारि शतानि पञ्चाशदधिकानि तदभिधान्येव। यद्यपि च तानि तान्येव द्रव्याणीति द्रव्यसकर कषायेषु तथाऽपि न सज्ञाविरोध । एकस्यापि बहुकार्यनिर्वर्तनात्[3] । तत्र लवणवर्ज्या रसा कल्पनाया कषाया इत्युच्यन्ते । तद्योनित्वात् । लवणे तु[1] निर्यासादिकल्पनानामसम्भव. । पृथगुपयोगोपकाररहितत्वाच्च नैरर्थ्यकमिति ।

महाकषायो के कहने का उद्देश—ओषधियों एव रोगों के अनन्त (असख्य) रहने से कषाय भी अनन्त है तथापि जो ओषधियाँ वस्तुत उपयोगिनी एव प्रकर्षवती है उन्ही की महर्षियों ने गणों मे विभक्त कर 'जीवनीय' आदि सज्ञा की है। प्रत्येक कषाय मे दस दस कषायद्रव्यों का सयोग होने से ४५ महाकषाय कहे जायँगे। इन ४५ महाकषायोंका कथन कुल केवल मन्दबुद्धिवालों के समझने के लिए है और बुद्धिमानों के लिए तो केवल उदाहरणमात्र दिखाने के लिए है क्यों कि बुद्धिमान् लोग जीवन्ती आदि गणों के मधुर, शीत, स्निग्धादि साधारण गुणों की आलोचनाकर दूध, ईख, दाख, अखरोट, विदारीकन्द आदि के गुणों मे भी जीवनीयादि गुणत्व का विचार कर सकते है परन्तु मन्दबुद्धिवालों का कल्याण तो जैसे कहे गए है उन गणों का अनुसरण करने मे ही है। यदि एक एक गण के दस दस द्रव्यों मे से एक एक द्रव्य का पृथक् २ कषाय मान ले तो वे उसी जीवनीयादि सज्ञावाले चार सौ पचास कषाय होंगे। यद्यपि वह का वह द्रव्य कई कषायों मे आने से जैसे कि गुडूची का नाम एक कषाय मे आया है, त्यों ही दूसरे भी किसी कषाय मे गुडूची का नाम आया है, इससे द्रव्य सकर अवश्य होता है तथापि सज्ञा विरोध नही होता। इस लिए कि एक ही द्रव्य अनेक कार्यों का करनेवाला होता है।

यहा षड्सों में से एक लवण रस का परित्याग करके शेष पाच रसवाले ही कल्पना मे कषाय कहे गए है क्यों कि एक लवण रसवर्जित शेष पाच रस ही कषाययोनि (कषायों के निष्पन्न करनेवाले) है। कषायों मे लवण रस के परित्याग का कारण यही है कि लवण रस मे निर्यासादि (निर्यास, छाल, पत्र, पुष्पादि) का अभाव है। इतना ही नहीं, अकेले लवण रस के कषाय का उपयोग उपकाररहित होने से वह निरर्थक ही ठहरता है। इसी लिए कषायों मे लवण रस का समावेश नही है।

विशेष वक्तव्य—वाग्भट चरक का अनुगामी है। उसने महर्षि आत्रेय के कथन का यत्र तत्र समान किया है परन्तु यहा महाकषायों के विषय मे चरक से वाग्भट का मतभेद दिखाई दे रहा है। चरक ने पचास महाकषाय कहे है परन्तु वाग्भट महाकषायों की सख्या ४५ ही कहते है। वस्तुत यह मतभेद नही है किन्तु केवल हमारा भ्रम है। वमन-विरेचनादि गुणवाले ऐसे पाच कषायों के द्रव्यों का अन्तर्भाव वाग्भट ने शोधनादिगणसग्रह में करके ४५ शेष कषायों को यहा कहा है। साराश, चरक के ५० महाकषाय वाग्भटरचित इस अष्टाङ्ग सग्रह में भी आ चुके है।

जीवन्ती काकोल्यौ द्वे मेदे मुद्गमाषपर्ण्यौ च ।

१ तत्प्रतिबोधार्थमेव। २ प्रदर्शनार्थम्। ३ निर्वर्त्तनत्वात्। इति पाठा०।

१ लवणस्य यतो। इति पाठान्तराणि। २ 'ते च जीवनादयो महाकषाया सख्यया पञ्चचत्वारिंशत्। चरके तु षड्विरेचनशताश्रितीये पञ्चाशदुक्ता। तेभ्यो वमनोपयोगादय पञ्चात्र न सगृहीता। तद्द्रव्याणा शोधनादिगणसग्रहोक्तवमनाद्युपयोगिष्वन्तर्भावात्' इतीन्दु ।

ऋषभकजीवकमधुक चेति गणो जीवनीयाख्य ॥ १ ॥
वाट्या बला पयस्या काकोल्याविक्षुवाजिगन्धे च ।
क्षीरिणिराजक्षवके भारद्वाजी च बृहणीयोऽयम् ॥ २ ॥
हैमवती चिरबिल्व मुस्ता कुष्ठ वचा हरिद्रे च ।
चित्रककटुकातिविषा वर्गोऽय लेखनीयाख्य ॥ ३ ॥
अर्कैरण्डौ चित्राचित्रकचिरबिल्वशङ्खिनीसरला ।
हेमक्षीरी कटुका वह्निमुखी भेदनीयोऽयम्[1] ॥ ४ ॥
मधुमधुकपृश्निपर्णीकट्फललोध्रप्रियङ्गुधातक्य[3] ।
अम्बष्ठकी समङ्गा मोचरसश्चेति सधान ॥ ५ ॥
हिङ्गुमरिचाम्लवेतसदीप्यकभल्लातकास्थिसयोगात् ।
वर्ग सपञ्चकोलो निर्दिष्टो दीपनीयोऽयम् ॥ ६ ॥
ऐन्द्र्यतिरसा पयस्या ऋष्यप्रोक्तास्थिराबलाऽतिबला ।
इति बल्यो दशकोऽय हयगन्धा रोहिणी ऋषभ ॥ ७ ॥
चन्दनतुङ्गपयस्यारितालतामधुरपद्मकोशीरन् ।
वर्ण्यो गणोऽयमुदित मञ्जिष्ठासारिवासहित ॥ ८ ॥
हसपदीबृहतीद्वयमृद्वीकासारिवेक्षुमूलानि ।
कैडर्यमधुककृष्णा सविदार्य कण्ठजननानि ॥ ९ ॥

जीवनीय गण—**जीवन्ती (डोडी का शाक), काकोली क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, ऋषभक जीवक और मुलेठी ये दस जीवनीय गणकी ओषधिया है, अर्थात् इनसे जीवन (आयु) की वृद्धि होती है।**

बृहणीय गण—महाबला, बला, (खिरेटी), विदारीकन्द, काकोली, क्षीरकाकोली, ईख, असगन्ध, दूधी छोटी और बडी, बनकपास ये दस बृहणीय गण की ओषधिया शरीरको पुष्ट करनेवाली है।

लेखनीय गण—स्वर्णक्षीरी, करञ्जुआ, नागरमोथा, कूट, वच, हल्दी, दारुहल्दी, चित्रक, कुटकी और अतीस ये दस लेखनीय गणके द्रव्य है। ये शरीर मे से दोषों को खुरच कर निकालने वाला स्थूलतानाशक (Liquefacient) गण है।

भेदनीय गण—आक, एरण्ड, दन्ती, चित्रक, कञ्जा, यव तिक्का (सत्यानाशी), निशोत, स्वर्णक्षीरी (रेवाचीनी), कुटकी और कलिहारी (वह्निमुखी) ये दस भेदनीय गण (Purgative) के द्रव्य शरीर मे के मल को तोड-फोड कर बाहर निकालनेवाले हैं।

सन्धानीय गण—शहद, मुलेठी, पिठवन, कायफल, लोद, प्रियगु, धातकी, पाढ, छोटी बडी मोई, मजीठ और मोचरस ये दस सन्धानीय (टूटी हड्डी को जोडनेवाले) पदार्थ है।

दीपनीय गण—हींग, स्याहमिरच, अमलबेत, अजवायन, भलावे की गिरी, पञ्चकोल (पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक और सोंठ) ये दस दीपनीय गण अर्थात् जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाला (Stomachic) है।

बल्य गण—इलायची, मूर्वा या सतावर, क्षीरकाकोली, कौंच, शालपर्णी, खिरेटी, कघी, असगन्ध, खैरसार और ऋषभक ये दस बल्य गण (Tonic) के द्रव्य हैं।

वर्ण्य गण—चन्दन, केसर, क्षीरकाकोली, श्वेतदूर्वा, प्रियगु, मुलेठी, पद्माख, खस, मजीठ और अनन्तमूल ये दस वर्ण्य गण के द्रव्य है। यह शरीर के चर्मको सुन्दर बनानेवाला (Cosametic) है।

कण्ठजनन गण—हसराज, छोटी और बडी कटेरी, दाख, अनन्तमूल, ईखकी जड, कायफल, मुलेठी, पीपल और विदारी कन्द ये दस कण्ठजनन अर्थात् कण्ठको कोयलके समान करने वाले है।

वृक्षाम्लबदरदाडिमकुवलाम्राम्रातलिकुचकरमर्दम् ।
हृद्य समातुलुङ्गाम्लवेतस विद्धि वर्गमिमम्[1] ॥१०॥
नागरचविकाचित्रकविडङ्गमूर्वाऽमृतावचामुस्ता ।
सहपिप्पलीपटोलास्तृप्तिघ्नोऽय गणः प्रथितः ॥११॥
कुटजफलबिल्वचित्रकमहौषधप्रतिविषावचाचविका ।
धन्वयवास पथ्या दारुहरिद्रा गणोऽयमर्शोघ्न ॥१२॥
खदिरामलकारुष्करनिशाऽभयासप्तपर्णकरवीरा ।
कुष्ठघ्नाश्चतुरङ्गुलविडङ्गजातिप्रवालाश्च ॥१३॥
नलदकृतमालचन्दनसर्षपघननिम्बकुटजमधुकानि ।
कण्डू दारुहरिद्रा सनक्तमालानि निघ्नन्ति ॥१४॥
अक्षीबमरिचकेम्बुक[2]विडङ्गकाण्डीर[3]किणिहिनिर्गुण्ड्य ।
घ्नन्ति क्रिमीन् श्वदष्ट्राविपाखुपर्ण्यस्तथा न चिरात् ॥१५॥
मञ्जिष्ठाश्लेष्मातकरजनीसुवहाशिरीषपालिन्द्य ।
सैलाचन्दनकतका ससिन्दुवारा विष घ्नन्ति ॥१६॥
शालिकुशकाशषष्टिकवीरणदर्भेक्षुबालिकेक्षृणाम् ।
तद्वद्गुन्द्रोत्कटयोर्मूलमल स्तन्यजननाय ॥१७॥
पाठानागरसुरतरुघनामृतासारिवेन्द्रयवमूर्वा ।
कटुका किराततिक्त वर्गोऽय स्तन्यशुद्धिकर ॥१८॥

हृद्य गण—**वृक्षाम्ल (तिन्तिडीक या कोकम), बेर, अनार, कुवल (पेमजी बेर), आम, आम्रातक (अम्बाडा), बडहल, करौन्दा, बिजोरा और अमलबेत ये दस द्रव्य हृद्यगण कहलाते हैं। ये रुचिकारक तथा हृदय के लिए प्रिय है।**

तृप्तिघ्न गण—सोंठ, चव्य, चित्रक, बायविडङ्ग, मूर्वा, गिलोय, बच, नागरमोथा, पिप्पली और पटोल ये दस तृप्तिघ्न अर्थात् कफके दोष से उत्पन्न तृप्ति (खाने की अरुचि) को दूर करनेवाले हैं।

अर्शोघ्न गण—इन्द्रजव, बेल, चित्रक, सोंठ, अतीस, बच, चव्य, धमासा, हरड और दारुहल्दी ये दस अर्शोघ्न अर्थात् बवासीरके नाशक हैं।

कुष्ठघ्न गण—खदिर (खैर-कत्था), आमला, भिलावा, हल्दी, हरड, सतौना, कनेर, अमलतास, वायविडङ्ग तथा चमेली के कोमल पत्ते ये दस कुष्ठघ्न अर्थात्, कोढ के नाश करनेवाले है।

कण्डूघ्न गण—**जटामासी, अमलतास, चन्दन, सरसों, नागरमोथा, नीम, कुडा या इन्द्रजव, मुलेठी, दारुहल्दी,**

---

१ भेदनीयानि। २ वह्निमुखी=लाङ्गलीति हेमाद्रि। ३ 'अम्बष्ठकी=माचिका' इत्यपि हेमाद्रि।

१ "हृद्य समातुलुङ्ग विद्धि तथा साम्लवेतस वर्गम्।" इति हेमाद्रिसमत पाठ। २ केबुक। ३ गण्डीर। इति पाठभेद

करजुआ (कञ्जा) ये दस कण्डूघ्न हैं अर्थात् ये खाज, दाद, पामा आदि के नाशक है।

कृमिघ्न गण—सहॅजना, मिरच श्याह, केम्बुक (शालिञ्च या सुपारी), वायविडङ्ग, करेला, अपामार्ग, निर्गुण्डी, गोखरू, अतीस और उन्दिरकन्नी ये दस कृमिघ्न (बीसों प्रकार के कृमि रोग के नाशक) है अर्थात् (Anthelmiutic) है।

विषघ्न गण—मजीठ, लिहसौडा, हल्दी, निशोत, सिरस, काली निशोत, इलायची, चन्दन, निर्मली तथा निर्गुण्डी ये दस विषको दूर करनेवाले अर्थात् (Antitoxic) है।

स्तन्यजनन गण—शालि चावल, कुश, काश, साठी चावल, वीरण (सुगन्धितृण विशेष), डाभ, खस, ईख, गोंदी और उत्कट (ऊटस्टारा मूल) ये स्तन्यजनन-स्त्रियों के स्तनों मे दूध उत्पन्न करनेवाले (Galactagogul) है।

स्तन्यशुद्धिकर गण—पाढ, सोंठ, देवदारु, नागरमोथा, गिलोय, अनन्तमूल, इन्द्रजव, मूर्वा, कुटकी और चिरायता ये दस स्तन्यशुद्धिकर (स्त्रियों के दूषित दूध को शुद्ध करनेवाले (Milk Improver) है।

मेदे काकोलीद्वयवृत्तरुहाजीवकर्पभकुलिङ्गा ।
शुक्रजननो गणोऽय सहजटिलाशूर्पपर्णीभि ॥१९॥
कुष्ठैलवालुकट्फलकाण्डेद्विवद्वब्धिफेनकोशीरै ।
वसुकेक्षुरकै शुक्र शुद्ध्यत्सकदम्बनिर्यासै ॥२०॥
द्राक्षाकाकोलीद्वयमधुपर्णामधुकजीवकविदार्यै ।
स्नेहोपगा समेदाजीवन्तीशालिपर्णीका ॥२१॥
सौभाञ्जनकपुनर्नववृश्चीवकुलत्थमाषबदराणि ।
स्वेदोपगानि विद्यात्सयवतिलार्कोरुबूकानि ॥२२॥
लाजाऽऽम्रबदरदाडिमयवषष्टिकमातुलुङ्गसेव्यानि।
जम्ब्वाम्रपल्लवानि च वमिनिग्रहणानि मृत्स्ना च ॥२३॥
नागरधन्वयवासकबालकपर्पटकचन्दनगुडूच्य ।
भूनिम्बघनपटोलीकुस्तुम्बर्यस्तृष हन्ति ॥२४॥
बृहतीद्वयवृत्तरुहापुष्करमूलाभयाकणाशृङ्ग्य ।
हिध्मा निघ्नन्ति शटी दुरालभा बदरबीज च ॥२५॥
श्यामाऽनन्ता पद्मा कट्वङ्ग पद्मकेसर लोध्रम् ।
धातुकिकुसुमसमङ्गामोचरसाम्रास्थिविड्ग्रहणम् ॥२६॥
जम्बूसल्लकिमधुक नीलोत्पलकच्छुरातिलश्याह्वम्।
भृष्टा च मृत्पयस्या सशाल्मली विड्विरजनानि ॥२७॥

शुक्रजनन गण—मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, वन्दा या विदारीकन्द, जीवक, ऋषभक, गवरैया पक्षी का मास, जटामासी, मुद्गपर्णी या माषपर्णी ये दस शुक्रजनन अर्थात् वीर्य के उत्पन्न करनेवाले (Sqermatopoietic) गण के पदार्थ है।

शुक्रशुद्धिकर गण—कूट, सुगन्धवाला, कायफल, सुपेत ईख, काश, समुद्रफेन, खस, पुनर्नवा, तालमखाना और कदम्ब वृक्षका गोंद ये दस पदार्थ शुक्रशुद्धिकर (वीर्य को शुद्ध करने वाला Semen Improver) गण कहलाता है।

स्नेहोपग गण—द्राक्षा, काकोली, क्षीरकाकोली, गिलोय, मुलेठी, जीवक, विदारीकन्द, मेदा, जीवन्ती और शालिपर्णी ये दस स्नेहोपग शरीरको स्निग्ध (मृदु) बनानेवाले (Demulent) है।

स्वेदोपग गण—सहॅजना, पुनर्नवा लाल, पुनर्नवा श्वेत, कुलथी, उडद, बेर, जौ, तिल, आक और एरण्ड ये दस पसीना लानेवाले (Diaphoretic) है।

वमिनिग्रह गण—चावल का लावा, आम, बेर, अनार, जौ, साठी चावल, त्रिजौरा, खस, जासुन, आम के पत्ते और मृत्तिका ये वमिनिग्रह अर्थात् वमन को रोकनेवाला (Anti Emetic) गण है।

तृषाहर गण—सोंठ, धमासा, खस, पित्तपापडा, चन्दन, गिलोय, चिरायता, नागरमोथा, परवल और धनियाँ ये दस तृषाहर (प्यास को दूर करनेवाला) गण है। इसको अँगरेजी मे (Frigorific) कहते है।

हिध्माहर गण—छोटी और बडी दोनों कटेरी, वृक्षरुहा (किसी भी वृक्ष का बादा या आकाशवेल), पोहकरमूल, हरड, पीपल, काकडासिगी, कचूर, धमासा तथा बेर की गुठली यह हिचकी का नाश करने वाला (Antisingultus) गण है।

विड्ग्रहण गण—प्रियङ्गु, अनन्तमूल, भारङ्गी, अरलु, कमल के पुष्पकी केसर, लोद, धावडी के फूल, मजीठ, मोचरस, आमकी गुठली ये दस मल (पुरीष) को बाधनेवाले (Aslringent) है।

विड्विरजन गण—जामुन, सालई, मुलेठी, नील कमल, केवाच बीज, तिल, बेलकी गिरी, भुनी हुई मृत्तिका, क्षीरकाकोली, मोचरस ये दस विड्विरजन अर्थात् मल की रगत को ठीक करनेवाले-पुरीषकी शुद्धि करनेवाले है।

जम्ब्वाम्रोदुम्बरवटकपीतनप्लक्षपिप्पलाश्मन्तम् ।
भल्लातसोमवल्क मूत्रग्रहणाय निर्दिष्टम् ॥ २८ ॥
कमलनलिनकुमुदमधुकसौगन्धिकधातकीलताकुसुमम्।
मूत्र नयति विराग सोत्पलशतपत्रपुण्डरीक च ॥२९॥
वृक्षादनीश्वदंष्ट्रादर्भेत्कटवसुकवशिरकुशकाशा ।
मूत्र विरेचयेयुर्गुन्द्रा पापाणभेदश्च ॥ ३० ॥
द्राक्षाऽऽमलकपुनर्नववृश्चीवदुरालभाऽभयाकृष्णा ।
कास घ्नन्ति सशृङ्गी तामलकी कण्टकारी च ॥३१॥
चण्डाम्लवेतसशटीतामलकीहिङ्गुसुरसजीवन्त्य ।
पुष्करमूलैलाऽगुरु वर्गोऽय श्वासशमनाय ॥ ३२ ॥
द्राक्षापीलुपरूषकमञ्जिष्ठासारिवाऽमृतापाठा ।
त्रिफला चेति गणोऽय ज्वरस्य शमनाय निर्दिष्ट ॥३३॥
दाडिमफल्गुपरूषकपियालयवषष्टिकेक्षुबदराणि ।
श्रमनाशनानि विद्याद्द्राक्षाखर्जूरसहितानि॥ ३४ ॥
पद्मकलाजोशीर मधुकोत्पलशारिवासितोदीच्यम्।
काश्मर्यफल चन्दनमेषगणो दाहहा प्रोक्त ॥ ३५ ॥
नतनागरागुरुवचाधान्यकभूतीकपिप्पलीव्याघ्र्य ।
शीत शमयन्त्यचिरात्स्योनाक साग्निमन्थश्च ॥३६॥

मूत्रग्रहण गण—जामुन, आम, गूलर, बड, कपीतन (प्लक्ष विशेष), पाकर, पीपल वृक्ष, अश्मन्तक, भिलावा,

तथा कायफल ये दस मूत्रग्रहण अर्थात् बहुमूत्र को रोकनेवाले (Anti uretic) है।

मूत्रविरजन गण—कमल, नीलोफर, कुमोदिनी, मुलेठी, रक्तकमल, धाय के फूल, फूल प्रियङ्गु, उत्पल-शतपत्र-पुण्डरीक (तीनों कमल के भेद) ये दस मूत्र-विरजन अर्थात् दूषित मूत्र को शुद्ध करने वाले हैं।

मूत्रविरेचन गण—वृक्ष का बादा, छोटे गोखरू, डाभ, इरकट (खरपत्र), गजपीपल, साभर नमक, कुश, काश, गोंदी और पखानभेद ये दस मूत्रविरेचन अर्थात् पेशाब को साफ लानेवाले (Diuretic) है।

कासघ्नगण—दाख, आमला, साटी (पुनर्नवा-इटसिट), श्वेत पुनर्नवा, धमासा, हरड, पीपल, काकडासिगी, भूम्यामलकी और कटेरी ये दस कासघ्न अर्थात् खासी को दूर करनेवाले (Anti Coughic) है।

श्वासशामक गण—चोरपुष्पी, अमलबेत, कचूर, भूम्यामलकी, सुरस (तुलसी), हींग, जीवन्ती, पुष्करमूल, इलायची और अगर ये दस श्वासशामक (Anti Asthamatic) हैं।

ज्वरशामक गण—द्राक्षा, पीलु, फालसा, मजीठ, सारिवा, गिलोय, पाढ, हरड, बहेडा और आवला ये दस ज्वरशामक (Anti Febric) हैं।

श्रमनाशक गण—दाडिम, गूलर, फालसा, चिरौजी, जौ, साठी चावल, ईख, बेर, दाख और खजूर ये दस श्रमनाशन-थकावटको दूर करनेवाले (Refrigent) है।

दाहशामक गण—पद्माख, धान की खील, खस, मुलेठी, नीलोफर, सारिवा, मिश्री (शर्करा), सुगन्धबाला, खम्भारी का फल और चन्दन ये दस दाहशामक अर्थात् बढ़े हुए सताप को दूर करनेवाले है।

शीतशामक गण—तगर, सोंठ, अगर, वच धनियाँ, अजवायन, पीपल, कटेरी, अरलू तथा अरणी ये दस शीतशमन (Anlialgide) ठण्ड के हरनेवाले है।

तिन्दुकपियालबीजकसप्रच्छदखदिरकदरबदराणि ।
अरिमेदवाजिकर्णौ ककुभश्चोदर्दशमनानि ॥ ३७ ॥
काकोल्येला सेव्यनिदिग्धिके शालिपृश्निपर्ण्यौ च ।
घ्नन्त्यङ्गमर्दमचिराचन्दनमधुकौ रुबूक च ॥ ३८ ॥
दीप्यकमरिचाजाजीगण्डीर साजगन्धमथ शूलम् ।
शमयति सपञ्चकोल शोफ दशमूलमाढ्य च ॥
मधुमधुकलाजगैरिकफलिनीमोचरसमृत्कपालानि ।
सस्थापयन्ति रुधिर रुधिर च सशर्कर रोध्रम् ॥४१॥
शैलेलवालुकट्फलमोचरसाशोकपद्मकशिरीषम् ।
स्थापयति वेदनामथ सहतुङ्गकदम्बविदुल च ॥४२॥
कैडर्यहिङ्गुचोरकपलङ्कषाशोकरोहिणिवय स्था ।
पूत्यरिमेदो जटिला गोलोमीवचाश्च सज्ञादा ॥४३॥
ऐन्द्री दूर्वामोघा विश्वक्सेनाव्यथाशिवाऽरिष्टा ।

१ कुटज इत्यपि पाठ ।

ब्राह्मी सवाटय्यपुष्पी शतवीर्यास्थापयेद्गर्भम् ॥ ४४ ॥
अमृता पथ्या धात्री जीवन्ती श्रेयसी स्थिरायुक्ता ।
मण्डूकपर्ण्यतिरसा स्थापयति पुनर्नवा च वय ॥४५॥

उदर्दशामक गण—तेदुआ का फल, चिरौजी, बिजयसार, सतौना, खैर, श्वेत खैर, बेर, गन्धा खैर, सालवृक्ष, अर्जुन वृक्ष ये दस उदर्दशमन अर्थात् कोठ, छपाका (शीतपित्त) तथा चमडी पर होनेवाले खाज सहित बडे बडे ददोरों को शान्त करनेवाले (Curing urticaria) है।

अङ्गमर्दशमन गण—काकोली, इलायची, खस, छोटी बडी दोनों कटेरी, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, चन्दन, मुलेठी और एरण्ड ये दस अङ्गमर्दन (हडफूटन) को दूर करनेवाले (Antispasmodic) है।

शूलघ्न गण—अजवायन, स्याहमिरच, जीरा, राई, अजमोदा, पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक और सोंठ ये दस पेट में के एव पसवाडे के शूलरोग को दूर करनेवाले है।

शोफघ्न तथा ऊरुस्तम्भघ्न गण—शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, छोटी और बडी दोनों कटेरी, छोटे गोखरू, बेल, अरणी, अरलू, खम्भारी, पाटला इन दस के मूल जो कि दशमूल कहलाता है, शोथ (सूजन) को दूर करनेवाला है और यही ऊरुस्तम्भ (आढ्य) को दूर करनेवाला है।

रुधिरास्थापन गण—शहद, मुलेठी, धान का लावा, गेरू, प्रियगु, मोचरस, मिट्टी की ठीकरी, पुराना आमला, शर्करा और लोद ये दस रक्तास्थापन अर्थात् बहत हुए रक्त को रोकनेवाले (Styptic) है।

वेदनास्थापन गण—शिलाजीत, सुगन्धबाला, कायफल, मोचरस, अशोक, पद्माख, सिरस, नागकेशर, कदम्ब और वेत ये दस होती हुई वेदना या पीडा को रोकनेवाले (Ansdyne) है।

सज्ञाकरण गण—बकायन, हीग, चोरक, गूगल, कुटकी, ब्राह्मी, गन्धा खैर, जटामासी, दूर्वा और बच ये दस सज्ञाद (मूर्छा-बेहोशी को दूर करनेवाले) है। इनको एलोपैथीवाले Restorative कहते है।

गर्भस्थापन गण—ऐन्द्री[१] (बडी इलायची या छोटी इलायची), दूर्वा, पाटला, वाराहीकन्द, आमला, हरड, गगेरन, ब्राह्मी, खिरेटी और शतावरी ये गर्भास्थापक (गर्भाधान कराने वाले Aneobolic) है।

विशेष वक्तव्य—इस गर्भस्थापन की दस ओषधियों में पहली ओषधि 'ऐन्द्री' है जिसका अर्थ हमने कोषों से 'बडी या छोटी इलायची' लिखा है परन्तु विपरीत इसके चक्रदत्तादि प्राचीन टीकाकारों ने इसको 'इन्द्रवारुणी-गोरक्षकर्कटी' लिखा है और साथ मे यह भी कहा है कि यह प्रभाव से गर्भास्थापन करती है परन्तु हम तो आज तक यह जानते और अनुभव करते आए है कि 'इन्द्रवारुणी' गर्भपात में अपना बडा प्रभाव

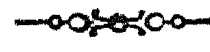
१ ऐन्द्री पृथ्वेलाया सूक्ष्मैलाया चेति राजनिघण्टु । ऐन्द्री इन्द्रवारुणीति चक्र । ऐन्द्री गोरक्षकर्कटीति चरकोपस्कारे योगीन्द्रनाथ सेन ।

रखती है। चक्रदत्तादि ने यह नहीं बताया कि किस प्रकार सेवन करने से यह इन्द्रवारुणी गर्भस्थापना में अपना प्रभाव दिखाती है। कुछ समझ में नहीं आता अत इस बात को हम पाठकों एव विज्ञ वैद्यों पर छोड देते है कि वे ही इस विषय में विचार करे।

वय स्थापन गण—गिलोय, हरड, आमला, जीवन्ती, श्रेयसी[1] (गजपीपल या पाढ), शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, ब्राह्मी, शतावरी तथा पुनर्नवा ये दस वय स्थापन करनेवाले (आयु को स्थिर करने या बढानेवाले है।

इति नानाविधव्याधिविघातार्थमुदाहृता ।
योगा रोगातुरवशात्कल्पयेत्तान् यथायथम् ॥

इत्यष्टाङ्गसग्रहे महाकषायसग्रहो नाम सूत्रस्थाने पञ्चदशोऽध्याय ।



इस प्रकार नाना प्रकार की व्याधियों को मिटाने के लिए उपर्युक्त योगों (महाकषायों) को उदाहरणरूपेण बताए है। वैद्य को चाहिये कि वह रोग से पीडित रोगी की अवस्था को देखकर इन महाकषायों की यथायोग्य कल्पना करे।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्याया पञ्चदशोऽध्याय ॥१५॥

अथ षोडशोऽध्यायः।

इसके पहले अध्यायमें असाधारणतया महाकषायों का वर्णन किया गया। अब आचार्य साधारणतया नाना प्रकार के द्रव्यगणों का वर्णन करते है।

अथातो विविधगणसग्रहमध्याय व्याख्यास्याम ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय ।

विविधगणसग्रहकथन—अब यहा से जिसमे विविध ओषधियों के गणों का सग्रह है ऐसे विविधगणसग्रह नामक अध्याय का व्याख्यान करेगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियोंने किया है। यथा—

विदारिपञ्चाङ्गुलवृश्चिकाली-
वृश्चीवदेवाह्वयशूर्पपर्ण्य[2] ।
द्वे पञ्चमूले लघुजीवनाख्ये
कण्डूकरी गोपसुता त्रिपादी ॥
विदार्यादिरय हृद्यो बृहणो वातपित्तहा ।
शोषगुल्माङ्गमर्दोर्ध्वश्वासकासहरो गण ॥

विदार्यादिगण—विदारीकन्द, एरण्ड, वृश्चिकाली (वृश्चिकपत्रा[3] जिसके पत्ते को छूने से बिच्छू के डकसी पीडा होती है), पुनर्नवा, देवदारु (हेमाद्रि के मत से देवाह्वय अर्थात् सहदेवी और विश्वेदेवी), मुद्गपर्णी, माषपर्णी, लघुपञ्चमूल (शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, छोटी कटेरी, बडी कटेरी और छोटे गोखरू), जीवन पञ्चमूल (शतावरी, काकोली, जीवन्ती, जीवक और ऋषभक[1]), केवाञ्चबीज, सारिवा और हसपदी यह विदार्यादि गण बृहण (पुष्टिकारक), हृदय को बल देनेवाला, वात पित्तनाशक, शोष (राजयक्ष्मा-क्षयरोग), गुल्म, अङ्गमर्द (देह की हडफूटन), ऊर्ध्वश्वास और खासी को दूर करनेवाला है।

सारिवोशीरकाश्मर्यमधूकशिशिरद्वयम् ।
यष्टीपरूषक हन्ति दाहपित्तास्रतृड्गदान् ॥

सारिवादि गण—अनन्तमूल, खस, खम्भारी, महुआ, श्वेत चन्दन, रक्त चन्दन, मुलेठी और फालसा यह सारिवादि गण दाह, पित्तरक्त और तृष्णा रोग का हरनेवाला है।

पद्मकपुण्ड्रौ वृद्धितुगद्ध्य-
शृङ्ग्यमृता दश जीवनसञ्ज्ञा ।
स्तन्यकरा घ्नन्तीरणपित्त-
प्रीणनबृहणजीवनवृष्या ॥

पद्मकादिगण—पद्माख, पुण्डरिया, वृद्धि, बशलोचन, ऋद्धि, काकडासिगी, गिलोय, जीवनीय गणकी दस ओषधिया (जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती और मुलेठी) यह पद्मकादिगण स्त्रियोंके स्तनों मे दूध की वृद्धि करनेवाला, ईरण अर्थात् वायु[2] तथा पित्त को हरनेवाला, तृप्तिकारक, पुष्टिकारक, आयुष्य को बढानेवाला तथा वीर्य की वृद्धि करनेवाला है।

परूषक वरा द्राक्षा कट्फल कतकात्फलम् ।
राजाह्व दाडिम शाक तृण्मूत्रामयवातजित् ॥

परूषकादि गण—फालसा, त्रिफला, दाख, कायफल, निर्मलीके बीज, राजाह्व (राजवृक्ष छोटा या बडा अमलतास A Short of Cassia–Cassia Fistula), अनार, शाक (सागवान के बीज) यह परूषकादि गण तृष्णा, मूत्ररोग और वायु को जीतनेवाला है।

अञ्जन फलिनी मासी पद्मोत्पलरसाञ्जनम् ।
सैलामधुकनागाह्व विषान्तर्दाहपित्तनुत् ॥

अञ्जनादि गण—अञ्जन (दोनों प्रकार के अञ्जन यथा–काला स्रोतोञ्जन और श्वेत सौवीराञ्जन), प्रियङ्गु, जटामासी, नील कमल (नीलोफर), कुमोदिनी, रसोत, इलायची, मुलेठी और नागकेशर यह अञ्जनादि गण विष, अन्तर्दाह और कुपित पित्त का नाशक है।

पटोलकटुरोहिणी चन्दन मधुस्रवगुडूचिपाठाऽन्वितम्।
निहन्ति कफपित्तकुष्ठज्वरान् विष वमिमरोचक कामलाम्

पटोलादिगण—परवल, कुटकी, श्वेत चन्दन, मूर्वा, गिलोय और पाढ यह पटोलादि गण कफ, पित्त, कोढ, ज्वर, विष, वमन, अरोचक तथा कामला रोग का नाश करनेवाला है।

१ "श्रेयसी करिपिप्पल्यामभयापाठयोरपि।" इति मेदिनी।
२ 'देवाह्वय' इति हेमाद्रिसमतपाठ । ३ 'वृश्चिकपत्रा' इति हेमाद्रि ।

१ 'अभीरुवीराजीवन्तीजीवकर्षभकै स्मृतम्। जीवनाख्यमि'ति।
२ ईरणो वायु, 'ईर-गतौ' इति लोकशास्त्रस्मरणात्।

गुडूची पद्मकारिष्टधान्यकारक्तचन्दनम् ।
पित्तश्लेष्मज्वरच्छर्दिदाहतृष्णाघ्नमग्निकृत् ॥

गुडूच्यादिगण—गिलोय, पद्माख, नीम, धनिया तथा रक्त चन्दन यह गुडूच्यादि गण पित्तकफज्वर, वमन, दाह और तृष्णा का नाश करता तथा अग्नि को प्रदीप्त करता है।

आरग्वधेन्द्रयवपाटलिकाकतिक्ता-
निम्बामृतामधुरसास्रुववृक्षपाठा ।
भूनिम्बसैर्यकपटोलकरञ्जयुग्म-
सप्तच्छदाग्निसुषवीफलबाणघोण्टा ॥
आरग्वधादिर्जयति च्छर्दिकुष्ठविषज्वरान् ।
कफ कण्डू प्रमेह च दुष्टव्रणविशोधनः ॥

आरग्वधादिगण—अमलतास, इन्द्रजव, पाटलिका (वसन्तदूती-गुलाब), काकतिक्ता (काकमाची), नीम, गिलोय, मूर्वा, विकङ्कत (स्रुववृक्ष Flacourtia Ramontchi Var Sapida 'कण्टाई' इति वैद्यकशब्दसिन्धु), पाढ़, चिरायता, पियाबासा, परवल, करञ्जयुग्म (लताकरञ्ज=करञ्जवा और पूतिकरञ्ज=वृक्षकरञ्ज), सतौना (सप्तपर्ण), चित्रक, करेला या स्याह या कालीजीरी (सुषवी), त्रिफला, कटसरैया, घोण्टा (बेर अथवा सुपारी), यह आरग्वधादि छर्दि, कोढ, विष, ज्वर, कफ, कण्डू (खाज-खुजली) तथा प्रमेह का नाश करने वाला और दुष्ट व्रण को भली भाँति शुद्ध करनेवाला है। पाठान्तर से मेद और उदररोग को विशोधन (हरनेवाला) है।

असनतिनिशभूर्जश्वेतवाहप्रकीर्या
खदिरकदरभण्डीशिंशिपामेषशृङ्ग्यः ।
त्रिहिमतलपलाशा जोङ्गक शाकशालौ
धवक्रमुककलिङ्गच्छागकर्णाश्वकर्णा ॥
असनादिर्विजयते श्वित्रकुष्ठकफक्रिमीन् ।
पाण्डुरोग प्रमेह च मेदोदोपनिबर्हण ॥

असनादि गण— विजयसार वृक्ष, तिनस वृक्ष, भोजपत्र वृक्ष, अर्जुन वृक्ष, पूतिकरञ्ज वृक्ष, र वृक्ष, गन्धाखैर वृक्ष, भण्डी (सिरस वृक्ष, अरुणदत्त-हेमाद्रि के मत से किन्तु डल्लन के मत से निशोत श्वेत), शीशमवृक्ष, मेढासिगी, तीन प्रकार के हिम (चन्दन), ताड़वृक्ष, ढाकवृक्ष, अगर, सागवान, सालवृक्ष, धववृक्ष, सुपारी का वृक्ष, इन्द्रजव, सर्ज और सालविशेष यह असनादि गण श्वित्र (सुपेत कोढ़), कफ, कृमिरोग, पाण्डुरोग, प्रमेह और मेद (स्थूलता) का नाशक है।

वरणसैर्यकयुग्मशतावरी-दहनमोरटबिल्वविषाणिका ।
द्विबृहतीद्विकरञ्जजयाद्वय-बहलपल्लवदर्भरुजाकरा ॥
वरणादि कफ मेदो मन्दाग्नित्व नियच्छति ।
आढ्यवात शिर शूल गुल्म चान्त सविद्रधिम् ॥

वरणादि गण—बरना (वरुण वृक्ष, अरुण के मत से तमाल किन्तु असगत प्रतीत होता है), सैर्यक (रक्त और पीतपुष्प भेद से दोनों प्रकार की कटसरैया), सतावर, चित्रक, मूर्वा, बिल्व, काकडासिगी, छोटी और बडी दोनों कटेरी, दोनों जाति के करञ्ज (लता करञ्ज=कञ्जा और पूतिकरञ्ज), दोनों जाति की जया अर्थात् अरणी और हरड, दर्भ और हिन्ताल यह वरणादि गण कफ, मेदोरोग, मन्दाग्नि, आढ्य वात (ऊरुस्तम्भ), शिर शूल, गुल्म और अन्तर्विद्रधि का नाश करता है।

ऊषकस्तुत्थक हिङ्गुकासीसद्वयसैन्धवम् ।
सशिलाजतु कृच्छ्राश्मगुल्ममेद कफापहम् ॥

ऊषकादि गण—ऊषक (खारी नमक, क्षारमृत्तिका या कल्लर), नीलाथोथा, हीग, दोनों प्रकारके कसीस (धातुज और पाशुज), सेन्धा नमक और शिलाजीत यह ऊषकादि गण मूत्रकृच्छ्र, पथरी (अश्मरी), बायगोला, मेद और कफ रोगों को दूर करनेवाला है।

वीरतरोऽरणिको नलगुण्ठौ मोरटदुण्टुकसैर्यकयुग्मम् ।
मुस्तकमञ्जरिकर्कशपत्रा मूत्रविरेककरो दशकश्च ॥
वर्गो वीरतराद्योऽय हन्ति वातकृतान् गदान् ।
अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्राघातरुजाहर ॥

वीरतरादिगण—वीरतर (वेल्लन्तर-वीरतरु-मूज या नर्मदा तथा चम्बल नदी के समीप जागलदेशज श्वेत, कृष्ण, रक्त और पीत पुष्पभेद से चार प्रकार का काटोंबाला वृक्ष इसको राजस्थान-मारवाड मे कूमट वृक्ष कहते है।), अरणी, जटामासी, गुण्ठ (वृक्ततृण विशेष), मूर्वा, अरलू, दोनों प्रकार का पियाबासा, नागरमोथा, गन्धतुलसी, ईखविशेष, मूत्रविरेचनकर गणकी दस ओषधिया, यह वीरतरादिगण वायुके विकार, पथरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, इन सबका नाशक है।

रोध्रशाबररोध्रपलाशा जिङ्गिणीसरलकट्फलयुक्ता ।
कुत्सिताम्बकदलीगतशोका सैलवालुपरिपेलवमोचा ॥
एष रोध्रादिको नाम मेद कफहरो गण ।
योनिदोषहर स्तम्भी वर्ण्यो विषविनाशन ॥

रोध्रादि गण—लोद, पठानी लोद, पलास (ढाक), जिङ्गि

१ "मेदोदरविशोधन" इत्यपि पाठ। २ काकतिक्ता=काकमाची उदरविशोधनत्वात् न तु करञ्जोऽग्रे करञ्जद्वयमिति पाठदर्शनात्। ३ सुषवी कारवीत्यरुण, कारवेल्लकमिति हेमाद्रि।

४ फल हेतुकृते जातीफले फलकसरययो। त्रिफलाया च कक्कोले इति हैम।

५ घोण्टा-बदरमिति हेमाद्रि, पूगविशेष इत्यरुणदत्त।

६ क्रमुकधवेति पाठ साधुश्छन्दोभङ्गदर्शनात्।

७ भण्डी-शिरीष, इति हेमाद्रिररुणश्च किन्तु भण्डी=श्वेता त्रिवृत् इति डल्लन। ८ वरण इत्यपि पाठ।

१ आढ्यवातम् ऊरुस्तम्भम्। अत्र केचित् अधोवात इति पठन्ति तदसत्।

२ "गुल्माभ्यन्तरविद्रधीन्" इति सुश्रुतसमत पाठ।

३ वीरतरु शर, अन्ये तु वीरतरु वेल्लन्तर, इति नाम्ना प्रसिद्धो जाङ्गलदेशे नर्मदातटे चर्मण्वतीनदीसमीपे च। तल्लक्षणमुच्यते,—वेल्लन्तरुर्जगति वीरतरु प्रसिद्ध श्वेतासितारुणविलोहितपीतपुष्प। स्याज्जातितुल्यकुसुम शमिसूक्ष्मपत्र स्यात्कण्टकी विजलदेशज एष वृक्ष ॥ इति सुश्रुतटीकाया डल्लन। वीरतर उशीराख्य इत्यरुणश्च।

णी (कृष्णशाल्मलि), देवदारु या चीढ, कायफल, रास्ना (युक्ता), कदम्ब, केला, अशोक, सुगन्धबाला, केवटी मोथा और सालई यह रोध्रादि गण मेद (स्थौल्य), कफ, स्त्रियों के योनिदोष, दोषों अर्थात् मलमूत्रादि को रोकनेवाला, वर्ण को बढाने और विष का हरनेवाला है।

अर्कालर्कौ नागदन्ती विशल्या
भार्ङ्गी रास्ना वृश्चिकाली प्रकीर्या।
प्रत्यक्पुष्पी पीततैलोदकीर्या
श्वेतायुग्म तापसाना च वृक्ष ॥
अयमर्कादिको वर्ग कफमेदोविषापह।
कृमिकुष्ठप्रशमनो विशेषाद् व्रणशोधन ॥

अर्कादि गण—आक, सफेद फूल का आक, नागदन्ती (हस्तिशुण्डी), विशल्या (कलिहारी), भारङ्गी, रास्ना, वृश्चिकाली (बिच्छूपत्री), लताकरञ्ज, अपामार्ग, मालकागुनी, पूतिकरञ्ज, दोनों प्रकार की अपराजिता (कोयल) और हिङ्गोट यह अर्कादि गण कफ, मेद, विषरोग, कृमि तथा कुष्ठ को नाश करता है। विशेषत यह अर्कादि गण व्रणों को शोधनेवाला है।

सुरसयुगफणिज्ज कालमाला विडङ्ग
खरबुकवृषकर्णीकट्फल कासमर्द।
क्षवकसरसिभार्ङ्गीकार्मुका काकमाची
कुलहलविषमुष्टी भूस्तृणो भूतकेशी ॥
सुरसादिर्गण श्लेष्ममेद'कृमिनिषूदन।
प्रतिश्यायारुचिश्वासकासघ्नो व्रणशोधन ॥

सुरसादि गण—सफेद-कृष्ण दोनों प्रकार की तुलसी, श्वेत-कृष्ण दोनों जङ्गली तुलसी (तुख्मरैहा), वायविडङ्ग, मरुवा, मूषाकर्णी, कायफल, कसौन्दी, नकछिकनी, हिगुपत्री, भारङ्गी, अशोक, काकमाची (मकोय), भूकदम्ब, विषमुष्टी (कुचला या ककोंटी-ककोड़ा), भूस्तृण (तृण-विशेष) तथा भूतकेशी (निर्गुण्डी) यह सुरसादि गण कफ, मेद, कृमि, प्रतिश्याय, अरोचक, श्वास और कास का नाशक है तथा व्रणों को शोधन करता है।

मुष्ककस्नुग्वराद्वीपिपलाशधवशिंशिपा.।
गुल्ममेहाश्मरीपाण्डुमेदोऽर्श कफशुक्रजित् ॥

मुष्ककादि गण—मोखा वृक्ष, थूहर, हरड-बहेड़ा-आवला (वरा), द्वीपी (चित्रक), पलास, धव और शीसम यह मुष्ककादि गण वायगोला, प्रमेह, पथरी, पाण्डुरोग, मेद (स्थूलता), बवासीर, कफ और शुक्र (एक नेत्ररोग) को हरनेवाला है।

वत्सको मधुरसा त्रुटिर्वचा दीर्घवृन्तफलवेल्लसर्षपा.।
रोहिणीस्थपनिहिङ्गुभार्ङ्गय शूलघातिदशक घुणप्रिया॥
वत्सकाद्योऽनिलश्लेष्ममेदोऽरोचकपीनसान्।
शूलार्शोज्वरगुल्मांश्च हन्ति दीपनपाचन ॥

वत्सकादि गण—कुडा की छाल, मूर्वा, इलायची, वच, अरलू, त्रिफला, स्याहमिरच, सरसों, कुटकी, स्थपनी (पाठा-पाढ), हीग, भारगी, पिछले अध्याय के शूलहर दीप्यकादि गण की ओषधियाँ और अतीस यह वत्सकादि गण वायु, कफ, मेदोरोग, अरोचक, पीनस, शूल, बवासीर, ज्वर, बायगोला (गुल्म) इनको नाश करनेवाला, दीपन तथा पाचन है।

वचाजलददेवाह्वनागरातिविषाऽभया।
हरिद्राद्वययष्ट्याह्वकलशीकुटजोद्भवा ॥
वचाहरिद्रादिगणावामातीसारपाचनौ।
मेद कफाढ्यपवनस्तन्यदोषनिबर्हणौ ॥

वचादि तथा हरिद्रादि गण—बच, नागरमोथा, देवदारु, सोंठ, अतीस तथा अभया (हरड या गिलोय[1]) इन सब ओषधियों से बचादि गण बनता है। इसी प्रकार हलदी, दारुहलदी, मुलेठी, पृष्ठपर्णी और इन्द्रजौ मिला कर हरिद्रादि गण होता है।

बचादि और हरिद्रादि ये दोनों गण आमातीसारके पचानेवाले, मेद, कफ, ऊरुस्तम्भ और स्त्रियोंके दूध (स्तन्य) के दोषों को दूर करनेवाले है।

प्रियङ्गुपुष्पाञ्जनयुग्मपद्मा पद्माद्रजो योजनवल्ल्यनन्ता।
मानद्रुमो मोचरस समङ्गा पुन्नागशीत मदनीयहेतु ॥
अम्बष्ठा मधुक नमस्करी नन्दीवृक्षपलाशकच्छुरा.।
रोध्र धातकिबिल्वपेशिके कट्वङ्ग' कमलोद्भव रज ॥
गणौ प्रियङ्ग्वम्बष्ठादी पक्वातीसारनाशनौ।
सन्धानीयौ हितौ पित्ते व्रणानामपि रोपणौ ॥

प्रियग्वादि तथा अम्बष्ठादि गण—प्रियङ्गु, स्रोतोञ्जन और सौवीराञ्जन, भारङ्गी, कमल की केसर, मजीठ, अनन्तमूल या धमासा, सेम्हल, मोचरस, लजालू, नागकेशर, चन्दन और धावड़ी के पुष्प ये सब मिलकर प्रियग्वादि गण बनता है।

पाढ़ या मोरशिखा, मुलेठी, लज्जालू, नन्दीवृक्ष (तुणी), पलाश, धमासा, लोद, धावडी के फूल, बेल की गिरी, अरलू और कमल की केसर ये सब मिलकर अम्बष्ठादि गण कहलाता है।

अम्बष्ठादि और प्रियग्वादि ये दोनों गण पक्वातीसार के नाश करनेवाले, टूटी हड्डी को जोडनेवाले, पित्तदोष की अवस्था में हितकारी तथा व्रणों के रोपण करनेवाले हैं (अर्थात् क्षत या जखम को भरकर जल्दी अङ्कुर लानेवाले है)।

मुस्तावचाऽग्निद्विनिशाद्वितिक्ता-
भल्लातपाठात्रिफला विषाख्या.।
कुष्ठ त्रुटी हैमवती च योनि-
स्तन्यामयघ्ना मलपाचनाश्च ॥

मुस्तादि गण—नागरमोथा, बच, चित्रक, हलदी, दारुहलदी, द्वितिक्ता (कुटकी और करञुआ, यहा कोई द्वितिक्ता का अर्थ कुटकी और चिरायता भी करते है), भिलावा, पाढ़, त्रिफला (हरड, बहेडा, आवला), अतीस, कूट, इलायची और स्वेत-वच ये सब मिलकर मुस्तादि गण होता है जो कि योनिगत

१ स्तम्भी दोषाणा शकृदादेश्चेत्यरुण। २ विषमुष्टी-ककोंटी त्यरुण। ३ द्वीपी-चित्रक इति हेमाद्रि।

[1] १ अभया-अमृता इत्यरुणदत्त।

रोग, स्तन्य (स्त्रियों के दूध) के विकार को हरनेवाला, वात, पित्त, कफादि मलों को पचानेवाला है।

न्यग्रोधपिप्पलसदाफलरोध्रयुग्म-
जम्बूद्वयार्जुनकपीतनसोमवल्काः ।
प्लक्षाम्रवञ्जुलपियालपलाशनन्दी-
कोलीकदम्बविरलामधुकं मधूकम् ॥
न्यग्रोधादिर्गणो व्रण्यः सङ्ग्राही भग्नसाधनः ।
मेदःपित्तास्रतृड्दाहयोनिरोगनिबर्हणः ॥

न्यग्रोधादि गण—बड, पीपल, गूलर, लोद, पठानी लोद, छोटी और बडी दोनों जामुन, अर्जुन, कपीतन (पारसपीपल), कायफल, पाकर, आम, बेत, चिरौञ्जी, ढाक, नन्दीवृक्ष, बेर, कदम्ब, तिन्दुक, मुलेठी और महुआ यह न्यग्रोधादि गण व्रणों के लिए हितकारी, मल को बाधने वाला, टूटी हड्डी को जोडने वाला, मेद, पित्त, रक्त, तृषा, दाह और योनिरोग इन सबको दूर करनेवाला है।

एलायुग्मतुरुष्ककुष्ठफलिनीमांसीजलध्यामक
स्पृक्काचोरकचोचपत्रतगरस्थौणेयजातीरसाः ।
शुक्तिर्व्याघ्रनखोऽमराह्वमगुरु श्रीवासकः कुङ्कुमं
चण्डागुग्गुलुदेवधूपखपुराः पुन्नागनागाह्वयौ ॥
एलादिको वातकफौ विषं च विनियच्छति ।
वर्णप्रसादनः कण्डूपिटिकाकोठनाशनः ॥

एलादि गण—छोटी और बडी दोनों इलायची, शिलारस, कूट, गन्ध प्रियङ्गु, जटामासी, सुगन्धवाला, ध्यामक (रोहिषतृण), स्पृक्का (देवी-गन्धविशेष), चोरक (गठौना), तज, पत्रज, तगर, थूनेर, चमेलीपत्ररस, सीप, बाघनख, देवदारु, अगर, चीढ़, केशर, चण्डा (चोरपुष्पी), गूगल, राल, सुपारी, नागकेसर, नागरपान यह एलादि गण वात, कफ और विषको नष्ट करनेवाला, वर्णवृद्धिकर्ता, खाज, फोडे-फुसी, कोठ (शरीर पर लाल काले मण्डलादि) का नाश करनेवाला है।

श्यामादन्तीद्रवन्तीक्रमुककुठरणाशङ्खिनीचर्मसाह्वा
स्वर्णक्षीरीगवाक्षीशिखरिरजनकच्छिन्नरोहाकरञ्जाः ।
बस्तान्त्री व्याधिघातो बहलबहुरसस्तीक्ष्णवृक्षात्फलानि
श्यामाद्यो हन्ति कुष्ठं विषमरुचिकफौ हृद्रुजं मूत्रकृच्छ्रम् ॥

श्यामादि गण—काली निशोत, दन्ती, बृहद्दन्ती (जयपाल), सुपारी (अथवा पठानी लोद), कुठेरणा (श्वेतमूलवाली य रक्तमूलवाली निशोत), शखिनी (यवतिक्ता-सत्यानाशी), सातला, स्वर्णक्षीरी (कङ्कुष्ठजननी), इन्द्रायन, अपामार्ग, कमीला, गिलोय, कञ्जा, विधायरा, अमलतास, ईख, बड़ी माल कागुनी एवं पीलु वृक्षके फल, यह श्यामादि गण कुष्ठ, विषविकार, अरुचि, कफकोप, हृद्रोग और मूत्रकृच्छ्र को दूर करनेवाला है।

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गबेरमरिचहस्तिपिप्पलीहरेणुकैलाजमोदेन्द्रयवपाठाजीरकसर्षपमहानिम्बफलहिङ्गुभार्ङ्गीवचामुस्तामधुरसातिविषाविडङ्गानि कटुरोहिणी चेति ।

पिप्पल्यादिः कफहरः प्रतिश्यायानिलारुचीः ।
निहन्याद्दीपनो गुल्मशूलघ्नश्चामपाचनः ॥

पिप्पल्यादि गण—पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, स्याह मिरच, गजपीपल, निर्गुण्डी, इलायची, अजमोदा, इन्द्र जव, पाढ़, जीरा, सरसों, बकायन, गूलर, हींग, भारङ्गी, बच, नागरमोथा, मूर्वा, अतीस, वायविडङ्ग और कुटकी यह पिप्पल्यादि गण कफनाशक, जुकाम (प्रतिश्याय), वातदोष, अरुचि इनको दूर करनेवाला, अग्निप्रदीपक, गुल्म और शूल को हरनेवाला है तथा आमको पचानेवाला है।

पञ्चविंशतिरित्युक्ता वर्गास्तेषु त्वलाभतः ।
युञ्ज्यात्तद्विधमन्यच्च द्रव्यं जह्यादयौगिकम् ॥

एते वर्गा दोषदूष्याद्यपेक्ष्य
कल्कक्वाथस्नेहलेहादियुक्ताः ।
पाने नस्येऽन्वासनेऽन्तर्बहिर्वा
लेपाभ्यङ्गैर्घ्नन्ति रोगान् सुकृच्छ्रान् ॥

इत्यष्टाङ्गसङ्ग्रहे सूत्रस्थाने षोडशोऽध्यायः ।

इस प्रकार ये पच्चीस वर्ग या गण कहे गए हैं। इनमें से किसी द्रव्यके न मिलने पर वैद्य को चाहिए कि वह उसी गुण वाले (रस-वीर्य-विपाकवाले) अन्य द्रव्य की योजना उस न मिले हुए द्रव्य के स्थान में करे परन्तु रसवीर्यविपाकानुसार जिस द्रव्य का योग उस द्रव्य के साथ न मिलता हो, ऐसे द्रव्य की योजना उस अलब्ध द्रव्य की जगह न करें।

दोष और दूष्यका भली भाति विचार कर ये पूर्वोक्त पच्चीस वर्ग कल्क, क्वाथ, स्नेह (तैलघृतादि), अवलेह, फाण्ट, शीत कषाय आदि में पान, नस्य, अनुवासन द्वारा शरीर के भीतर तथा लेप-अभ्यङ्गादि द्वारा शरीर के बाहर प्रयुक्त करने से अतिकष्टसाध्य रोगों का नाश करते हैं।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसङ्ग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्यायां विविधगणसङ्ग्रहो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः ।

अथातो द्रव्यादिविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः[1] ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

द्रव्यादिकथन—इसके पूर्वाध्यायों में रसादि विशेष को ध्यान में रखते हुए द्रव्यों के कार्यस्वरूप का वर्णन किया गया परन्तु इससे द्रव्यविषय का परिपूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। इस लिए अब आचार्य जिसमें द्रव्यादि (द्रव्य, रस, वीर्य, विपाक, प्रभावादि) का वर्णन हो उस द्रव्यादि विज्ञानीय

१ क्रमुकः पूग इति हेमाद्रिः । क्रमुकः-पट्टिका रोध्र इत्यरुणः ।
२ कुठरणा-शुक्ला त्रिवृदित्यरुणः । रक्तमूला त्रिवृदिति हेमाद्रिः ।
३ स्वर्णक्षीरी कङ्कुष्ठप्रकृतिरित्यष्टाङ्गहृदयायुर्वेदरसायनव्याख्यायां हेमाद्रिः ।

१ अत्र आदिशब्दाद्रसवीर्यविपाकप्रभावादीनां ग्रहणम् ।

नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया है।

अथ द्रव्यम्।

इह हि द्रव्य पञ्चमहाभूतात्मकम्। तस्याधिष्ठान पृथिवी, योनिरुदक खानिलानलसमवायान्निर्वृत्तिविशेषौ। उत्कर्षेण तु व्यपदेश। तस्माद् भूतसमवायसभवान्नैकरस द्रव्यम्। ततश्च नैकदोषा व्याधय। तत्र व्यक्तो रस। अनुरसस्तु रसेनाभिभूतत्वादव्यक्तो व्यक्तो वा किञ्चिदन्ते।

द्रव्य का पञ्चमहाभूतात्मकत्वादि कथन—आयुर्वेदशास्त्र मे द्रव्य पञ्चमहाभूतात्मक माना गया है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य की उत्पत्ति में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी तत्त्व का सबन्ध होने से द्रव्य पञ्चमहाभूतात्मक है। द्रव्य का अधिष्ठान पृथिवी और योनि उदक है। भावार्थ यह है कि-द्रव्य भूमि के आश्रय से रहता है तथा अन्य सभी तत्त्वों से सबन्ध रहते हुए भी द्रव्य की उत्पत्ति जल से होती है किन्तु इसकी उत्पत्ति और विशेषता आकाश, वायु और अग्नितत्त्व के समवायसबन्ध से होती है। इससे सिद्ध हुआ कि द्रव्य मे आकाशादि पाचों महाभूत न्यूनाधिक प्रमाण मे रहते है। ऐसा होते हुए भी द्रव्य पाचों महाभूतों के नाम से न पुकारा जाकर किसी एक तत्त्व के ही नाम से क्यों कहा जाता है? जैसे कि यह द्रव्य आग्नेय है, यह पार्थिव है, यह जलीय है इत्यादि। इस शङ्का के निवारणार्थ कहते है कि—"उत्कर्षेण तु व्यपदेश" द्रव्य मे पाचो महाभूतों के रहते हुए भी उसका निर्देश उस एक महाभूत के नाम से किया जाता है जिसका प्रमाण अन्य भूतों की अपेक्षा अधिक रहता है। पञ्चमहाभूतों के समवाय से ही द्रव्य की उत्पत्ति होती है अत कोई भी द्रव्य एक रसवाला नही है। इसी प्रकार व्याधिया भी एक दोषवाली नही है। न्यूनाधिक प्रमाण मे वात-पित्त-कफ के रहते हुए भी जिसका उत्कर्ष होता है व्याधि भी उसी दोष के नाम से पुकारी जाती है जैसे कि-यह वातज्वर है, यह पित्तज्वर है आदि आदि।

उपर्युक्त कथनानुसार द्रव्य में मधुर, अम्ल, लवणादि सभी रस न्यूनाधिक प्रमाण मे रहते हुए भी वही एक रस व्यक्त (प्रकट) होता है जिसका उस द्रव्य में उत्कर्ष रहता है। उसी के नाम से उस द्रव्य का निर्देश किया जाता है जैसे कि यह मधुर द्रव्य है, यह अम्ल है आदि आदि। न्यून प्रमाण वाला अनुरस उस प्रभूत या व्यक्त रससे दब जाने के कारण प्रकट नहीं होता। यदि प्रकट होता है तो भी किञ्चित् अन्त में होता है। सारांश, यह कि 'नैकरस द्रव्यम्' अर्थात् कोई भी द्रव्य एक रसवाला नही है।

रसस्य तु छेदनोपशमने द्वे कर्मणी, हिताहितौ प्रभावौ। तदाश्रयेषु च द्रव्यसञ्ज्ञकेषु पृथिव्यादिषु गुणा प्रकृतिविकृतिविचारदेशकालवशाद् गुर्वादयो रसेषूपचर्यन्ते[1]।

रसों के द्विविध कार्य और प्रभाव—रसके छेदन और उपशमन ये दो कार्य है तथा हित और अहित ये दो प्रभाव हैं। रसों के आश्रय पृथिवी आदि द्रव्य-सञ्ज्ञकों मे जो गुरु-लघु आदि गुण हैं वे प्रकृति-विकृति-विचार एव देशकालवशात् केवल औपचारिकरीत्या रसों मे कहे जाते है। भावार्थ यह कि-रस जिन भूमि आदि द्रव्योंके आश्रय मे रहते है वस्तुत ये गुरु-लघु आदि गुण इन पृथिवी आदि द्रव्यों के ही है, रसों के नही हैं। रसों मे तो केवल साहचर्यवशात् औपचारिकरीत्या कहे जाते हैं। जिनके ये गुण हैं वे मुख्य भूमि आदि द्रव्य ही है और रस तो केवल द्रव्यों के आश्रय मे रहनेवाले हैं। जैसे कि-किसी मालिक के सिद्धू एव बुद्धू आदि अनेक सेवक आश्रित रहते है। जो जिसकी देखभाल करता है, वह घोड़ा उसी नौकर के नाम से पहिचाना जाता है यथा सिद्धूवाला घोडा, बुद्धूवाला घोड़ा आदि आदि। परन्तु वस्तुत वे घोड़े न सिद्धू के है और न बुद्धू के है-मालिक के है। केवल औपचारिकतया उन नौकरों के नाम से पुकारे जाते है। ठीक इसी तरह रसों के नाम से गुणों का निर्देश नाममात्र के लिए है। वस्तुत गुरु-लघु आदि गुण द्रव्यों के ही है।

अब पार्थिवादि पञ्चमहाभूतात्मक द्रव्यों के पृथक् पृथक् लक्षणों तथा कार्योंका वर्णन करते है—

तत्र द्रव्य गुरुकठिनविशदमन्दसान्द्रस्थूलस्थिरगन्धगुणबहुल पार्थिवमुपचय[1]गौरवसघातस्थैर्यकरम्।

द्रवस्निग्धशीतगुरुमन्दसान्द्रसरमृदुपिच्छिलरसगुणबहुलमौदकमुपक्लेदस्नेहबन्धविष्यन्दमार्दवप्रह्लाद[2]करम्।

तीक्ष्णोष्णरूक्षसूक्ष्मलघुविशदरूपगुणबहुलमाग्नेय दाहपाकप्रकाशप्रभावर्णकरम्।

रूक्षसूक्ष्मलघुविशदविकासिव्यवायिशीतखरस्पर्शगुणबहुल वायव्य रौक्ष्यलाघववैशद्यग्लानिविचारकरम्।

मृदुसूक्ष्मलघुविशदश्लक्ष्णव्यवायिविविक्तशब्दगुणबहुलमाकाशात्मक मार्दवसौषिर्यलाघवकरम्।

पार्थिव द्रव्य और उसके कार्य—जो गुरु (भारी), कठिन, स्वच्छ, मन्द, सान्द्र (गाढा-ठोस), मोटा (स्थूल) और स्थिर होता है और जिसमे गन्धगुण अधिक होता है, वह पार्थिव द्रव्य है। शरीर की वृद्धि या स्थूलता, गुरुता, कठिनता और स्थिरता रखना ये पार्थिव द्रव्य के कार्य है।

औदक द्रव्य और उसके कार्य—जो द्रव, स्निग्ध, शीत, गुरु, मन्द, सान्द्र, सर, मृदु, पिच्छिल तथा अधिक रसगुणवाला है, वह औदक (जलीय) द्रव्य है। उपक्लेदन (गीला करना), स्नेहन, बन्धन, विष्यन्दन (स्रोतों में स्राव करना) मृदुता और प्रह्लादन (तृप्ति या हृदय के लिए पुष्टिकारक) ये जलीय द्रव्य के कार्य है।

आग्नेय द्रव्य और उसके कार्य—जो तीक्ष्ण (तेज चरपरा मरिचादि के समान), उष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म, लघु (हलका),

१ "रसेषु साहचर्यादुपचर्यन्ते।" इतीन्दुसमतपाठ।

१ उपचय—स्थौल्यम् इति हेमाद्रि। २ प्रह्लादस्तृप्तिरितीन्दु, हृत्पुष्टिरिति हेमाद्रि।

स्वच्छ, रूपगुण की अधिकतावाला होता है वह आग्नेय अर्थात् तैजस द्रव्य है। जलाना, पकाना, उजेला करना, कान्ति एव वर्ण मे वृद्धि करना ये आग्नेय द्रव्य के कार्य है।

वायव्य द्रव्य और उसके कार्य—रूक्ष, लघु, स्वच्छ, सूक्ष्म, विकासि, व्यवायि (सब शरीर में पसरनेवाला), ठडा, खर, तथा स्पर्शगुणबहुल जो द्रव्य है वह वायव्य द्रव्य है। रौक्ष्य, लाघव, वैशद्य (साफ करना), ग्लानि (अपुष्टि), विचारकर (मनमे अनेक प्रकार के विचारों को प्रगट करना) या धातुवहन करना ये सब वायव्य द्रव्य के कार्य हैं।

आकाशीय द्रव्य और उसके कार्य—जो मृदु (नरम), सूक्ष्म, लघु, स्वच्छ, श्लक्ष्ण, व्यवायि (सर्वव्याप्त), विविक्त (अवयवरहित पृथग्भूत) और जो शब्द-गुण-बहुल है वह आकाशात्मक द्रव्य है। किसी भी पदार्थ मे मृदुता लाना, छिद्र करना और लाघव (हल्का) करना ये इस आकाशीय द्रव्य के कार्य है।

विशेष वक्तव्य—यहा औदक द्रव्य के विषय मे कहते हुए उसे द्रव और सान्द्र भी कहा है। द्रव और सान्द्र ये दोनों परस्पर विरोधी है किन्तु इनके परस्पर विरोधी होते हुए भी इनमें आर्द्रत्व सामान्य है। इसीलिए द्रव और सान्द्र को यहा आप्य माना है।

इत्थ च नानौषधभूत जगति किञ्चिद् द्रव्यमस्ति विविधार्थप्रयोगवशात्। तत्राग्निमारुतात्मक प्रायेणोर्ध्वभागम्। तयोर्हि लाघवादूर्ध्वगतित्वाच्चाग्ने प्लवनत्वाच्च मारुतस्य। भूम्युदकात्मक तु प्रायेणाधोभाग तयोर्हि गौरवान्निम्नगत्वाच्च तोयस्य। व्यामिश्रात्मकमुभयतो भागम्।

सब द्रव्यो का औषधत्व—अनेक प्रकार के प्रयोजन तथा प्रयोगों मे आने के कारण इस ससार मे ऐसा कोई भी द्रव्य नहीं है जो अनौषधभूत हो अर्थात् वह औषध न हो। साराश, सभी द्रव्य (स्थावर और जङ्गम) औषधभूत है। अब आचार्य इन पञ्चमहाभूतात्मक द्रव्यों की कार्यदिशा को बताते हुए कहते है कि अग्निमारुतात्मक अर्थात् जो द्रव्य आग्नेय और वायव्य है वे प्राय ऊर्ध्वभाग की ओर जानेवाले होते है क्यों कि इन दोनों मे अग्नि लघु (हल्का) होने से ऊपर की ओर जाता है और वायु भी उडनेवाला होने से ऊपर की ओर जाने वाला है। जो द्रव्य पार्थिव तथा औदक है वे प्राय करके अधोगामी होते है, क्योंकि पृथ्वी तथा जल दोनों मे गुरुता होती है और जल निम्नगामी होता है कुछ ऐसे मिश्रित द्रव्य भी है जो ऊर्ध्व और अधो इन दोनों भागों में काम करते हैं।

विशेष विवरण—यहा आग्नेय तथा वायव्य द्रव्यों का ऊर्ध्वगमन, पार्थिव तथा जलीय द्रव्यों का अधोगमन और कुछ द्रव्यों का ऊर्ध्व और अधो अर्थात् उभय गमन कहकर आचार्य ने वमन, विरेचन और सशमनादि की ओर सकेत किया है। शोधन और शमन ये ओषधि के दो प्रकार है। इनमे शोधन के भी दो भेद है यथा ऊर्ध्वग और अधोग। यहा अग्नि और वायुगुणभूयिष्ठ ओषधिया प्राय ऊर्ध्वगामिनी होती है तथा पृथ्वी-जल-गुणभूयिष्ठ प्राय अधोगामिनी होती हैं। उदाहरणार्थ आग्नेय-वायव्य द्रव्य मैनफलादि प्राय ऊर्ध्वगामी होकर वमन करानेवाले हैं और पृथ्वी-जल-गुणभूयिष्ठ निशोत आदि द्रव्य अधोगमन कर प्राय विरेचन कराते है। शेष रही आकाश गुण-भूयिष्ठ ओषधिया, सो शरीर के ऊपर और नीचे के सब भागों में व्याप्त होकर प्राय सशमन करती हैं अर्थात् वमन-विरेचन न करके ये प्रभाव से दोषों का शमन कर देती है। यहा प्राय शब्द का भावार्थ यह है कि केवल यही एक नियम नहीं है कि आग्नेय-वायव्य द्रव्य ऊर्ध्वगामी होकर तथा भूमि और जलगुणविशिष्ट द्रव्य अधोगामी होकर ही कार्य करते हैं। साराश, कुछ ऐसे भी द्रव्य हैं जो अग्नि-पवन-गुणभूयिष्ठ होते हुए भी ऊर्ध्वगमन कर वमन कराते हैं और अधोगामी होकर विरेचन भी कराते हैं जैसे कि चित्रक की तरह अग्नि-पवनगुण-भूयिष्ठ दन्ती विरेचन करती है। इसी प्रकार द्राक्षावत् भूमिजल-गुण-भूयिष्ठ होकर भी मुलेठी वमन कराती है। इस विषय पर और भी बहुत लिखा जा सकता है परन्तु ग्रन्थविस्तार के भय से हम यहा इतना लिखना ही अलम् समझते है।

शमन तु दोषविपरीतगुणमुक्त प्राक्। तत्सङ्करे च यतो बाहुल्येन व्यपदेश। तथाऽनिलात्मक ग्राहि। अनलात्मक दीपनपाचनम्। उभयात्मक लेखनम्। भूम्युदकात्मक बृहणम्।

शमनादि के लक्षण—शमनद्रव्य वह है जो दोषों के विपरीत गुणवाला होता है अर्थात् शमन न ऊर्ध्वगामी है और न अधोगामी है। परन्तु वह शारीरिक दोषों का शमन विना वमन-विरेचन के कर देता है, यह पहले कह चुके है। इन द्रव्यों मे जहा सकर होता है अर्थात् जिनमे ऊर्ध्वगामित्व, अधोगामित्व एव शमनत्व का सभव होता है, तब उनमें से जो अधिक कार्य करनेवाला होता है उसी का प्राधान्येन निर्देश रहता है। उदाहरणार्थ जैसे कि एक द्रव्य वातप्रधान होने से ग्राही (मलावरोधकर्ता) है तो एक आग्नेय द्रव्य दीपन और पाचन है, उभयात्मक (वात और अग्निप्रधान) द्रव्य लेखन है। ऐसे ही भूमि और जलतत्त्वप्रधान द्रव्य बृहण है। इनके सकर होने से जो द्रव्य सबमे बलवान् होता है उसी का निर्देश प्राधान्येन रहता है।

अथ रसा।

तत्र कट्वम्ललवणा वीर्येण यथोत्तरमुष्णा। तिक्तकषायमधुरा शीता। तिक्तकटुकषाया रूक्षा बद्धविण्मूत्रमारुताः। लवणाम्लमधुरा स्निग्धा. सृष्टविण्मूत्रमारुता.। लवणकषायमधुरा गुरव.। तद्वदम्लकटु-

१ विचारो विविधा चेष्टेति हेमाद्रि, धातुवहनमितीन्दु। २ सौषिर्य सरन्ध्रत्वमिति हेमाद्रि ३ द्रवसान्द्रयो परस्परविपरीतयोरप्यार्द्रसामा यादाप्यत्वमिति हेमाद्रि। ४ भागिकमिति पाठान्तरम्।

१ आकाशगुणभूयिष्ठ सशमनम्, इति सुश्रुत। २ "प्राय इति भूयिष्ठमिति च व्यभिचारार्थं, यथा—चित्रकवदग्निपवनोत्कटाया अपि दन्त्या विरेचनत्वम्, मृद्वीकावद् भूमितोयगुणाधिकस्यापि मधुकस्य वमनत्वम्" इति हेमाद्रि। ३ अस्याग्रे "कार्यकर्तृत्व भवति यदेवाधिक तदेव तत्कार्यकरमिति" अधिक इन्दुसमत पाठ।

तिक्ता लघव । अन्ये पुनर्गुरुलघुस्निग्धरूक्षसाधारण लवणमिच्छन्ति ।

रसों के वीर्य और गुण—कटु, अम्ल और लवण ये रस उत्तरोत्तर उष्णवीर्य हैं अर्थात् कटु उष्णवीर्य है तथा कटु से अम्ल, अम्ल से लवण रस अधिक उष्णवीर्य है। इसी प्रकार तिक्त, कषाय और मधुर ये उत्तरोत्तर शीतवीर्य हैं अर्थात् तिक्त रस ठडा है, तिक्त से कषाय और कषाय से मधुर रस अधिक ठण्डा है। ऐसे ही, तिक्त, कटु और कषाय रस क्रमसे उत्तरोत्तर अधिक रूक्षवीर्यवाले तथा विड्मूत्र-मारुत (मल, मूत्र और अपानवायु) को रोकने या बाधनेवाले है। लवण, अम्ल और मधुर ये उत्तरोत्तर (अधिक) स्निग्ध हैं और मल, मूत्र तथा अपानवायु को खोलनेवाले हैं। लवण, कषाय और मधुर रस गुरु (भारी) है और तद्वत् अम्ल, कटु और तिक्त रस लघु हैं। अन्य आचार्य लवण (नमक) को साधारण लघु, गुरु, स्निग्ध और रूक्ष मानते है।

रसों के सबन्ध में कहकर अब आचार्य वीर्य के विषय मे विचार करते है—

अथ वीर्यम् ।

वीर्यं तु केचिद् गुरुलघुस्निग्धरूक्षतीक्ष्णमन्दशीतोष्णभेदेनाष्टविधमाहु । अपरे पुन पठन्ति—

वीर्यं द्रव्यस्य तज्ज्ञेय यद्योगात्क्रियते क्रिया।
नावीर्यं कुरुते किञ्चित्सर्वा वीर्यकृता हि सा ॥

यैरष्टविध[1] तैरपि चैवमतिप्रकृष्टशक्तियुक्तानामशेषौषधगुणसारभूतानामष्टानामेव गुर्वादीना वीर्यसज्ञा विशिष्टाम्नाय-विहिताऽपि लौकिकीति समुद्भाव्यते। तथा हि—रसविपाकगुणान्तरविजयिनो[2] भूयासश्च वरिष्ठाश्च गुणा सगृहीता । विशेषवृत्त्या च तत्र तत्र द्रव्यस्वरूपकथने व्यवहार प्रवर्तितो[3] भवति। अत एव[4] सर्वातिशायी द्रव्यस्वभाव प्रभाव इत्याम्नात । सत्यपि च क्रियानिवर्त्तनसामान्ये[5] तद्विपरीता[6] रसादयो वीर्याख्यया प्रभावसज्ञया वा न परामृश्यन्ते[7] ।

अष्टविध वीर्य का वर्णन—कुछ लोगों का कहना है कि—"गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, तीक्ष्ण, मन्द, शीत और उष्णभेद से वीर्य आठ प्रकार का कहा गया है।" परन्तु चरकादि अन्य आचार्यो का कहना है कि—द्रव्य का वीर्य उसी को जानना चाहिए जिसके योग से क्रिया होती है। बिना वीर्यके कोई सा भी द्रव्य क्यों न हो, वह कुछ भी कर नही सकता अर्थात् समस्त क्रियाए वीर्य के द्वारा ही होती है। अष्टविध वीर्य के माननेवाले भी इसी प्रकार अतिप्रकृष्ट शक्ति से युक्त, अनन्त ओषधियों के गुणों के सारभूत, कदापि नष्ट न होनेवाले बलवान् गुरु-लघु आदि आठ की ही विशिष्ट आम्नायानुमोदित वीर्यसज्ञा को 'लौकिकी' कहते हैं अर्थात् इन गुर्वादि द्रव्यों की शक्ति को ही वे वीर्य मानते हैं। इस लिए कि उस शक्ति ने ही रस, विपाकादि अनेक गुणान्तरों को जीतनेवाले अनेक वरिष्ठ गुणों का सग्रह किया है। साराश, शक्ति ने उक्त समस्त गुणान्तरों को अपने नियन्त्रण मे ले लिया है तथा जहा जहा द्रव्यस्वरूप के कथन का व्यवहार होता है, वह भी द्रव्यगत शक्तिविशेष की प्रवृत्ति से ही होता है। इसलिए मान लिया गया है कि सब द्रव्यों से अतीवोत्कृष्ट द्रव्य का स्वभाव ही उसका प्रभाव (शक्ति) है। रस-वीर्य-विपाकादि गुणान्तर यद्यपि अपनी अपनी क्रिया को करते है तथापि गुरु आदि के उक्त प्रकारसे विपरीत होने के कारण रसादि वीर्य या प्रभाव सज्ञावाले कदापि नही कहे जा सकते। भावार्थ यह है कि वीर्य, प्रभाव या शक्ति सब द्रव्य की ही है, रसादि की नही है। बहुवीर्यवादियों का इस प्रकार युक्ति से अष्टविध वीर्यवादित्व सिद्ध हुआ।

अन्ये तु गुर्वादीनामग्निसोमात्मकत्वादादानविसर्गविभागेन कालस्य चोष्णशीतात्मकत्वाद् द्विविधमामनन्ति । एव चाहु —

नानात्मकमपि द्रव्यमग्निसोमौ महाबलौ ।
व्यक्ताव्यक्त जगदिव नातिक्रामति जातुचित् ॥

द्विविध वीर्य—गुरु आदि गुणों के अग्निसोमात्मक दो प्रकार होने से तथैव कालके भी आदान और विसर्ग भेद से उष्ण और शीत ऐसे दो भेद होने के कारण कुछ लोग वीर्य को दो प्रकार का मानते है और कहते है कि—"जगत् नानात्मक होने पर भी जैसे व्यक्त और अव्यक्त इन दो बलवान् प्रकारों से अलग नहीं हो सकता, ठीक इसी प्रकार द्रव्य नानात्मक होनेपर भी वह अपने महाबलवान् अग्नित्व और सोमत्व को कदापि नही छोड सकता।

विशेष वक्तव्य—आदान और विसर्ग भेद से काल दो प्रकार का माना गया है। आदानकाल उष्ण और विसर्गकाल शीत (ठण्डा) होता है। द्रव्यों की उत्पत्ति भी काल के अनुरूप ही होती है। इसलिए आदानकाल मे उत्पन्न हुआ द्रव्य स्वभावत उष्ण और विसर्गकालोत्पन्न द्रव्य शीत होता है अत गुरु-लघु आदि द्रव्य के आठ भेद होते हुए भी इन आठों में कोई उष्ण होता है तो कोई शीत। साराश, आठों प्रकार के द्रव्यों मे भी उष्णत्व तथा शीतत्व ये दो धर्म अवश्य रहते है। इससे भी द्रव्य के उष्ण और शीत ऐसे द्विविध वीर्य का मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। नानात्मक होनेपर भी जगत् व्यक्त (वृक्ष, पर्वत, जल आदि) तथा अव्यक्त (काल, पञ्चमहाभूत आदि) इन दो बडे भेदों से अलग नही हो सकता, वैसे ही आठ प्रकार का होते हुए भी द्रव्य उष्णत्व और शीतत्व इन दो से अलग नही हो सकता।

अब आचार्य उष्णवीर्य तथा शीतवीर्य के कार्यों का वर्णन क्रम से करते हैं—

तत्रोष्ण दहनपचनस्वेदनविलयनानिलकफशमनानि करोति। शीत ह्लादनस्तम्भनजीवनरक्तपित्तप्रसादनादीनि ।

उष्णवीर्य के कार्य—दहन (जलाना), पचन (पकाना),

---

[1] पाठोऽय नास्ती डुटीकापुस्तके।

[2] तथा रसवि० इत्यपि पाठ । [3] प्रवृत्तितो । [4] एव च । [5] साम्ये। [6] विपरीता। [7] परिमृश्यन्ते। इति पाठान्तराणि।

स्वेदन (पसीने लाना), विलयन (विम्लापन = पिघलाना), कफ और वायु का शमन करना ये उष्णवीर्य के कार्य है।

शीतवीर्य के कार्य—सुख, शान्ति, आनन्द को करना, स्तम्भन (पसीने को रोकना[1]), जीवन (मूर्च्छा आदि को दूर कर प्राणों का रक्षण करना[2]) तथा रक्तपित्त आदि को निर्मल करना ये शीतवीर्य के कार्य बताये गये है।

अथ विपाक ।

विपाकस्तु[3] प्राय' स्वादु स्वादुलवणयोरम्लोऽम्लस्य कटुरितरेषाम्। रसैरसौ तुल्यफल । द्रव्यगुणविशेषेण चास्याल्पमध्यभूयस्त्वमुपलक्षयेत्। पराशरस्तु पठति—

पाकास्त्रयो रसानामम्लोऽम्ल पच्यते कटु कटुकम् ।
चत्वारोऽन्ये मधुर ससृष्टरसास्तु संसृष्टम् ॥
कटुतिक्तकषायाणा कटुको येषा विपाक इति पक्ष' ।
तेषा पित्तविघाते तिक्तकषायौ कथ भवत ॥

तत्र यन्मधुर रसविपाकयो शीतवीर्य च द्रव्य पञ्चाम्ल तयोरुष्णवीर्य च, यद्वा कटुक तेषा यथास्वं रसादिभ्य' प्रायो गुणान् दोषकोपशमनत्व च विद्यात्। तद्यथा-क्षीरमदिरामरिचादीनाम्। रसादिसङ्करेण त्वन्यथात्वम्। यथा मधु मधुर श्लेष्माण शमयति कटुविपाकतया । सकषायत्वाद्रौद्याच्च वात जनयति शीतवीर्यत्वाच्च । तथा यवोऽपि । आनूपौदकपिशित शीतमपि पित्त करोत्युष्णवीर्यत्वात्। तथा तैल कटुविपाकतया च विपाकत एव बद्धविरमूत्रम्। अम्ल काञ्जिक कफ जयति रूक्षोष्णत्वात्। कपित्थ तु रौद्यात्पित्त च शीतवीर्यत्वात्। आमलक पित्त शीतवीर्यत्वात् स्वादुपाकतया च, कफ रौद्याल्लाघवाच्च, शैत्यरौद्यलाघवैस्तु न वातम्। लवण सैन्धव स्वादुपाकतया पित्त जयति लाघवात्कफ जयति। कटुकाऽपि शुण्ठी स्नेहौष्ण्यस्वादुपाकैर्वात क्षपयति पिप्पली च। लशुनोऽपि स्नेहौष्ण्यगौरवै । पलाण्डुश्च । स तु स्नेहगौरवाभ्या जनयति श्लेष्माण वृद्ध च मूलक स्वादुपाकतया। तिक्तानि व्याघ्रीविशल्यार्कागुरूण्युष्णवीर्यत्वात्पित्त जनयन्ति। कषायतिक्त महत्पञ्चमूल वात जयति न तु पित्तमुष्णवीर्यत्वात्। कषायश्च कुलत्थोऽम्लपाकतया च। इत्येतन्निदर्शनमात्रमुक्तम्। तस्मात्—

किञ्चिद्रसेन कुरुते कर्म पाकेन चापरम् ।
द्रव्य गुणेन वीर्येण प्रभावेनैव किञ्चन ॥

विपाक का वर्णन—आहार किये हुए रसवाले द्रव्योंका जठराग्नि के संयोग से पचन होने पर जो एक प्रकार का रस उत्पन्न होता है उसका नाम विपाक[4] है। किस किस रस का विपाक कैसा होता है? इसके लिये कहते है कि—प्राय मधुर और लवण रस का विपाक मधुर होता है। अम्ल रस का विपाक अम्ल होता है। शेष कटु, तिक्त और कषाय इन तीनों रसों का विपाक कटु होता है। यह विपाक जिस रस का होता है, उसी के अनुरूप उसके विपाक का फल होता है अर्थात् रस का जो कार्य होता है, उसी कार्य को विपाक भी करता है। हा, जहा जिस रसवाले द्रव्य-गुण का विशेष रहता है, उसी के अनुसार विपाक के फल में अल्पत्व, मध्यत्व तथा आधिक्य रहा करता है।

महर्षि पराशर तो कहते हैं कि—छहों रसों के विपाक तीन ही होते हैं और वे इस प्रकार से होते है यथा-अम्ल रस का विपाक अम्ल होता है और कटु का विपाक कटु होता है। शेष मधुर, लवण, तिक्त और कषाय इन चारों रसों का विपाक मधुर होता है। जिन लोगों का यह पक्ष है कि कटु, तिक्त और कषाय इन तीनों रसों का विपाक कटु होता है, उनसे महर्षि पराशर प्रश्न करते हैं कि "यदि तिक्त और कषाय का विपाक कटु होता है, तब बताइये कि ये तिक्त और कषाय किस प्रकार से पित्त का नाश कर सकते है? भावार्थ यह है कि तिक्त और कषाय रस का विपाक कटु होता है और ऊपर कह चुके है कि जिस रस का जो विपाक होता है वह (विपाक) भी उस रस के अनुरूप ही फल देता है।यहा तिक्त-कषाय रस का कटु विपाक पित्तको कुपित करनेवाला होने से वह पित्त-शामक कदापि नहीं हो सकता। इसी लिये महर्षि पराशर तिक्त और कषाय रसका विपाक मधुर मानते हुए उसे पित्तशामक समझते है। परन्तु पराशरजी का यह मत अपना व्यक्तिगत है, सर्वसम्मत नही है।

ग्रन्थकार वाग्भटाचार्य इसके समाधान मे कहते हैं कि जो द्रव्य मधुर रसवाला, मधुरविपाकी और शीतवीर्य है अथवा जो द्रव्य रसविपाक मे अम्ल और उष्णवीर्य है तथैव जो द्रव्य रसविपाक मे कटु और उष्णवीर्य है वही अपना यथार्थ कार्य करता है। इतना होने पर भी रस, वीर्य और विपाक इन तीनों मे रस ही की सर्वातिशायिता काम करती है। उदाहरणार्थ दूध, मदिरा एव मरिचादि को ही लीजिये। इनमे रस ही की प्रधानता काम करती है किन्तु वीर्य और विपाक की नही। जैसे कि दूध, मधुर-रसविपाकी तथा शीतवीर्य है और यह कफ को कुपित करता तथा वायु और पित्त को शमन करता है सो यह दूध के मधुर रस से ही होता है। मद्य अम्लरस-विपाकी तथा उष्णवीर्य होते हुए भी उसका अम्लरस ही वातशमन तथा पित्तकफ को कुपित करता है। इसी प्रकार कटुरसविपाकी उष्णवीर्य मरिच का कटुरस ही कफ का शमन और वातपित्त को कुपित करता है। इससे कार्य करने मे रस की ही प्रधानता पाई जाती है, न कि पराशरजी के वीर्य और विपाक की।

रसादि के सकर से तो अन्यथात्व (कुछ का कुछ) हो जाना दिखाई देता है। वीर्य, रस, विपाक आदि का कोई नियम नही रहता जैसे कि मधु (शहद) मधुर होकर भी कटुविपाकी होने से कफ को शमन करता है और यही शहद कुछ कषायता, रूक्षता तथा शीतवीर्यता के कारण वायु को उत्पन्न करता है। यह बात जवमें पाई जाती है। अनूपदेश

---

१ स्तम्भ स्वेदापनयनम्। २ जीवन मूर्च्छापनयनादिभि प्राणधारणमिति हेमाद्रि । ३ इति वीर्यमुक्त विपाकस्तूच्यते इत्यस्मादनन्तर विपाकस्तु इतीन्दुसमतपाठ । ४ जाठरेणाग्निना योगा द्यदुदेति रसान्तरम्। रसाना परिणामान्ते स विपाक इति स्मृत ॥ इति

का जल और मास ठण्डा होने पर भी उष्णवीर्य होने से पित्त को कुपित करता है। तेल उष्णवीर्य होकर भी कटुविपाकी होने से विपाक (पचन) होते ही मल और मूत्र का अवरोध करता है। काजी अम्ल रसवाली होकर भी रूक्षता और उष्णता के कारण कफ को जीत लेती है। कैथ रूक्षता से कफ को तथा शीतवीर्यता से पित्त को शान्त करता है। आमला मधुरपाकी एव शीतवीर्यता के कारण पित्त को, रूक्ष एव लघु होने से कफ को शमन करता है परन्तु शीत, रूक्ष और लघु होने से वायु का शमन नही करता। सेंधा नमक मधुर पाकी होने से पित्त को तथा लघुता से कफ को शमन करता है। सोंठ और पीपल कटुरसवाली होकर भी स्नेह, उष्णता तथा मधुरपाकिता के कारण वायु का नाश करती है। लह सुन और पलाण्डु (प्याज) भी कटु रसवाले है परन्तु स्नेहता, उष्णता तथा गुरुता के कारण वायु को शमन करते हैं। वही पलाण्डु स्नेह और गुरुता के कारण कफ को करता है। और वृद्ध (बडी पकी हुई) मूली भी मधुरपाकी होने से कफकारक होती है। इस अष्टाङ्गसग्रह के टीकाकार इन्दु लिखता है कि स्वय वाग्भटने अष्टाङ्गहृदय मे वृद्धमूली को त्रिदोषकारक तथा कटुविपाकी कहा है। न जाने उन्ही ने क्या समझकर यहा मधुरविपाकी कफकारक लिख दिया है, कुछ समझ में नही आता। किन्तु अरुणदत्त और हेमाद्रि ने यह आमविषय है कहकर समाधान किया है। वे कहते है कि (यह मधुरविपाक कच्चे बृहन्मूलक का है जो स्निग्ध के साथ पकाया नहीं जाता-स्निग्धपक्व बृहन्मूलक का विपाक कटु ही होगा इत्यादि।) कटेरी, गिलोय, कलिहारी, आक और अगर ये स्निग्ध और तिक्त होते हुए भी उष्णवीर्य होने से पित्तको करते हैं। कषाय एव तिक्त रसवाला होकर भी बृहत्पञ्चमूल उष्णवीर्य होने से वायु को जीतता है किन्तु पित्त को शान्त नही करता। कषाय रसवाला कुलत्थ भी अम्लपाकी होने से इसी कार्य को करता है। यह सब केवल निदर्शन (उदाहरण) मात्र के लिए कहा गया है। इससे सिद्ध हुआ कि विपाकानुसार सब कुछ होता है।

अथ प्रभाव ।

यद्यद् द्रव्ये रसादीना बलवत्त्वेन वर्तते ।
अभिभूयेतरास्तत्तत्कारणत्व प्रपद्यते ॥
विरुद्धगुणसयोग भूयसाऽल्प हि जीयते ।
रस विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तान् व्यपोहति ॥
बलसाम्ये रसादीनामिति नैसर्गिक बलम् ।
विरुद्धा अपि चान्योऽन्यं रसाद्या कार्यसाधने ॥
नावश्य स्युर्विघाताय गुणदोषा मिथो यथा ।
रसवीर्यप्रभृतयो भूतोत्कर्षापकर्षत ॥
एकरूपा विरूपा वा द्रव्य समधिशेरते ।
माधुर्यशैत्यपैच्छिल्यस्नेहगौरवमन्दता ॥
सहवृत्त्या स्थिता क्षीरे नत्वानूपौदकामिषे ।
गुणा द्रव्येषु ये चोक्तास्त एव तनुदोषयो ॥
स्थितिवृद्धिक्षयास्तस्मात्तेषा हि द्रव्यहेतुका ।
रस विद्यान्निपातेन तेनाधिवसनेन च ॥
वीर्य विपाक द्रव्याणा कर्मण परिनिष्ठया ।
मधुरस्कन्धनिर्दिष्टघृततैलगुडादिषु ॥
गुणा स्वाद्वादिभेदेन रसषट्क न युज्यते ।
अस्तु भेदादसख्यत्वमैक्य वा स्वादुलक्षणात् ॥
भूतोत्कर्षापकर्षेण भेदो योऽल्पेन कल्प्यते ।
सकीर्णत्वात्फले चासौ तुल्यत्वान्न विवक्ष्यते ॥
गुर्वादीना विशेषेऽपि स्वजातेरनतिक्रमात् ।
सख्याभेदो यथा नास्ति रसानामपि सक्रम ॥
दृष्ट मुखोपलेपादि यत्सर्वेषु घृतादिषु ।
न च तद्दाडिमाद्येषु षडेवातो रसा स्मृता ॥
आनन्त्यैकत्वयोश्च स्यान्न विचित्रार्थतन्त्रणम् ।

बलवान् रसादि एव प्रभाव का वैशिष्ट्य—द्रव्य मे रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव रहते है। इनमे से जो (रस, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव) अधिक बलवान् होता है, वह अन्य गुणों को जीतकर अपने फल को देता है या वही शुभाशुभ फल देने का कारण बनता है। इसी भाव को लेकर पहले कहा गया है कि द्रव्य कही रससे, कही वीर्य मे, कहीं विपाक से तो कहीं प्रभाव से काम करता है। विरुद्ध गुणवाले द्रव्यों का (दो, तीन, चार आदि मिले हुए) सयोग होने पर विरुद्ध गुणों मे जो अधिक बलवान् होता है वह अल्पबल को जीत कर अपना फल देता है। यह विरोध दो प्रकार का होता है—एक स्वरूप से और दूसरा कार्य से जैसे कि गुरु और लघु का अथवा शीत और उष्ण का यह स्वरूप-विरोध कहलाता है। कार्यविरोध वह है जिसमें द्रव्य परस्पर विरुद्ध कार्य करते है जैसे कि गुरु द्रव्य कफ को बढ़ाता है और लघु या रूक्ष कफ का हरण करता है। उष्ण द्रव्य कफ को हरता है और शीत या स्निग्ध कफ को करता है। रस, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव इन चारों की साम्यावस्था होने पर (समान बल होनेपर) इन सब का नैसर्गिक बल काम करता है। ऐसी अवस्था मे अपने नैसर्गिक बल से विपाक रसको जीतता है, रस और विपाक इन दोनों को वीर्य जीतता है तथा रस, वीर्य और विपाक इन तीनों को प्रभाव जीतता है।

कार्यसाधन में विरोधियो का अविरोध—कार्य के साधनकाल मे रसादि (रस, वीर्य, विपाक, प्रभावादि) परस्पर एक दूसरे से विरुद्ध होते हुए भी नाश करनेवाले नही होते जैसे कि सत्त्व, रज और तमोगुण परस्पर विरोधी होते हुए भी शरीर मे साथ रह कर नाशकारी नही होते, इसी प्रकार सभी प्रकारके रस एव दोष (वात-पित्त-कफ) भी परस्पर विरोधी होकर भी शरीर का नाश नहीं करते और न वे रोगविघातक क्रिया को ही नष्ट करते है।

द्रव्यगत रसादिके समविषमत्वमें हेतु—प्रत्येक द्रव्यमे रस, वीर्य, विपाकादि सम एव विषम अवस्थामे रहते है। किसी द्रव्य मे रस अधिक रहता है, किसीमे वीर्य तो किसी में विपा-

१ वृद्धमूलकस्य त्रिदोषकर्तृत्वे कटुकस्य कफकर्तृत्वे यदाचार्यवाग्भटेन मधुरविपाकित्व कारणमुक्त तत्स्वय हृदयपठितस्यैव वृद्धमूलकस्य कटुविपाकित्व स्मृत किंवाऽन्यत्किञ्चिदिति न जाने। इतीन्दु ।

कादि। इसी प्रकार इनमे से कोई कम रहता है तो कोई अधिक। इसका कारण क्या है? इसके स्पष्टीकरणार्थ कहते है कि—रस, वीर्य आदि कार्य करनेवालों का किसी द्रव्यमे कम तथा किसी में अधिक रहने का मुख्य कारण पञ्चमहाभूतों की न्यूनाधिक स्थिति ही है। भावार्थ यह है कि पञ्चभूतों की द्रव्य गत स्थिति ही वात, पित्त और कफ की न्यूनाधिकता को निर्माण करती है और तदनुसार ही उस उस द्रव्यमे रसादिकी स्थिति रहती है। इसी बातको उदाहरण द्वारा समझाते है कि जैसे दूधमे माधुर्य, शैत्य, पैच्छिल्य, स्नेह, गौरव और मन्दता ये सब गुण सहयोग की वृत्ति से रहते हैं, वैसे अनूपदेशज जल और मासमें नही रहते। द्रव्योंमें गुरु-लघु आदि जो गुण रहते है वे ही शरीरान्तर्गत वात, पित्त और कफमें रहते है। इन वातादि दोषों की स्थिति, वृद्धि और क्षय भी द्रव्यों के ही कारण से होते हैं।

रसादिको जानने के उपाय—द्रव्यके रस, वीर्य एव विपाकादि को किस प्रकार से जानना चाहिए? इसके लिए कहते हैं कि द्रव्य के रस की परीक्षा जिह्वानिपात से करनी चाहिए अर्थात् जिस द्रव्य के रस को जानना हो तो उसको अपनी जीभ पर रख कर या उसके रस को जीभ पर पटक कर देखना चाहिए। इस तरह करने से जीभ बतलावेगी कि इस द्रव्य का रस मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषायमे से अमुक है। उक्त निपातसे तथा अधिवसन (शरीरमे कुछ समय तक उस द्रव्यके रहने) से उस द्रव्यके वीर्य का पता लगेगा कि वह उष्णवीर्य या शीतवीर्य है। द्रव्यके सेवन करने से वात-पित्तादि दोषों की क्षयवृद्धिरूपा क्या निष्पत्ति होती है, इसका ज्ञान होना ही विपाक की पहिचान है।

वस्तुत रस ६ ही हैं—वादी का कहना है कि मधुरादि रसों की सख्या का जो नियम कर दिया गया है कि रस ६ ही है, यह ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि मधुर स्कन्ध में कहे हुए घृत, तैल, गुड आदि के गुणों एव स्वादों के भेदों तथा ऐक्य को देखा जाय तो रस अनेक हो सकते है अथवा एक ही रस रह सकता है। इसके समाधान में ग्रन्थकार कहते है कि गुणास्वाद भेद से चाहे रसों का असख्यत्व या एकत्व दिखाई देता हो परन्तु रस ६ ही है। पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों के उत्कर्षापकर्ष (आधिक्य एव न्यूनता) से कुछ भेदों की कल्पना की जा सकती है परन्तु वह सकीर्णतया की जाती है। कल्पनाए चाहे जितनी कर सकते हैं किन्तु फल के तुल्य होने से यह भेदकल्पना ठीक नहीं है। गुरु आदि गुणों के विशेष रहने पर भी द्रव्य अपनी जाति (मधुराम्ललवणत्वादि) को नहीं छोडता। इस लिए इसमें जैसे सख्याभेद नही होता, ठीक इसी प्रकार रसोंकी सख्या एव क्रम भी नहीं बदलते अपितु जैसे है वैसे ही रहते हैं। मधुरादि स्कन्धों में कहे हुए द्रव्यों में स्वादकी विलक्षणता दिखाई देती है परन्तु घृतादि पदार्थों में जो मुखलेपादि प्रतीत होता है वह दाडिम आदि में नहीं प्रतीत होता। साराश यह है कि द्रव्यों तथा उनके गुरु आदि गुणों मे चाहे जितने स्वाद क्यों न प्रतीत होते हों, उनमे मधुर, अम्ल, लवणादि रसत्व ६ में ही सीमित रहता है, अत रसों की सख्या ६ ही सिद्ध होती है। यदि रसों में अनन्तत्व माना जायगा तो उनके स्वरूप वर्णन करते समय वही अनन्तत्व सामने आवेगा और इस आनन्त्य के कारण उनके स्वरूपविषय में कुछ भी नहीं कह सकेंगे। इसी प्रकार यदि रस एक ही प्रकार का माना जायगा तो उसके विशेषत्व का वर्णन भलीभाति न कर सकेंगे और न तन्त्र (शास्त्र) की रचना ही कर सकेंगे।

गुर्वाद्या वीर्यमुच्यन्ते शक्तिमन्तोऽन्यथा गुणा ।
परसामर्थ्यहीनत्वाद् गुणा एवेतरे गुणा ॥
यथारस जगु पाकान् षट् केचित्तदसाम्प्रतम् ।
यत्स्वादुर्व्रीहिरम्लत्व न चाम्लमपि दाडिमम् ॥
याति तैल च कटुता कटुकाऽपि न पिप्पली ।
यथारसत्वे पाकाना न स्यादेव विपर्यय ॥
यस्माद् दृष्टो यव स्वादुर्गुरुरप्यनिलप्रद ।
दीपन शीतमप्याज्य वसोष्णाऽप्यग्निसादिनी ॥
कटुपाकोऽपि पित्तघ्नो[1] मुद्गो माषस्तु पित्तल ।
स्वादुपाकोऽपि चलकृत्स्निग्धोष्ण गुरु फाणितम् ॥
रस स्वादुर्यथा चैतत्तथाऽन्येष्वपि दृश्यते ।
वातल कफपित्तघ्नमम्लमप्यामलकीफलम् ॥
कुरुते दधि गुर्वेव वह्नि पारावत[2] न तु ।
कपित्थ दाडिम चाम्ल[3] ग्राहि नामलकीफलम् ॥
कषाया ग्राहिणी शीता धातकी[4] न हरीतकी ।
अप्रधानाः पृथक्तस्माद्रसाद्या सश्रितास्तु[5] ते ॥
प्रभावस्तु यतो द्रव्ये द्रव्य श्रेष्ठमतो मतम् ।

गुरु आदि की वीर्य और गुणसज्ञा—पूर्वोक्त गुर्वादि (गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, तीक्ष्ण, मन्द, शीत और उष्ण) गुण जब द्रव्य में बलवान् होकर रहते हैं तब इन्ही की वीर्य सज्ञा होती है तथा उत्कृष्ट शक्तिमान् न रहने पर इन्हें सामान्य गुण कहते है। गुरु आदि विशिष्ट अन्य द्वादश गुण हैं वे भी उत्कृष्ट शक्ति से हीन होने के कारण गुण कहलाते हैं।

विपाक—कुछ आचार्यों का कथन है कि यथारस अर्थात् प्रत्येक रस के अनुसार ही उसका विपाक होता है जैसे कि मधुर का मधुर, अम्ल का अम्ल, लवण का लवण विपाक होता है आदि। इस प्रकार षड्सों के विपाक भी ६ ही होते है किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है। यदि यथारस ही विपाक होता तो व्रीहि मधुर होकर भी अम्लविपाकी नही होता, न दाडिम का अम्लविपाक ही बदलता, न तैल का कटुविपाक होता और न कटु पिप्पली भी अपने विपाक को छोडती। साराश, यथारस विपाक होता तो इस प्रकार विपाकों मे विपर्यय नहीं होता। देखा जाता है कि जौ मधुर तथा गुरु होकर भी वायुकारक होता है। घृत शीतवीर्य होते हुए भी अग्नि-प्रदीपन करता है। वसा उष्ण-वीर्य होकर भी अग्निमान्द्य करती है। मूँग कटुपाकी होकर भी पित्तशामक है और माष (उडद) मधुरविपाकी होकर भी पित्तकारक है। गुरु, उष्ण एव स्निग्ध होकर भी फाणित (गुड की राब) वायुकारक होता है। मधुर रसका फल विपर्यय जैसे यहा दिखाई देता है ऐसे अन्य रसों मे भी

१ पित्तघ्नोऽमुद्गो। २ पालेवत तु न। ३ साम्ल। ४ धातुकी। ५ सस्रुतास्तु। इति पाठान्तराणि।

यही बात दृग्गोचर होती है जैसे कि अम्ल रहते हुए बहेडे का फल वातकारक है वैसे कफ और पित्त को भी नष्ट करता है। दही गुरु होते हुए भी अग्नि को प्रदीप्त करता है परन्तु पालेवत पारावत (देशान्तरीय खजूर या कबूतर[1]) इस काम को नहीं करते। कैथ और अनार अम्ल होकर ग्राही (मलको बाधनेवाले) हैं परन्तु आमला अम्ल होकर भी इस काम को नही करता। धातकी कषायरसवाली तथा शीतवीर्या होकर ग्राहिणी (मलावरोध करनेवाली) है परन्तु हरड में यह बात नहीं है। इस से स्पष्ट है कि द्रव्य केआश्रय में रहनेवाले रस, वीर्य, विपाकादि उससे अलग एव अप्रधान हैं अर्थात् ये सब द्रव्य द्वारा नियन्त्रित है अत ये स्वय कुछ भी नहीं कर सकते। जो कुछ करता है, वह द्रव्य का प्रभाव ही करता है। साराश यह है कि सबसे श्रेष्ठ द्रव्य को ही माना गया है।

रसादिसाम्ये यत्कर्म विशिष्ट तत्प्रभावजम् ।
दन्ती रसाद्यैस्तुल्यापि चित्रकस्य विरेचनी ॥
मधुकस्य च मृद्वीका घृतं क्षीरस्य दीपनम् ।
कटुपाकरसस्निग्धगुरुत्वै कफवातजित् ॥
लशुनो वातकफकृन्न तु तैरेव यद्गुणै ।
मिथो विरुद्धान्वातादीन् लोहिताद्या॰जयन्ति यत् ॥
कुर्वन्ति यवकाद्याश्च तत्प्रभावविजृम्भितम् ।
शिरीषादि विष हन्ति[3] स्वप्नाद्य तद्विपर्यये ॥
मणिमन्त्रौषधादीना यत्कर्म विविधात्मकम् ।
शल्याहरणपुजन्मरक्षायुर्धीवशादिकम् ॥
दर्शनाद्यैरपि विषं यन्नियच्छति चागद॰ ।
विरेचयति यद्वृष्यमाशु शुक्र करोति वा ॥
ऊर्ध्वाधोभागिक यच्च द्रव्य यद्वमनादिकम्[4] ।
मात्रादि प्राप्य तत्तच्च यत्प्रपञ्चेन वर्णितम् ।
तच्च प्रभावज सर्वमतोऽचिन्त्य स उच्यते ॥

प्रभाव का अचिन्त्यत्व—रसादि (रस, वीर्य और विपाक) की साम्यावस्था में जो विशिष्ट कार्य होता है वह प्रभावजन्य समझना चाहिए। उदाहरणार्थ—जैसे कि चित्रक के समान रस-वीर्य-विपाकवाली होकर भी दन्ती विरेचन करती है किन्तु चित्रक नहीं करता। इसी प्रकार मुलेठी के समान रसवीर्यविपाकवाली होकर भी द्राक्षा विरेचनी है किन्तु मुलेठी नही है। दुग्ध के समान रसवीर्य विपाकवाला होकर भी घृत अग्नि प्रदीपन है किन्तु दूध अग्निमान्द्य करता है। लहसुन कटुपाक रस तथा स्निग्ध-गुरु होकर कफ और वायु को जीतता है परन्तु उन्हीं गुणों से वायु और कफ को नहीं करता। परस्पर विरुद्ध वातादि दोषों को स्निग्धत्व-गुरुत्व से रक्तशालि जीतता है, परन्तु इन्हीं गुणोंवाला यवक वातादि दोषों को करता है। यह सब प्रभाव के कारण होता है। सिरस, हलदी आदि विषका नाश करते हैं और शयन, मेध आदि विषको बढ़ाते हैं, यह भी सब प्रभाव का माहात्म्य है। शल्याहरण, पुरुषोत्पत्ति (पुत्रोत्पत्ति), रक्षा, आयुर्वृद्धि, बुद्धि, वशीकरण आदि विविध कर्म मणि, मन्त्र, औषधादि द्वारा होते हैं, यह भी सब प्रभावजन्य ही जानना चाहिए। देखने मात्रसे विष का चढ़ जाना तथा उतर जाना भी प्रभावजन्य ही है। कोई वृष्य द्रव्य वीर्य को बढ़ाता है तो कोई वीर्य का जल्दी स्खलन करता है। ऊर्ध्वभाग में तथा अधोभाग में जाकर मैनफल एव हरीत की आदि द्रव्य जो वमन तथा विरेचन कार्य को करते हैं, मात्रा आदि को प्राप्त होकर द्रव्य जिस जिस कार्य को करता है और जिनका वर्णन मात्रादि प्रकरण मे भली भाति किया गया है, वह सब उस २ द्रव्य के प्रभाव से ही जानना चाहिए। इस प्रकार से देखा जाय तो प्रभाव अचिन्त्य है अर्थात् कोई अनुमान नहीं कर सकता कि कब, किस प्रकार और क्या कार्य प्रभाव के द्वारा होगा। इसीलिए अब आचार्य उपसहार मे प्रभाव की विलक्षणता को बताते हुए कहते है कि—

रसेन वीर्येण गुणैश्च कर्म द्रव्य विपाकेन च यद्विदध्यात्।
सद्योऽन्यथा तत्कुरुते प्रभावाद्धेतोरतस्तत्र न गोचरोऽस्ति॥

इत्यष्टाङ्ग सग्रहे सूत्रे सप्तदशोऽध्याय॰।

प्रभाव की विलक्षणता—द्रव्य अपने रस से, वीर्य से, गुणों से तथा विपाक से जिस कार्य को करता है किन्तु तुरन्त ही अपने प्रभाव से वही द्रव्य विपरीत कर्म को भी कर देता है अत उस द्रव्य के प्रभाव के कारण जाना नहीं जा सकता। इसी भाव को लेकर प्रभाव को अचिन्त्य कहा गया है।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्यायां द्रव्यादिविज्ञानीयो नाम सप्तदशोऽध्याय ॥ १७ ॥

अथाष्टादशोऽध्यायः ।

द्रव्य, रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव के विषय में इस के पूर्वाध्याय मे कहा गया परन्तु रस के विषय मे बहुत कुछ कहना शेष रह गया है अत आचार्य पुन यहा रस के विषय में कहते हैं कि—

अथातो रसभेदीयमध्याय व्याख्यास्याम इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय॰।

रसभेदीयाध्याय—जिस में रसों के भेदों का वर्णन है, अब हम यहा से उस रसभेदीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियोंने किया है।

रस खल्वाप्य प्रागव्यक्तश्च। स षड्ऋतुकत्वात्कालस्य महाभूतगुणैरूनातिरिक्तै ससृष्टो विषम विदग्धः षोढा पृथग्विपरिणमते मधुरादिभेदेन।

रस का वर्णन—वस्तुत रस जलीय है और वह पहले अव्यक्त (छुपा हुआ-अप्रगट) रहता है। वही एक आप्य रस काल के छ ऋतुओं में विभक्त होने के कारण पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पञ्चमहाभूतों के न्यूनाधिक

१ पालेवत —द्वीपान्तरखर्जूरीवृक्षे, इति वैद्यनिघण्टु।
२ विषादिघ्न। ३ तद्विपर्यये। ४ यच्छमनादि च।

गुणों से विषम अर्थात् न्यूनाधिक मात्रा में विदग्ध होकर मधुरादि भेद से अलग छ प्रकारों में परिणत हो जाता है।

विशेष वक्तव्य—"रसनार्थो रस" इस उक्ति के अनुसार शब्द, स्पर्श, रूप आदि अन्य इन्द्रियों के अर्थों के समान रस जिह्वा इन्द्रिय का अर्थ है। रस का निश्चय रसनानिपात अर्थात् जीभ पर पडने से ही होता है। इसीलिए इसकी रस सज्ञा है। छहों रसों के अन्तर्भूत होते हुए भी जब तक पञ्च महाभूतों का परस्पर अनुग्रह या सघर्ष नही हुआ, यह आप्य (जलीय) रस महाभूतों द्वारा विदग्ध नहीं हुआ तब तक अव्यक्त (अप्रकट) था। मधुर आदि रसों की अभिव्यक्ति किस प्रकार हुई, अब उसी को कहते हैं।

तत्र भूजलयोर्बाहुल्यान्मधुरो रस। भूतेजसोरम्ल। जलतेजसोर्लवण। वाय्वाकाशयोस्तिक्त। वायुतेजसो कटुक। वायूर्व्यो कषाय।

पञ्चमहाभूतो से रसोत्पत्ति—वही पूर्वोक्त आप्य (जलमय) अव्यक्त रस पृथ्वी और जल तत्वकी अधिकता से मधुर आस्वाद मे परिणत हुआ अर्थात् मधुर रस बना। इसी प्रकार पृथ्वी और अग्नितत्व के बाहुल्य से अम्ल रस बना। जल और अग्नितत्व की अधिकता से लवण रस हुआ। वायु और आकाश तत्व के आधिक्य से तिक्त रस, वायु और अग्नितत्व की बहुलता से कटु रस तथा वायु और पृथ्वी तत्व के बाहुल्य से कषाय रस की उत्पत्ति हुई।

विशेष विवरण—पहले कह आए है कि पञ्च महाभूतों के न्यूनातिरिक्त गुणों करके काल के षड् ऋतुवाला होने से रस भी मधुरादि भेद से छ ही रूपों में परिणत हुए। छहों ऋतु किस प्रकार षड्रस बनाने में सहायक हुई? इसका उत्तर यही है कि शिशिर ऋतु में वायु-आकाश की अधिकता के कारण तिक्त रस बना। इसी प्रकार वसन्त मे वायु और पृथ्वी तत्व की अधिकता होने से कषाय रस निष्पन्न हुआ। ग्रीष्म मे अग्नि-वायु के आधिक्य से कटु रस की निष्पत्ति हुई। वर्षा में अग्नि और पृथ्वी तत्व की विशेषता से अम्ल रस बना। शरद् ऋतु में जल और अग्नि तत्वाधिक्य होने से लवण रस तैयार हुआ और हेमन्त मे पृथ्वी तथा जलतत्व की बहुलता होने से मधुर रस की निष्पत्ति हुई। इस मे उत्कर्ष (पञ्च महाभूतों का) ही कारण है। अपकर्ष का ग्रहण नही किया जाता।

इन रसों की परीक्षा किस प्रकार की जाय कि यह मधुर रस है या यह अम्ल आदि है अत अब इस विषय में कहते हैं कि—

तेषा स्वादुरास्वाद्यमानो मुखमुपलिम्पतीन्द्रियाणि प्रसादयति, देह प्रह्लादयति, षट्पदपिपीलिकादीनाम पीष्टतम। अम्लस्तु जिह्वामुद्वेजयत्युर कण्ठ विदहति, मुख स्रावयति, अक्षिभ्रुव सकोचयति, दशनान् हर्षयति रोमाणि च। लवणो मुख विष्यन्दयति, कण्ठकपोल विदहति, अन्न प्ररोचयति। तिक्तो विशदयति बदन, विशोधयति कण्ठ, प्रतिहन्ति रसनाम्। कटुको भृशमुद्वेजयति जिह्वाग्र चिमचिमायति कण्ठकपोल स्रावयति मुखाक्षिनासिक विदहति देहम्। कषायस्तु जडयति जिह्वा, बध्नाति कण्ठ पीडयति हृदयम्।

मधुरादि रसों का परीक्षण—जिह्वा पर डालकर, स्वाद लेने पर जो रस पैच्छिल्य-सयोग से मुंह मे लिपट जाता है, जिससे सब इन्द्रियों में प्रसन्नता प्राप्त होती है, शरीर मे सुख की प्रतीति होती है और जो षट्पदपिपीलिकादि (भ्रमर, कीट, कीरी, मक्खी आदि) को भी अत्यन्त प्रिय होता है अर्थात् पिपीलिका जिसकी अत्यन्त चाहना करती है वह मधुर (मीठा) रस है। मूत्र के साथ शर्करा जाती है अर्थात् मधुमेह है इसकी परीक्षा पेशाब पर आई हुई कीडियों से हो जाती है और निश्चय होता है कि वस्तुत पिपीलिकादि को मधुर रस नितान्त प्रिय है।

अम्ल रस-जिससे जिह्वा मे उद्वेग होता है, छाती और कण्ठ में जलन होती है, मुख से स्राव छूटता है, आखों और भौंहों मे सकोच होता है, दातों एव रोमावलि में हर्ष होता है अर्थात् जिस के सयोग से दात काम नही कर सकते, रोम खड़े हो जाते हैं, उसे अम्ल या खट्टा रस कहते हैं।

लवण रस—जो मुख मे जल पैदा करता है, कण्ठ और गालों पर लगने से जलन सी होती है और जो अन्न में रुचि उत्पन्न करता है उसे लवण रस कहते है।

तिक्त रस—जो मुख को साफ करता है, कण्ठ को शुद्ध करता है तथा जो रसना (जीभ) को अन्य रस को ग्रहण करने में असमर्थ बना देता है, उसे तिक्त (कड़ुवा) रस जानना चाहिए।

कटु रस—जो बहुत चरपरा होता है, जीभ के अग्रभाग में चरचराहट पैदा करता है, कण्ठ एव कपोलों मे दाह करता है, मुख-नाक और आखों से जिसके कारण पानी बहने लगता है और जो शरीर मे जलन पैदा करता है उसे कटु (चरपरा) रस जानना चाहिए।

कषाय रस—जो जीभ मे जडता लाता है, कण्ठ को रोकता तथा जो हृदय मे पीड़ा करता है, वह कषाय (कसैला) रस है।

रसों के स्वरूप का कथन करके अब आचार्य रसों के कार्यों को कहते है।

तत्र मधुरो रसो जन्मप्रभृति सात्म्यात्सर्वधातुविवर्धन आयुष्यो[1] बालवृद्धक्षतक्षीणबलवर्णेन्द्रियत्वक्केशकण्ठहित प्रीणनो बृहणो जीवनस्तर्पण स्थैर्यसधानस्तन्यकरो वातपित्तविषदाहमूर्च्छातृष्णाप्रशमन. स्निग्ध शीतो मृदुर्गुरुश्च।

एव गुणोऽपि स सदाऽत्युपयुज्यमान
स्थौल्याग्निसादगुरुताऽलसकातिनिद्रा।
श्वासप्रमेहगलरोगविसज्ञताऽऽस्य-
माधुर्यलोचनगदार्बुदगण्डमाला ॥
छर्द्यु दर्दमूर्द्धरुक्कासपीनसक्रिमीन्।
श्लीपदज्वरोदरष्ठीवनानि चावहेत् ॥

मधुर रस के कार्य—सब प्राणियों के लिए मधुर रस जन्म से ही सात्म्य होने के कारण सब धातुओं (रस, रक्त, मास,

१ आयुष्य-आयुर्वृद्धिकर,

मेदादि) को बढ़ानेवाला, आयु को देनेवाला और बढ़ानेवाला, बालक-वृद्ध-क्षतसे क्षीण-बल-वर्ण-इन्द्रिय-त्वचा-केश और कण्ठ इन सबके लिए हितकारी (पथ्य) है। इतना ही नहीं, मधुर रस शरीरपोषक, पुष्टिकारक, जीवनप्रद अर्थात् प्रमित आयु तक सुख से रखनेवाला या मूर्च्छादि[1] हरनेवाला और तृप्तिकारक है, स्थिरता को देनेवाला, टूटी हड्डियों को जोड़नेवाला, स्त्रियों के स्तन्य (दूध) को बढ़ाने या पैदा करनेवाला, वात-पित्त-विष-दाह-मूर्च्छा तथा तृष्णा को शमन करनेवाला, स्निग्ध, शीतल, मृदु और गुरु है। इन गुणों से युक्त होने पर भी नित्य प्रति इसका अति उपयोग करने से यह मेद, अग्निमान्द्य, जडता, अलसक, अतिनिद्रा, श्वास, प्रमेह, कण्ठरोग, मूर्च्छा, मुखमाधुर्य, नेत्ररोग, अर्बुद, गलगण्डमाला, छर्दि, उदर्द, शिर शूल, खासी, पीनस, क्रिमि रोग, श्लीपद, ज्वर, उदररोग और ष्ठीवन (मुख से सतत थूक का आना) इन रोगों को करता है।

विशेष वक्तव्य—आयुष्य और जीवन इन दोनों की एकार्थता के कारण यहा शङ्का हो सकती है कि आचार्य ने यह पुनरुक्ति कैसे कर दी? परन्तु 'अरुणदत्त' का कथन है कि वस्तुत इन दोनों शब्दों में एकार्थता नहीं है। आयुष्य का अर्थ है प्रमित आयु से भी अधिक आयु या अमित आयु का देनेवाला तथा जीवन का अर्थ है, प्रमित आयुतक सुख से रहना। साराश, शङ्काकार के कथनानुसार यहा जीवन और आयुष्य में से किसी एक शब्द का रखना उपयुक्त होता किन्तु दोनों की भिन्नार्थता के कारण यह शङ्का ठीक नही है क्योंकि इन दोनों में प्रत्यक्ष भेद है।[2]

अम्लोऽनिलनिबर्हणोऽनुलोभन कोष्ठविदाही रक्तपित्तकृदुष्णवीर्य शीतस्पर्शो बोधयतीन्द्रियाणि रोचन पाचनो दीपनो बृहणस्तर्पण प्रीणन क्लेदनो व्यवायी लघु स्निग्धो हृद्यश्च।

जनयति शिथिलत्व सेवित सोऽति देहे
कफविलयनकण्डूपाण्डुतारुग्विघातान्।
क्षतविहितविसर्प रक्तपित्त पिपासा
श्वयथुमपि कृशाना तैजसत्वाद्भ्रम च॥

अम्ल रस के कार्य—अम्ल रस वायुनाशक तथा वायु को अनुलोमन करनेवाला, पेट मे विदग्धता करनेवाला, रक्तपित्त कारक, उष्णवीर्य, शीतस्पर्श, इन्द्रियों में चेतनता लानेवाला, रुचिकारक, पाचन, अग्निप्रदीपन, बृहण, तृप्तिकारक, सब धातुओं का पोषक, स्रोतों मे क्लेदन करनेवाला, सब शरीर में व्याप्त होनेवाला, लघु, स्निग्ध और हृद्य है। इन गुणों से युक्त होकर भी अति सेवन किया जाने पर यह शरीर में शिथिलता लानेवाला होता है। कफ को पतला करता है। कण्डू, पाण्डुता, अभिघात क्षत का फैलना, विसर्प, रक्तपित्त, तृष्णा तथा दुर्बलों मे सूजन उत्पन्न करनेवाला है। आग्नेय होने के कारण भ्रमरोग को करके यह नाशकारक होता है।

लवण स्तम्भबन्धसघातविध्मापन सर्वरसप्रत्यनीको दीपनो रोचन पाचन क्लेदन शोषण स्नेहन स्वेदनो भेदनश्छेदन सरो व्यवायी विकासी हरति पवन विष्यन्दयति कफ विशोधयति स्रोतासि नातिगुरु स्निग्धतीक्ष्णोष्णश्च।

खलतिपलिततृष्णातापमूर्च्छाविसर्प-
श्वयथुकिटिभकोठाक्षेपरोधास्रपित्तम्।
क्षतविषमदवृद्धि वातरक्त करोति
क्षपयति बलमोज सोऽति वा सेवनेन॥

लवण रस के कार्य—लवण रस जडता को दूर करनेवाला, काठिन्यनाशक तथा सब रसों का प्रत्यनीक (विरोधी), अग्निप्रदीपन, रुचिकारक, पाचक, क्लेदन (शरीर मे आर्द्रता लाने वाला), शोषण (सुखानेवाला), स्नेहन करनेवाला, स्वेदन-भेदन (पसीना लानेवाला तथा दस्तावर), छेदन, शरीर में पसरने वाला, व्यवायी (सारे शरीर में व्याप्त होकर फिर पचनेवाला), विकासी (अङ्ग बन्धनों को ढीला करनेवाला), वायुनाशक, कफ को ढीला करनेवाला, स्रोतों को शुद्ध करनेवाला, थोडा गुरु, स्निग्ध, तीक्ष्ण और उष्ण है। इन गुणोंवाला होकर भी अतिसेवित लवण रस सिर के बालों को नष्ट करनेवाला, बालों को श्वेत करनेवाला, तृष्णा, ताप (दाह), मूर्च्छा, विसर्प, सूजन, किटिभ (कुष्ठविशेष), कोठ (शरीर पर लाल और श्वेत रग के मण्डल), आक्षेप (वातरोग विशेष), वातव्रणवेदना और रक्तपित्त को करनेवाला, क्षत, विष तथा मद को बढ़ानेवाला, वातरक्त को उत्पन्न करनेवाला, बल और ओज को घटानेवाला है।

तिक्त स्वयमरोचिष्णुररुचिविषकृमिमूर्च्छोत्क्लेदज्वरदाहतृट्कुष्ठकण्डूहर क्लेदमेदोवसामज्जविण्मूत्रपित्तश्लेष्मणोपशोषणो दीपन पाचनो लेखन स्तन्यकण्ठशोधनो मेध्यो नातिरूक्ष शीतो लघुश्च।

धातुबलक्षयमूर्च्छा-ग्लानिभ्रमवातरोगपरुषत्वम्।
खरविशदरौक्ष्यभावै सोऽतिसमासेवित कुर्यात्॥

तिक्त रस के कार्य—तिक्त रस स्वय अरोचिष्णु (जिह्वा को न सुहानेवाला), अरुचि, विष, कृमि, मूर्च्छा, उत्क्लेद (उबकाई), ज्वर, दाह, तृष्णा, कुष्ठ और कण्डू रोग को हरनेवाला, क्लेद, मेद, वसा (चर्बी), मज्जा, विष्ठा, मूत्र, पित्त और कफ का शोषण करनेवाला, दीपन, पाचन, लेखन, स्त्रियों के दुग्ध और कण्ठ को शुद्ध करनेवाला, मेधा बुद्धि को बढ़ानेवाला, कुछ रूक्ष, शीत और लघु है। इन गुणोंवाला होकर भी अति सेवन करने पर तिक्त रस धातु (रसरक्तादि एव वीर्य) और बल का नाश करनेवाला, मूर्च्छा, ग्लानि, भ्रम, वातरोग, शरीर मे रूक्षता इनको अपने खर-विशद और रौक्ष्य भाव से करनेवाला होता है।

कटुकोऽलसकश्वयथूदर्दस्थौल्याभिष्यन्दकृमिवक्त्र-

---

१ जीवन —मूर्च्छादिहर। इति हेमाद्रि।

२ ननु, आयुष्यजीव नयोरेकार्थत्वादेकतरोपादानमेव युक्तम्। नैवम्। एतयोर्भिन्नार्थत्वात्। तथाहि—आयुष्य स उच्यते योऽपरिमितायुषो हित, अधिकायुषो हेतुत्वात्। तथा च मुनि—"तेनायुरमित लेभे" इति। यस्त्वायुषो नियतरूपस्य तामेव मर्यादामनुबध्नाति, स जीवयतीति जीवन उच्यते। तदनयो स्पष्ट एव भेद। इति।

रोगविषकुष्ठकण्डूप्रशमनो व्रणावसादन स्नेहक्लेदशोषणो रोचन पाचनो दीपनो लेखन शोधन शोषयत्यन्न स्फुटयतीन्द्रियाणि भिनत्ति शोणितसघात छिनत्ति बन्धान् विवृणोति स्रोतासि न्पयति श्लेष्माण लघुरूक्ष तीक्ष्णोष्णश्च ।

कुरुतेऽतिनिषेवित' स तृष्णामदमूर्च्छादवमोहदेहसादान् ।
बलशुक्रगलोपशोषकम्पभ्रमतापग्लपनातिकर्शनानि ॥
करचरणपार्श्वपृष्ठप्रभृतिष्वनिलस्य कोपमतितीव्रम् ।
सकोच-तोद-भेदैर्वाय्वग्नि-गुणाधिकत्वेन ॥

कटु रस के कार्य—कटु रस अलसक, शोथ, उदर्द, स्थूलता, अभिष्यन्द, क्रिमिरोग, मुखरोग, विष, कुष्ठ और कण्डु को नष्ट करनेवाला, व्रणों को रोपण न करनेवाला, स्नेह और क्लेद को सुखानेवाला, रुचिकारक, पाचन, दीपन, लेखन और शोधन है, अन्न को पचाकर शोषण करनेवाला, इन्द्रियों मे चैतन्य लानेवाला, जमे हुए रक्त को भेदन कर विलयन करनेवाला, सन्धियों तथा मलादि के बन्धनों को ढीला करनेवाला, स्रोतों की सकुचितता को दूर कर उन्हें चौडे करनेवाला, कफ को घटाने या क्षीण करनेवाला, लघु-रूक्ष-तीक्ष्ण और उष्ण है। इन गुणों से युक्त होते हुए भी कटु रस अतिसेवन करने से तृष्णा, मदात्यय, मूर्च्छा, दाह, मोह शरीर का सकोच, बल, वीर्य तथा कण्ठ का शोषण, कम्प-भ्रम-ताप (ज्वर)-ग्लानि और अतिकृशता को करता है तथा अपने वायु और अग्नि गुण की अधिकता से हाथ, पैर, पसुलिया, पीठ आदि भागों मे वायु को अतितीव्र कुपित कर सिकुडने, चुभने तथा तोडने की सी पीडा को करता है।

कषायो बलास सपित्त सरक्त-
निहन्त्याशु बध्नाति वर्चोऽतिरूक्ष ।
गुरुस्त्वक्सवर्णत्वकृत्क्लेदशोषी
हिम प्रीणनो रोपणो लेखनश्च ॥
अत्यभ्यासात्सोऽपि शुक्रोपरोध
तृष्णाध्मानस्तम्भविष्टम्भकार्श्यम् ।
स्रोतोबन्ध वातविण्मूत्रसङ्ग
पक्षाघाताक्षेपकादींश्च कुर्यात् ॥

कषाय रस के कार्य—कषाय रस कफ, पित्त और रक्त को नष्ट करता है, शीघ्र ही मल को बाधता है और यह अतिरूक्ष, गुरु, त्वचा के वर्ण को ठीक करनेवाला, क्लेद का शोषण करनेवाला, शीतवीर्य, तृप्तिदायक, व्रण का रोपण करनेवाला तथा लेखन है। इन गुणों से युक्त होते हुए भी अतिसेवन करने पर यह वीर्य का अवरोध, तृष्णा, आध्मान (पेट का फूलना), ऊरुस्तम्भ, विष्टम्भ, कृशता, स्रोतों का अवरोध (रुकना), अपानवायु-मल और मूत्र का अवरोध, पक्षाघात, आक्षेपक आदि रोगो को करनेवाला होता है।

इस प्रकार मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय इन ६ रसों के कार्यो का वर्णन किया गया। अब आचार्य सर्व साधारण के उपयोगार्थ इन मधुरादि रसों में किन किन द्रव्यों का समावेश होता है उन सबका स्कन्धरूपेण (सग्रह रूप से) वर्णन करते हैं—

अथ मधुरद्रव्यस्कन्धो घृतमधुतैलक्षीरमेदोमज्जेक्षुविकृतिद्राक्षाऽक्षोडखर्जूरमोचचोचपनससिञ्चितिकापियालराजादनखर्जूरीतालमस्तककाश्मर्यमधूकपरूषकतामलकीवीराविदारीशतावरीत्वक्क्षीरीक्षीरर्षभीक्षीरशुक्लामधूलिकाऽऽत्मगुप्ताबलातिबलाविश्वेदेवासहदेवीशालिपर्णीपृश्निपर्णीमहासहाक्षुद्रसहर्द्धिवृद्धिश्रावणीमहाश्रावणीछत्रातिछत्रर्ष्यप्रोक्तर्ष्यगन्धाऽश्वगन्धाश्वदंष्ट्रामृणालिकापुष्करबीजशृङ्गाटककसेरुकतकनकबिम्बीप्रपौण्डरीकप्रभृतीनि जीवनीयो गणस्तृणपञ्चमूल च ।

मधुरद्रव्यस्कन्ध—घृत, मधु (शहद), तेल, दूध, मेद, मज्जा, इक्षुविकृति अर्थात् गुड, शर्करादि, दाख, अखरोट, खजूर, केला, चोच (तज या नारियल), पनस, सिञ्चितिका, (सेव) चिरौञ्जी, खिरनी, खारिक (छुहारा), ताड, मस्तक, गम्भारी (खम्भारीफल), महुआ, फालसा, तामलकी (भूम्या मलकी), मुसली, विदारीकन्द, शतावर, वसलोचन, काकोली, क्षीरकाकोली, मूर्वा, केवाचबीज, खिरेटी, कघी, विश्वेदेवा (गङ्गेरन), सहदेवी, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, ऋद्धि, वृद्धि, श्रावणी और महाश्रावणी (गोरखमुण्डी के भेद), छत्रा और अतिछत्रा (काश्मीर देश के सरोवर का एक तृण जो कि सुगन्धित होता है), पीतबला, बिधायरा, असगन्ध, गोखरू, कमलनाल, कमलगट्टे, सिवाडा, कसेरू, निर्मली, काचनार, सुवर्ण, बिम्बीफल (गोल्हा), स्थलकमल, जीवनीय गण के दस द्रव्य तथा तृणपञ्चमूल यह मधुरस्कन्ध के सब द्रव्य है।

अम्लद्रव्यस्कन्धो दाडिमामलकाम्राम्रातककोशाम्रमातुलुङ्गवृक्षाम्लाम्लीकाम्लवेतसकुवललिकुचपारावतभव्यकरमर्दधवधन्वनकोलबदरैरावतकपित्थदन्तशठप्राचीनामलकनारङ्गतिलकण्टकरूप्यदधिमस्तुतक्रधान्याम्लमद्यमुक्तप्रभृतीनि ।

अम्लद्रव्यस्कन्ध— दाडिम, आमला, आम, आम्रातक, कोशाम्र, (लघु आम्रविशेष या आम की गुठली), बिजौरा, वृक्षाम्ल (तिन्तिडीक-दक्षिणी कोकम), इमली, अमलबेत, कुवल (एक प्रकार का बेर), बडहर, पारावत (फालसा का फल), भव्य (कर्मरङ्ग-कमरख), करौन्दा, धव, बेर, पेमजी बेर, ऐरावत (लकुच या बडहर विशेष), कैथ, खट्टा चूका, पुराना आमला, नारङ्गी, तिलकण्टक, रजत (रूपा), दही, मस्तु, तक्र, काजी, मद्य और शुक्त आदि ये अम्लस्कन्ध के द्रव्य है।

लवणद्रव्यस्कन्ध सैन्धवादीनि क्षारान्तानि त्रपुसीसप्रभृतीनि ।

लवणद्रव्यस्कन्ध—सेंधा नमक, सोंचर नमक, सांभर नमक, बिड नमक, खारी नमक, जवाखार, सज्जीखार, त्रपु

१ तुगाक्षीरी, २ जीवकर्षभक, ३ विश्वदेवा सहादेवा।
४ शालपर्णी मुद्गपर्णी इति पाठान्तराणि।

(कथीर), सीस (सीसा) आदि ये लवणद्रव्यस्कन्ध के पदार्थ हैं।

तिक्तद्रव्यस्कन्धोऽगुरुतगरोशीरबालकचन्दननलदक्तमालनक्तमालापामार्गहरिद्राद्वयमुस्तमूर्वामदनफलाजश्रृङ्गीत्रायमाणाकटुकाकिराततिक्तककरवीरविशालासुषव्यतिविषायवासकज्योतिष्मतीपाठाविकङ्कताकाकमाचीवचावरणवत्सकवैजयन्तीवेतससप्तपर्णसोमवल्कसुमन कास्यलोहप्रभृतीनि पटोलादिश्च शाकवर्ग ।

तिक्तद्रव्यस्कन्ध—अगर, तगर, खस, सुगन्धिबाला, चन्दन जटामासी, अमलतास, करञ्ज, अपामार्ग (ओंगा), हल्दी, दारुहल्दी, नागरमोथा, मूर्वा, मैनफल, मेंढासिंगी, त्रायमाण, कुटकी, चिरायता, कनेर, इन्द्रायण, करेला, अतीस, धमासा, मालकागनी, पाढ, विकङ्कत (स्रुवावृक्ष-कटाई), आक, मकोय, बच, बरना, कुडा, अरनी, बेत, सतौना, कायफल, चमेली, कासा (कास्य धातु), लोह आदि एव पटोलादि शाकवर्ग के तिक्त द्रव्य (परवल, सातला, नीम, शार्ङ्गेष्टा, बावची, गिलोय कटेरी, अडूसा, तिलपर्णी, ककोडा, करील (कैर) आदि) ये सब तिक्तस्कन्ध के द्रव्य हैं।

कटुकद्रव्यस्कन्धो मरिचहिङ्गुतेजोवतीहस्तिपिप्पलीविडङ्गभल्लातकास्थिमूलकसर्षपलशुनपलाण्डुकरञ्जमन शिलालदेवदारुकुष्ठैलासुरसचोरकहरेणुकामूत्रपित्तप्रभृतीनि कुठेरादिश्च हरितवर्ग पञ्चकोल च।

कटुकद्रव्यस्कन्ध—काली मिरच, हींग, तेजबल, (अथवा तज), गजपीपल, बायविडङ्ग, भिलावा की गुठली, मूली का शाक, सरसों, लहसुन, पलाण्डु (पियाज), करञ्ज, मैनसिल, हरताल, देवदार, कूट, इलायचो, तुलसी, चोरक, सम्हालू, मूत्र (चरकोक्त गाय, बकरी, गाडर आदि के अष्टमूत्र), प्राणियों के पित्ते आदि और कुठेरादि हरितक वर्ग (कुठेर, सहॅजना, बनतुलसी, तुलसी, राई, भूस्तृण, लाल मिरच, पुदीना, जम्भीरी तीक्ष्ण नीम्बू), पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक तथा सोंठ ये सब कटुकस्कन्ध के पदार्थ हैं।

कषायद्रव्यस्कन्धो हरीतकीप्रियग्वनन्ताक्षौद्रलोध्रकट्वङ्गकट्फलधवधन्वनधात्रीफलधातकीपुष्पपद्मापद्मपुष्पनागकेसरकुमुदोत्पलतुङ्गतिन्दुककदम्बोदुम्बरजम्ब्वाम्रप्लक्षवटविभीतकविकङ्कतजम्ब्वाम्रास्थ्यामकपित्थाश्वत्थमोचरससमङ्गासोमवल्कसप्तपर्णस्यन्दनासनसल्लकीसालतालप्रियालैलवालुकपरिपेलवजिङ्गिणीबदरीखदिरकदरारिमेदकाशकसेरुकवशाश्मन्तकाशोकशिरीषशिशपापलाशशमीशणशङ्खनाभिमेषश्रृङ्गीतरुणखर्जूरस्फूर्जकसर्जभूर्जार्जुनाजकर्णवरणप्रवालमुक्ताञ्जनगैरिकबिसमृणालप्रभृतीनि।

कषायद्रव्यस्कन्ध—हरड, प्रियगु, अनन्तमूल, मधु (शहद), लोद, अरलू, कायफल, धववृक्ष, आमला, धावडीके पुष्प, पद्मा (स्थल कमल या भारङ्गी), पद्माख, कमलपुष्प, नागकेशर, कमोदिनी, वृद्धदारुक (विधायरा), तैन्दू, कदम्ब, गूलर, जामुन, आम, पाकर, बड, बहेडा, विकङ्कत, जामुन की गुठली, आमकी गुठली, कच्चा कैथ, पीपल वृक्ष, मोचरस, मजीठ, कायफल, सतौना, तिनिस, बिजयसार, सालई, सालवृक्ष, तालवृक्ष, चिरौञ्जीदाने का वृक्ष, सुगन्धबाला, केवटी मोथा, आल (मजीठ विशेष), बेर, खैर, गन्धा खैर, बिट्खदिर, काश, (तृण विशेष), कसेरू, बास, अश्मन्तक, अशोक, सिरस, सीसम, पलास, शमीवृक्ष, सण, शख की नाभि, मेढासिगी, तरुण खर्जूर (खारिक), स्फूर्जक (तैन्दू विशेष), राल, भोजपत्र, अर्जुन वृक्ष, अजकर्ण (पीतसाल), बरना (वरुण वृक्ष), प्रवाल (मूगा), मोती, सुर्मा, गेरू, कमलनाल, कमलतन्तु आदि ये सब कषायस्कन्ध की औषधिया है।

इस प्रकार मधुर आदि रसों के लक्षण, कार्य, वातत्व-पित्तत्व-कफत्वादि तथा स्कन्धों का वर्णन किया गया। अब इनमे कभी व्यभिचरण भी होता है, इसका कथन करते है।

तत्र प्रायो मधुर श्लेष्मलत्वमन्यत्र पुराणशालियवगोधूममुद्गमधुशर्कराजाङ्गलमासात्[1]। प्रायोऽम्ल पित्तलमन्यत्र दाडिमामलकात्। प्रायो लवणमचक्षुष्यमन्यत्र सैन्धवात्। प्रायस्तिक्तकटुक वातलमवृष्य चान्यत्रामृतापटोलीनागरपिप्पलीलशुनात्। प्राय. कषाय शीत स्तम्भन चान्यत्रहरीतक्या ।

रसकर्म में व्यभिचरण—यहा मधुर रस को प्राय कफकारी कहा गया है। भावार्थ यह है कि मधुर रस के सब द्रव्य प्राय कफकारक है परन्तु मधुर रस का यह कफकारित्व पुराने चावल, यव, गेहू, मूग, शहद, शर्करा और जाङ्गल मास को छोड़कर है अर्थात् मधुर रसवाले होकर भी ये चावल आदि कफकारक नहीं है। इसी प्रकार अम्ल रस का प्राय पित्तकारित्व अनार आमला को छोड करके है। साराश, अम्ल होकर भी दाडिम और आमला पित्त को शान्त करते हैं। ऐसे ही लवण रस प्राय अचक्षुष्य (नेत्रों को हानि पहुचाने वाला) है किन्तु लवण होकर भी सैन्धव नमक मे यह बात नही है। तिक्त और कटु रस प्राय वातकारक एव वीर्यनाशक है परन्तु गिलोय, परवल, सोंठ, पीपल और लहसुन तिक्त कटु होते हुए भी इस कार्य को नहीं करते। इसी प्रकार कषाय रस की प्राय शीतता और स्तम्भकता हरड में नही है। ध्यान रहे कि इन सब वाक्यों मे आचार्य ने प्राय शब्द का प्रयोग इसलिए किया है कि मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय स्कन्धों में वर्णित द्रव्य प्राय कफ, पित्त और वातादि-कारक होते है परन्तु उक्त स्कन्धों के कुछ द्रव्य ऐसे भी हैं जो कफ, पित्त और वातादि के करनेवाले नहीं होते जैसे कि ऊपर बताया गया है। साराश यह है कि ऊपर जिन व्यभिचारी द्रव्यों का निर्देश किया गया है, उनके अतिरिक्त भी मधुरादि स्कन्धगत कुछ द्रव्य ऐसे है जो उस रस के निर्दिष्ट कार्य को नही करनेवाले है। यही प्रत्येक वाक्य के आदि मे प्राय शब्द प्रयुक्त करने का भावार्थ है।

इति यथास्थूल नित्योपयोगिना
प्रधानतमाना (द्रव्याणा) चोपसग्रह. ।
घृतामलकसिन्धूत्थपटोलीनागराभया ।

१ पटोल, २ "मधुरदाडिमादि मधुरमपि न श्लेष्मकरमिति प्रदर्शनार्थं प्रायोग्रहणम्। एव सर्वेषु प्रायोग्रहणेषूह्यम्।" इती टु। ३ मगधा,

श्रेष्ठा यथास्व स्कन्धेषु रसदेशास्तु वक्ष्यते ॥

इस प्रकार स्थूलरूपसे नित्य (प्रतिदिन) उपयोगमें आनेवाले प्रधानतम द्रव्यों का सग्रहरूपेण वर्णन किया गया।

प्रत्येक रसके सर्वश्रेष्ठ द्रव्य—मधुरादि प्रत्येक रसके कथित द्रव्योंमें घृतादिको सर्वश्रेष्ठ जानना चाहिए जैसे कि मधुर द्रव्योंमे घृत, अम्ल पदार्थोंमें आमला, लवणोंमे सैन्धव, तिक्त रसस्कन्धमें परवल, कटुरसस्कन्धमे सौठ (पाठान्तर से पीपल), तथा कषाय रसवाले सब द्रव्योंमे हरड श्रेष्ठ है। अब इसके अनन्तर रसदेश (रसोंके उत्पत्तिस्थानों)का वर्णनक रते है।

अथ य शिशिरपवनधरणीधरविविधवन गहननदीतटा[१]कपल्वलोदपानकमलकुमुदकुवलयावकीर्णो रम्य[२] स्थिरस्निग्धभूमिर्भूरिहरिततृणोऽतिदूरविस्तृतप्रतानप्रवालोपसछन्नपादप स[३]स्यसरीसृपखगबहुल श्लेष्मपित्तप्रायो गुर्वौषधिसलिल श्लीपदगलरोगापचीज्वराद्यामयोपद्रुतजनपद सोऽनूपो मधुररसयोनि ।

यस्तु विषमविपुलसिकतास्थलबहुलोऽतिदूरावगाढविरससलिल कठिन क्लेशसहारोगशरीरदीर्घायु प्रायोजनपदोऽनूपविपरीतश्च स जाङ्गलः कटुकरसयोनि ।

उभयलक्षणमिश्रीभावात्साधारण[४] । अत एव चानूपसाधारणो जाङ्गलसाधारणश्चेति विक[५]ल्प्य । तयोराद्यो लवणाम्लयोर्योनिरितरश्चेतरयो । सयोगास्त्वेषा सप्तपञ्चाशद्भवन्तीति ।

मधुर रसोत्पत्तिका देश—जो शीतल पवनवाला हो अर्थात् जिसमें ठण्डी हवा चलती हो, जहा अनेक पर्वत हों, जहा अनेक घने जङ्गल (वन) हों, जो अनेक नदियों, तालाबों, तलैयाओं, कूपोंसे युक्त हो और जो कमल (सूर्यविकासी), कुमुद (चन्द्रविकासी कमल) और कुवलय नामक कमलोंसे व्याप्त हो तथा जो सदैव अतिरम्य एव स्निग्ध भूमिवाला हो, जो अधिक हरी घासवाला हो, जिसमे दूर दूर तक विस्तृत लताओं, नवपल्लवों (कोमल नवीन पत्तों) से छाए हुए वृक्ष हों, जो बहुधान्यादि उत्पन्न करनेवाला हो तथा जहा सरीसृप (सर्पादि) जीवजन्तु और बहुत पक्षी हों, जिसमे प्राय कफ और पित्तका प्रकोप होता हो, जहा के औषध तथा जल गुरु (भारी) हों, जिसमें रहनेवाली जनता प्राय श्लीपद, गलरोग, अपची, गण्डमाला, ज्वरादि रोगोंसे पीडित हो वह अनूप देश मधुररसयोनि (मधुर रसकी उत्पत्ति का स्थान)है।

कटुक रसकी उत्पत्तिका स्थान—जो विषम स्थल (सर्वत्र एक सा न हो), जिसमे स्थान स्थानपर सिकता (रेती–बालुका) का बाहुल्य हो, जिसमें दूर दूर (बहुत गहराईमे) जल हो और वह भी विरस अर्थात् क्षार जल आदि, जहा के निवासी प्राय क्लेशके सहनेवाले, नीरोग शरीरवाले तथा दीर्घायुवाले हों, जो प्रथम कहे हुए अनूप देशके लक्षणोंसे विपरीत लक्षणोंवाला हो वह जाङ्गल देश कटुक रसकी उत्पत्ति का स्थान है।

१ तडाग, २ रम्योऽति, ३ मत्स्य, ४ उभयादिसाधारणशब्दान्तोऽय पाठ प्रचलितपुस्तकयो (मूलमुद्रितग्रन्थे इन्दुकृतटीकाग्रन्थे च) नास्ति किन्त्वायुर्वेदरसायने हेमाद्रिणा ष्टाङ्गसग्रहनाम्ना पाठोऽय समुद्धृत । स एवास्माभिरत्रोपयोगित्वात्तन्यस्त । ५ विकल्प । इति पाठान्तराणि ।

लवणाम्ल और तिक्तकषाय रसोंकी उत्पत्तिके स्थान—उभय लक्षण मिश्रीभावसे अर्थात् अनूप-जागललक्षणोंके मिश्रीभावसे साधारण देश कहलाता है। इसलिये साधारण देशकी कल्पना दो प्रकार से करनी चाहिए जैसे कि एक अनूप साधारण तो दूसरा जाङ्गल साधारण। इनमे से पहला अनूप साधारण देश लवण रस और अम्ल रसकी उत्पत्ति का स्थान है और दूसरा जाङ्गल साधारण देश तिक्त और कषाय रसकी उत्पत्ति का स्थान है।

उक्त मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय इन ६ रसोंके सयोग कुल मिलाकर ५७ होते है। वे इस प्रकारसे है।

भवन्ति चात्र—

स्वादुर्द्विकेषु पञ्चाम्लश्चतुरो लवणस्त्रयम् ।
द्वौ तिक्त कटुकश्चैक याति पञ्चदशेति ते ॥
त्रिकेषु मधुर साम्लश्चतुरो लवणान्वित. ।
त्रीन्युक्तस्तिक्तकेन द्वौ कटुनैक निषेवते ॥
स्वादुर्दशैवमम्ल षट् त्र्यादिसख्या तु पूर्ववत् ।
लवणस्त्रीन् भजत्येक तिक्त एषोऽत्र विशति ॥
स्वादु साम्लश्चतुष्केषु षट् त्रय लवणानुग ।
एक तिक्तयुतो याति दशैव मधुरो रस ॥
चतुरोऽम्ल पटुश्चैक भेदा पञ्चदशेति च ।
एकैकस्य परित्यागे विद्यात्पञ्चरसाश्च षट् ॥
एक च षड्रस षट् च पृथगेव त्रिषष्ठिधा ॥

ते रसानुरसतो रसभेदास्तारतम्यपरिकल्पनया च ।
सभवन्ति गणना समतीता दोषभेषजवशादुपयोज्या ॥

रसोंके सयोग अथवा भेद—मधुर, अम्ल, लवणादि षड्रसोंके सयोग या भेद कितने होते है? अब इस विषयको कहते है। उदाहरणार्थ यदि हम एक एक रसका अलग स्वाद लेंगे तो हमें ६ प्रकार के स्वाद प्रतीत होंगे जैसे कि मीठा, खट्टा, नमकीन, चरपरा, कडुआ और कसैला। यदि हम इन्ही रसोंमें से दो दो रसोंको मिलाकर स्वाद लेगे तो यह दो दो रसोंका समिश्रित स्वाद कुछ और ही प्रकार का होगा। इसी प्रकार इन ६ रसोंमे से तीन तीन, चार चार, पाच पाच को मिलाकर स्वाद लेगे तो वे स्वाद भी भिन्न भिन्न प्रकारके होंगे। छहों रसोंको एकत्रित कर देखेगे तो वह एक स्वाद और ही प्रकारका होगा। इन रसोंके सयोगज भेदोंका पता हमे गणित द्वारा स्पष्ट मालूम हो सकता है और हो सकता है यह भी निश्चय कि मधुरादि भिन्न भिन्न रसोंका आस्वाद मिल कर ६ प्रकारका होगा। साराश यह है कि सयोगरीत्या रसोंके कुल भेद ५७ होंगे। इनमे एक एक रसके ६ स्वाद मिला देनेसे कुल छहों रसोंके भेद ६३ होंगे। यही आचार्य ने ऊपर कहा है कि "एव त्रिषष्ठिधा" इस प्रकार ६३ भेद होते हैं। इसीका स्पष्टी करण करते हुए आचार्य कहते है कि—

मधुर रसमिश्रित रसोंके द्विकसयोग ५ होते हैं यथा १ मधुर-अम्ल २ मधुर-लवण ३ मधुर-तिक्त ४ मधुर-कटु और ५ मधुर-कषाय। इसी प्रकार अन्य रसोंसे मिलाकर अम्ल रसके ४ द्विक होंगे यथा—१ अम्ल-लवण २ अम्ल-तिक्त ३ अम्ल-कटुक और ४ अम्ल-कषाय। ऐसे ही लवण रसके अन्य रसोंके साथ मिलनेसे ३ द्विक होते हैं यथा १ लवण-तिक्त

२ लवण-कटुक और ३ लवण-कषाय । इसी तरह तिक्त रस कटु और कषाय रससे मिलकर दो द्विक उत्पन्न करेगा जैसे कि १ तिक्त-कटु और २ तिक्त-कषाय । कटु रस कषाय से मिलने पर एक ही द्विक होगा यथा १ कटु-कषाय । इस प्रकार से छहों रसोंके द्विक सयोगोंकी सख्या १५ होगी।

अब रसोंके त्रिकसयोगोंको कहते हैं। अम्ल सहित मधुर रसके अन्य रसोंमें मिलनेसे कुल ४ त्रिक होते है जैसे कि १ मधुर-अम्ल-लवण, २ मधुर-अम्ल-तिक्त, ३ मधुर-अम्ल—कटुक और ४ मधुर-अम्ल-कषाय। यही मधुर रस अम्लका त्यागकर, उसकी जगह लवणको लेकर तीन त्रिक सयोग पैदा करता है यथा—१ मधुर-लवण-तिक्त, २ मधुर-लवण-कटुक और ३ मधुर-लवण-कषाय। इसी प्रकार लवण रस का त्याग कर उसके स्थानमें तिक्त को लेकर मधुर रस दो त्रिकसयोग बनाता है जैसे कि १ मधुर-तिक्त-कटु और मधुर-तिक्त-कषाय। यही मधुर रस तिक्त को छोड उसकी जगह कटुक को लेकर एकत्रिकसयोग बनाता है जैसे कि १ मधुर-कटुक-कषाय। इस प्रकार मधुर रस मिश्रित त्रिकसयोग १० होते है। अम्ल रसमिश्रित त्रिकसयोग ६ होते हैं यथा-१ अम्ल-लवण-तिक्त, २ अम्ल-लवण-कटु, ३ अम्ल-लवण-कषाय, ४ अम्ल-तिक्त—कटु, ५ अम्ल-तिक्त-कषाय और ६ अम्ल-कटु-कषाय। तिक्त सह लवण रस त्रिकसयोग २ बनाता है। यथा १ लवण—तिक्त-कटु और २ लवण-तिक्त कषाय। तिक्त को छोडकर उसके स्थानमें कटुको लेकर एक त्रिकसयोग लवण रस बनाता है यथा-१ लवण-कटु-कषाय। ऐसे ही तिक्त रसद्वारा १ त्रिक सयोग बनता है यथा १ तिक्त-कटु-कषाय। इस प्रकार रसोंके त्रिकसयोग कुल २० होते हैं।

अब रसोंके चतुष्कसयोगों को कहते है। मधुर रस अम्ल को साथ में लेकर शेष रसों से ६ चतुष्कसयोगों को बनाता है जैसे कि १ मधुर-अम्ल-लवण-तिक्त, २ मधुर-अम्ल-लवण-कटु, ३ मधुर-अम्ल-लवण-कषाय, ४ मधुर अम्ल तिक्त कटु, ५ मधुर-अम्ल-तिक्त-कषाय और ६ मधुर-अम्ल-कटु-कषाय। मधुर रस अम्ल को छोड़ उसकी जगह लवण को लेकर तीन चतुष्क सयोग बनाता है यथा १ मधुर-लवण-तिक्त-कटु, २ मधुर—लवण-तिक्त कषाय तथा ३ मधुर-लवण-कटु-कषाय। लवण का त्यागकर उसके स्थानमें तिक्त को लेकर मधुर रस एक चतुष्कसयोग बनाता है यथा १ मधुर-तिक्त-कटु-कषाय। इसी प्रकार अम्ल रस लवण को साथमे लेकर शेष रसों से तीन चतुष्कसयोग बनाता है यथा १ अम्ल-लवण-तिक्त-कटु, २ अम्ल-लवण-तिक्त-कषाय और ३ अम्ल-लवण कटु-कषाय। अम्ल रस लवणका त्याग कर उसकी जगह तिक्त को लेकर एक चतुष्कसयोग बनाता है यथा १ अम्ल-तिक्त-कटु-कषाय। लवण रस तिक्त को साथ में ले ऐसे ही एक चतुष्कसयोग बनाता है यथा १ लवण-तिक्त कटु-कषाय। इस प्रकार रसों के चतुष्क सयोग कुल १५ होते है।

अब रसपञ्चक सयोगों को कहते है। मधुर रस अम्ल को साथमें लेकर और लवण को साथ में ले १ रसपञ्चकसयोग तैयार करता है जैसे कि १ मधुर-अम्ल लवण-तिक्त-कटु, २ मधुर-अम्ल लवण-तिक्त-कषाय, ३ मधुर-अम्ल लवण-कटु-कषाय और ४ मधुर-अम्ल-तिक्त-कटु-कषाय। लवण को ले कर एक यथा—१ मधुर-लवण-तिक्त-कटु-कषाय। अम्ल रस भी लवण को लेकर एक रसपञ्चक बनाता है जैसे कि १ अम्ल-लवण-तिक्त-कटु-कषाय। इस प्रकार रसपञ्चकसयोय कुल ६ होते हैं।

रसषट्क का एक सयोग होता है अर्थात् मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु और कषाय ये छहों रस एक साथ मिलकर १ सयोग तयार होता है।

ऊपर कहा गया है कि "सयोगास्त्वेषा सप्तपञ्चाशत भवन्ति" सो ठीक है अर्थात् रसद्विक १५, रसत्रिक २०, रसचतुष्क १५, रसपञ्चक ६ और रसषट्क १ इन सबका योग ५७ होता है। यह हुई रससयोगों की बात। इसके अतिरिक्त "रसभेदास्त्रिषष्ठिधा" भी कहा है कि कुल रसों के भेद ६३ होते है सो भी ठीक है इस लिए कि मधुरादि एक एक रस को भेदकल्पना ६ होती है। इन ६ भेदों को ५७ सयोगों मे मिलाने से ६ रसों की भेद सख्या का योग ६३ होता है।

त्रिषष्ठिरसभेदकोष्ठक—

स०	भेद		एक एक रस भेद ६	स०	भेद		सयोग
१	१	एकरसभेदा	मधुर	३३	१२	त्रिकभेदा	अ ल कटु
२	२		अम्ल	३४	१३		अ ल कषा
३	३		लवण	३५	१४		अ ति कटु
४	४		तिक्त	३६	१५		अ ति कषा.
५	५		कटु	३७	१६		अ क कषा
६	६		कषाय	३८	१७		ल ति कटु
७	१	द्विकभेदा	मधुराम्ल	३९	१८		ल ति कषा.
८	२		मधुरलवण	४०	१९		ल. क कषा
९	३		मधुरतिक्त	४१	२०		ति क कषा
१०	४		मधुरकटु	४२	१	चतुष्कभेदा	म अ. ल ति
११	५		मधुरकषाय	४३	२		म अ ल क
१२	६		अम्ललवण	४४	३		म अ ल कषा
१३	७		अम्लतिक्त	४५	४		म अ ति क
१४	८		अम्लकटु	४६	५		म अ ति कषा
१५	९		अम्लकषाय	४७	६		म अ क कषा
१६	१०		लवणतिक्त	४८	७		म. ल ति क
१७	११		लवणकटु	४९	८		म ल ति कषा
१८	१२		लवणकषाय	५०	९		म. ल क कषा
१९	१३		तिक्तकटु	५१	१०		म ति क कषा
२०	१४		तिक्तकषाय	५२	११		अ ल ति क
२१	१५		कटुकषाय	५३	१२		अ ल ति कषा
२२	१	त्रिकभेदा	म अ ल	५४	१३		अ ल क कषा
२३	२		म अ ति	५५	१४		अ ति क कषा
२४	३		म अ कटु	५६	१५		ल ति क कपा
२५	४		म अ कषा	५७	१	पञ्चकभेदा	म अ ल ति क
२६	५		म ल ति	५८	२		म अ ल ति कषा.
२७	६		म ल कटु	५९	३		म. अ ल क कषा
२८	७		म ल कषा	६०	४		म अ ति क कषा
२९	८		म ति कटु	६१	५		म ल ति क कषा
३०	९		म ति कषा	६२	६		अ ल ति क कषा
३१	१०		म क कषा	६३	१	षट्क,	म अ ल ति क कषा
३२	११		अ ल ति	६४	०		सर्वरसाभाव

विशेष विवरण

वैद्यससार प्राय जानता है कि राजस्थानान्तर्गत जयपुर नगर भी काशी आदि की तरह सस्कृत विद्या का एक केन्द्र है। कई शताब्दियों से वहा अनेक विद्याओं के विद्वान् होते आए है। आयुर्वेदज्ञों के विषय मे भी जयपुर की महती किसीसे कम नही है। आयुर्वेदमार्तण्ड, जयपुर-महाराजा-कालिज के आयुर्वेद-विभागाध्यक्ष स्वर्गीय श्रीलक्ष्मीराम स्वामी को भी जयपुर ने ही जन्म दिया था। आप के गुरु प्रात स्मरणीय स्वर्गीय कविवर कृष्णरामजी भट्ट आयुर्वेदादि शास्त्रों के दिग्गज पण्डित थे। आप भारतविख्यात कवि एव आयुर्वेद के धन्वन्तरि, जयपुरनरेश वैकुण्ठवासी श्री माधवसिहजी के सभा-पण्डित, प्रतिष्ठाप्राप्त, साहित्यसमुद्र के पान करने मे अगस्ति के समान, कविता में महाकवि कालीदास के समान[1] थे। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। उन में एक 'सिद्धभेषजमणिमाला' भी बड़ा चमत्कारिक, काव्यरसपरिप्लुत, वैद्यकविषयका ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ मे आपने छन्दोगणित को आदर्श मानकर ऐसा गणित दिया है कि उससे वैद्यससार शीघ्र ही जान सकता है कि इतनी सख्यावाले दोष, दूष्य तथा रसों के कुल कितने भेद हो सकते है। इतना ही नहीं, छन्दोगणित के प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट की तरह गणित करके हम जान सकते हैं कि इतनी सख्यावाले दोषों, दूष्यों, या रसों के इतने भेद होते है। असुक सख्या के भेद का रूप इस प्रकार होगा और इस प्रकार के रूप की भेदसख्या इतनी होगी आदि आदि। अत्युपयुक्त होने से हम यहा सर्वसाधारण की जानकारी के लिये उसी गणितविधि को उदाहरणसहित लिखते है।

रसभेदसख्या—इतने रसों के समस्त भेद कितने होंगे? इसका उत्तर चाहें तो सामने दिखाए हुए कोष्ठक की तरह एक रसभेदसख्या कोष्ठक बनावे। प्रथम पक्ति मे २ से प्रारम्भ कर यथोत्तर द्विगुणित अङ्क[2] लिखे। यह चाहे जितनी सख्या तक लिख सकते हैं किन्तु रससख्या ६ होने से हमने ६ सख्या तक ही यथोत्तर द्विगुणित अङ्क लिखे हैं। प्रथम पक्ति के नीचे रसों के परिचायक क्रम से १, २, ३ आदि अङ्क लिख दें। ऊपर लिखी हुई सख्या में से अन्तिम रसाभाव का एक भेद कम कर देने पर आप जान सकेंगे कि इतनी रससख्या के कुल भेद इतने होंगे। जैसे कि १, २, ३ मधुराम्ललवण आदि रसों की भेदसख्या १, ३, ७, १४, ३१, ६३ सिद्ध हुई।

रसभेदसख्या

२	४	८	१६	३२	६४	भेद
१	२	३	४	५	६	रस

रसभेदप्रस्तार—यदि आप मधुरादि छहों रसों अथवा जितने दोषों या रसों की भेदसख्या के अनुसार भिन्न भिन्न सयोगों के रूप जानना चाहें तो प्रस्तार बनाकर जान सकते है। साराश, इतने रसों के कुल भेद होते है किन्तु उन सयोगों के रूप किस किस रस के सयोग एव वियोग से कैसे रहेंगे यह आप उन रसों के परिचायक अङ्कों से जान सकेंगे। प्रस्तार की गणित-विधि इस प्रकार से है—आगे लिखे हुए प्रस्तार की तरह प्रस्तार का ६ कोष्ठक बनावें। प्रथम भेदों की अनुक्रमसख्या लिखकर उसके सामने रसों के (मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु और कषाय के) परिचायक १, २, ३, ४, ५, ६ अङ्क लिखे। यह सम्पूर्ण छहों रसों का समिश्रण (सयोग) रूप पहला भेद होगा। यहा से प्रस्तार का आरम्भ करें, वह इस प्रकार करे कि पहले रसके नीचे (द्वितीय कोष्ठ में) शून्य लिखे और शेष कोष्ठों की पूर्ति ऊपर अङ्क हैं उन्हीं को लिख कर करे। यह दक्षिण बाजू की बात हुई। वाम बाजू की ओर किसी रस के नीचे शून्य लिखकर पूर्ति ऊपर के रसपरिचायक अङ्कों से ही करे। भावार्थ यह है कि शून्य लिखने के बाद दाहिनी ओर के कोष्ठों की पूर्ति उन कोष्ठों के ऊपरवाले कोष्ठों में जैसे अङ्क या शून्य हैं उन ही को लिखकर करे परन्तु वामभाग के कोष्ठों की पूर्ति उस उस कोठे के ऊपर के रस-परिचायक अङ्कों से ही करें। इस प्रकार करते करते जिस कोष्ठ में सर्व शून्य आ जावें तब समझ लें कि प्रस्तार पूरा होगया[1]। यह सर्वशून्यता उसी सख्या मे होगी जितने कुल भेद हैं। इस प्रस्तारगणित से प्रथम भेद या सयोग वही रहेगा जिसमें मधुरादि छहों रसोंका सयोग रहेगा। दूसरे सयोगमें मधुर रसकी जगह शून्य आनेसे इसमे मधुर रस नही रहेगा, शेष पाचो रस रहेंगे। तृतीय सयोग भी पाच रसोंका रहेगा किन्तु इसमें अम्ल रस नहीं रहेगा। इसी प्रकार गणितसिद्ध ६३ भेदोंको जानना चाहिए। अन्तिम भेद ६४ सख्या के सामने सर्वशून्य आनेसे (सर्वरसाभाव होने से) यह भेद सिद्ध नही होता फलत ६ रसोंके कुल भेद ६३ ही होंगे।

---

१ श्रीमन्माधवसिंहभूपसमितौ लब्धप्रतिष्ठापद साहित्याम्बुधिकुम्भसम्भवमुनिर्धन्वन्तरिर्वैद्यके। कीर्तिर्यस्य दिगन्तगा च कवने य कालिदासोपम सोऽत्र राजभिषावरो विजयते श्रीकृष्णशर्मा गुरु ॥ इति स्वामी लक्ष्मीराम।

२ "सख्या पूर्वाङ्कमारभ्य द्विघ्ना अङ्का यथोत्तरम्।" इति

१ "प्रथमरसाधो गगन यथोपरि तथैव शेषमवगच्छ। वामे तु रसानेव प्रस्तारोऽभाणि यावद्भाणि॥" इति सिद्धभेषजमणिमाला।

षड्रसप्रस्तारकोष्ठक—

सं.	रससंयोग						सं.	रससंयोग					
१	१	२	३	४	५	६	३३	१	२	३	४	५	०
२	०	२	३	४	५	६	३४	०	२	३	४	५	०
३	१	०	३	४	५	६	३५	१	०	३	४	५	०
४	०	०	३	४	५	६	३६	०	०	३	४	५	०
५	१	२	०	४	५	६	३७	१	२	०	४	५	०
६	०	२	०	४	५	६	३८	०	२	०	४	५	०
७	१	०	०	४	५	६	३९	१	०	०	४	५	०
८	०	०	०	४	५	६	४०	०	०	०	४	५	०
९	१	२	३	०	५	६	४१	१	२	३	०	५	०
१०	०	२	३	०	५	६	४२	०	२	३	०	५	०
११	१	०	३	०	५	६	४३	१	०	३	०	५	०
१२	०	०	३	०	५	६	४४	०	०	३	०	५	०
१३	१	२	०	०	५	६	४५	१	२	०	०	५	०
१४	०	२	०	०	५	६	४६	०	२	०	०	५	०
१५	१	०	०	०	५	६	४७	१	०	०	०	५	०
१६	०	०	०	०	५	६	४८	०	०	०	०	५	०
१७	१	२	३	४	०	६	४९	१	२	३	४	०	०
१८	०	२	३	४	०	६	५०	०	२	३	४	०	०
१९	१	०	३	४	०	६	५१	१	०	३	४	०	०
२०	०	०	३	४	०	६	५२	०	०	३	४	०	०
२१	१	२	०	४	०	६	५३	१	२	०	४	०	०
२२	०	२	०	४	०	६	५४	०	२	०	४	०	०
२३	१	०	०	४	०	६	५५	१	०	०	४	०	०
२४	०	०	०	४	०	६	५६	०	०	०	४	०	०
२५	१	२	३	०	०	६	५७	१	२	३	०	०	०
२६	०	२	३	०	०	६	५८	०	२	३	०	०	०
२७	१	०	३	०	०	६	५९	१	०	३	०	०	०
२८	०	०	३	०	०	६	६०	०	०	३	०	०	०
२९	१	२	०	०	०	६	६१	१	२	०	०	०	०
३०	०	२	०	०	०	६	६२	०	२	०	०	०	०
३१	१	०	०	०	०	६	६३	१	०	०	०	०	०
३२	०	०	०	०	०	६	६४	०	०	०	०	०	०

नष्टविधि—इतनी संख्यावाले दोषों अथवा रसों के कुल भेद कितने होंगे, यह हम रससंख्यागणित से जान चुके और प्रस्तारविधि से यह भी जान चुके कि उन संयोगों के रूप इस प्रकार के होंगे अर्थात् क्रम से सब संयोगों के रूप हम जान लेंगे परन्तु इतने झंझट में न पड़कर यदि जल्दी आवश्यकता हो कि कुल ६३ संयोगों में से अमुक संख्यावाला रूप या भेद कैसा होना चाहिए तो इसको हम नष्टविधि से जान सकेंगे। प्रथम वह संख्या सम हो तो शून्य, विषम हो तो रसकी संख्या लिखें लें और फिर उस (संख्या) को आधा करे। संख्या विषम हो तो उसमें एक मिलाकर आधा करे। आधी संख्या के सम आनेपर पूर्ववत् शून्य और विषम आने पर १, २, ३, ४, ५, ६ रसपरिचायक अङ्क लिखे। इस विधि को अन्त तक करने से हमें अभीष्ट संख्या का असली रूप मिल जायगा। उदाहरणार्थ किसी ने पूछा कि रसों के ६३ भेदों में से १७ वाँ भेद किस प्रकार का होगा या उसमें कौन कौन से रस रहेंगे और कौन से नहीं ? उत्तरार्थ १७ विषम संख्या है अतः प्रथम रसका परिचायक १ अङ्क लिखा, फिर १७ का आधा १ मिलाकर किया (क्योंकि १७ विषम अङ्क है) तो ९ विषम अङ्क प्राप्त हुआ अतः द्वितीय स्थान में भी दूसरे रस का परिचायक अङ्क २ लिखा। अब ९ विषम है इस लिए १ मिलाकर आधा किया ५ प्राप्त हुआ। यह भी विषम है इस लिए तीसरी जगह रसपरिचायक ३ का अङ्क लिखा। अब पांच का आधा भी विषम होने के कारण १ मिलाकर किया तो ३ आया अतः चौथे रस की जगह भी रसपरिचायक ४ का अङ्क लिखा। विषम है इस लिए ३ में १ मिलाकर आधा किया तो २ आया अतः सम होने से पांचवें स्थान में शून्य लिखा। फिर २ का आधा १ विषम आया इस लिए छठी जगह छठे रस का परिचायक ६ का अङ्क लिखा। इस प्रकार नष्टगणित से १७ वाँ भेद | १ | २ | ३ | ४ | ० | ६ | इस रूपवाला हुआ। प्रस्तारचक्र में देखिए आपको १७ वां रससंयोग यही मिलेगा। सारांश, १७ वें संयोग में मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त और कषाय ये पांच रस रहेंगे, केवल पांचवाँ कटु रस नहीं रहेगा।

उद्दिष्टविधि—यदि किसी संयोग या भेद का रूप लिखकर कोई पूछे कि यह संयोग या रूप किस संख्यावाला है? इसे हम उद्दिष्टविधि से जान सकते हैं। वह इस प्रकार है कि प्रथम उस संयोग के रूप को लिखे और क्रम से उन रसों के ऊपर १ से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर द्विगुणित संख्या लिखे। इस प्रकार शून्य पर आई हुई संख्याओं का योगकर १ और मिलाने से जो संख्या प्राप्त होगी, उसी संख्यावाला वह संयोग या भेद है यह सिद्ध होगा। उदाहरणार्थ आगे लिखे हुए | १ | २ | ३ | ४ | ० | ६ | संयोग को ही किसी ने पूछा कि यह संयोग कितनवाँ है ? इसके उत्तरार्थ इस रसों के संयोग को क्रम से लिखकर क्रम से ऊपर १ से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर द्विगुणित अङ्क लिखे तो ऐसा कोष्टक बनेगा।

१	२	४	८	१६	३२
१	२	३	४	०	६

शून्यवाले कोठों के ऊपरवाले अङ्कों का योग कर उसमें १ मिलाने से उस संयोग की संख्या मिलेगी। यहां केवल एक ही कोठे में शून्य है। उस पर १६ का अङ्क है। उसमें एक मिलाने से सिद्ध हुआ कि यह भेद या संयोग १७ वां है। दूसरे उदाहरणार्थ | ० | २ | ० | ४ | ० | ६ | इस रूप की संख्या जानना है तो इन रसों को क्रम से लिखकर उनपर क्रम से १ से प्रारम्भ कर द्विगुणित अङ्क उत्तरोत्तर लिखे तो सामने का कोष्टक बना। इसमें तीन रसों की जगह शून्य हैं और उन

१	२	४	८	१६	३२
०	२	०	४	०	६

पर के अङ्क १, ४, १६ को जोड़ा तो २१ हुए। इसमें १ और

१. 'नष्टप्रश्ने तदर्धेऽर्धे समे खं विषमे रसः' इति।

१. 'आद्याद् द्विघ्नाङ्कितोर्ध्वदिष्टं सैकं स्यात् खाङ्कमिश्रणम्, इति सिद्धभेषजमणिमाला।

मिलाने से सिद्ध हुआ कि यह २२ वाँ भेद या सयोग है। प्रस्तार में देखिए आपको बाईसवें सयोग का रूप यही लिखा हुआ मिलेगा।

इसका और भी गणित मेरु, मर्कटी, पताका का है परन्तु ग्रन्थ-विस्तर-भय से हम यहा उसको छोड़ देते हैं। पाठक चाहें तो वे 'सिद्धभेषजमणिमाला' मे देख सकते हैं।

रसों का आनन्त्य—इस अध्याय का उपसहार करते हुए आचार्य कहते हैं कि यद्यपि ६ रसों के भेद ६३ होते हैं परन्तु ये ही रस, अनुरस तथा तारतम्य अर्थात् तर-तमकल्पना से अनेक हो सकते है। उन सयोगों एव भेदों की गणना ही नहीं हो सकती। साराश, जिसको विशिष्ट रस माना है और उसी को अनुरस मान के, या इसी प्रकार मधुरतर, मधुरतम, अम्लतर, अम्लतम आदि कल्पना करके रसों के भेद करने लगें तो इनकी गणना ही नहीं हो सकती। इस प्रकार रसों के भेद अनन्त हो सकते है अत वैद्य को चाहिए कि वह इन रसों की योजना दोष-दूष्यादि का पूर्ण विचार करके करे।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दी व्याख्याया रसभेदीयो नामाष्टादशोऽध्याय ॥ १८ ॥

अथैकोनविंशोऽध्यायः ।

अथातो दोषादिविज्ञानीयमध्याय व्याख्यास्याम[१]। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय ।

जिसके रस, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव आश्रित हैं, वह 'द्रव्य' कहलाता है। और जिस द्रव्य की योजना दोषादि की क्षय-वृद्धि के अनुसार शरीरमें की जाती है। वे दोषादि अर्थात् दोष, धातु और मल प्राकृत तथा विकृत रूप से जब तक नही जाने जाते तब तक वैद्य अपनी औषध-योजना का निश्चय ठीक नहीं कर सकता अत प्रत्येक वैद्य के लिए दोषादिक के प्राकृत-विकृत स्वरूप का जानना नितान्त आवश्यक एव अनिवार्य है। इसी लिए आचार्य कहते हैं कि-अब हम जिससे दोषादि का भली भाति ज्ञान होता है उस 'दोषादि' विज्ञानीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा कि आत्रेयादि पूर्व महर्षियों ने किया है।

दोषधातुमलमूलो हि देह[१]। तमुच्छ्वासनिश्वासोत्साहप्रस्पन्देन्द्रियपाटववेगप्रवर्तनादिभिर्वायुरनुगृह्णाति। पक्त्यूष्माभिलाषक्षुत्पिपासाप्रभाप्रसाददर्शनमेधाशौर्यमार्दवादिभि पित्तम्। स्थैर्यस्नेहसन्धिबन्धवृषताक्षमाधीबलालौल्यादिभि श्लेष्मा। तुष्टिप्रीणनरक्तपुष्टिभिस्तु रस। जीवनवर्णप्रसादनमासपोषणैरसृक्। देहलेपमलमेद पुष्टिभिर्मांसम्। नेत्रगात्रस्निग्धतास्नेहदार्ढ्यास्थिपुष्टिभिर्मेद। देहोर्ध्वताधारणमज्जपोषणाभ्यामस्थि। स्नेहबलास्थिपूरणशुक्रपुष्टिभिर्मज्जा। हर्षबलगर्भोत्पादनै शुक्रम्। अवष्टम्भानिलानलधारणै शकृत्। अन्न-क्लेदनिर्वाहणेन मूत्रम्। क्लेदत्वक्स्नेहरोमधारणैः स्वेद इति।

देहका दोषधातुमलमूलत्व—दोष, धातु और मल ये तीनों शरीर के मूल है अर्थात् दोष (वात, पित्त और कफ), धातु (रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य) तथा मल (शकृत, मूत्र और स्वेद) ये शरीर की स्थिति या धारणा के मूल कारण हैं। जैसे मूल के विना शाखा, पत्र, पुष्प, फलवाले वृक्ष की स्थिति नही रह सकती वह वृक्ष पनप नही सकता, ठीक इसी प्रकार उपर्युक्त दोष, धातु और मल के विना शरीर टिक नही सकता। दोष, धातु और मल ये शरीर की सम्यक् स्थिति अपनी प्राकृत या समावस्था में ही रख सकते हैं किन्तु अपनी वृद्धि या क्षयावस्था में ये शरीरस्थिति को ठीक नहीं रख सकते। क्षय-वृद्धावस्था ही का दूसरा नाम विषमावस्था है जो कि शरीर को रोगी बनानेवाली है। कहा भी है कि "रोगस्तु दोषवैषम्य दोषसाम्यमरोगता" एतदर्थ हमे दोष, धातु और मलकी समावस्था को जानना चाहिए। समावस्था के विपरीत वैषम्य को देखते ही हम जान सकेंगे कि यह रुग्ण है और समावस्था से नीरोगता, अत आचार्य सबसे प्रथम दोष धातु-मलों की क्रम से समावस्था का बर्णन करके यह बताते हैं कि समावस्था में रहते हुए दोष, धातु और मल किस प्रकार शरीर पर अनुग्रह कर उसका पोषण करते है अथवा शारीरिक स्थिति को बराबर अच्छी बनाए रखते हैं।

शरीर पर वायु का अनुग्रह—सम अबस्थामे रहता हुआ वायु उच्छ्वासनिश्वास (श्वास का शरीर के बाहर की ओर लाना और भीतर की ओर ले जाना), उत्साह (स्फूर्ति), प्रस्पन्द (शरीर-चेष्टा), इन्द्रियपाटव (चक्षु, कान, नासिका आदि इन्द्रियों की अपने २ विषयों को ग्रहण करने की शक्ति), वेग-प्रवर्तन (मलमूत्रादि वेगों को प्रवृत्त करना), इत्यादि शरीर की अन्य समस्त प्रवृत्तियों को-क्रियाओं को ठीक करके, शरीर का पोषण तथा धारण करके शरीर पर अनुग्रह करता है।

शरीर पर पित्तका अनुग्रह—किए हुए आहार का पचाना, शरीर मे उसके योग्य उष्णता को बनाए रखना, प्रिय वस्तुओं के भोगने की इच्छा, भूख और प्यास की प्रवृत्ति, शरीर की कान्ति (प्रभा) को निर्मल रखना, दृश्य पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ देखने की शक्ति, किसी भी विषय को धारण करने-वाली बुद्धि, शूरता, मृदुता, तेजस्वितादि शरीरगत अनेक कार्यों को करता हुआ शरीर को धारण-पोषण करके पित्त अनुग्रह करता है।

शरीर पर कफ का अनुग्रह—शरीर को दृढ रखना, सचिक्कण रखना, सन्धियों के बन्धन ढीला न होने देना, स्त्री-गमन में शक्ति प्रदान करना, सहनशक्ति, बुद्धि, धैर्य, बल, सन्तोष (इच्छाशक्तिका रोकना) तथा शरीरगत समस्त सौम्यभावों को प्रदान करना, इस प्रकार शरीर का धारण-पोषण कर कफ अनुग्रह करता है।

वातादि तीन दोषों के अनुग्रह का वर्णन करके अब रस, रक्तादि धातुओं के अनुग्रह को बताते है।

शरीर पर रसानुग्रह—मनकी प्रसन्नता, हृदय की तृप्ति और रक्त की पुष्टि, इन क्रियाओं को करता हुआ रस धातु शरीर पर धारण-पोषणात्मक अनुग्रह करता है।

१ अस्याग्रे 'तस्मात्तेषा लक्षणमुपदेक्ष्याम' इत्यधिकपाठोऽपि दृश्यते।

शरीर पर रक्तानुग्रह—प्राणों की धारणा[1] या ओजोवृद्धि, वर्ण की निर्मलता, मास का पोषण, इन कर्मों द्वारा शरीर का धारण-पोषण कर रक्तधातु अनुग्रह करता है।

शरीर पर मासानुग्रह—देह में लिपट कर मल और मेद की पुष्टि करता हुआ शरीर का धारण-पोषण कर मास अनुग्रह करता है।

शरीर पर मेदका अनुग्रह—नेत्रों तथा गात्रों (शरीर के समस्त अवयवों) में स्निग्धता, स्नेहता, दृढता और अस्थियों की पुष्टि द्वारा शरीर का धारण-पोषण कर मेद अनुग्रह करता है।

शरीर पर अस्थियोंका अनुग्रह—देहको खडा रखना तथा मज्जा का पोषण करना इन कर्मों को करता हुआ शरीर का धारण-पोषण कर अस्थि धातु अनुग्रह करता है।

शरीर पर मज्जा का अनुग्रह—स्नेह, बल और अस्थि की पूर्ति करना, वीर्य को पुष्ट करना, इन क्रियाओं द्वारा शरीर का धारण-पोषण कर मज्जा धातु अनुग्रह करता है।

शरीर पर शुक्र धातु का अनुग्रह—हर्ष, बल, गर्भ की उत्पत्ति, इन कर्मों को करता हुआ शरीर के भरण-पोषण में शुक्रधातु अनुग्रह करता है।

रसरक्तादि धातुओं के अनुग्रह का वर्णन कर अब आचार्य मलों के अनुग्रह को कहते हैं—

शरीर पर पुरीषानुग्रह—शरीरको धारण शक्ति प्रदान कर, वायु एव जठराग्नि को धारण करता हुआ शरीर के भरण पोषण में पुरीष (मल) अनुग्रह करता है।

शरीर पर मूत्रानुग्रह—अन्न के क्लेद को शरीर से बाहर निकाल कर शरीर के भरण-पोषण में मूत्र अनुग्रह करता है।

शरीर पर स्वेद का अनुग्रह—क्लेद, त्वचा, स्नेह और रोम इनको धारण करता हुआ स्वेद शरीर के धारण-पोषण में अनुग्रह करता है।

इस प्रकार प्रकृतिस्थ अर्थात् सम दोष, धातु एव मलों के कार्यों का वर्णन करके अब आचार्य विकृत अर्थात् विषमावस्था में आए हुए दोष, धातु और मलों के कार्यों को कहेंगे। दोषादि की वृद्धि और क्षीणता ही का नाम विषमावस्था है, अत प्रथम वृद्धिगत (बढ़े हुए) दोष, धातु और मलों के कार्यों को कहते है।

कार्श्यकार्ष्ण्योष्णकामितासञ्ज्ञानिद्रानाशबलेन्द्रियोपघातास्थिशूलमज्जाशोषमलसङ्गाध्मानाटोपमोहदैन्यभयशोकप्रलापादिभिर्वृद्धो वायु पीडयति। पीतत्वग्ग्लानीन्द्रियदौर्बल्योजोविस्रंसशीताभिलाषदाहतिक्तास्यतातृण्मूर्च्छाल्पनिद्रताक्रोधादिभि पित्तम्। श्वैत्यशैत्यस्थौल्यालस्यगौरवाङ्गसादस्रोतपिधानमूर्च्छानिद्रातन्द्राश्वासकासप्रसेकहृल्लासाग्निसादसन्धिविश्लेषादिभि श्लेष्मा।

बढे हुए वायु के कार्य—शरीर मे बढ़ा हुआ वायु कृशता, वर्ण में कालापन, शरीर का कापना, अङ्गों का फडकना, उष्णता की अभिलाषा, सञ्ज्ञा और निद्रा का नाश, बल एव इन्द्रियों की हानि, हड्फूटन, मज्जा का शोष, मल-मूत्र-स्वेद का अवरोध, पेट का फूलना, पेट की गुडगुड़ाहट, मूर्च्छा, दैन्य, भय, शोक, प्रलाप आदि करके पीडा देता है।

बढे हुए पित्त के कार्य—बढ़ा हुआ पित्त त्वचा मे पीलापन, ग्लानि, इन्द्रियों में दुर्बलता, बलनाश, ठण्डे पदार्थों की इच्छा, दाह, मुँह का कडुवापन, तृषा, मूर्च्छा, नींद का कम आना, क्रोध आदि को करके देह को कष्ट देता है। यहा आदि शब्द से विष्टा, मूत्र और नेत्रों की पीतता भी लेनी चाहिये॥

बढे हुए कफ के कार्य—बढा हुआ कफ शरीर में श्वेतवर्णता, शैत्य, स्थूलता, आलस्य, देह में भारीपन, शिथिलता, स्रोतों में रुकावट, मूर्च्छा, निद्रा, तन्द्रा, श्वास, कास, मुख से लार टपकना (प्रसेक), उबकाई, अग्निमान्द्य, सन्धियों का जकड जाना आदि विकारों को करके पीडा देता है।

वातादि दोषों की वृद्धि के कार्यों को कह कर अब रस, रक्तादि धातुओं की वृद्धि के कार्य बताते है।

प्रसेकारोचकास्यवैरस्यहृल्लासस्रोतोरोधस्वादुद्वेषाङ्गमर्दादिभिरन्यैश्च श्लेष्मविकारप्रायै रस। कुष्ठविसर्पपिटिकासृग्दराक्षिमुखमेढ्रगुदपाकप्लीहगुल्मविद्रधिव्यङ्गकामलाग्निनाशतम प्रवेशरक्ताङ्गनेत्रतावातरक्तैरेभिरन्यैश्च पित्तविकारप्रायैरसृक्। गलगण्डगण्डमालार्बुदग्रन्थिताल्वजिह्वाकण्ठरोगस्फिग्गण्डौष्ठबाहूदरोरुजङ्घागौरववृद्धिभि श्लेष्मरक्तविकारप्रायैश्च मासम्। प्रमेहपूर्वरूपै स्थौल्योपद्रवैश्चान्यैरपि श्लेष्मरक्तमासविकारप्रायैर्मेद। अध्यस्थिभिरधिदन्तैश्चास्थि। नेत्राङ्गरक्तगौरवै पर्वसु च स्थूलमूलारुर्भिर्मज्जा। अतिस्त्रीकामिताशुक्राश्मरीसभवाभ्या शुक्रम्।

बढ़े हुए रस के कार्य—मुख से लार टपकना, अरुचि, मुख की विरसता, लारसहित उबकाई-जीमचलाना, स्रोतों का अवरोध, मधुर रस से द्वेष, अङ्ग-अङ्ग का टूटना तथा प्राय कफ के विकारों को करके पीडा देता है।

बढ़े हुए रक्त के कार्य—कोढ, विसर्प, फोड़े-फुन्सी, रक्त प्रदर, नेत्र-मुख-लिङ्ग और गुदा का पकना, तिल्ली, बायगोला, विद्रधि, मुखव्यङ्ग (मुख पर काली झाई पड़ना), कामला, अग्निमान्द्य, आखों के सामने अँधियारी आना, शरीर और नेत्रों में ललाई, वातरक्त आदि प्राय पित्त के विकारों को करके शरीर में पीडा करता है।

बढे हुए मास के कार्य—गलगण्ड, गण्डमाला (कण्ठमाला), अर्बुद, ग्रन्थि, तालुरोग, जिह्वारोग, कण्ठ के रोग, फीचे, गाल, होठ, बाहु, उदर, ऊरु तथा जाघों में गौरव (भारीपन) आदि रोगों को करके तथा प्राय कफरक्त-विकारों को करके शरीर को दु खी करता है।

बढे हुए मेद के कार्य—बढ़ा हुआ मेद प्रमेह के पूर्वरूप (स्वेद, अङ्गगन्ध आदि), स्थूलता के उपद्रवादि और प्राय कफ-रक्त-मांस विकारों को करके देह को पीडा देता है।

बढी हुई अस्थि के कार्य—बढ़ी हुई अस्थि हड्डियों और

१ "नर्ते देह कफादस्ति न पित्तान्न च मारुतात्। रक्तेन धार्यते देहो रक्त जीव इति स्थिति॥" इति सुश्रुत।

दांतों मे वृद्धि करके या अस्थि पर अस्थि-दांत पर दांत उत्पन्न करके देहको दु खी करती है।

बढी हुई मज्जा के कार्य—नेत्र, शरीर तथा रक्त मे गुरुता (भारीपन), अगुलियों के पर्वों (सन्धियों) में जाडे (स्थूल) मूलवाले व्रणों को उत्पन्न कर पीडा देती है।

बढे हुए वीर्य के कार्य—बढ़ा हुआ शुक्र या वीर्य स्त्री-सग की अति इच्छा तथा शुक्राश्मरी को उत्पन्न कर देह में पीडा कारक होता है।

वृद्धिगत धातुओं के कार्यो (लक्षणों) को कह कर अब बढ़े हुए मलों के कार्यो का वर्णन क्रम से करते है।

आधिक्यकुक्षिशूलाटोपगौरवै' शकृत्। आधिक्य बस्तितोदाध्मानैर्मूत्रम्। आधिक्यकण्डूदौर्गन्ध्यै स्वेद। अन्येऽपि च दूषिकादिमला बाहुल्यद्रवताकण्डूगौरवै।

बढे हुए मल (पुरीष) के कार्य—पेट का फूलना, उदरशूल, पेट की गुड़गुडाहट और शरीर में भारीपन करके बढ़ा हुआ मल पीडाकारक होता है।

बढे हुए मूत्रके कार्य—पेडू मे वृद्धि को प्राप्त होकर, पेट में टोंचने की सी पीडा और पेट का फूलना इनको करके बढ़ा हुआ मूत्र पीडाकारक होता है। पेशाब करने पर भी पेशाब नहीं किया, इस प्रकार का भास होना यह 'अष्टाङ्गहृदय' में अधिक लिखा मिलता है।

बढे हुए स्वेद के कार्य—बढ़ा हुआ पसीना कण्डू (खाज) और दुर्गन्धि को करके शरीर के लिए दु खदायी होता है।

बढे हुए दूषिकादि मलोके कार्य—इसी प्रकार जैसे कि ऊपर कहा गया है दूषिकादि अर्थात् आख के गीड, कान के गुथ और नाक के पिञ्जूषनामक मलों के बाहुल्य में द्रवता, कण्डू एव गुरुतादिका भी अनुमान कर लेना चाहिए।

इस प्रकार वृद्ध दोष, धातु और मलों के कार्यों (लक्षणों) को कहकर अब क्षीण दोष-धातु-मलों के कार्यो का वर्णन करते हैं—

प्रसेकारुचिहृल्लाससज्ञामोहाल्पवाक्चेष्टताप्रहर्षाङ्गसादाग्निवैषम्यादिभि क्षीणो वायु पीडयति। स्तम्भ शैत्यानियततोददाहारोचकाविपाकाङ्गपारुष्यकम्पगौरव नखनयनशौक्ल्यादिभि पित्तम्। भ्रमोद्वेष्टनानिद्राङ्गमर्दपरिशोषतोददवदाहस्फोटनवेपनधूमायनसन्धिशैथिल्यहृदयद्रवश्लेष्माशयशून्यतादिभि श्लेष्मा।

क्षीण वायुके लक्षण—मुख से लार टपकना, अरुचि, उबकाई-जी मचलाना, सज्ञामोह अर्थात् बुद्धि की विचारशक्ति मे अक्षमता-बुद्धिका भली भांति विचार न कर सकना, अल्पवाक्यता-कम बोला जाना, शरीर-चेष्टाओं में अल्पता, अप्रसन्नता, कार्य करने में अशक्तता, जठराग्नि की विषमता आदि विकारों को करके क्षीण हुआ वायु पीडाकारक होता है।

क्षीण पित्तके लक्षण—क्षीण हुआ पित्त स्तम्भ (शरीर का जकड़ना), शैत्य, अनियत (चाहे जब) शरीर मे टोंचने की सी पीड़ा होना, अरोचक, अन्न का न पचना, शरीर में पारुष्य (रुखाई), कम्प, गौरव (भारीपन), नखों एव नेत्रों में श्वेतता आदि विकारों को करके पीडा देता है।

क्षीण कफ के लक्षण—शरीर मे क्षीण हुआ कफ भ्रम, उद्वेष्टन (रस्सी से बाधने के समान अङ्ग-उपाङ्ग तथा पिण्डलियों का जकडना), नींद का न लगना, शरीर का फूटना, परिप्लोष (सताप के कारण त्वचा में स्वल्प दाह), टोंचने की सी पीड़ा, दाह, हड़फूटन, कम्प, धूमायन (कण्ठ की जलन), सन्धियों का ढीला पड़ना, हृदयद्रव (हृदय का कापना Palpitition), हृदय, कण्ठ आदि कफाशयका सूनासा हो जाना आदि व्याधियों को करके पीडाकारक होता है।

अब रसरक्तादि क्षीण धातुओं के लक्षण कहते है—

शब्दासहत्वहृदयद्रवकम्पशोषशूलशून्यतास्पन्दनघट्टनैरल्पयापि च चेष्टया श्रमतर्षाभ्या रस। त्वग्रौक्ष्याम्लशीताभिलाषशिराशैथिल्यैरसृक्। स्फिग्गण्डादिशुष्कतातोदरौक्ष्याक्षग्लानिसन्धिस्फोटनधमनीशैथिल्यैर्मांसम्। प्लीहवृद्धिकटीस्वापसन्धिशून्यताङ्गरूक्षताकार्श्यश्रमशोषमेदुरमासाभिलाषैर्मांसक्षयोक्तैश्च मेद। दन्तनखरोमकेशशातनरौक्ष्यपारुष्यसन्धिशैथिल्यास्थितोदास्थिबद्धमासाभिलाषैरस्थि। अस्थिसौषिर्यनिस्तोददौर्बल्यभ्रमतमोदर्शनैर्मज्जा। श्रमदौर्बल्यास्यशोषतिमिरदर्शनाङ्ग⁴पाण्डुतासदनक्लैब्यमुष्कतोदमेढ्रधूमायनैश्चिराच्च निषेकेण सरक्तनिषेकेण वा शुक्रम्।

क्षीण रसके लक्षण—शब्द का सहन न होना, हृदयकम्प, शरीर का कांपना, शोष, शूल, अङ्गशून्यता (प्रसुप्ति), अङ्गों का फड़कना, अल्प चेष्टा के करने पर भी थकावट और प्यास का अनुभव होना ये सब मनुष्यशरीर मे क्षीण रसके लक्षण हैं।

क्षीण रक्तके लक्षण—शरीर मे रक्त के क्षीण होने से चमड़ी पर रूखापन, खटाई और ठण्डे पदार्थो की इच्छा, सिराओं का ढीला पड़ना ये लक्षण होते है।

मासक्षीण के लक्षण—शरीर में मास के क्षीण होने से स्फिक् (गण्डस्थलके पासका भाग) और गण्डस्थल (पौंदों) आदि में शुष्कता (सूख जाना), शरीर में टोंचने की सी पीडा, अक्षग्लानि (इन्द्रियों का अपने कार्य करने मे असामर्थ्य), सन्धियों के स्थान मे पीडा, और धमनियों मे शिथिलता ये लक्षण होते हैं।

क्षीण मेदके लक्षण—मेदके क्षीण होने से प्लीहा (तिल्ली) का बढ़ना, कमर मे स्वाप (सुप्तता या शून्यता), सन्धियों में शून्यता, शरीर मे रूक्षता, कृशता, थकावट, शोष, गाढे मासके खाने की इच्छा तथा उपर्युक्त क्षीण मास के कहे हुए लक्षण होते है।

१ मूत्र तु बस्तिनिस्तोद कृतेऽप्यकृतसञ्ज्ञताम् इति।

२ दूषिका—नेत्रमलमिति हेमाद्रि। गुत्थ कर्णमल प्रोक्त पिञ्जूष नासिकामलम्। इति कोष। ३ सज्ञा-बुद्धि, तस्या मोहो-विवेचनाक्षमत्वम्। इति हेमाद्रि।

१ रज्ज्वादिनाङ्ग उद्वेष्टनमिवोद्वेष्टनम्। २ परिप्लोष सतापात्स्वल्पस्त्वग्दाह। ३ धूमायन कण्ठे धूम इव। इत्यादीन्दु

४ दर्शनाङ्गमर्दपाण्डु इति पाठा०।

क्षीण अस्थिके लक्षण—अस्थि के क्षीण होने से दांतों-नखों-रोमों और केशों का गिरना, रूक्षता, पारुष्य (कड़ा या रूखा बोलना), सन्धियों में ढीलापन, हड्डियों में चुभने की सी पीड़ा, अस्थिबद्ध मांस के खाने की इच्छा ये सब लक्षण होतेहैं।

क्षीण मज्जा के लक्षण—मज्जा के क्षीण होने से अस्थिसौषिर्य (हड्डी में पोल का प्रतीत होना), बड़ी पीडा, दुर्बलता, चक्कर आना, प्रकाश में भी अँधेरे का अनुभव होना, ये लक्षण होते है।

शुक्रक्षय के लक्षण—वीर्य के क्षीण होने पर थकावट, दुर्बलता, मुँह का सूखना, सामने अँधियारी का आना, शरीर का टूटना, शरीर का पीला पड़ जाना, अग्निमान्द्य, नपुंसकता, अण्डकोष में टोंचने की सी पीडा, लिङ्ग मे धुँवे जैसी प्रतीति अर्थात् दाह होना, स्त्रीसंगमे बड़ी देरसे वीर्य का स्खलन होना या।वीर्यस्खलन न होकर बड़ी देर के बाद लिङ्गेन्द्रिय से रक्त सह वीर्य का स्खलन होना ये लक्षण होते है।

इस प्रकार रस-रक्तादि क्षीण धातुओं के लक्षणों को कहकर अब क्षीण मलों के लक्षण कहते हैं—

सशब्दस्य वायो कुक्षौ तिर्यगूर्ध्वं च भ्रमणेनान्त्रवेष्टनेन पार्श्वहृदयपीडनेनाल्पतया च शकृत्। बस्तिनिस्तोदमुखशोषकृच्छ्राल्पविवर्णमूत्रतादिभि सरुधिरमूत्रतया वा मूत्रम्। स्तब्धरोमतारोमच्यवनत्वक्परिपाटनस्वापपारुष्यस्वेदनाशै स्वेद। अन्येऽपि च मलायथायथ मलायनदोषतोदशोषशून्यत्वलाघवै।

क्षीण मल (पुरीष) के लक्षण—मल अथवा पुरीषके क्षीण होने से पेट मे वायु शब्द करता हुआ, मानो अन्तड़ियों से लिपटा हुआ भ्रमण करता है, हृदय एव पार्श्व भाग में पीडा करता हुआ तिर्छे या ऊर्ध्व भाग की ओर जाता है, ये लक्षण होते हैं।

क्षीण मूत्र के लक्षण—क्षीण हुआ मूत्र पेडू या बस्ति में पीडा, मुँह का सूखना, मूत्र का कष्ट से आना, थोड़ा थोडा आना और विवर्ण (अपने रंग को छोड़ बदरंग के रूप में आना) अथवा मूत्र का रक्तसहित आना ये लक्षण करता है।

क्षीण स्वेद के लक्षण—क्षीण स्वेद होने से वह रोमों की स्तब्धता, रोमों का गिरना, त्वचा का फटना, त्वचा में स्पर्शज्ञान न होना, त्वचा का रुखाई लिए रहना और पसीने का नाश (न आना) ये लक्षण करता है।

दूषिकादि अन्य मलो के लक्षण—दूषिकादि मलों के जो जो अयन (स्थान) हैं जैसे कि आंख, कान, नाक आदि इनमें दोष (वायु आदि), तोद (पीड़ा), शोष, शून्यता तथा लाघवादि के अनुसार इनके लक्षणों को जानना चाहिए।

विपरीतगुणक्षयवृद्धिभ्या च वृद्धिक्षयावुपलक्षयेत्। मलाना त्वतिसङ्गोत्सर्गाभ्या च तद्वृद्धिक्षयौ। वृद्धेस्तु मलाना क्षय पीडयति सुतरामनौचित्यात्। तत्रास्थिन स्थितो वायुरसृक्स्वेदयो पित्त शेषेषु तु श्लेष्मा। तस्मादेकवृद्धिक्षयसाधनत्वमेषा न त्वेवमस्थिवाय्वो सर्वैव हि वृद्धि प्रायोऽतिसतर्पणनिमित्तत्वाच्छ्लेष्मणानुगता। तद्विपर्ययाच्च क्षयो वायुना। तस्माल्लङ्घनबृंहणाभ्या वृद्धिक्षयजान्विकारानुपाचरेत्। पवने तु बृंहणलङ्घनाभ्याम्। सर्वत्र च द्रव्यगुणकर्मविपर्ययतुल्यभावेनाविरुद्धेन।

दोषादिक्षयवृद्धिज्ञानोपाय—दोषादि के गुणों से विपरीत गुणों की क्षयवृद्धि से क्रमेण दोषादि मे वृद्धि और क्षय जानना चाहिए अर्थात् दोषादि गुणों से विपरीत गुणों के क्षय से दोषादिकी वृद्धि होती है और उक्त विपरीत गुणों की वृद्धि से दोषादिका क्षय होता है-दोषादि क्षीण होते है। उदाहरणार्थ जैसे कि वायु के गुण रूक्ष, लघु, शीतादि हैं, इनके विपरीत गुण स्निग्ध, गुरु, उष्ण आदि है। इन गुणों के देह मे क्षय होने से वायु की वृद्धि होती है। इन्हीं वायुगुण-विपरीत स्निग्धादि गुणों की शरीर में वृद्धि होने पर वायु का क्षय होता है। इसी प्रकार शेष पित्त-कफ दोष तथैव रसरक्तादि धातु और मलों के विषय मे जानना चाहिए। मल (पुरीष), मूत्र और स्वेद का वृद्धि-क्षय उनके अतिसङ्ग (अतिसंग्रह) तथा अत्युत्सर्ग (देह से बाहर अतिनिःसरण) से जानना चाहिए। वृद्धि और क्षय दोनों पीडाकारक है किन्तु वृद्धि की अपेक्षा मलों का क्षय अधिक पीडाकारक होता है क्यों कि मलों का शरीर से अधिक बाहर निकलना अनुचित होता है। कहा भी है कि "मलायत्त बल पुसाम्।"

वायु अस्थियों में रहता है, रक्त और स्वेदमें पित्त रहता है तथा शेष रस, मांस, मेद, मज्जा, शुक्र, मूत्र, पुरीष आदि में कफ रहता है। सारांश, अस्थि वायु का, रक्त और स्वेद पित्त का तथैव रस-मांसादि कफ के आश्रय हैं। वायु, पित्त और कफ इनके आश्रयी हैं। इस लिये इन आश्रय-आश्रयी दोनों में क्षय-वृद्धि भी एक ही साथ होती है अर्थात वातपित्तादि आश्रितों की क्षयवृद्धि होने पर उनके आश्रयों मे भी क्षयवृद्धि होती है जैसे कि वायु की क्षयवृद्धि होने पर अस्थिकी, पित्तकी क्षयवृद्धि होने पर स्वेद और रक्त की भी क्षयवृद्धि होती है, तद्वत् कफकी क्षयवृद्धि रस-मांस-मेदादिके क्षय और वृद्धिका कारण होती है। सारांश, आश्रित की क्षयवृद्धि आश्रय की क्षयवृद्धि का भी कारण होती है। इस लिए इन दोनों की चिकित्सा भी एक ही होनी चाहिए। परन्तु अस्थि और वायु के लिए यह प्रकार ठीक नहीं है क्यों कि सब प्रकार की वृद्धि प्राय सतर्पण से ही होती है और उसका अनुगामी कफ होता है। क्षय इससे विपरीत होता है अर्थात् क्षयका कारण अपतर्पण (लङ्घन) होता है और इसका अनुगामी वायु होता है। इस लिए अन्यों की अपेक्षा अस्थिकी चिकित्सा विपरीत करनी होगी। सारांश, वायुनाशक औषध अस्थिके लिए वृद्धिकारक और वायुका बढ़ानेवाला औषध अस्थि का नाशकारी होगा। इसलिए सिद्ध हुआ कि वृद्धि और क्षय की चिकित्सा क्रम से लंघन तथा बृंहण ओषधियों द्वारा करनी चाहिए किन्तु वायु के विषय में इससे विपरीत अर्थात् बृंहण और लंघन औषधों द्वारा वृद्धि-क्षय की चिकित्सा क्रमसे करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त दोष, धातु और मलों की क्षयवृद्धि की चिकित्सा द्रव्य-गुण-कर्मके विपर्यय एव अविरुद्ध तुल्यभाव से करनी चाहिए।

यहा द्रव्य-विपर्यय का तात्पर्य चिकित्स्य शारीर-द्रव्यसे

१ तमोदर्शनमतमस एव तमसोऽनुभव इतीन्दु।

बाहर का द्रव्य है जैसे कि मांसवृद्धिकी चिकित्सा बाह्य द्रव्य गवेधुकान्न से करे। गुणविपर्ययका भाव गुणविपरीत द्रव्यसे है जैसे कि वृद्ध मास की चिकित्सा उससे विपरीत शहद से और वृद्ध कफ की उससे विपरीत सीधु और काजी से करे। कर्मवैपरीत्य शारीरद्रव्य से विपरीत उस बाह्य कर्म का नाम है जिसका विपरीत फल होता है जैसे कि वृद्धमास का नाश शोक से तथा वायु का स्वप्न अर्थात् सोने से होता है। अविरुद्ध द्रव्य तुल्यभाव का अर्थ है शारीरिक भावों से बाहर के द्रव्यों का सादृश्य। जैसे कि मांस से मास, रक्त से रक्त इत्यादि। गुणों का तुल्यभाव जातिसादृश्य न होते हुए भी गुणसादृश्य है जैसे कि शुक्रसे दूध और घृत का। कर्मसादृश्य है कर्मफल द्वारा शारीर द्रव्य से तुल्यभाव जैसे कि वायु का दौड़ने-तैरने से, कफ का हर्ष और सोने से।

धातव. खलु शारीरा समानै समानगुणभूयिष्ठैर्वा ऽऽहारविहारैरभ्यस्यमानैर्वृद्धिमाप्नुवन्ति। ह्रास तु विप रीतैर्विपरीतगुणभूयिष्ठैर्वा। तथा हि देहधातवो ये गुर-वस्ते गुरुभिरैक्यकारितयोपचीयन्ते। लघवस्तु लघु-भिस्तद्विपरीतैस्तु पृथक्त्वकारिभिरपचीयन्ते। तस्माद न्येभ्यो द्रव्येभ्योऽपि सुतरा रक्तमाप्याय्यते रक्तेन, मास मासेन, मेदो मेदसा, अस्थि तरुणास्थ्ना, मज्जा मज्ज्ञा, शुक्र शुक्रेणामगर्भेण गर्भ। यत्र त्वेव लक्षणेन सामान्येन सामान्यवतामाहारविहाराणामसान्निध्यस्यात् सन्निहिताना चाभ्यवहरणमशक्य विरुद्धत्वाद् घृणित्वादरुचेरन्यस्मा द्वा कारणान्तरात्। तत्र समानगुणभूयिष्ठानामन्यप्रकृ-तीनामाहारविहाराणामभ्यवहार श्रेयान्। तद्यथा–शुक्र-क्षये क्षीरसर्पिषोरुपयोगो मधुरस्निग्धशीतानामपरेषा च द्रव्याणाम्। कर्मापि यद्यस्य धातो समानक्रियतया वृद्धिकर तस्य तस्य वृद्धिमभिलषता तत्तदासेव्यम्। तथैव चातुल्यक्रियतया ह्रासकर भेदार्थेनेति। अपि च–विशेषतो रक्तवृद्धिजान् रक्तनिर्बहणप्रसादनकायवि रेचनै। मासवृद्धिजान् सशोधनशस्त्रक्षाराग्निकर्मभि। मेदोजान् स्थौल्यकार्श्यक्रियाक्रमेण। रसक्षयजान् मास-रसमद्यक्षीरै। अस्थिक्षयजान् बस्तिभिस्तिक्तोपहितैश्च क्षीरसर्पिर्भि। शकृद्वृद्धिजान् अतीसारसाधनेन। श-कृत्क्षयजान् यवमाषकुल्माषाजमेषमद्यादिभि। मूत्रवृद्धि क्षयजान्मेहकृच्छ्रचिकित्सया। स्वेदक्षयजानभ्यङ्गव्या-याममद्यस्वप्ननिवातशरणस्वेदैरिति।

धातुओं के क्षय-वृद्धि के कारण और उनकी चिकित्सा—इससे पहले दोषादि की वृद्धि एव क्षय के लक्षणों का वर्णन किया गया और चिकित्सा भी कही गई परन्तु उक्त वृद्धि एव क्षय के कारणों को नहीं बताया गया अत अब उनका प्रतिपादन करते हुए कहते है कि–शारीरिक धातुओं की वृद्धि उन धातुओं के समान तथा समानगुणभूयिष्ठ आहार-विहारों के करने से होती है। इसी प्रकार उन धातुओं का क्षय उनसे विपरीत एव विपरीतगुणभूयिष्ठ आहार-विहारों से होता है। यहा समानगुणभूयिष्ठ का अर्थ यह है कि[1] जातिसामान्य न होते हुए भी जो गुणों में समानता रखता हो। धातु शब्द से भी यहा वातादि[2] दोषों सहित रसरक्तादि धातुओं तथा मलोंका ग्रहण करना चाहिए क्योंकि इनसे देह-धारणा होती है। साराश, शरीरस्थ धातुओं की वृद्धि और क्षय समान तथा विपरीत, समान तथा विपरीतगुणबाहुल्यवाले आहार-विहारों से होती है। उदाहरणार्थ जैसे कि शरीरस्थ मास, कफ आदि गुरु धातु सजातीय गुरु पदार्थों से वृद्धि को प्राप्त होते है। ये ही गुरु धातु इसके विपरीत लघु एव विजातीय बाह्य पदार्थों से क्षयको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार शरीरस्थ लघु (वातादि) धातुओं की वृद्धि और क्षय को जानना चाहिए। इसी नियम के अनुसार देखा जाता है कि समान एव समानगुणभूयिष्ठ बाह्य द्रव्यों से शरीरस्थ धातुओं की वृद्धि होती है जैसे कि—रक्त से रक्त, मास से मास, मेद से मेद, तरुणास्थि से अस्थि, मज्जा से मज्जा, शुक्र से शुक्र और आमगर्भ (अण्डे आदि) से गर्भ की वृद्धि होती है। जहा पर इन लक्षणोंवाले सामान्य आहार-विहारों का असान्निध्य हो अर्थात् जातिसामान्य आहार-विहार न मिलते हों अथवा मिलने पर भी विरुद्ध होने से, उसमे घृणा होने से अथवा अरुचि के कारण सामान्य आहार-विहार को न कर सकता हो तो उसके लिए ऐसी अवस्था मे अन्य प्रकृतिवाले समान गुणभूयिष्ठ आहार-विहार का करना श्रेष्ठ है। वह इस प्रकार से जैसे कि शुक्रक्षय में दूध, घृत एव मधुर, स्निग्ध और शीत द्रव्यों का उपयोग किया जाता है जो जिस जिस धातु की वृद्धि चाहता हो, उसे चाहिए कि वह समान क्रिया करके उस उस धातु के बढानेवाले कर्म का सेवन करे। इसी प्रकार ह्रास की इच्छावाले को चाहिए की वह उसके लिए विजातीय ह्रास करनेवाले कर्मको करे। विशेषत रक्तवृद्धि के कारण होनेवाले रोगों का निर्हरण रक्तनिर्हरण, रक्तप्रसादन (रक्त शुद्धि) तथा कायविरेचन करके करे। मासवृद्धि से होनेवाली व्याधियों के लिए सशोधन, शस्त्रकर्म, क्षारकर्म और अग्निकर्म करे। मेद से उत्पन्न होनेवाली व्याधियों के लिए यदि मेदोवृद्धिसे हो तो स्थूल को कृश करनेवाली क्रिया करे और यदि मेद के क्षय से व्याधि हो तो कार्श्यचिकित्सा करे अर्थात् कृशत्वहारक उपायों को करे। ये दोनों प्रकार की चिकित्सा द्विविधोपक्रमणीय अध्याय मे कही जावेगी। रस के क्षय से होनेवाली व्याधियों की चिकित्सा मासरस, मद्य और दुग्ध द्वारा करे। अस्थिक्षय से होनेवाले रोगों की चिकित्सा कल्प स्थानोक्त तिक्तरसवाले द्रव्यों के साथ बस्ति द्वारा करे अथवा क्षीरबस्ति देकर करे इस लिए कि एतदर्थ क्षीरबस्ति प्रधान उपाय है। शकृत् (पुरीष मल) के बढ़ने से होनेवाले रोगों की चिकित्सा विरेचन देकर करे अर्थात् अतीसार-विधान से करे। पुरीषक्षय से होनेवाले रोगों का शमन यव, उड़द, कुल्माष (राजमाष-चवला) तथा बकरे और मेढे के मध्य

१. देहे धातवो। २ दरुचिरन्यस्मा। इति पाठा०

१ समानैर्जात्या। समान गुणभूयिष्ठैर्जातिविसदृशैरपि बाहु ल्येन सदृशगुणैरितीन्दु।

२ धातव इत्यादि धातुशब्देन देहधारणसामान्यात्सर्वे दोषादय उच्यन्ते।

(जठरा[1]न्तर्गत) मास आदि का सेवन कराकर करे अथवा अन्य पुरीष उत्पन्न करनेवाले द्रव्यों को देकर[2] करे। मूत्रवृद्धि एव मूत्रक्षय से होनेवाले रोगों की चिकित्सा प्रमेह तथा कृच्छ्रकी चिकित्सा द्वारा करे अर्थात् मूत्रवृद्धिजन्य रोगों में प्रमेह की चिकित्सा करे और मूत्रक्षयोत्पन्न व्याधियों की चिकित्सा मूत्रकृच्छ्रकी चिकित्सा करके करे। स्वेद के क्षय से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा अभ्यङ्ग, व्यायाम, मद्य, शयन, निर्वात स्थान का आश्रय ग्रहण करके तथा स्वेदविधि करके करे।

भवन्ति चात्र—

ये पाचकाशा धातुस्थास्तेपा मान्द्यातितैक्ष्ण्यत ।
वृद्धि क्षयश्च धातूना जायते शृणु चापरम् ॥
पारम्पर्येऽपि दावाग्नेस्तत्तत्प्राप्त्येन्धन शिखा ।
वृद्धिक्षयौ यथा याति तद्वद्धातुपरम्परा ॥
द्रव्य तुल्य विशिष्ट हि स्व स्व वृद्ध्यै क्षयाय च ।
प्रत्यात्मबीजनियत[3] भृशमाशु प्रजायते ॥

धातुओं की वृद्धि तथा क्षय में पाचकाग्नि कारण—प्रत्येक धातु में पाचकाग्नि-स्वरूप पित्त के अश या भाग रहते हैं। उन पित्ताशों के अति मन्द और तीक्ष्ण होने से भी धातुओं की वृद्धि और क्षय होता है। इस बात को उदाहरण द्वारा कहते हैं कि जैसे दावाग्नि यथास्व इधन को प्राप्त कर लेती है उसी परपरा के अनुसार उसकी शिखा वृद्धि और क्षय को प्राप्त होती है अर्थात् सघन वृक्षादि के काष्ठ का इन्धन प्राप्त कर दावाग्नि की शिखा बढती है और तृणादि स्वरुप इन्धन मिलने से क्षय होती है या घट जाती है। ठीक इसी प्रकार धातुओं की परम्परा है। साराश, उस उस धातु की अग्नि को पर्याप्त आहार मिलने से वह मन्द होती है तब उस उस धातु में वृद्धि होती है और अग्नि की तीक्ष्णता एव स्वल्पाहार मिलने से धातु में क्षय होता है। यहा धातु की अग्नि का इन्धन आहार का सार या रस जानना चाहिए। इस आहार-सार (रस) के अग्निमान्द्यवशात् स्रोतों में सतत जमा रहने से धातु में वृद्धि होती है और पर्याप्तरूपेण आहारसाररूपी इन्धन के न मिलने से धातु का क्षय होता है। द्रव्य भी धातु की वृद्धि और क्षय में कारण होता है। बाह्य द्रव्य जो कि शारीरधातु से तुल्यता (सजातीयविशिष्टता) रखता है वह बहुत जल्दी उस धातु को बढानेवाला होता है जैसे कि मास के लिए मास वृद्धिकारक है वैसा अन्य द्रव्य नही होता। इसी प्रकार विजातीय द्रव्य धातु को क्षय करनेवाला होता है इस लिए कि प्रकृति से यह बात उसमें नियत रहती है।

पूर्वो धातु पर कुर्याद् वृद्ध क्षीणश्च तद्विधम्।
दोषा दुष्टा रसैर्धातून् दूषयन्त्युभये मलान् ॥
अधो द्वे सप्त शिरसि खानि स्वेदवहानि च ।
मला मलायनानि स्युर्यथास्व तेष्वतो गदा ॥
वक्ष्यन्ते वातजास्तत्र निदाने वातरोगिके ।
पित्त त्वचि स्थित कुर्याद्विस्फोटकमसूरिका ॥
रक्ते विसर्प[1] दाह च मासे मासावको[1]थनम् ।
सदाहान्मेदसि ग्रन्थीन् स्वेदतृड्वमन भृशम् ॥
अस्थिन दाह भृश मज्ज्ञि हारिद्रनखनेत्रताम् ।
पूति पीतावभास[2] च शुक्र शुक्रसमाश्रितम् ॥
शिरागत क्रोधतापप्रलाप स्नायुग तृषम् ।
कोष्ठग मदतृड्दाहान् व्यापिनोऽन्याश्च यक्ष्मण ॥
श्लेष्मा त्वचि स्थित कुर्यात्स्तम्भ श्वेतावभासताम्।
पाण्डवामय शोणितगो माससस्थोऽर्बुदापची ॥
आर्द्रचर्मावनद्धाभगात्रता चापि गौरवम् ।
मेदोग स्थूलता मेहमस्थ्ना स्तब्धत्वमस्थिग ॥
मज्जग शुक्लनेत्रत्व शुक्रस्थ. शुक्रसचयम् ।
विबन्ध गौरव चाति सिरा[3]स्थ स्तब्धगात्रताम् ॥
स्नायुग सन्धिशूलत्व कोष्ठगो जठरोन्नतिम् ।
अरोचकाविपाकौ च तास्ताश्च कफसभ[4]वान् ॥
विण्मूत्रयो साश्रययोस्तत्र तत्रोपदेक्ष्यते ।
उपतापोपघातौ तु स्वाश्रयेन्द्रियगा[5] मला ॥

दूषित दोषादि रोगों के कारण— धातुओं का आहार धातु ही है इसलिए जो धातु जिस धातु से पहले होता है, वह यदि वृद्धिंगत होता है तो वह अपने उत्तर (आगे के) धातु को भी बढाता है। इसी प्रकार पहला धातु क्षीण है या क्षयिता को प्राप्त है तो वह अपने उत्तर धातु को भी क्षीण करता है। उदाहरणार्थ जैसे कि रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि मज्जा और शुक्र ये सात धातु है। इनमें जैसे रक्त धातु मांससे पहले है और यदि यह रक्त धातु वृद्ध है तो यह अपने उत्तर धातु मांस को भी बढ़ावेगा। यही यदि क्षीण है तो अपने उत्तर (आगे के) धातु को भी क्षीण करेगा। इस प्रकार दोषादि के वृद्धिक्षय-कारण का वर्णन हुआ। अब बताते हैं कि ये दोषादि रोगों के कारण किस प्रकार होते है। वातादि दोष मधुराम्ललवणादि रसों द्वारा दूषित होकर रस, रक्तादि धातुओं को दूषित करते हैं और ये वातादि दोष तथा रसादि धातु दोनों मिलकर पुरीषादि मलों को दूषित करते हैं। पुरीषादि मल मलायनों (मलमार्गो) को दूषित करते हैं। ये मलमार्ग इस प्रकार है जैसे कि गुदा और लिङ्ग ये दो अधोभाग में, सिर में सात जैसे दो कान, दो नासापुट, दो आखें और एक मुख और इसी प्रकार स्वेद को बहानेवाले समस्त रोमकूप। इनमें से जिस मल की दुष्टि होती है वही अपने अयन-गुदा, लिङ्ग, कान, नासिका, नेत्र आदि में रोग को करनेवाला होता है। मलों के द्वारा मलायनों मे रोगोत्पत्ति की बात कह कर अब यह बताते हैं कि-कौन कौन से दूषित दोष किस किस आश्रय में स्थित होकर कौन कौन से रोगों को करते है।

आश्रयगत दूषित वायु के रोग—वायु कुपित या दूषित होकर किस किस जगह मे स्थित होकर किन-किन रोगों को करता है यह आगे वातव्याधि निदान में बताया जायगा।

दूषित पित्त के रोग—दूषित पित्त त्वचा में स्थित होकर

१ अजमेषयोर्मध्यमन्तर्जठरमासम्। २ आदिग्रहणादन्यानि पुरीषजननानि गृह्यन्ते। इत्यादीन्दु। ३ बीजनैयंस्मादित्यपि पाठ।

१ स्वेदात्युद्गमन २ क्रोधनता ३ शिरास्थ ४ कफजान् गदान् ५ स्वाश्रयेन्द्रियगैर्मलै।

विस्फोटक तथा मसूरिका अर्थात् मसूर के वर्ण तथा प्रमाण वाली पिटिका (फुन्सियों) को उत्पन्न करता है। रक्त में स्थित होकर विसर्प तथा दाह को करता है। मास मे स्थित होकर मासावकोथन करता है अर्थात् मास को सडाता है। मेद में स्थित होकर दाहयुक्त ग्रन्थियों, अतिस्वेद, तृषा और वमन को करता है। अस्थि मे स्थित होकर बहुत दाह करता है। मज्जा में स्थित होकर नेत्र और नखों को हल्दी के समान पीला करता है और शुक्र में स्थित होकर पित्त शुक्र (वीर्य) को दुर्गन्धयुक्त एव पीले रग का करता है। सिरास्थित पित्त क्रोध, ताप और प्रलाप को उत्पन्न करता है। स्नायु में स्थित पित्त तृषारोग को करता है। कोष्ठ अर्थात् हृदय से बस्तिपर्यन्त या आमाशय, अग्न्याशय, पक्वाशय, मूत्र, रुधिर, हृदय, उण्डुक और फुफ्फुस इन सबमें स्थित पित्त मद, तृषा, दाह, राजयक्ष्मा तथा सर्वशरीरव्यापी रक्तपित्तादि व्याधियों को करता है।

आश्रयगत दूषित कफ के रोग—त्वचा में स्थित होकर कफ स्तम्भ (शरीर का जकडना) और वर्ण में श्वेतता को करता है। रक्त मे स्थित होकर पाण्डुरोग को करता है, मासमें स्थित होकर अर्बुद और अपची, शरीर गोले कपडे से मढ़ दिया है ऐसा भास होना तथा गौरव (जडता) को उत्पन्न करता है। मेद में स्थित कफ स्थूलता और प्रमेह को करता है। अस्थिगत कफ अस्थियों का स्तब्धत्व करता है। मज्जा में स्थित कफ नेत्र क सुपेद करता है। शुक्र में स्थित कफ शुक्र का खचये करता है अर्थात् वीर्य को वढ़ाता है। उसको गाढ़ा करता और बाधता है (बाहर नहीं निकलने देता)। सिराओं मे स्थित कफ अगों को जकड़ देता है। स्नायुगत कफ सन्धियों में पीडा करता है। पूर्वोक्त कोष्ठगत कफ पेट को बढ़ाता है, अरोचक, अपचन आदि अन्य श्लेष्मज्वर, श्लेष्म गुल्म, कामला आदि कफकृत व्याधियों को करता है।

मल (पुरीष) और मूत्राशय अर्थात् गुदा और लिङ्ग स्थित दोष जिन जिन रोगों को करते हैं उनका उपदेश मूत्रा घात और अतिसारादि के प्रकरण में करेंगे। ये वातादि दूषित दोष चक्षुरादि जिस जिस इन्द्रिय में स्थित होते हैं, उस उसमें उपताप वा उपघात को करते हैं अर्थात् न्यून या अधिक पीडा के करनेवाले होते है।

व्यायामादूष्मणस्तैक्ष्ण्याद्हिताचरणादपि ।
कोष्ठाच्छाखास्थिमर्माणि द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥
दोषा यान्ति तथा तेभ्य स्रोतोमुखविशोधनात् ।
वृद्ध्याऽभिष्यन्दनात्पाकात्कोष्ठवायोश्च निग्रहात् ॥
तत्रस्थाश्च विलम्बेरन् भूयो हेतुप्रतीक्षिण ।
ते कालादिबल लब्ध्वा कुप्यन्त्यन्याश्रयेष्वपि ॥
तत्रान्यस्थानसस्थेषु तदीयामबलेषु तु ।
कुर्याच्चिकित्सा स्वामेव बलेनान्याभिभाविषु ॥
आगन्तु शमयेद्दोष स्थानिन प्रतिकृत्य वा ।

वातादि दोषोंके रक्तादि आश्रयमें हेतु—वातादि दोष सकल शरीरव्यापी होते हुए भी कोष्ठ इनका प्रधान आश्रय है क्योंकि प्राय दोष कोष्ठ के ही आश्रित रहते है। ऐसी अवस्था में भी रक्तादि को आश्रय मानकर क्यों इनको रोग-कारक माना गया है? कोष्ठ को ही आश्रय मानकर क्यों न इन दोषों का रोगकर्तृत्व कहा गया? इस शङ्का के समाधान में कहते हैं कि यद्यपि दोषों का प्रधान आश्रय कोष्ठ ही है परन्तु कुछ हेतु ऐसे है कि जिनसे वातादि दोष कोष्ठ को छोड़कर अन्यत्र (शाखा आदि मे) चले जाते है। अर्थात् नित्य प्रति के व्यायाम (चलने फिरने) में शिथिलीभूत दोष वायु द्वारा शाखा आदि मे अर्थात् रस, रक्त, मासादि धातुओं एव त्वचा तथा अस्थिमर्मों में चले जाते हैं। केवल व्यायाम से ही नहीं, अग्नि की तीक्ष्णता से अपने ठोस भाव को त्याग पतले होकर कोष्ठ को छोड अन्यत्र पसरते या फैलते हैं। इसी प्रकार मिथ्या आहार-विहारादि से भी कोष्ठ को छोड़ शाखा आदि में चले जाते हैं। साराश, ऐसे आहार-विहार से जो दोषों को कोष्ठ स्थान से च्युत करके अन्यत्र ले जाता है अर्थात् वायु की द्रुतगति के कारण कोष्ठ को छोड़ वातादि दोष पूर्वोक्त शाखा और अस्थि-मर्म-स्थानों में चले जाते हैं, स्रोतों के मुख की शुद्धि होने से वे ही दोष शाखाओं को छोड़ पुनरपि कोष्ठ में आ जाते है। दोषवृद्धि द्वारा अभिष्यन्द, स्राव तथा शाखाओं में दोषों का परिपाक होने से भी दोष कोष्ठ मे आ जाते हैं। वहा प्रेरक वायु के निग्रह (आधिक्यनाश) से वे दोष हेतु की प्रतीक्षा करते हुए कोष्ठ में रहते हैं। किन्तु रोगों को उत्पन्न नही करते इस लिए कि वे देश, काल और हेतु की प्रतीक्षा करते हैं। फिर वे अपने समान देश-काल-हेतु-बल को प्राप्त करने पर अन्याश्रय मे रहते हुए भी कुपित होकर अनेक प्रकार के रोगों को करते हैं। कभी दोष अपने स्थान में रहते हुए भी कुपित होते हैं कभी अन्य दोष के स्थान में। जिस अन्य दोष के स्थान में कोई दोष जाय तो उसकी चिकित्सा स्थानी के बलाबल को देखकर करनी चाहिए। आगन्तु दोष स्थानी से अल्पबल हो तो प्रथम स्थानी (जिसके स्थानमें आगन्तु है) की चिकित्सा करके फिर आगन्तुक की चिकित्सा करे। यदि स्थानी से आगन्तुक बलवान् है तो उसकी चिकित्सा पहले करे और फिर स्थानी की। स्थानी और आगन्तुक सम बलवाले है तो प्रथम स्थानी की चिकित्सा करे और उसके पश्चात् आगन्तुक की।

तेजो यत्सर्वधातूनामोजस्तत्परमुच्यते ।
मृदु सोमात्मक शुद्ध रक्तमीषत्सपीतकम् ॥
यत्सारमादौ गर्भस्य यच्च गर्भरसाद्रस ।
सवर्तमान हृदय समाश्रयति यत्पुरा ॥
यच्छरीरस स्नेह प्राणो यत्र प्रतिष्ठित ।
यस्यानाशान्न नाशोऽस्ति प्रीणिता येन देहिनः ॥

---

१ स्थानान्यामाग्निपक्वाना मूत्रस्य रुधिर स्य च । हृदुण्डुक फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते॥ इति त त्रान्तरे। व्यापिनोऽपि यक्ष्मण सर्वशरीरचरा व्याधयो रक्तपित्तादय इतीन्दु । २ तास्तान् कफजान् श्लेष्मज्वरश्लेष्मगुल्मकामलादीन् सर्वानितीन्दु । ३ स्वल्पत्वादु पतापमाधिक्यादुपघातमितीन्दु ।

१ शाखा भिषक्शास्त्रप्रसिद्धरक्तादयो धातवस्त्वक्च। अस्थ्नां मर्माण्यस्थिमर्माणि ।

हृदयस्थमपि व्यापि तत्पर जीवितास्पदम् ।
ओज क्षीयेत कोपक्षुद्ध्यानशोकश्रमादिभि ॥
बिभेति दुर्बलोऽभीक्ष्ण ध्यायति व्यथितेन्द्रिय ।
दुश्छायो दुर्मना रूक्षो भवेत्क्षामश्च तत्क्षये ॥
जीवनीयौषधक्षीररसाद्यास्तत्र भेषजम् ।
ओजोवृद्धौ हि देहस्य तुष्टिपुष्टिबलोदय ॥

ओजका वर्णन—रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन सभी धातुओं का जो परम (श्रेष्ठ) तेज या सार है, उसे 'ओज' कहते है। यह शुद्ध (स्वच्छ-शुभ्र) ओज सौम्य, मृदु, कुछ रक्तपीतता को लिए होता है। यह गर्भ का आदि सार है अर्थात् इसके सयोग के बिना गर्भाधान ही नहीं हो सकता अर्थात् शुक्रशोणित में इसके बिना जीवानुप्रवेश नहीं हो सकता[1]। गर्भ का आदि रस होने से इसे रस भी कह सकते हैं। सर्व शरीर मे सर्वतमान होते हुए भी यह पहले हृदय मे स्थित होता है। यह शरीर का वह (स्निग्ध) रस है जिसमें प्राण (जीव) का निवास रहता है। जिस (अष्टबिन्द्वात्मक ओज) के नाश न होने से मनुष्य का नाश नहीं होता अर्थात् शरीर मे जिसके रहने से मनुष्य जीवित रहता है, जो देह धारियों को तृप्ति प्रदान करता है, जो हृदय में रहकर भी सर्व शरीर मे व्याप्त रहता है और जो मस्तकादिकी अपेक्षा "पर जीवितास्पदम्" अर्थात् परम जीवन का स्थान है उसे ओज कहते है।

ओजक्षय के कारण और लक्षण—कोप (क्रोध), क्षुधा, चिन्ता, शोक तथा श्रम आदि करने से ओज का क्षय होता है। ओज के क्षय हो जानेपर मनुष्य डरता है, दुबला हो जाता है, रात-दिन चिन्ता करता है, उसकी सब इन्द्रिया दुर्बल होती हैं, काति (चेहरे की रगत) बिगड जाती है, खिन्नमन (मन से दु खी), रूक्ष और क्षामस्वर अर्थात् उसकी आवाज भी बैठ जाती है।

ओजके क्षयकी चिकित्सा—जिसका ओज क्षय होगया हो तो उसके लिए जीवनीय गणकी ओषधियों के साथ पकाया या सिद्ध किया हुआ दूध, मासरस आदि श्रेष्ठ औषध है। ओषधि द्वारा ओजकी वृद्धि होकर शरीर में तुष्टि, पुष्टि और बलकी प्राप्ति होती है।

विशेष वक्तव्य—आयुर्वेदीय तन्त्रोंका भली भाति अव लोकन करने से निश्चय होता है कि शारीरिक पदार्थों मे सबसे महत्त्वशाली यदि है तो वह एक ओज है परन्तु प्राचीन आचार्यो की तरह अर्वाचीन विद्वानों में भी इस ओज के विषय में गहरा मतभेद है। कोई इसे सात धातुओं की तरह आठवाँ धातु मानता है तो कोई इसे शुक्र की उपधातु मानता है[2]। कोई इसे सर्वशरीरस्थ मानता है तो कोई हृदय और शरीर इन दोनों में इसकी स्थिति मानता है[1]। कोई इसे केवल 'सौम्य' ही कहते हैं तो इसकी शुभ्रता तथा ईषद्रक्तपीतता को सामने रखकर कोई इसे 'अग्निषोमीय' कहता है[2]। स्वर्गीय गङ्गाधर कविराज (चरक के जल्पकल्पतरु टीकाकार) इसे एक ही प्रकार का मानते हैं तो चक्रपाणि[3]इत्यादि कई इसे पर-अपर भेद से दो प्रकार का मानते हुए कहते है कि पर ओज अष्टबिन्दु-प्रमाण मे सदैव हृदय मे बना रहता है। मरणकाल के सिवा इसका नाश नहीं होता किन्तु अपर ओज अर्ध अञ्जलि प्रमाण में सर्व शरीर मे व्याप्त रहता है और प्रमेहादि की अवस्था में इसका क्षय भी होता है। क्षय होने पर भी चिकित्सा द्वारा कोई रोगी जी जाता है तो कोई मर भी जाता है। आयुर्वेद-शास्त्र में सन्दर्भानुसार ओज शब्द सर्व धातु तेज, रस, जीवनरक्त, प्राकृत कफ, बल और मल के लिए भी वैद्यों ने प्रयुक्त किया है[3]। अस्तु, उपर्युक्त सब बिवादों को सामने रखकर चरकचतुरान चक्रपाणिदत्त ने चरक सूत्र स्थान के अध्याय ३० के "तत्परस्यौजस स्थानम्" इस हृदय वर्णनात्मक श्लोक की व्याख्या मे ओज के विषय मे बडा अच्छा स्पष्टीकरण किया है।

'तत्परस्यौजस स्थानम्' इस प्रतीक को लेकर चक्रपाणि कहते हैं कि 'यहा आचार्य ओज के दो प्रकार बता रहे है जैसे कि एक पर और दूसरा अपर। अर्धाञ्जलि-प्रमाण यहा (आयुर्वेदशास्त्र मे) अपर ओज का है और पर ओज का स्वल्प प्रमाण। पर और अपर ऐसे द्विविध ओज के मानने पर ही 'परस्य, यह विशेषण सार्थक होता है किन्तु केवल एक ही रूप के मानने पर वह विशेषण सार्थक नहीं हो सकता। अर्धाञ्जलि-परिमित ओज का स्थान हृदयाश्रित धमनिया ही हैं। प्रमेह मे इस अर्धाञ्जलिमित ओज का ही क्षय होता है न कि अष्टबिन्दुमित ओज का। इस लिए कि अष्टबिन्दुमित ओज के क्षय से 'तन्नाशान्ना विनश्यति, इस प्रमाण से मनुष्य जी नहीं सकता अपितु मर ही जाता है किन्तु प्रमेह के ओज क्षय में मनुष्य जीवित भी रह सकता है। इससे स्पष्ट है कि ओज क्षय, यह लक्षण भी अर्धाञ्जलि-परिमित ओज के लिए ही कहा गया है। यद्यपि 'रसश्चौज सख्यात' इस प्रमाण से ओज शब्द रस के लिए भी व्यवहृत होता है तथापि यहा सब धातुओं का सार रूप ही ओज लिया गया है। कुछ लोग ओज को उपधातु या धातु कहते है परन्तु धातु वही है जो शरीर का धारण और पोषण करता है। देहधारक होते हुए भी ओज देहपोषक नही है अत ओज अष्टम धातु नही हो सकता। कुछ लोग शुक्र-विशेष को ओज कहते है परन्तु वह मन का प्रीणन नही करता। कुछ लोग 'भ्रमरै फलपुष्पेभ्यो यथा सचीयते मधु। तद्वदोज शरीरेभ्यो गुणै सभूयते नृणाम्।'

---

१ यद्गर्भस्यादो सार सारमिव सार न हि तेन बिना शुक्र शोणिते जीवानुप्रवेश इतीन्दु।

२ ये 'रसादिसाररूपतया रसादिभ्यो भिन्नमोज' इति पृथग्धातुत्वेनोपधातुत्वेन वा निर्देश्यमिति पश्यन्ति, इति चक्र। स्वेदो दन्तास्तथा केशास्तथैवौजश्च सप्तमम्। इति धातुभवा ज्ञेया एते सप्तोपधातव ॥ इति तन्त्रान्तरे।

१ ओज सर्वशरीरस्थ शीत स्निग्ध स्थित मतम्। इति शार्ङ्गधर। हृदि तिष्ठति यच्छुभ्र रक्तमीषत्सपीतकम्। ओज शरीरे सख्यातमिति चरक। २ ओज सोमात्मक स्निग्ध शुक्ल शीत स्थिर सरम्। इत्यादि सुश्रुत। प्राणाश्रयस्यौजसोऽष्टौ बि दवो हृदयाश्रया। अष्टबिन्दुप्रमाण तदीषद्रक्त सपीतकम्। अग्निसोमात्मकत्वेन द्विरूप वर्णित च तत् ॥ इति ३ धातूना तेजसि रसे तथा जीवितशोणिते। श्लेष्मणि प्राकृते वैद्यैरोज शब्द प्रकीर्तित ॥ इति हेमाद्रि। तदोजस्तद्बलमित्युच्यते। इति सुश्रुत ॥

इस पद्य को लेकर कि जैसे 'मधु का सचय फलों और पुष्पों से भ्रमरों द्वारा होता है वैसे ही शरीर-गुणों से मनुष्यों का ओज होता है' यहा शरीर का भाव धातु है और गुण का सारभाग है अत वे चाहते हैं कि सर्वधातु-साररूप ओज है अत साररूप करके ओज भिन्न है इस लिए उसे धातु या उपधातु माना जाय। यद्यपि धातु-ग्रहण से ही सप्तधातु-साररूप ओज का ग्रहण होता है तथापि प्राणधारक होने से ओज अलग माना गया है। जो ओज को शुक्रजन्य मानते है उनका कथन भी इस वक्ष्यमाण प्रमाण से ठीक नहीं है कि—'रस से लेकर शुक्रतक सातों धातुओं का परम तेज ही ओज है।'

साराश यह है कि ओज सौम्य है, स्निग्ध, श्वेत, शीतल, स्थिर, सर आदि श्रेष्ठ गुणों से युक्त है। मृदु एव पिच्छिल है, जीवन का आधार है और ओज शरीर के समस्त अवयवों में व्याप्त है। ओज के अभाव मे मनुष्य जी नहीं सकता। ओज गर्भाधान के आदि से ही बनने लगता है। सच तो यह है कि मनुष्यशरीर का आद्योपादान भी ओज ही है। तुलनात्मक अध्ययन से पता लगता है कि पाश्चात्य वैज्ञानिक भी ओज के विषय में प्राय ऐसी धारणा रखते हैं। प्रोफेसर हेलिबर्टन के कुछ उद्धरण हमने स्वर्गीय कविराज नरेन्द्रनाथजी मित्र के एक लेख मे देखे हैं। हेलिबर्टन कहता है कि—

'ओज शारीरिक अवयवों का आदि उपादान है। इतना ही नहीं, ओज शारीरिक सब अवयवों का समवायी कारण है। इसकी बनावट साधारण नहीं, अपितु असाधारण है। ओज सपूर्ण शारीरिक अङ्ग-उपाङ्गों में तथा तरल पदार्थों मे व्याप्त है। अल्व्यूमिन शब्द की निरुक्ति अण्डों की श्वेतता (सुफेदी) से है जो सब प्रकार के ओजों मे एक है। हमारे यहा एक ओज का प्रमाण अष्टबिन्दु कहा है। देखिए प्रो० हेलिबर्टन भी इस विषय में क्या कहते है। वे कहते हैं कि—

'रक्तमिश्रित ओज अर्थात् जीवनशोणित (रक्तवारि) क्षार के गुणों से युक्त होता है। वर्ण मे कुछ पीतता-युक्त होता है तथा इसका आपेक्षिक गुरुत्व १०२६ से १०२९ तक होता है। इसके प्रतिशत भाग में ९० भाग जल तथा १० भाग पार्थिव पदार्थों के होते हैं जिनमे ८ भाग ओज के होते हैं।'[१] हमारे यहा अष्टबिन्दु उसके माने हैं जिसको पर ओज कहा है। अपर ओज का प्रमाण अर्धाञ्जलि बताया है परन्तु पर-अपर भेद से ओज के दो प्रकार न माननेवाले कविराज गङ्गाधर ने ओज को एक ही प्रकार का मानते हुए इन अष्ट बिन्दुओं को ही अर्धाञ्जलि सिद्ध किया है। उनका कहना है कि मतान्तर से बिन्दु एक कर्ष को कहते हैं। कर्ष २ तोले का होता है अत आठ बिन्दु या आठ कर्ष का मान १६ तोले होता है जो कि ठीक अर्धाञ्जलि का प्रमाण है। परन्तु छान बीनकर चक्रदत्त आदि के स्पष्टीकरणों को देखते हमे तो यह मत ठीक नही प्रतीत होता। सतोष इसी बात का है कि ओज के विषय मे प्राय पौर्वात्यों एव पाश्चात्यों की विचार धारा एक सी ही है। इसमें सबका एक मत है कि ओज शरीर का आद्य उपादान है तथा जीवन का मुख्य आधार है।

सुश्रुतके टीकाकार डल्हन ओज को तीन प्रकार का अर्थात् श्वेत, क्षौद्रवर्ण और तैलवर्ण मानते है और अपने इस मत की पुष्टि वे चरक के शुभ्र, ईषद्रक्त और पीत से करते है।

ओज क्षय के भी सुश्रुत मे तीन भेद बताए है, ओजोविस्रस, ओजोव्यापत् और ओज क्षय। इनके लक्षणों को बताते हुए कहा है कि—ओजोविस्रस मे सन्धियों का ढीला पड़ना, अङ्गों मे थकावट, वातादि दोषों का स्थान से भ्रष्ट होना और शारीरिक क्रिया का ठीक न होना ये लक्षण होते हैं। ओजोव्यापत् में शरीर का जकड़ना और भारीपन, वायुद्वारा सूजन, वर्णका विवर्ण हो जाना, ग्लानि, तन्द्रा और निद्रा ये चिह्न होते हैं और ओजक्षयमें-मूर्च्छा, मास का क्षय, मोह, प्रलाप और मरण होता है। ओजोविस्रस तथा ओजोव्यापत्ति मे ओजोनुकूल बलवर्धक चिकित्सा करने तथा ओज क्षय के नष्ट सज्ञ रोगी को त्याग देने का उपदेश किया है।[२]

---

१ एतेन द्विविधमोजो दर्शयति परमपर च। तत्राञ्जलिपरिमाणमपरम्, अल्पप्रमाण तु परम्। सति हि परे चापरे चौजसि 'परस्य' इति विशेषण सार्थक भवति। नत्वेकरूपे। अर्धाञ्जलिपरिमितस्यौजसो धमन्य एव हृदयाश्रिता स्थानम्। तथा प्रमेहेऽर्धाञ्जलिपरिमितमेवौज क्षीयते नाष्टबिन्दुकम्। अस्य हि किञ्चित् क्षयेऽपि मरण भवति, प्रमेहे तु ओज क्षये जीवत्येव तावत्। ओज क्षयलक्षणमपि अर्धाञ्जल्योज क्षय एव बोद्धव्यम्। ओज शब्दश्च यद्यपि रसेऽपि वर्तते, यदुक्त 'रसश्चौज सख्यात, इति, तथापि इह सर्वधातुसारमोजोऽभिधीयते। एतच्चौज उपधातुरूप केचिदाहु। धातुर्हि धारणपोषणयोगाद्भवति। ओजस्तु देहधारक सदपि न देहपोषकम्, तेन नाष्टमो धातुरोज। केचित्तु शुक्रविशेषमोज प्राहु, तच्च न मन प्रीणाति। ये तु ब्रुवते सर्वधातूना सारमसमुदायभूतमोज ते रसादिसाररूपतया रसादिभ्यो भिन्नमोज, इति पृथग्धातुत्वेनोपधातुत्वेन वा निर्देश्यमिति पश्यन्ति। वचन च 'भ्रमरै फलपुष्पेभ्यो यथा सचीयते मधु। तद्वदोज शरीरेभ्यो गुणै सभृयते नृणाम्॥' अत्र शरीरेभ्य इति धातुभ्य, गुणैरिति सारभागै। अत्र यद्यप्योज सप्तधातुसाररूपत्वेन धातुग्रहणेनैव लभ्यते, तथापि प्राणधारणकर्तृत्वेन पृथक् पठन्ति। ये तु शुक्रजन्यमोज इच्छन्ति तेषामष्टमो धातुरोज स्यादिति पक्षे चातिदेश कृत्वा वक्ष्यति 'रसादीना शुक्रान्तानां यत्पर तेजस्तत् खल्वोज, इति॥

२ Albumine-Proteid Substance is the chief Constituent of the animal tissues Its molecule is highly complex The Albuminous bodies or Proteids occur in almost all the tissues and fluids of the body They derive their name from the white of egg, which is taken as a type of the group

१ "The Plasma is alkaline, Yellowish in tint and its gravity 1026 to 1029 In round numbers Plasma Contain 10% of solids of which 8 are Protien in nature" (Dr W D Halliburton M D)

२ तस्य विस्रसो व्यापत् क्षय इति लिङ्गानि व्यापन्नस्य भवति। सन्धिविश्लेषो गात्राणा सदन दोषच्यवन क्रियासन्निरोधश्च विस्रसे, स्तब्धगुरुगात्रता वातशोफो वर्णभेदो ग्लानिस्तन्द्रा निद्रा च व्यापन्ने, मूर्च्छा मासक्षयो मोह प्रलापो मरणमिति च क्षये॥२५॥ अत्र विस्रसे व्यापन्ने च क्रियाविशेषैरविरुद्धैर्बलमाप्याययेत्। इतर तु मूढसज्ञ वर्जयेत्॥ २९॥ इति सुश्रुतसहिता अ० १५

यदन्न द्वेष्टि यदपि प्रार्थयेताविरोधि तु ।
तत्तत्त्यजन् समश्नश्च तौ तौ वृद्धिक्षयौ जयेत् ॥
कुर्वतेऽभिरुचि दोषा विपरीतसमानयो ।
वृद्धा क्षीणाश्च भूयिष्ठ लक्षयन्त्यबुधा न तत् ॥ ॥
यथाबल यथास्व च दोषा वृद्धा वितन्वते ।
रूपाणि जहति क्षीणा समा स्व कर्म कुर्वते ॥
य एव देहस्य समा विवृद्ध्यै त एव दोषा विषमा वधाय ।
यस्मादतस्ते हितचर्ययैव क्षयाद्विवृद्धेरिव रक्षणीया ॥

इत्येकोनविंशोऽध्याय ।

दोषों के वृद्धिक्षय की सक्षेप में चिकित्सा—**मनुष्य जिस अन्न को नही चाहता तथा जिसकी इच्छा करता है, यदि उसमे किसी प्रकार का विरोध (बिगाड) न हो तो उस २ अन्न को छोड कर या सेवन करके वृद्धि और क्षय को जीतना चाहिए। भावार्थ यह है कि अन्न के खाने की इच्छा और अनिच्छा दोषादि के क्षय-वृद्धिद्वारा होती है जैसे कि वातवृद्धि में स्निग्धोष्ण अन्न की इच्छा होती है और रूक्ष-शीत की इच्छा नहीं होती, पित्तवृद्धि में शीतेच्छा होती है तो उष्ण से द्वेष अनिच्छा होती है। इसके विपरीत अर्थात् दोषों की वृद्धि मे जो इच्छा होती है वह क्षय मे नहीं होती। यही बात रस रक्तादि धातुओं की क्षयवृद्धि से जाननी चाहिए। जैसे कि रस के क्षय मे दूध पीने की इच्छा होती हे परन्तु रसवृद्धि में दूध पीने की इच्छा न होकर विपरीत दूध से द्वेष होता है। इसी प्रकार मासक्षय मे माससेवन या वैसे ही किसी मासवर्धक पदार्थ के खाने की इच्छा होती है। एतदर्थ मनुष्य जिस जिस पदार्थ के खाने की इच्छा करे वह पदार्थ यदि विरुद्ध या हानि कारक नहीं है तो उसका सेवन करावे। जिस पदार्थ से द्वेष करता है और वह त्याग देने से किसी प्रकार की हानि न हो तो उसे छुडा देवे। यदि द्वेषवाला पदार्थ वस्तुत लाभदायक है तो उसे अच्छा बनाकर उसका सेवन करावे। साराश, इस प्रकार हिताहित का विचार कर हितकारी पदार्थ का सेवन करावे, अहितकारी पदार्थ का सेवन न करने दे। यह दोषादि के वृद्धिक्षय की सक्षिप्त चिकित्सा है, जिसको करके वैद्य रोगी को दोषादि की वृद्धि और क्षय की चिकित्सा कर सुखी कर सकता है, उसके बिगड़े हुए विषम दोषों को सम कर सकता है।**

कभी कभी वातादि दोष बढ जाने पर अपने विपरीत गुणधर्मवाले पदार्थों की ओर रुचि कराते है और क्षीण होने पर प्राय अपने समान गुण-धर्मवाले पदार्थों की ओर रुचि को बढाते हैं। इस बातको विद्वान् समझ लेते है किन्तु मूर्ख नहीं समझते। इसलिए यथारुचि पदार्थोंका सेवन कराकर भी वैद्य को चाहिए कि वह रोगी के विषम (बढे हुए या क्षीण हुए) दोषों को साम्यावस्था में लाने का प्रयत्न करे।

वृद्ध, क्षीण और सम दोषो के लक्षण—**बढे हुए वातादि दोष अपने समान गुणवाले लक्षणों को प्रगट करते हैं और क्षीण हुए दोष अपने उक्त लक्षणों को छोड देते हैं। वातादि दोष साम्यावस्था में रहनेसे अपने प्राकृत गुणों को भलीभाति प्रगट करते है। उदाहरणार्थ वायुके बढने से वह शरीर मे रूक्षता, दुबलाई, जम्भाई आदिको करता है। ऐसे ही बढा हुआ पित्त दाह, नेत्र-नखादिमें पीतता आदि करता है तथा बढा हुआ कफ शरीर में जडता, स्थूलता आदिको करता है। क्षीण हुए दोष इन लक्षणों को छोड देते हैं। मनुष्य अपने सब कामकाज, आहारविहारादि यथोचित करता है, प्रसन्न मन रहता है तब जानना चाहिए कि इसके शरीर में दोषों की साम्यावस्था वर्तमान है।**

दोषों को साम्यावस्था में लाने का आदेश—**पूर्वोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि वात, पित्त एव कफ ये तीनों दोष बढने तथा क्षीण होने से रोगकारक होते है इसलिए वैद्य को चाहिए कि वह हिताचरण कराकर दोषों की क्षयवृद्धि से रक्षा करता रहे या प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह हिताहारविहार करके दोषों को घटने-बढने न दे, अपि तु साम्यावस्था मे बने रहने दे ताकि वह सदा अपना जीवन आनन्द से व्यतीत कर सके।**

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दी व्याख्याया दोषादिविज्ञानीयो नाम एकोनविंशोध्याय ॥१९॥

अथ विंशोऽध्यायः।

अथातो दोषभेदीयं नामाध्याय व्याख्यास्याम[1]। इति हस्माहुरात्रेयादयो महर्षय ।

दोषभेदीयाध्याय—**इसके पूर्वाध्याय मे दोषवैषम्य का वर्णन किया गया किन्तु वह वैषम्य दोषभेद से अनेक प्रकार का होता है। इसीलिये दोषों के भेद बतलानेवाला यह दोषभेदीय अध्याय है। उक्त दोषों के भेद स्थान, कर्म, अवस्था, हेतु, आकृति, साधन और सयोगभेद से सात भागों में विभक्त होते हैं। स्थानभेद यथा—पक्वाशयस्थ वायु, कटिस्थ वायु इत्यादि। कर्मभेद जैसे कि—श्वासोच्छ्वासप्रवर्तक, मलमूत्रप्रवर्तक इत्यादि। अवस्था भेद जैसे कि-सचित, प्रकुपित आदि। हेतुभेद जैसे कि—मिथ्यायोगप्रकुपित, अतियोगप्रकुपित आदि। आकृतिभेद यथा—समसलक्षण, व्यासलक्षण आदि। साधनभेद जैसे कि—स्निग्धोपशय उष्णोपशय आदि। सयोगभेद जैसे कि पित्तयुक्त, कफयुक्त आदि। इस प्रकार दोषवैषम्य के अनेक भेद होते है। अब आचार्य उक्त भेद जिसमे बताए गये है उस दोषभेदीयनामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि आत्रेयादि महर्षियों ने किया है।**

वाय्वाकाशधातुभ्या वायु । आग्नेय पित्तम् । अम्भ पृथिवीभ्या श्लेष्मा। तत्र पक्वाशय कटि-

---

१ पूर्वाध्याये दोषवैषम्यमुक्तम्। तच्च दोषभेदाद् बहुधा भिद्यते। दोषभेदज्ञानार्थमयमध्याय । अत एवाय दोषभेदीय । तद्भेदश्च स्थानकर्मावस्थाहेत्वाकृतिसाधनसयोगभेदाद्भवति। तत्र स्थानतो यथा—पक्वाशयस्थोऽय वायु कटिस्थोऽयम्। कर्मतो यथा—श्वासोच्छ्वासप्रवर्तकोऽय विण्मूत्रप्रवर्तकोऽयम्। अवस्थातो यथा—चितोऽय प्रकुपितोऽयम्। हेतुतो यथा—मिथ्यायोगप्रकुपितोऽयमतियोगप्रकुपितोऽयम्। आकृतितो यथा—समसलक्षणोऽय व्यासलक्षणोऽयम्। साधनतो यथा—स्निग्धोपशयोऽयम् उष्णोपशयोऽयम्। सयोगतो यथा—पित्तयुक्तोऽयम्, श्लेष्मयुक्तोऽयमिति। एव पित्तादिष्वपि। इत्यायुर्वेदरसायने हेमाद्रि ।

सक्थिनी पादावस्थि श्रोत्र स्पर्शन च वातस्थानानि। अत्र च पक्वाशयो विशेषेण। नाभिरामाशयस्वेदो लसीका रुधिर चक्षु स्पर्शन च पित्तस्थानानि। अत्र नाभिर्विशेषेण। उरः कण्ठ शिर क्लोम पर्वाण्यामाशयो रसो मेदो घ्राण रसन च श्लेष्मस्थानानि। अत्राप्युरो विशेषेण। इत्थमधोमध्योर्ध्वसन्निवेशिना दोषत्रयेण शरीरमगारमिव स्थूणात्रितयेन स्थिरीकृतम्। अतश्च दोषा देहस्य स्थिरीकरणात्स्थूणा इत्युच्यन्ते। धारणाद्धातव। मलिनीकरणादाहारमलत्वाच्च मला। दूषणस्वभावाद्दोषा इति।

दोषा की उत्पत्ति, स्थान और निरुक्ति—वायु और आकाश इन दोनों धातुओं से वायु, अग्नि से पित्त, जल और पृथिवी से कफ उत्पन्न हुआ है। पक्वाशय, कमर, सक्थि (वङ्क्षण स्थान से लेकर अंगुलस्थान तक का भाग) पाव, अस्थि, कान और त्वचा ये वायु के स्थान है। इनमें पक्वाशय विशेष रूपेण वायु का स्थान है। नाभि, आमाशय, स्वेद, लसीका, रक्त, नेत्र और त्वचा ये पित्त के स्थान है। इनमें भी नाभि पित्त का विशेष स्थान है। उर (छाती), कण्ठ, सिर, क्लोम, पर्व, आमाशय, रस, मेद, नासिका और जिह्वा ये कफ के स्थान हैं। इनमें भी कफ का मुख्यस्थान छाती (उर) है। इस प्रकार क्रम से अधोभाग, मध्यभाग तथा ऊर्ध्वभाग में रहनेवाले दोषत्रय (वात, पित्त और कफ) ने तीन थूनियोंसे घर की तरह इस शरीर को स्थिर किया हुआ है। देह को स्थिरीकरण के कारण इन दोषों को स्थूणा कहते हैं। देह की धारणा इनसे होती है इसलिए इनको धातु कहते है। रसरक्तादि धातुओं को मलिन (दूषित) करनेवाले हैं तथा ये आहारों का मल है इसलिए इन्हें मल भी कहते हैं। इनका दूषणस्वभाव है अत इन्हें दोष भी कहते हैं।

विशेष वक्तव्य—'वाय्वाकाशधातुभ्या वायु' इसमें धातु ग्रहण महाभूतों के शक्तिप्रदर्शनार्थ है। अन्यथा अमूर्त से मूर्तकी उत्पत्ति विरुद्ध दिखाई देगी किन्तु शक्ति या प्रभाव जो चाहे सो कर सकता है।

त एते प्रत्येक पञ्चधा भिद्यन्ते। तद्यथा—प्राणोदानव्यानसमानापानभेदैर्वायु। तत्र प्राणो मूर्धन्यवस्थित कण्ठोरश्चरो बुद्धीन्द्रियहृदयमनोधमनीधारणष्ठीवनक्षवथूद्गारप्रश्वासोच्छ्वासान्नप्रवेशादिक्रिय। उदान उरस्यवस्थित कण्ठनासिकानाभिचरो वाक्प्रवृत्तिप्रयत्नोर्जाबलवर्णस्रोत प्रीणनधीधृतिस्मृतिमनोबोधनादिक्रिय। व्यानो हृद्यवस्थित कृत्स्नदेहचर शीघ्रतरगति गति प्रसारणाकुञ्चनोत्क्षेपावक्षेपनिमिषोन्मेषजृम्भणान्नास्वादस्रोतोविशोधनस्वेदासृक्स्रावणादिक्रियो योनौ च शुक्रप्रतिपादनो बिभज्य चान्नस्य किट्टात्सार तेन क्रमशो धातूंस्तर्पयति। समानोऽन्तरग्निसमीपस्थस्तत्सन्धुक्षण पक्वामाशयदोषमलशुक्रार्तवाम्बुवह स्रोतोबिचारी तदवलम्बनान्नधारणपाचनविवेचनकिट्टाधोनयनादिक्रिय। अपानस्त्वपानस्थितो बस्तिश्रोणिमेढ्रवृषणवङ्क्षणोरुचरो विण्मूत्रशुक्रार्तवगर्भनिष्क्रमणादिक्रिय इति।

पञ्चात्मक वायु के स्थानविचरण और कार्य—वायु, पित्त और कफ इनमे प्रत्येक के पाच पाच भेद है। तदनुसार प्राण, उदान, व्यान, समान और अपान ये वायु के पाच भेद हैं। इनमें का प्रथम प्राणवायु मस्तक में स्थित रहता हुआ कण्ठ और उर (छाती) में विचरण करता है। बुद्धि-इन्द्रिय-हृदय-मन और धमनियोंका धारण करना, थूकना-छीकना-डकार लेना-श्वासोच्छ्वास-अन्नका शरीर मे प्रवेश करना ये इस (प्राणवायु) के कार्य हैं।

उदानवायु उर (छाती) मे रहता है और यह कण्ठ, नासिका और नाभिस्थान मे विचरण करता है, बोलने की प्रवृत्ति, प्रयत्न (सब कार्यों में उत्साह), तृप्ति, बल, वर्ण, स्रोतों का पोषण, बुद्धि, धारणाशक्ति और मन को समझना इसके कार्य हैं।

व्यानवायु हृदय में रहता और बडे वेग से समस्त शरीर में गमन करता है, गति (गमनागमन), प्रसारण (पसरना), आकुञ्चन (सिकोडना), ऊपर नीचे को फेंकना, आखे खोलना-बन्द करना, जम्भाई, अन्न का स्वाद, स्रोतों का विशोधन, पसीने-रक्त का स्राव आदि इसके कार्य है। इतना ही नही, योनि में शुक्र का पात, अन्न के किट्ट से सार को अलग करना और उससे क्रमश धातुओंका तर्पण ये भी इसके कार्य है।

समानवायु अन्तरग्नि पक्वाशय-आमाशय के बीच नाभि के वाम भाग में आध अंगुलपर स्थित अग्नि के पास रहता और उसको सुलगाता है। पक्वाशय, आमाशय, दोष, मल, शुक्र, आर्तव एव अम्बु (रस) के साथ विचरण करता है, स्रोतों में बिचरण कर उनमें अन्न का धारण, पाचन, विवेचन, किट्ट को नीचे की ओर लेना आदि इसके कार्य हैं।

अपानवायु अपान में (गुदा में कटि के अधोभाग में) स्थित रहता है और बस्ति (नाभि के अधोभाग) श्रोणी (कटि), मेढ्र (लिङ्ग), वृषण (अण्डकोष), वङ्क्षण ऊरुजानु के उपरिभाग) और उरस्थल में विचरता है। विट् (मल=पुरीष), मूत्र, वीर्य आर्तव तथा गर्भ को बाहर निकालना आदि इसके कार्य है। आदि ग्रहण से मलमूत्रादि को बाहर निकालने की तरह विड्ग्रहणादि भी अपानवायु के कार्य हैं।

---

१ रसो रुधिर २ शरीरमागारमिव ३ देह स्थेमानमानयन्त ४ मलत्वान्मला ५ स्वभावत्वाद् ६ सक्थि—वङ्क्षणाद्यङ्गुष्ठान्तम्। इति हेमाद्रि। ७ धातुग्रहण शक्तिस्वरूपप्रदर्शनार्थम्। अन्यथा अमूर्तान्मूर्तसभवो विरुद्ध इतीन्दु। ८ श्वासोच्छ्वास —मनोविबोधनादिक्रिय।

१ अन्तराग्ने स्थानमामाशयपक्वाशयोर्मध्य नाभेरर्धाङ्गुलमात्रेण वामे पार्श्वे। इतीन्दु। गुद स्त्वपान पायुर्ना बस्तिर्नाभेरधो द्वयो। इत्यमर। इन्दुस्तु-अपानस्तु प्राधान्येनापाने कटेरधस्तिष्ठतीति। "कटि श्रोणी ककुद्मती। सक्थिक्लीबे पुमानूरुस्तत्सन्धि पुसि वङ्क्षण।" इत्यमर। २ विण्मूत्रादिनिष्क्रमणक्रियश्च तन्निष्क्रमणे क्रिया प्रेरणमादिग्रहणेन विड्धारणादिपरिग्रह इतीन्दु।

पाचकरञ्जकसाधकालोचकभ्राजकत्वभेदैः पित्तम्। तत्र यदामाशयपक्वाशयमध्यस्थं पञ्चमहाभूतात्मकत्वेऽपि तेजोगुणोत्कर्षात् क्षपितसोमगुणं ततश्च त्यक्तद्रवस्वभाव सहकारिकारणैर्वायुक्लेदादिभिरनुग्रहाद्दहनपचनादिक्रियया लब्धाग्निशब्दं पित्तमन्नं पचति सारकिट्टौ विभजति शेषाणि च पित्तस्थानानि तत्रस्थमेवानुगृह्णाति तत्पाचकमित्युच्यते। आमाशयस्थं तु रसस्य रञ्जनाद्रञ्जकम्। हृदयस्थं बुद्धिमेधाभिमानोत्साहैरभिप्रेतार्थसाधनात्साधकम्। दृष्टिस्थं रूपालोचनादालोचकम्। त्वक्स्थं त्वचो भ्राजनाद्भ्राजकम्। तदभ्यङ्गपरिषेकालेपादीन् पाचयति छायाश्च प्रकाशयति।

पञ्चात्मक पित्त के नाम-स्थान-विचरण और कार्य—**पाचक, रञ्जक, साधक, आलोचक एव भ्राजक भेद से पित्त के भी पाच प्रकार हैं। जो आमाशय और पक्वाशय के बीच में रहता है, पञ्चमहाभूतात्मक होते हुए भी अग्निगुण के आधिक्य से जिसका सोमगुण क्षपित हो गया है तथा द्रवस्वभाव छूट गया है, पचनक्रिया मे वायुक्लेदादि सहकारी कारणों के अनुग्रह से जिसने दहनपचनक्रियाके कारण अग्नि शब्द को प्राप्त कर लिया है, वह पाचक पित्त है। अपने मुख्यस्थानपर रहकर शेष पित्तस्थानों पर भी अनुग्रह करना ये इसके कार्य हैं।**

रञ्जक पित्त का स्थान आमाशय है और रस धातु का रञ्जन (रक्तरूपेण) करना इसका कार्य है।

साधक पित्त का स्थान हृदय है। बुद्धि, मेधा (धारणशक्ति), अभिमान (अहंकार) और उत्साह द्वारा अभिप्रेत (मनोवाञ्छित) अर्थ का साधन करना ये इसके कार्य है।

आलोचक पित्तका स्थान दृष्टि (नेत्र) है और रूप का भलीभाति आलोचना (निरीक्षण) करना इसका कार्य है।

भ्राजक पित्त त्वचा में रहता है और अभ्यङ्ग, परिषेक, आलेपादिको पचाना, त्वचा और कान्ति को प्रकाश (प्रदीप्त) करना यह इस भ्राजक पित्त के कार्य हैं।

अवलम्बकक्लेदकबोधकतर्पकश्लेषकत्वभेदैः श्लेष्मा। स उरःस्थः[1] स्ववीर्येण त्रिकस्यान्नवीर्येण च सह हृदयस्य च शेषाणा च श्लेष्मस्थानाना तत्रस्थ एवोदककर्मणाऽवलम्बनादवलम्बक इत्युच्यते। आमाशयस्थितोऽन्नसघातस्य क्लेदनात्क्लेदकः। रसनस्थः सम्यग्रसबोधनाद्बोधकः। शिरस्थश्चक्षुरादीन्द्रियतर्पणात्तर्पकः। पर्वस्थोऽस्थिसन्धिश्लेषणात् श्लेषक इति।

पञ्चात्मक कफ के नाम, स्थान, विचरण और कार्य—**अवलम्बक, क्लेदक, बोधक, तर्पक और श्लेषक भेद से कफ भी पाच प्रकार का है। इनमे का पहला अवलम्बक कफ उर (छाती) मे रहता है। अपने वीर्य से त्रिक (पृष्ठवंशाधार) का अवलम्बन करता है। अपने वीर्य तथा अन्न के वीर्य से हृदय का अवलम्बन करता है। अपने स्थान में रहकर शेष कफ स्थानों (कण्ठादि) का उदककर्म (जल व्यापार) से अवलम्बन करने के कारण इसका नाम अवलम्बक कफ है। कुछ लोग त्रिक का अर्थ बाहु, ग्रीवा तथा अस्थियों का सघात मानते हैं किन्तु उन का यह मानना ठीक नहीं है, इसलिये कि त्रिक का अर्थ पृष्ठवंश का आधार ही है।**

क्लेदक कफ आमाशय में रहता है। अन्न सघात का क्लेदन करना इसका कार्य है।

बोधक कफ का स्थान रसना (जिह्वा) है और मधुरादि रसों का बोध कराना इसका कार्य है।

तर्पक कफ का स्थान सिर है और इन्द्रियों को तृप्ति प्रदान करना इसका कार्य है।

श्लेषक कफ पर्वो मे रहता है। अस्थियों की सधियों का श्लेषण (जोड़ना) इसका काम है।

इस प्रकार वात, पित्त और कफ इन तीनों के पाच पाच प्रकार, उनके स्थान एव कार्य का वर्णन करके अब आचार्य इनके चय, प्रकोप तथा शमन का कथन करते है।

एवममीषु स्थानेषु भूयिष्ठमविकृता सकलशरीरव्यापिनोऽपि वातपित्तश्लेष्माणो वर्तन्ते। तेषा वृद्धिहेतुर्वक्ष्यते निदानेषु। सामान्यतश्च[2] वृद्धिक्षयलक्षणमुक्त पूर्वाध्याये। वृद्धिर्हि द्वेधा चयप्रकोपभेदेन[3]। तत्रोष्णगुणोपहिता रूक्षादयो वायो सचयमापादयन्ति, शीतगुणोपहिता प्रकोपमुष्णगुणोपहिता स्निग्धादय प्रशमम्। शीतगुणोपहितास्तीक्ष्णादय पित्तस्य चयमुष्णगुणोपहिता कोप, शीतगुणोपहिता मन्दादय प्रशमम्। शीतगुणोपहिता स्निग्धादय. कफस्य चयमुष्णगुणोपहिता कोप तथा तु रूक्षादय प्रशमम्।

वातादि दोषो का सचय, प्रकोप और प्रशम—**इस प्रकार इन स्थानों में सकल शरीरव्यापी, अविकृत (अपनी साम्यावस्था मे) वात, पित्त और कफ रहते हैं। इनकी वृद्धि के कारण निदान (ज्वरनिदान) में आगे कहेंगे। सामान्यतया या सक्षेप से इनकी वृद्धि और क्षय के लक्षण पूर्वाध्याय मे कह चुके है। चय-प्रकोपभेद से वृद्धि दो प्रकार की है। उष्ण गुण से सयुक्त होकर रूक्षादि वायु के गुण वायु का सचय करते है, ये ही रूक्षादि गुण शीत गुण से मिलकर वायु के प्रकोप को करते है और उष्ण गुण से मिलकर स्निग्धादि गुण वायु का प्रशमन करते है। पित्त के तीक्ष्णादि गुण शीत गुण से मिलकर पित्त का चय करते हैं, उष्ण गुण से युक्त होकर पित्त का प्रकोप करते हैं तथा शीत गुण से मिलकर मन्दादि गुण पित्त का प्रशमन करते है। कफ के स्निग्धादि गुण शीत गुण से सयुक्त होकर कफ का सचय, उष्ण गुण से मिलकर कफ के प्रकोप और इसी प्रकार उष्ण गुण से मिलकर रूक्षादि गुण कफ का प्रशमन करते है।**

चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव प्रद्वेषो वृद्धिहेतुषु।
विपरीतगुणेच्छा च कोपस्तून्मार्गगामिता॥

१ पाचनादि २ अभिमानोऽहङ्कार इति साख्यकारिका।

१ केचित्तु बाहुग्रीवास्थित्रयसघात त्रिकमाहु। तदसत्। त्रिकशब्दस्य पृष्ठवंशाधार एव रूढत्वादिति हेमाद्रि। २ समासतश्च इत्यपि पाठ। ३ चयकोप इति पा०।

लिङ्गाना दर्शन स्वेषामस्वास्थ्य रोगसभव' ।
स्वस्थानस्थस्य समता विकारासभव शम ॥

चय, प्रकोप और शम के लक्षण—अपने ही स्थान मे रहते हुये दोष की वृद्धि का नाम चय है। दोष के चय होने से क्या लक्षण होते है सो कहते है। वात, पित्त एव कफ इनमें से जिस दोष का चय होता है तब उस दोष की वृद्धि करनेवाले कारणों मे द्वेष होता है और उससे विपरीत गुणवाले पदार्थों की इच्छा होती है। यहा टीकाकार शका करते हैं कि वृद्धि के हेतुओं मे प्रद्वेष ही से विपरीत गुणवाले द्रव्यों मे इच्छा का बोध हो जाता है। ऐसी अवस्था मे 'विपरीत गुणों मे इच्छा' यह लिखने की आवश्यकता ही क्या थी? इसका समाधान यह है कि–कभी कभी वृद्धि के हेतुओं मे भी इच्छा होती है जैसे कि दौहृद के समय–स्त्री को कभी वृद्धि के हेतुओं मे भी इच्छा हो जाती है। इस लिए विपरीत गुणेच्छा लिखना व्यर्थ नहीं है। सचय होने पर दोष अपने स्थान को छोड अन्य स्थान में चला जाता है, तब इसे दोष का प्रकोप कहते हैं। दोष प्रकोप के समय जिस दोष का प्रकोप होता है, उस दोष के लक्षणों का दिखाई देना, अस्वास्थ्य और रोग की उत्पत्ति ये लक्षण होते है। यहा भी शका की जाती है कि "लिङ्गाना दर्शन स्वेषामस्वास्थ रोगसम्भव" इन तीनों के बताने की क्या आवश्यकता थी जब कि इनमे से किसी एक ही बात के कहने से काम चल जाता है। इसके समाधान में कहते हैं कि–नही, किसी एक ही बात के कहने से दोष प्रकोप का बोध नही होता जैसे कि कामला में पित्त के लक्षण दिखने पर भी पित्त प्रकोप का बोध नहीं होता। मन के सताप से भी अस्वास्थ्य हो सकता है, उससे दोष प्रकोप का पता नहीं लगता। रोगसभव आगन्तु कारण से भी होता है, उससे दोष प्रकोप का पता नहीं लगता अत दोषप्रकोप तभी जाना जाता है जब कि दोष के लक्षण, अस्वास्थ्य और रोग का सभव ये तीनों बातें साथ होती है। इसी आवश्यकता के कारण ये तीनों बातें लिखी गई है। शम उस अवस्था का नाम है जब कि चय और वृद्धि से रहित दोष अपनी साम्यावस्था में अपने स्थान मे रहते है उस समय किसी प्रकार का विकार (रोग) भी उत्पन्न नही होता।

१ द्रष्टव्यो हृदयेऽस्योपर्यरुणदत्तकृतसर्वाङ्गसु दरा टीकाग्रन्थ।

२ ननु 'लिङ्गाना दर्शन स्वेषाम्,' 'अस्वास्थ्य, 'रोगसभव' इति किं त्रितयमुद्दिष्टम्? एकेनैव दोषकोपावगमादेकमेवोपदेष्टु युक्तम्। नैवम्। व्यभिचारदर्शनात्। तथा हि वक्ष्यति पाण्डुरोगचिकित्सिते 'रूक्षशीतगुरुस्वादुव्यायामबलनिग्रहै। कफसमूर्च्छितो वायुर्यदा पित्त बहि क्षिपेत्॥' इत्यारभ्य यावत् 'पित्ते शाखासमाश्रिते।' इति। तदेवमेष कामलाख्यो रोग पित्तलिङ्गदर्शनादपि न पित्तस्य कोपमनुप्रयाति। अत एव पित्तप्रकोपकर भृशाम्लतीक्ष्णकटुकादि चिकित्सितमत्र निर्दिष्टम्। अस्वास्थ्यमित्येतदपि न दोषकोपस्य निश्चित लिङ्गम्। तथा हि मानसेनापि भयशोकादिनाऽस्वास्थ्य दृश्यते। तथा, आगन्तवोऽपि रोगा दोषकोपमन्तरेणैवोत्पद्यमाना दृश्यन्ते। तस्माद्रोगसभवादपि दोषकोपोऽयमनिश्चित। तदेव लक्षणत्रितयेनैवानेन दोषकोपो निश्चेतु शक्यत इति त्रितयमप्येतदुक्तमिति त्यरुणदत्त।

देहे क्रुद्धोऽनिलवशात्कृत्स्नेऽर्धेऽवयवेऽपि वा ।
दोषो विकार कुरुते खे वर्षमिव तोयद ॥

प्रकुपित दोष से शरीर में चाहे जहा रोगोत्पत्ति—प्रकुपित हुआ दोष वायु के बल को पाकर सारे शरीर में, आधे अङ्ग में एव किसी भी एक अवयव मे रोग को उत्पन्न करता है जैसे कि आकाशस्थित मेघ वायु द्वारा जहा ले जाया जाता है, वही जाकर वर्षा करता है।

अथ प्रकुपिता वातादयो नानाविधैर्विकारै शरीरमुपतपन्ति। आविष्कृततमास्तु वायोरशीतिर्विकाराश्च त्वारिंशत्पित्तस्य विंशति' श्लेष्मण। तत्र वातविकारास्तद्यथा—नखभेदो विपादिका पादशूल पादभ्रश सुप्तपादता वातखुडता गुल्फग्रह पिण्डिकोद्वेष्टन गृध्रसी जानुभेदो जानुविश्लेष ऊरुसाद ऊरुस्तम्भ पङ्गुत्व गुदभ्रशो गुदार्तिर्वृषणाक्षेपो मेढ्रस्तम्भो वङ्क्षणानाह श्रोणिभेदो विड्भेद उदावर्त खञ्जत्व कुब्जत्व वामनत्व त्रिकग्रह पृष्ठग्रह पार्श्वावमर्द उदरावेष्टो हृन्मोहो हृद्द्रवो वक्षोद्धर्षस्तथा वक्षोपरोधो वक्षस्तोदो बाहुशोषस्तथा ग्रीवास्तम्भो मन्यास्तम्भ कण्ठोद्ध्वसो हनुस्तम्भस्ताल्वोष्ठभेदो दन्तभेदो दन्तशैथिल्य मूकत्व वाक्सङ्ग प्रलाप कषायास्यता मुखशोषो रसाज्ञत्व घ्राणनाश कर्णशूलमशब्दश्रुतिरुच्चै श्रुतिर्बाधिर्य वर्त्मस्तम्भो वर्त्मसकोचस्तिमिरमक्षिशूलमक्षिव्युदासो भ्रूव्युदास शखभेदो ललाटभेद शिरोरुक् केशभूमिस्फुटनमर्दितमेकाङ्गरोग सर्वाङ्गरोग आक्षेपको दण्डक श्रमो भ्रमो वेपथुर्जृम्भा ग्लानिर्विषादो रौक्ष्य पारुष्य श्यावारुणाभासत्वम स्वप्नोऽनवस्थितचित्तता च।

प्रकुपित दोषा का अनेक-रोगकर्तृत्व—ये वातादि (वात-पित्त-कफ) दोष प्रकुपित होने पर नाना प्रकार के रोगों से शरीर को सतप्त करके कष्ट देते है। उन रोगों में से आज तक जितने विकार प्रगट हुए है, उनमे वायु के ८० पित्त के २० और कफ के ४० विकार है वे इस प्रकार है।

वायु के ८० विकार—(१) नखभेद–नखों का फटना, (२) विपादिका–बेवाई फटना, (३) पादशूल–पगों की पीडा, (४) पादभ्रश, (५) सुप्तपादता–पगों में स्पर्श ज्ञान न होना, (६) वातखुडता–पग और जघा की सधि मे पीडा, (७) गुल्फग्रह–गुल्फों–गिरियों का जकड़ जाना, (८) पिण्डिकोद्वेष्टन–पिण्डलियों में बायटें आना, (९) गृध्रसी–Sciatica कटि से पगों तक पीड़ा, (१०) जानुभेद–गोडों मे भेदन की तरह पीड़ा, (११) जानुविश्लेष–गोडों का ढीला होना, (१२) ऊरुस्तम्भ, (१३) ऊरुसाद ऊरु की शिथिलता, (१४) पङ्गु

१ वातखुड्डता इति चरक २ वृषणोत्क्षेप इति चरक। ३ मूलमुद्रितपुस्तके तथेन्दुटीकाग्रन्थे सति समानपाठेऽपि मूलग्रन्थप्रकाशकास्तत्रैशास्त्रिमहाभागा पादटिप्पण्या लिखन्ति वक्षोद्धर्षादिस्थानेषु चक्षूद्धर्षश्चक्षूपरोधश्चक्षुस्तोद इति हेमाद्रौ पाठ इति किन्तु मुद्रितायुर्वेदरसायने समुद्धृताष्टाङ्गसग्रहपाठेऽस्मिन्नपि नास्त्यय पाठ।

त्व-पंगुला होना, (१५) गुदभ्रंश-कांच का गुदा से बाहर आना, (१६) गुदार्ति-गुदा में पीडा, (१७) वृषणाक्षेप-अण्डकोष का ऊपर चढ़ना, (१८) मेढ्रस्तम्भ-लिंगेन्द्रिय की जड़ता, (१९) वङ्क्षणानाह-कटि और ऊरु की सन्धियों का फूलना, (२०) श्रोणिभेद-कमर में पीडा, (२१) विड्भेद-मल का फूटना, (२२) उदावर्त, (२३) खञ्जत्व-लंगड़ा होना, (२४) कुब्जत्व-कुबड़ा होना, (२५) वामनत्व-बौना होना, (२६) त्रिकग्रह-त्रिक का जकड़ जाना, (२७) पृष्ठग्रह-पीठ का जकड़ना, (२८) पार्श्वविमर्द-पसवाड़े दुखना, (२९) उदरावेष्ट-पेट में आटे पड़ना, (३०) हृन्मोह-दिल या हार्ट का धड़-धड़ करना Heart Faicure, (३१) हृदयद्रव-हृदय का अधिक उछलना Palpitation, (३२) वक्षोद्धर्ष-छाती में घर्षणवत् पीड़ा, (३३) वक्षोपरोध-छाती का रुका हुआ सा प्रतीत होना, (३४) वक्षस्तोद-छाती या फेफड़ों में टोंचने की सी पीड़ा, (३५) बाहुशोष-बाहु का सूख कर पतला पड़ना, (३६) ग्रीवास्तम्भ-ग्रीवा का जकड़ना, (३७) मन्यास्तम्भ-ग्रीवा या गर्दन के पिछले भाग का जकड़ जाना, (३८) कण्ठध्वंस-स्वरभेद, (३९) हनुस्तम्भ-ठोडी का जकड़ना, (४०) तालुभेद-तालु में भेदनवत् पीडा या तालु का फटना, (४१) ओष्ठभेद-होठों का फटना, (४२) दन्तभेद-दांतों का टूटना, (४३) दन्तशैथिल्य-दांतों का हिलना, (४४) मूकत्व-गूंगा होना, (४५) वाक्सङ्ग-जीभ का जाड़ा पड़ना, (४६) प्रलाप-बकवाद करना, (४७) कषायास्यता-मुंह का कसैला रहना, (४८) मुखशोष-मुँह का सूखना, (४९) रसाज्ञत्व-किसी रस का ज्ञान न होना, (५०) घ्राणनाश-सुगन्धि दुर्गन्धिका ज्ञान न होना (५१) कर्णशूल-कान में पीड़ा, (५२) अशब्दश्रुति-बिना शब्द के सुनाई देना, (५३) उच्चैःश्रुति-ऊंचा सुनना, खूब जोर से कहने पर सुनना, (५४) बाधिर्य-बहरापन, (५५) वर्त्मस्तम्भ-नेत्र की पलकें बन्द होना, (५६) वर्त्मसंकोच-नेत्र की पलकों को न खोल सकना, (५७) तिमिर-अन्धियारी का सामने आना, (५८) अक्षिशूल-नेत्रों में पीड़ा, (५९) अक्षिव्युदास-आंखें चढ़ी रहना, (६०) भ्रूव्युदास-भौहें चढ़ी रहना, (६१) शंखभेद-कनपटियों में शूल, (६२) ललाटभेद-माथा दुखना, (६३) शिरोरुक्-सिर में पीड़ा, (६४) केशभूमिस्फुटन-केशों की जगह फोडे-फुन्सी होना, (६५) अर्दित-मुँह टेढ़ा हो जाना, (६६) एकाङ्गरोग-पक्षाघात या लकवा, (६७) सर्वाङ्गरोग-दोनों बाजुओं का या पक्षों का वात, सब शरीर में पीड़ा, (६८) आक्षेपक-झटके आना एक प्रबल वातरोग, (६९) दण्डक-दण्ड की तरह गिर पड़ना, (७०) श्रम-थकावट, (७१) भ्रम-चक्कर आना, (७२) वेपथु-कम्प, (७३) जृम्भा-जम्भाई का आना, (७४) ग्लानि, (७५) विषाद-अप्रसन्न रहना, (७६) रौक्ष्य-देह का रूखा रहना, (७७) पारुष्य-कठोरता, (७८) श्यावारुणावभासत्व-शरीर में कालापन-ललाई दिख दिखाई देना, (७९) अस्वप्न नींद का न आना और (८०) अनवस्थितचित्तता-चित्त या मनका स्थिर न रहना। ये वायु के अनन्त विकारों में ८० विकार भली भांति संसार में प्रगट हैं।

पित्तविकारास्तु पुनरोष प्लोषो दवो दवथुर्विदाहोऽन्तर्दाहस्त्वग्दाहोऽसदाहो धूमकोऽम्लक ऊष्माधिक्यमतिस्वेदोऽङ्गगन्धोऽवयवसदन शोणितक्लेदो मासक्लेदस्त्वङ्मासदरण[1] चर्मदरण रक्तकोठो रक्तविस्फोटो रक्तमण्डलानि रक्तपित्त हरितत्व हारिद्रत्व नीलिका कक्ष्या कामला तिक्तास्यता लोहितगन्धास्यता पूतिमुखत्व तृष्णाधिक्यमतृप्तिरास्यपाको गलपाकोऽक्षिपाक पायुपाको मेढ्रपाको जीवादान तम प्रवेशो हरितहारिद्रनेत्रमूत्रशकृत्त्व च।

पित्त के ४० विकार—(१) ओष-पास में रखी हुई अग्नि के दाह की तरह दाह, (२) प्लोष-किसी अङ्ग में दाह, (३) दव-सर्वाङ्गीण दाह, (४) दवथु-चक्षु आदि इन्द्रियों में जलन, (५) विदाह-सर्वाङ्ग में विविध प्रकार का दाह, (६) अन्तर्दाह-कोठे के अन्दर दाह, (७) त्वग्दाह-त्वचा में जलन, (८) असदाह-कन्धों की जलन, (९) धूमक-सिर-नाक-कान-कण्ठ-नेत्रोंमें धुँवाँसा उठना, (१०) अम्लक-पेटसे खट्टी डकारों का आना, (११) ऊष्माधिक्य-अधिक गरमी का अनुभव होना, (१२) अतिस्वेद-पसीने की अधिकता, (१३) अङ्गगन्ध-देहका बासना, (१४) अवयवसाद-अङ्गोपाङ्ग का ढीला होना, (१५) रक्तक्लेद-रक्तका कालापन या रक्त का पतला होना, (१६) मासक्लेद-मासका काला दुर्गन्धित होना, (१७) त्वग्मासदरण-त्वचा और मास का फटना, (१८) चर्मदरण-त्वचाओंका फूटना, (१९) रक्तकोठ-लाल लाल चकत्ते पडना, (२०) रक्तविस्फोट-लाल रंग के फोडे होना, (२१) रक्तमण्डल-लाल मण्डलाकार चकत्ते होना, (२२) रक्तपित्त-रक्तपित्त नामक प्रसिद्ध रोग, (२३) हरितत्व-शरीर पर हरी झाई पड़ना या पेट की सिराओं का हरा पड़ना, (२४) हारिद्रत्व-शरीर का रंग हल्दी के समान पीला पड़ जाना, (२५) नीलिका-रोगविशेष, (२६) कक्ष्या-कांख में 'कांखोलाई' नामक फोडे का होना, (२७) कामला-पित्तजन्य रोगविशेष, (२८) तिक्तास्यता-मुँह का कडुवा रहना, (२९) लोहितगन्धास्यता-मुँह में रक्त की सी गन्धका आना, (३०) पूतिमुख-मुँह का सड़ना या बासना, (३१) तृष्णाधिक्य-प्यास का बहुत लगना, (३२) अतृप्ति-भोजनादिसे तृप्ति न होना, (३३) आस्यपाक-मुख का पकना, (३४) गलपाक-गले में छाले पड़ना, (३५) अक्षिपाक-नेत्रों का पकना, (३६) पायुपाक-गुदा का पकना, (३७) मेढ्रपाक-लिङ्गेन्द्रिय या भग का पकना, (३८) जीवादान-रक्त का शरीर से निकलना, (३९) तम प्रवेश-अन्धकार में प्रविष्ट हुआ सा प्रतीत होना, (४०) हरितहारिद्रनेत्रमूत्रशकृत्त्व-नेत्र, मूत्र और विष्ठा का हरा-पीला होना। इस प्रकार ये ४० विकार पित्त के हैं।

श्लेष्मविकारास्तु तृप्तिस्तन्द्रा निद्राधिक्य स्तैमित्य गुरुगात्रताऽऽलस्य मुखमाधुर्य प्रसेक श्लेष्मोद्गिरण मलाधिक्य बलासो हृदयोपलेप कण्ठोपलेपो धमनीप्रतिचयो गलगण्डोऽतिस्थौल्य शीताग्नित्वमुदर्द श्वेतावभासता श्वेतनेत्रमूत्रशकृत्त्व च।

[1] मासावदरणम् इति पा०।

कफ के २० विकार—(१) तृप्ति, (२) तन्द्रा, (३) निद्राधिक्य, (४) स्तैमित्य, (५) गुरुगात्रता, (६) आलस्य, (७) मुखमाधुर्य, (८) प्रसेक, (९) श्लेष्मोद्गिरण, (१०) मलाधिक्य, (११) बलाप्त, (१२) हृदयोपलेप, (१३) कण्ठोपलेप, (१४) धमनीप्रतिचय, (१५) गलगण्ड, (१६) अतिस्थौल्य, (१७) शीताग्नित्व, (१८) उदर्द, (१९) श्वेतावभासता और (२०) श्वेत नेत्रमूत्र शकृत्त्व ये कफ के अनेक विकारों में से आविष्कृततम (भली भांति प्राकट्य में आए हुए) २० विकार हैं।

उपर्युक्त वात के ८०, पित्त के ४० और कफ के २० विकारों के भिन्न भिन्न नाम दिए हैं। इनमें से वायुकृत महाविकारों को छोड़ कुछ विकारों का अभिप्राय वर्णन करते है यथा—

तत्र सर्वाङ्गीणस्तीव्रो दाह स्वेदारतिमानोष। प्रादेशिक स्वेदरहितोऽग्न्यर्चिषेव दाह प्लोष। मुखोष्ठतालुषु दाहो दव। चक्षुरादीन्द्रियेषु दाहो दवथु। पाणिपादासमूलेषु विविध सतापो विदाह। कोष्ठे दाहोऽन्तर्दाह। शिरोग्रीवाकण्ठतालुषु धूमायन धूमक। सान्तर्दाहहृदयशूलोद्गारोऽम्लक। शोणितस्य कृष्णता-दौर्गन्ध्यतनुत्वानि क्लेद। मासस्य तु कृष्णता दौर्गन्ध्य च। बाह्यत्वक्सहतिश्चर्म। कोष्ठगौरवादाहारास्पृहा तृप्ति। अन्ये पुनराहु। अन्नानभिनन्दना तृप्तिरिव तृप्तिररोचक। निद्रार्त्तस्येव विषयाग्रहण तन्द्रा। स्तैमित्य तु प्रमीलक इत्यन्यै पठितम्। उपलेप। तदतिशय प्रतिचयोऽतिपूरणम्। अग्नेरतिमन्दता शैत्यम्। उरोऽभिष्यन्द उदर्द। केषाचिच्छीतवेपथुरुदर्द। अन्ये पुनराहु। शीतपानीयसस्पर्शाच्छीतकाले विशेषत। सरागकण्डू शोफ स्यादुदर्द स कफोद्भव-इति। महाविकारास्तु यथास्वमेवोपदेक्ष्यन्ते। क्षुद्रविकारा पुनर्यदेवाङ्गमाविशन्ति तदुपपदमेव नाम लभन्ते। यथा—नखशङ्खललाटभेदा। सान्तर्दाहकण्ठहृदयोपलेपादयस्तेषा हि तथैव स्वरूपमुपदिष्ट भवति। सर्वेषु तेषु तेष्वनुक्तेषु चान्येष्वसख्येयत्वाद्विकारेष्विमान्येव दोषाणामात्मलिङ्गानि सकलशरीर-व्यापीन्यव्यभिचारीणि च। तथा तत्कर्माण्युपक्रमश्च। तत्रात्मलिङ्गान्यायुष्कामीये निर्दिष्टानि।

ओषप्लोषादिका भावार्थ—'ओष उस सर्वाङ्गीण तीव्र दाह का नाम है जिसमे स्वेद और अरति (बेकली) रहती है। प्लोष' उस प्रादेशिक दाहको कहते हैं जिसमे पसीना नहीं होता किन्तु अग्निज्वाका की तरह दाह प्रतीत होता है। दव उस दाहको कहते है, जो मुख, होंठ और तालु में होता है। कोष्ठ अर्थात् पेट आदि के दाह को अन्तदाह कहते हैं। धूमक उसे कहते है जो सिर, ग्रीवा, कण्ठ और तालु में धुंवा सा उठता है। अन्तर्दाहसहित हृदय मे शूल और डकार का नाम अम्लक हैं। शोणितक्लेद वह है जिसमे रक्त पतला, काला और दुर्गन्धयुक्त होता है। मासक्लेद मास की कृष्णता तथा दुर्गन्धताको कहते हैं। बहिर्भाग में त्वचासहति (त्वचाकोथ) का नाम चर्मदरण है। कोष्ठ या पेट के भारीपन से आहार की इच्छा का न होना तृप्ति है किन्तु कुछ लोग कहते है कि अन्न की इच्छा न होवे और तृप्ति (पेट भरा सा) प्रतीत होवे उसे तृप्ति या अरोचक कहते है। नीद मे जैसे किसी विषय का ग्रहण नेत्र नहीं कर सकते, ठीक इसी प्रकार विषय के न ग्रहण करने का नाम तन्द्रा है। स्तैमित्य को लोग प्रमीलक भी कहते हैं। जैसे पिष्टका लेप ऊपर कर दिया गया है, ऐसी प्रतीति कण्ठ में होने से कण्ठोपलेप और हृदय में होने से उसे हृदयोपलेप कहते है। धमनियों में अतिचय या अतिपूरण का भास होने के कारण उसे धमनीप्रतिचय कहते है। अग्नि के अतिमन्द हो जानेका नाम शीताग्नित्व है। छाती के अभिष्यन्द को उदर्द कहते हैं परन्तु कई लोगों के मत मे शीत और कम्प का नाम उदर्द है और कुछ लोगों का कथन तो यह है कि—ठण्डे जल के स्पर्श से विशेषत शीतकाल मे ललाई लिए शोथ एव कण्डु (खाज) का नाम उदर्द है जो कि कफ से होता है। महाविकार (गुल्म, ज्वर आदि) यथास्व (यथास्थान) कहे जाँयगे। क्षुद्रविकार जिस जिस अङ्ग मे होते है वे उस अङ्ग के नाम के उपपद से जान लेने चाहिए जैसे कि नख-भेद, शखभेद, ललाटभेद, कक्ष्या आदि। अन्तर्दाह-सहित कण्ठलेप, हृदयोपलेपादिको भी उनके स्वरूप से जान लेना चाहिए। विकार अनन्त है इसलिए वे सब नहीं कहे गये है उनको वात, पित्त और कफ के अपने लक्षणों से सर्वशरीर में पहिचानने चाहिए। उन उन वातादि दोषों के आत्मलिङ्गों का व्यभिचरण नहीं होता। साराश, यह कि वातजन्यविकार में रूक्षादि लिङ्ग होते हैं, ऐसे ही पित्त और कफके लक्षणोंसे विकार का परीक्षण करके उनके कर्मों को जानना और उनकी चिकित्सा करनी चाहिए। इन वातादि दोषोंके आत्मलिङ्ग (लक्षण) आयुष्कामीय नामक अध्यायमे बताए गए हैं।

अब क्रमश वायु, पित्त और कफके कर्मों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

कर्माणि तु वायो स्रसव्याससङ्गसादभेदतोदहर्ष-तर्षवर्त्ताङ्गमर्दकम्पव्यथवेष्टभङ्गशूलशोषस्वापपारुष्यसौषिर्यसंकोचस्पन्दनानि कषाय-रसत्व श्यावारुण-वर्णता च। पित्तस्य दाहोष्मपाकस्वेदक्लेदकोथस्रावरागा कटवम्लरसत्व शुक्लारुणवर्ज्यवर्णता च। श्लेष्मण कण्डूस्थैर्यगौरवोपदेहस्नेहशैत्यबन्धचिरकारित्वानि मधुरल-वणरसत्व श्वेतवर्णता चेति।

वायु के कर्म—स्रस-बाहु आदि की सन्धियों का भ्रश, व्यास-शारीरिक भावों को फैलाना, सङ्ग-जिनकी स्थिति भिन्न भिन्न स्थानों में है, उन्हें एकत्र कर देना, साद-अगसादाग्नि सादादि, भेद-स्वरभेदादि, तोद-पीडा टोंचनेकी सी, हर्ष-दन्तहर्षरोमहर्षादि, तर्ष तृष्णादि, वर्त्त-कठिन बनाना या व्यवहार, अङ्गमर्द, कम्प, व्यथ-व्यथा, वेष्ट-पिण्डिकोद्वेष्ट आदि, भङ्ग-स्वरभङ्गादि, शूल-शिर शूल-उदरशूल-कर्णशूलादि,

१ स्रस बाह्वादिसन्धिभ्रश व्यास-शारीराणाभवाना व्यायतत्त्वम्, सङ्गो-नैकत्रस्थितानामेकत्र सघटनम्। इतीन्दु।

२ वर्त्त-काठिन्यापादनम्, अन्यत्र वर्तो व्यवहार इतीन्दु।

शोष-बाहुशोषादि, स्वाप-त्वक्स्वापादि, पारुष्य-त्वक्पारुष्य, वाक्पारुष्यादि। सौषिर्य-छिद्रीकरण, सकोच-सिरासकोच, त्वक्सकोच आदि। स्पन्दन-नेत्र-भुजादि अङ्गों का फडकना ये वायु के कर्म हैं तथा वायु मे कषायरसत्व (अन्य रसों में भी कषायत्व लाना और श्यावारुणवर्णता-कृष्णतायुत ललाई) है।

पित्त के कर्म—दाह, उष्णता, पाक (पकाना), स्वेद (पसीना लाना), क्लेद-पिघलाना, कोथ-सडाना, स्राव और राग-नाना प्रकार के रङ्ग, कटु-अम्लरसत्व तथा श्वेतरक्तवर्ण को छोडकर अन्य सब वर्णों को प्रगट करना ये पित्त के कार्य या कर्म हैं।

कफ के कर्म—कण्डू, स्थैर्य, गौरव-भारीपन, उपदेह-लेपन, स्नेह-चिकनाई, शैत्य-शीतता, बध-जोडना, बाधना, चिरकारित्व-विलम्ब से पकना, मधुर-लवणरसत्व और श्वेतवर्णता ये कफ के कर्म है।

कपिलबलस्त्वेषा[1] स्वलक्षणानि रसतो निर्दिदेश।
कट्वम्ललवण पित्त स्वाद्वम्ललवण कफ।
कषायतिक्तकटुको वायुर्दृष्टोऽनुमानत[2] ॥
सुश्रुत पुन पठति। पित्त विदग्धमम्लतामुपैति। श्लेष्मा लवणताम्[3]। तदेवमेतानि वाय्वादिरूपकर्माण्यवहित सम्यगुपलक्षयेदागमप्रत्यक्षानुमानै। अनन्तर च देशकालमात्रादीन्[4] प्रमाणीकृत्याशवेवोपक्रमेतेति।

दोषों के आत्मलिङ्गविषयमें कपिलबलि और सुश्रुतका मतभेद—आचार्य कपिलबलि तो इन (वात, पित्त और कफ) के लक्षणों को रसभेद से बताते हुए कहते है कि पित्त कटु, अम्ल और लवण रूप से तथा कफ मधुर, अम्ल एव लवण रूप से तथैव वायु कषाय, तिक्त और कटु रूप से देखा गया है।

विशेष वक्तव्य—यहा शङ्का होती है कि वायु तो अमूर्त (अदृश्य) है, फिर वह कैसे देखा गया? इसके समाधान में कहा गया है कि अनुमान से।

सुश्रुत कहता है कि पित्त का लक्षण विदग्धावस्था मे (न कि सदैव) अम्लता तथा कफ का लवणता होता है। इस लिए इन वायु आदि के रूप और कर्म आगम (आप्त), प्रत्यक्ष तथा अनुमानप्रमाणों द्वारा सावधानतया भली भाति जान लेवे और इसके अनन्तर देश, काल, मात्रा आदि (बल, आहार, सात्म्य, सत्त्वादि) का विचार कर के शीघ्र ही इनकी चिकित्सा करे।

भवन्ति चात्र—
वक्ष्यन्तेऽत. पर दोषा वृद्धिक्षयविभेदत'।
पृथक् त्रीन्विद्धि ससर्गस्त्रिधा तत्र तु तान्नव ॥
त्रीनेव समया वृद्धया षडेकस्यातिशायने।
त्रयोदश समस्तेषु षड् द्वयेकातिशयेन तु ॥
एक तुल्याधिकै षट् च तारतम्यविकल्पनात्।

पञ्चविंशतिरित्येव वृद्धै क्षीणैश्च तावत ॥
एकैकवृद्धिसमताक्षयै षट् ते पुनश्च षट्।
एकक्षयद्वन्द्ववृद्धया सविपर्ययया पि ते ॥
भेदा द्विषष्टिर्निर्दिष्टास्त्रिषष्टि स्वास्थ्यकारणम्।
रोगयवस्थासु युगपद् वृद्धिसाम्यक्षयानुगम् ॥
षट्क हि दुर्बोधतर विकारैरुपदेक्ष्यते ॥

वृद्धि और क्षय से वातादि के भेद—अब वृद्धि-क्षय-भेद से वातादि दोषों का वर्णन करते है जैसे कि पृथक् वृद्धि से तीन भेद होते हैं यथा-वातवृद्ध पित्तकफसम १, पित्तवृद्ध कफवात सम २, कफवृद्ध वातपित्तसम ३, ये एक की वृद्धि से ३ भेद हुए। अब दो दो की वृद्धि से ३ यथा वातपित्तवृद्ध कफसम १, वातकफवृद्ध पित्तसम २, पित्तकफवृद्ध वातसम ३, इन्ही तीन सयोगों में एक की अपेक्षा दूसरे की अधिक वृद्धि करने से ३ भेद होते है यथा-वातवृद्ध पित्तवृद्धतर कफसम १, पित्तवृद्ध कफवृद्धतर वातसम २, कफवृद्ध वातवृद्धतर पित्तसम ३, इस प्रकार ये ९ भेद हुए। तीन में दो को वृद्धतर और एक को वृद्ध मानने से ३ भेद और हो जाते है यथा—वातपित्तवृद्धतर कफवृद्ध १, पित्तकफवृद्धतर वातवृद्ध २, वातकफवृद्धतर पित्तवृद्ध ३, इसी तरह वात, पित्त तथा कफ ये तीनों वृद्ध होकर १ भेद। ऐसे कुल १३ भेद होते है। तेरह प्रकार के सन्निपात दोषों की इसी सम-तर-तम-कल्पना से सिद्ध होते हैं। इस तरह दोषों की वृद्धि से अर्थात् पृथक् ३, ससर्ग ९ और १ सन्निपातों को मिलाने से २५ भेद होते हैं। इस वृद्धि भेद की तरह २५ भेद क्षीण-भेद से होते है जैसे कि १ वातक्षीण, २ पित्तक्षीण, ३ कफक्षीण, ४ वातपित्तक्षीण, ५ वातकफक्षीण, ६ पित्तककफक्षीण, ७ वातक्षीण पित्तक्षीणतर, ८ पित्तक्षीण, वातक्षीणतर, ९ कफक्षीण पित्तक्षीणतर, १० पित्त क्षीण कफक्षीणतर, ११ कफक्षीण वातक्षीणतर, १२ वातक्षीण कफक्षीणतर, १३ कफक्षीण वातपित्तक्षीणतर, १४ पित्तक्षीण वातकफक्षीणतर, १५ वातक्षीण पित्तकफक्षीणतर, १६ पित्त-कफक्षीण वात अतिक्षीण, १७ वातकफक्षीण पित्तअतिक्षीण, १८ वातपित्तक्षीण कफअतिक्षीण, १९ वातपित्तकफक्षीण, २० वातक्षीण पित्तक्षीणतर कफक्षीणतम, २१ वातक्षीण पित्त क्षीणतर पित्तक्षीणतम, २२ पित्तक्षीण कफक्षीणतर वायुक्षीण-तम, २३ पित्तक्षीण वातक्षीणतर कफक्षीणतम, २४ कफक्षीण वातक्षीणतर पित्तक्षीणतम, २५ कफक्षीण पित्तक्षीणतर वात क्षीणतम। पूर्वोक्त २५ वृद्धि के और ये २५ क्षीण के मिलने से ५० हुए। उक्त तीनों दोषों में एक को वृद्ध, एक को क्षय और एक को सम मानने से ६ भेद होते हैं जैसे कि १ वातवृद्ध पित्तसम कफक्षीण, २ पित्तवृद्ध वातसम कफक्षीण, ३ कफवृद्ध पित्तसम वातक्षीण, ४ कफवृद्ध वातसम पित्तक्षीण, ५ वातवृद्ध कफसम पित्तक्षीण, ६ पित्तवृद्धकफसम वातक्षीण। पुनरपि एकक्षय दो की वृद्धि तथा दो के क्षय और एक की वृद्धि से ६ भेद होते हैं जैसे कि १ वातक्षीण कफपित्तवृद्ध, २ पित्तक्षीण वातकफवृद्ध, ३ कफक्षीण वातपित्तवृद्ध, ४ वातपित्तक्षीण कफ वृद्ध, ५ वातकफक्षीण पित्तवृद्ध, ६ पित्तकफक्षीण वातवृद्ध। इन १२ भेदों को पूर्वोक्त ५० भेदों में मिलाने से कुल ६२ भेद हुए। तिरसठवाँ भेद साम्यावस्था का होने से स्वास्थ्य का

१ कपिलस्त्वेषा इति पा०।

२ ननु वायोरमूर्तत्वान्मूर्तधर्मानुगम कथ ज्ञायत इत्याह दृष्टोऽनुमानत इति। ३ येय पित्तस्याम्लता श्लेष्मणश्च लवणता या सा विदाहावस्थायामेव न तु सततमित्यादीन्दु। ४ आदिग्रहणेन बलाहारसात्म्यसत्त्वादिपरिग्रह। एतानप्यवेक्ष्येत्यर्थ इतीन्दु।

कारण कहा गया है। रोगी की अवस्थाओं में एक दम वृद्धि, साम्य तथा क्षय का अनुगामी षट्क बड़ा दुर्बोध है, वह रोगों के वर्णन मे अब कहते हैं। यथा—

प्रकृतिस्थ यदा पित्त वृद्धो वायु कफक्षये ।
स्थानादादाय गात्रेयु यत्र यत्र विसर्पति ॥
तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थितौ ।
गात्रोद्देशे तथा स्यातां बलहानिपरिश्रमौ ॥
प्रकृतिस्थ कफ क्षीणे पित्ते वायुर्यदा बली ।
कर्षेत्कुर्यात्तदा शूल सशैत्यस्तम्भगौरवम् ॥
प्रकृतिस्थ यदा वात पित्त वृद्ध कफक्षये ।
सरुणद्धि तदा दाह' शूल चास्योपजायते ॥
प्रकृतिस्थ कफ वृद्ध पित्त वायुक्षये यदा ।
सन्निरुद्ध्यात्तदा कुर्यात्सतन्द्रागौरव ज्वरम् ॥
प्रकृतिस्थ यदा बायु वृद्ध पित्तक्षये कफ ।
सन्निरुद्ध्यात्तदा कुर्याच्छीतक गौरव रुजम् ॥
प्रकृतिस्थ यदा पित्त वृद्ध श्लेष्माऽनिलक्षये ।
सन्निरुद्ध्यात्तदा कुर्यान्मन्दाग्नित्वं शिरोग्रहम् ॥
निद्रातन्द्रोपलेपाश्च हृद्रोग गात्रगौरवम् ।
ष्ठीवन पित्तकफयोर्नखादीना च पीतताम् ॥
ये दोषवृद्धिक्षययोर्विकारा' कीर्तिता पृथक् ।
शेषेष्वपि तु तानेव कल्पयेत्तद्यथायथम् ॥
ससर्गाद्रसरुधिरादिभिस्तथैषा
दोषास्तु क्षयसमताविवृद्धिभेदैः ।
आनन्त्य तरतमयोगतश्च यातान्
जानीयादवहितमानसो यथास्वम् ॥
इति दोषभेदीयो विशोऽध्याय ॥ २० ॥

वृद्ध दोषों द्वारा रोगोत्पत्तिप्रकार—बढ़ा हुवा वायु कफ के क्षय होने पर प्रकृतिस्थ पित्त को अपने स्थान से हटाकर शरीर के गात्रों में जहा जहा ले जाता है, शरीर के उस उस भाग में अनियत दाह, भेद, बलहानि और थकावट को पैदा करता है। इसी प्रकार वृद्ध वायु पित्त के क्षीण होने पर प्रकृतिस्थ कफ को अपने स्थान से खींचकर जहा जहा लेजाता है वहा वहा शूल, शैत्य, स्तम्भ और गौरव (भारीपन) करता है। बढ़ा हुआ पित्त कफ के क्षीण होने से प्रकृतिस्थ वायु को अपने स्थान से लेजाकर जहा पर रोकता है वहा पर दाह और शूल होता है। बढ़ा हुआ पित्त वायु के क्षीण होनेपर प्रकृतिस्थ कफ को निरोध करता है तब तन्द्रासहित गौरव और ज्वर को करता है। यहा गौरव का अर्थ अतिशय आलस्य है। बढ़ा हुआ कफ पित्त के क्षीण होने पर प्रकृतिस्थ बायु को अवरोध करता है तब गौरव, पीडा और शीतज्वर को करता है। बढ़ा हुआ कफ वायु के क्षीण होनेपर प्रकृतिस्थ पित्त को अवरोध करता है तब वह मन्दाग्नि, सिर का जकड़ना-पीड़ा, निद्रा, तन्द्रा, उपलेप (शरीर पर ठण्डा लेप लगा दिया है ऐसा प्रतीत होना), हृद्रोग, शरीर का भारी प्रतीत होना-अत्यन्त आलस्य, थूक का विशेष आना, पित्त और कफ का मुख से पड़ना, नख आदि (नेत्र, मूत्र, पुरीष) का पीला पड़ना ये रोग उत्पन्न करता है।

इसके पूर्वाध्याय में वृद्ध और क्षीण वातादि के जो कार्श्य, कार्ष्ण्य, कम्प, स्फुरणादि रोग बताए गए है तथा अन्य भी बिकार जिनको नहीं कहा गया है, उन सबकी चिकित्सा दोषों की वृद्धि-क्षीणता के तारतम्य से या रोग के एव रोगी के देश, काल, बल आदि का विचार कर के करे।

दोष (वातादि), रसरक्तादि (दूष्य) ये सब ससर्ग, क्षय, समता, वृद्धि आदि भेदों की तरतम कल्पना के अनुसार देखे जॉय तो इनकी गणना ही नही होती है। इस लिए कि इनके अनन्त भेद हो सकते है तथापि वैद्य को चाहिए कि वह दिग्दर्शन-मात्र बताई हुई समता-क्षय-वृद्धि एव इनकी तरतम कल्पना कर के सावधानतया रोगों को जाने और जो जो रोग जैसी जैसी अवस्थावाला है, उसकी वैसी ही चिकित्सा करे।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिका-
हिन्दीव्याख्यया दोषभेदीयो नाम विशोऽध्याय ।

अथैकविंशोऽध्यायः ।

पूर्वाध्याय में कहा गया है कि विकृत दोषों को "आश्वेवो पक्रमेत्" अर्थात् बिगडे हुए दोषों की शीघ्र ही चिकित्सा करे इसलिए अब आचार्य कहते है कि—

अथातो दोषोपक्रमणीयमध्याय व्याख्यास्याम इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय ।

दोषोपक्रमणीयाध्याय—अब हम जिसमें दोषों का उपक्रम (चिकित्सा) है, उस दोषोपक्रमणीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा कि आत्रेयादि महर्षियों ने किया।

वातस्योपक्रम स्नेह स्वेदो मृदूनि स्निग्धोष्णमधुराम्ललवणानि सशोधनान्यभ्यवहार्याणि चाभ्यङ्गपूर्वमुपनाहनोपवेष्टनोन्मर्दनपरिषेकावगाहसवाहनपीडनानि बित्रासनबिध्मापनविस्मरणानि सुरासवविधान स्नेहाश्चानेकयोनयो दीपनीयपाचनीयवातहरविरेचनीयद्रव्योपहितास्तथा शतपाकसहस्रपाका सर्वश प्रयोगार्था बस्तयो बस्तिनियमो विशेषतस्तैल मासरसोऽनुवासनानि सुखशीलता स्त्रीसम्पर्कवर्ज्यश्च हैमन्तो विधि' ।

बात याधिकी सामान्य चिकित्सा—वात चिकित्सा में स्नेह श्रेष्ठ है, अत सबसे पहले स्नेह-चिकित्सा करे। इसके पश्चात् स्वेद (तापआदि) विधि करे। स्नेहन—स्वेदन करने के अनन्तर मृदु (न कि वायुकोपकारक तीक्ष्ण), स्निग्ध, उष्ण, मधुर, अम्ल तथा लवण ऐसे सशोधनद्रव्यों (वमनविरेचनादिकारकों) तथा भोजनों का व्यवहार करे। इनके अतिरिक्त हस्तादिद्वारा अभ्यङ्गमर्दनपूर्वक उपनाह (स्निग्ध उष्ण वायुनाशक पिण्डीका बाधना), उपवेष्टन (वस्त्रादि लपेटना), उन्मर्दन (भली भाति मालिश करना), परिषेक (उष्णौषधि क्वथित जल या तैलादिका तरेड़ा देना), अवगाह (बातहाकर

---

१ सनिरुन्ध्यात् इत्यपि पाठ ।

द्रव्यपूर्ण जलद्रोणी में मज्जन), सवाहन (मृदु हल्के हाथ से मर्दन), पीड़न (हाथोंद्वारा पगचप्पी आदि), वित्रासन (उन्मादादि वातविकारों में खड्ग से, क्रोध करके, हाथ के अग्र भाग से, राजपुरुषादि द्वारा त्रास), विध्मापन (धूनी देना), विस्मरण (विविध प्रकार के वार्तालाप द्वारा पीडा को भुलाना), सुरासवविधान (सुरा और आसव का शास्त्रोक्त पान और मास, पूपादिका साथ में[1] सेवन), शतपाक-सहस्त्र पाक द्वारा वारवार वातहारक, दीपन, पाचन और विरेचन द्रव्यों के साथ सिद्ध ऐसे अनेक प्रकार के स्नेह (तैल, घृत, चर्वी, मज्जा आदि), वायुनाशक सब निरूह बस्तियें, बस्तिव्यवहार के न करने पर भी बस्ति के नियमों का पालन, विशेषत तेल का सेवन, मासरस, अनुवासन बस्ति, सुखशीलता तथा स्त्रीस पर्क वर्जित सब हेमन्त ऋतु के विधान का पालन करना ये सब वातव्याधि की चिकित्सा है ।

विशेष वक्त य—इस वातोपक्रम मे वित्रासन अर्थात् तल वार एव राजपुरुषादि से त्रास देना कहा है । भय तो वायु कोप को बढ़ानेवाला है, फिर यह वित्रासन कैसे कह दिया ? इसके समाधान में कहा है कि, यद्यपि "भयशोकादि से वायु का कुपित होना लिखा है तथापि भय की तरह त्रास की बात नही है क्योंकि त्रसन सर्ववातविजयी है। वातोन्माद मे लिखा भी है कि हर्षण, आश्वासन, उत्त्रास, भय, ताडन, तर्जनादि, हितकारी होते हैं,, इस लिए[2] वातोपशमन मे त्रसन का निर्देश उपयुक्त है न कि अनुपयुक्त ।

पित्तस्य सर्पिष्पान सर्पिषा स्नेहनमधोदोषहरण मधुरतिक्तकषायाणामौषधाभ्यवहार्याणामुपयोगो मृदुसुरभिशीतहृद्याना गन्धानामुपसेवा परमशिशिरसुरभिसलिलमज्जन मनोऽनुकूलसस्पर्शसुखाना मुक्तामणिवैदूर्याश्मगर्भशङ्खशिलापद्मरागचन्द्रकान्तकान्ततरतरलावलीना चामर[3]त्रासितसहस्रपत्रोत्पल[4]कदलीदलनवमालिकाकुन्दमल्लिकादिविविधवर्णप्रसूनविरचिताना स्रजा च धारणमुरसा । तणोत्तणेचाग्र्यचन्दनप्रियङ्गुकाली[5]यकमृणालकर्पूरसुगन्धिशीतस्वच्छगन्धवारिभि सकमलकुमुदकुवलयैर्भूमितलकवाटवातायनहर्म्यभित्तीनामभिप्रोक्षणम् । श्रुतिसुखदमृदुमधुरमनोऽनुगाना गीतवादित्राणामभ्युदयाना च श्रवणम् । अयन्त्रणै समानवेषै[6]श्च रितैरुत्सवोत्तरान्योऽन्यदर्शनै सुहृद्भि सहासनम् । अमृ[7]तवचनविहारै[8]स्स्वभावसुरभितरवदनकुण्डलाना नातिस्पष्टाभिधायिनामनुपचारमधुरकोमलोल्लापाना प्रियाणामपत्यकाना सदयमाश्लेष । निर्दय च तनु[1]मृदुसुरभिनिवसनाभिर्मल्लिकामुकुलानुकारिमुक्ताफलप्राय[2]विभूषणाभि सहचरीनिनादसकल्पोपजनितौत्सुक्यकलहसानुनादितनूपुररशनाकलापसिञ्जितानुगमसमुखमुग्धमृदुवचनाभिर्निजजघननिविडकुचयुगलालङ्कारभारोद्वहनश्रमश्वसनकम्पितमध्यमुकुलितलोचनोत्पलाभि किञ्चिद्विगलितनवयौवनाभि प्रियाङ्गसङ्गमात्रातिमात्रसुखास्वादविस्रस्यमानाशुकैककालोपजातव्रीडावैलक्ष्यप्रगल्भतावैक्लव्यहर्षविषादविस्मयस्मितकोपप्रसादसाध्वसस्रस्तस्विन्नसर्वाङ्गद्रवीकृतहिमाङ्गरागाभि समस्तदेहहृदयप्रह्लादकारिणीभिर्विलासवतीभिश्चतुरङ्गमिवानङ्गबलमङ्गैस्तनुभिरपि समुद्वहन्तीभिरङ्गना[3]भि । सकलरजनीकरनिकरावकीर्णशिशिरतराणि भवनतलसलिलपुलिनानि । अतिसितसिकतातोयास्तृततलमनेककायवृत्तविमलयन्त्रप्रसलिलधार धारागृहम् । सागरानुकारितोयाशयोपतीरसुनिविष्टकुसुमितबहुविटपपृथुतुङ्गविविधतरतरुनिवहबहलच्छायोपसच्छन्न धवलरक्तनीलनीरजरजोव्याप्तसमस्तजलविपुलसिकतिलतलोपकल्पित दोलायमानगलदुदककलशसरणकरकस्रवदुदकप्रवाहाहितमृत्सौरभभूतलैकदेश, प्रलम्बमानाम्रजम्बूकदम्बविदुलनिचुलादिकिसलयमञ्जरीफलस्तबकप्रत्युप्तपटालिक, मुहुर्मुहु पुरुषप्रयत्नप्रेरितघटमुखोद्गीर्णोशीरचन्दनानुविद्धावलग्नपतित शेषमुक्ताफलायमानजललवमुच्छ्रायविस्तारवदनिषिद्धदूरविस्तृतशीतवातप्रवेशमत्यर्थसततांबुशीतशीकराभिषेकप्रतिहतसतापदाहमोहश्रमक्लमपिपासमतिशयप्राप्तरामणियक हिमाचलस्पर्द्धिशैत्यमम्बुधरकाललीलाविडम्बि कायमानम् । प्रफुल्लपद्मोत्पलपुण्डरीकसौगन्धिककोकनदशतपत्रपरागरागानुरञ्जितजलचरविहङ्गगणकलनिनदरम्या दीर्घिका । मधुपानलोभनिलीयमानालिकुलचलितलताप्रताननिपतितविविधकुसुमनिचयशयनरचनासव्यापारमृदुपवनान्युपवनानि । बिशेषस्तु घृत पयोविरेचनानि सौम्या सर्वे भावा दिवास्वप्नवर्ज्यश्च ग्रैष्मो विधि ।

पित्त का सामान्य चिकित्सा—घृतपान (घी पिलाना), घृत द्वारा स्नेहन (तैलवर्जित), अधोदोषहरण (विरेचन), मधुर, तिक्त और कषाय रसवाले द्रव्यों का औषध और भोजन में उपयोग । मृदु, शीत, सुगन्धित मनोहर द्रव्यों का सेवन (सुगन्धियों का सेवन)। अच्छे ठण्डे सुगन्धित जल से स्नान । अपने मन को सुहानेवाले-स्पर्श करने पर सुख के करनेवाले मोती-वैदूर्य, अश्मगर्भ अर्थात् मरकत मणि[4]-(पन्ना), शख-शिला-पुखराज और चन्द्रकान्त मणियों से

१ सुराया आसवस्य च विधानम् । विधानशब्देन मासापूपसयोगादि शास्त्रोक्त विधान दर्शयतीतीन्दु । २ त्रासन—खड्गव्यग्राग्रहस्तराजपुरुषदर्शनादिना । ननु, भीशोकादिभिर्मारुतस्य कोप उक्त । वक्ष्यति हि—'क्रियातियोगभीशोक इत्यादि । तत्कथ त्रासन वायोरुपक्रम ? उच्यते । भय वातप्रकोपहेतु, न तु त्रासनम् । त्रासन तु सर्ववातविजयि । तस्माद्वातोपशान्त्यर्थं त्रासन युक्तम् । यथा उन्मादादिषु । तथा च वक्ष्यति वातोन्मादे—'हर्षणाश्वासनोत्रासभयताडनतर्जनम् । इत्याद्यरुणदत्त । ३ भ्रमर इति पाठो भाति । ४ पत्रासितोत्पल ५ कालेयक ६ विषयवेष ७ अनृत ८ विरह

१ तनुतर २ प्रायालङ्काराभि ३ अङ्गनाभिर्निर्दय चाश्लेष इति पूर्वेण सबन्ध ।

४. 'गारुत्मत मरकतमश्मगर्भो हरिन्मणि , इत्यमरः

निर्मित माला या हार का हृदय पर धारण करना। जिनको भ्रमरों ने त्रास दिया है ऐसे सहस्रपत्र-उत्पल-(कमल-कुमोदनी), केला के पत्ते आदि से बनी ताजे कुन्द-मल्लिका (मोगरा) आदि नाना प्रकार के वर्णवाले पुष्पों की माला का हृदय पर धारण करना। बारबार उत्तमोत्तम चन्दन, प्रियङ्गु, कालीयक (मलयगिरि चन्दन, छारछरीला-शैलेयं[1]), कमलनाल, कर्पूरादि से सुगन्धित शीतल-स्वच्छ जल से जिसमे कमल-कुमुद-कुवलय-पुष्प पडे हों भूमितल (आगन), कवाट (किवाड परका पर्दा[2]), झरोखे और सुन्दर भित्तियों (दीवारो) को छिडकना। सुनने पर सुख के देनेवाले, मृदु, मधुर, मन को सुहानेवाले गीत वादित्रादिकाश्र वण करना। जिनको किसी प्रकार की यन्त्रणा (चिन्ता या दु ख) नही है ऐसे समान वेषवाले, उत्सव के अनन्तर परस्पर मिलने वाले मित्रों के साथ बैठना। अमृत के समान मीठे वचन बोलनेवाले, विहार ही है स्वभाव जिनका, अतिसुगन्धित है मुखमुकुल जिनका, जो स्पष्ट न बोलकर तुतराते हुए अस्पष्ट बोलते हैं, सहज मधुर कोमलालाप करनेवाले प्रिय पुत्रों का सदयता से आलिङ्गन करना। सूक्ष्म झीने मुलायम सुगन्धित वस्त्रों को धारण करनेवाली, मल्लिका (मोगरा) की कलिका का अनुकरण करनेवाले मोतियों के आभूषणों से विभूषित, सहचरी के बोलने से उत्सुक राजहस के अनुकरण करनेवाले नूपुर-रशनाकलापनाद के अनुगामी मीठे मनोहर मृदु बोलने वाली, अपने जघन-कठिन कुचयुगल एव अलङ्कारों के भार से श्रम-श्वास करके कम्पित-मध्यमुकुलित नेत्र-कमलवाली, कुछ विगलित हुआ है नवयौवन जिनका, प्रिय के अङ्गसग मात्र से सुख के आस्वाद (आनन्द) में अङ्ग पर से वस्त्र के गिर जाने से एक समय उत्पन्न हुई लज्जा-वैलक्ष्य-प्रगल्भता बेकली-हर्ष-विषाद-विस्मय-मन्दस्मित-कोप-प्रसाद और भय के कारण शिथिल और स्वेदित होने से भीग गया है शरीर और द्रवीभूत हो गया है हिमाङ्ग राग जिनका, स्पर्श करने से सकल देह मे आनन्द पैदा करनेवाली, दर्शनमात्र से हृदय प्रफुल्लित कर देनेवाली, विलासवती तथा सूक्ष्म-कोमल अङ्गवाली होकर भी चतुरङ्गिणी सेना की तरह कामदेव की सेना को बुलानेवाली ऐसी स्त्रियों से दयारहित (निर्दय) होकर आलिङ्गन। चन्द्रमा की किरणों के समूह के पडने से अच्छे शीतल जलवाले वर के क्रीडा-जलाशय का तट। अतिस्वच्छ सिकता (रेत-बालु का) है तल-भाग में जिसके और अनेक प्राणियों के आकार के विमल धारावाले लगे है यन्त्र जिसमे ऐसा धारागृह-फव्वारा विशेष। समुद्र का अनुकरण करनेवाले जलाशय के तट पर पुष्पित अनेक घने और ऊँचे विविध भाँति के तट पर लगे हुए वृक्षसमूह की गहरी छाया से ढका हुआ, श्वेत-रक्त-नील कमलों की रज से व्याप्त समस्त जल विपुल सिकता (बालु का) पर निर्मित एव दोलायमान अनेक प्रकार के जलस्रावी घटों-करकों (करवों) से जल प्रयात के कारण मिट्टी की सुगन्धि आ रही हो जिसमें ऐसे भूतल पर, प्रलम्बायमान आम्र-जम्बू-कदम्ब-विदुल-निचुलादि वृक्षों के पत्र-मञ्जरी-फल-गुच्छकों से सयुक्त हैं जिसमें पटकुटियें, वारम्वार पुरुषों के प्रयत्न से प्रेरित घटों के मुख से निकले खस-चन्दन सहित पडे हुए (पतित) जल के शेष रहे हुए मुक्ताफल के समान जल बिन्दु है जिसमे, ऊँचे तथा विस्तृत दूर से शीत वायु को लानेवाले बने है अनिषिद्ध वातायन (झरोखे) जिसमें, सदैव पर्याप्त जल के शीत शीकरों के अभिषेक से नष्ट हो गये है सन्ताप-दाह-मोह-श्रम-क्लम और पिपासा जिसमें, अतिशय रमणीयता को प्राप्त, हिमाचल से प्रतिस्पर्द्धा करनेवाले है शैत्य जिसमें और वर्षाकाल की लीला भी तुच्छ समझी जाती है ऐसे कायमान[1] (तृणों के बने हुए घर) का सेवन। प्रफुल्लित कमल-कुमुदिनी-पुण्डरीक-सौगन्धिक-कोकनद-शतपत्र नामक कमलों की केसर के रग से रञ्जित जलचर-पक्षीगण के मधुर नाद से रम्य दीर्घिका (गृह-पुष्करिणी) तथा मधुपान के लोभ में लीन भ्रमरकुल करके चलित लता-प्रतान से गिरे हुए विविध प्रकार के पुष्पसमूह से शयनरचना के व्यापार को लिए हुए मृदु पवनवाले उपवन (बगीचा), इन सवका सेवन। विशेषत घृत, दूध, विरेचन और सब प्रकार के सौम्यभाव (मन को प्रसन्न करनेवाले पदार्थ[2]) ये चारों पित्त विकार के मुख्य औषधं हैं। साराश, दिवास्वप्न (दिन मे सोना) को त्याग कर ग्रीष्म ऋतु का विधान पित्तशामक है।

श्लेष्मण पुनर्विधिविहितानि तीक्ष्णानि सशोधनानि विरूक्ष[3]प्रायाण्यभ्यवहार्याणि कटुतिक्तकषायोपहितानि तीक्ष्णानि दीर्घकालस्थितानि हृद्यानि मद्यानि। धावनलङ्घनप्लवनजागरणनियुद्धसव्यवायमरूक्षोन्मर्दनस्नानोच्छादनानि। विशेषत क्षौद्र यूषो वमनानि सर्वशश्चोपवास सधूमगण्डूष सुखप्रतिषेध सुखार्थं वासन्तो विधिरिति।

कफ विकारों की सामान्य चिकित्सा—उत्क्लेश से रक्षण हो इस लिए शास्त्रोक्त विधि से तीक्ष्ण सशोधन (वमनादि), विशेष रूक्षप्राय कटु-तिक्त-कषाय रसवाले भोजन, तीक्ष्ण-पुराने-हृदय के लिए हितकारी मद्य, धावन (जल्दी जल्दी चलना), लघन (चलना), प्लवन (पगों से ऊँचे कूदना), जागरण, नियुद्ध (बाहुयुद्ध), युद्ध (काष्ठादि से), व्यवाय (स्त्रीसभोग अथवा स्त्रीसभोग की केवल इच्छा न कि सभोग), व्यायाम (वाहनादि-शरीरायास कर्म), रूक्षोन्मर्दन (रूक्ष द्रव्यों द्वारा भलीभाँति मालिश), रूक्ष स्थान, रूक्ष आच्छादन-वस्त्र, विशेषत क्षौद्र (शहद), यूष, सब प्रकार के वमन, उपवास, धूम्रपान, गण्डूष (तीक्ष्ण द्रव्यों द्वारा कुल्ली कराना),

१ कालीयक कालानुसार्यं चेत्यमर कालानुसार्यं शैलेये कालीये शिशपाद्रुमे, इति मेदिनी २ कवाटो द्वाराच्छादनपट, इतीन्दु।

१ कायमान-तृणादिरचितागारम्, इति हेमाद्रि। २ सौम्या भावा -मन प्रसादना पदार्था, पय, सर्पिर्विरेकश्चेति चतुष्टयविशेषादौषधमिति हेमाद्रि। ३ रूक्ष ४ नियुद्धयुद्धव्यवाय ५ स्नानो ६ सुखार्थमेव। ७ विधिग्रहमुत्क्लेशरक्षणार्थमितीन्दु। उत्क्लेशस्तु-'उत्क्लिश्यान्न न निर्गच्छेत्प्रसेकष्ठीवनेरितम्। हृदय पीड्यते चास्य तमुत्क्लेश विनिर्दिशेत्॥' इति सुश्रुत

८ 'धावनम्-द्रुतगमनम्। लङ्घन-प्लवन-पद्भ्यामुत्प्लवनम्। नियुद्ध-बाहुयुद्धम्। युद्ध-काष्ठादिभि' इत्यादीन्दु। ९ व्यवाय-स्त्रीगमनमिती्दुरुणौ किन्तु व्यवायो-रतिप्रीति सभोगे प्रीतिर्न तु रतिरिति हेमाद्रि'।

सुखप्रतिषेध (जिनसे सुख प्राप्ति हो ऐसे आहार विहारादि का त्याग करना) इसलिए कि कफ और मेदोवृद्धि का नाश होकर सुख की प्राप्ति हो, वसन्त ऋतु में कर्त्तव्य-विधि इन सबका सेवन कफविकारों की सामान्य चिकित्सा है।

भवन्ति चात्र—

उपक्रमो पृथग्दोषान् योऽयमुद्दिश्य कल्पित ।
ससर्गसन्निपातेषु त यथास्व विकल्पयेत् ॥
ग्रैष्म' प्रायो मरुत्पित्ते वासन्त कफमारुते ।
मरुतो योगवाहित्वात्कफपित्ते तु शारद ॥
योज्या पट्वम्लमधुरा वायौ क्रुद्धे रसा क्रमात् ।
पित्ते तिक्तस्तत स्वादु कषायश्च रसो हित ॥
कटुक प्राक्ततस्तिक्त कषायोऽन्ते कफामये ।
चयप्रकोपप्रशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु ॥
वर्षादिषु तु पित्तस्य श्लेष्मण शिशिरादिषु ।
चीयते लघुरूक्षाभिरोषधीभि समीरण ॥
तद्विधस्तद्विधे देहे कालस्यौष्ण्यान्न कुप्यति ।
अद्भिरम्लविपाकाभिरोषधीभिश्च तादृशम् ॥
पित्त याति चयं कोप न तु कालस्य शैत्यत ।
चीयते स्निग्धशीताभिरुदकौषधिभि कफ ॥
तुल्येऽपि काले देहे च स्कन्नत्वान्न प्रकुप्यति ।
इति कालस्वभावोऽयम् ॥

दोषोपक्रमविधि—वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषों की चिकित्सा अलग अलग कल्पना करके लिखी गई है। इस चिकित्सा की कल्पना ससर्ग (दो दो दोषों के मिलने पर) और सन्निपात (त्रिदोष की अवस्था) में यथास्व (यथा योग्य) करे। उदाहरणार्थ दोष यदि एक एक ही हो तो उसकी चिकित्सा करे। यदि दो दो दोष मिश्रित हों तो उन उन मिश्रित दोषों की मिश्रित चिकित्सा करे। त्रिदोष हो तो त्रिदोष की मिश्रित चिकित्सा करे। केवल इतना ही नही, वायु और पित्त के ससर्ग में प्राय ग्रीष्म ऋतु का शीतप्रधान विधि करे। कफ और वायु के ससर्ग में प्राय वसन्त ऋतु का रूक्षप्रधान विधान करे। 'रूक्ष विधि तो वायु को कुपित करेगा, इस शङ्का के निरासार्थ कहा है कि 'मरुतो योगवाहित्वात्' वायु योगवाही है इसलिए रूक्षविधि वायु को कुपित नहीं करेगी। वायु जिसके साथ होता है, उसी का अनुगामी हो जाता है। इसी प्रकार कफपित्त के ससर्ग मे शरद् ऋतु का विधि करे। वायु जिसके साथ होता है, उसी दोष की चिकित्सा वायु की रहती है। वायु के कुपित होने पर क्रम से लवण, अम्ल और मधुर रसों की योजना करे। पित्त के कुपित होने पर पहले तिक्त, इसके पश्चात् मधुर और तत्पश्चात् कषाय रस की योजना करे। इसी प्रकार कफ के कोप में प्रथम कटु, फिर तिक्त और तत्पश्चात् कषाय रस की योजना करे।

दोषों के चय-प्रकोप-प्रशम का काल—वायु ग्रीष्मादि तीन ऋतुओं में चय प्रकोप और प्रशम को प्राप्त होता है अर्थात् वायु का ग्रीष्म में सचय, वर्षा मे कोप और शरद् में शमन होता है। पित्त का वर्षा में सचय, शरद् मे प्रकोप और हेमन्त में शमन होता है। इसी प्रकार कफ का शिशिर में सचय, वसन्त मे कोप और ग्रीष्म ऋतु में शमन होता है।

दोषों के चय में काल ही कारण—ग्रीष्म ऋतु में लघु तथा रूक्ष ओषधियों द्वारा वायु शरीर एव आहार में रूक्षता लाता है और इस ऋतु में वायु का सचय होता है किन्तु काल की उष्णता के कारण कुपित नही होता। इसी प्रकार अम्ल विपाकी जल और ओषधियों के कारण पित्त भी वर्षाकाल में सचित होता है किन्तु काल की शीतता के कारण कुपित नहीं होता। ऐसे ही स्निग्ध और शीत जल तथा ओषधियों के कारण शिशिर ऋतु मे कफ का सचय होता है किन्तु शरीर और काल के समान गुणवाला होकर भी अतिशीतकाल के कारण ठोस (घनीभूत) होकर कुपित नहीं होता। यह सब काल के स्वभाव से ही होता है।

आहारादिवशात् पुन ।
चयादीन्यान्ति सद्योऽपि दोषा कालेऽपि वा न तु॥
व्याप्नोति सहसा देहमापादतलमस्तकम् ।
निवर्तते तु कुपितो मलोऽल्पाल्प जलौघवत् ॥

काल से भी आहारादिकी प्रधानता—आहार आदि के कारण वातादि दोष काल की कुछ भी अपेक्षा नही करते हैं। भावार्थ यह है कि कोपकाल होते हुए भी उचित आहारादि (रसायन वाजीकरणादि[1]) के कारण साम्यावस्था में रहते हैं और कोपकाल न होते हुए भी मिथ्याहार-विहारादि के कारण कुपित हो जाते हैं। कुपित हुआ दोष एकदम शरीर मे पगों के तल से लेकर मस्तक तक व्याप्त हो जाता है और फिर वही बढ़ा हुआ दोष धीरे धीरे (थोडा थोडा कम होता हुआ) शान्त होता है, जैसे कि जलौघ अर्थात् नदी का पूर (बाढ़) एकदम व्याप्त हो जाता है और फिर उसकी निवृत्ति थोडा थोडा कम होकर बहुत देर से होती है। इसलिए—

चय एव जयेद्दोष कुपित त्वविरोधयन् ।
सर्वकोपे बलीयास शेषदोषाविरोधत ॥
क्रमान्मरुत्पित्तकफान् सर्वत्र सदृशे बले ।
वातादीना यथापूर्व यत स्वाभाविक बलम् ॥
ऊचे पराशरोऽप्यर्थममुमेव प्रमाणयन् ।
यथोपन्यासत प्राप्तमादौ दोषभिषग्जितम् ।
नेतृभङ्गेन दृष्टो हि सम सैन्यपराजय ॥

दोषों को जीतने की विधि—सब प्रकार के दोषों को उनके सचयकाल में ही जीतना चाहिये ताकि दोष कुपित ही न होने पावे। चयकाल मे दोष को जीतने की उपेक्षा करने से उसके कुपित होने की आगे सभावना रहती है अत चयकाल मे दोष को जीत लेना अच्छा है। कुपित दोष को जीतना हो तो शेष (अकुपित) दोषों का विरोध न करते हुए जीते। साराश, ऐसे आहार-विहारों से कुपित दोष को जीते कि जिनसे अन्य दोष कुपित न हों। कुपित हुए सब दोषों को जीतना हो तो शेष दोषों से विरोध न करते हुए उनमे जो बलवान् दोष हो उसे पहले जीतना चाहिए क्योंकि बलवान्

---

१ आहारादौत्यत्रादिशब्देन रसायनवाजीकरणवमनविरेचनादयो गृह्यन्ते, इत्यरुणदत्त।

दोष पर विजय प्राप्त करते ही अन्य दोष स्वय शान्त हो जाते हैं। अत इस प्रकार अविरोधी उपक्रम द्वारा दोषों को जीतना चाहिए। वातादि तीनों दोष एकदम कुपित हुए हों तो क्रम से पहले वायु को, फिर पित्त को और उसके पश्चात् कफ को जीतना चाहिए। इसलिए कि वातादि में वैसी अवस्था में यथापूर्व स्वाभाविक बल रहता है अर्थात् कफ से पहले पित्त है अत उसका स्वाभाविक बल कफ की अपेक्षा अधिक रहता है और पित्त की अपेक्षा वात अधिक बलवान् है। साराश तीनों दोषों की कुपितावस्था मे सब से बल्वान् वात को पहले जीतना चाहिए। इसके अनन्तर पित्त एव कफ को क्रम से जीतना चाहिए। पराशर ऋषि भी इसी बात को प्रमाण मानते हुए कहते है कि पहले बलवान् की ही ओषधि करनी चाहिए। इसलिए कि नेता (सेनापति) के पतन के साथ ही उसकी सेना का पराजय देखा गया है। इस दृष्टान्त का भावार्थ यही है कि त्रिदोष की कुपितावस्था में वायु सब से बलवान् होने के कारण उसे सेनापति समझकर जीता जाय। उस पर विजय प्राप्त होते ही उसकी पित्तकफरूपिणी सेना उसी समय अपना पराजय मानती हुई शान्त हो जाती है।

स्थानत केचिदिच्छन्ति प्राक्तावच्छ्लेष्मणो वधम् ।
शिरस्युरसि कण्ठे च प्रलिप्तेऽन्नरुचि कुत ॥
तदभावे कथ भोज्यपानद्रव्यावचारणम् ।
असत्यभ्यवहारे च कुतो दोषविनिग्रह ॥
तस्मादादौ कफो घात्य कायद्वारार्गलो हि स ।
मध्यस्थायि यत पित्तमाशुकारि च चिन्त्यते ॥
अतो वातसखस्यास्य कुर्यात्तदनु निग्रहम् ।
अत एव च पित्तादि कफान्तोऽन्यै क्रम स्मृत ॥

कुछ आचार्यों का मत—शरीर के सब स्थानों में शिर मुख्य है। इस स्थान को लेकर कुछ आचार्यों का मत है कि प्रथम कफ का नाश किया जाय। इसलिए कि शिर, छाती और कण्ठ में कफ के लिपटने से अन्न की रुचि कैसे होगी ? अन्न की रुचि के बिना मनुष्य अन्नपान (भोज्य और पानीय द्रव्यों का अवचारण) कैसे करेगा ? जब खा-पी न सकेगा तो दोषों का जीतना (बिना आहार-पान के) कैसे हो सकेगा ? इस लिए पहले कुपित कफ का नाश करना चाहिए क्योंकि यह शरीर-द्वार की अर्गला (आगल) है। बिना इसके तोडे कोई शारीरिक कार्य नही बन सकेगा। इसके अनन्तर वातसखा (पित्त) का विचार करना चाहिए। पित्त शरीर के मध्य भाग मे स्थित है और बहुत जल्दी रोगकारक है अत कफ के अनन्तर इसे जीतना चाहिए। कुछ लोगों ने पित्तादि-कफान्त क्रम भी कहा है। उनके मत से प्रथम पित्त, फिर वात और फिर कफ को जीतना चाहिए।

सुश्रुतश्च न सर्वत्र मतमेतद् ब्रवीति तु ।
जयेज्ज्वरेऽतिसारे च क्रमात्पित्तकफानिलान् ॥
प्रायेण तापात्मतया ज्वरे तेजो विशिष्यते ।
विशश्च सरण पित्तात्तथा च मृदुकोष्ठता ॥
तस्य चानुबल श्लेष्मा गौरवापक्तिजाड्यकृत् ।
वायुश्च वर्धतेऽवश्य यस्त्वहसु तयो क्षये ॥
ज्वरातिसारयोस्तस्मादेष दोषजये क्रम ।

सुश्रुत का मत—सुश्रुत कहता है कि यह पित्तादिवातान्त-क्रम दोषों के जीतने में सर्वत्र मान्य नही है। ज्वर और अतिसार मे क्रमश पित्त, कफ तथा वायु को जीतना चाहिए। इसलिए कि ज्वर के सतापात्मक होने से प्राय उसमे पित्त विशेष होता है। इसी प्रकार अतीसार में भी मल (विट) का सरण एव मृदुकोष्ठता पित्त ही के कारण होती है और उसका अनुबल गौरव-अपचन तथा जाड्यताकारक कफ होता है। पित्त और कफ के क्षय होने से वायु की वृद्धि अवश्य होती है। भावार्थ यह है कि पित्त की क्षीणावस्था मे कफ बढ़ता है अत पित्त के अनन्तर कफ को जीतना, पित्त और कफ के क्षीण होने पर वायुवृद्धि अवश्य होती है अत क्रमश पित्त कफ को जीतने के बाद वायु का जीतना क्रमप्राप्त है। इसलिए ज्वर और अतीसार में दोषों को जीतने में यही क्रम ठीक है।

कफपित्तानिलानन्ये क्रमादाहुस्तयोरपि ।
यस्मादामाशयोत्क्लेशाद्भूयिष्ठ तत्समुद्भव ॥
क्रमेणाद्येन तत्रापि प्रवृद्धान् स्वाशये स्थितान् ।
स्वाशये तु प्रदुष्टाना स्थितैव ह्याशुकारिता ॥
विज्ञाय कर्मभि स्वै स्वैर्दोषोद्रेक यथाबलम् ।
भेषज योजयेत्तत्र तन्त्री कुर्यान्न तु क्रमम् ॥
प्रयोग शमयेद्व्याधि योऽन्यमन्यमुदीरयेत् ।
नासौ विशुद्ध शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत् ॥

अन्य आचार्यों का मत—कुछ आचार्य कहते है कि उक्त ज्वर और अतिसार मे भी कफ, पित्त और वायु को क्रम से जीतना चाहिए न कि पूर्वोक्त पित्त-कफ-वायु के क्रम से। उदाहरणार्थ युक्ति-निर्देश करते हुए अन्य आचार्यों का कहना है कि आद्य क्रम से आमाशय मे उत्क्लेश होकर पुन अतिवृद्ध ज्वर और अतिसार की उत्पत्ति होगी, इसलिए कि आमाशय की उत्क्लेशावस्था में पित्तहारक शीतोपचार अपथ्यकारक होंगे। फिर भी वैसी अवस्था में अपने आशय मे स्थित बढ़े दोषों को जीतना चाहिए। स्वाशयस्थित प्रवृद्ध दोषों के जीतने मे उपेक्षा की जायगी तो वे ही प्रवृद्ध दोष कुपित होंगे, स्वाशयस्थित कुपित दोषों की अवस्था मे आशुकारिता (शीघ्र ही व्याधि का उत्पन्न करना) सामने खड़ी है, यह समझते हुए वैद्य को चाहिए कि वह अपने कर्मो द्वारा दोषों की वृद्धि की यथाबल के अनुसार ओषधियों की योजना करे किन्तु उस समय तन्त्री क्रमों का अनुकरण न करे। साराश, क्रम-विधान की उपेक्षा करता हुआ वैद्य औषध देकर बलवान् दोष को पहले जीते और उस के अनन्तर अन्य दोषों को जीते। कहा भी है कि वह प्रयोग विशुद्ध नहीं है जो एक व्याधि को शमन करके किसी दूसरी व्याधि को पैदा करता है। शुद्ध प्रयोग वही है जो व्याधि को शमन करता है तथा अन्य व्याधि को भी नही होने देता।

क्रुद्ध मलमल जेतु नाल्पभावादुभावपि ।
दोषा दोषात्मकत्वाच्च न समेऽपि परस्परम् ॥
शीतद्रवाम्ललवणकटवादिगुणतुल्यता ।

दृष्टा मिथश्च दोषेषु नातोऽन्योऽन्य जयन्ति ते ।।
आरम्भक विरोधेऽपि मिथो यद्वद् गुणत्रयम् ।
विश्वस्य दृष्ट युगपद्व्याधेर्दोषत्रय तथा ॥

दोषविषयक शङ्कासमाधान—शङ्का की जाती है कि सभी रोग त्रिदोषज बताए गए है और ये तीनों दोष परस्पर विरोधी हैं। ऐसी अवस्था में क्रुद्ध दोष को शेष दो विरोधी निर्बल दोष कैसे जीत सकते है ? कैसे दो सबलों को एक निर्बल दोष जीत सकता है ? इसी प्रकार तीनों दोष परस्पर विरुद्ध होते हुए भी रोगात्मक एक कार्य को कैसे कर सकते है ? इन दोनों प्रश्नों के उत्तर मे कहते है कि सन्निपात दो प्रकार का है, एक विषम दोष और एक समदोष। विषमदोष की अवस्था मे क्रुद्ध हुए एक दोष को निर्बलता के कारण शेष दो दोष जीत नही सकते। समदोष में भी दोषात्मता के कारण, दोष परस्पर दोषों को जीतने में समर्थ नहीं होते, इसलिए कि दोषों का स्वभाव भी दुष्टीकरण है न कि परस्परोपशमकरण। एक से विपरीत होने के कारण दोष दूसरे दोष को शमन करता या जीत लेता है, यह भी चिन्त्य ही है। इस लिए कि शीत द्रव अम्ल लवण कटुकादि-गुणसाम्य दोषों में देखा जाता है। समान गुणवाला दूसरे समानगुणवाले को बढ़ाता है किन्तु शमन या नष्ट नही करता। उदाहरणार्थ जैसे कि वात कफ दोनों शीत है, पित्त, कफ, दोनों द्रव है। अत शीत-गुण वात का हेतु है, वैसे ही कफ का भी। द्रवगुण जैसे कफ का हेतु है वैसे ही पित्त का भी। इसी प्रकार अम्ल-लवण-कटु वात के हेतु हैं वैसे ही पित्त के भी। परस्पर गुणसादृश्य के कारण दोषों का परस्पर वैपरीत्य नहीं सिद्ध होता, अपितु परस्पर अवैपरीत्य ही दिखाई देता है इस लिए भी दोष परस्पर को जीतनेवाले नही है। भावार्थ यह है कि सन्निपात में दोष एक ही साथ कुपित होते है। परस्पर विरुद्ध होते हुए भी दोष रोगनाशक कार्य को मिलकर कैसे सपन्न करते है ? अब इसका उत्तर देते है कि-जैसे परस्पर विरुद्ध होते हुए भी रज, तम और सत्त्वगुण ये तीनों मिलकर सपूर्ण विश्व के आरम्भक दिखाई देते है, ठीक इसी प्रकार परस्पर विरोधी वात, पित्त और कफ ये तीनों दोष भी व्याधि के आरम्भक (कारण) होते हैं।

इस दोषोपक्रम के प्रसङ्ग में अब आचार्य दोषों की सामता एव उसकी चिकित्सा का वर्णन करते हैं।

वायुरामान्वय सार्तिराध्मानकृदसचर ।
दुर्गन्धमसित पित्त कटुक बहल गुरु ॥
आविलस्तन्तुमास्त्यान प्रलेपी पिच्छिल[२] कफ ।
विपर्यये तु पक्वत्व तथा ताम्र समेचकम् ॥
पीत च पित्तमच्छ च श्लेष्माच्छ[१] पिण्डितोऽथवा ।
विशदश्च सफेनश्च धवलो मधुरो रसे ॥
ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम् ।
दुष्टमामाशयगत रसमाम प्रचक्षते ॥
अन्ये दोषेभ्य एवातिदुष्टेभ्योऽन्योन्यमूर्च्छनात् ।
कोद्रवेभ्यो विषस्येव वदन्त्यामस्य सभवम् ॥
आमेन तेन सपृक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिता ।
सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवा ॥

साम और निराम वातादि के लक्षण—साम वात पीडा-सहित आध्मान (अफारा) को करता और असचर अर्थात् देह में यथावत् सचार नही करता है। साम पित्त दुर्गन्धवाला, काला, कटुक, गाढ़ा और भारी होता है। साम कफ आविल (मैला या ठोस), तन्तुवाला, जमा हुआ, प्रलेपी और पिच्छिल होता है। निराम (पक्व) वातादि के लक्षण उक्त लक्षणों से विपरीत जानने चाहिये। इसके अतिरिक्त निराम पित्त तथा कफ के लक्षणों मे यह विशेष है कि निराम पित्त ताम्र-मेचक-पीत और साफ रहता है। इसी प्रकार निराम कफ स्वच्छ, पिण्डीभूत, विशद, फेनसहित, श्वेत और रस मे मधुर होता है।

आम का वर्णन—जठराग्नि की निर्बलता के कारण अपक्व रस दुष्ट होकर आमाशय मे जाता है। इसी दूषित-अपक्व आद्य धातु-रस को आम कहते है। अन्य आचार्य कहते हैं कि जैसे कोद्रव (कोदो धान) देश-काल वश विष बन जाता है, इसी प्रकार दुष्ट वातादि दोष ही पारस्परिक मूर्च्छना के कारण विषोपम आम को पैदा करते है। साराश, कोदो धान से विष की तरह दुष्ट दोष-मूर्च्छना आम को उत्पन्न करती है। इस आम से मिश्रित होने के कारण वातादि दोष और रस-रक्तादि दूष्य, दूषित होकर साम कहलाते हैं और इन ही से जितने रोग है वे उत्पन्न होते है।

विशेष वक्तव्य—'ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन' इस पद का अर्थ हमने 'जठराग्नि के अल्पबल होने से ऐसा किया है। परन्तु इन्दु की टीकानुसार यहा रस-धातूष्मा या रस-धात्वग्नि के निर्बलत्व का ग्रहण करना ही समुचित प्रतीत होता है। इस लिये कि प्रत्येक धातु की पचानेवाली उसकी अग्नि होती है।

सर्वदेहप्रविसृतान् सामान् दोषान्न निर्हरेत् ।
लीनान् धातुष्वनुत्क्लिष्टान् फलादामाद्रसानिव ॥
आश्रयस्य हि नाशाय ते स्युर्दुर्हरत्वत ।
पाचनैर्दीपनै स्नेहैस्तान् स्वेदैश्च परिष्कृतान् ॥
शोधयेच्छोधनै काले यथासन्न यथाबलम् ।
हन्त्याशु युक्त वक्त्रेण द्रव्यमामाशयान्मलान् ॥
घ्राणेन चोर्ध्वजत्रूत्थान् पक्वाधानाद् गुदेन च ।
उत्क्लिष्टानध ऊर्ध्व वा न चामान्वहत स्वयम् ॥
धारयेदौषधैर्दोषान्विधृतास्तेऽपि कुर्वते ।
रोगानुत्पादनिर्दिष्टानर्तिस्थौल्यादिकान् गदान् ॥
प्रवृत्तान् प्रागतो दोषानुपेक्षेत हिताशिन ।
विविधान् पाचनैस्तैस्तै पाचयन्निर्हरेत वा ॥

इत्येकविंशोऽध्याय ॥ २१ ॥

१ पद्यमिद नास्ति मूलमुद्रितपुस्तके।

२ 'कलुषोऽनच्छ आविल इत्यमर। 'आविलोघन' इतीन्दु।

३ ऊष्मण इत्यादि। आद्य धातुमाहारसाराख्य स्वस्योष्मणोऽग्नेरल्पत्वेनापचित दुष्टमामाशयगत रसमाममित्याचार्या, इतीन्दु।

दोषनिर्हरणविधि—सपूर्ण शरीर में पसरे हुए अर्थात् रस रक्तादि धातुओं में लीन, अनुत्क्लिष्ट (अविचलित) साम दोषों का निर्हरण न करे जैसे कि कच्चे फलों से रस नहीं निकाला जाता। कच्चे फलों से रस की तरह यदि आम-दोषों का निर्हरण किया जायगा तो ये दोष अपने आश्रय के नाश करनेवाले होंगे। जैसे कच्चे फल से रस का निकालना रस के आश्रय (फलों) का नाशकारी होता है अत भूलकर भी साम दोषों का निर्हरण (शोधन) न करे। इसलिये वैद्य को चाहिये कि वह पाचन, दीपन, स्नेहन और स्वेदनादि शोधनों द्वारा पसरे हुए दोषों का यथाकाल, यथासन्न और यथाबल शोधन (निर्हरण) करे।

यथाकाल से शास्त्रोक्त वातादिदोषनिर्हरणकाल को लेना चाहिए। यथासन्न जैसे कि ऊर्ध्वासन्न दोषों का निर्हरण वमन से, अधोभागासन्न दोषों को विरेचन तथा बस्तियों से और सिर में आश्रित दोषों का शोधन शिरोविरेचन से करे। यथा बल जैसे कि-अधिक बलवाले दोषों का शोधन तीक्ष्ण वमन विरेचनादि से, मध्यबलों का मध्यबल शोधनों से तथा हीन बल दोषों का मृदु वमन विरेचनादि शोधन देकर सशोधन करे। मुख के द्वारा दिया हुआ औषध शीघ्र ही आमाशय से मलों को निकाल कर नष्ट करता है। घ्राण (नासिका) द्वारा प्रयुक्त औषध ऊर्ध्वजत्रु में उत्पन्न होनेवाले दोषों को दूर करता है। गुदा द्वारा प्रयुक्त किया हुआ औषध शीघ्र ही पक्वाशय के दोषों को दूर करता है अत अधोभाग या ऊर्ध्वभागमें समुत्पन्न विचलित दोषों को निर्हरण करने मे उपेक्षा नहीं करनी चाहिए और न स्वय विचलित आम दोषों को ही धारण करना चाहिए क्योंकि धारण किए हुए ये दोष अतिस्थौल्यादि रोगों को करते हैं जिनका वर्णन रोगानुत्पादनीयाध्याय मे किया गया है। इन रोगों की उत्पत्ति धारणा से होने के कारण पहले इनकी उपेक्षा करे परन्तु फिर हिताशी रहता हुआ इनका शोधन तब तक करता रहे जब तक आम का क्षय न हो जाय। अथवा थोडे प्रवृत्त हुए इन रोगों के लिए शोधन न कर के उन उन रोगों के अर्थ कहे हुए पाचनों के प्रयोग कर के उनका निर्हरण करे।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्याया दोषोपक्रमणीयनामैकविंशोऽध्याय ॥२१॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः।

इसके पहले अध्याय में रोगों की अपेक्षा विशेषत दोषों का ही उपक्रम कहा गया है। इस लिए अब आचार्य इस अध्याय को आरम्भ करते हुए कहते है कि—[1]

अथातो रोगभेदीयमध्याय व्याख्यास्याम इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय।

रोगभेदीय अध्यायारम्भ—अब हम जिसमें रोगों के भेदों का वर्णन है उस रोगभेदीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया। इस अध्याय में अध्याय के नामानुसार केवल रोगों के भेद ही नहीं बताए जायँगे अपि तु उनकी चिकित्सा भी बतायी जायगी।

सप्तविधा खलु रोगा भवन्ति सहगर्भजातपीडाकालप्रभावस्वभावजा। ते तु पृथक् द्विविधा। तत्र सहजा शुक्रार्तवदोषान्वया कुष्ठार्शोमेहादय पितृजा मातृजाश्च। गर्भजा जनन्यपचारात्कौब्ज्यपाङ्गुल्यपैङ्गल्यकिलासाद्योऽन्नरसजा दौहृदविमानजाश्च। जातजा स्वापचारात्सतर्पणजा अपतर्पणजाश्च। पीडाकृता क्षतभङ्गप्रहारक्रोधशोकभयादय शारीरा मानसाश्च। कालजा शीतादिकृता ज्वरादयो व्यापन्नजा असरक्षणजाश्च। प्रभावजा देवगुरूल्लङ्घनशापाथर्वणादिकृता ज्वरादय पिशाचादयश्च। स्वभावजा क्षुत्पिपासाजरादय कालजा अकालजाश्च। तत्र कालजा रक्षणकृता, अरक्षणजा अकालजा। त एते समासत पुनर्द्विविधा भवन्ति प्रत्युत्पन्नकर्मजा पूर्वकर्मजाश्च। तत्र रोगोत्पत्ति प्रत्युत्पन्न कर्म यदनेनैव शरीरेण दृष्टमदृष्ट चोद्दिश्याप्तोपदिष्टाना विहिताना प्रतिषिद्धानामननुष्ठानमनुष्ठान वा। जन्मान्तरातीतेन तु पूर्वम्। तत्तु पुनर्दैवाख्यमुक्त च नियतानियतभेदेन प्राक्। तस्माद्दृष्टहेतव प्रत्युत्पन्नकर्मजा। विपरीता दैवजन्मान। अल्पनिदाना महारुजश्चोभयात्मका।

रोगों के सात भेद—रोगों के प्रकार सात है अर्थात् समस्त रोग सात प्रकारों मे आजाते है जैसे कि सहज (१), गर्भज (२), जातज (३), पीडाज (४), कालज (५), प्रभावज (६), और स्वभावज (७) रोग। इनमे से प्रत्येक के दो दो प्रकार होते है। यथा—

सहज रोग—कुष्ठ, अर्श, प्रमेहादि साथ ही मे उत्पन्न होने वाले रोगों के दो भेद होते हैं जैसे कि (१) पिता के दूषित शुक्र से होनेवाले और (२) माता के दुष्ट आर्तव से होनेवाले।

गर्भज रोग—(१) माता के गर्भावस्था में स्वय अपचार करने से अन्न रस से उत्पन्न होनेवाले और (२) पिता द्वारा दौहृद की अवमानना होने के कारण उत्पन्न होनेवाले कौब्ज्य (कुबड़ापन), पाङ्गुल्य (पगुता), पैङ्गल्य (रक्तपीतवर्णता), किलास (श्वेत कुष्ठ) आदि आदि दौहृद (प्रथम गर्भ) में माता के नाना प्रकार के आहार की इच्छा होनेपर भी उसे मनोवाछित आहार का न देना दौहृदविमानन कहलाता है।[2]

जातज रोग—जन्मनेवाले के (१) स्वय अपचार करने से (न कि माता-पिता-कृत अपचार से) होनेवाले सतर्पण (अविचारपूर्वक यथेच्छ खाने-पीने) से और (२) अपतर्पण (भूख, प्यास, उपवासादि) से होनेवाले रोग।

पीडाकृत रोग—(१) क्षत, भङ्ग और प्रहार से होनेवाले शारीरिक एव (२) क्रोध, शोक, भयस्वरूप मानसिक रोग।

कालकृत रोग—(१) शीतादि से होनेवाले ज्वरादि व्यापन्नज और (२) असरक्षणोत्थ। शीतादि अर्थात् शीत, उष्ण एव वर्षाकाल में बिगडे हुए शालि धान्यादि से होनेवाले

१ "पूर्वस्मिन्नध्याये रोगविशेषानपेक्षया दोषाणामेवोपक्रम उक्त। अस्मिंस्तु रोगाणा स्वरूपमुपक्रम च प्रदर्शयितुमध्याय आरभ्यते" इतीन्दु। २ दौहृद प्रथमगर्भे मातुर्नानाविधाहारेच्छा तद्विमाननमितीन्दु।

व्यापन्नज रोग हैं और शीत, उष्ण और वर्षा से रक्षा न होने के कारण होनेवाले रोग असरक्षणज कहलाते हैं।

प्रभावज रोग—देवता-गुरु के उल्लघन (न मानने) से शाप या आथर्वण मन्त्रो से किए अभिचार द्वारा होनेवाले (१) ज्वरादि और (२) भूत, प्रेत, पिशाचादि रोग। यहा आदि शब्द से चतुर्विध भूतग्राम को भी लेना चाहिए।

स्वभावज रोग—भूख, प्यास एव बुढ़ापा आदि (१) कालज और (२) अकालज रोग। यहा रक्षण करते हुए होनेवाले रोग कालज हैं और रक्षण के अभाव मे होनेवाले रोग अकालज समझने चाहिए। साराश, शरीर का समुचित रक्षण करते हुए समय पर होनेवाले भूख, प्यास और जरावस्था कालज है अर्थात् अपने समय पर होनेवाले है किन्तु अकालज इनके विपरीत है। इस लिए कि शरीर का समुचित रक्षण न होने से ये ही भूख, प्यास और बुढ़ापा अकाल मे ही दिखाई देने लगते हैं जैसे कि युवावस्था मे जरावस्था आदि आदि अकालज रोग हैं।

रोगों का द्विविधत्व—सक्षेप में कहें तो ये सभी प्रकार के रोग पुन दो प्रकार के कहे जा सकते हैं-प्रत्युत्पन्न कर्मज और पूर्वकर्मज। इसी जन्म में रोगों के भोगनेवाले इसी शरीर से किए जानेवाले कर्मों से होनेवाले रोग प्रत्युत्पन्न कर्मज कहलाते हैं और पूर्व-जन्म के किए कर्मों के कारण होनेवाले रोग पूर्वकर्मज। प्रत्युपन्नकर्मज तथा पूर्वकर्मज इन दोनों रोगों को दृष्ट और अदृष्ट समझते हुए आप्तों ने उपदेश किया है कि विहित आचरण को करे और निषिद्ध कर्मों के आचरण का त्याग करे। इस लिए कि यह भी इनकी उचित चिकित्सा है।

जन्मान्तर में किए हुए पापों से पूर्वकर्मज रोग इस जन्म में फल देते है यह तो पहले नियतानियत भेद करके दैव पर्याय से विरुद्धान्नविज्ञानीय अध्याय में कह चुके हैं। इसलिए दृष्ट हेतुवाले रोग प्रत्युत्पन्नकर्मज हैं और विपरीत इसके अदृष्ट हेतुवाले रोग दैवजन्मा (पूर्वकर्मज) है। स्वल्प कारणों को लेकर होनेवाले महारोगों को उभयात्मक अर्थात् प्रत्युत्पन्नकर्मज तथा पूर्वकर्मज समझना चाहिये।

तत्र यथास्व प्रतिपक्षशीलनात् पूर्वेषा रोगाणामुपशम। सत्येव विपक्षशीलनेऽनिष्टकर्मक्षयाद्दैविकानाम्। दोषकर्मक्षयादन्येषाम्। अन्ये तु पुन प्रत्युत्पन्न कर्म परकृतमपि वर्णयन्ति। तच्च पराभिसस्कारमाचक्षते। एव चाहु। यदि स्वय कृतादेव कर्मण कार्यनिर्वृत्ति स्यात् न दृष्ट पुरुषान्तरकृतात्किमिति विद्वानपि पराचरितयोरुपकारापकारयो सुखदु खानुरोधात्तोषरोषौ प्रतिकर्त्तव्यचिन्ता वा प्रतिपद्यते। एवमेते व्याधयो द्विविधा' सन्तस्त्रिविधा जायन्ते। ततश्च दोषविशेषतो भूय सप्तविधा।

प्रथम वर्णन की हुई उन उन प्रत्युत्पन्नकर्मज व्याधियों का उपशम प्रतिपक्षशीलन (हेतु-व्याधि-विपरीत ओषधियों का सेवन) करने से होता है। प्रतिपक्ष (हेतुव्याधिविपरीत) ओषधियों के सेवन से न होकर दैविक व्याधियों का उपशम तो अनिष्टकर्म के नाश होने पर ही होता है (कहा भी है कि भोगा देवकर्मणा क्षय) अर्थात् पूर्वकृत अनिष्टकर्म के क्षय होने से ही दैविक व्याधि शान्त होती है। अन्य (प्रत्युत्पन्नकर्मज और पूर्वकर्मज इन दोनों प्रकार की) व्याधियों का उपशम अपथ्य जन्य दोष एव पूर्वकर्म के क्षय होने से होता है। पहले कहा गया है कि स्वय कृतकर्म ही प्रत्युत्पन्न कर्म है परन्तु कुछ आचार्य परकृत (शत्रुओं के किए हुए) अभिचारादि कर्म को भी जिसे पराभिसस्कार कहा गया है, प्रत्युत्पन्न कर्म कहते है। उनका कहना है कि—यदि अपने किए कर्म से किसी कार्य का होना देखा जाता है तो क्या वैसे ही अन्य किसी पुरुष के किए हुये कर्म से उसके कार्य का होना नही देखा जाता? अवश्य देखा जाता है। कोई विद्वान् भी क्यों न हो, वह भी दूसरे के किए उपकार-अपकार से होनेवाले सुखदु ख के अनुरोध से सन्तुष्ट एव रुष्ट होता हुआ उसका बदला चुकाने की चिन्ता करता है। श्येनयागादि कर्मों की प्रवृत्ति इसी विषय को लेकर हुई सो भी शास्त्र में वर्णित है। इस प्रकार परकृत कर्म का व्याधिकारणों में अनुप्रवेश हो जाने से व्याधिये दो प्रकार की होती हुई भी तीन प्रकार की हो जाती हैं और व्याधियें दोषवाली हैं अत वे ही फिर दोषों के पृथक्, ससर्ग तथा सन्निपात-भेद से सात प्रकार की हो जाती हैं।

सकलोऽपि चाय रोगसमूह प्रतीकारवानायुर्वेदविहितमुपदेशमपेक्षते। यस्मान्नियतहेतुकोऽप्यामय सम्यग्भिषगादेशानुष्ठानादुपात्तायु सस्कारापरिक्षयेसति सद्यवेदनता प्रतिपद्यते। अनुपक्रम्यमाणस्तु सर्व एव प्रायशो भनक्त्यकाण्डे। स्वयमपि च दैवान्निदानाल्पतया वा निवर्तमान षोडशगुणसमुदितक्रियोपलम्भादाशुतरमपरिक्लिश्य' चापगच्छति। अनियतफलदायिनि तु दैवे हिताभ्यासरतस्यावकाशमेव न लभते व्याधि। तस्मान्न कस्याचिदवस्थायामात्मवान् हिताहितयोस्तुल्यदर्शी स्यात्।

आयुर्वेदोपदेश की परमावश्यकता—समस्त रोगों का समूह प्रतीकारवान् है अर्थात् सपूर्ण व्याधियें प्रतिक्रियावाली हैं—चिकित्सा के योग्य हैं और चिकित्सा सर्वथा आयुर्वेद के अधीन है अत सब व्याधियें आयुर्वेदोक्त उपदेश की अपेक्षा करती हैं। इसलिए कि किसी भी नियत हेतु (कारण) से होनेवाला रोग क्यों न हो, वह भी भलीभाति अच्छे वैद्य के उपदेशानुसार अनुष्ठान करने से सद्यवेदनता (सद्य वेदनावाले के भाव) को प्राप्त होता हुआ नष्ट हो जाता है। इतना ही नहीं, सद्वैद्य के उपदेशानुसार चलने से जिसकी आयु शेष है ऐसा प्राणी व्याधि के हेतु को भी प्राप्त नही करता अर्थात् आयुर्वेदोपदेशानुसार अनुष्ठान करने से रोग होने का कोई कारण भी उपस्थित नही होता। विपरीत इसके जिसकी चिकित्सा नही होती, उसे रोग अकाल मे ही शीघ्र मार डालता है। दैववश, कारणों की अल्पता होने से हुआ रोग,

१ आदिग्रहण भूतग्रामोपलक्षणार्थमितीन्दु।

२ निदिष्टकर्मक्षयात्। ३ त्रित्त

१, अपरिक्लिश्य नाशमुपगच्छति

कुछ भी कष्ट न देता हुआ षोडशगुणोक्त[1] क्रिया की प्राप्ति द्वारा स्वय बहुत जल्दी शान्त हो जाता है। अनियत फल देनेवाले दैव के होते हुए भी आयुर्वेदोक्त हिताहार-विहारसेवी के लिए रोग होने का अवसर ही प्राप्त नही होता। इसलिए किसी भी अवस्था मे बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह हिताहित के विषय में कदापि तुल्यदर्शी न बने। साराश, हिताहित को एक समान न समझे। अपितु तद्वत् आचरण करे। नीरोगावस्था में स्वस्थता बनी रहने का अनुष्ठान करे और रोग की अवस्था में तुरन्त उसकी प्रतिक्रिया (उपाय) करे।

त्रिविधाश्च पुनर्व्याधयो मृदुमध्यातिमात्रभेदेन। तत्राल्पलक्षणा मृदवो, मध्यलक्षणा मध्या, सपूर्णलक्षणास्त्वधिमात्रा। ते पुन सुखसाध्यादिविशेषेण चतुर्विधा प्रागुपदिष्टा। सुबहुशोऽपि च भिद्यमाना व्याधयो निजागन्तुता न व्यभिचरन्ति[2]। तत्र निजास्तु दोषोत्थास्तेषु पूर्वं वातादयो वैषम्यमापद्यन्ते ततो व्यथाभिनिर्वर्त्तते। बाह्यहेतुजास्त्वागन्तवस्तेषु व्यथा पूर्वमुपजायते ततो दोषवैषम्यम्। दोषवैषम्येणैव च बहुरूपा रुगनुबध्यते प्रवर्धते च। एव च कृत्वा न दोषव्यतिरेकेण रोगानुबन्ध केवल पौर्वापर्ये विशेष। तस्मादेकाकारा एव रोगास्तथा रुक्सामान्यादसख्यभेदा वा प्रत्येक समुत्थानस्थानसस्थानधर्म[3]नामवेदना प्रभावोपक्रमविशेषात्ते यथास्थूल यथास्वमेवोपदेक्ष्यन्ते। असख्येयत्वाच्च दोषलिङ्गैरेव रोगानुपक्रम च विभजेत्।

व्याधियों के प्रकार—मृदु, मध्य और अधिमात्र-भेदसे रोगों के पुनरपि तीन प्रकार होते हैं। इनमें अल्पलक्षणवाले मृदु, मध्यलक्षणवाले मध्य तथा सपूर्णलक्षणवाले अधिमात्र कहलाते हैं। ये पुन सुख-साध्य, कष्टसाध्यादि विशेषसे चार प्रकार के होते है, यह पहले कह चुके हैं। व्याधियोंके बहुतसे भेद होनेपर भी वे निज और आगन्तु भेदोंसे बाहर नही जातीं। साराश, व्याधिया अनन्त होने पर भी वे निज और आगन्तु इन दो जातिकी ही रहती है। यहापर निज व्याधिया वे हैं जो वातादि तीन दोषोंसे उत्पन्न होती है। इनमे पहले वातादि दोष विषमताको प्राप्त होते हैं और फिर व्यथा (रोग) का प्रादुर्भाव होता है। आगन्तु व्याधियें वे हैं जो बाहिरी कारणोंसे होती है। इनमें पहले शस्त्रप्रहार, चोट लगना, गिर पड़ना आदि नाना प्रकारके बाह्य कारणोंसे व्यथा होती है और व्यथाके पश्चात् दोषवैषम्यता (वातादि दोषोंकी विकृति) होती है तथा दोषवैषम्य के कारण फिर अनेक रूपकी पीडा होती है। इस प्रकार देखा जाय तो किसी भी रोगका प्रादुर्भाव दोषोंको छोड़कर नही होता। यह विशेष अवश्य है कि एक में दोष पहले ही से रहते हैं तो दूसरे में पीछे आकर प्राप्त होते हैं। इस दोष-भेदको देखा जाय तो सभी रोग एकही स्वरूप के हैं और रोग-भेद या रुक्सामान्यसे देखा जाय तो रोगोंके भेदोंकी सख्या ही नही हो सकती अत रोग असख्य है। इसलिए कि रोगोंके समुत्थान (कारण), स्थान (शरीरदेश), सस्थान (लक्षण), धर्म (स्वभाव), पाठान्तरसे वर्ण (श्वेत, पीत आदि), नाम (ज्वर, अतीसार आदि), वेदना (शूल, दाह, शोथादि), प्रभाव (रोगकी शक्ति) तथा उपक्रम (चिकित्सा) आदि विशेषोंके कारण इनकी गिनती करना कठिन ही नहीं, असम्भव है। इसी लिए यथास्थूल उन उन रोगोंके विषयमें उपदेश किया जायगा। असख्य होनेसे जिस रोगका पता न लगे तब वातादि दोषोंके लक्षणों द्वारा ही रोगों का विभाजन तथा चिकित्सा करे।

दोषा एव हि सर्वरोगैककारणम्। यथैव शकुनि सर्वत परिपतन् दिवस स्वा छाया नातिवर्तते। यथा वा कृत्स्न विकारजात वैश्वरूप्येण व्यवस्थित गुणत्रयमव्यतिरिच्य[1] वर्तते तथैवेदमपि कृत्स्न विकारजात दोषत्रयमिति। यथा च विद्युद्वर्षादयो नभसि भवन्ति न त्ववश्य निमित्ततस्त्ववश्यमपि। तरङ्गबुद्बुदादयश्चाम्भसि[2] तथा दोषेषु रोगा।

दोष ही सब रोगोंके कारण—वातादि तीन दोष ही सपूर्ण रोगों के एकमात्र कारण है। जैसे शकुनि (पक्षी) दिनभर सर्वत (नदी, तडाग, वन, समुद्र आदि समस्त स्थानों पर) उडता हुआ अपनी छाया को नही छोडता तथा जैसे विश्वरूपेण व्यवस्थित सपूर्ण विकारजात (मनुष्यादि) गुणत्रय (सत, रज, तम) को छोडकर नही रहते तथैव ज्वरादि समस्त विकार भी दोषत्रयको छोड़कर नही रहते हैं। इससे सिद्ध है कि वात, पित्त और कफ ये तीनों दोष सदैव शरीरमें वर्तमान रहते है। फिर भी रोगकी उत्पत्ति कभी कभी ही करते हैं, इसका क्या कारण है? इसके उत्तरमें कहते है कि—बिजली-वर्षा आदि सदैव आकाश मे अवश्य रहते हैं परन्तु सदैव बिजली-वर्षा नही होती किन्तु निमित्तको पाकर अवश्य होती है, ठीक इसी प्रकार तीनों दोष शरीरमें रहते हुए भी रोगोत्पत्ति नही करते है किन्तु असात्म्येन्द्रियार्थसयोगादि निमित्तको पाकर अवश्य रोगके उत्पादक होते हैं। साराश, तरङ्ग, बुद्बुदादि जैसे जलमे है वैसे ही दोषोंमें सब रोगोंकी अवस्थिति है। तरङ्ग, बुद्बुदादि विना वायु आदि निमित्तके प्रगट नही होते, ठीक इसी प्रकार बिना निमित्तके दोष रोगोंके उत्पादक नहीं होते है।

त्रिविध तु निमित्तमेषामसात्म्येन्द्रियार्थसयोग प्रज्ञापराध परिणामश्च। ते पुन प्रत्येकमतियोगायोगमिथ्यायोगभेदात् त्रिधा भिद्यन्ते। तत्र यथास्व चक्षुरादीन्द्रियाणा रूपादिभिरर्थैरतिससर्गोऽतियोग। अल्पशो नैव वा ससर्गस्त्वयोग। सूक्ष्मातिदूरान्तिकस्थातिभास्वद्भैरवाप्रियविकृतादिदर्शनम्। द्विष्टात्युग्रपरुषभीषणादिश्रवणम्। पूत्यमेध्यातितीक्ष्णोग्रप्रति-

१ वैद्यद्रव्यपरिचारकातुराख्य पादचतुष्टय षोडशगुणम्। यथोक्त चरके 'कारण षोडशगुण सिद्धौ पादचतुष्टयम्' इति।

२ 'त्रिविधादिव्यभिचरन्ति, इत्यन्त पाठो न लभ्यत' इ दुकृत टीकापुस्तके। ३. वर्ण

१ गुणत्रयमप्यतिरिच्य २. चाम्भस। इति पाठान्तराणि

कूलाद्याघ्राणम् । स्वभावादिभिराहारकल्पनाविशेषायतनैरपथ्याना रसानामभ्यवहारस्तथा स्नानादीना शीतोष्णादीना च स्पृश्यानामयथावदुपसेवनमशुचिभूताभिघातविषवातादिसस्पर्शश्च मिथ्यायोग ।

रोगाके त्रिविध निमित्त—इन दोषोंके रोगोत्पत्ति करनेमें तीन प्रकारके निमित्त हैं और वे हैं (१) असात्म्येन्द्रियार्थसयोग, (२) प्रज्ञापराध और (३) परिणाम। इन तीनोंके हीन, मिथ्या और अतियोग-भेदसे तीन तीन भेद होते हैं। अब इन तीनोंका स्पष्टीकरण करते हैं।

असात्म्येन्द्रियार्थसयोग असात्म्य अर्थात् अपनी आत्मा को न सुहानेवाला हानिकारक, चक्षु आदि (चक्षु, श्रवण, घ्राण, रसना और त्वक्) इन्द्रियोंके अर्थ (रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श) का सयोग = असात्म्येन्द्रियार्थसयोग कहलाता है। प्रत्येक इन्द्रियार्थका यह असात्म्य-सयोग हीनयोग, मिथ्यायोग और अतियोग के भेदसे तीन प्रकारका होता है। उदाहरणार्थ चक्षु आदि इन्द्रियोंके रूपादि अर्थोंका अतिससर्ग अतियोग है। स्वल्प या नहीं होनेवाला ससर्ग अयोग किवा हीनयोग है। इनके अतिरिक्त वक्ष्यमाण चक्षु आदि इन्द्रियार्थोंका ससर्ग मिथ्यायोग है, यथा—सूक्ष्म, अतिदूर, अतिसमीप, अति-प्रकाशमान्, भयङ्कर, अप्रिय, विकृतादिका देखना चक्षुके अर्थोंका मिथ्यायोग है। द्वेषपूर्ण, अत्युच्च, परुष, भयकरादि शब्दका सुनना श्रवणेन्द्रियार्थका मिथ्यायोग है। दुर्गन्धि, अपवित्र, अतितीक्ष्ण, उग्र, प्रतिकूलादिकी गन्धका सूघना घ्राणेन्द्रियार्थका मिथ्यायोग है। स्वभावादि करके अपथ्य आहार-रसोंका सेवन रसनेन्द्रियार्थका मिथ्यायोग है। इसी प्रकार त्वचाके अर्थका मिथ्यायोग शीतोष्णादि-स्नान (जो सहन न होता हो), स्पृश्य पदार्थोंका अनुचित सेवन, अशुद्ध, अभिवात और विषैली हवाका स्पर्श है।

कायवाङ्मनोभेदन तु त्रिविधमप्यहित कर्म प्रज्ञापराध । तत्र कायादिकर्मणोऽतिप्रवृत्तिरतियोग । अल्पशो नैव वा प्रवृत्तिरयोग । वेगोदीरणधारणविषमाङ्गचेष्टनस्खलनकण्डूयनप्रहारप्राणायामादि तथा क्षुत्पिपासार्धभुक्तभाषणादि भयशोकेर्ष्यामात्सर्यादि दशविध चाकुशल कर्म यथास्व मिथ्यायोग ।

प्रज्ञापराध—काय (देह), वाक् (वाणी) और मन इन तीनों के द्वारा किया जानेवाला अहित-कर्म प्रज्ञापराध है। कायादि (शरीर, वाणी और मन) द्वारा किए जानेवाले कर्मों की अतिप्रवृत्ति अतियोग है। अल्प प्रवृत्ति या इनके द्वारा कृत कर्मों में प्रवृत्तिका न होना अयोग या हीन योग है। अनुचित वेगोदीरण-धारण (चतुर्दश वेगों का उदीरण धारण), विषमाङ्गचेष्टन (शारीरिक अङ्गों से विपरीत चेष्टा), स्खलन (गिर पड़ना), कण्डूयन (खुजलाना), प्रहार (शस्त्र लाठी आदि से मारना), प्राणायाम (प्राणों को घोंटना) आदि। तथा क्षुधा, पिपासा, अर्धभुक्त (पूरा भोजन न करके आधा ही करना) और भाषण आदि। भय, शोक, ईर्ष्या और मात्सर्य आदि। दस प्रकार के अकुशल कर्म (हिंसा, चोरी, अगम्या स्त्री में गमन, ये तीन कायिक। पैशून्य=निन्दा, परुष=क्रोध असत्य, फूट डालनेवाले वचन, ये चार[१] वाचिक और व्यापाद=बुरा चिन्तना, अभिध्या=परधनेच्छा तथा दृग्विपर्यय=बुरे को भली एव भले को बुरी दृष्टि से देखना ये तीन मानसिक इस प्रकार सब मिलाकर दस अकुशल कर्म[२]), ये यथास्व (यथाक्रम से) काय-वाङ् और मन के मिथ्या योग हैं। यहा यथास्व कहने से पूर्वोक्त वेगोदीरण से प्राणायामादि तक कायिक, क्षुधादि भाषण आदि तक वाचिक तथा भय से लेकर मात्सर्य आदि तक मानसिक कर्म समझना चाहिए[३]।

परिणाम पुन काल उच्यते, सोऽपि शीतोष्णवर्षभेदात्—त्रिधा। तत्रातिमात्रस्वलक्षण कालोऽतियोग[४]। हीनस्वलक्षणस्त्वयोग । विपरीतो मिथ्यायोग ।

परिणाम—काल को परिणाम कहते हैं। काल भी शीतकाल-उष्णकाल और वर्षाकाल के भेद से तीन प्रकार का है। इनमें से जो जो काल अतिमात्र (प्रमाण से अधिक) लक्षण वाला होने पर वह २ उस काल का अतियोग कहलाता है। हीन लक्षण वाला होने से अयोग या हीन योग होता है। विपरीत लक्षण होने से मिथ्यायोग होता है। इसकी विस्तृत व्याख्या पहले कर चुके हैं अत यहा पुन पिष्टपेषण करना अनुचित है।

त एतेऽतियोगादय सामान्यतोऽनुपशयलक्षणा । सर्वो वा प्रज्ञापराध एवाय यदेषामविवर्जनम्। अर्थकर्मकाला पुन सम्यग्योगेनोपशयाद् भूयिष्ठ स्वास्थ्यहेतव । तत्रापि रसवर्जा[५] विषया यथायथमिन्द्रिय बाधन्तेऽनुगृह्णन्ति च। शेषा रसकर्मकालास्तु सर्व देहम्। अपि च—

सर्वभावाना भावाभावौ नान्तरेण योगातियोगादीन् व्यवस्येत्। सर्वेषा पुनर्विकाराणा निदानदोषदूष्यविशेषेभ्यो भावाभावविशेषा भवन्ति। यदाह्येते त्रयो निदानादिविशेषान्नान्योऽन्यमनुबध्नन्तीषद्वानुबध्नन्त्यबला वा न तदाभिनिर्वर्तन्ते व्याधयश्चिराद्वाभिनिर्वर्तन्ते तनवो वा भवन्त्यसपूर्णलिङ्गा वा विपरीते तु विपरीता[६]।

अतियोगादि—अर्थात् काल, अर्थ और कर्मों के अतियोग, हीनयोग तथा मिथ्यायोग ये सामान्यतया अनुपशय लक्षणवाले (देह को सुख न देनेवाले) है, अपि तु दु खदायक हैं। फलत काल-अर्थ और कर्मों के अतियोग, हीनयोग और मिथ्यायोग का न रोकना भी प्रज्ञापराध ही है। ये काल,

१ अभिध्या-परस्वविषये स्पृहा' इत्यमर । २ हिंसास्तेयान्यथाकाम पैशुन्य परुषानृते । सभिन्नालाप व्यापादमभिध्या दृग्विपर्ययम्। इति दशविध हिंसादि कर्म। 'तत्र हिंसा चौर्यमगम्यागमन कायिकम्, पैशुन्य परुषमसत्य सभिन्नालापमिति वाचिकम्, व्यापादमभिध्या दृग्विपर्ययमिति मानसमिति।' ३ वेगोदीरणादिप्राणायामान्त क्षुदादिभाषणान्त भयाद्यकुशलान्त यथासख्येन कायवाङ्मनसा मिथ्यायोग ' इतीन्दु ।' ४ रसवर्ज्या ५ त्रयाणामतियोगादीनामनुपशय देहासुखकारित्व लक्षणम्। इतीन्दु

अर्थ और कर्म सम्यक् योग से उपशय लक्षणवाले होते हुए स्वास्थ्य के हेतु हैं। तथापि रसवर्जित शब्द, स्पर्श, रूप और गन्ध ये चार विषय अतियोगादि के कारण अपनी अपनी इन्द्रियों को बाधाकारक होते है। भावार्थ यह है कि अतियोगादिवशात् शब्द-कर्णेन्द्रिय को, स्पर्श-त्वक् इन्द्रियको, रूप नेत्र इन्द्रियको तथा गध घ्राणेन्द्रिय को दु खदायी ही होते है। विपरीत इनके सम्यग्योगसे सुखदायी होते है (उस उस इन्द्रिय पर अनुग्रह करते हैं)। शेष रहे रस, काल, कर्मादि तो असम्यग्योग से सपूर्ण देह को दु ख देनेवाले होते है। विपरीत इनके सम्यक् योग से सुखकारक भी होते है (सारे शरीर पर अनुग्रह भी करते हैं) इस लिए कि रस का द्रव्यके साथ उपयोग किया हुआ सारे शरीर पर अनुग्रहकारक है।

समस्त भाव (द्रव्य, गुण और कर्म) चाहे बाह्य हो चाहे आन्तरिक, इन सबका भाव और अभाव अर्थात् स्थिति और नाश निश्चित है अत बिना इस भावाभाव-विचार के योग, अतियोगादि का सेवन न करे। भावार्थ यह है कि काल, अर्थ और कर्मों का सम्यक् योग भाव (स्थिति) का कारण है अत इसका अनुष्ठान करे किन्तु इसके विपरीत अतियोगादि (अति-हीन और मिथ्यायोग) अभाव (नाश) के कारण है अत इनका सेवन न करे। इसी प्रकार निदान, दोष और दूष्य- विशेष को लेकर अर्थात् निदान (आदि कारण) वात, पित्त और कफ ये तीनों दोष तथा रस-रक्तादि सातों धातुओं के विशेष को लेकर सम्यक् योग और अति-हीन-मिथ्यायोग ये रोगों के भी भावाभावविशेष (स्थिति दूष्य और नाश करनेवाले) होते हैं। साराश-काल, देश और क्रियावशात् सम्यग्योग रोगों को नाश करता है और अति योगादि रोगों के करनेवाले होते है। जब ये तीनों निदान, दोष और दूष्य परस्पर अनुबद्ध नहीं होते है (परस्पर अनुग्रह करनेवाले नहीं होते है) अथवा निर्बलता के कारण इन निदान-दोष-दूष्यों का अल्पानुग्रह होता है तब रोगों की उत्पत्ति ही नहीं होती, अथवा विलम्ब से रोगोत्पत्ति होती है। इतना ही नहीं, रोगोत्पत्ति होने पर भी अल्प बल होने से वह सूक्ष्मरूप से सपूर्ण लक्षणों सहित नही होती। विपरीत इसके अति-हीन-मिथ्यारूप असम्यग्योग होता है अर्थात निदान, दोष और दूष्य ये तीनों असम्यग्योग से बहुत अधिक परस्पर अनुबद्ध होते हैं तब बलवान् ज्वरादि रोगों की उत्पत्ति बहुत जल्दी और सपूर्ण लक्षणोंवाली होती है।

त्रयश्च रोगाणा मार्गा बाह्यमध्याभ्यन्तरास्तत्र बाह्यो रक्तादिधातवस्त्वक्च। स पुन शाखाख्य। तदाश्रया गण्डपिटिकालज्यपचीचर्मकीलार्बुदाधिमासमषव्यङ्गादयो बहिर्भागाश्च शोथार्शोगुल्मविसर्पविद्रध्यादय। मध्यो मूर्द्धहृदयबस्त्यादीनि मर्माण्यस्थिसन्धय। तत्रोपनिबद्धाश्च स्नायुशिराकण्डरादय। तदाश्रया पक्षवधग्रहापतानकार्दितराजयक्ष्मास्थिसन्धिशूलगुदभ्रंशादयो मूर्धादिरोगाश्च। आभ्यन्तरो महास्रोत शरीरमध्य महानिम्नमामपक्वाशयाश्रय कोष्ठोऽन्तरिति पर्याया। तदाश्रया ज्वरातिसारच्छर्द्यलसकविसूचिकाश्वासकासहिध्माऽऽनाहोदरप्लीहादयोऽन्तर्भागाश्च शोफार्शोविद्रधिगुल्मादय।

रोगों का बाह्यमार्ग—पूर्वोक्त व्याधियें विना किसी आश्रय विशेष के नहीं होती है अत अब आचार्य उक्त रोगों के आश्रयविशेष का वर्णन करते है। रोगों के बाह्य, मध्य एव आभ्यन्तर ऐसे तीन मार्ग है। इनमे से पहला बाह्य-मार्ग रक्तादि धातु और त्वचा है। इन सब को शाखा भी कहते है। इन रक्तादि धातुओं एव त्वचा के आश्रित रोग गण्ड, पिटिका, अलजी, अपची, चर्मकील, अर्बुद, अधिमास, मष, व्यङ्ग आदि और शोथ, अर्श, गुल्म, विसर्प, विद्रधि आदि बहिर्भागवाले रोग हैं। इनमें से कई अष्टाङ्ग-हृदय के भाषा टीकाकारों ने शोथ, अर्श, गुल्म, विसर्प, विद्रधि आदि रोगों को अन्तर्मार्गी माना है किन्तु यह ठीक नहीं है। वस्तुत ये भी बहिर्भागवाले ही है।

रोगों का मध्यमार्ग—मूर्धा (सिर), हृदय, बस्ति आदि मर्म तथा अस्थियों की सन्धिय एव इन सबसे सबद्ध सिरा, स्नायु, कण्डरा आदि (धमनी, कूर्चादि) ये सब रोगों का मध्यमार्ग है। मध्यमार्गान्तर्गत इन सिर, हृदय बस्ति आदि मर्मों के आश्रय में रहनेवाले रोग पक्षवध (पक्षाघात), ग्रह (सन्धि, अस्थि, त्रिक मे स्तब्धता जकड़ जाना), अपतानक, अर्दित (वातरोग विशेष), राजयक्ष्मा, अस्थियों की सन्धियों मे पीडा, गुदभ्रंश (गुदा का बाहर आना) आदि तथा शिरो रोगादि है।

रोगों का अन्तर्मार्ग—आभ्यन्तर मार्ग उस महास्रोत का नाम है जो मुख से लेकर गुदापर्यन्त पोलवाली बड़ी अतड़ी है। इसके पर्याय छ हैं जैसे कि (१) महास्रोत, (२) शरीर मध्य, (३) महानिम्न, (४) आमाशयाश्रय, (५) पक्वाशयाश्रय और (६) अन्त कोष्ठ। इनके आश्रित रोग ज्वर, अतीसार, छर्दि, अलसक, विसूचिका, श्वास, कास, हिचकी, आनाह, उदर, प्लीह आदि अन्तर्भागवाले शोथ, अर्श, विद्रधि, गुल्मादि है। यहा निदिष्ट शोथ, अर्श, विद्रधि, गुल्मादि रोगों को पहले बहिर्मार्गी बताए है। पुन अन्तर्मार्ग में परिगणित करनेसे भावार्थ यह है कि ये शोफादि रोग बहिरन्तर्मार्गी अर्थात् उभयमार्गी हैं तथापि वस्तुत इन्हें बहिर्मार्गी ही माना गया है।

ते च रोगा स्वप्रधाना भवन्त्यन्य-परिवारा वा क्रमा[3]दनुबन्धानुबन्धाख्या। तत्राद्या स्वतन्त्रा स्पष्टाकृतयो यथास्व समुत्थानोपशयाश्च। इतरे तु तद्विपरीता। तद्वच्च दोषा अपि। तत्रान्यपरिवारा व्याधयो द्विविधा पुरोगामिनोऽनुगामिनश्च। तेष्वाद्या पूर्वरूपसज्ञा उपद्रवास्त्वितरे। तान् यथायथमेव वक्ष्यमाणानुपलक्षयेत्। प्रधानप्रशमे प्रशमो भवति तेषाम्। अनुपशाम्यतो वा पश्चात्तानुपक्रमेत्। त्वरित वा बलवन्तमुपद्रव प्रधानाविरोधेन[4]। स हि पीडाकरतरो भवति

१ बहिर्भागा इति दुर्नामादीना विशेषणम तर्भागनिवृत्त्यर्थमिति हेमाद्रि। २ ग्रह -स्तब्धत्व स ध्यस्थित्रिकेष्वेवेति हेमाद्रि।

३ क्रमादनतुबन्धानुबन्धाख्या। ४ प्रधानविरोधेन इति पाठान्तराणि।

व्याधिपरिक्लिष्टदेहत्वात्प्रमेहपिडिकादिवत् । तथान्य प्रधान एव रोगोऽन्यस्य हेतुर्भवति यथा ज्वरो रक्तपित्तस्य, रक्तपित्त वा ज्वरस्य । तौ श्वासस्य, प्लीहा जठरस्य । तच्छ्वयथो । अर्शांसि गुल्मोदरातिसारग्रहणीनाम् । प्रतिश्याय कासज्वरयो । तौ क्षयस्य, क्षय शोषस्य । एकश्चापचारो निमित्तमेकस्य व्याधे, बहूना च तथा बह्व । तद्वदेक लिङ्गम् । एवमेव प्रशमेऽभ्युपायस्तथा स एवान्यस्य प्रकोपे । तस्मात्तानवहित सम्यगागमादिभि परीक्षेत ।

व्याधियों की स्वतन्त्रपरतन्त्रता—उक्त सब प्रकार की व्याधियें स्वतन्त्र और परतन्त्र होती है । इन्हीं को स्वप्रधान तथा अन्य परिवारवाली कहते है । ये ही क्रम से अननुबन्धि (अनुबन्धरहित स्वतन्त्र) और अनुबन्धवाली (अनुबन्ध सहित परतन्त्र) कहलाती हैं । इनमें की पहली स्वतन्त्र यथास्व (जो जो) ज्वर, अतिसार आदि व्याधियें होती है वे स्पष्ट आकृति (लक्षण), निदान और उपशयवाली होती हैं । इतर परतन्त्र व्याधियें इन लक्षणों से विपरीत लक्षण, उत्थान एव उपशयवाली होती है । वातादि दोषों में भी इसी प्रकार स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य को जानना चाहिए । यहा अन्य परिवारवाली अनुबन्धाख्य परतन्त्र व्याधियों के दो प्रकार हैं, एक पुरोगामिनी और दूसरी अनुगामिनी । इनमे पहली की पूर्वरूप सज्ञा है और दूसरी की उपद्रव सज्ञा । इनमें से वात, पित्त या कफ से उत्पन्न जो जो व्याधि है उस २ व्याधि की आगे कही जानेवाली विधि के अनुसार परीक्षा एव चिकित्सा करें । ध्यान रहे कि प्रधान का प्रशम (उपाय) प्रथम करे । इसलिए कि प्रधान के शमन होने से परिवार का शमन आप ही हो जाता है । यदि प्रधान की चिकित्सा करने पर भी परिवार का उपशम न हो, अर्थात् प्रधान की चिकित्सा करने पर भी परिवार में से कोई व्याधि शेष रह जाय तो पश्चात् उसकी भी चिकित्सा करके उसे शान्त कर दे । ध्यान रहे कि इनमें भी जो बलवान् उपद्रव हो उसकी चिकित्सा प्रधान का विरोध न करते हुए पहले करे क्योंकि वह उपद्रव व्याधि से नितान्त परिक्लिष्टदेह (शरीर के थक जाने) के कारण अधिक पीडाकारक होता है जैसे कि प्रमेह से भी पिडिका अधिक दु खदायिनी होती है ।

रोग ही रोग का हेतु—प्रधान रोग या बलवान् उपद्रव का तुरन्त उपाय करना चाहिये क्योंकि देखा जाता है कि एक प्रधान रोग दूसरे प्रधान रोग का हेतु (कारण) हो जाता है अर्थात् एक प्रधान रोग दूसरे प्रधान रोग को पैदा कर देता है जैसे कि ज्वर से रक्तपित्त होता है अथवा रक्तपित्त से ज्वर । ज्वर और रक्तपित्त इन दोनों से श्वास की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार प्लीहा उदररोग का कारण बनती है अर्थात् प्लीहा से उदर रोग हो जाता है । यह उदररोग शोथ को करनेवाला होता है । अर्श से गुल्म, उदर, अतिसार तथा ग्रहणीरोग हो जाता है । ऐसे ही प्रतिश्याय (जुकाम) से खासी और ज्वर हो जाते हैं । कास और ज्वर दोनों मिलकर क्षयरोग के करनेवाले होते हैं और क्षय से शोष की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार एक व्याधि दूसरी व्याधि का कारण होती है । साराश, कहीं एक व्याधि बहुत सी व्याधियों का तथैव बहुत सी व्याधियें मिलकर किसी एक व्याधि का कारण बनती है । एक व्याधि का शमनकारक उपाय दूसरे के प्रकोप को भी शान्त करनेवाला होता है । इसलिए भली भाति सावधान होकर शास्त्रानुमोदित इन रोगों का परीक्षण करे ।

तत्रागमतो रोगमेवमेवं प्रकोपनमेव योनिमेवमा[1]त्मानमेवमधिष्ठानमेव वेदनमेव रूपशब्दगन्धरसस्पर्शमेव पूर्वरूपमेवमुपद्रवमेव वृद्धिस्थानक्षयान्वितमेवमुदर्कमेव नामानम् । तस्मिन्निय प्रतीकारस्य प्रवृत्तिरन्यथा निवृत्ति । प्रत्यक्षतस्त्वातुरस्य यथास्वमिन्द्रियैर्वर्णसस्थानप्रमाणोपचयच्छायाविण्मूत्रच्छर्दिताधिक्यमन्त्रकूजनमङ्गुल्यादिसन्धिस्फुटन[2] देहशकृद्व्रणादिगन्ध सुप्रशीतोष्णस्तम्भ[3]सस्पन्दश्लक्ष्णखरस्पर्श च । प्रकृतिविकृतिमुक्त[4]मास्यरसतु प्रश्नेन तथा सुच्छर्दद्दुश्छर्दत्व मृदुक्रूरकोष्ठता स्वप्नदर्शनमभिप्राय जन्मामयप्रवृत्तिनक्षत्र द्विष्टेष्टसुखदु खानि च । तथा वय प्रत्यक्षेण च । अनुमानतस्तु यूकापसर्पणेन शरीरस्य वैरस्य[5], मक्षिकोपसर्पणेन माधुर्य[6] तथाग्नि जरणशक्त्या, बल व्यायामशक्त्या, गूढलिङ्ग व्याधिमुपशयानुपशयतो दोषप्रमाणमुपचार[7]विशेषेणायुष क्षय रिष्टै । प्रकृतिसत्त्वसारसात्म्यबलान्यनुशीलनेनेति ।

वैद्य के लिये आवश्यक उपदेश—आयुर्वेद-शास्त्रानुसार वैद्य को भली भाँति इन सब बातों को देख लेना चाहिए कि इस प्रकार का यह रोग है, इस प्रकार से रोग का प्रकोप हो रहा है, वातादि दोषों द्वारा अमुक एक, दो या अनेक दोषों से यह रोग हुआ है, अमुक स्थान मे यह रोग है, इस प्रकार की वेदना हो रही है, रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श इस प्रकार के हो रहे है, इस रोग का इस प्रकार पूर्वरूप और उपद्रव हुआ या होता है । इसकी वृद्धि, स्थिति एव क्षय इस प्रकार दिखाई दे रहा है और इसका फल और नाम इस प्रकार से है, इस रोग की चिकित्सा में इस प्रकार प्रवृत्त होना चाहिए या नही इत्यादि बातों का भली भाँति विचार करके प्रत्यक्ष रोगी की इन्द्रियें, वर्ण, लक्षण, रोगप्रमाण, रोग की वृद्धि, रोगी की कान्ति, मल-मूत्र-वमनादि की अधिकता, इनका नेत्रों से अवलोकन कर, अतड़ियों का बोलना, अङ्गुलि आदि सन्धिस्थानों का स्फुटन (बोलना), इनका कानों से सुनकर, देह-शकृत् (पुरीष)-व्रण आदि की गन्ध को घ्राणेन्द्रिय (नाक द्वारा) अनुभव कर, चर्म मे सुप्तता-शरीर या त्वचा की शीतलता, उष्णता, कठिनता, स्पन्दन (फड़कना), नरमी और खरस्पर्शता इनका स्पर्श द्वारा निश्चय करके, इतना ही नहीं, प्रकृतिविकृति (सुख और दु ख) कैसा क्या हो रहा

१ योनिमेवमधिष्ठानमेवमात्मानमेव । २ मङ्गुल्यादिषु सन्धिषु स्फुटन । ३ स्तम्भन । ४ मुक्त । ५. शरीरवैरस्य । ६ शरीरमाधुर्यम् । ७ मपचार ।

है ? भोजन की क्या व्यवस्था है ? अन्न खाया जाता है कि नहीं ? खाते हुए जिह्वा पर उसका स्वारस्य-वैरस्य आदि कैसा प्रतीत होता है ? इनका निश्चय प्रश्न करके (पूछताछ करके) तथा श्वासोच्छ्वास का सुख से दुःख से आना, मृदु है या क्रूरकोष्ठ है, सोना-जागना आदि और इसी प्रकार इस व्याधि की प्रवृत्ति जन्म से ही तो नहीं है ? ग्रहनक्षत्रादि से तो नहीं है ? कौन कौन सी बातें रोगी को सुहाती हैं या नहीं सुहाती हैं ? सुख-दुःख क्या हो रहा है ? और इस समय रोगी का वय (अवस्था) क्या है ? । इन सब का निश्चय प्रत्यक्ष से करना चाहिए । यूका (जुँओं) के मारे शरीर का वैरस्य (बासना-रसरक्तहीन होना) मक्खियों के बार-बार उपसर्पण (सम्मुख) आने से शरीर के माधुर्य (मिठास) को अनुमान से तथैव जठराग्नि को पाचन शक्ति से, बल को व्यायाम (चलने फिरने) से, छिपे हुए लक्षणोंवाली व्याधि को उपशय और अनुपशय से, दोष-प्रमाण (वातादि दोषों के प्रमाण) को उपचार विशेष से तथा आयु के क्षय का निश्चय रिष्ट (अरिष्ट दर्शन) से एवं प्रकृति, मन, वीर्य, सात्म्य तथा बल का परीक्षण इनके अनुशीलन द्वारा करे ।

भवन्ति चात्र—

ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो नाविशति योगिवत् ।
आतुरस्यान्तरात्मानं न स रोगांश्चिकित्सति ॥
द्वाविमौ व्याधितौ व्याधिस्वरूपस्याप्रकाशकौ ।
तद्यथैको गुरुव्याधिः सत्त्वदेहबलाश्रयात् ॥
लघुव्याधिवदाभाति लघुव्याधिस्ततोऽन्यथा ।
बाह्यावयवमात्रेण तयोर्मुह्यति बालिशः ॥
ततोऽल्पमल्पवीर्यं वा विपरीतमतोऽथवा ।
पथ्यं विपर्यये युञ्जन् प्राणान्मुष्णाति रोगिणाम् ॥
ज्ञानांशेन न हि ज्ञानं कृत्स्ने ज्ञेये प्रवर्तते ।
बुभुत्सेत भिषक् तस्मात्तत्त्वं तन्त्रानुशीलनात् ॥
अभियुक्तस्तु सततं सर्वमालोच्य सर्वथा ।
न जातु स्खलति प्राज्ञो विषमेऽपि क्रियापथे ॥
आगन्तुरन्वेति निजं विकारं
निजस्तथागन्तुमतिप्रवृद्धम् ।
तत्रानुबन्धं प्रकृतिं च सम्यक्
ज्ञात्वा ततः कर्म समारभेत ॥

इति रोगभेदीयो द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

अध्यायोपसंहार—जो वैद्य ज्ञानबुद्धिरूप दीपक को लेकर योगिराज की तरह रोगी के अन्धकारमय अन्तरात्मा में प्रवेश नहीं करता वह रोगों की चिकित्सा नहीं कर सकता । ऐसे दो ही रोगी है जो बड़ी भूल करते हैं और अपनी व्याधि का पता नहीं लगने देते । इनमें से एक तो वह है जो व्याधि बड़ी रहते हुए भी अपने सत्त्व (मन), देह और बल के कारण उसको लघु (छोटी) समझता है । दूसरा वह है जो व्याधि लघु (थोड़ी) रहने से अपने को रोगी ही नहीं समझता, या पहले की तरह वह उपाय की चिन्ता नहीं करता । बालिश (अल्पज्ञ) वैद्य भी इन दोनों के बाह्याङ्ग मात्र को देखकर मोह को प्राप्त होता है । सारांश, आन्तरिक रोग का निर्णय वह वैद्य नहीं कर सकता । इसलिए उस गुरु व्याधिवाले को अल्प तथा अल्पवीर्य औषध देता है । विपरीत इसके लघु व्याधिवाले को अधिक तथा अधिक बलवान् औषध देता है । इतना ही नहीं, विपरीत पथ्य-योजना करके रोगियों के प्राणों का हरण करता है । सम्पूर्ण जानने योग्य विषय में ज्ञानांश (ज्ञान के अंश मात्र) से ज्ञान नहीं होता, इसलिए वैद्य को चाहिए कि वह तन्त्रानुशीलन (शास्त्र का अभ्यास या भली भांति आयुर्वेद-तन्त्र) से असली तत्त्व को जानने की चिन्ता करे । विषमक्रियापथ में अर्थात् चिकित्सा की कठिनाई में पड़ा हुआ भी प्राज्ञ (विद्वान्) वैद्य सदैव अच्छी प्रकार से देखभाल करके चिकित्सा करने पर उसका स्खलन कदापि नहीं होता । भावार्थ यह कि उसका अपयश न होकर उसे यश की ही प्राप्ति होती है । आगन्तुक विकार वृद्धि को प्राप्त होकर निज (शारीरिक) विकार को आकर मिलता है । इसी प्रकार बढ़ा हुआ निज (शारीरिक) विकार भी आगन्तुक में आकर मिल जाता है, ऐसी अवस्था में वैद्य को चाहिये कि वह अनुबन्ध तथा प्रकृति को भलीभांति जानकर फिर कर्म (चिकित्सा) का आरम्भ करे ।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसङ्ग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिका-
हिन्दीव्याख्यायां रोगभेदीयो नाम द्वाविं-
शोऽध्यायः ॥ २२ ॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः ।

अथातो भेषजावचारणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

भेषजावचारणीय अध्याय—रोगभेदीय अध्याय के अनन्तर जब क्रमप्राप्त अर्थात् रोगों को भेदरूपेण जानकर चिकित्सा में प्रवृत्त होना पड़ता है और वह चिकित्सा भेषज (औषध) के अधीन है अतः आचार्य इस अध्याय का आरम्भ करते हुए कहते हैं कि अब हम जिसमें औषधावचारण (ओषधियों के सेवन) का वर्णन है, उस भेषजावचारणीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया ।

भेषजमवचारयन् प्रागेव तावदातुरं परीक्षेत । कस्मिन्नयं देशे जातः संवृद्धो व्याधितो वा । तस्मिंश्च देशे मनुष्याणामिदमाहारजातमिदं विहारजातमेतावद्बलमेवंविधं सत्त्वमेवंविधं सात्म्यमियं भक्तिरिमे व्याधयो हितमिदमहितमिदमिति । प्रायोग्रहणेन केन वा निदानविशेषेणास्य कुपितो दोषो दोषस्य ह्येकस्यापि बहवः प्रकोपे हेतवः । तस्माद्यथास्वलक्षणैः कर्मभिश्च बुद्ध्यापि दोषमेवमवगमयेत् । तद्यथा-किमाहारेण कुपितो वायुः किं विहारेण तथा रूक्षेण लघुना शिशिरेण वा साहसेन वेगरोधेन वा भयेन शोकेन वेति । ततश्च तत्प्रतिपक्ष-

मेवौषध प्रयुज्यमानमाशु सिद्धये सपद्यते। तत्र मधुराम्ललवणा रसा कटुतिक्तकषायाश्चेतरेतरप्रतिपक्षा। तदनन्तर चोपलभेत मृदुमध्यातिमात्रविकल्पनया कथ निदानमासेवितम्। एकरूपस्यापि हि हेतोर्मृद्वादिविभागेन पृथक्समवेताना च दोषाणामशाशबलविकल्पविशेषाद्व्याधेर्बलाबलविशेष। तत्रानेकदोषात्मकेषु व्याधिष्वनेकरसेषु च भेषजेषु रसदोषप्रभावमेकैकशोऽभिसमीक्ष्य व्याधिभेषजप्रभावतत्त्व व्यवस्येत। नत्वेव सर्वत्र।

भेषजावचारणविधि—भेषज (औषध) प्रयोग के प्रसङ्ग में प्रथम रोगी का परीक्षण इस प्रकार से करे कि यह रोगी किस देश का जन्मा हुआ है आदि प्रथम देखे क्योंकि इस प्रकार न देखने से आहारादि के विषय में अनवस्था-प्रसग प्राप्त होगा इसलिए प्रथम यह परीक्षण करे कि रोगी का जन्म किस देश में हुआ है। इतना ही नहीं, कहा पैदा हुआ, कहा पला और कहा रोगी हुआ। उस देश में यह आहार है, यह विहार है, इतना बल है, इस प्रकार का सत्त्व, सात्म्य और भक्ति (सतत किसी पदार्थ का सेवन-प्राय पदार्थों में प्रीति) है, उस देश में प्राय कौन कौनसी व्याधियें होती हैं, वहा कौनसे पदार्थ आहार-विहारादि हितकारी हैं तथा कौन कौन से अहितकारी हैं। इन सब बातों का विचार करे। यह भी देखे कि इस रोगी का कौनसा दोष किस कारण से कुपित हुआ है, इसलिए कि एक दोष के कोप में बहुत से कारण होते हैं। जो दोष कुपित हुआ हो उसके लक्षणों एव कार्यों को बुद्धि से पहचानना चाहिए। जैसे कि वायु कुपित हुआ है तो किस आहार-विहार से अर्थात् रूक्ष से, लघु से, शीत से अथवा साहस से, वेग के अवरोध से, भय से या शोक से इनमें से किस हेतु से वायु कुपित हुआ है, यह देखना चाहिए। इसी प्रकार पित्त और कफदोष के कोप के हेतुओं का भी विचार करना चाहिये। इसके अनन्तर उन उन हेतुव्याधिविपरीत ओषधियों के प्रयोग करनेसे वे सिद्धिकी देनेवाली होती हैं। उदाहरणार्थ जैसे कि रूक्षका स्निग्ध, लघुका गुरु तथा शीतका उष्ण पदार्थ प्रतिपक्षी है। इसी प्रकार सर्वत्र कल्पना करनी चाहिए। प्रतिपक्ष वाली ओषधियोंकी कल्पना रसभेदसे करनी चाहिए यथा-मधुर-अम्ल-लवण तथा कटु-तिक्त-कषाय ये यथासख्य परस्पर प्रतिपक्षी हैं जैसे कि मधुरका अम्ल, अम्लका लवण प्रतिपक्षी है इसी प्रकार कट्वादि भी। इसके अनन्तर जिससे व्याधि हुई है उस निदानका सेवन मृदु, मध्य या अधिक मात्रा में किस प्रकार किया गया है यह देखना चाहिए जैसे कि मृदु या स्वल्पमात्रामें निदान-सेवनसे व्याधि भी मृदु या स्वल्प शक्तिवाली होती है इसी प्रकार मध्यप्रमाण में निदानके सेवनसे मध्य तथा अधिक मात्राके निदानसेवनसे व्याधि भी अधिक प्रमाणवाली होती है। किसी एक व्याधिके भी मृदु आदि मात्राभेदसे वातादि पृथक् या मिले हुए दोषोंके अशाश-बलविकल्प-विशेष से व्याधिके बलाबल-विशेष को जानना चाहिए। पहले कहा गया है कि सब व्याधियें वातादि तीन दोषों को छोड़कर नही होती है अर्थात् समस्त रोग अनेक दोषात्मक हैं, तदनुसार उनको शमन करनेवाली ओषधियें भी सर्वरसात्मक हैं। इसलिए व्याधिके बल और उसको शमन करनेवाली ओषधिके बलको देखकर सब कार्य करना चाहिए। साराश, किस रसका कितनी मात्रामें सेवन, व्याधिके इतनी मात्रावाले दोष का शमन कर सकेगा यह विचार करते हुए प्रत्येक ओषधद्रव्यके रस, दोष एव प्रभावको पृथक् पृथक् भली भाति देखकर रोग तथा उसकी ओषधि इन दोनोंके प्रभावतत्त्वको जानना चाहिए। यही नियम सर्वत्र काम नहीं पड़ता इस लिए कहते हैं कि—

न हि विषमविकृतिसमवेताना नानात्मकाना परस्परेणोपगृहीतानामुपहताना चान्यैश्च विकल्पनैर्विकल्पितानामवयवप्रभावानुमानेन समुदायप्रभावतत्त्वमध्यवसितु शक्यम्। तथाविधे हि समुदये समुदयप्रभावमेवोपलभ्य व्याध्यौषधप्रभावतत्त्वमवगच्छेत्। तथा कस्य धामाधिष्ठाय व्याधिरयमवस्थित इति निरूपयेत्। प्रविसृतो हि दोष स्वमेव स्थानमातङ्कायाधितिष्ठन् मूर्धादीन्वा दुस्तरो भवति। ततश्च स्थानविशेषेण भेषजविशेष पर्येषितव्य।

समवेत दोषों की दुर्ज्ञेयता—विषमता के कारण विकार को प्राप्त हुए, नानात्मक, मिले हुए परस्परोपगृहीत (परस्पर मिलकर एक दूसरे से मिलनेवाले), परस्परोपहत (परस्पर मिलकर विकृति पैदा करनेवाले) और अन्य देश, काल आदि की कल्पनानुसार विकल्पित दोषों के केवल स्वरूप (अवयव) और प्रभाव के अनुमान करने से समुदायप्रभाव तत्त्व (सबके सामुदायिक प्रभावके तत्त्व) को जान लेना अशक्य है। इसलिए दोषों के समुदायरूपेण एक साथ मिलने पर, द्रव्य सयोग-सस्कार-देश-काल आदि वशात् विकृति को दूर करनेवाला होता है, इस बात को सामने रखते हुए समुदाय प्रभाव को लेकर ही व्याधि के औषध-प्रभावतत्त्व को जानना चाहिए और यह निरूपण करना चाहिए कि यह व्याधि किस दोष के स्थान में स्थिति करके उपस्थित हुई है। देखा जाता है कि कभी कभी बढा हुआ दोष अपने ही स्थान मे स्थित होकर दु साध्य होता है और कभी सिर आदि अन्य स्थानों में स्थित होकर दुस्तर होता है। इसलिए दोष के स्थान-विशेष को लेकर ओषधि-विशेष की योजना करनी चाहिए क्योंकि स्थान-विशेष की अपेक्षा ओषधि अधिक विशिष्टता रखती है। स्थान-विशेष में जो ओषधि हितकारो नही होती वह अन्य स्थान मे फलदा होती है। एतदर्थ ओषधि का विचार विशेष तया करना चाहिए। आगे यही कहते है कि—

ततश्चैवमालोचयेत्। कस्यायमौषधस्य व्याधिरातुरो वा योग्य कियतो वा दोषानुरूपो हि भैषज्यवीर्यप्रमाणविकल्पो व्याधिव्याधितबलापेक्षो भवति।

रोगी, रोग और ओषधि का विचार—दोष और ओषधि की साम्यावस्था में यह सोचना चाहिए कि यह रोग और रोगी किस ओषधि के योग्य है, ओषधिका प्रमाण कितना रहना चाहिए क्योंकि ओषध के बल एव वीर्य की कल्पना रोग और रोगी इन दोनों के बल की अपेक्षा करती है। अत ओषधि के वीर्य एव बल का विचार करके तथा इसी प्रकार रोगी के भी बलबला

का विचार करना चाहिए क्योंकि औषधि की शक्ति तथा मात्रा का विचार न करते हुए, चाहे जहा औषध प्रयोग करने से दोषानुरूप औषध होते हुए भी वह अनर्थकारी होगा। अब इसी का विशेष स्पष्टीकरण करते है।

सहसातिबलानि संशोधनौषधान्याग्नेयवायव्यान्यतिसौम्यान्यतिमात्राणि वा तथैवाग्निक्षारशस्त्रकर्माण्यल्पसत्त्वमातुरमल्पबलं वातिपातयेयु । संशमनानि तु व्याधिबलादधिकानि तमुपशमय्य व्याधिं व्याधिक्षपितदेहे शीघ्रमन्यमावहन्ति । शरीरबलाधिकानि ग्लानिमूर्च्छामदमोहबलक्षयान् । अग्निबलादधिकानि ग्लानिमग्निमादं च ।

सहसा औषध का निषेध—ओषधियें दो प्रकार की है, एक संशोधन और दूसरी संशमन। संशोधन-ओषधियों के भी दो प्रकार हैं असौम्य और सौम्य। यहा असौम्य संशोधन-ओषधियें वे हैं जो आग्नेय और वायव्य है अर्थात् अग्नि और वायुतत्त्व-प्रधान हैं और सौम्य-आप्य, नाभस और पार्थिव हैं अर्थात् जल, आकाश तथा पृथ्वीतत्त्ववाली हैं। ये आग्नेय वायव्य असौम्य संशोधन-ओषधियें सहसा अति-मात्रा में दी जाने से तथैव अग्निकर्म, क्षारकर्म और शस्त्रकर्म भी सहसा अति-मात्रा में प्रयुक्त होने से ये अल्पसत्त्व (मन से डरपोक) तथा अल्प बलवाले रोगी को मारनेवाले होते हैं। संशमन ओषधियें भी तीन प्रकार से अति बलवाली होती हैं जैसे कि व्याधिबलाधिक, शरीरबलाधिक तथा अग्निबलाधिक। इन (संशमन) ओषधियों का भी सहसा प्रयोग करना ठीक नहीं होता क्योंकि प्रयोग की हुई संशमनौषधि यदि व्याधि के बल से अधिक बलवाली होती है तो वह उस व्याधि को शमन कर देती है परन्तु व्याधि से थके हुए शरीर मे शीघ्र ही अन्य किसी व्याधि को कर देती है। यदि संशमनौषधि शरीर के बल से अधिक बलवाली होती है तो वह ग्लानि, मूर्च्छा, मद, मोह (बेहोशी) और बलक्षय को करती है। इसी प्रकार संशमनौषधि यदि जठराग्नि के बल से अधिक बलवाली होती है तो बहुत जल्दी शरीर में ग्लानि और अग्निमान्द्य को कर देती है।

अपि च । अतिस्थूलोऽतिकृशो दुर्बलो दुर्बद्धमांसशोणितास्थ्यङ्गावयवोऽल्पाग्निरल्पाहारोऽसात्म्याहारोऽपचितस्सारहितो वा, व्याधिबलमेव तावदसमर्थ सोढुम् । किं पुनस्तथाविधो भेषजमेव वेगम् । तस्मात्तादृशमविषादकरैर्मृदुसुखैरुत्तरोत्तरगुरुभिरविभ्रमैश्चोपाचरेदौषधैर्विशेषादबला । ता ह्यनवस्थितमृदुविक्लवहृदया प्राय सुकुमारा परायत्ताश्च । ततोऽपि विशेषेण शिशव । तथा बलवति व्याध्यातुरेऽल्पबलमल्पं वा भेषजमकिञ्चित्कर भूय एव दोषमुत्क्लेश्य व्याधिमुदीरयेत् ।

अतिस्थूलादि में औषधयोजना—इसलिए जो अतिस्थूल, अतिकृश, अतिदुर्बल, दुर्बद्धमांसशोणितास्थ्यङ्गावयव अर्थात् जिसका मास, रक्त, अस्थि और शरीर के अवयवों की रचना अस्थिर अर्थात् मजबूत न हो जिसके मास, रक्त अस्थि आदि दुर्बद्ध भली भांति बँधे हुए न हों, जो अल्पाग्नि (अग्निमान्द्ययुक्त), अल्प आहार करनेवाला, असात्म्याहार (अहित-अपथ्य-भोजी), थका हुआ तथा अदृढ हो, ऐसा रोगी रोग के बलको सहन नहीं कर सकता। इसी प्रकार रोग के नाश करनेवाले औषध एव उसके वेग को भी सह नहीं सकता इसलिए ऐसे रोगियों को (अति स्थौल्यादियुक्त रोगियों को) प्रथम अविषादकर (सेवन करते समय किसी प्रकार का कष्ट न देनेवाली और मृदु ओषधियों का सेवन करावे और फिर उत्तरोत्तर गुरुतीक्ष्णादि, अविभ्रम (दोषों का क्षोभ न होने दे ऐसी) ओषधियों से उपचार करे। स्त्रियों की चिकित्सा मे तो इस बात का विशेष ध्यान रहे क्यों कि वे (स्त्रिया) अनवस्थित, मृदु और दुर्बल हृदयवाली, प्राय सुकुमार और परतन्त्र रहनेवाली होती है और इनसे भी अधिक मृदु-हृदय एव सुकुमार बालक हैं अत इनका भी उपचार मृदु ओषधियों द्वारा करे। तथा बलवान् रोगी के लिए, उसकी बलवान् व्याधि की अवस्था में अल्पबल या अल्पमात्रा मे दिया हुआ औषध कुछ भी लाभ नहीं कर सकता, पुनरपि दोष को उभाड कर व्याधि को करनेवाला होता है।

योग्यमपि चौषधमेवं परीक्षेत—इदमेवं रसवीर्यविपाकमेवं गुणमेवं द्रव्यमेवं कर्मैवंप्रभावमस्मिन्देशे जातमस्मिनृतावेवं गृहीतमेवं निहितमेवं विहितमेवं निषिद्धमेवमुपसंस्कृतमेवं सयुक्तमेवं युक्तमनया मात्रयैवं विधस्य पुरुषस्यैवं विधे काल एतावन्त दोषमपकर्षत्युपशमयति वा । अन्यदपि चैवंविध भेषजमभूत् । तथा तेनानेन वा विशेषेण प्रयुक्तमिदमकरोत् । सूक्ष्माणि हि दोषौषधदूष्यदेशकालबलानलाहारसारसात्म्यसत्त्वप्रकृतिवयसामवस्थान्तराणि यान्यनालोचितानि निहन्युरातुरम् । आलोच्यमानानि तु विपुलबुद्धिमपि चिकित्सकमाकुलीकुर्यु. किंपुनरल्पबुद्धिम् । तस्मादभीक्ष्णश शास्त्रार्थकर्मानुशीलनेन संस्कुर्वीत प्रज्ञाम् । अपि च–सन्ति व्याधयो ये शास्त्र उत्सर्गापवादैरुपक्रमं प्रति निर्दिष्टा तत्र प्राज्ञ एव दोषादिगुरुलाघवेन सम्यगध्यवस्येदन्यतरनिष्ठायाम् ।

योग्य ओषधि की भी परीक्षा आवश्यक—योग्य ओषध की भी परीक्षा इस प्रकार से करे कि यह औषधि इस रस, वीर्य एव विपाकवाली है, यह अमुक द्रव्य है, इसके अमुक गुण, कर्म और प्रभाव है, इस देश की उत्पन्न हुई है, इस ऋतु में इस प्रकार ग्रहण की गई, इस प्रकार से रक्खी गई, यह इस प्रकार से विहित है और इस प्रकार से निषिद्ध है, यह इस तरह उपसंस्कृत की गई है, अमुक द्रव्य से संयुक्त है, यह इतनी मात्रा से इस प्रकार के पुरुषको इस प्रकार के काल में इतने प्रमाणवाले दोषका अपकर्षण करती है या शमन करती है। और भी इस प्रकार को अमुक ओषधि थी और उसने

१ पर सत्त्वभ्याश्चेति पाठभेद ।

१ दुर्बद्धान्यस्थिरप्रचयानि मांसादीनि २ विभ्रमो दोषादीना क्षोभ इती दु । ३ तन्मानेन। ४ प्रज्ञयैव।

अमुक प्रमाण में अमुक रीति से प्रयुक्त करने पर यह (कार्य) किया था। इन सब बातों का विचार इस लिए किया जावे कि दोष (वातादि), दूष्य (रस-रक्तादि), देश (अनूप-मिश्र-जाङ्गल), काल (शीत-वर्षा-उष्ण), बल, अग्नि, आहार, सार, सात्म्य, सत्त्व, प्रकृति और वय इन सबकी भिन्न भिन्न अवस्था बडी सूक्ष्म (विचार्य) है। इनकी समुचित देखभाल न होने से रोगी को मार देती हैं। इन सबकी आलोचना की जाय (इनकी भिन्न भिन्न अवस्थाओं का विचार किया जाय) तो ये बडे बुद्धिमान् चिकित्सक (वैद्य) को भी आकुल-व्याकुल कर देती है, अल्पबुद्धिवाले की तो बात ही क्या है अर्थात् वह इनके विषय मे विचार ही क्या कर सकता है जब कि बडे बडे विद्वानों की बुद्धि भी चक्कर खाने लगती है। इस लिए वैद्य को चाहिये कि वह सदैव शास्त्रार्थ-कर्म का अनुशीलन (अभ्यास) करके अपनी प्रज्ञा (बुद्धि) को सस्कृत (अच्छे सस्कारों से परिष्कृत एव प्रखर) करता रहे। बहुत से रोग हैं जिनकी चिकित्सा के लिए शास्त्र में उत्सर्ग और अपवादरूप से निर्देश किया गया है। वैसी अवस्था मे प्राज्ञ ही को चाहिए कि वह दोषों की गुरुता एव लघुता के अनुसार उन रोगों की चिकित्सा का समुचित प्रबन्ध करे।

कालश्च भेषजस्य योग्यतामादधाति। स तु क्षणलवमुहूर्त्तादिभेदेनातुरावस्थया च द्विविधोक्त प्राक्। अपि च। शीतोष्णवर्षलक्षणस्त्रिविध काल। तत्र शीतोष्णयोर्वृष्टिशीतयोश्चान्तरेण साधारणौ वसन्तजलदात्ययौ। ग्रीष्मवर्षकालयोस्तु प्रारम्भो वृष्टे प्रावृडिति विकल्प्यते। प्राक् तत्र शीतोष्णवर्षलक्षणा ऋतवस्त्रयो हेमन्तग्रीष्मवर्षाख्यास्तेषामन्तरे सशोधनार्थं साधारणा वसन्तप्रावृट्शरदाख्यास्त्रयो विकल्प्यन्ते। तत्र सशोधन प्रति फाल्गुनचैत्रौ वसन्त। आषाढश्रावणौ प्रावृट्। कार्तिकमार्गशीर्षौ शरत्। तेषु साधारणेष्वहस्सु वमनादीना प्रवृत्तिर्निवृत्तिरितरेष्वयोगातियोगभयात्। साधारणा हि मन्दशीतोष्णवर्षतया सुखत्वाद्भवन्त्यविकल्पका शरीरौषधाना विपरीतास्त्वितरे।

काल ओषधियों में योग्यतापादक—केवल व्याधि, रोगी और बल मे ही नही, अपितु काल ओषधियों मे भी योग्यता प्रदान करता है अर्थात् यथाकाल ओषधियों में गुणाधान हुआ करता है। वह काल क्षण, लव, मुहूर्त्तादि-भेद से तथा रोगी की अवस्था के भेद से दो प्रकार का पहले वर्णन किया जा चुका है किन्तु पुन वह काल शीत, उष्ण और वर्षाभेद से तीन प्रकार का होता है जिसको हम शीतकाल, उष्णकाल तथा वर्षाकाल नाम से सब जानते हैं। शीतकाल और उष्णकाल इसी प्रकार वर्षाकाल और शीतकाल इनके बीच मे क्रम से वसन्त और शरद् ये साधारण ऋतु कहाती है अर्थात् शीतकाल और उष्णकाल के बीच मे वसन्त तथा वर्षा और शीतकाल के बीच मे शरद् साधारण ऋतु है। ग्रीष्म और वर्षा के बीच में जो वर्षाकाल का प्रारम्भकाल होता है उसे प्रावृट् कहते है यह भी वसन्त-शरद् की तरह साधारण ऋतु माना गया है। इस प्रकार पहले जो शीत, उष्ण तथा वर्षा के लक्षणवाली हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु बताई गई हैं, उनके ही बीच की वसन्त, प्रावृट् और शरद् ये साधारण ऋतु दोषों के सशोधनार्थ अच्छी मानी गई है। साराश, सशोधन के लिए फाल्गुन और चैत्रमास वसन्त, आषाढ और श्रावण प्रावृट् तथा कार्तिक-मार्गशीर्ष महीने जिसमे है वह शरद् ऋतु मानी गई है। इन बताई हुई साधारण ऋतुओं (वसन्त, प्रावृट् और शरद्) के दिनों मे वमनादि सशोधन करने चाहिए इनके अतिरिक्त अन्य ऋतुओं के दिनों मे वमन, विरेचनादि नही करने चाहिए। इस लिए कि वसन्त, प्रावृट् एव शरद् को छोड कर अन्य ऋतुओं के दिनों मे वमन-विरेचनादि देने से अयोग या अतियोग का भय रहता है। साराश, वर्जित ऋतुओं मे वमनादि कर्म करने से या तो वमनादि की ठीक प्रवृत्ति होनी ही नही, यदि होती है तो उसका अतियोग हो जाता है अर्थात् वमन-विरेचन अत्यधिक होता है। तात्पर्य यह कि उष्णता, शीतता तथा वर्षा के मन्द होने से साधारण ऋतु जो बताई गई है वही शरीर और औषधि के लिए ठीक सुखकारी होती है। विपरीत इसके अन्य ऋतु दु ख देनेवाली होती है।

तथा हि। शीतकालेऽतिमात्रशीतोपहतत्वाच्छरीरमत्यर्थशीतवातविष्टब्धबद्धगुरुदोष[1] भवति। तदनुप्राप्त च भेषज सशोधनार्थमुष्णस्वभावमपि शीतोपहतत्वान्मन्दवीर्यता गतमयोगाय जायते। शरीर[2] च वातप्रायोपद्रवाय।

तद्वद्वर्षास्वपि समन्तादतिघनेन घनसघातेनावनते[3] नभस्युपरुद्धतेज प्रकरेषु दिनकरकरेषु जलदपटलप्लावनोद्दामकर्दमाया[4] भूमावत्यर्थोपक्लिन्नमवसन्नानलमलमुद्रिक्तमलबलमादानदुर्बल[5] शरीर भवति। औषधग्रामस्तु जलदोदरप्रततप्रमुक्तधारावपातसभृताम्बुनिवहोपप्लावितमूलजालसारविटपो बहलकोमलपल्लवोपचितस्कन्धशाख पुनरिव बालतामुपगतोऽल्पवीर्यो भवति। अपरिसस्थिततया च क्षितिमलप्रायाभिरम्लविपाकाभि खगमृगसरीसृपादिशवधातुमूत्रपुरीषसस्पृष्टाभिरद्भि सलिलसीकरानुविद्धशिशिर[6]पवनसपृक्तेन च धराधरोष्मणा[7] कोमलत्वादपरिणतस्यास्य सुतरा विदाहो जन्यते। ततश्चासावपथ्यतामुपगतो ध्रुवमयोगाय। प्रथमसगृहीतमपि चौषध तोयदतोयानुगतमारुतोपहते जगतीति।

ग्रीष्मे पुनरादानोपहतत्वाच्छरीरमुष्णरूक्षवाताताध्मातमतिस्विन्नमतिशिथिलमतिप्रविलीनदोष भवति। भेषज पुनरनुष्णमपि तपनतरतपनकरनिपाता[8]-

१ कसान्तर्गतोऽय पाठो नास्तीन्दुटीकापुस्तके।

१ विष्टब्धमतिस्तब्धबद्धगुरुदोष २ शिशिर ३ बहलघनसघातेनावतते ४ जलपटलोत्प्लावनो ५ बलमादानदुर्बल ६ सलिलशिशिरशीकरानुविद्ध ७ धाराधरोष्मणा ८ तपनकरनिपात

दुष्णवीर्यतीक्ष्णतामुपगतमतियोगायोपकल्पते। शरीरं च पिपासाश्रमक्लमोपद्रवाय। तस्मात्साधारणेष्वेव तदन्तरालेषु वमनादीनि योजयेत्। न चेदात्यायिको व्याधिः।

शीतवर्षोष्णकाल में संशोधन निषेध—शीतकाल में अत्यधिक शीत के मारे शरीर अतिशीत, वायु से स्तम्भित (जकड़ा हुआ), अतिबद्ध (प्रलिप्तमार्ग-अति बंधा हुआ), बढ़े हुए वातादि दोषोंवाला हो जाता है। इतना ही नहीं, इसके बाद संशोधनार्थ मिलनेवाली ओषधि उष्णस्वभाववाली होकर भी शीत से उपहत (शीत के मारे) मन्द-बल होकर अयोगवाली होती है अर्थात् वह प्रयोग करने पर कुछ भी काम नहीं देती, अपितु हीनयोगवाली हो जाती है। इसके अतिरिक्त शरीर (शिशिर) भी प्रायः वायु के उपद्रव के लिए ही होता है।

इसी प्रकार वर्षा में भी चारों ओर गहरे मेघों (बादलों) के समूह से अवनत (आच्छादित) आकाश में अत्यन्त तेज सूर्य की किरणों के अवरुद्ध हो जाने से अर्थात् छिप जाने से तथा मेघों के समूह द्वारा जल वर्षा के कारण पृथ्वी के जलमयी एवं अत्यन्त कीचड़ (कर्दम) वाली होने से तथा आदानकाल के कारण शरीर अत्यन्त भीगा हुआ सा, मन्दाग्निवाला, वातादि दोषों से दूषित तथा निर्बल हो जाता है। सब प्रकार की ओषधियें भी मेघों के बढ़े हुए जल की धाराओं के पड़ने से चारों ओर जल के भर जाने से नितान्त क्लिन्न हो गया है मूल जालसार (जड़ों या मूलों के समूह का सार या बल जिसका) ऐसे वृक्षोंवाली, इतना ही नहीं, अत्यन्त घने गहरे कोमल पत्रों से छाए हुए हैं स्कन्ध और शाखें जिसकी इस प्रकार पुनरपि बालत्व प्राप्त होने के समान होकर वह (ओषधि वृक्ष-समूह) अल्पवीर्य होता है। इस प्रकार ओषधियों के स्थिर स्वरूप ग्रहण न कर सकने के कारण एवं प्रायः पृथ्वी के मल को लिए हुए अम्लविपाकी जल के तथैव पक्षी, पशु, सर्प, विच्छू आदि (सरीसृप), शव, धातु (लौहादि वीर्य), मूत्र और पुरीष (विष्ठा) से स्पर्श किए हुए जल के संपर्क से, जल की बौछार से अनुविद्ध, ठण्डे पवन से युक्त, पर्वतों की उष्णता के मारे, कोमलता के कारण औषधगत रस-वीर्यादि में परिणत न होने से, औषधग्राम (औषध समूह) में विदाह पैदा होता है। इस लिए वह अपथ्यता (अहितकारिता) को प्राप्त होकर निश्चय ही अयोगाय अर्थात् उपयुक्त योग के लिए ठीक नहीं रहता। इसके अतिरिक्त संसार में पहले से संग्रह कर रखी हुई ओषधि भी मेघ के जल के अनुगामी वायु से उपहत (नष्ट) हो जाने से प्रयोग करने के योग्य न रहकर अयोगाय (हानि के लिए) ही होती हैं।

ऐसे ही ग्रीष्म (उष्णकाल) में भी आदानकाल से उपहत होने के कारण शरीर उष्ण, रूक्ष, वायु और आतप से आध्मात अर्थात् दग्ध, अतिस्विन्न (अति पसीने से तर), अति शिथिल तथा अति वातादि दोषों करके प्रलीन (युक्त) होता है। औषध उष्ण न रहते हुए भी अत्यन्त तपनेवाले तपन (सूर्य) की किरणों के पड़ने से उष्णवीर्यता एवं तीक्ष्णता को प्राप्त होकर अतियोग के लिए हो जाता है अर्थात् संशोधनार्थ उसका प्रयोग करने से वमन-विरेचनादि में उससे अतियोग की व्यापत्ति उपस्थित हो जाती है। शरीर भी प्यास, श्रम और ग्लानियुक्त उपद्रवोंवाला होता है। इस लिए विशेष बढ़ी हुई व्याधि न हो तो साधारण ऋतुओं के बीच के दिनों में ही वमन-विरेचनादि के लिए योजना करनी चाहिए। आत्ययिक व्याधि हो तो—

आत्ययिके तु कृत्रिमगुणोपधानेन यथर्तुगुणविपरीतेन संयोगसंस्कारप्रमाणविकल्पैश्चोपपाद्यौषधमेवावहितोऽवचारयेत्।

अनुक्तकाल में भी संशोधन आवश्यक—रोग का बल बढ़ा हुआ हो तो उक्त ऋतुओं के अतिरिक्त ऋतुओं में भी संशोधन कर डालना चाहिए किन्तु उस व्याधिकाल की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। वैद्य को चाहिए कि वह दोष जिस ऋतु में बढ़ा है, यद्यपि वह ऋतु उस दोष के संशोधन का नहीं है तथापि सावधानतया पूर्वोक्त संशोधनार्थ जो ऋतु वात, पित्त और कफ के लिए कही गई है, उसी ऋतु का कृत्रिम गुणोपधान यथा हेमन्त में गर्भगृहादि तथा ग्रीष्म में धारागृहादि करके और उस ऋतु के विपरीत गुणवाले पदार्थों का सेवन कराकर उसका प्रतीकार करे और इसके अनन्तर ओषधियों के परस्पर संयोग, संस्कार, मात्रा आदि की कल्पना करके संशोधन के लिए औषध का सेवन करावे।

आतुरावस्थासु तु कालाकालसंज्ञा[1]। तद्यथा—अस्यामवस्थायामस्यौषधस्य कालोऽकालो वा। न ह्यप्राप्तातीतकालमौषधं यौगिकं भवति, तस्य त्वेकादशधावचारणम्। तद्यथा—अभक्तं प्राग्भक्तं मध्यभक्तमधोभक्तं समभक्तमनन्तरभक्तं सामुद्गं मुहुर्मुहुः सग्रासं ग्रासान्तरं निशि च।

औषधग्रहण में कालाकाल—औषध के दो प्रकार हैं एक शोधन और दूसरा शमन। शोधन औषध के काल को कह चुके हैं। अब क्रमप्राप्त शमन औषध के सेवन का काल बताते हैं। रोगी की अवस्थाओं में काल और अकाल ऐसी दो अवस्थाएं होती हैं जैसे कि इस अवस्था में इस औषध के लिए यह काल (उपयुक्त समय) है या अकाल (अनुपयुक्त समय) है। जैसे कि ज्वर की साम अवस्था में लङ्घन, पेया आदि। निरामावस्था में क्वाथ आदि तथा ज्वर की जीर्णावस्था में दुग्धपानादि। सारांश, निरामावस्था के क्वाथ के लिए ज्वर की सामावस्था अकाल है और ज्वर की निराम-अवस्था भी लङ्घन पेयादि के लिए अकाल है तथा ज्वर की साम-निराम अवस्था क्रमशः लङ्घन, पेया एवं क्वाथ के लिए काल है। इस प्रकार काल और अकाल ये दोनों ओषधि की योग्यता के दर्शक हैं। इस लिए कि समय पर न मिलनेवाली अथवा काल के व्यतीत हो जाने पर मिलनेवाली ओषधि यौगिक किंवा उपयुक्त नहीं होती अर्थात् व्याधि के साथ

१ उष्ण तीक्ष्णता।

१ कला कालसंज्ञा।

उसका योग नही होता और विना योग के व्याधि का शमन नही होता। औषध का व्याधि के साथ योग हो, इसी लिए उस औषध का सेवन ग्यारह प्रकारों या कालों (समयों) मे वताया गया है जैसे कि (१) अभक्त, (२) प्राग्भक्त (३) मध्य-भक्त (४) अधोभक्त (५) समभक्त (६) अन्तरभक्त (७) सामुद्ग (८) वारवार (९) सग्रास (१०) ग्रासान्तर और (११) रात्रि मे। अब इन सबका स्पष्टीकरण करते है।

तत्राभक्त नाम केवलमेवौषधम्। तन्निरन्नोपयोगादतिवीर्यम्। कफोद्रेके विमुक्तामाशयस्रोता प्रातर्बलवानुपयुञ्जीत। इतरस्तु प्राग्भक्तादिकम्। अन्नससर्गेण हि तन्नातिग्लानिकर भवति।

अभक्त औषध—उस औषध का नाम अभक्त है जो प्रात काल मे एक प्रहर दिन चढे तब तक बलवान् रोगी और रोग की अवस्था मे केवल (अन्नरहित) दिया जाता है। अन्न का ससर्ग न होने से यह औषध अतिवीर्य (अति बल वान्) होता है। भावार्थ यह है कि यह औषध गतरात्रि के किए हुए भोजन की अजीर्णावस्था मे प्रात काल मे दिया जाता है। इस ओषधि के योग से प्रथमाजीर्ण के जीर्ण होने पर फिर भोजन किया जाता है। कफ के बढने से जिसके आमाशय के स्रोत खुले हो जाते है उस बलवान् के लिए ही इस निरन्न (अन्नरहित) केवल अतिवीर्य औषध की योजना करनी चाहिए। जो निर्बल है उन्हे प्राग्भक्तादि अन्नससर्गी औषधों की योजना करनी चाहिए। इस लिए कि अन्न के ससर्ग से ये प्राग्भक्तादि दस औषध अति ग्लानिकारक नही होते।

प्राग्भक्त नाम यदनन्तरभक्तम्। तदपानानिलविकृतावध कायस्य च बलाधानार्थं तद्गतेषु च व्याधिषु प्रशमनाय कृशीकरण योज्यम्।

प्राग्भक्तौषध—उस औषधि का नाम प्राग्भक्त है जो भोजन के पहले सेवन की जाती है अर्थात् इसको सेवन करके तुरन्त भोजन कर लिया जाता है। इस प्राग्भक्त औषध की योजना अपान वायु के विकारों के लिए, अध काय मे बलाधानार्थ, अध कायगत रोगों का शमन करने के लिए तथा कृशीकरणार्थ (मनुष्य के स्थौल्यनाशार्थ) करनी चाहिए।

मध्यभक्त मध्ये भक्तस्य तत्समानानिलविकृतौ कोष्ठगतेषु च व्याधिषु पैत्तिकेषु च।

मध्यभक्तौषध—उस ओषधि का नाम मध्यभक्त है जो भोजन के बीच मे सेवन की जाती है जैसे कि आधा भोजन कर चुकने पर औषध सेवन और फिर तुरन्त आधा भोजन कर लेना। इस मध्यभक्त औषध की योजना तब करनी चाहिए जब कि समान वायु मे विकृति पैदा हुई हो, कोष्ठगत व्याधिये हों अथवा पैत्तिक विकार उत्पन्न हो गए हों।

अधोभक्त भक्तादनन्तरम्। तत्तु व्यानविकृतौ प्रातराशान्तमुदानविकृतौ पुन सायमाशान्तम्। पूर्वकायस्य च बलाधानार्थं तत्गतेषु च व्याधिषु, श्लैष्मिकेषु च प्रशमाय स्थूलीकरणार्थं[1] च।

अधोभक्त औषध—उस औषध का नाम अधोभक्त है जिसका सेवन भोजन करने के पश्चात् तुरन्त कर लिया जाता है। इसका सेवन व्यान वायु की विकृति मे प्रात काल के भोजन के पश्चात् तथा उदान वायु की विकृति मे सायकाल के भोजन के पश्चात् करना चाहिए। इस अधोभक्त औषध का उपयोग पूर्वकाय (हृदय से लेकर सिर तक) के बलाधानार्थ, पूर्वकायगत रोगों के शमनार्थ, कफात्मक व्याधियों के नाशार्थ तथा मनुष्य मे मोटापन लाने के लिए करना चाहिए।

समभक्त[2] यदन्नेन सम साधित पश्चाद्वा समालोडितम्। तद्बालेषु सुकुमारेष्वौषधद्वेषिष्वरुचौ सर्वाङ्गेषु।

समभक्त औषध—उस औषध को समभक्त कहते है जो अन्न के साथ साधित (सिद्ध किया हुआ) होता है, अथवा जो पीछे से अन्न के साथ मिलाया जाता है और फिर सेवन कराया जाता है। यह समभक्त सुकुमारों, बालकों तथा औषध से द्वेष करनेवालों को सर्वाङ्गगत व्याधियों के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

अन्तर[3]भक्त यत्पूर्वाह्णभक्ते जीर्णे मध्याह्ने भेषजमुपयुज्यते तस्मिंश्च जीर्णे पुनरपराह्णे भोजनम्। एतेन रात्रिर्व्याख्याता। तद्दीप्ताग्नेर्व्यानजेष्वामयेषु।

अन्तरभक्त औषध—उस ओषधि को अन्तरभक्त कहते है जो पूर्वाह्ण मे किए हुए आहार के पचने पर मध्याह्न मे प्रयुक्त किया जाता है तथा इसके पचने पर पुन अपराह्ण या सायकाल मे आहार कराया जाता है। इसी अन्तरभक्त औषध मे रात्रिकाल के औषध को बताया गया है क्योंकि रात्रि के औषध का विधान भी ऐसा ही है। जैसे कि सायकाल के लिए भोजन के पच जाने पर एक प्रहरमात्र रात के बीतने पर ओषधि दी जाती है और इसके पचने पर पुन दूसरे दिन भोजन कराया जाता है। इस अन्तरभक्त औषध का उपयोग दीप्ताग्नि की अवस्था मे व्यान वायु के उत्पन्न किए हुए विकारों मे करना चाहिए। इसी प्रकार रात्रि मे दिया जानेवाला औषध ऊर्ध्वजत्रुगत विकारों के लिए है।

सामुद्ग यदादावन्ते च भुक्तस्य। तत्तु लघ्वल्पान्नयुक्त पाचनावलेहचूर्णादि हिध्मायां कम्पाक्षेपयोरूर्ध्वाधस्सश्रये च दोषे।

सामुद्ग औषध—उस औषध का नाम सामुद्ग है जो भोजन के आदि और अन्त मे दिया जाता है जैसे कि प्रथम औषध सेवन करके तुरन्त भोजन कर लिया जाय और भोजन कर चुकने पर तुरन्त ओषध का पुन सेवन किया जाय। ध्यान रहे कि यह (सामुद्ग) औषध लघु और अल्प भोजन के आदि अन्त मे पाचन, अवलेह, चूर्ण आदि रूप से हिक्का, कम्प, आक्षेपक, ऊर्ध्व और अधोभागाश्रित दोष की अवस्था मे दिया जाना चाहिए।

---

१ ह्यस्तनेऽन्नेऽजीर्णे तदौषधमुपयुज्यते। तस्मिंश्च जीर्णे पुनराहार इत्यनन्नम्। २ ह्यस्मिन्नौषधे भुक्ते पश्चात् तत्कालमेव भुज्यते तत्प्राग्भक्ताख्यम्। ३ मध्यभक्त नाम यद्भक्तस्य मध्येऽर्ध भोजनमुपयुज्य पुन तत्कालमेव विशिष्टमर्धमिति।

१ स्थूलीकरणम्। २ सभक्तम् इत्यादी द्रु। ३. अन्तराभक्तम्।

मुहुर्मुहुस्तु पुनः पुनर्भुक्ते यदभुक्ते वा। तच्छ्वासकासहिध्मातृट्छर्दिषु विषनिमित्तेषु च विकारेषु।

वारवार औषध—वारवार उस औषध का नाम है जो भोजन करके या भोजन न करके भी श्वास, कास, हिचकी, प्यास, छर्दि तथा विष के निमित्त से होनेवाली व्याधियों की अवस्था मे वारवार (क्षण-प्रतिक्षण) दिया जाता है जब तक कि उक्त व्याधियें शान्त न हों।

सग्रास यद् ग्राससंपृक्तम्। ग्रासान्तरं यद् ग्रासयोर्ग्रासयोर्मध्ये। द्वयमप्येतत्प्राणानिलविकृतौ। तथा सग्रासं चूर्णलेहवटकादिकमग्निदीपनं वाजीकरणानि चोपयुञ्जीत। ग्रासान्तरं हृद्रोगे। वमनं धूमं च जत्रूर्ध्वामयेषु निशायाम्।

सग्रास और ग्रासान्तरौषध—ग्रास ग्रास मे मिलाकर दिया जानेवाला औषध सग्रास कहलाता है। प्रत्येक ग्रास के बीच मे दिया जानेवाला जैसे कि ग्रास, इसके पश्चात् औषध और इसके अनन्तर पुनः ग्रास इस प्रकार से दिया जानेवाला औषध ग्रासान्तर कहलाता है। इनमे विशेष यह है कि चूर्ण, अवलेह, गुटिकादि औषध सग्रास (ग्रास के साथ मिला कर) अग्नि प्रदीप्त करने के लिए तथा वाजीकरणार्थ देना चाहिये और हृद्रोग मे ग्रासान्तर अर्थात् प्रत्येक ग्रास के बीच मे देना चाहिए। वमन और धूमपान ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों के शमनार्थ रात्रि मे देना चाहिए।

तत्राद्ये काले तृषितं पीतशीताम्बुरजीर्णीक्षुधितं क्षामश्च भेषजं वर्जयेत्। शेषेषु वा हृद्यमसात्म्यमतितीक्ष्णोष्णोग्रगन्धं भूरिमात्रं चेति।

अभक्त और प्राग्भक्तादिसेवन में विशेष—आद्ये काले अर्थात् अभक्तौषध के काल मे तृषित (प्यासा), ठण्डा जलपान किया हुआ, अजीर्णरोगी, भूखा और अतिदुर्बल हो उसे औषध नही देना चाहिए। शेष प्राग्भक्तादि औषध भी अहृद्य (हृदय के लिए अहितकारी-जिसे मन न चाहता हो), असात्म्य, अति तीक्ष्ण, अति उष्ण, अति उग्रगन्ध तथा अति मात्रावाला औषध नही देना चाहिये।

भवति चात्र[1]—

रोगमादौ परीक्षेत तदनन्तरमौषधम्।
ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत्॥
निवृत्तोऽपि पुनर्व्याधिरल्पेनायाति हेतुना।
देहे मार्गीकृते दोषः शेषः सूक्ष्म इवानलः॥
तस्मात्तमनुबध्नीयात्प्रयोगेणानपायिना।
सिद्धानामपि योगानां पूर्वेषां दार्ढ्यमावहन्॥

अध्याय का उपसहार—वैद्य को चाहिए कि वह सबसे प्रथम निदान-विधि से रोग की परीक्षा करे और फिर औषध का परीक्षण करे और फिर अच्छी प्रकार से विचार करके चिकित्सा-कर्म को करे। कभी कभी देखा जाता है कि अल्पहेतु से अर्थात् सूक्ष्म दोष के शेष रह जाने से निवृत्त हुआ रोग फिर भी मार्गीकृत शरीर मे आकर प्राप्त हो जाता है, जैसे कि बुझती हुई अग्नि का शेष रहा हुआ सूक्ष्म अग्निकण घास आदि हेतु को प्राप्त कर प्रबल अग्नि के रूप को धारण कर लेता है। ठीक इसी प्रकार सूक्ष्म शेष रहा हुआ दोष अहित हेतु को प्राप्त कर रोग को करनेवाला होता है। इसलिये जो अपायकारक न हो ऐसे प्रयोग को करके उस दोष को जीतना चाहिए अथवा पहले सिद्ध किए हुए प्रयोगों की उपयुक्तता को देखता हुआ उनके प्रयोगों द्वारा उस दोषको जीतने का प्रयत्न करे। साराश, जिन प्रयोगों से रोग नष्ट हुआ हो उन्ही को अधिक बलवान् बना कर उनके प्रयोगों द्वारा दोष को जीतना चाहिए।

सातत्यात्स्वाद्वभावाद्वा पथ्यं द्वेष्यत्वमागतम्।
कल्पनाविधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत्पुनः॥
मनसोऽर्थानुकूल्येन तुष्टिरूर्जा रुचिर्बलम्।
सुखोपभोगिता च स्याद्व्याधेश्चातः परिक्षयः॥
लौल्याद्दोषक्षयाद्व्याधिवैषम्येण च या रुचिः।
तासु पथ्योपचारज्ञो योगेनान्नं प्रकल्पयेत्॥

नाना प्रकार से प्रिय पथ्य की कल्पना—कभी कभी देखा जाता है कि सतत सेवन करने से तथा स्वादु न होने से पथ्य (हितकारी पदार्थ) से भी रोगी द्वेष करने लगता है। ऐसी अवस्था मे वैद्य को चाहिये कि वह नाना प्रकार की कल्पनाओं एव विधियों से ऐसे पथ्य का निर्माण करे जो कि रोगी के लिए प्रिय प्रतीत हो। साराश, मन के अनुकूल पथ्य के निर्माण से तुष्टि, उत्साह, रुचि, बल तथा सुखोपभोगिता की प्राप्ति होकर उससे व्याधि का नाश होता है। मन के चलायमान होने से लालसा तथा दोषक्षय के कारण जिन जिन पदार्थों मे रोगी की रुचि होती है अतः पथ्योपचार (पथ्यचिकित्सा) के जानने-वाले वैद्य को चाहिए कि वह धातुसाम्य करनेवाले उसकी रुचि के अनुसार व्याधिविपरीत प्रयोगवाले आहार की कल्पना करे।

शीतोष्णवर्षानिचितं चैत्रश्रावणकार्तिके।
क्रमात्साधारणे श्लेष्मवातपित्तं हरेद् द्रुतम्॥
प्रावृट्शरद्वसन्तानां मासेष्वेतेषु वाऽऽहरेत्[2]।
साधारणेषु विधिना त्रिमासान्तरितान्मलान्॥
कृत्वा शीतोष्णवृष्टीनां प्रतीकारं यथायथम्।
प्रयोजयेत् क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत्॥

सचितदोपनिर्हरण काल—शीत, उष्ण और वर्षा मे सचित कफ, वात और पित्त का निर्हरण क्रम से साधारण काल चैत्र, श्रावण और कार्त्तिक मे करे अर्थात् शीतकाल के सचित कफ का चैत्र मे, उष्णकाल के सचित वात का श्रावण मे और वर्षाकाल मे सचित पित्त का सशोधन कार्तिक मे करे। इसमे विलम्ब न करे। अथवा प्रावृट् (वर्षा), शरत् और वसन्त ऋतु के महीनों मे जैसे कि प्रावृट् के महीने आषाढ़-श्रावण मे वायु का, शरद् ऋतु के महीने कार्तिक-मार्गशीर्ष मे पित्त का तथा वसन्त ऋतु के महीने फाल्गुन-चैत्र मे कफ का निर्हरण तीन तीन महीने के अन्तर से करे। अर्थात् वायु का निर्हरण आषाढ़ मे किया गया हो तो तीन

१. भवति चात्र श्लोकः, भवन्ति चात्र।

१ यथाऽरुचि २ वा हरेत्

महीने के बाद कार्तिक मे पित्त का निर्हरण करे। वायु का सशोधन श्रावण में किया हो तो तीन महीने का अन्तर देकर मार्गशीर्ष मे पित्त का निर्हरण करे। इसी प्रकार कफ के निर्हरण विषय को समझना चाहिए। यह दोषों की निर्हरणविधि स्वस्थवृत्त के अनुसार कही गई। अब आतुरवृत्तानुसार कहते है। पूर्वोक्त साधारण के अतिरिक्त किसी ऋतु मे रोगी का दोष बढ़ गया हो तो साधारण काल की उपेक्षा करके उस ऋतु मे ही दोष का निर्हरण कर डालना चाहिए किन्तु ध्यान रहे कि यह क्रिया जिस ऋतु मे वातादि दोषों के निर्हरणार्थ की जाय तो उस ऋतु को उस दोष के निर्हरण-काल (साधारण ऋतु) का रूप कृत्रिम विधि से देकर, शीतोष्ण-वर्षा का प्रतीकार करके फिर दोष का निर्हरण किया जाय। भावार्थ यह है कि जिस ऋतु मे दोष की वृद्धि हुई है उस ऋतु को उस दोष के निर्हरणकाल का कृत्रिम रूप देकर के भी दोष का निर्हरण करना चाहिए अर्थात् उस क्रियाकाल की उपेक्षा नही करनी चाहिए।

सप्ताहेन गुणालाभे क्रियामन्या प्रयोजयेत्।
पूर्वस्या शान्तवेगाया न क्रियासकरो हित।
गुणेऽल्पेऽपि तु तामेव विशेपोत्कर्षलब्धये॥

सप्ताह में लाभ न हो तो—यदि क्रिया (चिकित्सा) करने पर सात दिन मे गुण न दिखाई दे तो फिर वहा अन्य क्रिया की योजना करनी चाहिए परन्तु दूसरी क्रिया का प्रारम्भ पहली क्रिया का वेग शान्त होने पर ही करना चाहिए। इसलिए कि क्रियासकर हितकारी नही होता। यदि क्रिया के करने पर थोड़ा गुण या लाभ दिखाई दे तो उसी क्रिया को अधिक लाभ की इच्छा से करता रहे किन्तु उसकी जगह अन्य क्रिया को न करे।।

भेषज नृपतेर्हृद्यमल्पमल्पात्यय शुचि[1]।
सिद्धागम बहुगुण बहुकृत्व प्रयोजितम्॥
अनन्यकार्योऽवहितस्तन्मन्त्रिगुरुसमतम्[2]।
आस्वादित परिचरै स्वय चानुप्रयोजयेत्॥

राजा की चिकित्सा में विशेषता—यदि राजा को औषध देना हो तो इन बातोंपर अवश्य ध्यान देना चाहिए अर्थात् राजाको दी जानेवाली ओषधि ऐसी चाहिए कि जो हृद्य (मनोहर-हृदय को भानेवाली), अल्प (मात्रा मे थोडी), अल्पात्यय (देश-कालादि के अनुकूल न होकर भी (हितकारी), शुद्ध, शास्त्रसिद्ध, (सिद्धागम-आयुर्वेदोपदेशानुसार तैयार की हुई), बहुगुणवाली, अनेक बार प्रयोग करके अनुभव की हुई, राजा-राजा के मन्त्री और राजा के गुरु की समति से बनाई गई हो। इतना ही नही, वह ओषधि राजा के सेवकों को देकर चखाई हुई तथा स्वय वैद्य की चखी हुई हो। साराश, वैद्य को चाहिए कि वह स्थिरचित्त एव सावधान होकर उस ओषधि को सेवकों को चखाकर, स्वय चखकर फिर राजा को देनी चाहिए ताकि किसी प्रकार के अपाय की सभावना न हो।

उचितो यस्य यो देशस्तज्ज तस्यौषध हितम्।
देशेऽन्यत्रापि वसतस्तत्तुल्यगुणजन्म च॥
वीर्यवद्भावित सम्यक्स्वरसैरसकृल्लघु।
रसगन्धादिसपन्न काले जीर्ण च मात्रया॥
एकाग्रमनसा युक्त भैषज्यममृतायते।

इति भेषजावचारणीयोनाम त्रयोविंशोऽध्याय॥

अमृतफला ओषधि—रोगी को जो उचित (अभ्यस्त) देश होता है, उसी देश की उत्पन्न ओषधि रोगी के अन्य देश मे रहते हुए भी हितकारी होती है अथवा रोगी के उचित देश के समान अन्य किसी देश की उत्पन्न हुई ओषधि भी हितकारी होती है। यह व्यवस्था उचित देशोत्पन्न ओषधि के न मिलने पर निर्दिष्ट की गई है। इस प्रकार की ओषधि प्रयोग करनेवाले के लिए बलवान्, अमृत के तुल्य गुण करनेवाली होती है जो कि भलीभाति सजातीय-विजातीय द्रव्यों के स्वरसों से बारबार भावना दी हुई, लघु, रस-गन्धादि-सम्पन्न (रस, गध, वर्ण, स्पर्श, पाक आदि से सम्पन्न), अनुकूल मात्रा मे दी जाने पर समय पर जीर्ण होनेवाली (पचनेवाली) तथा एकाग्र मन करके प्रयोग की जाती है।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिका-
हिन्दीव्याख्याया भेषजावचारणीयो नाम
त्रयोविंशोऽध्याय॥ २३॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः।

अथातो द्विविधोपक्रमणीय नामाध्याय व्याख्यास्याम। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय।

द्विविधोपक्रमाध्याय—इसके पूर्वाध्याय मे व्याधिनिर्घातन (रोगनाशन) बताया गया किन्तु रोगनाशन दो प्रकार से किया जाता है अत जिसमें दो प्रकार से उपक्रमण (चिकित्सा) वर्णन किया गया है उस द्विविधोपक्रमणीय नामक अध्याय का अब व्याख्यान करेंगे जैसे कि आत्रेयादि महर्षियों ने पहले किया।

उपक्रमस्य हि द्वित्वाद् द्विधैवोपक्रमो मत।
एक सतपर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पण॥
बृहणो लङ्घनश्चेति तत्पर्यायावुदाहृतौ।
बृहण यद् बृहत्त्वाय लङ्घन लाघवाय यत्॥
देहस्य भवत प्रायो भौमाप्यमितरच्च ते।
स्नेहन रूक्षण कर्म स्वेदन स्तम्भन च यत्॥
भूताना तदपि द्वैध्याद् द्वितय नातिवर्तते।
शोधन शमन चेति द्विधा तत्रापि लङ्घनम्॥

उपक्रम के दो प्रकार—साम और निराम अवस्था के कारण[1]

१ शुचि २ तथा तन्मन्त्रिसंमत ३ 'अल्पात्यय देशकालाद्यपायेऽपि निरपायम्' इतीन्दु।

१ 'उपक्रम्यस्य रोगस्य द्वित्वात्-सामनिरामभेदेन, इति हेमाद्रिः।

उपक्रम के दो प्रकार होने से चिकित्सा भी दो प्रकार की मानी गई है, यथा-एक सतर्पण और दूसरी अपतर्पण चिकित्सा। इन्ही के क्रम से बृहण और लङ्घन ये दो पर्याय है अर्थात् सतर्पण के लिए बृहण तथा अपतर्पण के लिए लङ्घन पर्याय-वाची शब्द है। इनमे बृहण चिकित्सा शरीर को मोटा या स्थूल करने के लिए है और लङ्घन लाघव (कृशता) लाने के लिए है। इनमे बृहण प्राय भूमि तथा जल गुण विशिष्ट है अर्थात् जल मिश्रित भूमि गुण विशिष्ट बृहण है और इतरत् (अवशिष्ट) भूमि जल के अतिरिक्त अग्नि, वायु और आकाश-गुणविशिष्ट लङ्घन है। यहा प्रायोग्रहण इस लिए है कि कुछ भूमि जल गुण विशिष्ट अपतर्पण (लङ्घन) भी होता है और इसी प्रकार अग्नि पवन गुण विशिष्ट सतर्पण भी होता है। जैसे कि यवक, मसूर, मकुष्ठ (मोठ) और चौलाई आदि भूमि-जल गुण विशिष्ट होते हुए भी अपतर्पण है और शुण्ठी-पिप्पली आदि अग्निवायु गुण विशिष्ट होकर भी वृष्यत्व के कारण सतर्पण कार्य को करती है।

स्नेहादि का बृहण तथा लङ्घन में अन्तर्भाव—**यद्यपि स्नेहन, रूक्षण, स्वेदन और स्तम्भन ये चार प्रकार के कर्म बताए गये है किन्तु पञ्चमहाभूतों के बृहण और लङ्घन ऐसे दो भेद होने से उक्त चारों कर्म बृहण तथा लङ्घन इन दोनों से बाहर नही जा सकते। बृहण और लङ्घन इन दोनों मे, लङ्घन भी शोधन और शमन भेद से दो प्रकार का कहा है।**

यदीरयेद्बहिर्दोषान् पञ्चधा शोधन तु तत्।
निरूहो वमन कायशिरोरेकोऽस्रविस्रुति ॥

शोधन के लक्षण और भेद—**जो औषध शरीर मे पहुँचकर बढ़े हुए कुपित वातादि दोषों को शरीर से बाहर निकालता हैं, उसे शोधन कहते है। इस शोधन के पाच प्रकार है यथा निरूह (गुदा द्वारा शरीर मे प्रविष्ट किया जानेवाला क्वाथ स्नेहादि औषध) जिसे बस्ति भी कहते है। पाश्चात्त्य वैद्य शास्त्र मे इसका नाम एनिमा है। वमन (कफ के निर्हरणार्थ वामक औषध का प्रयोग), विरेचन (शरीर और मस्तक से विरेचन देकर दोषों को बाहर निकालना) तथा रक्तमोक्षण कराना। ध्यान रहे कि यहा निरूह, वमन और विरेचन का निर्देश क्रम से वायु, कफ और पित्त के लिए किया गया है। सुश्रुत के मतानुसार रक्तविस्रुति को दिखाया गया है।**

न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि ।
समीकरोति विषमान् शमन तच्च सप्तधा ॥
पाचन दीपन क्षुत्तृड्व्यायामातपमारुता ।
बृहण शमन त्वेव वायो पित्तानिलस्य च ॥

शमन के लक्षण और भेद—**जो औषध (द्रव्य) सम दोषों को न शरीर से बाहर निकालता और न उन्हे उदीर्ण करता है अर्थात् उनको नही छोडता है परन्तु विषम दोषों को साम्यावस्था में ले जाता है, उसको शमन कहते है और यह सात प्रकार का है जैसे कि (१) पाचन (२) दीपन (३) भूखा रहना (४) पानी नही पीना (५) व्यायाम करना (६) सूर्य की धूप का सेवन और (७) वायु का सेवन करना परन्तु यहा एक विशेष बात है, उसे भूलना नही चाहिए। वह विशेष यह है कि वायु की वृद्धि मे बृहण भी शमन कहलाता है इस लिए कि वायु की की हुई रूक्षता तथा कृशता का शमन बृहण द्वारा होता है। यहा तु और च शब्द का भाव यह है कि केवल वायु के लिए बृहण शोधन है और वही पित्तयुक्त वायु के लिए शमन है।**

बृहयेद्व्याधिभैषज्यमद्यस्त्रीशोककर्शितान् ।
भाराध्वोर क्षतक्षीणरूक्षदुर्बलवातलान् ॥
गर्भिणीसूतिकाबालवृद्धान् ग्रीष्मेऽपरानपि ।
मांसक्षीरसितासर्पिर्मधुरस्निग्धबस्तिभि ॥
स्वप्नशय्यासुखाभ्यङ्गस्नाननिर्वृतिहर्षणै ।

बृहण के योग्य पुरुष—**जो रोग के कारण कृश हो गये हों, ओषधि करके कृश हो गये हों, अति मद्यपान करके अथवा स्त्रीसङ्ग तथा शोक के कारण कृश हो गए हों और जो भार उठा उठाकर क्षीण हो गये हों, मार्ग के चलने से क्षीण हो गए हों या उर क्षत रोग के कारण क्षीण हों, जो रूक्ष, दुर्बल एव वातप्रकृति के हों, जो गर्भिणी स्त्री हो, जो प्रसूता हो, जो बालक या वृद्ध हों, इन सबका बृहण करना चाहिए। इतना ही नही, ग्रीष्म ऋतु मे सबका बृहण करना चाहिए।**

बृहण के योग्य कर्म—**मास, दूध, सिश्री एव घृत का सेवन कराकर, मधुर स्निग्ध बस्तियों को देकर, स्वप्न (सोना), शय्यासुख (खटिया या पलङ्ग से मिलनेवाला सुख अथवा निद्रारहित खटिया का सेवन), अभ्यङ्ग (उबटन आदि), स्नान, सन्तोष (चित्त की स्थिरता) और हर्षण (आनन्द) के देनेवाले कर्मो द्वारा बृहण करना चाहिए।**

बृहण योग्य पुरुषों का वर्णन करके अब क्रमप्राप्त लङ्घन के योग्य पुरुषों के विषय मे कहते है कि—

मेहामदोषातिस्निग्धज्वरोरुस्तम्भकुष्ठिन ।
विसर्पविद्रधिप्लीहशिर कण्ठाक्षिरोगिण ॥
स्थूलांश्च लङ्घयेन्नित्य शिशिरे त्वपरानपि ।
तत्र सशोधनै स्थौल्यबलपित्तकफाधिकान् ॥
आमदोषज्वरच्छर्दिरतीसारहृदामयै ।
विबन्धगौरवोद्गारहृल्लासादिभिरातुरान् ॥
मध्यस्थौल्यादिकान् प्राय पूर्व पाचनदीपनै ।
एभिरेवामयैरार्तान् हीनस्थौल्यबलादिकान् ॥
क्षुत्तृष्णानिग्रहैर्दोषैस्त्वार्तान्मध्यबलैर्दृढान् ।
समीरणातपायासै किमुताल्पबलैर्नरान् ॥

लङ्घन के योग्य पुरुष—**जो प्रमेहरोगी हो, जिसमें आमदोष हों, जो अति स्निग्ध हो अर्थात् जिसे अति-स्नेहन दिया गया**

१ प्रायोग्रहणात्किञ्चिद्भौमाप्यमप्यपतर्पणम्। यथा-यवकमसूरमकुष्ठतण्डुलीयादि। तथा-अग्निपवनोत्कटस्य कटुकस्यापि शुण्ठीपिप्पल्यादे सन्तर्पणत्वम्, वृष्यत्वेन सन्तर्पणकार्यदर्शनादित्यरुणदत्त।

१ शय्यासुख-खट्वाजनित शर्म इत्यरुणदत्त। शय्यासुख-निद्रा विना शयनेऽवस्थानमिति हेमाद्रि। २ निर्वृति—चित्तस्यानाकुलत्वमित्यरुण। निर्वृति-सतोष इति हेमाद्रि।

हो, जो ज्वर रोगी हो, जो ऊरुस्तम्भ-कुष्ठ-विसर्प-विद्रधि-प्लीह-शिर-कण्ठ और नेत्र का रोगी हो और जो स्थूल हो इनको नित्य लङ्घन देना चाहिए तथा शिशिर ऋतु मे और भी सबको लङ्घन देना चाहिए।

लङ्घन देने में विशेष—लङ्घन कर्म मे यह विशेष है कि जो स्थूल हो, बलवान् हो, जिसमे पित्त और कफ की अधिकता हो, आमदोषी हो, ज्वर, छर्दि, अतीसार, हृद्रोग से पीडित, विबन्ध (मलावरोध), गौरव (जडता), उद्गार (डकार का रोगी) तथा हृल्लास (उबकाई) आदि से पीडित हो तो उसे सशोधन (वमन-विरेचनरूप) लङ्घन देना चाहिए किन्तु यदि इन रोगो से पीडित रोगी मध्यस्थूल है अर्थात् अतिस्थूल नही है तो उसे पहले दीपन-पाचन देकर फिर सशोधन (वमन-विरेचन) देना चाहिए। यदि रोगी हीन स्थूल (कम स्थूलता) और कम बलवाला हो तो उपवास, प्यास का जीतना इन लघनों को देकर दोषों को जीतना चाहिए। मध्यबल और मध्यस्थूल हो तो उनको वायुसेवन, सूर्य की धूप का सेवन तथा व्यायामरूप लङ्घन देकर शुद्ध करना चाहिए और जो अल्प बलवाले है, उनके लिए तो बिना किसी हिचकिचाहट के वायुसेवन, धूपका सेवन तथा व्यायामरूप लङ्घन देना चाहिए।

न बृहयेल्लङ्घनीयान् बृह्याश्च मृदु लङ्घयेत् ।
युक्त्या वा देशकालादिबलतस्तानुपाचरेत् ॥

लङ्घन योग्य के लिए बृहण का निषेध—जो रोगी लङ्घन कराने योग्य है, उसके लिए बृहण न करे क्योंकि बृहण के स्वल्प बल को पाकर भी लङ्घन के योग्य व्याधि परम-वृद्धि को प्राप्त होती है। बृहण योग्य रोगी को मृदु लङ्घन देना चाहिए इस लिए कि इस मृदु लङ्घन का उपयोग बृहण मे बहुत अच्छा होता है। भावार्थ यह है कि यह मृदु लङ्घन अग्नि को प्रदीप्त करता, शरीर में स्फूर्ति लाता और बृहणकार्य मे सहायक होता है। अथवा इन लङ्घन-योग्यों और बृहण-योग्यों का उपचार युक्ति से या देश-कालादि के बलानुसार करे। साराश, देशकालादि की अपेक्षा से लघनवाले को बृहण एव बृहणवाले को लङ्घन भी दे सकते है अर्थात् जहा जैसी युक्ति उचित जान पडे वैसे ही कर सकते है।

बृहिते स्याद् बल पुष्टिस्तत्साध्यामयसत्क्षय ।
विमलेन्द्रियता सर्गो मलाना लाघव रुचि' ॥
क्षुत्तृट्सहोदय शुद्धहृदयोद्गारकण्ठता ।
व्याधिमार्दवमुत्साहस्तन्द्रानाशश्च लङ्घिते ॥

सम्यग्बृहित के लक्षण—बृहण औषध के भली भाति सेवन कराने पर मनुष्य मे बृहण होता है अर्थात् वह पुष्ट होता है। सम्यक् बृहण होने पर मनुष्य मे बल और पुष्टि की प्राप्ति होती है। इनके अतिरिक्त बृहण से साध्य होनेवाले रोगों का नाश हो जाता है।

सम्यक् लङ्घित के लक्षण—भली भाति मनुष्य के लघित होने पर विमलेन्द्रियता (इन्द्रियो मे पटुता-फुर्ती), मल, मूत्र और अधोवायु की प्रवृत्ति बराबर होना, शरीर मे लघुता (हल्कापन), अन्न पर रुचि, भूख और प्यास का एक ही साथ उत्पन्न या भूख और प्यास का यथोचित लगना, हृदय, डकार और कण्ठ का शुद्ध (निर्मल) होना, लघनसाध्य व्याधियों का कम हो जाना, उत्साह और तन्द्रा का नाश होता है।

विशेष कथन—इस ग्रन्थ के टीकाकार इन्दु 'विमलेन्द्रियता सर्गो मलाना लाघव रुचि' इस आधे पद्य को सम्यग्बृहित-लक्षणों से मानते है और सम्यक् लघित के लक्षण 'क्षुत्तृट्सहो-दय'दि से मानते हे, परन्तु यह ठीक नही है क्योंकि चक्रदत्त, अरुणदत्त तथा हेमाद्रि ने विमलेन्द्रियता से लेकर तन्द्रानाश तक के लक्षणों को सम्यक् लङ्घित के माने है और यह इनका मानना नितान्त योग्य भी है।

अनपेक्षितमात्रादिसेविते कुरुतस्तु ते ।
अतिस्थौल्यातिकार्श्यादीन् वक्ष्यन्ते ते च सौषधा ॥

अयुक्त बृहण और लघन के दोष—अनपेक्षित अर्थात् जिनकी आवश्यकता नही है ऐसे बिना विचार के मात्रादि सेवन से (मात्रा, देश और काल का विचार न करके बृहण लघन के सेवन से) बृहण-लङ्घन अतिस्थौल्य तथा अतिकार्श्यादि रोगों के करनेवाले होते है जिनका वर्णन औषध-सहित आगे किया जायगा।

रूप तैरेव च ज्ञेयमतिबृहितलङ्घिते ॥

अतिबृंहित-लघित के लक्षण—अतिबृहण एव अतिलङ्घन-कारक औषधि के सेवन से वेही अतिस्थौल्य और अतिका-र्श्यादि लक्षण होते है जो अनपेक्षित मात्रादि के सेवन मे बताए गए हे।

तत्र शोधनमुद्दिश्य स्थौल्याद्या प्रागुदाहृता ।
गुर्वादिवृद्धसलीनश्लेष्ममिश्रोऽन्नजो रस ॥
आम एव श्लथीकुर्वन् धातून् स्थौल्यमुपानयेत् ।
अतिस्थौल्यादतिक्षुत्तट्प्रस्वेदश्वासनिद्रता ॥
आयासाक्षमताजाड्यमल्पायुर्बलवेगता ।
दौर्गन्ध्य गद्गदत्व च भवेन्मेदोऽतिपुष्टित ॥
स्रोत सु मेदोरुद्धेषु वायु कोष्ठे विशेषत ।
चरन् प्रज्वलयत्यग्निं क्षुत्तृषौ स्तस्ततोऽधिकम् ॥
स्थूल कोटरवद् वृद्धौ दहतोऽग्न्यनिलौ च तम् ।
स्वेदवाहिसिरामूलभवाद्विष्यन्दनादपि ॥
मेदस श्लेष्मयोगाच्च भवति स्वेदभूरिता ।

१ लङ्घनार्हान् व्याधीन् न कदाचन बृहयेत्, यतस्ते बृहणेन स्वल्पेनापि परा वृद्धिमायान्ति। ये तु व्याधयो बृहणीयास्ता मृदु स्वल्प लङ्घयेत्, बृहणोपयोगयोग्यतापादनायाग्निसधुक्षणाय च लघु-तातिशयोत्पत्तये, इतीदु। २ देशकालाद्यपेक्षया लङ्घनीयानपि हयेत् हणीयानपि च लङ्घयेदितीन्दु।

१ बृहणसाध्यानामामयाना सक्षयश्च स्यात्। विमलेन्द्रियतादीना च स्यादित्यनेन सबन्ध। लङ्घिते किमित्याह-क्षुत्तृडित्यादीतीन्दु। अरुणहेमाद्रिप्रमुखास्तु-विमलेन्द्रियतादिस्तन्द्रानाशश्चेत्यन्तो ग्रन्थो लङ्घितलक्षणम्। इति वदन्ति।

कोष्ठ एव विपक्केऽस्य सरुद्धस्रोतसो रसे ॥
सर्वत्रालब्धवृत्तित्वात्प्रायो मेद प्रचीयते । ।
तच्छेषोऽल्परसोऽल्पत्वान्नाल रक्तादिपुष्टये ॥

अन्नरस से स्थूलता की उत्पत्ति—शोधन के विषय को लेकर स्थौल्यादि का वर्णन पहले रोगानुत्पादनीय अध्याय मे कह चुके है। अब उसी स्थूलता आदि को बतलाने के लिए कहते है कि—गुरु आदि द्रव्यों के सेवन से बढ़ा हुआ, शरीरान्तगत कफ से मिश्रित होकर अन्न से उत्पन्न हुआ कच्चा रस ही सब धातुओं को ढीला करता हुआ स्थूलता उत्पन्न करता है। अतिस्थूलता से अति क्षुधा, अति तृषा, अति पसीना, श्वास, अति नीद, श्रम करने मे असमर्थता, जडता, अल्पायु, अल्पबल, अल्पवेग, दुर्गन्धता, गद्गदत्व तथा अति पुष्टि के कारण मेद की वृद्धि होती है। मेद से शरीर के स्रोत रुक जाने से वायु को सर्वत्र विचरने के लिए मार्ग नही मिलता अत कोष्ठ (पेट) मे विशेषत फिरता हुआ वायु अग्नि को प्रज्वलित करता है और उससे भूख और प्यास मे आगे से भी अधिक वृद्धि होती है। इतना ही नही, वे बढ़े हुए अग्नि और वायु उस स्थूल पुरुष को, वृक्ष के कोटर (रन्ध्र भाग) मे स्थित अग्नि वायु की तरह उसके महास्रोत में स्थित होकर जलाते है और शिरामूल मे रहनेवाला मेद उससे पिघलकर कफ के साथ बहने लगता है अत उस स्थूल पुरुष मे पसीने की भी अधिकता हो जाती है। उस स्थूल पुरुष मे मेद बहुत बढ़ जाता है, इसका मुख्य कारण यह होता है कि मेद के कारण स्रोतों के मुख बन्द हो जाने से कोष्ठ मे ही अन्नरस पकता रहता है और वह सब धातुओं मे नही पहुँच सकता किन्तु गुरु-मधुरादि रसों के सयोग से वह भी मेद के रूप मे परिणत हो जाता है। इस लिए उस स्थूल पुरुष मे इस रस से भी मेद की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है अत यह मेदोरूप मे परिणत हुआ रक्तादि धातुओं की पुष्टि करने में समर्थ नही होता।

तुल्योऽपि वाय्वादिचये प्राक्चित चीयतेतराम् ।
मेदस्तेनासमत्वेन धातूना विदधाति तत् ॥
श्वासादीनचिराच्चान्यान् ज्वरोदरभगन्दरान् ।
मेहोरुस्तम्भपिटिकाविद्रधिप्रभृतीन् गदान् ॥
अयथोपचयोत्साहश्चलस्फिगुदरस्तन ।
अतिस्थूल स्मृतो योज्य तत्रान्न मारुतापहम् ॥

मेदोवृद्धि से अनेक रोग—रसरक्त की वृद्धि के बिना कैसे मेद बढ़ सकता है और मेदोवृद्धि होते हुए कैसे अस्थि आदि धातुओं की वृद्धि नही होती जब कि कहा गया है कि 'पूर्वो धातु पर कुर्याद् वृद्ध क्षीणश्च तद्विधम्' एवमेव 'धात्वाहाराश्च धातव' अर्थात् पूर्वधातु वृद्ध या क्षीण जैसा होता है, वह पर धातु को भी अपनी तरह वृद्ध या क्षीण करता है। यही नियम 'धातु ही धातुओं के आहार है' इससे भी सिद्ध होता है। साराश, सब धातुओं की चय-वृद्धि चलती ही रहती है अत मेदोवृद्धि के साथ साथ वायु आदि का तथा रस-रक्त का भी चय होता ही है परन्तु इस चय के होते हुए भी पहले से बढ़ा हुआ मेद अधिकाधिक वृद्धि को प्राप्त होता है। धातुओं की समता भी वैसी अवस्था मे नही होती। इस लिए बढ़ा हुआ मेद धातुओं की असमता के सहयोग को प्राप्तकर श्वासादि (श्वास, निद्रता, श्रम न कर सकना, जडता, आयु-बल और वेग की अल्पता, दौर्गन्ध्य, गद्गदत्व-अस्पष्ट भाषण) इन रोगों तथा ज्वर, उदर, भगन्दर, प्रमेह, ऊरुस्तम्भ, पिटिका, विद्रधि आदि रोगों को करता है।

अतिस्थूल पुरुष के लक्षण—शरीर का उपचय (सगठन) यथायोग्य न होने से जिसमे उत्साह न हो और जिसके चूतड़, उदर और स्तन चलते-फिरते हिलते हों उसे अतिस्थूल जानना चाहिए। ऐसे पुरुष के लिए वायुनाशक आहार की योजना करनी चाहिए।

श्लेष्ममेदोहर यच्च कुलत्था यवका यवा ।
जूर्णश्यामाकमुद्गाद्या पानेऽरिष्टो मधूदकम्[1] ॥
मस्तु तक्र च तीक्ष्णोष्ण रूक्ष छेदि च भेषजम् ।
चिन्ताव्यवायव्यायामशोधनास्वपन भजेत् ॥
देहापेक्षी तथा रूक्ष स्नानमुद्वर्तनादि च ।
मधुना त्रिफला लिह्याद् गुडूचीमभया घनम् ॥
रसाञ्जनस्य महत पञ्चमूलस्य गुग्गुलो ।
शिलाजतो[2] प्रयोगश्च साग्निमन्थरसो हित ॥
विडङ्ग नागर क्षार काललोहरजो मधु ।
यवामलकचूर्ण च योगोऽतिस्थौल्यदोषजित् ॥
मदन त्रिफलामुस्तसप्ताहारिष्टमस्तुकम्[3] ।
सपाठारग्वध पीतमतिबृहणरोगजित् ॥
तद्वद्वत्सकशम्पाकदेवदारुनिशाद्वयम् ।
समुस्तपाठाखदिरत्रिफलानिम्बगोक्षुरम् ॥
[मर्दनादीनि चालेप स्नानादिष्वपि योजयेत् ।
हिङ्गुगोमेदकव्योषकुष्ठक्रौञ्चास्थिगोक्षुरम्] ॥
एलावृषभषड्ग्रन्थाखराश्वोपलभेदकम् ।
तक्रेण दधिमण्डेन पीतकोलरसेन वा ॥
मूत्रकृच्छ्र क्रमीन्मेह स्थूलता च व्यपोहति ।
क्रिमिघ्नत्रिफला[4]तैलासकुष्ठ्यूषणदीप्यकै ॥
लोहोदकाप्लुतो मन्थ शस्तो बृहणरोगिणाम् ।
व्योषकट्वीवराशिग्रुविडङ्गातिविषास्थिरा ॥
हिङ्गुसौवर्चलाजाजीयवानीधान्यचित्रका ।
निशे बृहत्यौ हपुषा पाठा मूल च केम्बुकात् ॥
एषा चूर्ण मधु घृत तैल च सदृशाशकम् ।
सक्तुभि षोडशगुणैर्युक्त पीत निहन्ति तत् ॥
अतिस्थौल्यादिकान् सर्वान्रोगानन्याश्च तद्विधान् ।
हृद्रोगकामलाश्वित्रश्वासकासगलग्रहान् ॥
बुद्धिमेधास्मृतिकर सन्नस्याग्नेश्च दीपनम् ।
योज्य तथा यथाव्याधि स्वेदासृक्स्रावणान्यपि ॥

अतिस्थूल की चिकित्सा—ऊपर कह आए है कि अतिस्थूल के लिए वायुनाशक अन्न की योजना करे इसी प्रकार कफ और

१ पानेऽरिष्टम् २ शिलाह्वस्य ३ वत्सकम् ४ इन्दुटीकापुस्तकेऽधिकोऽय पाठ ५. वृक्षक ६ त्रिफल।

मेद के हरनेवाले कुल्थी, यवक, यव, जूर्ण (तृणधान्य विशेष), सावा और मूग आदि अन्नों का सेवन करावे, नाना प्रकार के अरिष्ट एव शहद और जल पिलावे। मस्तु (दही के ऊपर का जल), छाछ, तीक्ष्ण-उष्ण-रूक्ष और छेदी (कफ की नाशक) ओषधिया सेवन करावे। स्थूलता को शीघ्र हटानेवाले है इसलिए चिन्ता, मैथुन, व्यायाम, शोधन (वमनविरेचनादि) और जागरण करावे। शरीर के लिए जैसी आवश्यकता हो वैसे रूक्ष स्नान और उबटन आदि करावे। त्रिफला, गिलोय, हरड तथा नागरमोथा इनमें से किसी एक का सेवन शहद के साथ करावे। रसोत, बृहत्पञ्चमूल, गूगल और शिलाजीत इनमें से किसी एक प्रयोग को अग्निमन्थ (अरनी) के रस के साथ सेवन करावे।

विडङ्गादि चूर्ण—वायविडङ्ग, सौठ, जवाखार, तीक्ष्णलोह-भस्म, शहद, जौ ओर आमला इन सबको समभाग लेकर चूर्ण करके सेवन करावे। यह योग अतिस्थौल्य-दोष आदि को नष्ट करनेवाला है।

मदनफलादि चूर्ण—मैनफल, त्रिफला (हरड बहेडा-आवला), नागरमोथा, सप्ताह्व (सातला-थूहर या सतौना-सप्तपर्ण), निम्ब, कुडाछाल, पाढ और अमलतास इन दस ओषधियों का समभाग चूर्ण या क्वाथ अतिस्थूलता को जीतनेवाला है।

कुटजादि चूर्ण—कुडे की छाल, अमलतास, देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, नागरमोथा, पाढ, खदिर (खैर की छाल-या कत्था), हरड, बहेडा, आवला, निम्ब और गोखरू भी अतिस्थूलता को दूर करनेवाले हैं। पहले कहे हुए मदनादि (मैनफल-त्रिफला-नागरमोथा-सातला-निम्ब-कुडा-पाठा और अमलतास) इन दस ओषधियों के क्वाथ का उपयोग लेप, स्नान आदि में भी करे।

हिग्वादि चूर्ण—हीग, गोमेद, सौठ, मिरच, पीपल, कूट, क्रौञ्चपक्षी की हड्डी, गोखरू, इलायची, अडूसा, बच, अजमोदा और पषाणभेद इन सबके समभाग चूर्ण का सेवन छाछ, दही के मॉड या बेर के रस के साथ करने से यह मूत्र-कृच्छ्र, क्रिमि, प्रमेह और स्थूलता का नाश करता है।

विडङ्गादि मन्थ—वायविडङ्ग, हरड, बहेडा, आमला, तेल, सक्तु=यव-चावल-चावल की खील इनमे से किसी एकका[1] चूर्ण, सौठ, मिरच, पीपल और अजवायन इन दस को सम-भाग लेकर षडङ्गविधान से तयार किया हुआ मन्थ काले अगर के जल से युक्त अथवा जिसमे लोहा तपा कर बुझाया[2] गया हो ऐसा यह मन्थ स्थूलरोगियों के लिए सेवन कराने से हितकारी होता है।

व्योषादि मन्थ—सौठ, मिरच, पीपल, कुटकी, त्रिफला, सॅहॅजने के मूल की छाल, बायविडङ्ग, अतीस, शालपर्णी या आखुपर्णी, हीग, काला नमक, जीरा, अजवायन, धनिया, चित्रक, हल्दी, दारुहल्दी, छोटी बडी दोनों कटेली, हाऊबेर, पाढ, सुपारी या केऊकी जड इन सबको समभाग लेकर चूर्ण करके इस चूर्ण के समान शहद ले, इसी मान से घी और तेल लेवे। भावार्थ यह है कि पूर्वोक्त २४ ओषधियों का एक भाग तथा इसी भाग के बराबर शहद, घी और तेल के भाग ले और चारों भागों से १६ गुना जव का सत्तू ले। इन सबको जल मे घोल-कर मन्थ तयार करे। इस मन्थ के पीने से अतिस्थौल्यादि पहले वर्णन किए गये सब रोग तथा इसी प्रकार के अन्य सब हृद्रोग, कामला, श्वित्र (श्वेत कोढ), श्वास, खासी और गल-ग्रह (कण्ठरोध या गलगण्ड) रोगों का नाश होता है। इतना ही नही, इस प्रयोग के सेवन करने से मनुष्यों की बुद्धि, धारणशक्ति और स्मरणशक्ति बढती है तथैव मन्द पडी हुई अग्नि प्रदीप्त होती है। इसी प्रकार जैसी व्याधि हो उसके अनुसार स्वेदन और रक्त का परिस्रावण भी कराना चाहिए।

अतिकार्श्यं भ्रम कासस्तृष्णाधिक्यमरोचक।
स्नेहाग्नि-निद्रादृक्श्रोत्र-शुक्रौज क्षुत्स्वरक्षय ॥
बस्तिहृन्मूर्द्धजङ्घोरुत्रिकपार्श्वरुजा ज्वर।
प्रलापोर्ध्वानिलग्लानिच्छर्दिपर्वास्थिभेदनम् ॥
वर्चोमूत्रग्रहाद्याश्च[4] जायन्तेऽतिविलङ्घनात्।
अतिकार्श्येन नायासवर्षशीतोष्णक्षुत्तृष[2] ॥
तृप्तिव्याध्यौषधिमान्[1] सहतेऽल्पबलत्वत।
श्वासकासक्षयप्लीहगुल्मार्शोवह्निमन्दता ॥
कृश प्रायश्च धावन्ति रक्तपित्तज्वरामया[3]।

अतिलङ्घन से अतिकार्श्यादि दोष—अतिस्थूल की चिकित्सा जो पहले कह आए है उससे अतिस्थूलता का नाश होकर मनुष्य मे कृशता आती है और इस कृशता को लाने के लिए मुख्य उपाय लङ्घन है परन्तु ध्यान रहे कि लङ्घन भी देहापेक्षी करना चाहिए। इसलिए कि अतिलङ्घन के कारण अतिकार्श्य (अतिदुबलापन), चक्कर आना, खांसी, प्यास की अधिकता और अरोचक पैदा होता है, स्नेह (शरीर की चिकनाई)-अग्नि-निद्रा-दृष्टि-श्रोत्र (देखना-सुनना)-वीर्य-ओज-क्षुधा और स्वर इनका नाश होता है, बस्ति (पेडू) तथा हृदय मे पीडा, सिर, जङ्घा, ऊरु, त्रिकस्थान और पसवाडों मे पीडा होती है, ज्वर भी होता है। इनके अतिरिक्त अतिलङ्घन से प्रलाप, ऊर्ध्वश्वास या डकार मे विकृति, ग्लानि, वमन, अगु-लियों के पर्वो मे तथा अस्थियों मे फूटने की सी पीडा (पर्वों में पीडा और हडफूटन), मल (पुरीष) मूत्र का रुकना आदि अर्थात् नाना प्रकार के वायु के रोग उत्पन्न होते है। इतना ही नही, अतिकार्श्य (अति दुबलाई) से मनुष्य परिश्रम, वर्षा, शीत, उष्णता, क्षुधा, तृषा, तृप्ति, व्याधि और औषध का मद इनको सहन नही कर सकता। अल्प बलत्व के कारण उस कृश पुरुष मे श्वास, कास, क्षय, प्लीह, गुल्म, अर्श, अग्नि-मान्द्य, रक्तपित्त, ज्वर और वायु के रोग प्राय दौडकर आ जाते है अर्थात् आक्रमण करते है।

कार्श्यमेव वर स्थौल्यान्न हि स्थौल्यस्य भेषजम्।
बृहण लङ्घन नालमतिमेदोऽग्निवातजित् ॥
मधुरस्निग्धसौहित्यैर्यत्सौख्येन च नश्यति।
क्रशिमास्थविमास्यन्तविपरीतनिषेवणै ॥

---

१ 'यवतण्डुललाजादिचूर्णे सक्तु प्रकीर्तित ॥' २ लोहोदकाप्लुत इत्यगुरूदकाप्लुत। उदककरण च षडङ्गविधानेन, इति चक्रदत्त। लोहोदकेन शस्त्रभाजनोषितपानीयेनाप्लुत। इती द

१ रुड् २ तृट्क्षुध ३ पित्तानिलामया। ४ 'मूत्रग्रहाद्याश्चे-त्यत्रादि ग्रहणेन नानाविधाना वातजाना रोगाणा ग्रहणम्' इती द।

स्थौल्य से कार्श्य की श्रेष्ठता—ऊपर बताया गया है कि कार्श्य से अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है किन्तु इतना होते हुए भी स्थौल्य से कार्श्य (दुबलापन) अच्छा है। इसलिए कि स्थौल्य की ओषधि नही है। स्थौल्य के लिए वही औषध ठीक है जो बढ़े हुए मेद, वायु और अग्नि को जीतने वाला हो परन्तु बढ़े हुए मेद, वायु और अग्नि को जीतने मे न तो बृंहण ही पर्याप्त होता है और न लङ्घन ही। भावार्थ यह है कि बृंहण के देने से वायु और अग्नि शान्त हो सकते हैं परन्तु मेद का नाश नही होता। इसी प्रकार यदि लङ्घन दिया जाता है तो उससे मेद का नाश हो सकता है परन्तु वायु और अग्नि का नाश न होकर विपरीत इसके वृद्धि अवश्य होती है। साराश यह कि स्थौल्य बडा दुश्चिकित्स्य (बडी कठिनाई से जीता जानेवाला) है। विपरीत इसके मधुर, स्निग्धादि तृप्तिदायक बृंहण को देकर कृशिमा (कार्श्य) का नाश सुख से हो सकता है अत स्थौल्य की अपेक्षा कार्श्य ही श्रेष्ठ है। फिर भी स्थविमा (स्थौल्य) को जीतना चाहें तो इसके अत्यन्त विपरीत पदार्थों के सेवन कराने से जीता जा सकता है। इसीलिए स्थौल्य को दुश्चिकित्स्य कहा गया है।

शुष्कस्फिगुदरग्रीव स्थूलपर्वा सिरा तत ।
उच्यतेऽतिकृशस्तत्र प्रागुक्तो बृंहणो विधि ॥
अश्वगन्धाविदार्याद्या वृष्याश्चौषधयो हिता ।
अचिन्तया हर्षणेन ध्रुव सतर्पणेन च ॥
स्वप्नप्रसगाच्च कृशो वराह इव पुष्यति ।
लङ्घनोत्थेषु रोगेषु शेषेष्वप्युपकल्पयेत् ॥
यत्तदात्वे समर्थ स्यात्तच्चाभ्यासेन पुष्टये ।
सद्य क्षीणो यत सद्यो बृंहणेनोपचीयते ॥
चिर क्रमेण च क्षीणस्तदाभ्यासेन तत्र च ।
बृंहण तत्र मात्राग्निबलादीन् वीक्ष्य योजयेत् ॥

अतिकृश के लक्षण और चिकित्सा—जिसके स्फिक् (चूतड़), पेट और ग्रीवा (गर्दन) सूख गए हों, अस्थियों की सन्धियें स्थूल दिखाई दें तथा जिसकी सिरा (नसें) फैली हुई ऊपर उठी हुई दिखाई दे उसको कृश कहते है। इसके लिए पहले बृंहण-विधि कहा गया है, वही चिकित्सा है। साराश, असगन्ध, विदारीकन्द आदि जो वृष्य ओषधियाँ है वे कृश के लिए हितकारी है। किसी भी प्रकार की चिन्ता न करने से, हर्ष से, तृप्तिदायक पदार्थो से तथा सुख की नींद सोने से निश्चय ही वराह (शूकर) की तरह कृश मनुष्य पुष्ट होता है। कार्श्य के अतिरिक्त लङ्घन से उत्पन्न होनेवाले रोगों के लिए भी इसी प्रकार कल्पना करनी चाहिए। उस समय में जो तत्काल कृश को पुष्ट करने मे समर्थ हो उसी ओषधि का अभ्यास कराना चाहिए। इसलिए कि सद्य क्षीण पुरुष सद्यो बृंहण से पुष्ट होता है और चिरकाल से क्षीण हुआ हो तो वह चिरकाल तक बृंहण के अभ्यास से क्रम से पुष्ट होता है किन्तु ध्यान रहे कि बृंहण का प्रयोग मात्रा, अग्नि, देश, काल, बल आदि को देखकर करना चाहिए।

न हि माससम किंचिदन्यद्देहबृहत्वकृत् ।
मासादमास मासेन सभृतत्वाद्विशेषत ॥
क्रव्यान्मासरसास्तस्माद्दकलावणिकॉल्लघून् ।
बेसवारीकृतैस्तद्वज्जाङ्गलैश्च कृताकृतान् ॥
रसास्तथा च क्षीरादीस्तर्पणास्तर्पणान् पुन ।
युञ्ज्यात्कृशाना ज्वरिणा कासिना मूत्रकृच्छ्रिणाम् ॥
तृष्यतामूर्ध्ववाताना मूढमारुतवर्चसाम् ।

बृंहण में मास की प्रधानता—शरीर को पुष्ट करनेवाला मास है, ऐसा कोई भी अन्य पदार्थ नहीं है। मासाहारियों के लिए मासदमास अर्थात् मास खानेवाले सिंहादि पशुओं का मास विशेष हितकारी है जब कि वह मृग आदि के मास से मिलाकर दिया जाय। लङ्घन से उत्पन्न रोगों मे पशु-पक्षियों के दकलावणिक मासरसों का सेवन कराना अच्छा है क्योंकि दकलावणिक मासरस लघु (हलके) होते है। दकलावणिक उस मासरस के यूष-विशेष को कहते है—'जो अल्पमास, नमक, स्नेह और जल से बनाए गये हों तथा जो पतले हों।'[1] इनकी व्याख्या पहले भलीभाति कर चुके हैं। तथा लङ्घनोत्पन्न-व्याधियों में जाङ्गल देश के पशुपक्षियों के बेसवारमिश्रित कृत और अकृत (स्नेह-शुण्ठी आदि से युक्त और स्नेह-शुण्ठी आदि से रहित[2]) मासरस यूषों का सेवन करावे। यहा बेसवार उस अस्थिरहित उबाले हुए मास का नाम है जो उबलने के बाद शिला पर पीसा जाकर उसमें पीपल, खाड, मरिच, गुड और घृत मिलाकर पकाया[3] जाता है। अथवा कृश, ज्वररोगी, खासी का रोगी, मूत्रकृच्छ्र का रोगी, तृष्णारोगी, ऊर्ध्ववाती (ऊर्ध्वश्वास या डकार के विकार का रोगी), अपानवायु तथा मल (पुरीष) का अवरोध हो गया है जिसको ऐसे रोगियों को तृप्तिकारक क्षीर आदि (दूध, ईख का रस आदि[4]) तर्पणों का सेवन कराना चाहिए। यहा तर्पण शब्द से सत्तुओं का भी ग्रहण करना चाहिए[5]।

समकृष्णासितातैलक्षौद्राज्यो हि सर्तर्पण[6] ।
मन्थस्तद्वत्सिताक्षौद्रमदिरासक्तुयोजित ॥
फाणित सक्तव सर्पिर्दधिमण्डोऽम्लकाञ्जिकम् ।
तर्पण मूत्रकृच्छ्रघ्नमुदावर्तहर परम् ॥
मन्थ खर्जूरमृद्वीकावृक्षाम्लाम्लीकदाडिमै ।
परूषकै सामलकै सद्यस्तृष्णार्तिरोगजित्[7] ॥
स्वादुरम्लो जलकृत सस्नेहो रूक्ष एव च ।
सद्य सतर्पणो मन्थ स्थैर्यवर्णबलप्रद ॥

१ 'नातिमासास्तनुरसा दकलावणिका स्मृता' किंवा 'अल्पमास पटुस्नेहा दकलावणिका स्मृता' इति। २ अस्नेहलवण सर्वमकृत कटुकैर्विना। विज्ञेय लवणस्नेहकटुकै सयुत कृतम्" इति सुश्रुत। ३ मास निरस्थि सुस्विन्न पुनर्दृषदि पेषितम्। पिप्पलीखण्ड-मरिचगुडसर्पि समन्वितम्। ऐकध्य विपचेत्सम्यग् बेसवार इति स्मृत ॥ ४ तथा च क्षीरादीन् अत्रादिग्रहणेनेक्षुरसादीना ग्रहणम्। इतीन्दु। ५ कृशाना ज्वरितादीना तर्पणादीन्यपि युञ्ज्यादनेन हि तर्पणशब्देन सक्तव उच्यन्त इत्यपीन्दु। ६ समै कृष्णासिता तैलक्षौद्राद्यैर्द्वयशतर्पणे। ७ सद्यस्तृष्णादिरोगजित्॥

पिप्पल्यादि मन्थ—अथवा पीपल, मिश्री, तेल, शहद और घृत ये सब समभाग लेकर इन सबके बराबर सत्तू मिलाकर (चरक के कथनानुसार सबसे दुगुने सत्तू मिलाकर) मन्थ तैयार करे और सेवन करे तो यह मन्थ बडा प्रशस्त, वीर्य-वर्धक एव वृष्य है। इससे लङ्घन से उत्पन्न हुए ज्वर, खासी, मूत्रकृच्छ्र, तृष्णा, ऊर्ध्ववात, मलमूत्र तथा अपान वायु का अवरोध नष्ट होता है।

सितादि मन्थ—इसी प्रकार मिश्री, शहद, मदिरा और सत्तू से बनाया हुआ मन्थ उपर्युक्त रोगों का हरनेवाला है। चरक में इसी को अपान वायु, विट् (पुरीष), मूत्र, कफ और पित्त को अनुलोमन करनेवाला कहा है।

फाणितादि—अथवा गुड की राब (फाणित), सत्तू, घृत, दही का जल और खट्टी काञ्जी से बना हुआ मन्थ पीवे तो इससे तृप्ति होती है तथा मूत्रकृच्छ्र और उदावर्त के नाश करने में यह परम श्रेष्ठ है।

खजूरादि—खजूर, मुनक्का या किसमिश, विषाम्बिल (कोकम), इमली, अनारदाना, फालसा और आवला इनसे युक्त मन्थ (जल मे घोला हुआ सत्तू) तृष्णा आदि रोगों को जीतनेवाला होता है। चरक मे—तृष्णादिरोगजित्-की जगह-मद्यविकारनुत्-अर्थात् मद्य के विकारों को नष्ट करनेवाला कहा है। मीठा और खट्टा, स्निग्ध या रूक्ष जल के साथ बनाया हुआ मन्थ शीघ्र ही तृप्ति करनेवाला और स्थिरता, वर्ण और बल को देनेवाला है।

विशेष वक्तव्य—इन सब मन्थों मे जहा प्रमाण न कहा गया हो अथवा केवल सत्तू का नाम निर्देश हो अथवा न भी हो तो भी प्रयोग मे कहे हुए सब द्रव्यों से सत्तू द्विगुणित लेने चाहिए। जहा किसी द्रव का घोलने का निर्देश न हो तो जल के साथ घोलना चाहिए। जल भी यदि अर्धक्वथित ठडा करके लिया जाय तो श्रेष्ठ होता है।

> गुरु चातर्पण स्थूले विपरीत हित कृशे ।
> यवगोधूममुभयोस्तद्योग्य हितकल्पनम् ॥
> स्थौल्यकार्श्ये प्रकृत्यापि स्याता तत्राप्यय विधि ।
> सतत व्याधिततया सदा योज्यो विभज्य च ॥

स्थूल और कृश की चिकित्सा में भेद—स्थूल के लिए गुरु अपतर्पण (बलवान् लङ्घन) तथा उसी के अनुकूल आहार की योजना करनी चाहिए और इसके विपरीत कृश के लिए बलवान् सतर्पण एव तदनुकूल आहार की कल्पना करनी चाहिए। जौ और गेहूँ दोनों को देना चाहिए परन्तु उनके योग्य कल्पना से तयार किए हुए देने चाहिए। भावार्थ यह है कि स्थूल के लिए जौ और गेहू अपतर्पण की कल्पनानुसार तयार कर देना चाहिए और कृश को देना हो तो सतर्पण की कल्पनानुसार बनाकर देने चाहिए। बहुत से मनुष्य प्रकृति से भी स्थूल और कृश देखे जाते हैं अर्थात् वे अपने को रोगी नही मानते किन्तु वास्तव मे वे रोगी ही है अत उनके लिए भी यही विधि करनी चाहिए। जो जैसा रोगी हो, उसकी भली भाति चिन्ता करके उसी के अनुसार सदैव ओषधि का विभाजन करके चिकित्सा करनी चाहिए।

> मात्रादियुक्ते सेवेत यस्तु बृहणलङ्घने ।
> समधात्वग्निदेहोऽसौ समसहननो भवेत् ॥
> दृढेन्द्रियबलत्वाच्च न द्वन्द्वैरभियुज्यते ।
> दोषगत्यातिरिच्यन्ते ग्राहिभेद्यादिभेदत ॥
> उपक्रमा न तु द्वित्वाद्भिन्ना अपि गदा इव ।

इति चतुर्विंशोध्याय ॥

—०००—

मात्रादियुक्त लङ्घनबृहणोपदेश—अतियोग-अयोग आदि से बचता हुआ जो मनुष्य मात्रादियुक्त (मात्रा, देश, काल, बल आदि का विचार करके) बृहण और लङ्घन का सेवन करता है, वह समधातु, समाग्नि तथा समसहनन होता है अर्थात उसके देह मे विषमावस्था दूर होकर वातपित्तादि धातु साम्यावस्था मे रहते है। अग्नि भी मन्द, तीक्ष्ण और विषम न रहकर समाग्नि रहती है और शरीर भी सम सघटनवाला होता है, कही स्थूल तो कही कृश ऐसा नही रहता। भावार्थ यह है कि सुश्रुत के 'समधातुमलक्रिय' इस कथनानुसार युक्ति से लङ्घन-बृहण का सेवक सर्वथा स्वस्थ रहता है। इतना ही नही, उसकी दृढ इन्द्रियों एव बलत्व के कारण वह शीत, वात, आतपादि दु खों से युक्त नही होता है।

अध्यायोपसहार—यद्यपि वातादि दोषों की गति के कारण ग्राही, भेदी आदि अनेक उपक्रम शास्त्रों मे दिखाई देते हैं परन्तु रोगों की तरह उपक्रम भी दो प्रकारों से बाहर नही है अपितु बृहण और लङ्घन ऐसे दो ही प्रकार उपक्रम (चिकित्सा) के निश्चित हैं। भवार्थ यह कि व्याधिये अनेक रहती हुई भी चिकित्सा में वे बृहणीय या लङ्घनीय होने से अग्निसोमत्व के बाहर नहीं जा सकती इसी प्रकार लङ्घन-बृहण ये दो ही वस्तुत ग्राही, भेदी आदि विशेष को प्राप्त होते है। इस लिए उपक्रम के दो ही प्रकार है।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिका-
हिन्दीव्याख्याया द्विविधोपक्रमणीयो नाम
चतुर्विंशोऽध्याय ॥ २४ ॥

—०००—

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः।

इसके पूर्वाध्याय मे द्विविध उपक्रम (चिकित्सा के दो प्रकार) कहे गए जिन्हें लङ्घन और बृहण कहा गया है। इनमें लङ्घन के शोधनात्मक होने से और शोधन के स्नेह-स्वेद-पूर्वक होने से तथा स्नेह-स्वेद इन दोनों मे भी दोषों को मृदु करना स्नेह के आधीन होने से स्नेह के विशेष ज्ञान की आवश्यकता है। इसी लिए द्विविधोपक्रम के अनन्तर क्रमप्राप्त इस अध्याय का आरम्भ करते हुए वाग्भटाचार्य कहते है कि—

अथात स्नेहविधिमध्याय व्याख्यास्याम । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय ।

स्नेह विधि—अब इसके आगे हम जिसमे स्नेह-विधि का वर्णन है उस स्नेहविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया।

> स्नेहादिषूपयोगाय तद्व्यापच्छमनाय च ।
> कुर्यात्प्रागेव तद्योगिद्रव्यसभारसग्रहम

स्नेहादि उपयोगी संग्रह—स्नेह आदि में उपयोग के लिए तथा देश, काल आदि की विपरीतता में स्नेहादि की व्यापत्ति को शमन करने के लिए पहले ही से उसके उपयोगी घृत, तेल, वसा, शराव, ढक्कनादि की सामग्री का संग्रह करना चाहिए।

गुरुशीतसरस्निग्धमन्दसूक्ष्ममृदुद्रवम् ।
औषधं स्नेहनं प्रायो विपरीतं विरूक्षणम् ॥

स्नेहन और विरूक्षण के लक्षण—जो द्रव्य गुरु, शीत, सर, स्निग्ध, मन्द, सूक्ष्म, मृदु और द्रवगुणवाला होता है वह प्राय स्नेहन औषध जानना चाहिए। इन गुणों से विपरीत गुणवाला भी स्नेहन औषध हो सकता है जैसे कि सरसों का तेल, बकरी का दूध, विष्किर, प्रतुद और मृग ये लघु होकर भी स्नेहन करनेवाले है। इसी प्रकार मत्स्य तथा मांस उष्ण होते हुए भी स्नेहन है। इसीलिए यहा प्राय शब्द का कथन किया है। उपर्युक्त गुरु, शीत, सर आदि गुणों से विपरीत अर्थात् लघु, उष्ण, स्थिर, रूक्ष, तीक्ष्ण, स्थूल एव कठिन गुणवाले औषध प्राय रूक्षण है। यहा भी प्राय कथन से यह बताया गया है कि इन लघु, उष्ण आदि गुणों से विपरीत द्रव्य भी रूक्षण होते है जैसे कि यव गुरु, शीत और सर होकर भी रूक्षण करता है। साराश, स्नेहन और रूक्षण द्रव्यों के लिए यह साधारण नियम है।

सर्पिर्मज्जा वसा तैलं स्नेहेषु प्रवरं मतम् ।
तत्रापि चोत्तमं सर्पि संस्कारस्यानुवर्तनात् ॥
माधुर्यादविदाहित्वाज्जन्माद्येव च शीलनात् ॥

स्नेहो में चतुर्विध स्नेह की श्रेष्ठता—घृत, मज्जा, वसा और तेल ये चार स्नेह सब स्नेहों मे उत्तम है। इसीलिए इन चारों को महास्नेह कहा गया है। इनमे भी घृत सबसे श्रेष्ठ है क्यों कि घृत संस्कारानुवर्ति है[1] अर्थात् घृत के साथ जैसा संस्कार किया जाता है, वह तदनुकूल फल देता है जैसे कि उष्ण ओषधियों के साथ संस्कृत घृत उष्ण होता है और शीतादि ओषधियों के साथ संस्कार करने से शीतादि गुणवाला होता है। इतना ही नही, जन्म से ही घृत मधुर और अविदाही होने के कारण सब स्नेहों से उत्तम है। सबसे बड़ा गुण घृत में यह है कि वह अन्य द्रव्यों के साथ संस्कृत होने पर उन ओषधियों का सहायक बनकर गुणवृद्धि करता है परन्तु अपने असली धर्म या गुण को नही छोड़ता जैसे कि अन्य तेल आदि स्नेह अन्य ओषधियों के साथ संस्कृत होने पर उनके गुणवाले हो जाते है और अपने असली गुण को छोड़ देते है।

पित्तघ्नास्ते यथापूर्वमितरघ्ना[1] यथोत्तरम् ।
घृतात्तैलं गुरु वसा तैलान्मज्जा ततोऽपि च ॥
द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिस्तैर्यमकस्त्रिवृतो महान्[2] ।
स्नेहाशया दधि क्षीरं मांसास्थि फलदारु च ॥

चतु स्नेहो के गुण—घृत आदि ये चार स्नेह यथापूर्व पित्तनाशक है और यथोत्तर वातनाशक है (यहा इतर शब्द से केवल वात का ही ग्रहण उचित है क्यों कि स्नेह प्राय कफवर्धक है।) यथापूर्वका भावार्थ यह है कि तैल से पूर्व वसा, वसा से पूर्व मज्जा और मज्जा से पूर्व घृत है अत तैल से वसा विशेष पित्तनाशक है, वसा से भी विशेष पित्तनाशक मज्जा है और मज्जा से भी घृत विशेष पित्तनाशक है। इसी प्रकार यथोत्तर अर्थात् घृत से भी विशेष वातकफनाशक मज्जा है, मज्जा से भी वसा विशेष वातकफनाशक है तथा वसा से भी विशेष वातकफनाशक तैल है। ध्यान रहे कि यहा तैल से वसा विशेष पित्तनाशक है, इससे तेल भी पित्तनाशक है यह दिखाई देता है सो अचादियोनिवशात् यथा कथचित् ठीक भी है परन्तु वस्तुत तेल पित्तनाशक नही है, इसलिए कि इसके पहले पूर्वत्व का अभाव है।

घृतादि स्नेहों की उत्तरोत्तर गुरुता—घृत से तेल गुरु (भारी) है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर तेल से वसा गुरु है और वसा से मज्जा गुरु है।

चतु स्नेहों की यमकादि संज्ञा—इन चार स्नेहों मे से उत्तरोत्तर दो स्नेहों के योग से यमक स्नेह संज्ञा होती है, तीन स्नेहों के मिलने से त्रिवृतस्नेह और सब स्नेह मिलकर महा स्नेह कहलाता है जैसे कि घृततैल से यमक, घृततैल वसा से त्रिवृत और घृततैलवसा और मज्जा इन चारों के मिलने से महास्नेह होता है। यह हेमाद्रिका मत है किन्तु अरुणदत्तका कहना है कि दो दो स्नेहों के मिलने से यमक स्नेह होता है, जैसे कि घृत-वसा, घृत-तेल एव घृत-मज्जा। त्रिवृत अर्थात् घृत, तेल, वसा और मज्जा इन चारों मे से तीन २ स्नेहों के मिलने से और सब के मिलने से महास्नेह होता है।

स्नेहों के आशय—दधि और क्षीर, मांस, अस्थि, फल और काष्ठ ये क्रम से स्नेहों के आशय अर्थात् स्नेह की योनिया है। भावार्थ यह है कि दही और दूध ये घृत के आशय है। मांस वसा (चर्बी) का आशय है। अस्थि मज्जा का आशय है और फल तथा काष्ठ ये तेल के आशय है अर्थात् घृत, वसा, मज्जा और तेल इन चारों की उत्पत्ति इनसे होती है।

स्वेद्यसंशोध्यमद्यस्त्रीव्यायामासक्तचिन्तका ।
वृद्धबालाऽबलकृशा रूक्षा क्षीणास्त्ररेतस ॥
वातार्तस्यन्दतिमिरदारुणप्रतिबोधिन ।
स्नेह्या — ॥

स्नेहन के योग्य रोगी—जिसका स्वेदन करना हो, जिसका वमन विरेचनादि संशोधन करना हो, जो मद्यपान से, स्त्रीसङ्गसे व्यायाम से तथा चिन्ता से क्षीण हो, जो वृद्ध हो, बालक हो, निर्बलता के कारण कृश हो गया हो, जो रूक्ष हो, जिसका रक्त और वीर्य क्षीण हो गया हो, जो वायु से पीडित हो, जो नेत्राभिष्यन्द रोगवाला हो, जो तिमिर-रोगी हो (जिसकी आखों के सामने अँधियारी आती हो) और जो दारुण प्रतिबोधी

---

१ स्वगुणानजहत् संस्कारगुणान् गृह्णातीति संस्कारानुवर्ती। न चैतत्तैलादिषु संभवति। ते हि स्वगुणांस्त्यजन्तीतीन्दु।

१ श्लेष्मणं स्नेहप्रतिषेधादितरशब्देन वातघ्ना इति गम्यते। द्रव्यान्तरसंस्कृतसर्पिराद्यपेक्षया इतरशब्देन कफस्यापि ग्रहणम् इत्यपीन्दु। २ यमकादि संज्ञात्रयमाह-द्वाभ्यामिति। तै -गुरुत्वोक्तक्रमै। तेन घृततैलाभ्यां यमक, घृततैलवसाभिस्त्रिवृत, सर्वैर्महानिति हेमाद्रि। द्वाभ्यां स्नेहाभ्यां-सर्पिर्वसाभ्यां सर्पिस्तैलाभ्यां सर्पिर्मज्जभ्यामित्यादि, द्वाभ्यां द्वाभ्यां यमको नाम्ना स्नेह। एवं त्रिभि स्नेहैस्त्रिवृत इत्यरुणदत्त।

कृच्छ्रोन्मीलन वर्त्मरोगवाला अर्थात् जिसकी आँखें कष्ट से खुलती हों) ये सब स्नेहन के योग्य है अर्थात् इन सबका स्नेहन कराना चाहिए।

न त्वतिमन्दाग्नितीक्ष्णाग्निस्थूलदुर्बला ।
ऊरुस्तम्भातिसारामगलरोगगरोदरैः ॥
मूर्च्छाच्छर्द्यरुचिश्लेष्मतृष्णामद्यैश्च पीडिता ।
अपप्रसूता युक्ते च नस्ये बस्तौ विरेचने ॥

स्नेह के अयोग्य प्राणी—जो अतिमन्दाग्निवाला या अति तीक्ष्णाग्निवाला हो, जो अति स्थूल हो, अति दुर्बल हो, जो ऊरुस्तम्भ-अतिसार-आम-गलरोग-गर (कृत्रिम विष)-उदर-मूर्च्छा-छर्दि-अरुचि-कफ-तृष्णा और मदात्यय इन रोगों में से किसी रोग से पीडित हो, अपप्रसूता (जिस स्त्री का गर्भस्राव या गर्भपात हो गया हो), जिसके नस्य, बस्ति और विरेचन देने पर दोष शान्त न हुए हों ऐसे प्राणियों को स्नेहन नही कराना चाहिए।

विशेष वक्तव्य—अति मन्दाग्निवाले को स्नेहन कराने से उसकी रही सही जठराग्नि नष्ट हो जाने का भय होता है। अति तीक्ष्णाग्नि स्नेहको प्राप्त कर और भी अधिक भडक जाने का डर है। अतिस्थूल को स्नेहन कराने से अग्नि और मेद की वृद्धि होगी। अति दुर्बल को स्नेहन कराने से स्नेह दुर्जर होगा अर्थात् वह स्नेह को पचा नही सकेगा अत उसमे स्नेह व्यापत् होने का डर होता है। स्नेह स्निग्ध-शीत होने से उससे ऊरुस्तम्भादि रोगों मे और अधिक वृद्धि होने का सभव रहता है। इसीलिए इन सबको स्नेहन नही कराना चाहिए।

तत्र धीस्मृतिमेधाग्निकाङ्क्षिणा[1] शस्यते घृतम् ।
ग्रन्थिनाडीकृमिश्लेष्ममेदोमारुतरोगिषु ॥
तैल लाघवदार्ढ्यार्थिक्रूरकोष्ठेषु देहिषु ।
वातातपाध्वभारस्त्रीव्यायामक्षीणधातुषु ॥
रूक्षक्लेशक्षमात्यग्निवातावृतपथेषु च ।
शेषौ, वसा तु सन्ध्यस्थिमर्मकोष्ठरुजासु च ॥
तथा दग्धाहतभ्रष्टयोनिकर्णशिरोरुजि ॥

घृत स्नेह का उपयोग—बुद्धि, स्मृति, मेधा (धारणा शक्ति) और जठराग्नि की कामनावाले प्राणियोंको इन चार स्नेहों मे से घृत का स्नेहन कराना श्रेष्ठ है। मेधादि पाठान्तर से स्वर, आयु तथा वर्ण आदि की आकाङ्क्षावालों को भी घृत का स्नेहन देना हितकर है।

तैलस्नेह का उपयोग—ग्रन्थिरोग, नाडी (भगन्दरादि नासूरवाले रोग), कृमिरोग, कफरोग, मेदोवृद्धि तथा वातव्याधिवालों को एव शरीर में हल्कापन (लाघव-स्फूर्ति) और दृढ़ता की कामनावालों को तथा क्रूरकोष्ठवालों को तैल का स्नेहन देना श्रेष्ठ है।

वसा और मज्जा-स्नेह का उपयोग—वायु से, धूप से, मार्ग के चलने से, भार के उठाने से, स्त्रीसङ्ग से और व्यायाम से जो क्षीण हो गए हों, जिनका वीर्य या रसरक्तादि धातु क्षीण हो गए हो, इन सबको तथा जो रूक्षशरीरवाले हों, जिनमे क्लेश के सहन करने की शक्ति हो, जिनकी जठराग्नि अतितेज हो तथा जिनके शारीरस्रोत वायु से रुक गए हों, इन सबको शेष (वसा और मज्जाका) स्नेहन कराना श्रेष्ठ है। ध्यान रहे कि इनमे भी जो सन्धि-अस्थि-मर्म और कोष्ठस्थान के रोगी हों, जो जल गए हों, जिनको चोट लग गई हो, जिस स्त्री की योनि स्थानभ्रष्ट (योनि ने अपनी जगह छोड दी हो) हो गई हो, जो कान और सिर के रोगी हों इन सबको वसा का स्नेहन कराना विशेष हितकारी है।

तैल प्रावृषि वर्षान्ते सर्पिरन्यौ तु माधवे ।
सर्व सर्वस्य च स्नेह युञ्ज्याद्भास्वति निर्मले ॥
ऋतौ साधारणे ।

कालविशेष से स्नेह का उपयोग—शोधन के प्रसङ्गमे प्रावृट् अर्थात् श्रावण मास मे तैल से स्नेहन कराना चाहिए और घृत का स्नेहन वर्षान्त (शरद्-ऋतु) के कातिक मासमे तथा अन्य वसा और मज्जा-स्नेह माधव (वसन्त ऋतु) के चैत्र मास मे प्रयुक्त कराना चाहिए। घृत, तैल, मज्जा और वसा ये चारों स्नेह सबके लिए साधारण ऋतुओं (वसन्त-शरत्-प्रावृट्) मे अर्थात् चैत्र, कार्तिक और श्रावण मास मे जब सूर्य निर्मल हो (अभ्राच्छादित न हो) तब प्रयुक्त करने चाहिए।

विशेष—यहा तैल का स्नेहन वर्षा मे, घृत का शरद् मे और अन्य वसा तथा मज्जा का स्नेहन माधव (वसन्त) मे ही क्यों बताया गया है? क्या अन्य ऋतुओं मे इन सब स्नेहों का उपयोग नही कर सकते? अवश्य कर सकते है जैसे कि कहा गया है कि निर्मल सूर्य के रहने पर साधारण ऋतुओं में से सब स्नेहों का उपयोग कर सकते है किन्तु यहा तैल आदि स्नेहों की विशेषता[2] बताई गई है। प्रावृट् (वर्षा) मे वायु का प्रकोप होता है और तैल वायुनाशक है अत तैल का स्नेहन वर्षा मे विशेष फलप्रद है करके बताया गया है। घृत पित्त का प्रकोप शरद् ऋतु मे होता है। इस घृत का स्नेहन शरद् ऋतु मे बताया गया है। इसी प्रकार कफ का कोपकाल वसन्त है और वसा तथा मज्जा का स्नेह यद्यपि कफ के सदृश है तो भी वमन के प्रयोग से कफका उत्क्लेशन करने में ये दोनों (वसा और मज्जा) समर्थ है अत कफ का निर्हरण हो सकता है। इसीलिये वसा और मज्जा का स्नेहन वसन्त में उपयुक्त माना गया है।

दोषसाम्येऽनिलकफे कफे ।
दिवा निश्यनिले पित्ते ससर्गे पित्तवत्यपि ॥

रात्रि और दिन मे स्नेह का नियम—दोष-साम्य (दोषों की साम्यावस्था) मे अर्थात् वायु, कफ या केवल कफ ये प्राकृतावस्था मे हों, चाहे विकृत हों तो पूर्वोक्त साधारण ऋतुओं (श्रावण, कार्तिक, चैत्र) मे दिन को ही स्नेहन कराना चाहिये। इसी प्रकार प्राकृत या विकृत वायु और पित्त मे

१ मेधादिकाङ्क्षिणाम्, इत्यन्ये पठन्ति। आदिशब्देन स्वरायुर्वर्णादिपरिग्रह इत्यरुणदत्त।

१ 'भ्रष्टयोनि—स्थानच्युतयोनि' इति हेमाद्रि। २ शोधन प्रसङ्गे प्रावृषि तैल वातजयप्राधान्यात्। शरदि घृत पित्तजयाय। वमनप्रयोगे कफोत्क्लेशनशक्तत्वात्सदृशेऽपि काले वसाया मज्जश्चोपयोग इतीन्दु।

तथा पित्तसंसर्ग (पित्त वायु-पित्त कफ) साधारण कही हुई ऋतुओं मे स्नेहन रात को ही कराना चाहिए।

त्वरमाणे तु शीतेऽपि दिवा तैलं च योजयेत् ।
उष्णेऽपि रात्रौ सर्पिश्च दोषादीन् वीक्ष्य चान्यथा ॥
निश्यश्नुते वातकफाद्रोगानहनि पित्ततः ॥

रात्रि दिन के स्नेह-नियम का अपवाद—**यद्यपि तैल और घृत के स्नेहपान कराने का साधारण नियम रात्रि और दिन का ही है अर्थात् तैल-स्नेहन रात्रि मे और घृत-स्नेहन दिन मे ही देना चाहिए परन्तु किसी व्याधिवश स्नेहन करने की शीघ्र आवश्यकता हो तो दोषादि का विचार करे शीतकाल मे भी और रात्रि मे नही, दिन मे तैल स्नेह की योजना करनी चाहिए और इसी प्रकार उष्णकाल होते हुए रात्रि मे घृतस्नेह की योजना करनी चाहिए। भावार्थ यह है कि शीतकाल में भी कोई वातप्रधान ऐसा रोग हो गया हो जिसमे तुरन्त स्नेहपान कराना आवश्यक हो तो वहा दिन में आकाश के स्वच्छ रहने पर तैल के स्नेहपान की योजना करनी चाहिए। ऐसे ही यदि पित्तवृद्धि हुई हो, किसी पित्तप्रधान व्याधि मे वात-विकार में या पित्तसहित वातविकार मे संशोधन की आवश्यकता हो तो ग्रीष्म ऋतु में भी रात्रि के समय घृतपान कराकर स्नेहन कराना चाहिए। पित्तकफ-व्याधि में भी इस नियम से ही घृतस्नेहन रात्रि मे देना हितकर होता है।**

अन्यथा अर्थात् इसके विपरीत रात्रि मे घृत का तथा दिन में तैल का पान कराकर स्नेहन दिया जायगा तो क्रम से उसमें वातकफ रोगों की और पित्तरोगों की उत्पत्ति होगी इसलिए वैद्य को चाहिये कि वह नियमानुसार ही स्नेहपान की योजना किया करे।

युक्त्यावचारयेत्स्नेहं भक्ष्याद्यन्नेन बस्तिभिः[1] ।
नस्याभ्यञ्जनगण्डूषमूर्धकर्णाक्षितर्पणैः ॥

स्नेहावचारणविधि—**युक्ति अर्थात् मात्रा, काल, क्रिया, देश, देह, दोष और स्वभाव इन सब का भली भाति विचार करके भक्ष्यादि (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और पेय) के साथ तथा बस्तियों द्वारा, नस्य, अभ्यञ्जन, गण्डूष (कुल्ली कराकर), शिरस्तर्पण (शिरोबस्ति देकर, कान मे स्नेहपूरण करके और आख के तर्पणपुटपाक विधि) द्वारा स्नेह का अवचारण (सेवन) करावे। यहा भक्ष्यादि के साथ स्नेहपान कराने का निर्देश है जिसका अर्थ भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और पेय होता है। इन सब का स्पष्टीकरण करने के लिए चरक ने लिखा है कि भक्ष्यादि का भावार्थ वस्तुत ओदन (भात), विलेपी (दलिया), मासरस, मास, दूध, दही, यवागू, दाल, शाक, काम्बलिक और खलयूष, चावल यवादि के सत्तू, तिल का पिष्ट, मद्य, लेह (नाना प्रकार के चाटन), भक्ष्य, अभ्यञ्जन, बस्ति तथा उत्तरबस्तिया ये सब है। बस्तिभि इस बहुवचन का निर्देश भी निरूह, अन्वासन और उत्तर इन तीनों, बस्तियों के लिये जानना चाहिए।**

रसभेदैककत्वाभ्यां चतुःषष्टिर्विचारणाः ।
स्नेहस्यान्याभिभूतत्वादल्पत्वाच्च क्रमात्स्मृताः ॥
यथोक्तहेत्वभावाच्च नाच्छपेये विचारणा ।
स्नेहस्य कल्पः स श्रेष्ठः स्नेहकर्माशुसाधनात् ॥

स्नेह की ६४ विचारणा—**पीछे रसों के भेद-प्रदर्शक अध्याय मे कह चुके हैं कि रसों के कुल भेद ६३ होते है। उक्त एक २ रसभेद के साथ स्नेह के मिलाने से स्नेह के भी रसभेदमिश्रित ६३ भेद होते है। इनमे केवल स्नेहरूप एक भेद मिलने से स्नेह विचारणा ६४ प्रकार की होती है। यद्यपि भक्ष्यादि पदार्थों के साथ अभिभूत होने से स्नेह की हीनवीर्यता,** अल्पता आदि क्रम से स्नेह की अनन्त कल्पना हो सकती है **तथापि मुख्य कल्पना ६४ प्रकार की ही आयुर्वेदज्ञों ने बताई है। मूर्धादितर्पणविचारणा की तरह विचारणाहेतु के अभाव के कारण केवल स्वच्छ स्नेह के पान करने मे किसी भी प्रकार की विचारणा की आवश्यकता नहीं रहती। इस लिए कि स्वच्छ स्नेहपान का प्रयोग शीघ्र ही तर्पणकारक होने से वह श्रेष्ठ माना गया है।**

द्वाभ्यां चतुर्भिरष्टाभिर्यामैर्जीर्यन्ति याः क्रमात् ।
ह्रस्वमध्योत्तमा मात्रास्तास्ताभ्यश्च कनीयसीम् ॥
कल्पयेद्वीक्ष्य दोषादीन् प्रागेव तु ह्रसीयसीम् ।
अज्ञातकोष्ठे हि बहु कुर्याज्जीवितसंशयम् ॥

स्नेह की मात्रा के तीन भेद- **जठराग्नि के बल के अनुसार स्नेह की जो मात्रा दो प्रहर मे पच जाती है। उसे ह्रस्व मात्रा कहते है। जो मात्रा पिलाई जाने पर चार प्रहर मे पचती है वह मध्यम मात्रा कहलाती है और जो मात्रा आठ प्रहर मे जाकर पचती है वह उत्तम मात्रा होती है। साराश, दो प्रहर में पचनेवाली से चार प्रहर मे पचनेवाली, चार प्रहर मे पचने वाली से आठ प्रहर मे पचनेवाली मात्रा का प्रमाण उत्तरोत्तर अधिक समझना चाहिए। वैद्य को चाहिए कि वह दोषादि (दोष, देश, काल, बल, औषध, सत्त्व, सात्म्य, प्रकृति आदि) का विचार कर इन मात्राओं मे से ह्रस्व, मध्य और उत्तम जो मात्रा उचित प्रतीत हो उसकी योजना करे। इन मात्राओं मे से सब से कम मात्रा का नाम ह्रसीयसी है। प्रथम दिन तो वैद्य को ह्रसीयसी या कनीयसी मात्रा का ही प्रयोग करना चाहिए। इसलिए कि रोगी के कोष्ठ का पहले दिन हमे पता नही रहता। अज्ञात कोष्ठ मे बिना विचारे मात्रा के देने से बडे डर का सम्भव होता है। इतना ही नही, दुर्बल कोष्ठ मे अधिक स्नेहमात्रा के पहुच जाने से रोगी के जीने मे भी सन्देह होता है। इस लिए जहा तक बने स्नेह की मात्रा आरम्भ में कम से कम देनी चाहिए। कोष्ठ का पता लग जाने पर फिर जितनी मात्रा उचित हो उतनी देनी चाहिए।**

---

१ 'युक्त्या-मात्राकालक्रियाभूमिदेहदोषस्वभावया'।

२ 'भक्ष्याद्यन्नेन। आदि शब्देन भोज्यलेह्यपेयस्य त्रिविधस्याप्यन्नस्य ग्रहणम्।' ३ भक्ष्यादि-आदिग्रहणादोदनादयो मुन्युक्ता गृह्यन्ते। तथा च मुनि-"ओदनश्च विलेपी च रसो मासं पयो दधि। यवागू सूपशाकौ च यूषः काम्बलिकः खलः॥ सक्तवस्तिलपिष्टं च मद्यं लेहास्तथैव च। भक्ष्यमभ्यञ्जनं बस्तिस्तथैवोत्तरबस्तयः॥ इति" बस्तिभिरिति बहुवचननिर्देशो बस्तित्रयग्रहणार्थः। तेन निरूहोऽन्वासनं बस्तिरुत्तर इति।' इत्यरुणदत्त सर्वाङ्गसुन्दराटीकायामष्टाङ्गहृदयस्य।

भावार्थ यह है कि स्नेह की मात्रा का आधार वस्तुत जठराग्नि के बलाबल पर है।

विशेष वक्तव्य—जिनका कहना है कि स्नेह की मात्रा दो पल, चार पल या छ पल तक की रहनी चाहिए सो ठीक नहीं है। जठराग्नि के बलाबल का विचार न करते हुए स्नेह मात्रा का दे देना अनर्थ के लिये है न कि लाभ के लिये। महर्षि चरक का भी यह मत नही है कि जठराग्नि के बल का विचार न करते हुये स्नेह की मात्रा पिला दी जाय। महर्षि चरक अहोरात्र, पूरे दिन और आधे दिन मे पच-जानेवाली स्नेह-मात्रा की प्रधान, मध्यम तथा ह्रस्व मात्रा मानते है[1]। साराश, चरक के मत से अहोरात्र अर्थात् २४ घण्टे मे पचनेवाली मात्रा प्रधान (Maximum) मात्रा है, एक दिन अर्थात् १२ घण्टे मे पचनेवाली मध्यम मात्रा और आधे दिन अर्थात् ६ घण्टे मे पचनेवाली मात्रा ह्रस्व (Minimum) होती है।

तत्र दुर्बलमन्दाग्निबालवृद्धसुखात्मकै ।
अपथ्यरिक्तकोष्ठैश्च ज्वरातीसारकासिभि ॥
ह्रस्वा पेया सुखा सा हि परिहारेऽनुवर्तते ।
चिराच्च बल्या न रुजे व्यापन्नापि प्रकल्प्यते ॥
मेहारुपिटिकाकुष्ठवातशोणितपीडितै ।
मध्यमा मृदुकोष्ठैश्च स्नेहनी स्यात्सुखेन सा ॥
न बलक्षपणी मन्दविभ्रंशा शुद्धयेऽप्यलम् ।
महादेहानलबलक्षुत्तृट्क्लेशसहिष्णुभि ॥
गुल्मोदावर्तवीसर्पसर्पदंशाभिपीडितै ।
उन्मत्तै कृच्छ्रमूत्रैश्च महती शीघ्रमेव सा ॥
सर्वमार्गानुसारेण जयेद्व्याधीन् सुयोजिता ।

अब यह बताते है कि स्नेह की ह्रस्व, मध्यम और उत्तम मात्रा किन २ रोगियों के लिए हित करनेवाली होती है।

ह्रस्वमात्रा के योग्य रोगी—जो दुर्बल है, जो मन्दाग्निवाले है, जो बालक हैं, वृद्ध हैं और जो सुखात्मा हैं अर्थात् जो अल्प दुःखको भी सहन नहीं कर सकते, जो अपथ्य करनेवाले है, जिनका कोष्ठ (पेट) बिलकुल खाली है और जो ज्वर, अतीसार तथा खासीरोग से पीडित है, इन सबको ह्रस्वमात्रा मे स्नेहपान करना चाहिए क्यों कि यह (ह्रस्व) मात्रा सुख देनेवाला है, रोगपरिहार के बाद भी यह मात्रा चिरकाल तक शरीर मे रहती है। निर्बलों को बल देनेवाली है और इस ह्रस्वमात्राकी व्यापत्ति होने पर भी वह रोगकी करनेवाली नही होती।

मध्यम मात्रा के योग्य प्राणी—जो प्रमेह रोगी हों, ऊरुस्तम्भवाले हों, प्रमेहपिटिका से पीडित हों, कुष्ठ तथा वातरक्त से पीडित हों और मृदुकोष्ठवाले हों इनको स्नेह की मध्यम मात्रा पीनी चाहिए क्यों कि यह मध्यम मात्रा सुख से स्नेहन करनेवाली है और न बल का ही नाश करती है। इतना ही नही, यह व्यापत्ति होने पर भी मन्दविभ्रंशा[1] अर्थात् स्वल्प अपाय करनेवाली तथा सशोधन के लिए भी पर्याप्त होती है।

उत्तम मात्रा के योग्य रोगी—जो महादेह (शरीर से भारी) हों, महानल (जिनकी जठराग्नि अत्यन्त तेज) हो, महाबल (अति बलवान्) हों, भूख, प्यास और क्लेश के सहन करनेवाले हों तथा जो गुल्म, उदावर्त तथा वीसर्प रोगी हों, सर्पदंश से पीडित हों, उन्माद रोगी हों और मूत्रकृच्छ्र से पीडित हों तो इन्हें स्नेह की महती अर्थात् उत्तमा मात्रा पिलानी चाहिए। यह उत्तमा मात्रा शरीर के सब मार्गों (स्रोतों) मे जाकर व्याधियों को जीतनेवाली है। ध्यान रहे कि यहा सुयोजिता पद पडा हुआ है। इसका भाव यह है कि भलीभाति विचार कर उत्तमा मात्रा की योजना की जायगी तो यह अवश्य सर्व-स्रोतोगामिनी होकर सब रोगों को नष्ट करेगी परन्तु विपरीत इसके बिना विचार के यह स्नेह-मात्रा पिलाई जायगी तो रोगों को न जीतकर यह अजीर्णादि व्याधियों की उत्पत्ति[2] करनेवाली होगी।

ह्यस्तने जीर्ण एवान्ने स्नेहोऽच्छ शुद्धये बहु ।
शमन क्षुद्वतोऽनन्नो मध्यमात्रश्च शस्यते ॥
बृंहणो रसमद्याद्यै सभक्तोऽल्पो हित स च ॥

शोधनार्थ अच्छस्नेहपानविधि—शोधन अर्थात् वमन-विरेचनार्थ स्नेहपान करना हो तो वह अच्छस्नेह प्रथम दिन के किए हुए भोजन के पच जाने पर ही, जब कि क्षुधा की प्रवृत्ति नहीं हुई हो तब प्रात काल मे उत्तम मात्रा में पिलाना चाहिए। विपरीत इसके अन्न के जीर्ण न होने पर स्नेहपान कराया जायगा तो वमन होकर उसके विफल हो जाने का सभव होता है। इसी प्रकार यदि क्षुधा के चेतने पर स्नेहपान कराया जायगा तो वह जठराग्नि की तीक्ष्णता के कारण जल्दी पच जायगा और उससे सम्यक् शोधन नहीं हो सकेगा[3]। इस लिए शोधनार्थ स्नेहपान प्रथम दिन के किए भोजन के जीर्ण होने पर, भूख की प्रवृत्ति नही हुई है, ऐसे समय मे ही प्रात -काल मे कराना चाहिए।

शमनार्थ स्नेहपान की विधि—यदि किसी को दोषों के शमनार्थ स्नेहपान कराना हो तो वह भूखे को मध्यम मात्रा मे पान कराना चाहिए तथा वह स्नेहपान अनन्न हो अर्थात् भक्ष्यादि आहार से रहित केवल स्वच्छ स्नेह ही का पान हो। दूसरे टीकाकार अनन्न का अर्थ ऐसा करते है कि इस किए हुए स्नेहपान का जब तक पचन न हो जाय तब तक भोजन न किया जाय[4]। ध्यान रहे कि शोधनार्थ स्नेहपान की तरह यह

---

१ अन्यैस्तु पलद्वयपलचतुष्टयपलषट्कसङ्ख्यावच्छिन्ना मात्रा उक्ता। न चैतद्युज्यते। यतो जठरानलशक्तिमुपेक्ष्य स्नेहमात्रा प्रयुज्यमाना अनर्थायैव। अतोऽस्माभि पलद्वयादिसङ्ख्यावच्छिन्ना नोक्ता। मुनेरपि नैतन्मतम्। तद्ग्रन्थो हि—'अहोरात्रमह कृत्स्नमर्द्धाह च प्रतीक्षते। प्रधाना मध्यमा ह्रस्वा स्नेहमात्रा जरा प्रति ॥' इत्यरुणदत्त।

१ 'मन्दविभ्रंशा व्यापन्नापि सती स्वल्पापायेत्यर्थ' इतीन्दु।

२ सुयोजिता सती शीघ्रमेव व्याधीन् जयेत्। दुर्योजिता त्वजीर्णादीन् व्याधीनावहतीति तात्पर्यार्थं इतीन्दु। ३ सजातबुभुक्षेण तु पीतो जाठरानलस्य दीप्तत्वाच्छोधनकार्यमकुर्वाणस्तद्योग्यता चानुत्पादयन्नाश्वेव जरामुपैति। वमनमपि बुभुक्षितस्य न सम्पद्यते, कफापचिते पूर्वोक्ताच्च हेतोरित्यरुण। ४ अनन्न—केवल एव भक्ष्यादिनाऽऽहारेण रहित, अच्छ एव पेय इत्यरुण। हेमाद्रिस्तु अनन्न अन्नसम्बन्धरहित, यावदेष न जीर्यति तावन्न भोक्तव्यमित्यथ इति।

शमनार्थ स्नेहपान प्रथम दिन के भोजन के जीर्ण होने पर ही भूख न लगी हो ऐसे समय मे न कराया जाय। इसलिए कि भूख की प्रवृत्ति न होने की अवस्था मे शमनार्थ स्नेहपान कराया जायगा तो स्रोतों के कफादि से लिप्त रहने के कारण वह स्नेह कफ के साथ मिलने से सब शरीर मे व्याप्त नहीं हो सकेगा तथा सर्व शरीर मे व्याप्त हुए बिना दोषों का शमन भी नही कर सकेगा। इस लिए भूखे को ही शमनार्थ स्नेहपान कराना प्रशस्त है।

बृहणार्थ स्नेहपानविधि- यदि बृहणार्थ (शरीरपुष्टि के लिए) स्नेहपान कराना हो तो वह अल्प से भी अल्पमात्रा मे मासरस, मद्यादि अर्थात् मद्य, खीर, खाड आदि द्रव पदार्थो के साथ या चावल के भात के साथ कराना चाहिए।

विशेष वक्तव्य—स्नेहपान की विधि मे उत्तम तथा मध्यम मात्रा सेवन के समय पथ्य-विधि को नही भूलना चाहिए। उत्तम मात्रा का सेवन इस प्रकार से किया जाय कि उत्तम मात्रा में स्नेहपान कराने के अनन्तर रोगी को पथ्य दिया जाय और फिर स्नेहपान कराया जाय तथा दूसरे दिन पुन पथ्य दिया जाय। मध्यम मात्रा मे स्नेहपान करनेवाले स्वल्पाहारीको तो एक प्रहर मात्र बीतने पर अन्न की इच्छा होती है। उक्त स्नेहपान के प्रसङ्ग मे रात्रि के आरम्भ में या आधा प्रहर रात के बीतने पर रोगी को स्वल्प प्रमाण मे भोजन कराया जाय। स्वय ग्रन्थकार आगे कहेंगे कि शमनार्थ किए हुए स्नेहपान मे विरिक्त (विरेचन दिए हुए रोगी) की तरह उपचार करना चाहिए अर्थात् पेयादि क्रम से पथ्य देना चाहिए। सुश्रत ने भी कहा है कि स्नेह के जीर्ण होने पर उसे उष्ण जल से परिषिच्य अर्थात् गरम जल पिलाकर फिर अच्छी पकाई हुई, जिसमे अल्प चावल पडे हों ऐसी उष्ण यवागू पिलावे अथवा पिलाने योग्य मासरस, कृत या अकृत यूष एव विलेपी (दलिया) पिलावे। यहा अकृत यूष सुगन्धियुक्त और कृत यूष अल्पघृतयुक्त होना चाहिए।

बालवृद्धपिपासार्तस्नेहद्विण्मद्यशीलिषु ।
स्त्रीस्नेहनित्यमन्दाग्निसुखितक्लेशभीरुषु ॥
मृदुकोष्ठाल्पदोषेषु काले चोष्णे कृशेषु च ।
स्नेहप्राग्भोजनात्कुर्यादूरुजङ्घाकटीबलम् ॥

१ यदि पुनजाणमात्र एवान्न स्नेहोऽयमबुभुक्षितस्यैवोपयुज्यते, तदानीं स्रोतसा कफाद्युपलेपानिवर्तनात् तत्सपृक्त स स्नेहो न सर्व शरीर व्याप्नुते, अव्याप्नुवश्च दोष न शमयेदित्यरुण। २ एष च स्नेहोऽल्पो-ह्रसीयसीतोऽपि मात्रातोऽल्प इत्यरुण। ३ अत्र चोत्तमया मात्रया स्नेहपानानन्तर पथ्य कार्यम्। पुन स्नेहप्रयोग। पुनरन्यस्मिन्नहनि पथ्य कार्यम्। मध्यममात्रया स्नेहपाने तु लघुभोजिनो याममात्रेऽन्नाकाङ्क्षा भवति। तदा च स्नेहोपयोगे रात्र्यारम्भे रात्रियामार्द्धे गते वा रक्षकौदनप्राय भोजन भोज्य मात्रयैव। ग्रन्थकारो हि शमने स्वल्पभोजनमेवानुजज्ञे। वक्ष्यति हि-'उपचारस्तु शमने कार्य स्नेहे विरिक्तवत्।' इति। सुश्रुते चोक्तम्--'परिषिच्याद्भिरुष्णाभिर्जीर्णस्नेह ततो नरम्। यवागू पाययेदुष्णा सुक्लिन्नामल्पतण्डुलाम्'। पेयो यूषो रसो वा स्यादकृत सौरभायुत। कृतौ वाल्याल्पसर्पिष्को विलेपी वा विधीयते॥" इति। अरुणदत्त।

वेगानुलोम्यमारोग्यमध कायगदक्षयम् ।
मध्ये बृहत्त्वाग्निबलस्थिरताकुक्षिरुक्शमान् ॥
इन्द्रियस्थिरतामूर्ध्वमूर्ध्वजत्रुगदक्षयम् ॥

बृहणार्थ स्वल्पस्नेहपानका फल—उष्णकाल मे कराया हुआ स्वल्प स्नेहपान बालक, वृद्ध, तृषार्त तथा जिनको स्नेह से द्वेष है तथा मद्य पीनेवाले इन सब के लिए, इसी प्रकार नित्य स्त्रीसङ्ग करनेवालों के लिए, नित्य स्नेहपान करनेवालों के लिए, मन्दाग्निवालों के लिए, जो सुखी है, क्लेश से डरते हैं, जिनका कोठा नरम है और जिनके वातादि दोष अल्प है, इन सबके लिए परम हितकारी है।

भोजन के आदि मध्य और अन्त में स्नेहपान का फल—भोजन के पहले किया हुआ स्नेहपान ऊरू, जङ्घा और कटी को बल प्रदान करता है, मल-मूत्र-अपान-वायु आदि के विपरीत वेग को अनुलोमन (सीधा) करता है शरीर के अधोभाग के रोगों को दूर करता तथा आरोग्यता प्रदान करता है। भोजन के मध्य मे किया हुआ स्नेहपान पुष्टि करता, अग्नि और बलको स्थिर रखता और पेट के रोगों को शमन करता है। भोजन के ऊपर (अनन्तर) किया हुआ स्नेहपान इन्द्रियों मे स्थिरता लाता है और ऊर्ध्वजत्रुगत (मुख, नाक, कान, नेत्र, सिर आदि) रोगों को नष्ट करता है।

वाते सलवण सर्पि पित्ते केवलमिष्यते ।
वैद्यो दद्याद्बहुकफे क्षारत्रिकटुकान्वितम् ॥

दोषानुसार घृतपानविधि—दोषों को शमन करने के लिए वैद्य को चाहिए कि वह बढ़े हुए वायु मे नमक के साथ घृतको पिलावे, पित्त के कोप मे केवल घृत का पान करावे और कफ की अधिकता मे जवाखार, सोंठ, मरिच और पीपल के चूर्ण के साथ घृतपान करावे।

वार्युष्णमच्छेऽनुपिबेत्स्नेहे तत्सुखपक्तये ।
आस्योपलेपशुद्ध्यै च तौवरारुष्करे न तु ॥
उष्णोपचार स्नेहे स्यादुष्णो ह्युष्णैर्विरुद्ध्यते ।

स्नेह के अनुपान—अच्छा स्नेह पीने के बाद वह सुख से पच जाय तथा मुख मे स्नेह लिपटा न रहे इसलिए उष्ण जल का पान करना चाहिए परन्तु तुवरक तेल या भिलावे के तैलपान करने के बाद गरम जल नही पीना चाहिए। इसलिए कि तौवरक तथा आरुष्कर ये उष्णस्नेह है अत उष्ण के लिए उष्णोपचार विरुद्ध होता है।

ततो गुरुप्रावरणो निर्वातशयनस्थित ।
जरणान्त प्रतीक्षेत तृष्यन्नुष्णाल्पवारिप. ॥
शिरोरुग्भ्रमनिष्ठीवमूर्च्छासादारतिक्लमैः ।
जानीयाद्द्वेषज जीर्यज्जीर्ण तच्छान्तिलाघवात् ॥
अनुलोमानिलस्वास्थ्यक्षुत्तृष्णोद्गारशुद्धिभि ।
जीर्णाजीर्णविशङ्कायां पुनरुष्णोदक पिबेत् ॥
तेनोद्गारविशुद्धि स्यात्ततश्च रुचिलाघवम् ।
भोज्योऽन्न मात्रया पास्यन् श्व पिबन् पीतवानपि ॥
द्रवोष्णमनभिष्यन्दि नातिस्निग्धमसङ्करम् ॥

१- लघुता शुचि।

स्नेहपान के पश्चात् कर्त्तव्य—पूर्वोक्त उष्णोदक पान करने के बाद भारी उष्ण वस्त्र धारण कर निर्वातस्थान मे शय्यापर स्थित होकर स्नेह के जीर्ण होने की प्रतीक्षा करे। प्यास लगने पर थोडा उष्ण जल पीवे। सिर में पीडा, चक्कर आना, थूक का वारवार आना, मूर्च्छा, अङ्गसाद, अरति (बेकली) और ग्लानि ये लक्षण हों तो जान ले औषध जीर्ण हो रहा है तथा उक्त लक्षणों के शान्त होने और शरीर की लघुता (हलकापन-फुर्ती) का अनुभव होने पर पान किया हुआ स्नेह या औषध जीर्ण हो गया है ऐसे जाने। इतना ही नही, स्नेहपान के जीर्ण होने पर वायु का अनुलोमन, शरीर की स्वस्थता, क्षुधा, तृषा तथा डकार की शुद्धि हो जाती है अत इन लक्षणों के होने पर भी जान ले कि पान किया हुआ स्नेह जीर्ण हो गया है। यदि यह शङ्का हो कि पान किया हुआ स्नेह जीर्ण हो गया है अथवा नही हुआ है तो पुन उष्ण जल पी लेना चाहिए। इसलिए कि उष्णोदक के पीने से डकार शुद्ध आने लगती है, शरीर की कान्ति बढ़ती है और उसमे फुर्ती (लघुता) आती है। उपयुक्त मात्रा मे जिसने कल स्नेहपान किया है या आज किया है या करनेवाला है, उसे स्नेहपान कराने के बाद द्रव, उष्ण, अनभिष्यन्दी, जो अति स्निग्ध न हो और जो नाना जाति के अन्नोंवाला न हो ऐसा भोजन कराना चाहिए।

उष्णोदकोपचारी स्याद् ब्रह्मचारी क्षपाशय ।
व्यायामवेगसरोधशोकवर्षहिमातपान्[1] ॥
प्रवातयानयानाध्वभाष्यात्यशनसस्थिती[2] ।
नीचात्युच्चोपधानाह स्वप्नधूमरजासि च ॥
यान्यहानि पिबेत्तानि तावन्त्यन्यान्यपि त्यजेत् ।
सर्वकर्मस्वय प्रायो व्याधिक्षीणेषु च क्रम ॥

स्नेहपानोपयोगी नियम—स्नेहपान करनेवाले को चाहिए कि वह पीने तथा अन्य व्यवहार मे भी उष्ण जल का उपचार करे। ब्रह्मचर्य से रहे। रात में ही सोवे अर्थात् दिन में न सोवे और न रात में जागरण ही करे। व्यायाम न करे। मलमूत्रादि के वेगों को न रोके। शोक और क्रोध न करे। वर्षा, हिम एव आतप तथा अधिक वायु का सेवन न करे। घोडे आदि की सवारी, मार्ग का चलना, बहुत बोलना, अतिभोजन या अति बैठना, सिर के नीचे अति नीचा या अति ऊचा तकिया रखना, दिन मे सोना, अति धुँवा और अति रज इन सबका जितने दिन स्नेहपान करे उतने ही दिन और परित्याग करे। यह नियम या क्रम केवल स्नेहपानोपयोग मे ही नहीं है अपितु वमन-विरेचनादि सब कर्मों मे और व्याधि से क्षीण पुरुषों के अर्थ प्राय यही क्रम समझना चाहिए।

उपचारस्तु शमने कार्य स्नेहे विरिक्तवत् ।

शमनार्थ स्नेहपान में उपचार—जिसको शमनार्थ स्नेहपान कराया जाय उसके सब उपचार विरिक्तवत् कराने चाहिए। भावार्थ यह है कि प्राय जो उपचार स्नेहपान के उपयोग मे कहे हैं, उनसे जो पेयापान आदि विरेचनोपयोग में कहे हैं वे भी सब शमनार्थ स्नेहपान के उपयोग में करने चाहिए।

१ क्रोधहिमातपान्। २ भाष्यात्यासनसस्थिती।

स्नेहस्य पानात्पूर्वं च दातव्य मृदुभोजनम् ।
उत्तेजन हुताशस्य कोष्ठलाघवकारि च ॥

स्नेहपान के पहले मृदु भोजन—स्नेहका पान कराने के पहले मृदु भोजन कराना चाहिए। इसलिए कि यह मृदु भोजन जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाला और कोष्ठ (पेट) को हल्का करनेवाला है।

त्र्यहमच्छ मृदौ कोष्ठे क्रूरे सप्तदिन पिबेत् ।
सम्यक् स्निग्धोऽथवा यावदत सात्म्यीभवेत्परम्[1] ॥
सात्म्यीभूतो[2] हि कुरुते न मलानामुदीरणम् ।
अतियोगेन वा व्याधीन् यथाम्बोघोऽतियोजनात्[3] ॥
विहत्य सेतु मृत्कोष्ठात्स्रवति क्षपयन्मृदम् ।
स्नेहोऽप्यग्नि तथा हत्वा स्रवति क्षपयस्तनुम् ॥

स्नेहपान में दिनमर्यादा—जो मृदु कोष्ठवाला हो, उसे तीन दिन तक अच्छे स्नेह का पान करना चाहिए। क्रूर कोष्ठवाले को सात दिन तक स्नेहपान करना चाहिए अथवा जब तक सम्यक् स्नेहन न हो जाय तब तक स्नेहपान करना चाहिए। इससे आगे स्नेह सात्म्य हो जाता है अर्थात् शरीर के अनुकूल हो जाता है और सात्म्यीभूत स्नेह मलों का उदीरण (शोधन) नहीं करता। अथवा अतियोग से जल का वेग जैसे सेतु को तोड मिट्टी के कोष्ठ से मिट्टी को ह्रास करता हुआ स्रवने (झरने) लगता है, ठीक इसी प्रकार अति प्रयुक्त किया हुआ स्नेह भी अग्नि का नाश करके शरीर को क्षीण करता हुआ झरने लगता है।

विशेष वक्तव्य—यहा मृदु और क्रूर कोष्ठवाले रोगी को क्रम से ३ और ७ दिन तक स्नेहपान कराना कहा है परन्तु मध्यम कोष्ठ की चर्चा नही की है तथापि उसे इसी उपर्युक्त अनुमान से ४ या ५ दिन तक स्नेहपान कराना चाहिए। यदि मृदु कोष्ठवाले को तीन दिन में ठीक स्नेहन न हो तो उसे भी चार या पाच दिन तक स्नेहपान कराना चाहिए। मध्य कोष्ठवाला भी ६ दिन तक स्नेहपान करे जैसे कि कहा है—जब तक ठीक स्नेहन न हो तब तक स्नेहपान कराया जाय। इससे तो स्नेहपानक कोई नियम ही नहीं दिखाई देता। यही नियम ठीक प्रतीत होता है कि जब तक सम्यक् स्निग्ध के लक्षण न दिखाई दे तब तक स्नेहपान कराना चाहिए। इससे यह भी सिद्ध हो रहा है कि सप्ताह से अधिक भी स्नेहपान कराना चाहिए, जब कि सात दिन में भली-भाति स्नेहन के लक्षण न दिखाई दे। सद्वैद्यों का यह भी मत है कि सात दिन में अच्छी तरह स्नेहन न हो तो बीच में एक दिन विश्राम करके फिर स्नेहपान कराना चाहिए[4]।

१ सात्मी २ सात्मीभूतो ३ यथाऽम्भो ह्यतियोजनात् ४ मध्यकोष्ठस्त्वत एव लक्षणादधिगम्यते। यथा—'चत्वार्यहानि पञ्च वा स्नेह पिबेदिति। यदि च (मृदुकोष्ठे) त्र्यहेण सम्यक् स्निग्धलक्षण न स्यात् तदा चतुष्पञ्चरात्रमपि स्नेह पिबेत्। मध्यकोष्ठस्तु षड्रात्रमपि पिबेदित्याह—सम्यक् स्निग्धोऽथवायात्वदित्यादि। अथवा नैष नियम, सम्यक्स्निग्धलक्षणोत्पत्तिरेव नियम।' इत्याद्यरुणटीकावलोकनीया।

वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वर्चः स्निग्धमसंहतम् ।
मृदुस्निग्धाङ्गता ग्लानिः[1] स्नेहोद्वेगोऽथ लाघवम् ॥
विमलेन्द्रियता सम्यक् स्निग्धे रूक्षे विपर्ययः ।
पाण्ड्वामयाङ्गसदनघ्राणवक्त्रगुदस्रवाः ॥
गुददाहारुचिच्छर्दिमूर्च्छातृष्णाप्रवाहिकाः ।
शुष्कोद्गार[2]भ्रमश्वासकासाः स्नेहातिसेवनात् ॥

सुस्निग्ध के लक्षण—वातानुलोमन (लोम या विकृत वायु का ठीक होना), जठराग्नि का प्रदीप्त होना, वर्च (मल-पुरीष) का स्निग्ध और असंहत (शिथिल) होना, शरीर में मृदुता और स्निग्धता का होना, कुछ ग्लानि सी होना या पाठान्तर से ग्लानि का न होना, स्नेह का उद्वेग, शरीर में लाघव (हल्कापन या फुर्ती) तथा इन्द्रियों की विमलता अर्थात् स्वकार्य में पटुता ये सब लक्षण सुस्निग्ध (भलीभांति स्निग्ध) के हैं।

अस्निग्ध के लक्षण—जिसका स्नेहन ठीक नहीं हुआ है उसके लक्षण सुस्निग्ध लक्षणों से विपरीत होते हैं अर्थात् वायु की लोमता, मन्दाग्नि, मल (पुरीष) का रूखा और कड़ा होना, शरीर की कठोरता तथा खरता, ग्लानि, स्नेह का अनुद्वेग, अङ्ग की जड़ता एवं इन्द्रियों की मलिनता (स्वकर्म में अपटुता) ये लक्षण होते हैं।

अतिस्निग्ध के लक्षण—अति स्नेहपान के कारण पाण्डुरोग, शरीर में शिथिलता, नाक का झरना, मुख से लार टपकना, गुदा से स्राव का होना, गुदा में दाह होना, अरुचि (अन्न की इच्छा न होना), छर्दि (वमन रोग), मूर्च्छा (बेहोशी), तृष्णा, प्रवाहिका (अतीसार विशेष), सूखी जलती डकार का आना, भ्रम (चक्कर आना), श्वास और कास (खांसी) ये लक्षण होते हैं।

अमात्रयाहितोऽकाले मिथ्याहारविहारतः ।
स्नेहः करोति शोफार्शस्तन्द्रानिद्राविसंज्ञताः ॥
कण्डूकुष्ठज्वरोत्क्लेशशूलानाहबलक्षयान् ।
जठरेन्द्रियदौर्बल्यजाड्यामस्तम्भवाग्ग्रहान् ॥
तांस्तान् स्वदोषहेतूत्थान् पाण्ड्वादींश्चातियोजनात् ।

अमात्रादि स्नेहपान के दोष—दोष (वात, पित्त, कफ) के बिना विचार किये ठीक मात्रा में न सेवन किया हुआ स्नेह, इसी प्रकार, स्नेहपान के नियत काल को छोड़कर पान कराया स्नेह मिथ्या आहार-विहार के कारण सूजन, बवासीर, तन्द्रा, निद्रा, बेहशी, कण्डू, कोढ़, ज्वर, दोषों को कुपित करना या उबकाई, शूल, आनाह, बल का क्षय, जठर (उदर) और इन्द्रियों की दुर्बलता, जडता, आमप्रकोप, ऊरुस्तम्भ, वाग्ग्रह (जिह्वास्तम्भ) इन रोगों को तथा स्नेह के अतिसेवन से भिन्न भिन्न दोषों से उत्पन्न होने वाले पाण्डु आदि रोगों को करता है।

क्षुत्तृष्णोल्लेखनस्वेदरूक्षपानान्नभेषजम् ।
तक्रारिष्टखलोद्दालयवश्यामाककोद्रवाः ॥
पिप्पलीत्रिफलाक्षौद्रपथ्यागोमूत्रगुग्गुलु ।
यथास्वं प्रतिरोगं च स्नेहव्यापदि साधनम् ॥

स्नेहव्यापत्ति के उपाय—क्षुधा, तृषा, उल्लेखन (वमन[1]), स्वेदन, रूक्ष पान, रूक्ष अन्न, रूक्ष औषध, तक्र, अरिष्ट, खल (यूष विशेष), उद्दालक (चावल विशेष, हेमाद्रि के मत से जङ्गली कोदो), यव, श्यामाक, कोदो, पीपल, त्रिफला, शहद, हरड, गोमूत्र और गूगल ये पूर्वोक्त शोफादि यथास्व (जिस वात, पित्त एवं कफ दोष के कारण हुए हों तथा जिस जिस रोग के अध्याय में जो जो उपाय कहे हों वे वे) प्रतिरोग के स्नेहव्यापत्ति में साधन अर्थात् उपाय है।

विरूक्षणे लङ्घनवत्कृतातिकृतलक्षणम् ॥

विरूक्षण के लक्षण—स्नेह की व्यापत्ति में विरूक्षण की आवश्यकता होती है अतः जहां विरूक्षण करना हो तो वहां विरूक्षण की मात्रा भी लङ्घन की मात्रा के समान जाननी चाहिए अर्थात् अतिलङ्घन के समान कृशता आदि अतिविरूक्षण के लक्षण जानने चाहिए और सम्यक् लङ्घन के लघुता, विमलेन्द्रियता आदि लक्षण के समान सम्यक् विरूक्षण के लक्षण जानने चाहिए। साराश, सम्यक् एवं अतिलङ्घन के लक्षण ही सम्यक् विरूक्षण तथा अतिविरूक्षण के होते हैं।

स्नेहेन पैत्तिकस्याग्निर्यदा तीव्रतरीकृतः ।
स्नेहमाशु जरां नीत्वा पुनरोजोऽभितश्चरन् ॥
उदीरयेत्सोपसर्गां पिपासामस्य चा[2]धिकाम् ।
सोऽसूंस्त्यजेद्यद्युदकं न पिबेदाशु शीतलम् ॥
शीतसेकावगाहान्वा तत्तृष्णापीडितो भजेत् ।
स्नेहाग्निना दह्यमानः स्वविषेणेव पन्नगः ॥

स्नेहपान में पित्तप्रकृतिवाले का विशेष—पित्तप्रकृतिवाले मनुष्य की जठराग्नि स्नेहसे तीव्रतर (अतितीव्रता को प्राप्त) होकर स्नेह को शीघ्र पचाकर वह फिर ओज धातु के चारों ओर फैल कर उपद्रव सहित ऐसी पिपासा (प्यास) को पैदा करता है कि यदि शीघ्र ही शीतल जल न पिया जाय तो वह रोगी प्राणों को त्याग देता है अतः इस प्रकार की तृष्णा से पीडित प्राणी को चाहिए कि वह शीतल जल का सेक (तरेड़ा) तथा स्नानादि का सेवन करे। नहीं तो अपने बढ़े हुए विष से पन्नग (सर्प) की तरह अपनी बढ़ी हुई स्नेहाग्नि से जलता हुआ वह रोगी अपने प्राणों को त्याग देता है।

अजीर्णबलवत्या तु शीतैर्दिह्याच्छिरोमुखम् ।
छर्दयेत्तदशान्तौ च पीत्वा शीतोदकं पुनः ॥
रूक्षान्नमुल्लिखेद् भुक्त्वा तादृश्या तु कफानिले ।
समदोषं च निश्शेषं स्नेहमुष्णाम्बुनोद्धरेत् ॥
ततो दोषातिबलतः पूर्वोक्तं च विधिं श्रयेत् ॥

स्नेहपान के अजीर्ण से उत्पन्न तृषा का उपाय—स्नेहपान के अजीर्ण में यदि बलवती तृषा उत्पन्न हो जाय और यदि वह तृषा पित्तदोष से हो तो शीतोपचारों द्वारा मस्तक और मुख को तृप्त करे। यदि इससे भी उस तृषा की शान्ति न हो

१ स्नेहोद्वेगोऽङ्गलाघवम्। २ शुक्तोद्गार।

१ उल्लेखनं वमनमितीन्दुः। २ बाधिकाम्।

तो फिर शीतल जल पिलाकर या पीकर उल्टी (वमन) करे ताकि अजीर्ण स्नेह का निर्हरण हो जाय। यदि उक्त तृषा कफ-वायु के कारण हो तो रूक्षान्न खाकर तथा उष्ण जल पीकर वमन करे। यदि समदोष की अवस्था में तृषा द्वारा अजीर्ण स्नेह हो तो उस सम्पूर्ण स्नेह का निर्हरण गरम जल पिलाकर वमन द्वारा करे। इसके अनन्तर जिस दोष का अधिक बल रहा हो उसी दोष के अनुरूप अन्न-पानादि विधिका आचरण करे।

विशेष वक्तव्य—चरक का कथन है कि 'स्नेह के अजीर्ण से तृषा हो तो उसकी शान्ति रूक्षान्न खिलाकर और फिर शीतल जल पिला कर वमन द्वारा स्नेह निर्हरण करके करे'। विपरीत इसके सुश्रुत का कहना है कि 'इस प्रकार तृषा की शान्ति न हो तो गरम जल पिलाकर वमन द्वारा स्नेह का निर्हरण करे[1]।' वाग्भटाचार्य ने इस विरोध का परिहार इस प्रकार से किया है कि पित्तदोष की अवस्था में रूक्षान्न और शीतल जल देकर वमन करावे और यदि समदोष या कफवायु दोष से तृषा हो तो अजीर्ण स्नेह का निर्हरण गरम जल पिला वमन कराकर करे। साराश, यहा कोई शङ्का न करे कि वाग्भट चरक तथा सुश्रुत से भिन्न इस मत का प्रदर्शन कर रहे हैं। वस्तुत अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वाग्भट का काम जहा तक बने स्वतन्त्र एव परतन्त्रगत विरोध का निवारण करना है।

न सर्पि केवल पित्ते पेय सामे विशेषत।
सर्वं ह्यनुरुज देह हत्वा सज्ञा च मारयेत्॥

निराम और सामपित्त में केवल घृतपान का निषेध—केवल अर्थात् ओषधियों द्वारा असंस्कृत घृत का पान केवल पित्त में न कराना चाहिए और सामपित्त में तो विशेषत केवल घृत नहीं पिलाना चाहिए क्योंकि वह किया हुआ घृतपान सब देह भर मे व्याप्त होकर सज्ञा का नाश करके (बेहोशी लाकर) मनुष्य को मार डालेगा।

विशेष वक्तव्य—उपर्युक्त कथन का भावार्थ यह है कि यदि केवल (निराम) पित्त में केवल घृतपान कराया जायगा तो स्नेह की सहायता को प्राप्त कर पित्त सब देह में व्याप्त होकर रोग को बढ़ायगा। यदि सामपित्त की अवस्था में केवल घृत का पान कराया जायगा तो सामपित्त स्नेह की सहायता को प्राप्त कर स्रोतों को बन्दकर देगा अर्थात् ढक देगा और इससे सज्ञा का नाश होकर मनुष्य मर जायगा। इससे सिद्ध हुआ कि केवल पित्त में केवल घृत का पान कराना अधिकाधिक रोगों को बढ़ाना है और सामपित्त मे तो केवल घृतपान कराना मनुष्य को बेहोश करके मार डालना है परन्तु इससे स्वतन्त्र एव परतन्त्र इन दोनों के कथन से गहरा विरोध दिखाई देता है। वाग्भट पहले लिख आए हैं कि 'पित्तघ्नास्ते यथा पूर्वम्' तथा 'सर्पि पित्ते केवलमिष्यते' अर्थात् घृत पित्तघ्न है। पित्त में केवल घृतपान श्रेष्ठ है। इस प्रकार यह स्पष्ट स्वतन्त्र विरोध दिखाई दे रहा है। चरक-सुश्रुत ने भी यही लिखा है अत इससे परतन्त्रविरोध भी स्पष्ट दिखाई दे रहा है परन्तु यह

१ अजीर्णे यदि तु स्नेहे तृष्णा स्याच्छर्दयेद्भिषक्। शीतोदक पुन पीत्वा भुक्त्वा रूक्षान्नमुल्लिखेत्। इति चरक, सुश्रुतस्तु 'एव चानुपशाम्यन्त्या स्नेहमुष्णाम्बुना वमेदि'ति।

विरोध नहीं है, केवल शमन और शोधन विषय की बात है। केवल पित्त में केवल घृत पिलाना यह शमन के विषय में कहा है केवल या सामपित्त में केवल घृत का पान नहीं कराना यह पित्ताशय के शोधन विषय में कहा गया है। इससे 'पित्तघ्नास्ते यथापूर्वम्' और 'सर्पि पित्ते केवलमिष्यते' इत्यादि ग्रन्थविरोध भी नहीं रहता[1]।

स्निग्धद्रवोष्णधन्वोत्थरसभुक् स्वेदमाचरेत्।
स्निग्धस्त्र्यह स्थित कुर्याद्विरेक वमन पुन॥
एकाह दिनमन्यच्च कफमुत्क्लेश्य तत्करैः।
तिलमाषदधिक्षीरगुडमत्स्यरसादिभि॥

स्वेदनादिक्रम—जिसको स्वेदन की आवश्यकता हो तो वह स्निग्ध, द्रव और उष्ण जाङ्गल देशोत्पन्न मास का रस सेवन करके करे। जिसकी इच्छा वमन के विना केवल विरेचन की ही हो तो वह पूर्वोक्त जाङ्गल देशोत्पन्न स्निग्ध, द्रव तथा उष्ण मासरस का सेवन कर तीन दिन ठहर जाय और फिर विरेचन करे और जो वमन करना चाहे तो वह प्रथम दिन स्निग्ध, द्रव और उष्ण जागल मासरस का सेवन कर स्नेहन और स्वेदन करे और फिर दूसरे दिन कफका उत्क्लेशन करनेवाले तिल, माष, दही, दूध, गुड़, मत्स्य और मासरसादिका सेवन कर वमन करे।

मासला मेदुरा भूरिश्लेष्माणो विषमाग्नय।
स्नेहोचिताश्च ये स्नेह्यास्तान्पूर्वं रूक्षयेत्तत.॥
सस्नेह्य शोधयेदेव स्नेहव्यापन्न जायते।
अल मलानीरयितु स्नेहश्चासात्म्यता गत॥

मासल आदि प्राणियों का स्नेहनक्रम—मांसल (जिनका मास अति बढ़ा हुआ हो), मेदुर (जो मेदस्वी हो अर्थात् जिनका मेद बढ़ा हुआ हो), जो अतिकफप्रकृतिवाले हों, जिनकी जठराग्नि सम न हो तथा जो स्नेहन के योग्य हों, इनको स्नेहन करना हो तो पहले रूक्षण देकर फिर स्नेहपान कराकर शोधन करे क्योंकि इस क्रम से स्नेह में होनेवाली व्यापत्ति का सभव नहीं होता और सात्म्यता को प्राप्त हुआ स्नेह भी इस क्रम से मलों के सशोधन करने में पर्याप्त होता है।

बालवृद्धादिषु स्नेहपरिहारासहिष्णुषु।
योगानिमाननुद्वेगान् सद्य स्नेहान् प्रयोजयेत्॥
प्रभूतमासनि कार्थान्[2] जाङ्गलानूपजान् रसान्।
स्नेहभृष्टेषु वा तेषु यवागू वातिसहताम्॥
तिलचूर्ण च सस्नेह फाणित कृशरा[3] तथा।
तिलकाम्बलिक भूरिस्नेह सर्पिष्मतीमपि॥
पेया सुखोष्णा क्षैरेयी पात्रे वा ससिताघृते।

१ केवले पित्ते सर्पिषि पीते पित्त स्नेहसहाय सत्सर्वं देह मनुव्रजेत्। ततश्चाधिक रोगसमीरणा, सामे पित्ते पीत साम स्नेहसहाय पित्त स्रोत पिधानेन सज्ञा हत्वा मारयेत्। इद च शोध्यपित्ताशय, 'पित्तघ्नास्त' इति शमनीयम्। तेन ग्रन्थविरोधो न भवति। 'पित्ते केवलमिष्यत' इत्येतच्चोपपन्न भवति। इतीन्दु।

२ निष्क्वाथान्। ३ कृसराम्।

सर्पिर्लवणयुक्तं वा सद्यः स्निग्धं तथा पयः ॥
पेया च पञ्चप्रसृता स्नेहैस्तण्डुलपञ्चमैः ।
पायसं माषमिश्रं च बहुस्नेहसमायुतम् ॥
तैलं शुण्ठीगुडसुरं[1] जीर्णे मांसरसाशिनः ।
स्नेहं वैकं सुराच्छेन दध्नो वा सगुडं सरम् ॥
वसा वराहजा सर्पिः पिप्पली लवणं तिलान् ।
पिप्पली लवणं स्नेहाश्चतुरो दधि मस्तुकम् ॥
दध्ना सिद्धं व्योषगर्भं धात्रीद्राक्षारसे घृतम् ।
यवकोलकुलत्थाम्बुक्षारक्षीरसुरादधि ॥
घृतं च सिद्धं तुल्यांशं सद्यःस्नेहनमुत्तमम् ।
सिद्धाश्च चतुरः स्नेहान् बदरत्रिफलारसैः ॥
योनिशुक्रामयहरान् सद्यः स्नेहान् प्रयोजयेत् ।
लवणोपहिताः स्नेहाः स्नेहयन्त्यचिरान्नरम् ॥
तद्धि विष्यन्द्यरूक्षं च सूक्ष्ममुष्णं व्यवायि च ।
गुडानूपामिषक्षीरतिलमाषसुरादधि ॥
कुष्ठशोफप्रमेहेषु स्नेहार्थं न प्रकल्पयेत् ।
त्रिफलापिप्पलीपथ्यागुग्गुल्वादिविपाचितान् ॥
स्नेहान् यथास्वमेतेषां योजयेदविकारिणः ।
क्षीणानां त्वामयैरग्निदेहसन्धुक्षणक्षमान् ॥

बालवृद्धादिके लिए स्नेहकल्पना—जो स्नेहके परिहार (पथ्य क्रम अर्थात् शीतोदकपानवर्जनादि) को सहन (पालन) नहीं कर सकते उन बालकों तथा वृद्धों के लिए उद्वेग न करने वाले ऐसे सद्य स्नेहों की योजना करनी चाहिए। वे सात प्रकार के स्नेह हैं, यथा—(१) जाङ्गल तथा अनूपदेश के मांस से पुष्ट ऐसे प्राणियों के अधिक मांस तथा अल्प जल से सिद्ध किए हुए मांसरस (२) अथवा उन मांसरसों के साथ स्नेह भर्जित सिद्ध की हुई पतली यवागू या पेया, अथवा (३)फाणित (गुड़ की राब) और स्नेह से युक्त तिलों का चूर्ण, अथवा (४) इन्हीं फाणित आदि से युक्त कृशरा अर्थात् स्निग्ध खिचड़ी, अथवा (५) घृत सहित दूध में सिद्ध की हुई उष्ण पेया, अथवा (६) गुड तथा अच्छस्नेह सहित दही का सर (ऊपर का पानी), अथवा (७) घृत, तैल, वसा, मज्जा और चावल ये पाँचों एक एक प्रसृति प्रमाण (दस दस तोले मान) लेकर सिद्ध की हुई 'पञ्चप्रसृता' नामक पेया। ये सातों प्रयोग अनुद्वेगकारक एवं सद्य स्नेहन करनेवाले हैं अतः बालक तथा वृद्धों के लिए हितकारी हैं। इनके अतिरिक्त और भी स्नेहों का वर्णन यहां किया गया है, अब उन सबका वर्णन करते हैं। यथा—अधिक स्नेहयुक्त तिलों का काम्बलिक यूष पान करावे अथवा शर्करा घृत सहित पात्र में घृत और लवण सहित ताजे दूध का पान करावे। अथवा शर्करा घृत सहित पात्र में केवल ताजे दूध का पान करावे। अथवा दूध के साथ सिद्ध किया हुआ बहुस्नेह तथा माष (उड़द) मिश्रित ओदन (भात) का सेवन करावे। मांसरस के अभ्यासी स्नेह के जीर्ण होने पर घृतादि स्नेहों में से किसी एक स्नेह का पान तेल, सौंठ और गुड़ से युक्त करे। अथवा सुरायुक्त अच्छ स्नेहपान करे। अथवा दही का सर गुड़ सहित पीवे। तथा वराह की (शूकर की) चर्बी घृत, पीपल, नमक और तिल युक्त पीवे। इसी प्रकार घृतादि चार स्नेह अलग २ पीपल, नमक, दही और मस्तुको मिलाकर पान करे। अथवा द्राक्षा और आंवले के रस में सोंठ, मिरच, पीपल पड़े हों जिसमे ऐसे दही के साथ सिद्ध किए हुए घृत का पान करे। इस प्रयोग में दही, द्राक्षारसादि सब समान भाग में लेना चाहिए। अथवा जौ, बेर, कुलथी, खस, जवाखार, दूध, मद्य और दही इन सबके बराबर घृत लेकर सिद्ध करे। यह परमोत्तम सद्य स्नेहन है।

योनिशुक्ररोगहर स्नेह—घृत, तैल, वसा और मज्जा ये चारों स्नेह अलग २ बेर और त्रिफला के रस के साथ सिद्ध किए हुए योनिगत तथा वीर्यगत रोगों के हरनेवाले सद्य स्नेह हैं। इनका प्रयोग करने से शीघ्र ही योनि तथा वीर्य सम्बन्धी रोगों का नाश होता है।

लवणयुक्त स्नेहों की विशेषता—नमक से मिश्रित स्नेह पान बहुत जल्दी स्नेहन करनेवाले होते हैं। इसलिए कि नमक विष्यन्दि-स्रोतोंमें स्राव उत्पन्न करनेवाला, अरूक्ष, सूक्ष्म (सूक्ष्म स्रोतों तक में प्रविष्ट होनेवाला), उष्ण और व्यवायि (समस्त शरीर में व्याप्त हो कर फिर पचनेवाला) है।

कुष्ठ, शोथ और प्रमेह में गुडादिस्नेह का निषेध—गुड़, अनूप देश के प्राणियों का मांस, दूध, तिल, उड़द और दही की योजना कोढ, सूजन तथा प्रमेह के अर्थ पान कराए जानेवाले स्नेहों में नहीं करनी चाहिए किन्तु कुष्ठादिहारक स्नेह त्रिफला पीपल, हरीतकी और गूगल आदि के साथ पका कर सिद्ध करना चाहिए।

रोगों से क्षीणों के लिए स्नेहपान—जो नाना प्रकार के रोगों से क्षीण हो गए हैं उन्हें ऐसे स्नेहों का पान कराना चाहिए कि जो शरीर और जठराग्नि के बढ़ाने वाले हों।

दीप्तान्तराग्निः परिशुद्धकोष्ठः प्रत्यग्रधातुर्बलवर्णयुक्तः ।
दृढेन्द्रियो मन्दजरः शतायुः स्नेहोपसेवी पुरुषः प्रदिष्टः ॥

इति पञ्चविंशोऽध्यायः ।

स्नेहपान का फल—आयुर्वेदज्ञों का कथन है कि जो पुरुष नित्य स्नेह का सेवन करता है, उसकी जठराग्नि प्रदीप्त रहती है, उसका कोष्ठ (पेट) शुद्ध रहता है, उसके शरीर में रसरक्तादि सब धातु नित्य नये पैदा होते हैं, वह बलवान् और शरीर से सुन्दर रहता है, उसकी सब इन्द्रियें दृढ (बलवान्) रहती हैं, उसको बुढ़ापा नहीं सताता और वह पूरी सौ वर्ष की आयुवाला होता है।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्यायां स्नेहविधिर्नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

[1] गुडरसम्।

अथ षड्विंशोऽध्यायः।

शोधन के प्रसङ्ग में प्रथम स्नेह का उपयोग किया जाता है। स्नेहन के योग्य कौन कौन हैं, किन किनको स्नेहन नहीं करना चाहिए, इत्यादि विषयों को लेकर स्नेहन विधि आदि का वर्णन इसके पूर्वाध्याय मे भलीभाति किया गया। स्नेहन हो जाने के बाद शारीरिक दोषों को मृदु करने के लिये स्वेदन की आवश्यकता होती है अत अब क्रम प्राप्त उस अध्याय का आरम्भ करते हुए आचार्य करते हैं कि—

अथात स्वेदविधिमध्याय[1] व्याख्यास्याम । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय ।

स्वेदविधिकथन—अब हम यहा से जिसमे स्वेदविधि का वर्णन है, उस स्वेदविधिनामक अध्याय की व्याख्या करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने की।

चतुर्विधोऽग्निस्वेदो भवति । तापोपनाहद्रवोष्म-भेदेन । तत्र तापस्वेद पाणिकास्यफालबालुकावस्त्र-घटिकादिभि ।

अग्निस्वेदके चार प्रकार—वस्तुत स्वेद दो भागों में विभक्त है यथा अग्निकृत स्वेद और अनग्निकृत स्वेद। इनमें पहले अग्निकृत (अग्निद्वारा किए जाने वाले) स्वेद के चार प्रकार हैं (१) तापस्वेद, (२) उपनाह स्वेद, (३) द्रव स्वेद और (४) ऊष्म स्वेद। अब इन सबका क्रमसे वर्णन करते हैं।

तापस्वेद—तापस्वेद उस स्वेद का नाम है जो हस्त (हाथकी हथेली), कास्य (कासे का पाट या पात्र), फाल (लौह से बना हुआ फालिया शस्त्र आदि), बालुका (रेती), वस्त्र तथा घटिका (मिटी या तावा-पीतल आदि का बना पात्र) और साक्षात् अग्निद्वारा प्रयुक्त होता है।

उपनाहस्तु सर्वगन्धधान्यसर्षपकिण्ववचादेवदारु रास्नैरण्डमूलमधुकशताह्वासुराकिण्वादिवातहरद्रव्यचूर्णै-र्यवगोधूमशकलैरानूपाम्बुजपित्तशिर पादामिषबेसवारै-श्च। तथा श्लेष्मसंसृष्टे वायौ सुरसादिभि । पित्त संसृष्टे च पद्मकादिभि । पृथक् सहितैर्वा क्षीरशुक्त-धान्याम्ललवणमस्तुप्रगाढै सुस्निग्धै[2] सुखोष्णै साल्वणा-भिधानैर्बहुश प्रदिह्योष्णवीर्यापूतिमृदुरोमचर्मभिस्तद भावे घनवातहरपत्राविककौशेयैरुपनद्धमङ्गमह स्थित विदाहपरिहारार्थ निशि मुञ्चेद्दिवा वा निशि बद्ध दोष-देशकालवशेन वा।

उपनाहस्वेद—सर्वौषधियों को तैयार कर किसी कपड़े या चमड़े आदि से पाटा बाधने या आधुनिक एलोपैथी चिकित्सा-नुसार पुल्टिस (Poultice) बाधने का नाम उपनाह स्वेद है। केवल वायुविकार में—सर्वगन्ध (सुगन्धिवर्ग के कूट आदि सब द्रव्य), धान्य (उष्णवीर्य वाले तिल आदि सब धान्य), सरसों, किण्व (सुरा तथा काञ्जी के सन्धान में अधोभागस्थित पदार्थ), बच, देवदारु, रास्ना, एरण्डमूल, मुलेठी, महुआ, सौंफ, सुरा के नीचे बैठा हुआ जगलक द्रव्य तथैव मद्य आदि वायु को हरनेवाली ओषधियों के चूर्ण, यवगोधूमशकल (जौ और गेहू का दरदरा-अश्लक्ष्ण पिसा हुआ चूर्ण), अनूप देश के पशु आदि के रक्त, पित्ते, सिर तथा पाव के मास के बेसवार (सूक्ष्म कूटे हुए मास), इनमें से अलग २ या सबको लेकर तथा कफयुक्त वायु की दशा मे—सुरसादि गण अर्थात् कृष्ण और श्वेत दोनों तुलसी, फणिज्जक (लाल मिरच), कृष्णार्जक, बाय-विडङ्ग, मरुवा, उन्दिरकर्न्नी, कायफल, कसौन्दी, नकछिकनी, सरसी, भारङ्गी, कामुका, मकोय, गोरखमुण्डी, कुचला, भूस्तृण (तिखाडी नामक सुगन्धित घास) तथा जटामासी इन ओष-धियों को लेकर और पित्तयुक्त वायु के विकार मे—पद्मकादि गण अर्थात् पद्माख,प्रपौण्डरीक, वृद्धि, वशलोचन, ऋद्धि, काकड़ा-सिङ्गी, गिलोय, जीवनीय गण अर्थात् काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, ऋद्धि, वृद्धि, जीवक, ऋषभक, जीवन्ती और मुलेठी।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के (वातहरण, वातकफहरण तथा वातपित्तहरण) उपनाहस्वेद के द्रव्यों को लेकर (अलग २ या सब) चूर्ण बनाकर उसे स्नेहों से भलीभाति सुस्निग्ध करके दूध, शुक्त, धान्याम्ल (धान की काञ्जी), नमक और मस्तु से मिश्रित करके सुखोष्ण (इतना उष्ण की जो सुहावे या जिससे सुख का अनुभव हो) ऐसा उक्त ओषधियों का पाटा बाधे कि जो उष्णवीर्य-दुर्गन्धिरहित, कोमल रोम या चमडे से बाधा जावे। रोम और चर्म के अभाव मे घनवात-हरपत्र (वायु के हरने वाले एरण्ड आदि के मोटे पत्तों) में रखकर ऊनी कम्बल या रेशम के कपडे से बाधा जावे—इन्दु के मतानुसार भलीभाति पिसे हुए वातहारक द्रव्यों की मात्रा से युक्त पत्तों से बाधा जावे। शरीर पर इस बँधे हुए पाटे को दिन भर रखकर रात मे खोल दे तथा रात के बाधे हुए पाटे को दिन मे खोल दे, अथवा दोष, देश, काल और बल की अवस्था जैसी हो उसके अनुसार बर्ताव करे। अथवा साल्वण नामक स्वेद का बारबार लेप करके अथवा पाटा बाधकर उपचार करे। यहा मूल मे साल्वण उपनाह का नाम मात्र निर्दिष्ट किया है किन्तु वह किन किन द्रव्यों से किस प्रकार तयार होता है, यह नहीं लिखा है। अष्टाङ्ग-सग्रह के टीकाकार इन्दु ने भी अपनी टीका मे नाममात्र का निर्देश किया है। इस साल्वणोपनाह का उपदेश भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत को किया है और सुश्रुत के मूल पाठ का स्पष्टीकरण हेमाद्रि ने अष्टाङ्गहृदय की स्वनि-र्मित आयुर्वेद रसायन टीका में बहुत अच्छा किया है। तद-नुसार पाठकों के लाभार्थ साल्वणोपनाह का वर्णन हम यहा करते हैं।

साल्वण उपनाह—इस साल्वण नामक उपनाह-स्वेद में काकोल्यादिगण (अष्टवर्गसज्ञक नहीं, किन्तु जीवनीयगण सहित पद्मकादि गण अर्थात् पद्माख, प्रपौण्डरीक, वृद्धि, वश-लोचन, ऋद्धि, काकडासिङ्गी, गिलोय तथा जीवनीय गण की दस ओषधिया (काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, ऋद्धि, वृद्धि, जीवक, ऋषभक, जीवन्ती और मुलेठी

---

[1] स्वेदविधिनामाध्यायम् [2] साल्वलाभिधानै [3] उपनाह उष्ण पिण्डबन्ध इतीन्दु । उपनाहो बन्धनमिति हेमाद्रि । उपनह्यते बध्यते चर्मपटादिभिरित्यन्वर्थं नामास्योपनाह इत्यरुण ।

तथा वातघ्न (भद्रदार्वादि) गण की ओषधियें (देवदारु, तगर, कूट, दशमूल = शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, छोटी और बड़ी दोनों कटेरी, गोखरू छोटे, बेल, अरणी, अरलू, खम्भारी, पाटला इन दशों के मूल, बला, अतिबला, वीरतरादि गण अर्थात् उशीर-मुञ्ज या वेल्लन्तर, अरणी, बूक[1] (बकपुष्प-ईश्वरमल्लिका), अडूसा, पाषाणभेद, गोखरू, ईख, पीतपुष्प की कटसरैया, नीले पुष्प की कटसरैया, काश-कुश विशेष, कामवृक्ष या वृक्ष का बादा[2], नल (मुञ्ज), सूक्ष्म और स्थूल भेद से दोनों प्रकार के दर्भ, गुण्ठ (वृत्ततृण), गौंदी, अरलू विशेष (भल्लूक), क्षीरमोरट, कुरण्ट (सितिवारक-श्वेत-पुष्पा कटसरैया), उत्तरणेल और सूरजमुखी तथा विदार्यादिगण अर्थात् विदारीकन्द, एरण्ड, वृश्चिकाली, श्वेतपुनर्नवा, देवदारु, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, कौंच बीज, जीवन पञ्चमूल अर्थात् सतावर, काकोली, जीवन्ती, जीवक और ऋषभक[3] तथा ह्रस्व पञ्चमूल (छोटी और बड़ी दोनों कटेली, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी और गोखरू[4], अनन्तमूल तथा हसराज, दाडिमादि अम्लवर्ग (दाडिम, गूलर, फालसा, चिरौंजी, जौ, साठी चावल, ईख, बेर, अड्गूर और खजूर), सर्वस्नेह (घृत, तेल, वसा और मज्जा), सैन्धव, सौवर्चल, सामुद्र, बिड और खारी ये पाचों नमक तथा आनूप देशोत्पन्न प्राणियों के सुस्विन्न मास ये सब द्रव्य समाविष्ट होकर इसका उपर्युक्त विधि से उपयोग किया जाता[5] है।

द्रवस्वेदस्तु द्विविध परिषेकोऽवगाहश्च । तत्र शिग्रुवरणाम्रातकमूलकसर्षपसुरसार्जकवासावशाश्मन्तकाशोकशिरीषार्ककरञ्जैरण्डमालतीपत्रभङ्गपूतीकदशमूलादिवातहरद्रव्यैःसलिलसुराक्षीरशुक्तादिक्वाथै पूर्वोक्तैश्च यथादोष पृथक् सहितैर्वा कुम्भीर्वर्षणिका प्रणालीर्वा पूरयित्वा वातहरसिद्धस्नेहाभ्यक्तमनभ्यक्त वोपविष्ट किलिञ्जे वा शयानमेकाङ्गे सर्वाङ्गे वा वस्त्रावच्छन्ने परिषेचयेत् । तैरेवा[10]भिपूर्णे महति कटाहे कुण्डे द्रोण्या वाऽवगाहयेत् ।

द्रवस्वेद —द्रव स्वेद के दो प्रकार हैं (१) परिषेक और (२) अवगाह।

परिषेक स्वेद—इसका विधान इस प्रकार है कि सहजना, बरना, आम्रातक (अम्बाडा) पाठभेद से गिलोय, मूली, सरसो, तुलसी दोनों प्रकार की, अर्जक (श्वेत पर्णास), अडूसा, बास, अश्मन्तक, अशोक, सिरस, आक, कञ्जा (लता करञ्ज), एरण्ड और चमेली इन सब के पत्र, पूतीक (गन्धा करञ्ज), दशमूल (शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, छोटी कटेरी, बडी कटेरी, छोटे गोखरू, बेल, अरणी, अरलू, खम्भारी और पाटला) इन सब के मूल आदि प्रथम उपनाह स्वेद मे कहे हुए वातहर सर्वगन्ध, धान्य आदि द्रव्य इन सब को यथादोष (वातादि जो दोष हो उसके अनुसार अलग अलग, कभी दोष के अनुसार दो, तीन, चार अथवा सब (जितने मिल सकें) को जल, मद्य, दूध, शुक्त आदि द्रव द्रव्यों के साथ क्वथित करके कुम्भी (छिद्रवाली मिट्टी की छोटी गागर[1]) या जिसमे से जल टपकता या बरसता रहे ऐसी बास की बनी हुई प्रणाली में वह काढ़ा बना हुआ भरकर उसका सिद्ध किये हुए वातहारक स्नेह से स्निग्ध अथवा अस्निग्ध, बास-बेत-तृण आदि की बनी हुई चटाई[2] पर बैठे हुए या शयन किए हुए वस्त्र से आच्छादित रोगी के किसी एक अङ्ग पर या सारे शरीर पर परिषेचन करे अर्थात् तरेडा देवे।

अवगाह स्वेद—अथवा उपर्युक्त सिद्ध किए हुए काढ़े को किसी बड़ी लोहे की कडाही, कुण्ड या मिट्टी की बड़ी द्रोणी में भरकर अर्श आदि रोगपीडित रोगी उसमे अवगाहन करे अर्थात् पीडावाले भाग को उसमे डुबाकर बैठे।

ऊष्मस्वेद पुनरष्टधा भिद्यते। पिण्ड सस्तरो नाडी घनाश्मा कुम्भी कूप कुटी जेन्ताकश्च।

ऊष्मस्वेद के आठ प्रकार—ऊष्मस्वेद आठ प्रकारों में विभक्त है। यथा-पिण्ड स्वेद, सस्तर स्वेद, नाडी स्वेद, घनाश्मा स्वेद, कुम्भी स्वेद, कूप स्वेद, कुटीस्वेद और जेन्ताक स्वेद। अब इन सब का क्रम से वर्णन करते है।

तत्र कपाल[4]पाषाणलोष्टलोहपिण्डानग्निवर्णान् सदंशेन गृहीत्वाऽम्भस्यम्ले वा निमज्जयेत्। तैरार्द्राविकवस्त्रेण वेष्टितै श्लेष्ममेदोभूयिष्ठ सरुजमङ्ग ग्रन्थिमद्वा स्वेदयेत्। पासुसिकतागवादिपुरीषधान्यबुसपुलाकपलालैर्वाऽम्लोत्क्वथितै पूर्ववद्वेष्टितैर्गगादिशकृतार्द्रेण पिण्डीकृतेनोपनाहद्रव्योत्कारिकाकृशरा[4]पायसपिण्डैर्वा वातरोगेष्विति पिण्डस्वेद । स एव सङ्कराख्य ।

पिण्ड अथवा सङ्करस्वेद—मिट्टी का ठीकरा (मृत्कपाल), पाषाण (पत्थर की शिला), लोष्ट (मिट्टी का ढेला), लोहपिण्ड (लोहे का गोला) इनको तपाकर अग्नि के समान वर्ण हो जाय तब इनको सडासी से पकड़ कर स्वेद्य दोषादि (वात, पित्त, कफादि) के अनुसार उसको जल मे अथवा शुक्त, काञ्जी आदि मे डुबावे अर्थात् बुझावे और बुझाने से उत्पन्न होने वाली गीली बाफ से गीले ऊनी कम्बल या रेशमी कपड़े से

---

१ बूक —इश्वरमल्लिकेत्यरुण । बकपुष्प इति हेमाद्रि ।

२ वृक्षादनी—कामवृक्ष इत्यरुणो हेमाद्रिस्तु वृक्षवन्दाक इति ।

३ अभीरुवीराजीवन्तीजीवकर्षभकै स्मृतम् । जीवनाख्यम् ।

४ ह्रस्व बृहत्यशुमतीद्वयगोक्षुरकै स्मृतम् । ५ उपनाह साल्वणाख्य । उक्त च सुश्रुतेन-'काकोल्यादि सवातघ्न सर्वाम्लद्रव्य सयुत । सानूपमास सुस्विन्न सर्वस्नेहसमन्वित । सुखोष्ण स्पृष्टलवण साल्वण परिकीर्तित । तेनोपनाह कुर्वीत सर्वदा वातरोगिणाम् ॥' इति, तद्व्याख्यान च-'काकोल्यादिर्गणो ग्राह्यो नाष्टकवर्गसज्ञित । वातघ्नो भद्रदार्वादिवर्गोऽम्लो दाडिमादिक ॥ सर्वस्नेहश्चतु स्नेहो लवण सैन्धवादिकम् । अम्लादिभिश्च सस्कार्य काकोल्यादित्रय त्रिभि ॥' इति । पद्मकादिरेव तन्मते काकोल्यादि । इति हेमाद्रिरायुर्वेदरसायने । ६ वरणाम्रातक । ७. भूतिक । ८ वातहरै द्रव्यैर्मस्तुसलिल । ९ शुक्तादिभि क्वथितै । १०. तैरेवाद्भि पूर्णे ।

१ कुम्भी स्थाली, इतीन्दुरुणौ, कुम्भी -सच्छिद्रा घटिका । नाडी -वशादिनलिका इति हेमाद्रि । २ किलिञ्ज तृणैर्बद्धा शय्येतीन्दु । किलिञ्ज वैणवास्तरणमित्यन्ये । ३ मृत्कपाल । ४ कृसर मासपिण्डैर्वा ।

ढके हुए रोगी के कफ-मेदो दूषित पीडाकारक अङ्ग का स्वेदन करे। इसी प्रकार जिस अङ्ग में ग्रन्थिया (गाठें) उठी हुई हों, उस का भी स्वेदन करे। अथवा गीले ऊनी वस्त्र या रेशमी वस्त्र से वेष्टित उस अङ्ग का पासु रेती-गाय आदि के गोबर अर्थात् अश्व, गर्दभ, हाथी आदि के गोबर या लीद, धान्य (तिल-बाजरी आदि), बुस (तुष), पुलाक (अच्छी तरह से पाचित अन्नसिक्थ) तथा मास काजी आदि अम्लद्रव में पकाकर पिण्डी बाधकर भली भाति स्वेदन करे। तथैव वायु के रोगों मे पूर्वोक्त गाय, भैंस, घोड़ा, हाथी के गीले गोबर या लीद इनमे से किसी एक से या पिण्डी मे बाधे हुए गाय आदि के गोबर, लीद तथा उपनाहार्थ बनाई हुई उत्कारिका (जब, उडद, एरण्ड बीज, अलसी, कुसुम्भ अर्थात् करड़ी के बीज आदि से बनाई हुई रोटी), पिण्डी (पुल्टिश) या लोपसी, खिचडी, मास एव पूर्वोक्त वेसवार आदि में तयार की हुई पिण्डी से स्वेदन करे। पिण्डी से स्वेदन किया जाता है, इसी लिए इसका नाम पिण्डस्वेद है। यही सकर नामक स्वेद है।

यथार्हस्वेदद्रव्याणि पिहितमुखायामुखायां[3] सम्यगुपस्वेद्य निवातशरणशयनस्थे[4] किलिञ्जे प्रस्तीर्याविक[5] कौशेयवातहरपत्रान्यतमोत्तरप्रच्छदे रौरवाजिनप्रावारादिभि स्वच्छन्न स्वेदयेदिति सस्तरस्वेद ।

सस्तर स्वेद—वात, पित्त, कफादि दोषों की अपेक्षानुसार एरण्डमूलादि तथा मासादि जितने स्वेदन द्रव्य मिल सकें उनको लेकर जौ कुट कर ढके हुए मुखवाली छिद्ररहित हाडी में डालकर भली भाति सिजावे। जब अच्छी तरह सीज जावें तब इन स्वेदित द्रव्यों को निवातशरण (निर्वात जिसमें हवा न आती हो ऐसे घर[8] में) तृणादि से बनी हुई चटाई पर बिछा कर उसे ऊनी वस्त्र, रेशमी वस्त्र तथा वायुनाशक एरण्डादि के पत्र इनमें से किसी एक से ढक दे। उस पर सुलाये हुए रोगी को रौरव-रुरुर्मृगस्तस्येद रौरवम् (मृगछाल), ऊनी वस्त्र आदि ओढाकर उसका स्वेदन करे। इस प्रकार के स्वेदन का नाम सस्तर स्वेद है।

पूर्ववदेव वोपस्वेद्योखामुखेनाधोमुख्या[8] नाडी मूलच्छिद्रप्रमाणपार्श्वच्छिद्रामभिसधायावलिप्य च पार्श्वच्छिद्रस्थया नाड्या शरेषिकावशदलकिलिञ्जकरञ्जपत्रान्यतमकृतया गजाग्रहस्तसस्थानया व्यामदीर्घयाऽध्यर्द्धव्यामदीर्घया वा स्वायामचतुर्भागाष्टभागपरिणाहमूलाग्रस्रोतसा सर्वतो वातहरपत्रसवृतच्छिद्रया द्विस्त्रिर्वा विनामितया[9] सुखोपविष्टस्य स्वभ्यक्तप्रावृतेऽङ्गे बाष्पमुपहरेत्। बाष्पो ह्यनृजुगामी विहतचण्डवेगस्त्वचमविदहन् सुख स्वेदयतीति नाडी स्वेद[10]।

नाडी स्वेद—पूर्ववत् अर्थात् सस्तर स्वेद की तरह ही स्वेदन करके द्रवद्रव्यपूर्ण हाडी या घडे के मुख मे अन्य हाडी या घडे को उल्टा कर उसका मुख जोड़ दे। जोड को शालिपिष्ट या कपडमिट्टी से लेपन कर पक्का कर देवे। ध्यान रहे कि नीचे की हण्डी के वायुहारक द्रवद्रव्यों की बाफ ऊपरवाली हण्डी में जाने के लिए ऊपरवाली हण्डी के अधोभाग की ओर पसवाडे में छिद्र करे। इसी छिद्र मे से शर (मूज), ईषिका (तूल-कपास) तथा बास के पत्र, वीरण घास, करञ्जपत्र इनमें से किसी एक के पत्रों से हाथी के सूड के आकार की, जिसकी लम्बाई एक व्याम या डेढ़ व्याम की तथा सुश्रुत के मतानुसार आधे व्याम[1] की हो ऐसी नाली (आधुनिक नल के आकार की) बनावे। इस नाली के मूल स्रोत के अग्रभाग की चौडाई नाली की लम्बाई का चौथा या आठवा भाग हो तथा तृण-पत्रादि से निर्मित होने के कारण नाली में कही छिद्र दिखाई देते हों तो वे एरण्ड के पत्रों से ढक दिए गए हों और उक्त नाडी दो या तीन जगह नीचे की ओर मुड़ी हुई हो। इस प्रकार से नाडी यन्त्र का निर्माण कर उसे चूल्हे पर चढ़ावे और नीचे अग्नि जलावे। अच्छी तरह स्निग्ध रोगी को ऊनी कम्बल से ढक कर कुर्सी आदि पर बिठाकर इस यन्त्र की बाफ से स्वेदन करे। यह बाफ एकदम सीधी आनेवाली न होने से तथा प्रचण्ड वेगवती न होने से चमडी को न जलाती हुई सुख से स्वेदन करती है। नालिका या नाडिका द्वारा स्वेदन किया जाने के कारण इसका नाम नाडीस्वेद है।

व्याम प्रमाण उसे कहते है जो दोनों बाहुओं के तिर्छे फैलाने पर दोनों के बीच में जितना अन्तर होता[2] है।

पुरुषायाममात्रमधिक वा घन सम च शिलातलं भूप्रदेश वा वातहरदारुदीप्तेनाग्निना सर्वतस्तापयित्वाग्निमपोह्योष्णोदकाम्लादिभिरभ्युक्ष्य यथोक्तप्रच्छदे सस्तरवत्स्वेदयेदिति घनाश्मस्वेद ।

घनाश्मस्वेद—पुरुषायाममात्र अर्थात् एक पुरुष (साढे तीन हाथ) या इससे भी अधिक मोटा (घन-अभङ्गुर अर्थात् टूटा फूटा न हो, सम (जो ऊचा नीचा न हो) ऐसा शिलातल अथवा भूमि पर वायुनाशक ओषधियों के काष्ठ से अग्नि जलावे। इस प्रकार भली भाति शिलातल एव भूमि को तपाकर, अग्नि को हटाकर गरम जल, अम्ल (काञ्जी) आदि से उस पर छिड़काव कर, उस (शिलातल या भूप्रदेश) को यथोक्त मृगछाला, कम्बल आदि से ढक कर उस पर रोगी को बिठा या सुलाकर उसे-उष्ण वस्त्रादि ओढ़ा कर सस्तर स्वेद की तरह स्वेदन करे। इसे घनाश्म स्वेद कहते हैं।

पूर्ववत्स्वेदद्रव्याणि कुम्भ्यामुत्क्वाथ्योपरिलिप्योपाविष्टस्तद्दूष्माण गृह्णीयात् भूमौ वा ता निखाय तदूर्ध्वमासन शयन वा नातिघनप्रच्छद परित प्रलम्बमानकुथाकम्बलगोणिक निधाय तत्रस्थस्योष्माण गृह्णत कुम्भ्या-

१ आदिग्रहणेनाश्वगर्दभहस्त्यादीना ग्रहणमिती दु। २ उत्कारिका लप्सिकेति डल्हन। रोटिकेति हेमाद्रि। यवमाषैरण्डबीजातसीकुसुम्भबीजादिभि पिष्टस्विन्नैर्लप्सिकाकृतिर्य स्वेदनोपाय सा उत्कारिका, इत्यरुणदत्त। ३ पिहितमुखाया कुम्भ्याम्। ४ [निवातशरण शयनकिलिञ्जे। ५ प्रस्तीर्य ६ कुथकाजिन। ७ शरण गृहरक्षित्रो रित्यमर। ८ मुखेनान्यामुखा। ९ विनमितया। १० नालीस्वेद.।

१ व्यामार्धमात्रा त्रिवंक्रा हस्तिहस्तसमाकृतिरिति। २ 'व्यामो बाह्वो सकरयोस्ततयोस्तिर्यगन्तरम्' इत्यमर।

मग्निवर्णानयोगुडानुपलाश्च शनैर्निमज्जयेदिति कुम्भी स्वेद ।

कुम्भीस्वेद—पूर्ववत् अर्थात् नाडीस्वेद की तरह स्वेदन ओषधियों को एक हाडी मे डालकर अच्छी तरह काढा करे और उबली हुई ओषधियों सह क्राथ से पूर्ण हाडी को अपने पास लेकर अथवा उस हाडी के बिलकुल पास बैठ कर उसकी बाफको ग्रहण करे उस बाफ से स्वेदन करे। यह एक प्रकार हुआ। दूसरा विधान इस प्रकार है कि भूमि को खोदकर उसमे उस 'औषधक्वाथपूर्ण हाडी को रखकर उस पर एक जानुभर ऊँचा हो ऐसा आसन (चारपाई आदि) बिछावे। उस चारपाई पर अधिक मोटा नहो ऐसा कपडा (ऊनी) बिछाकर रोगी उस पर बैठे या सो जावे। चारो-ओर भूमिभाग तक लटकते हुए हाथी के पीठ पर की झूल, कम्बल या गोणी (सन की बुनी हुई कम्बल) से रोगी को ढक दे। हण्डी से निकलने वाली बाफ से स्वेदन करे। स्वेदन करते समय उस हाडी में तपाकर अग्निवर्ण किए हुए लोहे के गोले या पत्थर डालकर बुझावे ताकि बाफ उठती रहे। इस स्वेदनविधि को कुम्भीस्वेद कहते हैं।

शयनस्याधो विस्तारद्विगुणखाते कूपे वातहरदारु-करीषान्यतरपूर्णदग्धे विगतधूमे स्वास्तीर्णशयनस्थ स्वेदयेदिति कूपस्वेद ।

कूपस्वेद—स्वेदनार्थ जिस पर लेटना हो उस चारपाई के नीचे चारपाई के प्रमाण से द्विगुणित गहरे भूमि में खोदे हुए कूप को वायुनाशक ओषधियों के काष्ठ, करीष (बकरी की मेगनी) इनमें से किसी एक से पूर्ण कर जलावे। अच्छी तरह काष्ठादि के जल जाने पर तथा धुवा निकल जाने पर पूर्वोक्त नातिघन ऊनी वस्त्र से आच्छादित चारपाई पर लेट कर या बैठ कर पसीना ले या अपना स्वेदन करे। इस स्वेदन विधि को कूपस्वेद कहते है।

कुटी नात्युच्चविस्तारा वृत्तामच्छिद्रामुपनाहकल्क घनप्रदिग्धकुड्यां सर्वतो विधूमप्रदीप्तखदिराङ्गारपूर्णह-सन्तिकासमूहपरिवृतां विधाय तन्मध्ये च शय्या तत्रस्थ स्वेदयेदिति कुटीस्वेद ।

कुटीस्वेद—जो न अति ऊँची हो, आकार में गोल हो, जिसकी भीत मे छिद्र, झरोखा न हो, जिसकी भीत उपनाह स्वेद के द्रव्यों के कल्क से पुती हुई हो और जिसमें चारों ओर धूम्र रहित खैर के कोयलों या लकडियों की अङ्गार से पूर्ण ऐसी सिगडियें रक्खी हुई हों ऐसी कुटी बनाकर उसके मध्य भाग में शय्या (खटिया, तख्तपोश आदि) बिछा कर उस पर स्थित रोगी का स्वेदन करे। इस स्वेद का नाम कुटीस्वेद है।

अथ जेन्ताक चिकीर्षुर्भूमिं परीक्षेत। पूर्वस्यामुत्तरस्या वा दिशि गुणवति प्रशस्तभूमिभागे देशे कृष्ण-मृत्तिके सुवर्णवर्णमृत्तिके वा परीवापपुष्करिण्यादीना जलाशयानामन्यतमस्य कूले दक्षिणे पश्चिमे वा सुतीर्थे समसुविभक्तभूमिभागे सप्providedाष्टौ वाऽरत्नीरुपक्रम्योदका-त्प्राङ्मुखमुदङ्मुख वाऽभिमुखतीर्थं कूटागार कारयेत्। उत्सेधविस्तारत परमरत्नी षोडश समन्तात्सुवृत्त मृत्कर्मसम्पन्नमनेकवातायनम्। अस्य च कूटागारस्यान्त समन्ततो भित्तिमरत्निविस्तारोत्सेधा पिण्डिका कारयेदाकपाटात्। मध्ये चास्य कूटागारस्य किष्कुमुक्त द्विपुरुषप्रमाण मृन्मय कन्दुसस्थान बहुसूक्ष्मच्छिद्रम ङ्गारकोष्ठकस्तम्भ सपिधान कारयेत्। त च खादिराणा-माश्वकर्णाना वा काष्ठाना पूरयित्वा दीपयेत्। स यदा जानीयात्साधुदग्धानि काष्ठानि विगतधूमान्यवतप्त सर्वमग्निना तदग्निगृह स्वेदयोग्येन चोष्मणा युक्तमिति। तत्रैन वातहराभ्यङ्गाभ्यक्तगात्र वस्त्रावच्छन्न प्रवेशयेत्। अनुशिष्यात्सौम्य प्रविश कल्याणायारोग्याय च। प्रविश्य चैना पिण्डिकामारुह्य पार्श्वापरपार्श्वाभ्या यथासुख शयीथा। न च त्वरया स्वेदमूर्च्छापरीतेनापि पिण्डिकैषा विमोक्तव्याऽऽप्राणोच्छ्वासात्। अस्यानो ह्यत पिण्डिकावकाशाद् द्वारमनधिगच्छन् स्वेदमूर्च्छापरीत तया सद्य प्राणान् जह्या। तस्मात्पिण्डिकामेना न कथञ्चन मुञ्चेथा। त्व यदा जानीया विगताभिष्यन्द मात्मान सम्यक्प्रस्रुतस्वेदपिच्छ सर्वस्रोतोविमुक्त लघु-भूतमपगतविबन्धस्तम्भसुप्तिवेदनागौरवमिति। तत पिण्डिकानुसारेण द्वार प्रपद्येथा। निष्क्रम्य च चक्षुषो परिपालनार्थमतिस्विन्नोऽपि न सहसा शीतोदकमनुप्र-विशेथा। सम्यक्स्विन्नस्त्वपगतसतापक्लमो मुहूर्त्तात्सु-खोष्णेन वारिणा यथान्याय परिषिक्तोऽश्नीयादिति जेन्ताकस्वेद ।

जेन्ताक स्वेद—जेन्ताक स्वेद की इच्छावाले को चाहिए कि वह पहले भूमि की परीक्षा करे। पूर्व या उत्तर दिशा मे उपजाऊ श्रेष्ठ भूमि के भाग मे जहा की मिट्टी काली या सुन हली (पीली) हो, जहा पर बावली या पुष्करिणी (पोखर) जलाशय हो, इन जलाशयों में से किसी एक के किनारे (दक्षिण या पश्चिम तटपर), जहा अच्छे सोपान या घाट बने हों, उक्त समतल भूमि पर जहा निश्चय किया हो, जल से सात आठ हाथ के अन्तर पर पूर्वमुख या उत्तर मुख, जलाशय के सामने द्वारवाला कूटागार (चारों ओर से कमरों से आच्छा दित गर्भ गृह की तरह) घर बनावे। इसकी ऊचाई-चौड़ाई १६ हाथ की हो और यह चारों ओर से गोलाकारवाला हो, अच्छी तरह मिट्टी से लीपा पोता हो और जिसमें अनेक वाता यन (झरोखे) हों। इस कूटागार के भीतर चारों ओर से भीत के सहारे एक हाथ ऊची और चौडी कपाटों से लेकर मिट्टी की पिण्डिका (थड़ी) बनावे। साराश, केवल द्वार मे थड़ी नहीं बनावे। इस कूटागार के मध्य मे, भीत के सहारे बनी हुई पिण्डिका (थड़ी) से किष्कु (एक हाथ के अन्तर पर किन्तु इन्दु के मतानुसार चार हाथ के अन्तर पर) दो

१ तत्रैन पुरुषमिति चरकसमत पाठ। २ त्वया। ३ किष्कु र्हस्ते वितस्तौ चेलमर। किष्कुर्द्वयोर्वितस्तौ च सप्रकोष्ठकरेऽपि चेति-

पुरुष (सात हाथ) प्रमाण लम्बा चौड़ा अर्थात् ढाई हाथ से कुछ अधिक ऊचा और चौडा मिट्टी का लोहार की भट्टी या तन्दूर के समान अङ्गारकोष्ठकस्तम्भ (जिसके कोष्ठ मे अङ्गार रहे ऐसा स्तम्भ) बनावे। इसके चारों ओर सूक्ष्म छिद्र भी रक्खे जावे। इसका ढक्कन भी मिट्टी का बनावे। उसे खैर या अश्वकर्ण पलाश के काष्ठ से भर कर जला दे। वैद्य जब जान ले कि भलीभाति लकड़ी जलचुकी है, धुँवा भी नहीं है और वह सारा गृह स्वेद योग्य ऊष्मा के योग्य अग्नि से तप्त हो चुका है या गरम हो गया है, तव वायुहारक अभ्यङ्ग से अभ्यक्त शरीरवाले वस्त्र ओढे हुए उस पुरुष को अर्थात् वायुनाशक तेल की मालिश किए हुए तथा ऊनी वस्त्र ओढ़े हुए रोगी को उस घर मे प्रविष्ट करावे। प्रवेश के समय उसको उपदेश कर दे कि 'हे सौम्य! अपने कल्याण एव आरोग्य के लिए तू इसमे प्रवेश कर। प्रवेश करके इस भीत के सहारे बनी हुई थडी पर चढकर दाहिने या बाँए पसवाडे से जैसे अच्छा प्रतीत हो शयन कर। उसे सूचित कर दे कि गरमी से पसीना तथा मूर्च्छा तक हो जाय तो भी तुमको प्राणों के कण्ठ मे आने तक इस थडी को नही छोडना चाहिए। यदि भूलकर थडी को छोड दिया तो स्वेद और मूर्च्छा के कारण उस थडी के सहारे तुम द्वार तक न जासकोगे। इतना ही नहीं, स्वेद और मूर्च्छा के कारण तुम शीघ्र ही प्राणों तक को खो बैठोगे। इसलिए कदापि पिण्डिका (थडी)'का त्याग नहीं करना चाहिए। जब तुम यह समझ लो कि मेरे में अब अभिष्यन्द (कफ की लिप्तता) बिलकुल नही रही है। पसीना भी अच्छी तरह बहकर शरीर से बाहर निकल गया है। सपूर्ण स्रोत खुलकर साफ हो गये हैं, शरीर में लघुता स्फूर्ति प्रतीत हो रही है। मलका अवरोध अर्थात् बद्धकोष्ठता, जड़ता, सुप्ति (स्पर्श का अज्ञान), वेदना तथा गौरव (भारीपन) प्रतीत नहीं हो रहे हैं, तब उक्त थडी (पिण्डिका) के सहारे सहारे चलकर द्वार पर आ जाना परन्तु आखों की रक्षा का ध्यान रखते हुए सहसा शीतल जल से स्नान नही करना। इतना ही नही शीतल, जल का स्पर्श तक नही करना। जब सन्ताप अर्थात् उष्णता तथा ग्लानि न रहे, तब सुखोष्ण (कुनकुने) जलसे एक मुहूर्त्त के बाद अर्थात् दो घड़ी ठहर कर यथाविधि स्नानकर पथ्यसेवन (भोजन) करे। इस स्वेदनविधि का नाम जेन्ताक स्वेद है।

तेषा विशेषतस्तापोष्मस्वेदौ कफे प्रयोजयेत्। उपनाहमनिले किञ्चित्पित्तसंसृष्टेऽन्यतरस्मिन् द्रवमिति।

यथादोष अग्निस्वेद की योजना—**इन सब स्वेदों मे से जहा कफदोषकी अधिकता हो, वहा पर तापस्वेद या ऊष्मस्वेद की योजना करे। जहा केवल वायुदोष बढ़ा हुआ हो तो उपनाहस्वेद की योजना करनी चाहिए और जहा किञ्चित् पित्त से युक्त वायु हो तो तथैव अन्य केवल प्राकृत कफवायु मे भी द्रवस्वेद की योजना करनी चाहिए।**

विशेष वक्तव्य—**उपर्युक्त उपनाहस्वेद में दोषानुसार जिन जिन द्रव्यों को स्वेदित करना लिखा है, जहां सुरसादिगण, जीवनीयगण, भद्रदारु आदि गणों के द्रव्य कहे हैं वहा इन गणों के अनुसार तथा पहले जो द्रव्य गद्य में आ चुका है और उसी के साथ गण लिए गए हैं, उनमें भी वह द्रव्य है। यह देख कर किसी को पुनरुक्ति की शङ्का कर एक ही द्रव्य नहीं डालना चाहिए किन्तु जिसका नाम दो बार या तीन बार आया हो तो उस द्रव्य का प्रमाण द्विगुण या त्रिगुण करना चाहिए जैसे कि आयुर्वेद की परिभाषा में बताया गया है। अन्तिम जेन्ताक स्वेद मे जहा कुनकुने जल से स्नान करने में यथाविधि का उपदेश किया गया है, इसका भावार्थ केवल अध काय के स्नान से है अर्थात् यदि स्नान करे तो सर्वाङ्ग पर जल डाल कर न करे अपि तु नीचे के भाग को भिगोना चाहिए।**

यहा तक अग्निकृत (आग्नेय) स्वेदों का वर्णन किया गया। अब आचार्य अपने कथनानुसार अनाग्नेय (अग्निरहित) स्वेदों का वर्णन करते हैं।

अनाग्नेय पुनर्मेद कफावृते वायौ निवातसदनगुरुप्रावरणबहुमद्यपानव्यायामक्षुदातपनियुद्धाध्वभारभरणामर्षभयै। उपनाह च पित्तान्वये पूर्वोक्तेनैव विधिनाग्निरहितमिति।

अनाग्नेय स्वेद—**मेद और कफसे आवृत वायु की दशा में अनाग्नेय स्वेद की योजना करनी चाहिए। उसके लिए घर ऐसा चाहिए कि जिसमें सीधी हवा न आती हो, मोटा ऊनी कपड़ा ओढ़ा हुआ हो, बहु या बारम्बार मद्यपान, व्यायाम, क्षुधा, धूप, नियुद्ध (बाहुयुद्ध जो तलवार तथा धनुष द्वारा किया जाता है), भारका उठाना, क्रोध करना या भय दिखाना इत्यादि जिनसे स्वेद (पसीने) की प्रवृत्ति हो वह कर्म किया जाय। पित्तयुक्त वायु में पूर्वोक्त विधिसे अग्निस्वेदविधि को छोड़कर केवल अग्निरहित उपनाह स्वेद की योजना करनी चाहिए।**

विशेष वक्तव्य—**यहा निवातसदनादि गद्यमे दस प्रकारके अनाग्नेय स्वेद बताये हैं। चरकने निवातसदन के स्थान पर उष्णसदन कहा है जो कि अग्नि सताप रहित, गवाक्षादिरहित तथा मोटी भीतोंवाला होनेसे मनुष्यको स्वेदित करता है।**

भवन्ति चात्र।

निवातेऽन्तर्बहि स्निग्धो जीर्णान्न स्वेदमाचरेत्।
व्याधिव्याधितदेशर्तुवशान्मध्यवरावरम् ॥
कफार्तो रूक्षण रूक्षो रूक्षस्निग्ध कफानिले।

मेदिनी। किष्कु—द्वादशाङ्गुलपरिमाणे हस्ते (Arundo tibialis) इति वैद्यकशब्दसिन्धु। किष्कुर्हस्तचतुष्टयम्, इतीन्दु। १ कन्दु सस्थान-कन्दु कुम्भकाराग्निस्थानमिति। अङ्गारार्थं कोष्ठोऽवकाशो विद्यतेऽस्मिन् सोऽङ्गारकोष्ठक स एव स्तम्भ इति चक्रदत्त।

१ उष्णाम्बुनाध कायस्येत्यादिस्नानन्याय इतीन्दु। २ मुहुर्मद्यपान। ३ भारहरणा। ४ नियुद्ध बाहुयुद्धमसिधनुष्काण्डादिनेतीन्दु। ५ व्यायाम उष्णसदन गुरुप्रावरण क्षुधा। बहुपान भय क्रोधावुपनाहाहवातपा ॥ ६ स्वेदयन्ति दशैतानि नरमग्निगुणादृते ॥ इति चरक। 'उष्णसदनमिति अग्निसतापव्यतिरेकेण निर्जालिकतया घनभित्तितया च यद्गृह स्वेदयति तद्बोद्धव्यमिति चक्रदत्त।

आमाशयगते वायौ कफे पक्वाशयाश्रिते ॥
रूक्षपूर्वं तथा स्नेहपूर्वं स्थानानुरोधतः ।
अल्पं वङ्क्षणयोः स्वल्पं दृङ्मुष्कहृदये न वा ॥
पद्मोत्पलादिभिः सक्तुपिण्ड्या वाच्छाद्य चक्षुषी ।
शीतैर्मुक्तावलीपद्मकुमुदोत्पलभाजनैः ॥
मुहुः करैश्च तोयार्द्रैः स्विद्यतो हृदयं स्पृशेत् ।
शीतशूलक्षये स्विन्नो जातेऽङ्गानां च मार्दवे ॥
स्याच्छनैर्मृदितः स्नातस्ततः स्नेहविधिं भजेत् ।

स्वेदविधि—जिसको स्वेदन करना हो उसको प्रथम दिनका किया हुआ आहार पच जाने पर, भीतर और बाहर से स्निग्ध करके अर्थात् अन्दर से स्नेह पिलाकर बाहर से स्नेह का अभ्यङ्ग कराकर भलीभांति स्निग्ध करके निर्वात स्थान मे स्वेदन करना चाहिए। स्वेदन उत्कृष्ट, मध्यम या निकृष्ट मे से कौनसा करना चाहिए इसकी कल्पना रोग, रोगी, देश तथा ऋतु का विचार करके करनी चाहिए। ध्यान रहे कि यह स्वेदन प्रथम दिन के किए हुए आहार के जीर्ण होने तथा क्षुधा के चैतन्य होने पर प्रथम काल मे ही करना चाहिए। आमाजीर्णादि की अवस्था मे स्वेदन कदापि नही करना चाहिए।

वातादि दोषों के भेद से स्वेदन—कफार्त (कफरोगी) को चाहिए कि वह विना स्नेहपान तथा स्नेहाभ्यङ्ग के रूक्ष स्वेदन करावे और जो रूक्ष हो उसे स्निग्धस्वेदन करावे और जो स्निग्ध हो उसे रूक्षस्वेदन करावे। जो कफवात से पीडित हो तो उसे रूक्षस्निग्धस्वेदन कराना चाहिए। स्थानानुरोध से जैसे कि आमाशयगत वायु हो तो रूक्षणपूर्वक स्वेद तथा पक्वाशयगत कफ हो तो स्नेहपूर्वक स्वेद करावे। भावार्थ यह है कि आमाशय कफ का स्थान है और वायु वहा आगन्तुक है। इसी प्रकार पक्वाशय वायुका स्थान है और कफ आगन्तुक है इसलिए शास्त्र की आज्ञानुसार प्रथम स्थानीय को चिकित्सा (प्रतीकार[१]) करके फिर आगन्तुक का उपाय (शमन) करना चाहिए। इसी आशय को लेकर आमाशय गत वायु का रूक्षपूर्वक और पक्वाशयगत कफ का स्निग्ध पूर्वक स्वेदन कहा गया है।

विशेष वक्तव्य—यहा 'आमाशयगते वायौ' इस विधान पर कई लोग आपत्ति करते है कि—'वायु का आमाशय मे कोप नहीं हो सकता क्योंकि वायु लघु आदि गुणों से युक्त है और विपरीत इसके आमाशय गुरु, मृदु तथा पिच्छिलादि गुणयुक्त है अतः आमाशय मे तो वायु का शमन ही हो सकता है।' किन्तु यह आपत्ति उठाना ठीक नही है। जो बलवान् होता है, उसका अन्याश्रय मे जाने पर भी कोप हो सकता है। मार्गरोध अर्थात् स्रोतों के रोकने के कारण वायु का आमाशय मे भी कोप हो सकता है। कहा भी है कि 'आमाशय में जाकर रुद्ध गति होकर वायु प्रायः कुपित होता है।' इसी प्रकार और भी कहा है कि 'वायु आदि दोष काल-देश-बल आदि के बल को पाकर अन्याश्रयों में भी कुपित होते हैं।' इन प्रमाणों से 'आमाशय मे जाकर वायु कुपित नहीं हो सकता'[१] इस शङ्का का खण्डन हो जाता है।

वङ्क्षणादि में स्वेद—वङ्क्षण अर्थात् सक्थियों की सधियों में स्वेदन करना हो तो अल्पस्वेद करना चाहिए। नेत्र, अण्डकोष और हृदय पर स्वेदन करना हो तो अति अल्प स्वेदन करना चाहिए। जहा तक बने नेत्र, अण्डकोष तथा हृदय पर स्वेदन नही करना चाहिए। यदि अत्यावश्यकता ही हो तो कमल के पत्र आदि से जो स्वभावतः शीत है, नेत्रों को ढक कर फिर नेत्रों को सत्तू की पिण्डी से स्वेदन करना चाहिए। हृदय को स्वेदन करना हो तो स्वभावतः शीत ऐसे मोतियों की माला, कमल तथा कुमोदिनी पत्रों को हाथों में ले इनसे स्वेदन करे। स्वेदन करता हुआ बारबार जल से गीले हाथों से हृदय का स्पर्श करता रहे।

सम्यक् स्वेदित के लक्षण और कर्त्तव्य—स्वेदन हो जाने पर जब यह अनुभव हो जाय कि शीत और पीडा का नाश हो गया है, सारे अङ्ग-उपाङ्ग मृदु (कोमल) हो गये हैं तब जान ले कि सम्यक् स्वेद निष्पन्न हो गया है क्योंकि स्वेद के सम्यग्योग के लक्षण ये ही है। सम्यक् स्वेदित हो जाने पर मनुष्य को चाहिए कि वह धीरे धीरे शरीर का मर्दन कर सुखोष्ण जल से स्नान करे तथा स्नेह-पान में वर्णित पथ्य विधि का सेवन करे।

पित्तास्रकोपतृण्मूर्च्छास्वराङ्गसदनभ्रमाः ।
सन्धिपीडा ज्वरः श्यावरक्तमण्डलदर्शनम् ॥
स्वेदातियोगाच्छर्दिश्च तत्र स्तम्भनमौषधम् ।
विषक्षाराग्न्यतीसारच्छर्दितमोहातुरेषु च ॥

अतिस्विन्न के दोष और उनका उपाय—पित्तरक्त या रक्तपित्त का कोप तृषा, मूर्च्छा (बेहोशी), स्वरभेद, अङ्गसाद (शरीर की शिथिलता), भ्रम (चक्कर आना), सन्धियों में पीड़ा, ज्वर, काले और लाल धब्बों का शरीर पर दिखाई देना और छर्दि (वमन) ये स्वेद के अतियोग से होते हैं। ऐसी अवस्था मे स्तम्भन ओषधियों का देना ही हितकारी है। विष, क्षार, अग्नि से जलना, अतीसार, छर्दि, मूर्च्छा के रोगियों के लिए भी स्तम्भन ओषधियों को देना चाहिए।

स्वेदनं गुरु तीक्ष्णोष्णं प्रायः स्तम्भनमन्यथा ।
तत्र स्थिरसरस्निग्धरूक्षसूक्ष्मं च भेषजम् ॥
स्वेदनं स्तम्भनं श्लक्ष्णरूक्षसूक्ष्मसरद्रवम् ।
प्रायस्तिक्तं कषायं च मधुरं च समासतः ॥

द्रव्यगुणवशात् स्वेदनस्तम्भनका कथन—जो द्रव्य गुरु, तीक्ष्ण और उष्ण गुणवाला होता है, वह प्रायः स्वेदन होता है। यहा प्रायः ग्रहण[२] से भय, शोकादि लघुगुणवालों का भी ग्रहण किया गया है। पूर्वोक्त गुरु, तीक्ष्ण और उष्ण के विपरीत लघु, मन्द

१ 'तत्रान्यस्थानसंस्थेषु तदीयाम्' इति। अथवा 'आगन्तुं शमयेद्दोषं स्थानिनं प्रतिकृत्य वा' इति।

१ ननु वायोरामाशये कोपोऽनुपपन्नः। यतो मरुत् लघ्वादिगुणयुक्तः। आमाशयस्तु गुरुमृदुपिच्छिलादियुक्तः। अतः शम एवोपपन्न इति केचित्। एतच्चायुक्तम्। बलिनो ह्यन्याश्रयस्थस्यापि कोपो युक्तः। मार्गरोधाच्च वायोरामाशयेऽपि प्रकोपसम्भवः इति। तथा च वक्ष्यति-'प्रायोऽनिलो रुद्धगतिः कुप्यत्यामाशये गतः।' इति, तथा चोक्तम्—'ते कालादिबलं लब्ध्वा कुप्यन्त्यन्याश्रयेष्वपि।' इत्यरुणदत्तः। २ प्रायो ग्रहणात् भयशोकादिकमगुर्वपि गृह्यत इत्यप्यरुणः।

और शीतगुण-प्रधान द्रव्य स्तम्भन होता है। जो द्रव्य स्थिर, सर, स्निग्ध, रूक्ष और सूक्ष्मगुण-प्रधान होता है वह स्वेदन होता है और जो श्लक्ष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म, सर और द्रव्यगुण-प्रधान औषध होता है, वह स्तम्भन होता है।

रसभेद से स्तम्भन का कथन—जो द्रव्य तिक्त, कषाय और मधुर रसवाला होता है वह भी प्राय स्तम्भन होता है। यहा भी प्रायो ग्रहण है अत तिक्त, कषाय और मधुर रसप्रधान कुछ द्रव्य स्तम्भन नहीं भी होते है।

स्तम्भित स्याद्बले लब्धे यथोक्तामयसक्षयात् ।
स्तम्भत्वक्स्नायुसङ्कोचकम्पहृद्वाग्घनुग्रहै ॥
पादौष्ठत्वक्करै श्यावैरतिस्तम्भितमादिशेत् ॥

स्तम्भित के लक्षण—स्तम्भन औषध के देने पर जब बलकी प्राप्ति हो जाय तथा अतिस्वेद के योग से होनेवाले जैसे कि पित्तरक्त या रक्तपित्तकोप, तृषा, मूर्च्छा, स्वरभेद, अङ्गशैथिल्य, भ्रम, सन्धिपीडा, ज्वर, लाल और काले मण्डलों का शरीर पर दिखाई देना, इन रोगों का नाश हो जाय तब जान लेना चाहिए कि स्तम्भन का सम्यग्योग हो गया है।

अतिस्तम्भित के लक्षण—स्तम्भन औषध के अतियोग हो जाने पर शरीर का जकड़ जाना, त्वचा और स्नायु का सकोच, कम्प, हृदय का बद्ध-सा हो जाना, बोलने में रुकावट तथा हनुग्रह का होना, पाव-होंठ-त्वचा और हाथों का वर्ण काला हो जाना, ये लक्षण होते हैं।

न स्वेदयेदतिस्थूलरूक्षदुर्बलमूर्च्छितान् ।
स्तम्भनीयक्षतक्षीणक्षाममद्यविकारिण ॥
तिमिरोदरवीसर्पकुष्ठरोगाढ्यरोगिण[१] ।
पीतदुग्धदधिस्नेहमधून् कृतविरेचनान् ॥
भ्रष्टदग्धगुदग्लानिक्रोधशोकभयार्दितान् ।
क्षुत्तृष्णाकामलापाण्डुमेहिन पित्तपीडितान् ॥
गर्भिणी पुष्पिता सूता मृदु चात्ययिके गदे ।

स्वेदके लिए अयोग्य प्राणी—जो अतिस्थूल हो, जो अतिरूक्ष, दुर्बल तथा मूर्च्छित हो, जिसको स्तम्भन औषध देना हो, जो उर क्षतरोगी हो, जो क्षीण (क्षयरोगी) हो, जो कृश हो, जो मद्यरोगी (मदात्ययी) हो, जिसके सामने अँधियारी आती हो, जो उदररोग से पीडित हो, विसर्परोगी हो, कुष्ठ-रोगी हो, शोषरोगी हो, जो आढ्यरोगी (वातरक्तवाला) हो, जो दुग्ध, दही, स्नेह (घृतादि) तथा मधु पिया हुआ हो, जिसको विरेचन कराया गया हो, जो अतीसार से भ्रष्ट गुद (गुदभ्रंशरोगी) हो, जो क्षार-अग्नि आदि से दग्ध-गुद हो, जो ग्लानि-क्रोध-शोक-भय से पीडित हो, जो क्षुधा और तृषा से पीडित हो, कामला-पाण्डु तथा प्रमेह का रोगी हो, जो पित्त से पीडित हो, जो गर्भिणी हो, रजस्वला हो और जो प्रसूता हो, इन सबको स्वेदन नहीं कराना चाहिए। यदि विसूचिका आदि रोगी की आत्ययिक अवस्था हो तो मृदु स्वेदन कराना चाहिए।

विशेष वक्तव्य—इन सबके लिए स्वेदन का निषेध इस-लिए है कि अतिस्थूल का मेद स्वेद से पिघलकर शरीर में उपद्रव पैदा करेगा। रूक्षादि के स्वेद से अतिकृशता होगी। क्षुधित के स्वेदन से अत्यन्त ग्लानि होगी। कामला और पाण्डु रोग में स्वेद से पित्तवृद्धि होकर रोग में अधिक वृद्धि होगी। प्रमेही की स्वेदवृद्धि होकर रोग की वृद्धि होगी। गर्भिणी का स्वेद से गर्भपात होगा। रजस्वला को स्वेदित करेंगे तो रक्त की अति प्रवृत्ति हो जायगी तथा प्रसूता को स्वेदन करने से वह कृश हो जायगी। इस लिए उक्त प्राणियों को स्वेदन कदापि नहीं कराना चाहिए।

श्वासकासप्रतिश्यायहिध्माध्मानविबन्धिषु ।
स्वरभेदानिलव्याधिपक्षाघातापतानके ॥
अङ्गमर्दकटीपार्श्वपृष्ठकुक्षिहनुग्रहे ।
महत्त्वे मुष्कयो खल्ल्यामायामे वातकण्टके ॥
मूत्रकृच्छ्रार्बुदग्रन्थिशुक्राघाताढ्यमारुते ।
वेपथुश्वयथुस्वापस्तम्भजृम्भाङ्गगौरवे ॥
कर्णमन्याशिर कोष्ठजङ्घापादोरुरुक्षु च ।
स्वेद यथायथ कुर्यात्तदौषधविभागत ॥

स्वेदन के योग्य प्राणी—जो खासी, श्वास, प्रतिश्याय (जुकाम), हिचकी, अफारा, मलावरोध, स्वरभेद, वात-व्याधि, पक्षाघात, अपतानक, अङ्गमर्द, कटी-पार्श्व-पृष्ठ (पीठ) कुक्षि और हनुका जकडना, अण्डवृद्धि, खल्ली (हाथ और पाव का ऐंठना), आयाम (बहिरायाम, अन्तरायाम) तथा वातकण्टक जो वातव्याधि मे कहे है, मूत्रकृच्छ्र, अर्बुद, ग्रन्थि, शुक्राश्मरी, मूत्राघात, ऊरुस्तम्भ, वेपथु (कम्प), शोथ, त्वचा की सुप्ति, जीभ का जकडना, अङ्ग की जडता, इसी प्रकार कान, मन्या (गर्दन), सिर, कोष्ठ, जङ्घा, पाव और ऊरु के रोग इन सब मे यथायोग्य (कहीं तापस्वेद, कही उपनाह स्वेद, कहीं ऊष्म स्वेद तो कही द्रव स्वेद) उन उन रोगों या दोषों के औषधविभागानुसार स्वेदन कर्म करे या करावे।

स्विन्नोऽन्न पथ्यमश्नीयाद्दोषरोगानुरोधत ।
तदह स्निग्धसर्वाङ्गो व्यायाम सुतरा त्यजेत् ॥

स्वेद के पश्चात् कर्म—स्वेदकर्म यथाविधि करके दोष (वातादि) तथा रोगों के अनुसार पथ्य अर्थात् उस उस रोग एव दोष मे जो हितकारी हो ऐसे अन्न का सेवन करे। जेन्ताकादि सर्वाङ्ग स्वेदवाले को चाहिए कि वह उस दिन (एक दिन) या जबतक बल की प्राप्ति न हो तबतक व्यायाम का परित्याग करे।

अग्नेर्दीप्ति मार्दव त्वक्प्रसाद
भक्तश्रद्धा स्रोतसा निर्मलत्वम् ।
कुर्यात्स्वेदो जाड्यतन्द्रापहार
स्तब्धान् सन्धीञ्श्लेष्टयत्याशु चास्य ॥
स्नेहक्लिन्ना कोष्ठगा धातुगा वा
स्रोतोलीना ये च शाखास्थिसस्था ।

---

१ कुष्ठशोषाढ्यरोगिण ।

दोषा स्वेदैस्ते द्रवीकृत्य कोष्ठ
नीता सम्यक् शुद्धिभिर्निर्ह्रियन्ते ॥

इति षड्विंशोऽध्याय ।

स्वेद के प्रभाव का कथन—स्वेद जठराग्नि को प्रदीप्त करता, त्वचामे मृदुता लाकर उसे सुन्दर बनाता, भोजन में इच्छा पैदा करता, स्रोतों को निर्मल करता, जड़ता और तन्द्रा को नष्ट करता है। इतना ही नहीं, स्वेदरोगी की कूर्परादि सन्धियों को जो कि दोषों के कारण स्तब्ध (निकम्मी) हो गई हों तो भी उनमें चेष्टा पैदा कर उन्हे कार्य मे प्रवृत्त करता है। स्नेहन कर्म करने के कारण स्नेह से क्लिन्न कोष्ठ, रसरक्तादि धातुओं में गए हुए, स्रोतों मे लीन एव शाखास्थि (बाहुओं की नलिका तथा अस्थियों में) गत वातादि दोषों को पूर्वोक्त स्वेद पिघलाकर कोष्ठ मे ले आते हैं और फिर वे दोष-सशोधन (वक्ष्यमाण वमन-विरेचन) द्वारा भलीभाति निर्हरण किए जाते हैं। भावार्थ यह है कि स्नेहन से क्लिन्न कोष्ठ, धातु, स्रोत, शाखा और अस्थिगत दोष स्वेद के प्रभाव से पिघल कर कोष्ठ (पेट) में आते हैं और फिर सशोधन द्वारा उनका निर्हरण भलीभाति होता है।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दी-व्याख्याया स्वेदविधिर्नाम षड्विंशोऽध्याय ॥ २६ ॥

अथ सप्तविंशोऽध्यायः ।

इसके पूर्व अध्याय के अन्त मे कह आय हैं कि 'दोषा शुद्धिभिर्निर्ह्रियन्ते' अर्थात् स्नेहन से क्लेदित कोष्ठ, धातु, स्रोत, शाखा और अस्थियों मे स्थित दोष स्वेदन द्वारा पिघलकर कोष्ठ में आ जाते हैं और फिर उनका निर्हरण शुद्धि (वमन विरेचन) द्वारा भली भाति होता है, अत अब वमन-विरेचन-बस्ति आदि के निरूपणार्थ इस अध्याय का आरम्भ करते हैं। वमन और विरेचन इन दोनों का एक ही रूप होने से दोष तथा सस्थानक्रम से इस एक ही अध्याय द्वारा उनके निर्णयार्थ आचार्य कहते है कि—

अथातो वमनविरेचनविधि-नामाध्याय व्याख्यास्याम' । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय ।

वमनविरेचनाध्याय—अब हम यहा से वमन-विरेचन विधिनामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जिसमे वमन विरेचन का वर्णन जैसे पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया उसी प्रकार किया गया है।

दोषहरणमूर्ध्वभाग वमनाख्यमधोभाग विरेचनाख्यमुभय वा मलविरेचनाद्विरेचनमित्युच्यते ।

वमन-विरेचन की विरेचन सज्ञा—शरीर के ऊर्ध्वभाग या पूर्वभाग का मुख के द्वारा जो दोषहरण किया जाता है, वह वमन है और इसी प्रकार शरीर के अधोभाग या अपर भागस्थ दोष का निर्हरण गुदा द्वारा किया जाता है वह विरेचन है अथवा वमन और विरेचन ये दोनों मलविरेचन करनेवाले हे इसलिए विरेचन कहे जाते है।

तत्रोष्णतीक्ष्णसूक्ष्मव्यवायिविकाषीण्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य सौक्ष्म्याद्व्यवायित्वाच्च धमनीरनुसृत्य स्नेहेन मृदुकृत्यान्त[1] शरीरे स्वोष्मणा[2]र्द्रदारुवद्विष्यण्णे स्थूलाणुस्रोतोभ्य सकलमपि दोषसघातमौष्ण्यात्पुनर्विष्यन्दयन्ति । तैक्ष्ण्याद्विकाषित्वाच्च विच्छिन्दन्ति। स विष्यण्ण[3]विच्छिन्नो दोषसघात पारिप्लुव स्नेहाक्तभाजनस्थ इवोदकाञ्जलिरसज्जन्नणुस्रवण भावादामाशयमागम्योदानप्रणुन्नोऽग्निवाय्वात्मकत्वादूर्ध्वभागप्रभावाच्चौषधस्योर्ध्व प्रवर्तते। सलिलपृथिव्यात्मकत्वादधोभागप्रभावाच्चौषधस्याध । उभयतश्चोभयगुणात्मकत्वादुभयभागप्रभावाच्च ।

दोषों का ऊर्ध्व और अधोभाग में आगमन—उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायि और विकाषी औषधिये अपने बल से हृदय मे आकर अपने सूक्ष्म एव व्यवायी गुण से धमनियों मे पहुँचकर स्नेहन द्वारा मृदु किए हुए शरीर मे स्वेद की उष्णता से गीली लकडी की तरह चुहते हुए (स्रावसहित) शरीर में के स्थूल तथा सूक्ष्म स्रोतों से समस्त दोषों के समूह को पुनरपि चुहाती अर्थात् दोषों मे स्राव पैदा करती है। इतना ही नही, दोषों के ठोसपने को अपने तीक्ष्ण तथा व्यवायी गुण से छिन्न-भिन्न कर डालती है। वह स्राव को प्राप्त छिन्न-भिन्न हुए दोषों का सघात (समूह) नितान्त पतला होकर, स्नेह से चुपडे हुए चिकने बासन मे जैसे पानी नहीं चिपकता ठीक उसी प्रकार शरीर मे न चिपकता हुआ स्रवीभूत होकर आमाशय में आता है ओर वहा से उदान वायु द्वारा प्रेरित होकर अग्नि-वायु के गुणधर्मवाली अर्थात् अग्नि वायु के समान अपने प्रभाव से ऊपर की ओर जानेवाली औषधियों द्वारा वह दोषों का समूह ऊपर की ओर प्रवृत्त होता है। साराश यह कि यह दोष-सघात ऊपर की ओर जाकर वमन के रूप से मुख के द्वारा बाहर निकलता है। इसी प्रकार जल और पृथिवी तत्त्व के गुण-धर्मवाली अर्थात जल और पृथ्वी की तरह स्वभावत नीचे की ओर जानेवाली ओषधियों से तथा अपान वायु से प्रेरित दोषसघात नीचे की ओर जाकर गुद मार्ग से बाहर निकलता है। इनमे से ऊपर की ओर जाकर मुख से बाहर निकलनेवाले दोष-सघात के प्रकार को वमन कहते है और नीचे की ओर आकर गुद द्वारा बाहर निकलनेवाले दोषों के इस व्यापार को विरेचन कहते है। कुछ ओषधिया उभय-गुण-प्रभाववाली होने से उनका प्रभाव ऊर्ध्व और अधोभाग इन दोनों में होता है। साराश यह है कि वे वमन एव विरेचन इन दोनों कर्मों द्वारा दोषों को शरीर से बाहर निकाल सकती है।

तत्रो[6]त्क्लिष्टे श्लेष्मणि पित्तसमृष्टे वा तत्स्थानगते वा पित्तेऽनिले वा श्लेष्मोत्तरे वमनमाचरेत्। पित्ते तु

१ मृदूकृतेऽन्तरश्शरीरे। २ स्वेदोष्मणा। ३ विष्यन्न।
४ प्रसरणभावा। ५ मनुगम्य। ६ तत्रोत्कृष्टे।

विरेक श्लेष्मसंसृष्टे वा तत्स्थानगते वा श्लेष्मणीति।

दोषानुसार वमनविरेचन व्यवस्था—अपने स्थान में स्थित बढ़े हुए केवल कफ की अवस्था में वमन कराना चाहिए। स्वल्पपित्तयुक्त कफ मे तथा कफ के स्थान में गये हुए पित्त और वायु की कफोत्तर (बढ़े हुए कफ की) अवस्था में भी वमन देना चाहिए। स्वस्थान मे स्थित बढ़े हुए पित्त मे विरेचन कराना चाहिए। केवल यही नहीं, स्वल्प कफयुक्त पित्त मे भी विरेचन कराना चाहिए तथा पित्त के स्थान मे कफ के जाने पर भी विरेचन कराना।

तत्र वमनसाध्या विषपीतदष्टदग्धविद्धविरुद्धाजीर्णान्नज्वरराजयक्ष्मातिसाराधोरक्तपित्तविसूचिकालसकाविपाकारोचकापचीग्रन्थ्यर्बुदश्लीपदमेदोगरोन्मादापस्मारश्वासकासहृल्लासविसर्पकुष्ठपाण्डुवर्त्ममुखघ्राणकपालरोगकर्णकोथशोफस्तन्यदोषादयो दोषभेदीयोक्ताश्श्लेष्मव्याधयो विशेषेणैते हि पर वमनेन नाशमुपयान्ति। सलिलापगमेनानिष्पन्नशाल्यादिवत्।

वमनसाध्य रोगी—जिसने साक्षात् विष का पान किया हो, सर्प आदि ने जिसको डसा हो, दिग्धविद्ध (विष से लिप्त बाणादि से बींधा जाना), विरुद्धान्न का अजीर्ण, नवज्वर, राजयक्ष्मा, अतिसार, गुद द्वारा रक्त का जाना, रक्तपित्त, विसूचिका, अलसक, अजीर्ण, अरोचक, अपची, ग्रन्थि, अर्बुद, श्लीपद, मेदोरोग, गर (कृत्रिम विष), उन्माद, अपस्मार, श्वास, कास, हृल्लास (उबकाई), विसर्प, कोढ, पाण्डुरोग, वर्त्म (नेत्र रोग विशेष), मुख के रोग, नासिका के रोग, शिरोरोग, कर्णकोथ, शोथ, स्तन्य (स्त्रियों के दुग्ध मे दोष) आदि तथा दोषभेदीय अध्याय में वर्णित रोग एव विशेषत कफ के रोग ये सब वमन कराने से नाश को प्राप्त होते है जैसे कि बिना पानी के अनिष्पन्न (नया बोया हुआ) चावल धान्य नष्ट हो जाता है। यहा शालिधान्य का दृष्टान्त अभिनव (तुरन्त के उत्पन्न हुए) रोगों में वमन की उपयुक्तता दिखाने के लिए है।

अवाम्यास्तु गर्भिणीसुकुमारान्यकार्यव्यग्ररूक्षरूक्षाशनप्रायातिदीप्ताग्निभाराध्वकर्मनित्यक्लान्तक्षतक्षीणातिस्थूलकृशवृद्धबालदुर्बलश्रमभयशोकक्रोधमदमूर्च्छाक्षुत्पिपासार्त्तोपवासव्यवायव्यायामाध्ययनचिन्ताप्रसक्तच्छर्दिरूर्ध्वरक्तपित्तवातास्थापितानुवासितसवृतकोष्ठदुश्छर्दितहृद्रोगोदावर्तमूत्राघातगुल्मप्लीहोदराष्ठीलार्शःस्वरोपघाततिमिरभ्रमानिलार्तार्दिताक्षेपकाक्षिशिरःशङ्खकर्णपार्श्वशूलिनोऽनास्थापितकृमिणकोष्ठ इति। अन्यत्रामगरविषविरुद्धाभ्यवहारेभ्य शीघ्रकारित्वादेषाम्।

वमन के अयोग्य प्राणी—जो गर्भिणी हो, जो सुकुमार हो, जो अन्य कार्य मे व्यग्र हो, जो रूक्ष हो, जिसने रूक्ष भोजन किया हो, जिसकी जठराग्नि प्राय अति प्रदीप्त रहती हो, जो नित्य प्रति भार उठाने-मार्ग के चलने-कार्य के करने से थक जाते हों, उर क्षत का रोगी होने से जो दुर्बल हो, जो अतिस्थूल हो, अतिकृश हो, जो वृद्ध हो या बालक हो, जो दुर्बल हो, जो श्रम-भय-शोक-क्रोध-मद-मूर्च्छा-क्षुधा तथा प्यास से पीडित हो, जिसने उपवास किया हो, मैथुन किया हो, व्यायाम (कसरत) किया हो, अध्ययन करके उठा हो, चिन्ता मे मग्न हो, जिसको छर्दिरोग हो, जो ऊर्ध्व रक्तपित्त का रोगी हो, वातरक्ती हो, आस्थापन (निरूह) और अनुवासन बस्ति-प्रयोग किया हुआ हो, जो उदावर्तरोगी हो, प्रकुपित छर्दिरोगवाला, मलावरोधी, हृद्रोग से पीडित, मूत्राघात, गुल्म, प्लीह, उदर, अष्ठीला, अर्श, स्वरभङ्ग, तिमिर, भ्रम, वातव्याधि, अर्दित, आक्षेपक एव नेत्ररोग, शिरोरोग, शङ्ख (कनपटीगत पीडा), कर्णरोग, पार्श्वशूल तथा अस्थापन रहित क्रिमिकोष्ठ (जिसके पेट मे बहुत क्रिमि हों) इन सब रोगों मे वमन नही कराना चाहिए। यदि आमदोष, गर अर्थात् कृत्रिम विष, विष और विरुद्ध भोजन की अवस्था में हो तो उक्त गर्भिणी आदि सब को वमन कराना चाहिए क्योंकि ये आम, गर, विष आदि आशुकारी (तुरन्त मार डालनेवाले) है।

तत्र गर्भिण्या गर्भव्यापदामगर्भभ्रंशाच्च दारुणरोगप्राप्ति स्यात्। सुकुमारस्य हृदयविकर्षणादूर्ध्वमधो वा रुधिरप्रवृत्ति। अन्यकार्यव्यग्रस्यौपथ न प्रवर्तते। कृच्छ्रेण वा प्रवर्तमानमयोगदोषान् कुर्यात्। रूक्षस्य वायुरङ्गग्रहणम्। रूक्षाशनप्रायस्य वायुना। क्षपितदेहत्वाद्बलक्षय स्यात्। तथातिदीप्ताग्नेरग्निबलेन, भाराध्वकर्मनित्ययानक्लान्तानां चायासेन, क्षतस्य भूय क्षणनाद्रक्तातिप्रवृत्ति। क्षीणादीनामौषधबलाक्षमत्वाद्देहबलोपरोधोऽन्त क्षतभय च। प्रसक्तच्छर्द्यूर्ध्वरक्तपित्तयोरुदान उत्क्षिप्य प्राणान् हरेद्रक्त चातिप्रवर्तयेत्। ऊर्ध्ववातास्थापितानुवासितानामूर्ध्व वातातिप्रवृत्ति। सवृतकोष्ठस्य दुश्छर्दितस्य वातिप्रवाहणाद न्त कोष्ठसमुत्क्लिष्टैर्दोषैर्विसर्पस्तम्भजाड्यवैचित्त्यानि मरण वा। हृद्रोगिणी हृदयोपरोध। उदावर्तादिभिरार्तानामर्दितादिभिश्च यथायथमामयप्रवृद्धिर्मरण वा। कृमिणकोष्ठस्यास्थापनेनाध पूर्वमनिर्हृतै कृमिभिरतिबहुत्वादशेषा निस्सरेण हृदयमतिकर्षद्भिश्छर्दिषोऽतिप्रवृत्ति स्यात्।

गर्भिणी आदि के वमननिषेध मे हेतु—प्रथम कह आए है कि गर्भिणी से लेकर अनास्थापित क्रिमिकोष्ठ तक के रोगियो को वमन नही देना चाहिए। क्यों वमन नही देना चाहिए? इसमे अवश्य कुछ हेतु होना चाहिए क्योंकि बिना प्रयोजन के कोई भी बात नहीं कही जाती। अत अब आचार्य गर्भिणी आदि को वमन न देने का मुख्य हेतु बताते है। यदि गर्भिणी को वमन कराया जायगा तो उसके कच्चे

१ मेदोगदपरो २ कर्णरोग। ३ शालिदृष्टान्त एतेषा रोगाणामभिनवाना वमनयोग्यताप्रदर्शनार्थमिती डु।

१ योगादोषान्। २ भाराध्वकर्मनित्यानां। ३ वातादिप्रवृत्ति। ४ दुश्छर्दस्य। ५ चातिमात्रप्रवाहणादन्त कोष्ठे। ६ निर्हृतै।

गर्भ की व्यापत्ति से गर्भपात होकर उसे दारुण रोग की प्राप्ति होगी। सुकुमार को वमन कराने से उसके हृदय में खिचाव होकर ऊर्ध्व एव अधोमार्ग (मुख तथा गुदा) से मूत्र की प्रवृत्ति होगी। अन्य कार्य मे व्यग्र मनुष्य को दी हुई ओषधि प्रथम तो उसे न लेने के कारण वह कुछ काम ही न करेगी। यदि बड़ी कठिनाई से ओषधि दे दी जायगी तो वह सम्यग्योग न होकर अयोग के दोषों को पैदा करेगी। रूक्ष को दी हुई वमन ओषधि से वायु बढ़कर उस का शरीर जकड़ सा जायगा। प्राय रूखा भोजन करनेवाले को दिया हुआ वमन वायु को बढ़ाकर उसके द्वारा देह को क्षीण करके बल का नाश करेगा। तथैव अतिदीप्त अग्निवाले को दिया हुआ वमन अग्नि को बलवान् करके, नित्य भार उठानेवाले-मार्ग चलनेवाले, सवारी करनेवाले को दिया हुआ वमन उसके परिश्रम से, उर क्षती को दिया हुआ वमन पुनरपि उसके क्षत को खोद-गहरा करके रक्त की अतिप्रवृत्ति को उत्पन्न करेगा। क्षीण बल आदि को कराया हुआ वमन औषध बल को सहने मे असमर्थ होने से उसके शारीरिक बल के घटने तथा भीतर क्षत हो जाने का भय रहेगा। छर्दि और रक्तपित्त से पीडित रोगी को कराया हुआ वमन उदान वायु के द्वारा प्राणों का उत्क्षेपण करके प्राणों को हरण करेगा (मार डालेगा) तथा रक्त की अतिप्रवृत्ति को पैदा करेगा। ऊर्ध्ववात की अवस्था मे आस्थापन-अनुवासन बस्ति दिए हुए को वमन कराना ऊर्ध्ववात की प्रवृत्ति और अधिक बढायेगा। संवृतकोष्ठ-दुश्छर्दित को कराया हुआ वमन अतिप्रवाहित होकर अन्त कोष्ठस्थ दोषों को प्रकुपित कर विसर्प, जडता, उरुस्तम्भ, मूर्च्छा तथा मरण को करेगा। हृद्रोगी को कराया हुआ वमन उसके हृदय का उपरोध (हृदय को जकड़ दिया सा) करेगा। उदावर्तादि रोगों से पीडित रोगियों को दिया हुआ वमन अर्दित आदि भयङ्कर रोगों को करके, उन उन रोगों को बढाता हुआ रोगियों को मार डालेगा। निरूहबस्ति दिए बिना क्रिमिकोष्ठवाले को दिया हुआ वमन आस्थापन द्वारा पहले निर्हरण न होने से बढ़े हुए क्रिमियों को अधोभाग से बाहर न निकाल कर, उन्हे निश्शेष न करके हृदय को आकर्षण करके अथवा हृदय में अतिखिचाव पैदा करके वमन की अतिप्रवृत्ति करेगा। इन सब कारणों से गर्भिणी आदि को आम, गर, विषबाधा विरुद्ध भोजन के अतिरिक्त कदापि वमन नही कराना चाहिए।

चिन्ताप्रसक्ताश्चात्र[1] धूमान्तै प्राय सर्वकर्मभिर्वक्ष्यमाणै परिहर्त्तव्या। अजीर्णी तु सर्वैरेव वमनवर्जैराम[2] दोषभयात्। नवज्वरस्य दोषस्तम्भभयादिति।

गर्भिणी आदि में विशेष—पूर्वोक्त गर्भिणी से लेकर चिन्ताप्रसक्त तक वमन के अयोग्य रोगी (गर्भिणी, सुकुमार, अन्य कार्यव्यग्र, रूक्ष, रूक्षाशनप्राय, अतिदीप्ताग्नि, भारक्रान्त, मार्गक्रान्त, नित्यकर्मक्रान्त, क्षती, क्षीण, अतिस्थूल, कृश, वृद्ध, बाल, दुर्बल, श्रमार्त, भयार्त, शोकार्त, क्रोधार्त, मदार्त, मूर्छित, क्षुधार्त, पिपासार्त, उपवासी, व्यवाय-व्यायाम-अध्ययन-चिन्ताप्रसक्त, इन सब को वमनादि धूमान्त सब कर्मों से अर्थात् वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, शिरोविरेचन और धूमपान[1] से वर्जित रखना अर्थात् इन सब को ये वमनादि कर्म नही कराना चाहिए। अजीर्णी को भी एक वमन को छोडकर अन्य विरेचन-आस्थापनादि कर्म नहीं कराने चाहिए। इसलिए कि आमदोष का भय न हो। नवज्वर की दशा में भी ये वमनादि कर्म इसलिए नही कराने चाहिए कि उसमे दोषों का पचन न होकर स्तम्भन का भय है।

अथ विरेचनसाध्या जीर्णज्वरोर्ध्वरक्तपित्तगुल्म-विद्रधिप्लीहाऽर्शोभगन्दरक्रिमिणकोष्ठमूत्राघातरेतोयोनि-दोषवातशोणितहलीमकव्यङ्गतिमिरकाचाभिष्यन्दाक्षि-पाकक्षार[illegible]शूलो[illegible]वर्तविबन्ध-च्छर्दिवि[illegible]त्ताश्च [illegible]विसूचिकाद्यो दोष-भेदीयोक्ताश्च पित्तव्याधयो विशेषेण। एते हि पर विरेचनेन नाशमुपयान्त्यग्न्यपनयनेनाग्निगृहतापवत्।

विरेचन से साध्य रोग—जीर्ण ज्वर, ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त, बायगोला, विद्रधि, प्लीह, अर्श, भगन्दर, उदर, क्रिमिकोष्ठ, मूत्राघात, वीर्यदोष, योनिदोष, वातरक्त, हलीमक (पाण्डु विशेष) व्यङ्ग, तिमिर-काच-अभिष्यन्द और अक्षिपाक (नेत्र के रोग विशेष), क्षारदग्ध, अग्निदग्ध, दुष्टव्रण, शिरोरोग, पक्वाशय के रोग, शूल, उदावर्त, मलावरोध, छर्दि, विस्फोटकादि, वमन के योग्य कहे हुए विसूचिकादि रोग, दोषभेदीय अध्याय मे कहे हुए पित्त के रोग, ये सब विशेषत विरेचन से नाश को प्राप्त होते है, जैसे कि अग्नि के नष्ट करने से अग्नि से सन्तप्त घर का सन्ताप नष्ट हो जाता है। यहा अग्नि-सन्तप्त घर के सताप नष्ट होने का दृष्टान्त इस बात के प्रदर्शनार्थ है कि शरीर मे से परिपक्व दोष हो विरेचन द्वारा निर्हरण करने चाहिए।

अविरेच्या पुनर्नवज्वरातिसारयधोरक्तपित्तक्षतगुदलङ्घितरात्रिजागरितास्थापिताल्पाग्निराजयक्ष्ममदात्ययाध्मातसशल्याभिहतातिस्निग्धरूक्षक्रूरकोष्ठा। तत्र नवज्वरस्याविपक्वान् दोषान्न निर्हरेद्वा[2] तानेव तु कोपयेत्। अतिसार्यधोरक्तपित्तयोरतिप्रवृत्त्या हन्यात्। क्षतगुदस्य गुदे प्राणोपरोधकरी रुज[3] जनयेत्। लङ्घितादयो भेषजवेग न सहेरन्। राजयक्ष्मार्तस्य क्षीणधातुतया मलबलत्व तदभावाद्देहनाश स्यात्। मदात्ययार्त्तस्य मद्यक्षीणे देहे वायु प्राणोपरोधाय। आध्मातस्य पुरीषाशये निचितो वायुर्विसर्पन् सहसा तीव्रतरमाध्मान मरण वा जनयेत्। सशल्याभिहतयो क्षते वायुराश्रितो जीवित हिस्यात्। अतिस्निग्धस्यातियोगो भवेत्। क्रूरकोष्ठस्य औषधोद्धता दोषा ह्यप्रवर्तमाना हृदयशूलपर्वभेदानाहहृच्छर्दिमूर्च्छाक्लमान् जनयित्वा प्राणान् हन्यु। गर्भिण्यादीना पूर्वोक्तदोषा स्यात्।

१ गर्भिण्यादिचिन्ताप्रसक्तान्ताश्चात्र। २. वर्ज्यं।

१ धूमान्तै कर्मभिर्वमनविरेचनास्थापनानुवासनशिरोविरेचन धूमैरिती दु ॥ २ वातमेव च कोपयेत्। ३ रुजा।

विरेचन के अयोग्य रोगी—नवज्वरी, अतीसारी, अधोभागप्रवृत्तरक्तपित्ती, जिसकी गुदा में क्षत हो, जिसने लङ्घन किया हो, जागरण किया हो, निरूहबस्ति दी गई हो, अल्पाग्नि (जिसकी अग्नि मन्द हो), जिसको क्षयरोग हो, जो मदात्ययरोगी हो, जिसको आध्मान हो, जिसे शल्य लगा हुआ हो, जिसको चोट लगी हो, अतिस्निग्ध-अतिरूक्ष तथा जो क्रूर कोष्ठवाला हो, इनमें से किसी को भी विरेचन नहीं देना चाहिए। इसलिए कि नवज्वरी को विरेचन देने से उसके अपक्व दोषों का निर्हरण हो जायगा जो कि ठीक नहीं है। नवज्वरवाले के अपक्व दोषों को बाहर निकाल कर उन्हें कुपित नहीं करना चाहिए अथवा अपक्व दोषों का निर्हरण कर वायु को कुपित नहीं करना चाहिए। अतीसारवाले को या अधोगामी रक्तपित्तवाले को विरेचन दिया जायगा तो उससे अतिसार तथा रक्त की अतिप्रवृत्ति होकर उस रोगी का नाश हो जायगा। गुदा मे क्षतवाले को विरेचन देने पर उसकी गुदा में प्राणों को हरनेवाली पीडा पैदा होगी। लङ्घित, रात्रिजागरित, आस्थापित और अल्पाग्निवालों को विरेचन देने से ये ओषधि के वेग को सहन नहीं कर सकेंगे। राजयक्ष्मा से पीडित रोगी के धातु क्षीण हो जाते है तब उसका बल केवल मल ही पर अवलम्बित रहता है अत विरेचन दे उसके मल का नाश करने से उसके शरीर का नाश हो जायगा। मदात्यय के रोगी को विरेचन दिया जायगा तो मद्यक्षीण हो जायगा—मद्य के क्षीण होने पर वायु कुपित होकर रोगी के प्राणों को हर लेगा। आध्मान रोगी को विरेचन देंगे तो उसके पुरीषाशय मे सचित वायु है वह इधर उधर पेट में पसर कर तीव्र आध्मान रोग की उत्पत्ति करेगा या मार डालेगा। जिसको शल्य लगा हो या चोट आई हो तो उसे भी विरेचन न देना चाहिए क्योंकि विरेचन देने से उसके क्षत (जख्म) के आश्रय मे रहनेवाला वायु कुपित होकर जीवित (जीवन या प्राणों) का नाश करेगा। अतिस्निग्ध को विरेचन देने से अतियोग हो जायगा। क्रूरकोष्ठवाले रोगी को विरेचन देने से ओषधि से कुपित हुए दोष शरीर मे भलीभाति सचार नही कर सकेंगे और वे हृदयशूल, पर्वभेद, आनाह, छर्दि, मूर्च्छा और ग्लानि को पैदा कर प्राणों का नाश करेंगे। गर्भिणी आदि को विरेचन देने से वे ही दोष उत्पन्न होंगे जिनका वर्णन वमन प्रकरण में कर चुके है। भावार्थ यह है कि वमन कराने से गर्भिणी आदि में जिन दोषों का होना बताया है, वे ही विरेचन कराने मे होंगे अत उक्त रोगियों के लिए वमन या विरेचन का निषेध किया गया है।

अथ साधारणे काले सम्यक् स्निग्धस्विन्नमनुपहतमानस सुच्छर्दयितव्यमिति[1] ग्राम्यानूपौदकशृतमासरसक्षीरदधिमाषतिलपललशाकादिभिर्द्रवप्रायै समुत्क्लेशितश्लेष्माण सुखोषित जीर्णाहार पूर्वाह्णे स्नातानुलिप्त स्रग्विणमहतवासस देवताग्निद्विजगुरुवृद्धवैद्यानर्चितवन्त कृतहोमबलिमङ्गलप्रायश्चित्तस्वस्तिवाचन जानुसमसस्तृतमहोपधानोपाश्रयासनोपविष्ट[2] निरन्नमीषत्स्निग्ध वा यवागूमण्डेन घृतमात्रा पीतवन्त भीरुकृशबालवृद्धसुकुमारान्वा दोषानुरूपेणाकण्ठ[1] पीतक्षीरतक्रयूषेक्षुमासरसमद्यतुषोदकयवागूमण्डान्यतम नक्षत्रतिथिकरणमुहूर्तोदये प्रशस्ते यथाव्याधिदोषदूष्यादिविहितामौषधमात्रा मधुसैन्धवयुक्ता सुखोष्णा ब्राह्मणप्रयुक्ताभिराशीर्भिरभिमन्त्रिता पुनश्च—

ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानला ।
ऋषय सौषधिग्रामा भूतसङ्घाश्च पान्तु व ॥
रसायनमिवर्षीणाममराणामिवामृतम् ।
सुधेवोत्तमनागाना भैषज्यमिदमस्तु ते ॥

नमो भगवते भैषज्यगुरवे वैदूर्यप्रभराजाय[2] तथागतायार्हते सम्यक्सबुद्धाय। तद्यथा—'ॐ भैषज्ये भैषज्ये महाभैषज्ये भैषज्यसमुद्गते स्वाहा।'

इत्येवमभिमन्त्र्योदङ्मुख प्राङ्मुखमातुर पाययेत्।

वमनविरेचनविधि—दोषनिर्हरण के लिए जो साधारण काल पहले कह आए हैं जैसे कि कफ, वायु और पित्त सशोधन के लिए क्रमश वसन्त, प्रावृट् और शरद् ऋतुए, इनमें भी क्रमश चैत्र, श्रावण और कातिक मास मे अर्थात् जिस दोष का सशोधन (वमन-विरेचन) करना हो तो उनके नियमित इस ऊपर बताये हुए साधारण काल मे भलीभाति स्नेहन और उसके बाद स्वेदन किए हुए, प्रसन्न एव स्थिरचित्त रोगी को वमन-विरेचन कराना चाहिए।

वमन कराना हो तो उसके एक दिन पहले ग्राम्य-अनूप जल से स्वेदित या कथित मासरस, दूध, दही, उड़द, तिल, मास, शाक आदि प्राय द्रव पदार्थों को पिलाकर जिसके कफ को उत्क्लेशित (स्थान से विचलित) कर दिया गया है, जो रात में अच्छी तरह सोया है, जिसका प्रथम दिन का किया हुआ आहार भलीभाति पच गया है, जिसने स्नान और अनुलेपन किया है, श्रेष्ठ वस्त्र और पुष्पमाला धारण की है, देवता, अग्नि, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध तथा वैद्य का जिसने पूजन किया है, होम-बलि-मङ्गल-प्रायश्चित्त एव स्वस्तिवाचन कराया है, उस समान जानुओं के बल तकिए के सहारे बैठे हुए, निरन्न (निराहार) या किञ्चित् स्नेहपान किए हुए, यवागू सहित घृतपान किए हुए रोगी को तथा यदि रोगी डरपोक, कृश, बाल, वृद्ध एव सुकुमार हो तो उन्हें आकण्ठ (कण्ठ तक) दोषानुसार दूध, छाछ, यूषरस, ईख का रस, मासरस, मद्य, तुषोदक, यवागू, मण्ड इनमें से किसी एक को पिलाकर व्याधि-दोष-दूष्य आदि का अच्छी तरह विचार करके शुभ नक्षत्र-तिथि-करण-मुहूर्त मे प्रात काल में रोगी के अनुकूल शहद और सैन्धवलवणयुक्त, सुखोष्ण (किञ्चित उष्ण) ऐसी ओषधि-मात्रा को ब्राह्मणों के आशीर्वाद से अर्थात्—'ब्रह्मा, दक्षप्रजापति, अश्विनीकुमार, शिवजी, इन्द्र, भूमि, चन्द्र, सूर्य, वायु, अग्नि, सब ओषधियों को लिए महर्षिगण तथा सब प्राणी तुम्हारी रक्षा करें तथा तेरे लिए प्रयुक्त की जानेवाली यह ओषधि की मात्रा महर्षियों के रसायन की

१ श्व छर्दितव्यमिति। २ सोपधानो।

१ दोषानुरोधेन। २ वैडूर्य।

तरह, देवताओं के अमृत की तरह तथा श्रेष्ठ नागों की सुधा के तुल्य फल देनेवाली हो, इस आशीर्वादात्मक मन्त्र से अभिमन्त्रित करके और इसी प्रकार ॐ नमो भगवते भैषज्य गुरवे वैडूर्यप्रभराजाय तथागतायार्हते सम्यक्सम्बुद्धाय' तथैव—'भैषज्ये भैषज्ये महाभैषज्ये भैषज्यसमुद्गते स्वाहा' इन मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके उत्तरमुख या पूर्वमुख बैठे हुए रोगी को पिलावे।

विशेष वक्तव्य—ध्यान रहे कि यहा वमनविरेचनार्थ जो 'अथ साधारणे काले' अर्थात् दोषानुसार पूर्वोक्त साधारण काल (वसन्त-प्रावृट्-शरद् ऋतु और इनमे भी चैत्र-श्रावण-कार्तिक मास) का जो निर्देश किया है, उसे स्वस्थ मनुष्य के लिए जानना चाहिए अर्थात् यदि स्वस्थ पुरुष दोषनिर्हरण करना चाहे तो वह इस साधारण काल मे ही करे किन्तु तात्कालिक रोगी के लिए यह नियम नहीं है। उसके लिए तो जब व्याधि की प्रबलता हो तभी उसके दोषों का संशोधन कर देना चाहिए क्योंकि रोग की उपेक्षा को जायगी तो उसके बढ़ जाने का भय होता है। ओषधिमात्रा को अभिमन्त्रित करने के लिए आचार्य ने यहा जो—'ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रादि, तथा 'ॐ नमो भगवते, आदि दो प्रकार बताए है वे क्रम से वैदिक तथा बौद्धमतावलम्बियों के लिए है'। साराश, वैदिक मतवाले औषधिमात्रा को 'ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रादि' मन्त्रों से और बौद्धमतवाले 'ॐ नमो भगवते' आदि मन्त्रों से अभिमन्त्रित करे।

पीतवा[3]नूरुन्यस्तभुजो वमनानुगतमानसोऽग्नितप्तै पाणिभिरुपतप्यमानो मुहूर्त्तमनुपालयेत्। स यदा जानीयात्स्वेदप्रादुर्भावेन दोष प्रविलयमापद्यमान रोमहर्षेण वा स्थानेभ्य' प्रविचलित कुक्ष्याध्मानेन च कुक्षिमनुसृत क्रमात् हृदयोपमर्दहृल्लासास्यसस्रवणै-श्चोर्ध्वमभिमुखीभूतम्। स[4]मुपस्थितानेकप्रतिग्राह पार्श्वललाटोपग्रहेण, नाभिप्रपीडनेन पृष्ठप्रतिलोममर्दनेन च प्रवृत्ताव्यपत्रपाणीयपु[5]रुषो विवृतौष्ठतालुकण्ठो नातिमहता व्यायामेन वेगानुदीरयन्नाप्रवृत्तान् प्रवर्तयन् प्रवृत्ताश्चानुवर्तयन् [illegible] लीभ्यामुत्पलकुमुदैरण्डनालैर्वा कण्ठमभि[6][illegible] [illegible] नात्युन्नतो नात्यवनत. पार्श्वापवृत्तो वा। तत्रात्युन्नतस्य पृष्ठहृदय पीडा भवति। अत्यवनतस्य शिर कोष्ठपीडा। पार्श्वापवृत्तस्य पार्श्वकोष्ठहृदयोर्ध्वजत्रुपीडेति।

वमनौषधपान के पश्चात्कर्म—जिसने वमन-ओषधि का पान किया है, उसको चाहिए कि वह औषधपान के बाद अपनी जानुओं पर दोनों भुजाओं को रखता हुआ, वमन मे मन लगाकर, अपने हाथों को अग्नि से तपाकर एक मुहूर्त्त अर्थात् कच्ची दो घडी (४८ मिनिट) तक वमन की प्रतीक्षा करे। उसे ज्ञान हो जाय कि पसीने आए हैं तो दोष पिघलने लगे है, रोमहर्ष से जान जाय कि दोष अपने स्थानों से प्रचलित हो रहे हैं और इसी प्रकार पेट मे आध्मान होने से जान ले कि दोष कुक्षि (पेट) मे आ गए है तथा हृदयोपमर्द, इसके बाद उबकाई और उबकाई के बाद मुह से पानी छूटना-लारों का बहना ये एक के बाद एक दिखाई दे तो समझ लेना चाहिए कि दोष पेट से ऊपर की ओर उठकर वमन द्वारा निकलना ही चाहते है तो पास मे रखे हुए अनेक प्रतिग्राह (पीकदान) वाला वह रोगी, अथवा पीकदान पकडनेवाले अपने निर्यन्त्रण-निश्शङ्क सेवकों से पसवाडे तथा मस्तक को पकडाकर, नाभि को मसलाकर, पीठ को उल्टा वमन की ओर मर्दन कराकर होंठ, तालु तथा गले को फाड़कर या फैलाकर अति परिश्रम करके नही, किन्तु धीरे धीरे वमन के वेगों को बाहर लाता हुआ, अप्रवृत्त वेगों को हठात् या बलात् बाहर न निकालता हुआ, आते हुए वमन के वेगों को भलीभाति बाहर लाता हुआ, अच्छी तरह से कटाए हुए नखोंवाली दो अङ्गुलियों से अथवा कमल, कुमुद एव एरण्ड के नाल से कण्ठ को स्पर्श कराता हुआ, न अति ऊचा होकर और न अति नीचा झुककर वमन करे तथा न एक पसवाडे की ओर झुककर ही वमन करे। इसलिए कि अति ऊचा होकर वमन करने से पीठ और हृदय मे पीडा होती है, अति नीचा झुक कर वमन करने से सिर और पेट आदि में पीडा होती है तथा पसवाडे, की ओर एक तरफ झुककर वमन करने से पसवाडे, कोष्ठ, हृदय (छाती) और ऊर्ध्वजत्रु (कण्ठ, मुख, नासिका, कान, नेत्र और मस्तक) मे पीडा होती है।

एव क[2]टुतीक्ष्णै कफे छर्दयेत्। स्वा[3]दुभि पित्तयुते। अम्लै सस्नेहैरनिलसंसृष्टे। याव[4]त्कफच्छेद, केवलौषधप्रवृत्ति पित्तदर्शन वा। हीनवेगस्तु पिप्पल्यामलकसर्षपकल्कलवणोष्णोदकै पुन पुन प्रवर्तयेत्।

वमनवेग के अयोग का लक्षण—औषध पीने पर भी वमन का न होना दोष के बिना केवल पान किये हुए औषध का बाहर निकलना अथवा विबन्धों वेगानाम् (बिलकुल थोडा थोडा वेगों का आना) ये वेगों के अयोग के लक्षण है। इस प्रकार वमन के वेगों का अयोग होने से अरोचक, गौरव (जड़ता), आध्मान (पेट का फूलना), कण्डू, स्फोट, कोठ (शरीर पर काले-लाल मण्डलों का उठना), आलस्य, शूल, प्रतिश्याय, रोमहर्ष, प्रसेक (मुँह से लारों का गिरना), शोथ, शीतज्वर आदि विकार होते है।

योगलक्षण पुन. काले क्रमात्कफपित्तानिलप्रवृत्ति र्नातिमहती व्यथा स्वय चावस्थान ततश्च स्वस्थता मन-प्रसाद स्वरविशुद्धिररोचकादिवैपरीत्य च।

वमनवेग के योग का लक्षण—वमनवेग के सम्यक् योग में काल अर्थात् वमनौषधपान के एक मुहूर्त्त के बाद क्रम से

१ 'साधारण इति स्वस्थवृत्तोपलक्षणम्। आतुरवृत्त तु व्याध्या-दिवशाद्वमनमाचरेत्।' २ 'ब्रह्मेत्याद्यभिमन्त्रितामिति। ब्रह्मेत्यादिर्वेदवादिना मन्त्र। ॐनमो भगवत इत्यादि सौगतानामित्यादीन्दु।' ३ तत पीतवान् ४ अथ समुपस्थितानेक ५ प्रवृत्तव्यपत्रपणीय ६. कण्ठमनभिस्पृशन् कण्ठमभिमृशन्

१ 'प्रतिग्राह पतद्ग्रह' इत्यमर। २ कटुतीक्ष्णोष्णै ३ स्वादुभिर्हिमैश्च। इत्यादिपाठान्तराणि। ४ 'यावत्प्रथममेव, कफक्षीणस्तावद्यत्नेनाङ्गुल्यादिना छर्दयेत्।' इतीन्दु

[पृ० २४० के दूसरे कालम के पङ्क्ति ३० (मूल 'पुन पुन प्रवर्तयेत्') के आगे १४ पङ्क्तियाँ तथा टिप्पणी सख्या ४ यह भ्रम से आगे का पाठ चला गया है जो (इसी २४१ पृ० में) यथा स्थान सन्निवेशित है अत कृपया वहा उसे न पढ़ें]

प्रभूतवमनासहिष्णुद्व्यहं त्र्यहं वा विश्रम्य । असात्म्यबीभत्सदुर्दर्शदुर्गन्धानि वमनानि विदध्यात् विपरीतानि तु विरेचनानि। सर्वेषु च वमनेषु सैन्धव मधु च विदध्यात्कफविलयनविच्छेदनार्थम् । वेगाश्चास्य प्रतिग्राहगतानवेक्षेत ।

दोषानुरोध से वमनौषध—इस प्रकार केवल कफ में कटु रसवाले तथा तीक्ष्णोष्ण गुणवाले द्रव्यों से वमन करावे, पित्तयुक्त कफ मे मधुर रसवाले तथा शीत गुणवाले ओषधियों को सेवन कराकर वमन करावे और वायु-युक्त कफ मे अम्लरसप्रधान एव स्नेहनगुणप्रधान द्रव्यों को मिला सेवन कराकर वमन करावे ।

इस प्रकार वमन करते हुए जबतक कफ का नाश न हो जाय तबतक अङ्गुली आदि कण्ठ में डालकर वमन करता रहे। कफ का ह्रास हो जाने के अनन्तर जबतक केवल ओषधिमात्र के वमन में दर्शन न हों तबतक तथा इसके अनन्तर भी जबतक केवल पित्त निकला हुआ वमन में न दिखाई दे, तबतक वमन करे किन्तु यह सब व्याधि, दोष दूष्यादि के बलाबल का विचार करके करे ।

हीनवेग में कर्त्तव्य—वमन का हीन वेग हो, अर्थात् अच्छी तरह से वमन न होता हो तो पीपल, आमला, सरसों का कल्क, नमक और गरम पानी पिलाकर बारबार वमन की प्रवृत्ति हो, ऐसा प्रयत्न करे ।

दो या तीन दिन के अन्तर से वमन—अधिक वमन न सह सकता हो तो दो दिन या तीन दिन बीच में विश्राम लेकर वमन करे। नहीं तो वमनव्यापत्ति का सम्भव होता है।

वमन और विरेचन में ओषधिवैपरीत्य—वमन के लिए असात्म्य (जिसे अपनी आत्मा न मानती हो), बीभत्स (जिसको देखने से घृणा प्राप्त होती है), दुर्दर्श (जिसे देखना अभीष्ट न हो) तथा जो दुर्गन्ध हो, ऐसे पदार्थों की वमन में योजना करनी चाहिए। इस लिए कि वमन की अधिकाधिक प्रवृत्ति हो। विरेचन में इससे विपरीत अर्थात् जो सात्म्य, निर्घृण, शुभदर्शन तथा सुगन्धित हो ऐसे पदार्थों की योजना करनी चाहिए। ध्यान रहे कि वमन में प्रयोज्य पदार्थों से वैपरीत्यदर्शनार्थ यद्यपि यहा विरेचनार्थ अन्य पदार्थों के साथ सात्म्य का भी निर्देश किया गया है परन्तु आगे इसी अध्याय के अन्त में विरेचन मे सात्म्य का निषेध किया गया है।

वमन में सैन्धव और मधु की प्रधानता—सब अर्थात् केवल कफ, पित्तयुक्त तथा वातयुक्त कफ में दिए जाने वाले वमनों में कफ को पतला कर बाहर निकालने के लिए सैन्धा नमक और शहद की योजना आवश्यक है। वमन के वेगों का निश्चय प्रतिग्राहगत (पीकदान में पडे हुए) वामित कफ को देखकर करना चाहिए ।

तत्राप्रवृत्ति केवलस्य वा भेषजस्य प्रवृत्तिर्विबन्धो वा वेगानामयोगलक्षणम् । ततश्चारोचकगौरवाध्मानकण्डूस्फोटलोठालस्यशूलप्रतिश्यायलोमहर्षप्रसेकशोफशीतज्वरादय ।

वमनवेग के अयोग का लक्षण—औषध पीने पर भी वमन का न होना दोष के बिना केवल पान किये हुए औषध का बाहर निकलना अथवा विबन्धो वेगानाम् (बिलकुल थोडा थोड़ा वेगों का आना) ये वेगों के अयोग के लक्षण है। इस प्रकार वमन के वेगों का अयोग होने से अरोचक, गौरव (जडता), आध्मान (पेट का फूलना), कण्डू, स्फोट, कोठ (शरीर पर काले-लाल मण्डलों का उठना), आलस्य, शूल, प्रतिश्याय, रोमहर्ष, प्रसेक (मुँह से लारों का गिरना)' शोथ, शीतज्वर आदि विकार होते है।

योगलक्षण पुन काले क्रमात्कफपित्तानिलप्रवृत्तिर्नातिमहती व्यथा स्वय चावस्थान ततश्च स्वस्थता मन - प्रसाद स्वरविशुद्धिररोचकादिवैपरीत्य च ।

वमनवेग के योग का लक्षण—वमनवेग के सम्यक् योग में काल अर्थात् वमनौषधपान के एक मुहूर्त्त के बाद क्रम से कफ, पत्ति और वायु की प्रवृत्ति होती है। शरीर में स्वल्प व्यथा होती है तथा स्वय वेगों का अवरोध होता है अर्थात् वेगावरोध के लिए किसी स्तम्भन ओषधि के देने की आवश्यकता नहीं होती। वेगावरोध के अनन्तर स्वस्थता प्रतीत होती है। मन प्रसन्न होता है। स्वर विशुद्ध होता है तथा पहले अयोग में वर्णित अरोचकादि के विपरीत अर्थात् अन्न में रुचि, लघुता-शरीर में फुर्ती आदि लक्षण होते हैं।

अतियोगे तु फेनिलरक्तचन्द्रिकोद्गमनम् । ततश्च क्षामतास्वरक्षयदाहकण्ठशोषभ्रममोहोन्मादमूर्च्छाशिर - शून्यताहृद्धूमायनगात्रशूलसुप्तितृष्णोर्ध्वानिलप्रकोपकर्णशूलार्दितवाक्सङ्गहनुसहननजिह्वाप्रवेशनिर्गमाक्षिव्यावृत्तिविसज्ञतानिद्राबलाग्निहानयो भवन्ति। जीवशोणितप्रवृत्त्या मरण वा । एषा सिद्धिषु साधन वक्ष्यते।

वमनवेग के अतियोग के लक्षण—वमन का अतियोग हो जाने पर मयूरपिच्छ के सदृश, फेनसहित रक्त का वमन होता है और इसके अनन्तर अत्यन्त दुर्बलता, स्वरभेद या स्वर का न निकलना, दाह, कण्ठ सूखना, भ्रम, वैचित्य, उन्माद, मूर्च्छा, सिर में शून्यता, हृदय (छाती) मे धुँवें उठना, शरीर में पीडा, स्पर्श का ज्ञान न होना, तृष्णा, ऊर्ध्व वात-ऊर्ध्वश्वास का प्रकोप, कर्णशूल, अर्दित (मुह का टेढ़ा हो जाना), जिह्वास्तम्भ, हनुस्तम्भ, जीभ का भीतर घुस जाना या बाहर निकलना, आँखें फटना, सज्ञा का नाश, निद्रा, बल और अग्नि का नाश ये लक्षण होते हैं। इतना ही नहीं, जीवशोणित (शरीर-इन्द्रिय-मन और आत्मा के सयोग

१ 'यावत्प्रथममेव कफ क्षीणस्तावद्यत्नेनाङ्गुल्यादिना छर्दयेत् ।' इतीन्दु । २ अप्रवृत्त्या मलान् द्रव्य सात्मीभूत हि जीर्यति । वमन वा विरेक वा तस्मात्सात्म्य न योजयेदिति ।

के आश्रय में रहनेवाला विशुद्ध रक्त या[1] ओज) के बाहर निकलने के कारण मरण तक हो जाता है। इन सबके उपाय आगे सिद्धि मे अर्थात् कल्पस्थान के वमनविरेचनव्यापत्सिद्धि से 'वमनातियोगे' इत्यादि ग्रन्थ से विशेषत वर्णन करेंगे[2]।

योगेन तु ख[3]ल्वेन छर्दितवन्त सुविशोधितपाणिपादमुख मुहूर्त्तमाश्वास्य धूमयत्रस्यान्यतम सामर्थ्यत पाययित्वा पुनरुपस्पृष्टोदक समानितसुरभिताम्बूल निवातागारशय्यास्थित स्नेहोक्तेनाचारविधिनाऽनुशिष्यात् ।

सम्यग्योग के बाद कर्त्तव्य—सम्यक् योग से वमन किए हुए रोगी को चाहिए कि वह हाथ, पग और मुख को अच्छी प्रकार से शुद्ध कर, एक मुहूर्त्त भर ठहरकर, रोगी के बलाबल को देखकर धूमत्रय (मृदु, मध्य, विरेचन अथवा स्निग्ध, मध्य, तीक्ष्ण) इनमें से किसी एक का पान कराकर पुन जल के स्पर्श से हाथ, पग और मुख को शुद्धकर सुगन्धित ताम्बूल का सेवन कराकर, जहा वायु न हो ऐसे घर में शय्या-पर स्थित रोगी को स्नेहविधि मे वर्णित आचारविधि का (उष्णोदकपान, ब्रह्मचर्य, रात्रिशयन आदि विधि का) उपदेश करे।

ततोऽग्निबलमवेक्ष्य क्षुध च सायाह्ने[6] सुखोदक परिषिक्त पुराणाना रक्तशालितण्डुलाना सुसिद्धमन्नमस्नेहलवणकटुकमल्पस्नेहलवणकटुक वा द्रवप्रायमुष्णोदकानुप्राय सायप्रातरुपयुञ्जानो विधिमिममवेक्षेत।
पेया विलेपीमकृत कृत च यूष रस त्रीनुभयं तथैकम्।
क्रमेण सेवेत नरोऽन्नकालान् प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्ध ॥

सशुद्ध रोगी को पथ्यसेवन प्रकार—सम्यक् सशोधन हो जाने पर क्षुधित रोगी के अग्निबल को निरीक्षणकर सुखोदक (सुहाने योग्य कदुष्ण जल) से स्नानादि कराकर अग्नि बलवान् हो तो उसी दिन सायकाल मे तथा अग्निबल स्वल्प हो तो दूसरे दिन पुराने रक्तशालि चावलों का भली भाति सिद्ध किया हुआ अन्न स्नेहरहित (घृतादि की चिकनाई से रहित) लवण कटुक (नमकीन चरपरा) या अल्प स्नेह सहित नमकीन और चरपरा, प्राय द्रव (पतला), जिसके बाद उष्णोदक पान किया जावे ऐसा भोजन सायकाल एव प्रात काल में करावे। इस प्रकार भोजन करनेवाला निम्न लिखित विधि का पालन करे।

पथ्यसेवन का क्रम—उपर्युक्त प्रधान, मध्य और अवरशुद्धि से शुद्ध मनुष्य पेया, विलेपी, अकृतयूष, कृतयूष और मास रस इन पाचों का तीनों कालों में, दोनों कालों में तथा एक ही काल में क्रम से सेवन करे। इस कथन का भावार्थ यह है कि यद्यपि भोजन के मुख्य काल दो ही हैं तथापि जो आगे कही जानेवाली प्रधान शुद्धि द्वारा शुद्ध हुआ हो, वह पहले दिन केवल एक सायकाल में पेया का सेवन करे। दूसरे दिन दोनों कालों मे अर्थात् प्रात और सायकाल में पेया का सेवन करे। इस प्रकार तीन कालों में पेया का उपयोग होता है। इसके बाद तीसरे दिन दोनों अन्नकालों अर्थात् प्रात और सायकाल में विलेपी की योजना करे तथा चौथे दिन केवल प्रात काल मे ही विलेपी की योजना करे। इस प्रकार तीन अन्नकालों में विलेपी का उपयोग होता है। चौथे दिन केवल सायकाल मे अकृतयूष (स्नेहादिरहित यूष) की योजना करे और फिर पाचवे दिन दोनों प्रात और सायकाल में अकृतयूष की योजना करे। इस प्रकार अकृतयूष का उपयोग तीनों कालों में हो जाता है। छठे दिन दोनों अन्नकाल अर्थात् प्रात काल और सायकाल में कृतयूष (स स्नेहादि यूष) की योजना करे और सातवें दिन केवल एक प्रात काल में कृतयूष पिलावे। इस प्रकार कृतयूष का उपयोग होता है। सातवे दिन केवल एक सायकाल में मासरस की योजना करे और आठवें दिन प्रात साय दोनों काल मासरस की योजना करने से मासरस भी तीनों कालों में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार यह प्रधान शुद्धि द्वारा शुद्ध का तीनों कालों मे पेया आदि पाचों का सेवनक्रम हुआ।

इसी प्रकार मध्यम शुद्धि द्वारा शुद्ध के लिए पेयादि प्रत्येक का प्रत्येक दिन दोनों कालों मे सेवन कराना चाहिये अर्थात् प्रथम दिन दोनों (साय प्रात) कालों में पेया, दूसरे दिन दोनों कालों में विलेपी, तीसरे दिन दोनों कालों मे अकृत यूष, चौथे दिन दोनों कालों में कृतयूष और पाचवें दिन दोनों कालों में मासरस की योजना करना चाहिये।

तथैव स्वल्पशुद्धि द्वारा शुद्ध के लिए प्रत्येक दिन केवल एक ही काल में चाहे वह प्रात काल हो चाहे सायकाल, दिन मे एक ही बार पेया, विलेपी, अकृत यूष, कृतयूष और मासरस की क्रम से योजना करनी चाहिए।

यथाऽणुरग्निस्तृणगोमयाद्यै सधुक्ष्यमाणो भवति क्रमेण।
महान् स्थिर सर्वपचस्तथैव शुद्धस्य पेयादिभिरन्तरग्नि[1] ॥

सशोधन का फल—जिस प्रकार बाह्य अग्नि का अत्यल्प अणुमात्र कण तृण, गोमय (सूखे गोबर के कण्डे), वृक्षों की पत्तियों आदि से धुखाने (सुलगाने) पर क्रम से महान्, स्थिर (चिरस्थायी) तथा सर्वपच (सबको पकाने वाला) होता है, ठीक इसी प्रकार मनुष्य की अन्तराग्नि (जठराग्नि) पेयादि उत्तरोत्तर गुरु इन्धन को पाकर स्वल्प से महान्, महान् से स्थिर और स्थिर से सर्वपच (किए हुए सब आहार को पचानेवाली) हो जाती है। यहा बाह्य अग्नि को सुलगाने के लिए जैसे पहले तृण, हल्का इन्धन और तदनन्तर गोमयादि (तृण से उत्तरोत्तर गुरु) इन्धन कहा है तथैव स्वल्प जठराग्नि के लिए पहले हलके तृण की तरह पेया और फिर गुरु गोमयादि की तरह विलेपी, कृताकृत यूष और मासरस का निर्देश किया गया है।

ऊपर 'प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्ध'—अर्थात् प्रधान शुद्धि,

१ जीवशोणित शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसयोगाश्रय विशुद्ध शोणित मिति डल्हन । जीवशोणितम्—ओज इति हेमाद्रि । २ सिद्धिषु कल्पस्थाने वमनविरेचन व्यापत्सिद्धौ वक्ष्यते विशेषेण तु वमनाति योग इत्यादिना ग्रन्थेन । इतीन्दु । ३ खल्विमम् । ४ स्नेहोक्तेनाहारविधिना। ५ धूमत्रयस्यान्यतम मृदु मध्य विरेचन वेतीन्दु । हेमाद्र्यरुणौ तु स्निग्ध मध्य तीक्ष्ण चेति । ६ सायाह्ने अपरे वाह्नि ।

१ रन्तराग्नि ।

मध्यम शुद्धि और अल्पशुद्धि से शुद्ध रोगी का उल्लेख किया गया है परन्तु यह नहीं बताया गया कि प्रधानशुद्धि, मध्यम शुद्धि या स्वल्पशुद्धि किसे कहते हैं अर्थात् क्रमश इनके लक्षण क्या हैं ? इसके स्पष्टीकरणार्थ आचार्य कहते हैं कि—

जघन्यमध्यप्रवरे तु वेगाश्चत्वार इष्टा वमने षडष्टौ।
दशैव ते द्वित्रिगुणा विरेके प्रस्थस्तथा स्याद् द्विचतुर्गुणश्च॥

स्वल्प, मध्य और प्रधानशुद्धि का स्पष्टीकरण—वमन-विरेचन मे स्वल्प, मध्यम तथा प्रधान शुद्धि वमन एव विरेचन के वेगों पर निश्चित की गई है। जिसमें वमन के ४ वेग (चार बार वमन) होते हैं, वह जघन्य-अवर या स्वल्प शुद्धि है। जिसमें ६ वेग होते है, वह मध्यमशुद्धि है तथा जिसमें वमन के ८ वेग होते हैं, उसे प्रधान या प्रवर शुद्धि कही है। इसी प्रकार जिस विरेचन मे १० वेग (दस्त) होते हैं, वह स्वल्पशुद्धि है, द्वित्रिगुणा अर्थात् जिसमें २० वेग या दस्त होते हैं, वह मध्यमशुद्धि है और जिसमें ३० वेग (दस्त) होते हैं वह विरेचन की प्रधानशुद्धि है। बाहर निकले हुए मल के तोल पर भी स्वल्प, मध्य तथा प्रधान शुद्धि का निश्चय किया जाता है, जैसे कि विरेचन द्वारा बाहर आया हुआ मल तोल में एक प्रस्थ हो तो स्वल्पशुद्धि, दो प्रस्थ हो तो मध्यमशुद्धि और चार प्रस्थ हो तो वह प्रधान शुद्धि कही जाती है।

ध्यान रहे कि यहा प्रस्थ का मान ३२ पल का नहीं है, अपितु १३॥ तेरह पल का है। बुद्धिमानों ने कहा है कि 'वमन में, विरेचन मे और इसी प्रकार रक्तमोक्षण में प्रस्थ का मान १३॥ पल का मानना चाहिये।

पित्तावसान वमन विरेकादर्द्ध कफान्त च विरेकमाहु।
द्वित्रान्सविट्कानपनीयवेगान्मेय विरेके वमने तु पीतम्॥

वमन-विरेचन की प्रवराप्रवरता का प्रमाण—जिसके अन्त में पित्त निकले वह वमन श्रेष्ठ कहा है और इसी प्रकार जिस विरेचन के अन्त में कफ निकले वह श्रेष्ठ जानना चाहिये। भावार्थ यह है कि वमन में प्रथम मल, फिर कफ और फिर पित्त का आना श्रेष्ठ है और विरेचन में प्रथम मल, फिर पित्त और फिर अन्त में कफ का निकलना श्रेष्ठ होता है। वमन द्वारा निकले हुए मल का प्रमाण विरिक्त मल से आधा होना चाहिए। अर्थात् विरेचन का प्रमाण ऊपर कह आए हैं कि विरिक्त मल क्रम से एक, दो और चार प्रस्थ (सेर) कनिष्ट, मध्य और श्रेष्ठ होता है। वमन की कनिष्ठता, मध्यता और श्रेष्ठता इससे आधे प्रमाण मे कही गई है अर्थात् वान्तमल आध सेर हो तो कनिष्ठ, एक सेर हो तो मध्य तथा दो सेर हो तो श्रेष्ठ है।

वमन-विरेचन की मापविधि—वमन के वेगों की गणना पिए हुए औषध के निकल जाने के बाद करनी चाहिए तथा विरेचन के वेगों की गिन्ती पहले मल (पुरीष) सहित आनेवाले दो तीन दस्तों को छोड़ कर करनी चाहिए।

१ प्रस्थोऽत्र न द्वात्रिंशत्पल। 'वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे। सार्धत्रयोदशपल प्रस्थमाहुर्मनीषिण।' इति हेमाद्रि।
२ पीतमिति।

अथ वमितवन्त पुनरेव स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्य श्वो विरेचयितव्य इति सुजरमश्लेष्मल स्निग्ध फलाम्लमुष्णमुष्णोदकानुपान जाङ्गलरसौदन भोजयेत्। तत सुखोषित पूर्वोक्तेन विधिनाऽतीतश्लेष्मकाले निरन्न विभज्य कोष्ठ यथार्हौषधमात्रा पाययेत्। न त्वकृतवमनमन्यत्रातिक्रूरकोष्ठात्। अकृतवमनस्य हि श्लेष्मणोपहतमौषधमूर्ध्व प्रवर्तते। उरसि वाऽवरुद्धमवतिष्ठते। ततो नाल विरेकाय। सम्यग्विरिक्तस्यापि चाध स्रस्त श्लेष्मा ग्रहणीं छादयित्वा गौरवमापादयति प्रवाहिका वा। न त्वेष दोषोऽतिक्रूरकोष्ठस्य वाय्वात्मकत्वात्।

विरेचनविधि—जिसको कल विरेचन कराना है तो उसके एक दिन पहले वमन कराए हुए रोगी को पुन स्नेहन-स्वेदन कराकर ऐसा जाङ्गलरसौदन=जाङ्गल मासरससहित भात का भोजन करावे जो सुजर (सुख से जल्दी पचनेवाला), जो कफकारक न हो, स्निग्ध हो, दाडिमादि फलों द्वारा अम्ल किया हुआ, उष्ण और जिसके अनन्तर उष्ण जल का पान किया हो। इस प्रकार का भोजन करके रात को सुख से सोया हो उसे दूसरे दिन पूर्वोक्त मङ्गल-स्वस्तिवाचनादि विधि करके, कफकाल के बीतने पर अर्थात् दिन का तृतीयाश जाने पर पूर्वाह्न मे निरन्न (जिसने अन्न न खाया हो) रोगी को उसके मृदु-मध्य-क्रूर कोष्ठ का भलीभाति विचार करके उसके योग्य विरेचन-ओषधिमात्रा का उसे पान करावे। ध्यान रहे कि अतिक्रूर कोष्ठवाले को छोड़ कर मृदु-मध्य कोष्ठवाले रोगी को पहले वमन कराए बिना विरेचन की मात्रा न पिलावे। इसलिए कि बिना वमन कराए रोगी को दी हुई विरेचन ओषधि कफ की मारी कफ के साथ ऊपर की ओर प्रवृत्त होगी। ओषधि के ऊपर प्रवृत्त होने से उससे वमन होगा किन्तु विरेचन नहीं होगा। अथवा कफ के कारण वह वमनौषध छाती मे रुक कर पड़ी रहेगी किन्तु वह विरेचन के लिए समर्थ नहीं होगी। कदाचित् सम्यक् विरेचन होने पर भी उससे नीचे की ओर आया हुआ कफ ग्रहणी को आच्छादन करके अर्थात् ग्रहणी से लिपट कर शरीर मे गौरव (जडता) को पैदा करेगा अथवा प्रवाहिका नामक व्याधि हो जायगी। किन्तु यह दोष अधिक वायुवाले क्रूरकोष्ठ में नहीं होता। वायु करके कफ आप ही शुष्क हो जाता है। इसीलिए क्रूर कोष्ठवाले के विरेचन के पहले वमन का निषेध किया गया है।

श्लेष्मकाले त्वकृतवमनदोषा शूलाध्मानगौरवाणि वा कृत्वा छर्दिर्दीणे श्लेष्मण्यपराह्णे रात्रौ वा विरेचयेत्। तेनान्नावृतमपि तुल्यम्। छर्दिं च पुनस्तज्जनयति। अविरिक्तस्य तु श्लेष्मकाले च वमन निरन्न योज्यम्। तथोर्ध्वं सुखेन निर्हरणात्।

कृतवमन को भी कफकाल में विरेचनौषधनिषेध—प्रथम वमन दिए हुए रोगी को भी कफ के काल में (सूर्योदय से लेकर दिन के तृतीयाश काल तक अर्थात् अनुमान १० घटिका या १० बजे तक) विरेचन की ओषधि नहीं देनी चाहिए

१. बिधिनाऽतीते श्लेष्मकाले।

क्योंकि बिना वमन कराए विरेचन-ओषधि देने में जो दोष कहे है वे इसमे भी होंगे अर्थात् कफ से मिल कर वमनौषधि की प्रवृत्ति ऊपर की ओर होकर उससे वमन होगा किन्तु विरेचन नहीं होगा अथवा वह ओषधि कफ से अवरुद्ध होकर छाती में पड़ी रहेगी। इतना ही नहीं, वमन कराए हुए को भी कफकाल मे दी हुई वमनौषधि शूल, आध्मान (अफारा) तथा जड़ता को लाकर पहले वमन से क्षीण हुए कफ के कारण अपराह्ण (तीसरे प्रहर) या रात मे विरेचन करेगी अर्थात् उसे तीसरे पहर या रात मे दस्त होंगे। कफ-काल मे सेवन किया हुआ यह विरेचन अन्नावृत विरेचन के समान होगा अर्थात् अन्नाहार करने के बाद सेवन किया हुआ विरेचन जैसे दस्त न लाकर वमन कराता है अथवा तीसरे प्रहर दिन में या रात में दस्त लाता है, ठीक यही बात इस कफकाल में सेवन किए विरेचन मे होगी। तात्पर्य यह है कि जिसको विरेचन न दिया गया हो, ऐसे रोगी को निरन्न (निराहार पेट) कफकाल में वमनौषध सेवन करना चाहिए इसलिए कि वह सुख से ऊर्ध्व भाग से कफ को निकाल देता है।

कोष्ठस्तु त्रिविधो भवति मृदुः क्रूरो मध्यश्च। तत्र बहुपित्तो मृदुः। स विरिच्यते क्षीरेक्षुरसाम्लतक्रमस्तुगुडकृशरासर्पिर्नवमद्योष्णोदकपीलुद्राक्षापूगफलादिभिरपि। बहुवात क्रूर स दुर्विरेच्यस्त्रिफलातिल्वकत्रिवृन्नीलिनीफलादिभिबहुश्लेष्मा समदोषश्च मध्य स साधारण। ये च स्निह्यन्त्यच्छपानेन प्रायशस्त्रिसप्तपञ्चरात्रैरिति।

कोष्ठ के तीन प्रकार—कोष्ठ तीन प्रकार का होता है जैसे कि मृदु, क्रूर और मध्यकोष्ठ।

मृदुकोष्ठ के लक्षण—मृदुकोष्ठ उसे कहते है जिसमें पित्त की अधिकता रहती है और दूध, ईख का रस, खट्टी छाछ, मस्तु (दही का तोड) गुड, कृशरा (तिल-चावल आदि से सिद्ध की हुई खिचड़ी), घृत, नवीन ताजा मद्य, गरम जल, पीलु (जाङ्गल देश के पीलु या जालवृक्ष के फल), द्राक्षा (मुनक्का) तथा सुपारी आदि (अमलतास आदि) के सेवन से जिसे विरेचन हो जाता है।

क्रूरकोष्ठ के लक्षण—जिसमें वायु की अधिकता होती है, उसे क्रूरकोष्ठ कहते है। क्रूरकोष्ठ पुरुष दुर्विरिच्य होता है अर्थात् उसे विरेचन बड़ी कठिनाई से होता है और होता भी है तो वह त्रिफला, तिल्वक (लोध या लोध के आकार का रक्तछाल वाला विरेचक वृक्ष), निशोत, नीलिनी फल अर्थात् नील के बीज किन्तु हमारे मत से बृहद्दन्ती (जयपाल-हब्बुल् नील यूनानी) आदि (कम्पिल्लक, थूहर आदि) से होता है।

मध्यकोष्ठ के लक्षण—मध्यकोष्ठ वह है जिसमें कफ की बहुलता रहती है अथवा जो समदोष वाला होता है। यह विरेचन मे साधारण होता है अर्थात् न दुर्विरेच्य ही होता है और न मृदुकोष्ठवत् सुखविरेच्य रहता है। भावार्थ यह है कि इसका विरेचन मृदु और क्रूरकोष्ठ मे कहे हुए पदार्थों के मिश्रीभाव से होता है।

प्रकारान्तर से मृदु आदि कोष्ठो की पहचान—अच्छस्नेह के पान कराने से जिसका स्नेहन तीन दिन में होता है वह प्राय मृदुकोष्ठ होता है। जिसका अच्छस्नेहपान से ७ दिन में स्नेहन होता है वह क्रूरकोष्ठ है और जिसका स्नेहन ५ दिन मे होता है वह मध्यकोष्ठ है।

तत्र कषायमधुरद्रव्यै पित्ते विरेचनम्। मूत्रकटूष्णै कफे। स्निग्धोष्णलवणैर्वाते। पीतमात्र एव चौषधे छर्दिविघाताय शीताम्बुना मुखमस्य सहसा सिञ्चेत्। ततश्चोष्णोदकेन सोऽन्तर्मुखं विशोध्यार्द्रसुरभिमृन्मातुलुङ्गजम्बीरसुमन सौगन्धिकादिहृद्यगन्धानुपजिघ्रेत्। निवातसुखशय्यास्थितश्चाविबन्धार्थमल्पाल्पमुष्णोदकमनुकण्ठयंस्तन्मना वेगांश्च धारयन् ईरयमाणश्च शय्यासन्ने प्रतिग्राहेऽशीतस्पृशा विरिच्येत। यथा च वमने स्वेदप्रसेकौषधकफपित्तानिला क्रमेण प्रवर्तन्ते तथा विरेचने वातमूत्रपुरीषपित्तकफा। पुनश्चान्ते वायु। दोषाणा हि देहे तथा सन्निवेशान्मार्गवैपरीत्याच्च शोधनयोरिति।

दोषानुरोध से विरेचन—पित्त के कोप मे कषाय और मधुर रसवाले द्रव्यों से विरेचन करावे। कफ के कोप में मूत्र (गोमूत्र), कटुरसवाले द्रव्यों तथा उष्णवीर्य ओषधियों से विरेचन करावे और यदि वायु का कोप हो तो स्निग्ध, उष्ण और लवण रसवाले औषधों से विरेचन करावे।

विरेचनौषधपान के पश्चात् कर्त्तव्य—विरेचन औषध के पान करने के बाद तुरन्त वमन न हो जाय इसलिए रोगी के मुख पर शीतल जल सिञ्चन करे या लगावे। इसके बाद उष्ण जल का किंचित् पान कर भीतर से मुख को शुद्ध कर आर्द्रसुरभि (गीली गुलाबजल आदि से सुगन्धित), गीली मिट्टी, बिजौरा, जम्बीरी निम्बु, मालती-चमेली तथा गुलाब आदि हृद्य (हृदय को हितकारी तथा मनोहर) सुगन्धियों को सूँघे और फिर निर्वात स्थान मे शय्या पर बैठकर मल का अवरोध न हो इसलिए थोड़ा उष्ण जल पान कर, अपने मन को विरेचन की ओर लगा कर, आते हुए वेगों (दस्तो) को न रोकता हुआ किन्तु वेग (दस्त) आने का प्रयत्न करता हुआ शय्या (खटिया) के समीप स्थित प्रतिग्राह (दस्त करने की जगह) मे दस्त करे। ध्यान रहे कि विरेचन-ओषधि-पान किए हुए रोगी को शीतल पदार्थों का स्पर्श नहीं करना चाहिए। इसलिए कि शीतल पदार्थ मल के अवरोध करनेवाले होते है। जैसे कि वमन मे पहले क्रम से स्वेद, प्रसेक (लार), औषध, कफ, पित्त और वायु की प्रवृत्ति होती है अर्थात् पहले पसीना आता है, फिर मुख से लार निकलती है, इसके बाद पिया हुआ औषध निकलता है फिर कफ, फिर पित्त और फिर वायु निकलता है। इसी प्रकार विरेचन मे

१ इक्षुरस। २ स्निग्धास्त्वच्छपानेन। ३ आदिशब्दग्रहणेना रग्वधादीना ग्रहणम्। इत्यरुण। ४ तिल्वको रोध्र, अन्ये तिल्वको रोध्राकारो बृहत्पत्रो रक्तत्वको वैरेचनिक इति इन्दु। ५ आदि शब्दग्रहणेन कम्पिल्लकसुधादीना ग्रहणमित्यरुण।

१ 'अनुकण्ठयन् स्तोकमात्र पिबन्' इतीन्दु।

पहले वायु (अपानवायु) निकलता है, फिर मूत्र, फिर पुरीष (मल), फिर पित्त, फिर कफ और इसके बाद पुन वायु निकलता है। वमन से वायु की प्रवृत्ति अन्त में होती है और विरेचन से इसके विपरीत पहले वायु निकलता है। यह सब दोषों की शरीर मे सन्निकटता के कारण तथा मार्ग वैपरीत्य के कारण होता है। भावार्थ यह है कि वमन मुख के द्वारा ऊर्ध्वमार्ग से होता है क्योंकि उसके समीप रहने से पहले कफ निकलता है, उसके बाद पित्त और फिर वायु निकलता है। विरेचन इसके विपरीत अधोमार्ग गुदद्वारा होता है तथा इसके समीप रहने से इसमें पहले वायु, फिर मध्य भागवाला पित्त और अन्त मे कफ निकलता है और फिर अपतर्पण के कारण वायु निकलता है। इस प्रकार यह वमन विरेचनात्मक सशोधन में मार्गवैपरीत्य है।

अप्रवृत्तौ[1] तु भेषजोत्तेजनार्थमुष्णोदक पाययेत्। पाणितापैश्च जठर स्वेदयेत्। प्रवृत्ते च दीप्ताग्ने स्निग्धवपुषो बहुदोषस्याल्पदोषे नैव वा प्रवृत्तेऽल्पदोषस्यापि जीर्णभैषज्यस्याह शेष बल चापेक्ष्य भूयो मात्रा विदध्यात्। न त्वजीर्णौषधस्यातियोगभयात्। तदहर्वा भुक्तवतोऽन्येद्युरदृढस्नेह वा दशरात्रादूर्ध्वमुपस्कृतदेह मवहितो भूय पाययेत्।

मल की अप्रवृत्ति में उष्णोदकपानादि—**विरेचन ओषधि के सेवन करने पर भी** यथासमय मल की प्रवृत्ति न हो अर्थात् दस्त न आवे तो पान किए हुए औषध को उत्तेजन देने के लिए उष्ण जल पिलाना चाहिए। इतना ही नहीं, हाथ की हथेलियों को तपा-तपाकर उनमे जठर (उदर) का स्वेदन करना चाहिए। जिसकी अग्नि प्रदीप्त हो, जिसका शरीर स्नेहन देकर स्निग्ध किया गया हो और जो बहुदोषवाला हो अथवा जो अल्पदोषवाला हो, इनको औषध देने पर अल्प मल की प्रवृत्ति होती हो या मल की प्रवृत्ति बिलकुल न होती हो तो उस दिन दी हुई जीर्ण ओषधि के शेष बल का विचार कर पुन औषध-मात्रा देनी चाहिए किन्तु प्रथम दी हुई ओषधि के अजीर्ण की अवस्था मे पुन औषधमात्रा नही देनी चाहिए। इसलिए कि अल्पबली मनुष्य को प्रथम ओषधि के जीर्ण न होते हुए ओषधिमात्रा के देने से विरेचन के अतियोग का अर्थात् बहुत दस्त हो जाने का भय होता है। अथवा मल की प्रवृत्ति न हुई हो ऐसे रोगी को उस दिन भोजन कराकर दूसरे दिन औषधमात्रा पिलावे। यदि उसका ठीक स्नेहन न हुआ हो तो फिर भलीभाति स्नेहन करके सावधानतया दस दिन के बाद विरेचन ओषधि का सेवन करावे।

ह्रीभयलोभैश्च वेगाघातशीला प्रायश स्त्रियो राजसमीपस्था वणिजश्च भवन्ति। तस्मादेते वेगधारणात्[2] प्रवृद्धवातत्वात् सदातुरा दुर्विरेच्याश्च। तान् सुस्निग्धान् शोधयेत्। अन्यानपि चाकालनिर्हार[1]विहाराहारान्। अतश्चैषा[3] सदातुरत्वादल्पोऽप्यामयो दु साध्यो[4] भवति तेषा पुन क्रियाविधि स्नेहव्यापत्सिद्धावुपदेक्ष्यते।

स्त्री आदि को विशेष स्नेहन की आवश्यकता **क्रम से लज्जा, भय और लोभ से अर्थात् प्राय स्त्रियें लज्जा की मारी, राजाओं के पास रहनेवाले भय से तथा व्यापारी लोभ के मारे समागत वेगों को रोकनेवाले होते हैं।** इसलिए ये वेगों को धारण करने के कारण वायु की अतिवृद्धि होकर सदा रोगी रहते हैं और इनको विरेचन भी बडी कठिनाई से होता है अत इनको प्रथम भलीभाति स्निग्ध करके (स्नेहपान कराकर) फिर शोधन करना चाहिये अर्थात् वमन-विरेचन देना चाहिए।

केवल उपर्युक्त स्त्रियों, राजकीय पुरुषों तथा व्यापारियों को ही नही, अपितु यथासमय न करके समय के बीत जाने पर निर्हार (मूत्रादि का विसर्जन), विहार (डोलना-फिरना) और आहार के करनेवाले हैं जिनका सदैव रोगी रहने के कारण अल्प रोग भी कष्टसाध्य हो जाता है। इन सबका सशोधन भी प्रथम भलीभाति स्नेहन करके कराना चाहिए। इनकी चिकित्सा पुन स्नेहव्यापत्सिद्धि[2] नामक अध्याय में कही जायगी।

तत्रासम्यग्विरेकात्कुक्षिहृदयाविशुद्धिराध्मानमरुचि प्रसेक कफपित्तोत्क्लेशश्छर्दिर्भ्रमा कण्डू पिटका विदाहो गौरवमग्निसादस्तन्द्रा स्तैमित्य प्रतिश्यायो वातविण्मूत्रसङ्गश्च। सम्यग्विरेकाद्व्याध्युपशमो यथोक्तविपर्ययश्च। अतिविरेकात्तु केवल दोषरहितमुदक रक्त वा मेदोमासधावनोपम कृष्ण वा प्रवर्त्तते। परिकर्तिका हृदयोद्वेष्टन गुदनि सरण नयनप्रवेश पिपीलिकासचारइवाङ्गे वमनातियोगतुल्यता च।

रेचन के अयोग के लक्षण—**विरेचन देने पर भी रेचन के ठीक न होने को अयोग या असम्यग्योग कहते हैं।** असम्यक् योग होने पर रोगी का पेट और हृदय साफ नही होता अर्थात् कुक्षि और छाती मे जडता बनी रहती है, पेट फूलता है, अन्नादि पर अरुचि, मुँह से लारों का टपकना, कफ और पित्त की उबकाई आकर वमन होना, चक्कर आना, खाज, फोड़े फुन्सियों का होना, छाती और पेट में जलन, शरीर में जडता, अग्निमान्द्य, तन्द्रा, स्तैमित्य (शरीर को गीले कपडे से लपेट दिया है ऐसी प्रतीति होना), प्रतिश्याय (जुकाम) का होना, अपानवायु-मल और मूत्र का अवरोध होना ये लक्षण होते हैं।

रेचन के सम्यग्योग या योग के लक्षण—**विरेचनमात्रा का योग्य उपयोग होने का नाम योग या सम्यग्योग है।** सम्यक् योग के होने पर विरेचन से दूर होनेवाली व्याधियों का नाश होता है तथा असम्यक् योग के जो लक्षण कहे गए है उन सबके विपरीत लक्षण होते है यथा कुक्षि और हृदय की शुद्धि, पेट का न फूलना, अन्नादि मे रुचि आदि आदि।

विरेचन के अतियोग के लक्षण—**रेचन के अतियोग हो जाने पर केवल मलरहित पानी का बाहर निकलना, अथवा केवल रक्त के दस्त होना, मेद और मास के धोवन सदृश अथवा काले रङ्ग के पानी या मल का निकलना,** प्रवाहिका या

१ अप्रवृत्तौ भेषजो। २ वेगधारणप्रवृद्धवातत्वात् ३ ततश्चैषा। ४ दु साधो।

१ 'निर्हारो मूत्राद्युत्सर्ग' इती द। २ द्रष्टव्य कल्पस्थानीय स्नेहादिव्यापत्सिद्धयाख्योऽध्याय सप्तम'।

परिकर्तिका अर्थात् मलरहित पेट से केवल आम का निकलना तथा पेट मे कतरनी से काटने जैसी पीड़ा का होना, छाती या हृदय जकड गया है ऐसा प्रतीत होना, गुदभ्रंश (गुदा का बाहर निकलना), आँखों का भीतर की ओर पैठ जाना, शरीर पर चीटियें फिर रही है ऐसा भास होना तथा वमन के अतियोग मे जिन लक्षणों को कह आए है, उन सबका होना ये लक्षण होते है ।

सम्यग्विरिक्त चैन वमनोक्तेन धूमवर्ज्येन विधिनोपपादयेत् । अथ वमितवानिव क्रमेणान्नान्युपयुञ्जान प्रकृतिभोजनमागच्छेदिति ।

सम्यग्विरेचन के पश्चात्कर्म— **जिसको भलीभाति विरेचन हो गया हो, उस रोगी को चाहिए कि वह केवल धूमवर्जित करके वमन के अन्त मे दिए जानेवाले पेया आदि क्रम से अन्न का सेवनकर अपनी प्रकृति के अनुकूल आहारादि का उपयोग करे।**

जीर्णान्ने वमन योज्य कफे जीर्णे विरेचनम् ।

वमन-विरेचन में उचित निर्देश— **अन्न जीर्ण होने पर वमन तथा कफ के जीर्ण होने पर विरेचन देना चाहिए। भावार्थ यह है कि प्रथम दिन के किए हुए आहार के पच जाने पर ही दूसरे दिन वमनौषध की मात्रा पिलावे और जब तक कफ का निर्हरण ठीक न हो जाय तब तक वमन करावे। इसी प्रकार कफ के जीर्ण होने पर ही विरेचन-ओषधि का उपयोग करना चाहिए। साराश यह है कि शास्त्र की आज्ञानुसार उपर्युक्त अवस्था में ही पहले वमनात्मक और विरेचनात्मक सशोधन करे।**

मन्दवह्निमसशुद्धमक्षाम दोषदुर्बलम् ।
अदृष्टजीर्णलिङ्ग च लङ्घयेत्पीतभेषजम् ।
स्नेहस्वेदौषधोत्क्लेशसङ्गैरिति न बाध्यते ॥

पीतभेषज को लङ्घन का निर्देश— **औषध सेवन करने पर भी जिसका सशोधन न हुआ हो, जो मन्दाग्नि वाला हो, जो कृश न हो, जो वातादि दोषों करके दुर्बल हो और जिसमे दोष-पाक के लक्षण न दिखाई देते हों तो ऐसे रोगी को लङ्घन कराना चाहिए। इसलिए कि लङ्घन कराने से स्नेहन और स्वेदन के औषधपान करने से होनेवाले उबकाई और सङ्ग (मलमूत्रादि सङ्ग) की बाधा न होकर दोषों का पाक हो जाता है।**

सशोधनास्रविस्रावस्नेहयोजनलङ्घनैः ।
यात्यग्निर्मन्दता तस्मात्क्रम पेयादिमाचरेत् ॥
स्रुताल्पपित्तश्लेष्माण मद्यप वातपैत्तिकम् ।
पेया न पाययेत्तेषा तर्पणादिक्रमो हित' ॥

सशोधन में अवस्थाभेद से पेया का विधि-निषेध— **सशोधन (वमन-विरेचन), रक्तमोक्षण, स्नेहपान, तथा लङ्घन से जठराग्नि मन्द हो जाती है इसलिए पेयादिक्रम (पहले पेया, फिर विलेपी और फिर मासरसौदन) का आचरण करे अर्थात् इस क्रम के उपयोग से मन्द हुई अग्नि को पुन प्रदीप्त कर लेवे। किन्तु जिनका पित्त और कफ निकल जाने के कारण अल्प रह गया हो, जो नित्य मद्य पीता हो तथा जो वात-पित्त-प्रकृतिवाला हो तो इनको पेया न पिला कर तर्पणादि क्रम** का आचरण कराना चाहिए अर्थात् प्रथम अन्नकाल मे लाजा के सत्तु से बनाया हुआ तर्पण, दूसरे अन्नकाल मे पुराने शाली चावलों का भात और तीसरे अन्नकाल मे यूष-मासरसयुक्त पुराने चावलों का भात देकर तर्पणक्रम का आचरण कराना चाहिए क्योंकि इनके लिए यही हितकारी है।

विशेष वक्तव्य— यहा पर शङ्का होती है कि—'ग्रन्थकार यहा सशोधनादि से अग्नि का मन्द हो जाना कहते हैं और इसी अध्याय के अन्त में सशोधन के फल का बखान करते हुए कहते हैं कि-सशोधन से बुद्धि का प्रसादन, इन्द्रियों मे बल, धातुओं की स्थिरता, अग्नि की प्रदीप्तता आदि होती है।' एक जगह सशोधन से अग्नि का मन्द होना और दूसरी जगह वही ग्रन्थकार सशोधन से अग्नि का प्रदीप्त होना कहते हैं। इस प्रकार यह प्रत्यक्ष स्वतन्त्र-विरोध दिखाई दे रहा है किन्तु यह वस्तुत विरोध नहीं है। अग्निमान्द्य एव अग्निप्रदीप्त की बात ग्रन्थकार ने समय के अनुरोध से कही है। अग्निमान्द्य की बात उस समय की है जब कि सशोधन किया जाता है और अग्नि प्रदीप्त होने की बात उस समय की है जब कि भलीभाति सशोधन हो चुकने पर पेयादिक्रम का सेवन करके अग्नि प्रदीप्त हो जाती है। साराश, क्रियमाण सशोधन मे अग्निमान्द्य होता है और सशोधन के यथोपदेश हो चुकने पर अग्नि प्रदीप्त हो जाती है। इसलिए यह केवल विरोधाभास है किन्तु वस्तुत विरोध नहीं है।

अपक्व वमन दोषान् पच्यमान विरेचनम् ।
निर्हरेद्वमनस्यात पाक न प्रतिपालयेत् ॥

वमन में दोषपाक की उपेक्षा— **वमनौषधि अपक्व रहते हुए दोषों का निर्हरण करती है अत वमन मे दोषपाक की प्रतीक्षा नही करनी चाहिए अपितु आमाशय मे पहुँचे हुए दोष को तुरन्त वमनद्वारा बाहर निकाल देना चाहिए। विपरीत इसके विरेचनौषधि पच्यमान अवस्था में दोषों का निर्हरण करती है अत पके हुए दोष का ही विरेचन द्वारा निर्हरण करना चाहिए।**

ऊर्ध्वाधोरेचन युक्त वैपरीत्येन जायते ।
यदा तदा च्छर्दयत सिञ्चेदुष्णेन वारिणा ।
पादौ शीतेन चोर्ध्वाङ्ग विपरीत विरेचने ॥

वमन-विरेचन की विपरीतता में कर्त्तव्य— **ऊर्ध्वरेचन (वमन) और अधोरेचन (विरेचन) के प्रयुक्त करने पर यदि विपरीत परिणाम हो अर्थात् वमनौषधि के सेवन कराने पर विपरीत विरेचन (दस्त) होने लग जायँ और विरेचन-ओषधि के सेवन कराने पर दस्त न होकर विपरीत वमन होने लग जायँ तो यह विधि करे। उपर्युक्त प्रकार से यदि वमन हो रहा हो तो रोगी के पगों को उष्ण जल से सिञ्चन करे और ऊर्ध्वाङ्ग (मस्तक) को शीतल जल से सिञ्चन करे। यदि विरेचन**

१ ननु शुद्ध्याऽग्निमा द्यमिहोच्यते। वक्ष्यति च-'बुद्धिप्रसादम्' इत्यादिना 'ज्वलनस्य दीप्तिं सशोधन करोति' इति। तदिमे वचसी परस्पर व्याहाते। कालभेदाददोष सशोधने क्रियमाणेऽग्निमा द्य भवति। कृते च सशोधनेऽथ पेयादिक्रममासेवमानस्याग्निदीप्तिरिति न कश्चिदत्र व्याघात।' इत्यरुणदत्त।

(दस्त) हो रहा हो तो इससे विपरीत अर्थात् रोगी के पर्वों को शीतल जल से सिञ्चन करे और ऊर्ध्वाङ्ग (मस्तक) को उष्ण जल से सिञ्चन करे।

दुर्बलो बहुदोषश्च दोषपाकेन य स्वयम् ।
विरिच्यते भेदनीयैर्भोज्यैस्तमुपपादयेत् ॥

दुर्बल के स्वय विरेचन में कर्त्तव्य—बढ़े हुए दोषवाले दुर्बल मनुष्य के दोषों का पाक होकर बिना औषध के यदि स्वय उसे दस्त होने लगें तो उसे भेदनीय भोजन (यवक्षारादियुक्त) देकर शुद्ध करे किन्तु उसको ग्राही (दस्त को रोकनेवाला) औषध न दे।

दुर्बल शोधित पूर्वमल्पदोष कृशो नर ।
अपरिज्ञातकोष्ठश्च पिबेन्मृद्वल्पमौषधम् ॥
वर तदसकृत्पीतमन्यथा सशयावहम् ॥

दुर्बलादि के लिए मृदु औषध—जो दुर्बल है, जिसे वमन-विरेचन देकर शुद्ध किया गया है, जो पहले ही से अल्पदोष वाला है, जो कृश है और जिसके कोष्ठ का पता नहीं है कि यह मृदु, मध्य और क्रूरकोष्ठ में से कैसे कोष्ठवाला है, इन पाच प्रकार के मनुष्यों का यदि शोधन करना हो तो पहले इनके मृदु तथा अल्पमात्रावाली ओषधि देनी चाहिए। इनको वारवार मृदु और अल्पौषधि देकर इनके दोषों का हरना श्रेष्ठ है किन्तु विपरीत इसके एक ही बार में औषध सेवन कराकर इनके सब दोषों को निकाल देना सशयावह है ऐसा करने से मृत्यु आदि का भय हो सकता है।

हरेद्बहूंश्चलान्दोषानल्पानल्पान् पुन पुन ।
दुर्बलस्य मृदुद्रव्यैरल्पान् सशमयेत्तु तान् ॥
क्लेशयन्ति चिर ते हि हन्युर्वैं तमनिर्हृता ।

दुर्बल के दोषहरण का प्रकार—दुर्बल के अपने स्थान से चलित बहुत से दोषों को वारवार थोड़ा थोड़ा कर के मृदु ओषधियों का सेवन कराकर निकालना चाहिए। यदि दुर्बल के दोष अल्प हों तो उसको सशोधन न देकर केवल शम नौषधि द्वारा शमन करना चाहिए किन्तु बढ़े हुए दोषों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए इसलिए कि बढ़े हुए दोषों को न निकालने से वे चिरकाल तक क्लेशकारक बने रहेंगे या वे उस रोगी को मार डालेंगे।

मन्दाग्निं क्रूरकोष्ठ च सक्षारलवणैर्घृतै ।
सधुक्षिताग्निं विजितकफवात च शोधयेत्[3] ॥

मन्दाग्नि और क्रूरकोष्ठ का शोधनप्रकार—यदि मन्दाग्निवाले को शुद्ध करना हो तो पहले क्षार एव लवणों से युक्त घृतों द्वारा उसकी जठराग्नि को चेतन करे और फिर कफ को जीतकर सशोधन करे। यदि क्रूरकोष्ठ को शुद्ध करना है तो पहले क्षार और लवणों से युक्त घृतों द्वारा उसकी जठराग्निको चेतन करे और फिर वायु को जीतकर उसे सशोधन-ओषधि पिलावे।

रूक्षबह्वनिलक्रूरकोष्ठव्यायामशीलिनाम् ।
दीप्ताग्नीना च भैषज्यमविरेच्यैव जीर्यति ॥
तेभ्यो बस्ति पुरो[1] दद्यात्तत स्निग्ध विरेचनम् ।
शकृन्निर्हृत्य वा किञ्चित्तीक्ष्णाभि फलवर्तिभि ॥
प्रवृत्त हि मल स्निग्धो विरेको निर्हरेत्सुखम् ।

रूक्षादि का सशोधनप्रकार—जो रूक्ष हैं, वायु के बाहुल्य-वाले हैं तथा वायु के आधिक्य से क्रूरकोष्ठवाले हैं, जो व्यायाम करनेवाले हैं और जिनकी जठराग्नि बहुत तेज है, इनको दी हुई ओषधि विरेचन न करती हुई पच जाती है, इसलिए इनको पहले बस्ति देकर फिर स्निग्ध विरेचन देना चाहिए। साराश बस्ति देकर फिर एरण्ड-बादामादि तेल पिलाकर विरेचन कराना चाहिए। अथवा मैनफलादि द्वारा निर्मित तीक्ष्ण फलवर्तियें गुदा में देकर मल की प्रवृत्ति करनी चाहिए और फिर स्निग्ध विरेचन देकर सुख से मल का निर्हरण करना चाहिए।

विषाभिघातपिटका[2]कुष्ठशोफविसर्पिण ।
कामलापाण्डुमेहार्तान्नातिस्निग्धान्विशोधयेत् ॥
सर्वान् स्नेहविरेकैश्च रूक्षैस्तु स्नेहभावितान् ।

विषार्तादि को विरेचन—जो विष से पीडित हो, जिसे चोट लगी हो, जो कोढी हो, जिसके फोडे-फुन्सी निकले हुए हों, जो शोथरोगी हो, जो विसर्प, कामला, पाण्डु तथा प्रमेह रोग से पीडित हो इन सब को अतिस्निग्ध कर के विरेचन नहीं देना चाहिए किन्तु अल्पस्निग्ध करके विरेचन कराना चाहिए। अथवा सबको अर्थात् पूर्वोक्त विषार्तादि सबको स्नेहविरेक (एरण्डआदि के तेल आदि का) देकर शोधन करना चाहिए। जिनको स्नेहन दिया हो तो उन्हें निशोत आदि रूक्ष विरेचन देकर शुद्ध करना चाहिए।

कर्मणा वमनादीना पुनरप्यन्तरेऽन्तरे ।
स्नेहस्वेदौ प्रयुञ्जीत स्नेहमन्ते बलाय च ॥

वमनादि में स्नेहस्वेद की आवश्यकता—वमनादि[3] (वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन तथा शिरोविरेचन) कर्मों के बीच बीच में कुछ अन्तर से स्नेहन और स्वेदन की योजना करनी चाहिए तथा इन कर्मों के अन्त में भी बलाधानार्थ स्नेह की योजना करनी चाहिए।

ऊषादिभिर्यथोत्क्लेश्य ह्रियते वाससो मल. ।
तथैव वपुष स्नेहस्वेदमाषतिलादिभि ॥

स्नेहादि द्वारा मलहरण में उदाहरण—ऊषादि (क्षारमृत्तिकादि[4]) द्वारा जैसे उत्क्लेशन कर वस्त्र का मलहरण किया जाता है, ठीक इसी प्रकार स्नेह, स्वेद, माष और तिलादि से शरीर का मल साफ किया जाता है।

स्नेहस्वेदावनभ्यस्य कुर्यात्सशोधन तु य ।
दारुशुष्कमिवानामे शरीर तस्य दीर्यते ॥

स्नेहन-स्वेदन के बिना सशोधन से हानि—जो स्नेहन तथा

१ भेदनीयै -यवक्षारादिभिरिति हेमाद्रि। २ हन्युश्चैन। ३ विशोधयेत्।

१ पुरा। २ पिटिका ३ वमनादीना वमनविरेचनास्थापनानुवासनशिरोविरेचनानामिती दु। ४ 'ऊष क्षारमृदि प्रोक्तम्' इति मेदिनीकर।

स्वेदन के बिना किए ही संशोधन करता है, वह सूखे लक्कड की तरह है अर्थात् सूखा लक्कड़ नवाने से जैसे टूट जाता है, ठीक इसी प्रकार बिना स्नेहन-स्वेदन के संशोधन करनेवाले का लक्कडवत् शरीर हानि को प्राप्त होता है। भावार्थ यह है कि बिना स्नेहन और स्वेदन के संशोधन (वमन-विरेचन) न करे।

सुखं क्षिप्रं[1] महावेगमसक्तं यत्प्रवर्तते ।
नातिग्लानिकरं नापि हृदि पायौ च रुक्करम् ॥
अन्तराशयगं क्लिन्नं कृत्स्नं दोषं निरस्यति ।
विरेचनं निरूहं वा तत्तीक्ष्णमिति निर्दिशेत् ॥

तीक्ष्णौषध के लक्षण—विरेचन हो चाहे निरूह (बस्ति) हो, जो सुख से, जल्दी जल्दी, महावेगवाला, अतड़ियों आदि से न चिपकता हुआ खुला प्रवृत्त होता है अर्थात् अतिवेग से जो विरेचन या निरूह औषध सुख से, जल्दी और खुला दस्त लाता है, जो अतिग्लानिकारक नहीं होता और न जिससे हृदय तथा गुदा में पीडा ही होती है, जो आशय के भीतर के क्लिन्न एवं संपूर्ण दोष (मल) को बाहर निकाल देता है, उसे तीक्ष्ण औषध समझना चाहिए।

जलाग्निकीटैरस्पृष्टं देशकालगुणान्वितम् ।
नवं मात्राधिकं किञ्चित्तुल्यवीर्यैः सुभावितम् ॥
स्नेहस्वेदोपपन्नस्य तीक्ष्णत्वं याति भेषजम् ।
अतो विपर्यये मन्दं मन्दतां च प्रपद्यते ॥

औषधि में तीक्ष्णत्वप्राप्ति के कारण—जो औषध जल, अग्नि और कीड़ों से बची रहती है अर्थात् जिसे जल आदि स्पर्श नहीं करते, जो योग्य देश एवं काल में उत्पन्न होने से नाना गुणोंवाली है, जो नवीन और मात्रा में कुछ अधिक होती है और अपने तुल्यवीर्य द्रव्यों से भली भांति भावना दी हुई होती है उसमें स्नेहन-स्वेदोपपन्न प्राणी के योग्य तीक्ष्णत्व आ जाता है अर्थात् उपर्युक्त सब कारणों से औषध तीक्ष्णत्व को प्राप्त होता है। इसके विपरीत कारणों से औषध मन्द एवं मन्दता को प्राप्त होता है। साराश, मन्द औषधि तीक्ष्ण की तरह कार्य नहीं कर सकती।

तीक्ष्णो मध्यो मृदुर्व्याधिः सर्वमध्याल्पलक्षणः ।
बलापेक्षं हितं तेषु तीक्ष्णं मध्यं मृदु क्रमात् ॥

त्रिविध व्याधि में त्रिविधौषधोपयोग—तीक्ष्ण, मध्य और मृदुभेद से व्याधि तीन प्रकार की होती है और इनके सर्व, मध्य तथा अल्प ये लक्षण क्रम से होते हैं जैसे कि तीक्ष्ण व्याधि सर्वलक्षणोंवाली है, मध्यव्याधि मध्यलक्षणोंवाली और मृदुव्याधि अल्पलक्षणोंवाली होती है अतः इन व्याधियों के बल की अपेक्षा के अनुसार इन में तीक्ष्ण, मध्य और मृदु औषध क्रम से हितकारी होते हैं। भावार्थ यह है कि तीक्ष्ण (प्रबल) व्याधि के लिए औषध भी तीक्ष्ण देना चाहिए। इसी प्रकार मध्यव्याधि में मध्य एवं मृदु (स्वल्प) व्याधि में औषध भी मृदु देना चाहिए किन्तु ध्यान रहे कि यह औषधयोजना रोगी के बलाबल को देखकर करना चाहिए अर्थात् स्वल्पबलवाले को तीक्ष्ण व्याधि के होने पर भी तीक्ष्ण औषध जिसे कि वह सहन नहीं कर सकेगा नहीं देना चाहिए। इस प्रकार यहां सर्वत्र व्यभिचरण की कल्पना स्वयं कर लेनी चाहिए।

वमन-विरेचन में सात्म्य द्रव्य नहीं देने चाहिए, अब आचार्य इसका कारण बताते हैं।

अप्रवृत्त्यां[1] मलान् द्रव्यं सात्म्यीभूतं हि जीर्यति ।
वमनं वा विरेकं वा तस्मात्सात्म्यं न योजयेत् ॥

संशोधन में सात्म्य द्रव्य का निषेध—जो द्रव्य मनुष्य का सात्म्यीभूत आहाररूपेण अभ्यस्त होता है, वह देने से मलों की प्रवृत्ति नहीं करता किन्तु पच जाता है। इस लिए वमन और विरेचन में सात्म्य द्रव्य की योजना नहीं करनी चाहिए।

विभ्रंशो विषवत्सम्यग्योगो[2] यस्यामृतोपमः ।
कालेऽवश्यं प्रयोज्यं च यस्माद्यत्नेन तत्पिबेत् ॥

शास्त्रोक्तविधि से ही संशोधन का समर्थन—संशोधन शास्त्रोक्तविधि से ही करना चाहिए। इस लिए कि शास्त्र विधि से विपरीत संशोधन विष के तुल्य होता है और शास्त्र के अनुसार करने से संशोधन का सम्यग्योग अमृत की तरह मनुष्य को जीवन का देने वाला होता है। इतने पर भी कदाचित् व्याधि के भय से काल की उपेक्षा भी करनी पड़ती है अर्थात् जिस काल में व्याधि भयङ्कर हो जाय तो उस काल में भी बड़े यत्न के साथ (काल का कृत्रिम प्रतीकार करके) संशोधनौषध का सेवन अवश्य करना चाहिये।

बुद्धिप्रसादं बलमिन्द्रियाणां
धातुस्थिरत्वं ज्वलनस्य दीप्तिम् ।
चिराय[3] पाकं वयसः करोति
संशोधनं सम्यगुपास्यमानम् ॥

इति सप्तविंशोऽध्यायः ।

संशोधन का फल—सम्यक् प्रकार से सेवन किया हुआ संशोधन बुद्धि को निर्मल एवं तेज करता है, इन्द्रियों को बलवान् करता है, धातुओं को क्षीण नहीं होने देता अपि तु उनमें स्थिरता प्राप्त करता है, जठराग्नि को प्रदीप्त करता है और आयु को दीर्घ करता अर्थात् जल्दी बुढ़ापे को नहीं आने देता है।

इति श्रीवाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिका-हिन्दीव्याख्यायां वमनविरेचनविधिर्नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

१ क्षिप्तं

१ अप्रवर्त्य २ सम्यग्योगो हि ३ चिराच ।

अथाष्टाविंशोऽध्यायः ।

इसके पूर्व अध्याय में (वमनविरेचनविधि-नामक अध्याय में) कफदोष के नाशार्थ वमनविधि बताई गई और इसी प्रकार पित्तदोष के शमनार्थ विरेचनविधि भी बतला दी गई है परन्तु सब दोषों से प्रबल जो वायु है, उसका शमन विषय शेष रह गया है अत आचार्य अब उसकी पूर्ति के लिए इस अध्याय का आरम्भ करते हुए कहते हैं कि—

अथातो बस्तिविधिं नामाध्यायं[1] व्याख्यास्याम । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय ।

बस्तिविधान—अब हम यहा से जिसमें बस्तिविधि का वर्णन है, उस बस्तिविधिनामक अध्याय की व्याख्या करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियोंने की है।

बस्तिरनिलप्रधानेषु (दोषेषु) प्रयुज्यते। बस्तिना दीयते बस्ति वा पूर्वमन्वेत्यतो बस्ति । स च सर्वोपक्रमाणा प्रधानतम शीघ्र बृंहणादिकारित्वाद्विकृतानिलोच्छेदित्वाच्च ।

बस्ति की अन्वर्थसज्ञा और प्रधानता—जिनमे वायु की प्रधानता रहती है ऐसे दोषों में बस्ति का प्रयोग किया जाता है। बस्तिसज्ञा वस्तुत अन्वर्थक है अर्थात् बकरा, मेंढा, भैंसा, गाय, हरिण, वराह आदि की बस्ति (मूत्राधार चर्मपेशी) द्वारा दी जाती है इसलिए इसका नाम बस्ति है, अथवा देने पर यह पहले बस्ति में पहुँचती है अत इसकी बस्ति सज्ञा नितान्त अन्वर्थक है। विकृत वायुके दोषको नाश करने तथा शीघ्र ही बृंहणादि कार्य करने के कारण बस्ति सब चिकित्साओं में प्रधान ही नही, किन्तु प्रधानतम चिकित्सा है।

अनिलो हि दोषाणा नेता स्वतन्त्र सर्वशरीरचेष्टैककारणम्, पञ्चात्मतया अङ्गप्रत्यङ्गव्यापी[3], विधाता विविधबाह्याध्यात्मिकभावानाम्, सर्गस्थितिप्रलयाना हेतुर्मार्गत्रयजानामपि रोगाणामिति ।

वायु की सर्वत्र प्रधानता—वायु स्वतन्त्र एव दोषों का नेता है अर्थात् वात, पित्त एव कफादि दोष-दूष्यों को वायु से ही चालना प्राप्त होती है। कहा भी है कि पित्त, कफ तथा रस-रक्तादि धातु और मल ये सब पङ्गु है। वायु जैसे मेघ को चाहे जहा ले जा सकता है, ठीक इसी प्रकार दोषों का यथायथ सचालन कर के अकेला वायु ही नेतृत्व करता[4] है। इसी लिए यहा कहा गया है कि वायु दोषों का नेता है। शारीरिक नानाविध जितनी चेष्टाए (उठना, बैठना, बोलना, हँसना, खाना, पीना आदि) होती हैं उन सबका वायु ही एक-मात्र कारण है। वायु पञ्चात्मतया अर्थात् प्राण, अपान, समान, उदान और व्यानरूप से सारे शरीर के अङ्ग (सिर आदि) और प्रत्यङ्ग (नेत्र, कान, अङ्गुलिये आदि) में व्याप्त रहता है। वायु वृक्ष आदि बाह्य भावों एव देहस्थ समस्त आध्यात्मिक भावों का विधाता है। इतना ही नहीं, वायु सर्गस्थितिप्रलय (सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय तक) का हेतु है और इसी प्रकार मार्गत्रय (अन्तर्मार्ग, बहिर्मार्ग तथा मध्यमार्ग) से उत्पन्न होनेवाले रोगों का कारण भी वायु है।

सुखत्वादेव च बस्तिर्बालवृद्धकृशस्थूलक्षीणधात्विन्द्रियेषु च स्त्रीषु चानिलोपसर्गादप्रजासु कृच्छ्रप्रजासु चोपदिश्यते । तथाग्निबलवर्णमेधास्वरायुस्सुखप्रदो वय स्थापन पङ्गूरुस्तम्भभग्नसकुचितानिलाध्मानशूलारोचकोदावर्तपरिकर्तिकादिषु हित इति ।

बस्ति देने का मुख्य हेतु और उसका फल—बस्तिचिकित्सा सुखदायिनी है। इसीलिए इसका उपयोग बालक, वृद्ध, कृश, स्थूल, धातुक्षीण, इन्द्रियक्षीण एव वायु के कोप से जो स्त्रियें अप्रजा (सन्ततिहीन) हैं अथवा कृच्छ्रप्रजा अर्थात् बडे कष्ट से प्रजा की उत्पत्ति करती है, इन सब के लिए बस्ति-चिकित्सा का उपदेश किया जाता है। इनके अतिरिक्त बस्तिचिकित्सा जठराग्नि, बल, वर्ण, मेधा (बुद्धि), स्वर, आयु और सुख की देनेवाली तथा वय स्थापन करनेवाली (जल्दी जरावस्था को न आने देनेवाली) है। इतना ही नहीं, बस्तिचिकित्सा पङ्गु, ऊरुस्तम्भ, भग्न, वायु का अवरोध, आध्मान, शूल, अरोचक, उदावर्त, परिकर्तिका (विरेचन मे व्यापद्विशेष, पेट मे कतरने की सी पीड़ा) आदि रोगों मे भी हितकारिणी है।

स तु बस्तिस्त्रिविध । आस्थापनमनुवासनमुत्तरबस्तिश्च । तत्रास्थापन दोषदूष्याद्यनुसारेण नानाद्रव्यसयोगादिनिर्वृत्तम् । तस्य भेदा , उत्क्लेशन सशोधनं सशमन लेखन बृंहण वाजीकरण पिच्छाबस्तिर्माधुतैलिकमित्यादय । माधुतैलिकस्य पर्याया यापनो युक्तरथो दोषहर स्निग्ध[1]बस्तिरिति । तेषा नामभिरेव स्वरूपमाख्यातम् । तद्वय स्थापनाद्दोषस्थापनाद्वास्थापनमित्युच्यते ।

बस्ति के तीन प्रकार और उनके भेद—आस्थापन, अनुवासन तथा उत्तरबस्ति भेद से बस्ति के तीन प्रकार है।

आस्थापन बस्ति—दोष (वातादि) और दूष्य (रक्तादि) के अनुसार नाना ओषधियों के सयोग से जो बस्ति दी जाती है उसे आस्थापन बस्ति कहते है। उत्क्लेशन, सशोधन, सशमन, लेखन, बृंहण, वाजीकरण, पिच्छाबस्ति और माधुतैलिक इत्यादि ये आस्थापन बस्ति के भेद है। इन में से माधुतैलिक के पर्याय यापन, युक्तरथ, दोषहर और स्निग्ध (सिद्ध) बस्ति हैं। इनके नामसे ही इनके स्वरूपको कहा गया है। जैसे कि नाना द्रव्यों के सयोगादि कारण से जो दोषों का उत्क्लेशन करती (जो दोषों को अपने स्थान से च्युत या चलित करती) है उसे उत्क्लेशन बस्ति कहते है। जो

१ बस्तिविधिमध्याय। २. बस्तिना-अजादिमूत्राधारेण यतो दीयतेऽतो बस्तिरितीन्दु । अजाविमहिषादीना बस्तिमित्यष्टाङ्गहृदयम्। आदिशब्देन गोहरिणवराहादय । बस्ति मूत्राधारचर्मपेशीमिति हेमाद्रि । ३ स प्रत्यङ्गाङ्गव्यापी। ४ पित्त पङ्गु कफ पङ्गु पङ्गवो मलधातव । वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ॥ इति।

१ सिद्ध।

बस्ति-सेवन से दोषों का शमन करती है अत उसे सशमन बस्ति कहा गया है । दोषों को शरीर से बाहर निकाल कर सशोधन करती है अत उस का नाम सशोधन बस्ति है । जो कफ, मेद आदिको लेखन करती है, अत वह लेखन बस्ति कहलाती है । जो मनुष्य को बृहण (पुष्ट) करती है और जो वाजीकरण करती है अत इनके बृहण और वाजीकरण बस्ति नाम है । पिच्छासदृश स्वरूप होने से पिच्छाबस्ति नाम है । जिस में मधु (शहद) और तेल प्रधान द्रव्य हैं अत उसे माधुतैलिक बस्ति कहते है। इसी प्रकार माधुतैलिक के यापनादि पर्यायों के स्वरूप को भी जानना चाहिए । अथवा वय स्थापन और दोषस्थापन करनेवाली होनेसे इसे आस्थापन बस्ति कहते है।

शरीररोहणाद्दोषनिर्हरणादचिन्त्यवीर्यप्रभावतया[1] चास्मिन्नूहासभवान्निरूह[2] इति ।

निरूहबस्ति—अपने अचिन्त्य वीर्य एव प्रभाव से जो शरीर मे अपूर्व शक्ति पैदा करती है, दोषों का निर्हरण करके शरीर की वृद्धि करती है, इसके अचिन्त्य वीर्य प्रभाव के कारण ऊहापोह भी असभव होता है, इसी लिए इसका निरूह नाम है।

अनुवासन यथाहौंषधसिद्ध स्नेहनार्थे स्नेह । स्नेहविधौ स चतुर्धाभिहित । तस्य भेदो मात्राबस्ति स पेयस्नेहह्रस्वमात्रातुल्य' सेव्य सदा च माधुतैलिक वद्बालवृद्धाध्वभारयानव्यायामचिन्तास्त्रीनित्यस्त्रीनृपेश्वरसुकुमारदुर्बलानिलभग्नाल्पाग्निभिर्निष्परिहारतया सुखो बल्यो वर्ण्य सृष्टमलो दोषघ्नश्च। तथापि तौ नाजीर्णे योज्यौ न च दिवास्वप्नस्तयो' सेव्य[3] । यतश्चासावनुवसन्नपि[4] न दूष्यत्यनुवासरमपि वा दीयत इत्यनुवासनम् ।

अनुवासन बस्ति—जिसमें दोष तथा व्याधि के अनुसार ओषधियों से सिद्ध किया हुआ स्नेह दिया जाता है, उसे अनुवासन बस्ति कहते हैं। इसमें जिस स्नेह के द्वारा स्नेहन होता है, वह स्नेह स्नेहविधि मे घृतादिभेद से चार प्रकार का बताया हुआ है। इसी का भेद मात्राबस्ति है। इस मात्राबस्ति में पेय स्नेह की ह्रस्व मात्रा के तुल्य स्नेह की मात्रा रहती है और यह माधुतैलिक बस्ति की तरह सदा बालक, वृद्ध, मार्ग के चलने-भार के उठाने-सवारी के करने-व्यायाम के करने से थके हुए, चिन्ताग्रस्त, नित्य स्त्रीसेवी, स्त्री, राजा, ऐश्वर्यवान्, सुकुमार, दुर्बल, वातरोगी, भग्नरोगी और अल्पाग्नि इन सबके रोगों का हरण करता है इस लिए, तथा यह मात्राबस्ति सुखदायक, बलप्रद, वर्ण को सुन्दर बनाकर बढ़ानेवाली, मलों को शरीर से बाहर करनेवाली एव वातादि दोषों का नाश करनेवाली होने से सेवन करने योग्य है। इस प्रकार गुणवाली है तथापि अनुवासन बस्ति और मात्राबस्ति इन दोनों का सेवन अजीर्ण में तथा दिवास्वप्न (दिन में सोने की अवस्था) में नहीं करना चाहिए। यह अनुवसन्नपि (बासी रहने पर भी) दूषित नहीं होती है और अनुवासर अर्थात् जो प्रतिदिन दी जा सकती है। इसी लिए इसका नाम अनुवासन बस्ति है।

उत्तरबस्तिरपि स्नेहनेऽनुवासनवच्छोधने निरूहवदपि च केचिदाहु । स निरूहादुत्तरमुत्तरेण वा मार्गेण दीयत इत्युत्तरबस्ति । तत्रास्थाप्या गुल्मप्लीहानाहशूलशुद्धातीसारजीर्णज्वरप्रतिश्यायाढ्यरोगहृदयकुक्षिपार्श्वग्रहपर्वाभितापपार्श्वयोनिशूलाङ्गसुप्तिशोषकम्पगौरवातिलाघवान्त्रकूजवातविण्मूत्रशुक्रसङ्गाश्मरीशर्करावृद्धिशुक्रार्तवस्तन्यनाशरज क्षयोन्माददोषक्रमिणकोष्ठविषमाग्निसशब्दाल्पाल्पोग्रगन्धोत्थानादयो दोषभेदीयोक्ताश्च वातव्याधय । विशेषेणैते हि पर बस्तिना नाशमुपयान्ति मूलच्छेदेन वृक्षवत् ।

उत्तरबस्ति—स्नेहन करने मे पूर्वोक्त अनुवासन बस्ति की तरह ही उत्तरबस्ति है और कुछ लोगों का कहना है कि केवल पूर्वोक्त अनुवासन बस्ति की तरह ही नहीं, किन्तु सशोधन मे निरूह बस्ति की तरह भी उत्तरबस्ति है। निरूह के उत्तर (पश्चात्) दी जाती है, इस लिए तथा जो उत्तर मार्ग से दी जाती है अत इसका अन्वर्थक नाम उत्तर बस्ति है।

उत्तरबस्ति में आस्थाप्य रोग—गुल्म, प्लीह, आनाह, शूल, शुद्धातीसार (आमातिसार एव रक्तातिसार के अतिरिक्त अतीसार[2]), जीर्णज्वर, प्रतिश्याय, आढ्यरोग (ऊरुस्तम्भ), हृदयग्रह-कुक्षिग्रह और पार्श्वग्रह अर्थात् हृदय कुक्षि पार्श्व का जकड़ जाना, पर्वस्थान मे सन्ताप, पार्श्वशूल, योनिशूल, अङ्गसुप्ति (स्पर्श के ज्ञान का न होना), शोष, कम्प, गौरव (जड़ता) या गौरवातिलाघव (वायु के कारण गौरव में अति लघुत्व प्राप्त होना), अन्त्रकूजन, वातविण्मूत्रशुक्रसङ्ग (अपान वायु का रुकना, मलावरोध, मूत्र का रुकना, वीर्य का अवरोध), अश्मरी (पथरी), शर्करा, अण्डवृद्धि, शुक्र नाश, स्त्रियों के आर्त्तव का नष्ट होना, स्तन्यनाश (स्त्रियों के स्तन्य (दुग्ध) का नाश), रज क्षय, उन्माद, क्रिमिकोष्ठ, विषमाग्नि, थोड़े थोडे उग्र गन्धयुक्त वात का उत्थान आदि तथा दोषभेदीय अध्याय मे वर्णित वातव्याधियें इन सबका आस्थापन (नियोजन) उत्तरबस्ति मे करना चाहिए अर्थात् इन समस्त वातप्रधान व्याधियों के लिए उत्तरबस्ति की योजना करनी चाहिए क्योंकि इन समस्त व्याधियों का नाश बस्ति द्वारा इस प्रकार होता है जैसे कि मूल (जड़) के काट देने से वृक्ष का नाश हो जाता है।

अनास्थाप्यास्त्वतिस्निग्धोत्क्लिष्टदोषक्षतोरस्कातिकृशा निरन्ना कृतवमनविरेकैनस्यप्रसक्तच्छर्दिनिष्ठीविकाकासश्वासहिध्मार्शोबद्धछिद्रदकोदराध्मानालसकविसूचिकामातीसारारोचकाल्पाग्निगुदशोफकुष्ठमदमेहार्त्ता

१ दचिन्त्यप्रभावतया २ यस्मिन्नूहा ३ दिवास्वप्न सेव्य ४ सोऽन्नमनुवसन्नपि

१ वर्चोमूत्र २ शुद्धश्चासावतीसारस्तथोक्त शुद्धशब्देनामरक्तयो प्रतिषेध इतीन्दु । ३ एतेष्वास्थापनो योज्य इत्यर्थ, इतीदु । ४ विरेचनस्य ५ हिक्का ।

गर्भिणी चाप्रवृत्ताष्टममासा। तत्रातिस्निग्धोत्क्लिष्टदोषयोर्दोषानुत्क्लेश्योदर मूर्च्छा श्वयथु वा निरूहो जनयेत्। क्षतोरस्करयातिकृशस्य च क्षोभव्यापन्नशरीरमाशु पीडयेत्। निरन्नस्य वक्ष्यते। कृतवमनविरेकयोस्तु रिक्त देह क्षत क्षार इव दहेत्। स्नेहबस्तिस्तु सद्योऽग्निमवसाद्य श्लेष्मामयाय स्यात्। कृतनस्यस्यास्य विभ्रंश विवृतोर्ध्वस्रोतस्तया कुर्यात् अनुवासन तु दोषोत्क्लेशनम्। प्रसक्तच्छर्द्यादीना वायुर्निरूहमूर्ध्वं नयेत्। अर्शसस्यावृतमार्गत्वादनागच्छन्बस्ति प्राणान्हिस्यात्। स्नेह पुनरर्शास्यभिष्यन्द्याध्मानाय स्यात्। बद्धोदराद्याध्माताना भृशतरमाध्मानान्मृत्यु। अलसकार्तादीना चामदोषात्। अरोचकार्तादीना यथास्वमामयवृद्धि। गर्भिण्या पूर्वोक्तो दोष।

अनास्थाप्य—जो अतिस्निग्ध (अति स्नेहपान किया हुआ) हो, जिसके दोष उत्क्लिष्ट हों, जो उर क्षतरोगी हो, जो निराहार न हो, जिसको वमन-विरेचन कराया गया हो, जिसे नस्य दिया गया हो, जिसे वमन होता हो, जिसको थूकनी हो रही हो, जिसको खासी, श्वास, हिचकी, बवासीर, छिद्रोदर (क्षतोदर), बद्धोदर (बद्धगुदोदर), दकोदर (जलोदर), आध्मान, अलसक, विसूचिका, आमातिसार, अरोचक, अल्पाग्नि, गुदशोथ, कुष्ठ और मधुमेह से पीडित हो, जिसको आठवाँ महीना न लगा हो ऐसी गर्भिणी, इन सबके लिए बस्ति की योजना न करे क्योंकि अतिस्निग्ध तथा जिसके दोष उत्क्लिष्ट है, इन दोनों को दिया हुआ निरूह बस्ति दोषों का उत्क्लेशन करके उदर, मूर्च्छा और शोथ (सूजन) को उत्पन्न करेगा। उर क्षत तथा अतिकृश रोगी को दिया हुआ बस्ति क्षोभ को अर्थात् प्रकोप को प्राप्त होकर शीघ्र ही शरीर के लिये पीडाकारक होगा। निरन्न (खाली पेट) दिया हुआ बस्ति जो दोष करता है वह इसी अध्याय के 'निरूहश्च समीरश्च' आदि श्लोक द्वारा आगे कहेगे। वमन-विरेचन कराए हुए को बस्ति देने से जैसे क्षत (घाव) को क्षार जलाता है उसी प्रकार वह बस्ति निरन्न के देह को जलावेगा तथा वमन-विरेचनवाले को दिया हुआ स्नेहबस्ति शीघ्र ही अग्निमान्द्य करके कफ रोगों को पैदा करनेवाला होगा। साराश, जिनको आस्थापन बस्ति दी जाय उन्हींको अनुवासन बस्ति दी जाय जैसे कि आगे कहेंगे। जैसे ऊपर कहा गया हैं, ठीक उसी प्रकार नस्य कर्म किए हुए व्यक्ति को दिया हुआ आस्थापन बस्ति मुख का विभ्रंश करेगा। इस लिए कि वह ऊर्ध्व स्रोतों मे जाता और फैलता है। इसी को दिया हुआ अनुवासन बस्ति दोषों का उत्क्लेशन करेगा। प्रसक्त वमन आदि (वमन, निष्ठीवन, कास, श्वास, हिचकी आदि) मे दिया हुआ निरूह और अनुवासन बस्ति को वायु ऊपर की ओर ले जायगा। अर्शोरोग (बवासीर) में दिया हुआ बस्ति अर्शके कारण मार्ग बन्द रहने से बस्ति न लगकर या विपरीत होकर प्राणों को हरण करनेवाला होगा। इतना ही नही, वह स्नेह अर्श में अभिष्यन्द पैदा करके आध्मान (पेट फूलना) को करनेवाला होगा। बद्धोदर से आध्मान तक अर्थात् बद्धगुदोदर, क्षतोदर, जलोदर और आध्मान रोगी को दिया हुआ बस्ति अधिकाधिक आध्मान को करके मृत्यु को देनेवाला होगा। अलसक, विसूचिका तथा आमातिसारी को दिया हुआ बस्ति और भी आम की अधिक वृद्धि करनेवाला होगा। अरोचक, अल्पाग्नि, गुदशोथ, कुष्ठ तथा मधुमेह के रोगियों को बस्ति देने से वह वह रोग जिनमे बस्ति-प्रयोग किया जायगा अधिकाधिक बढेगा। गर्भिणी को दिया हुआ बस्ति पूर्वोक्त (पहले कहे हुए वमन प्रकरण मे के) आमगर्भभ्रंश (कच्चे गर्भ का पतन) आदि दोष होंगे। भावार्थ यह कि उपर्युक्त रोगियों को बस्ति का देना हानिकारक है अत इन्हे बस्ति न दी जाय।

य एवास्थाप्यास्त एवानुवास्या[1]। रूक्षातिदीप्ताग्नय केवलानिलार्ताश्च विशेषेण। ते हि परमनुवासनेनाप्याय्यन्ते मूलसेकेन वृक्षवत्। य एवानास्थाप्यास्त एवाननुवास्या। तथा निरन्नपाण्डुरोग[2]कामलाप्रमेहप्रतिश्यायप्लीहकफोदराढ्यवातवर्चोभेदार्त्तपीतविषगरपित्तकफाभिष्यन्दगुरुकोष्ठातिस्थूलश्लीपदगलगण्डापचीकृमिणकोष्ठा। तत्रातिस्निग्धादीना यथास्वमुक्ता पृथग्दोषा।

आस्थापन और अनुवासनमें अभेद—जो पहले गुल्म, प्लीहा, आनाह, शूलादि रोग आस्थापनके योग्य कहे गए हैं वे ही अनुवासन के योग्य समझने चाहिए किन्तु इनमें रूक्ष, अतिदीप्ताग्नि एव केवल वायु से पीडित हैं वे विशेष करके अनुवासन के योग्य है। इस लिए कि ये रूक्ष, अतिदीप्ताग्नि एवं वायु से पीडित अनुवासन से भलीभाति ऐसे हृष्टपुष्ट हो जाते हैं, जैसे कि मूल में जल के सींचने से वृक्ष हरा भरा हो जाता है। इसी प्रकार जिनके लिए आस्थापन बस्ति का विधान नहीं है उनके लिए अनुवासन भी नहीं देना चाहिए अर्थात् अतिस्निग्ध, उत्क्लिष्टदोष, उर क्षतादि जिन रोगों के लिए आस्थापनवर्जित है उनके लिए अनुवासन भी वर्जित है किन्तु विशेष करके निरन्न (खाली पेट), पाण्डुरोग, कामला, प्रमेह, प्रतिश्याय, प्लीह, कफोदर, ऊरुस्तम्भ, वर्चोभेद (जिसका मल फूटा हुआ पतला है), जिसने विष पी लिया है, जिसने विषाक्त कृत्रिम विष पी लिया है, जिसको पित्ताभिष्यन्द या कफ का अभिष्यन्द हुआ है, जिसका कोठा भारी है, जो अति स्थूल है, जो श्लीपद, गलगण्ड, अपची तथा कृमिकोष्ठ-रोग से पीडित है उसे अनुवासन बस्ति नहीं देना चाहिए। आस्थापन देने से अतिस्निग्धादिको जिन जिन दोषों का होना पहले बताया गया है, प्रत्येक रोग के अनुसार वे ही दोष अनुवासन देने मे भी समझ लेने चाहिए।

अपि च—

अभुक्ते रिक्तकोष्ठस्य प्रयुक्तमनुवासनम्।
सरदूरगसूक्ष्मत्वै. क्षिप्रमूर्ध्वं प्रपद्यते॥
तेन वायोर्जयो न स्याद्वातधामन्यतिष्ठता[3]।

१ एते। २ निरन्नवज्वरपाण्डुरोग। ३ वातस्थाने ह्यतिष्ठता।

कायाग्नेराशु नाशश्च विशेषादनिवर्तिना ॥
स्नेह सद्योऽशिताहाररुद्धे त्वामाशयेऽनिलम् ।
पक्वस्थ हन्ति पक्वस्थश्च्यवते चान्नपाकत ॥
निरूहश्च समीरश्च तीक्ष्णवेगावुभावपि ।
तावन्न मूर्च्छितौ तीक्ष्णावधोऽन्नेन सहागतौ ॥
ऊर्ध्वं वा शकृता सार्द्धं सस्थितौ कोष्ठ एव वा ।
समलाहारविष्टब्धौ हरेतामाशु जीवितम् ॥
भुक्त एवानुवास्योऽस्मान्न[2] निरूह्योऽत्र[3] भुक्तवान्[1] ।
पाण्डुरोगार्तादीना दोषानुत्क्लेश्य स्नेहबस्तिरुदर जनयेत् । प्रतिश्यायादिवता भूय एव दोष वर्धयेत् ।

आस्थापनविधि का अनुवासन में अपवाद—**यद्यपि पहले निरन्न को भी अनास्थाप्य बताया है अर्थात् खाली पेट (निरन्न) को निरूहबस्ति नहीं देने का विधान किया है परन्तु अनुवासन मे इसका अपवाद वर्णन करके बताया है कि निरन्न को अनुवासन नही देना चाहिए किन्तु निरूहबस्ति देना चाहिए। भावार्थ यह है कि अनुवासन भोजन किए हुए को देना चाहिए और निरूह निरन्न को देना चाहिए। इसका समर्थन आचार्य इस प्रकार करते है कि—**

अभुक्त (निरन्न) का कोठा (पेट) खाली रहने से उसको दिया हुआ अनुवासन (स्नेह) अपने सरत्व, दूरगत्व और सूक्ष्मत्व के कारण शीघ्र ऊर्ध्व अर्थात् ऊपर की ओर पूर्वकाय मे चला जाता है। उस ऊपर की ओर जानेवाले अनुवासन स्नेह के इस प्रकार पक्वाशय मे न पहुचने या ठहरने से वायु को जीतना नही होगा और उस अनुवासन के अर्थात् स्नेह के वहा न पडने से विशेषत शरीर के जठराग्नि का शीघ्र ही नाश होगा। इस लिए भोजन किए हुए को ही अनुवासन देना चाहिए क्यों कि सद्य किए हुए आहार से आमाशय के अवरुद्ध हो जाने से पक्वाशय मे स्थित अनुवासन स्नेह पक्वाशय में रहने वाले वायु का नाश करेगा तथा अन्नपाक होने से वह पक्वाशयस्थ स्नेह चुहने लगेगा और स्नेह के चुहने से अग्नि का नाश न होकर वह प्रदीप्त होगी। इस लिए भी भोजन किए हुए को ही अनुवासन देना चाहिए। विपरीत इसके यदि भोजन किए प्राणी को निरूहबस्ति दिया जायगा तो फल भी विपरीत होगा। इस लिए कि निरूह और वायु इन दोनों के तीक्ष्ण वेगवाले होने से जब तक इनका शमन न होगा तब तक ये दोनों तीक्ष्ण स्वभाववाले निरूह और वायु अन्न के साथ अधोभाग की ओर बडे तीक्ष्ण वेग से गुदा से बाहर निकलेंगे अथवा बडे तीक्ष्ण वेग से पुरीष (विष्ठा) के साथ ऊपर की ओर आते हुए मुख से बाहर निकलेंगे अथवा मल और आहार के साथ कोष्ठ मे रहते हुए विष्टब्धता (पेट फूलना) को प्राप्त हुए शीघ्र ही प्राणों का हरण करेंगे अर्थात् मनुष्य को मार डालने मे विलम्ब नही करेंगे। इसलिये भोजन किये हुए प्राणी को ही अनुवासन देना चाहिए अपि तु भोजन किए हुए को निरूह नही देना चाहिए।

पाण्डुरोगार्तादि (पाण्डु रोग, कामला और प्रमेहरोगी) को भी अनुवासन नहीं देना चाहिए क्यों कि इनको दिया हुआ अनुवासन दोषों का उत्क्लेशन करके उदर रोग को उत्पन्न करेगा और प्रतिश्यायादि (प्रतिश्याय, प्लीह, कफोदर, ऊरुस्तम्भ, वर्चोभेद, विष, गर, पित्ताभिष्यन्द, कफाभिष्यन्द, गुरुकोष्ठ, अतिस्थूल, श्लीपद, गलगण्ड, अपची तथा क्रिमिकोष्ठार्त[1]) को दिया हुआ अनुवासन बस्ति पुनरपि दोषों की अधिक वृद्धि करेगा।

तयोस्तु नेत्र सुवर्णादिधातुमणिशङ्खशृङ्गदन्तास्थिवेणुनलखदिरकदरतिनिशतिन्दुकादिदारुसारमयमृज्वक[2] श गोपुच्छाकृति गुटिकामुखमूनवर्षवार्षिकसप्तद्वादशषोडशवर्षाणा विंशतिप्रभृतिषु च क्रमात्पञ्चषट्सप्ताष्टनवद्वादशाङ्गुलप्रमाण, मूलेऽग्रे चातुराङ्गुष्ठकनिष्ठिकापरिणाहमर्द्धाङ्गुलात्प्रभृत्यर्द्धार्द्धाङ्गुलप्रवृद्ध[2] त्र्यङ्गुलपर्यन्तप्रवेशमूलच्छिद्र, वनमुद्गमाषकलायक्लिन्नकला[3]यकर्कन्धु[4] वा ह्यग्रच्छिद्र, मूलच्छिद्रप्रमाणमङ्गुलै[5]रग्रे यथास्व सन्निविष्टकर्णिक, कर्णिकान्त प्रतिबद्धसूत्रान्तर्गृहीताग्रपिधानघनचैलवर्ति, मूले व्यङ्गुलान्तराले कर्णिकाद्वय कारयेत्। वर्षान्तरेषु च वयोबलशरीराण्यवेक्ष्य नेत्रप्रमाणमुत्कर्षयेत्।

बस्तियन्त्रनिर्माणविधि—**उपर्युक्त निरूह एव अनुवासन बस्ति इन दोनों के लिए यन्त्र का नेत्र अर्थात् नली स्वर्णादि (सुवर्ण, रजत, पीतल, लोह, कासा, शीशा, कथीर इनमें से किसी भी) धातु की या मणि, शख, सींग, दांत-अस्थि (हस्तिदन्तादि), बास, नल (नरसल), खैर, कदर, तिनिश, तिन्दुक आदि (शीशम आदि किसी) वृक्ष के दारुसारमय (पक्के काष्ठ) की बनी हुई, सरल, चिकनी, गाय की पूँछ के आकारवाली तथा जिसका प्रवेशमुख गुटिका के आकारवाला गोल और चिकना हो जो कि गुद-द्वार में न चुभ सके ऐसी बनी हुई होनी चाहिए तथा इसकी लम्बाई ऊनवर्ष, वर्ष, सप्त, द्वादश, षोडश तथा विंशति वर्ष अवस्था के प्रमाण से क्रम से पाच, छ, सात, आठ, नव और बारह अङ्गुल की चाहिए अर्थात् एक साल के भीतर की अवस्थावाले के लिए पाच अङ्गुल लम्बी और एक वर्ष की अवस्थावाले के लिए छ अङ्गुल, सात वर्ष तक की अवस्थावाले के लिए सात अङ्गुल, आठ से बारह वर्ष की अवस्था तक के लिए आठ अङ्गुल, तेरह से सोलह वर्ष तक वयवाले के लिए नव अङ्गुल तथा सतरह से बीस वर्ष तक की अवस्थावाले के लिए बारह अङ्गुल लम्बी नली होनी चाहिए। इस नली के मूल एव अग्रभाग (निचले तथा ऊपर वाले भाग) की मोटाई रोगी के अङ्गुष्ठ तथा कनिष्ठिका अङ्गुली के बराबर क्रम से होनी चाहिए। आधे अङ्गुल से लेकर आधा आधा अङ्गुल बढ़ा कर तीन अङ्गुल तक अवस्थानुसार बस्ति के प्रवेश-मूल-छिद्र को बनाना चाहिए अर्थात् एक वर्ष के भीतर की अवस्थावाले के लिए प्रवेश-मूल-छिद्र का प्रमाण आधा अङ्गुल, एक वर्षवाले**

१ वर्तनात् २ भुक्तवाननुवास्योऽस्मान्न। ३ निरूहस्तु।

१ एकेनादिशब्देन प्रमेहान्ताना ग्रहणम्। अन्येन क्रिमिकोष्ठान्तानामितीन्दु। २ अर्द्धाङ्गुलप्रवृद्धत्र्यङ्गुल। ३ वनमुद्गमुद्गमाष। ४ कलाय कर्कन्धु वा। ५ प्रमाणाङ्गुलैरग्रे।

के लिए एक अङ्गुल, सात वर्षवाले के लिये डेढ़ अङ्गुल, बारह वर्ष के लिए दो अङ्गुल, सोलह साल की अवस्था के लिए ढाई अङ्गुल और बीस वर्ष की आयु वाले के लिए तीन अङ्गुल प्रमाण प्रवेश-मूल-छिद्र का चाहिए। यह सब प्रमाण रोगी के अङ्गुल मान से ही जानना चाहिए। गोपुच्छाकार कहने से इस नली का अग्रभाग कनिष्ठिका अङ्गुली के समान मोटा बताया गया है। इस अग्रभाग के आगे गुदा में सुख से प्रविष्ट हो सके ऐसा गुटिका के समान गोल और चिकना मुख बनाना चाहिए। इसके बीच में तैल-क्वाथादि औषध प्रविष्ट करने के लिए वनमुद्ग (मोठ), मूँग, उडद, मटर, भिगाए हुए फूले मटर या जगली छोटे बेर के समान छिद्र बनाना चाहिए। यह छिद्र पूर्वोक्त वय के अनुसार क्रम से बनाना चाहिए जैसा कि एक वर्ष के भीतर की अवस्थावाले बालक के लिए वनमुद्ग (मोठ) के समान, एक वर्ष की अवस्थावालों के लिए मूग के समान, सात वर्ष की अवस्थावालों के लिए उडद के समान, बारह वर्ष की अवस्था में मटर के समान, सोलह वर्ष की अवस्था में भिगोने पर फूले हुए मटर के समान और बीस वर्ष की अवस्था में छोटे जगली बेर के समान छिद्र बनाना चाहिए। इस कही हुई अवस्था के अनुसार रोगी के तीन अङ्गुल (सुश्रुत के मतानुसार साढ़े तीन अङ्गुल[1]) अन्तर से प्रवेश-छिद्र के पहले सचिक्कण किनारेवाली कर्णिका बनानी चाहिए। यह कर्णिका इसलिए है कि कर्णिका के आगे की तीन-साढ़े तीन अङ्गुल नली ही गुद द्वार मे जा सके, इससे अधिक न जा सके। इस कणिका के अन्त मे बस्ति की नली से, नली का अग्रभाग चर्म, रबर आदि की बनी हुई बस्ति के भीतर प्रविष्ट करके इस सन्धि को जाडे कपडे से ढककर खूब कसकर सूत से बाँध देवे। मूल से दो अङ्गुल के अन्तर पर और दो कणिका बनावे। रोगी की अवस्था जितने वर्ष की हो उसके अनुसार वय, बल, शरीरादि का भलीभाँति निरीक्षण करके बस्तिनेत्र (बस्ति की नली) के प्रमाण को बढावे।

विशेष वक्तव्य—यहाँ यन्त्र का नाम जो 'बस्तिनेत्र' कहा है, वह सार्थक है अर्थात् जो स्नेह-कल्कादि को अपान के प्रति या अपान मे ले जाता है उसे नेत्र (नेता) कहते हैं[2]। प्रवेशमूल-छिद्र अर्थात् गुदा मे जानेवाली नली का प्रमाण यद्यपि यहा तीन अङ्गुल कहा है, परन्तु रोगी के अङ्गुलों से वह साढ़े तीन अङ्गुल ही अधिक उचित प्रतीत होता है क्योंकि गुदान्तर्गत तीन वलियों का प्रमाण भी साढ़े तीन अङ्गुल का ही है।

ततोऽजाविवराहहरिणगोमहिषान्यतमज स्नेहमृद्ध[3] विमृदित विगतच्छिद्रशिराग्रन्थिस्कन्ध नातिवर्तुल मृदु दृढ कषायरक्त सुखसस्थाप्यौषधप्रमाण न्युब्ज विवृतानन विवेश्य बस्ति कर्णिकयोर्दृढेन सूत्रेण घन सम च बद्ध्वा परिवर्त्य पुनश्चान्यद्बस्तिमुखबन्धनार्थ सूत्रमुपधायानुगुप्त निधापयेत्।

इसके अनन्तर अर्थात् स्वर्णादि धातुओं में से किसी धातु की या सचिकण काष्ठ आदि की बस्तिनलिका बन जाने पर बकरी, भेड, शूकर, हरिण, गाय तथा भैंस इनमे से किसी एक की मूत्राधार चर्ममय बस्ति जो कि बारम्बार तेल और मूर्गो से मल कर चिकनी की हुई हो, जिसमें कहीं छिद्र न हो, जिसमें सिरा, ग्रन्थि और स्कन्ध न हो, जो अतिगोल न हो, जो नरम, दृढ और हरीतकी-कषाय द्वारा धोने पर रक्तवर्ण हो गई हो, जिसमें औषधमात्रा सुख से समा सके, उसको नली के मूल मे न्युब्ज (औंधी) इस प्रकार प्रवेश करे कि उसका चौडा मुँह ऊपर को खुला रहे और तङ्ग मुँह नली से बँध सके। प्रविष्ट करके उसे कर्णिकाओं मे सम (ऊँचीनीची न हो इस प्रकार) खूब मजबूत बाँधकर, पुन सीधी करके बस्ति के मुख को बाधने के लिए अन्य जगह पर सूत को बाधकर फिर सुरक्षित जगह में रक्खे।

बस्त्यभावे प्लवनीजगलाङ्कपादमधूच्छिष्टोपदिग्ध-घनसूक्ष्मतान्तवान्यतम निवेशयेत्।

बस्ति के अभाव में—यदि उपर्युक्त बकरी, भेड, शूकर आदि की बस्ति (मूत्राधारचर्मपेशी) न मिले तो प्लवनी (जलचर पक्षी विशेष[2]), छाग (बकरा), अङ्कपाद (विपाटित मेषकृत्तिपाद[3]) के सूक्ष्म चर्म की बनावे या मोमजामा कपडे की बनाकर बस्तिनेत्र के साथ नियोजित कर दृढ बाधे। इस गद्य में इन्दु तथा अरुणदत्त की व्याख्या कुछ सन्दिग्ध प्रतीत होती है। सुश्रुत तथा हेमाद्रिकृत व्याख्यानुसार भावार्थ यह है कि बस्ति के अभाव मे प्लवनी नामक जलचर के चर्म, बकरे के चर्म, भेड के चर्म या पादचर्म, सूत्र के बने सूक्ष्म वस्त्र का मोमजामा बना कर इनमें से किसी एक से बस्ति की योजना करे।

आस्थापनमात्रा तु प्रथमे वर्षे प्रकुञ्च । तत पर प्रतिवर्ष प्रकुञ्चमभिवर्धयेदाषट्प्रसृतास्ततश्चोर्ध्व प्रसृताभिवृद्धि । प्राप्तानतीताष्टादश सप्ततेस्तु द्वादशप्रसृता पर चातो दशैव । अन्ये पुनर्द्वादशप्रसृतस्याप्यष्टाविच्छन्ति । यथास्वमास्थापनमात्रा पादहीनाम घृतैलिके प्रयोज्या । अनुवासने त्वेवमेवास्थापनस्य पाद इति ।

आस्थापन आदि बस्ति की मात्रा—आस्थापन (निरूह) बस्ति की कषायस्नेहसहित मात्रा प्रथम वर्ष मे एक प्रकुञ्च (पल) की और इसके अनन्तर प्रतिवर्ष एक एक पल मात्रा बढ़ावे जब तक छ प्रसृत अर्थात् बारह पल हो जावे। साराश यह है कि प्रथम वर्ष एक पल, द्वितीय वर्ष दो पल तथा तृतीय वर्ष में तीन पल, इस प्रकार बारहवे वर्ष तक एक एक पल की वृद्धि मात्रा मे करे। इस प्रकार बारहवे वर्ष मे प्रसृत या बारह पल की मात्रा निरूहबस्ति मे होगी। इसके ऊपर अर्थात् तेरहवे वर्ष से लेकर अट्ठारहवे वर्ष तक एक एक प्रसृति (दो दो पल) मात्रा बढावे। इस प्रकार १८वे वर्ष में निरूह मात्रा १२ प्रसृति या २४ पल के बराबर होगी। इस अट्ठारहवें

१ अर्धतृतीयाङ्गुलसन्निविष्टकर्णिकानीति । २ 'नीयते प्राप्यते स्नेहकल्काद्यपानमिति नेत्रम्' इत्यरुण । ३ मुद्ध स्नेहविमर्दितमिति सुश्रुतसमतपाठ ।

१ च्छागलाङ्क । २ प्लवनी जलचरो विहङ्गविशेष । ३ अङ्कपादो विपाटितमेषकृत्तिपाद इतीदु । अङ्कपादश्चरणावयवविशेष इत्यरुण । अङ्कपाद —ऊरुचर्म पादचर्म वेति हेमाद्रि ।

वर्ष से लेकर सत्तर (७०) वर्ष की अवस्था तक मात्रा का प्रमाण बारह प्रसृत किंवा २४ पल समझना चाहिए और सत्तर वर्ष के आगे मात्रा का प्रमाण दस प्रसृति अर्थात् २० पल ही समझना चाहिए। कई आचार्य १२ प्रसृति की जगह ८ प्रसृति ही मात्रा का प्रमाण मानते है। साराश, वे २४ पल की जगह १६ पल की मात्रा ही मानते है।

भिन्न भिन्न अवस्था के अनुसार आस्थापन या निरूहमात्रा का प्रमाण जितना बताया गया है उससे चौथाई कम मात्रा माधुतैलिक बस्ति में देनी चाहिए। उदाहरणार्थ आस्थापन बस्ति की मात्रा चार पल हो तो माधुतैलिक मे वही पादहीन (चतुर्थांशहीन) अर्थात् तीन पल देनी चाहिए। इसी प्रकार आस्थापन मात्रा १० पल हो तो माधुतैलिक मात्रा ७॥ पल देनी चाहिए।

इसी प्रकार जिस अवस्था में आस्थापनमात्रा का प्रमाण जितना हो उससे चौथाई प्रमाण अनुवासन में स्नेहमात्रा का चाहिए। उदाहरणार्थ आस्थापनमात्रा का प्रमाण ४ पल हो तो अनुवासन मे एक पल और आस्थापनमात्रा एक पल की हो तो अनुवासन मे स्नेहमात्रा एक कर्ष की देनी चाहिए। इस प्रकार सर्वत्र विचार करके आस्थापन, माधुतैलिक एवं अनुवासन बस्ति मे मात्रा की योजना करनी चाहिए।

अथास्थापनीयमातुर स्नेहस्वेदोपपन्न कृतवमनविरेकमासेवितपेयादिससर्गक्रममुपजातबलमनुवासनार्ह पूर्वमेवानुवासयेत्। शीतवसन्तयोर्दिवा अन्यथा रात्राववेक्ष्य वा दोषादीन्। अन्यथा हि स्नेहोक्तामयप्रादुर्भाव। धान्वन्तरीया[1] पुनराहु।—

न रात्रौ प्रणयेद्बस्ति स्नेहोत्क्लेशो[2] हि रात्रिज।
स्नेहवीर्ययुत कुर्यादाध्मान गौरव ज्वरम्॥
अह्नि स्थापनस्थिते दोषे वह्नौ चान्नरसान्विते।
स्फुटस्रोतोमुख देह स्नेहो यत्परिसर्पति॥
अल्पपित्तकफ रूक्ष भृश वातरुजार्दितम्।
भुक्त जीर्णाशन काम रात्रावप्यनुवासयेत्॥

आस्थापन की विधि— **जिसको स्नेहन-स्वेदन कराया गया हो, जिसको वमन-विरेचन दे दिया गया हो और फिर जिसने पेयादिससर्गक्रम का सेवन कर लिया हो और जिसमें बल की प्राप्ति हो गई हो, जिसके लिए अनुवासन की आवश्यकता हो तो उसे पहले अनुवासन देवे। यहा 'अनुवासन की आवश्यकता हो तो अनुवासन दे' इसका भाव यह है कि दोष और व्याधि की अपेक्षा यदि बिना अनुवासन के भी आस्थापन करना चाहे तो कर सकते हैं[3]। आस्थापन या निरूह-बस्ति देना हो तो पहले अनुवासन दे और शीत तथा वसन्त ऋतु हो तो दिन मे और अन्य ऋतुओं मे रात्रि मे अनुवासन दे अथवा दोष, दूष्य, और व्याधि के अनुसार दिन में या रात्रि में अनुवासन दें। अन्यथा अर्थात् शीत-वसन्त मे रात्रि मे तथा ग्रीष्म आदि** अन्य ऋतुओं मे दिन मे अनुवासन देने से स्नेहपानविधि मे जिन व्याधियों का होना बताया गया है, उन्हीं व्याधियोंके उत्पन्न होने का सम्भव होगा।

बस्तिकर्म में धान्वन्तर सप्रदायका मत—**धान्वन्तरियों का कहना है कि किसी भी प्रकार की बस्ति रात मे नहीं देनी चाहिए, अपि तु दिन मे ही देनी चाहिए। रात्रि में बस्तिकर्म करने से स्नेह या दोषों का उत्क्लेशन होकर तथा रात्रि में स्नेह बलवान् होकर आध्मान, जड़ता और ज्वर को करता है। किन्तु दिन मे सब दोष अपने स्थान में रहने से, अग्नि के अन्नरस से युक्त रहने से तथा स्रोतों के मुख खुले रहने से स्नेह का बल सर्वत्र गमन करता है अर्थात् श्रेष्ठ फलदायक होता है।**

जिस का पित्त और कफ अल्प अर्थात् क्षीण हो, जो रूक्ष हो और जो वायु से अत्यन्त पीडित हो तथा जिसका भोजन किया हुआ पच गया हो तो ऐसी अवस्था मे रात्रि मे भी अनुवासन (बस्तिकर्म) यथेच्छ कर लेना चाहिए।

विशेष वक्तव्य—**उपर्युक्त क्षीण पित्त और कफ की अवस्था मे रात्रि में बस्तिकर्म करने का मत धान्वन्तर सप्रदाय का कहा है परन्तु वर्तमान में उपलब्ध सुश्रुतसहिता में पित्त के आधिक्य तथा कफ के क्षीण होने से रूक्ष एवं वायु से पीडित को बस्तिकर्म उष्ण काल में रात्रि में करना लिखा है। अन्तर इतना ही है कि सुश्रुत मे पित्त को अल्प न लिखकर अधिक लिखा है और साथ में उष्ण काल का भी निर्देश किया है। शेष बातें वे ही है जो यहा लिखी हैं।**

केवलानिलनिपीडित त्वशुद्धमप्यनिरूपितवेल[2] चाप्यनुवासयेदात्ययिकत्वाद्[3] व्याधे। तस्य विधिर्वमनादधिकतर कृतमङ्गलमनुसुखमभ्यक्तमुष्णाम्बुस्नात युक्तस्नेहमुचितात्पादहीन द्रवपूर्व लघूष्ण सानुपानमशनमशितवन्त कृतचङ्क्रमणमुत्सृष्टविण्मूत्रमशनार्द्रहस्तमशङ्कनीयपरिवार[4] निवाते वेश्मनि प्रतते शयने नात्युच्छ्रिते स्वास्तृत ईषदुन्नमितपाददेशे[5] वामपार्श्वेन प्राक्शिरस सवेशयेत्। अतिस्निग्धाशिनो ह्युभयमार्गससर्गात्स्नेहो मदमूर्च्छाग्निसादहृल्लासान् जनयति। रूक्षाशिनो विष्टम्भ बलवर्णहानिं वा। अल्पमात्रद्रवाशिनो विसृष्टविण्मूत्रस्य चान्नावृतेन तदावरणाद्व्यापदम्[6]। चिरमशितवतो विदाहाभिमुखभक्तस्य ज्वर कुर्यात्। यतश्च वामपार्श्वाश्रयाणि वह्निग्रहणीगुदवलीमुखानि तानि तत्पार्श्वशायिनो निम्नानि भवन्ति। अतस्तथौषधमस्खलितमाप्नोति प्रवेशनिर्गमाविति। सविष्ट चैनमृजुस्थितदेह स्वबाहूपधान प्रसारितवामसक्थिमाकुञ्चितेतर तस्यैव चोपरि प्रसारितदक्षिणबाहु कारयेत्। पूर्वमेव तु वैद्यो वर्त्या सुपिहिताग्रमच्छिद्र नेत्र भाजनस्योपरि कृत्वा

१ धन्वन्तरीया। २ दोषोत्क्लेशो, इत्यपि पाठ।
३ अनुवासनार्हमिति अनेनैतद्दर्शयति। दोषव्याध्यपेक्षया कदाचिदकृतानुवासन एवास्थाप्य इतीन्दु।

१ पित्तेऽधिके कफे क्षीणे रूक्षे वातरुगर्दिते। नरे रात्रौ च दातव्य काले चोष्णेऽनुवासनम्॥ इति। २ निरूपितबल। ३. त्ययिकत्वा। ४ परिचारक। ५ दुन्नतपाद। ६. तदावृताद्व्यापदम्।

दक्षिणपादाङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्या कर्णिकाया उपरिष्टान्निष्पीड्या-विबन्धाय शताह्वासैन्धवचूर्णावचूर्णित प्रागेव नेत्रस्पर्शात्पूर्ववदभिमन्त्रित यथार्हं यथार्हौषधविपक्व सुखोष्ण बस्तौ स्नेहमासिच्यावलीकोच्छ्वास निस्सारितवातबुद्बुदमौषधान्ते सूत्रेण द्विस्त्रिर्वा बस्तिमुखमावेष्ट्य दक्षिणपाणौ नेत्रमुपनिधाय तिष्ठेत् । ततो घृताभ्यक्ते पायौ वामहस्तप्रदेशिन्याऽभ्यक्तप्रवेशप्रदेशमपनीतवर्त्त्युत्तान-वामहस्ताङ्गुष्ठोदरपिहिताग्र मध्यमाप्रदेशिन्युपगृहीतकर्णिकमृज्वनुपृष्ठवशमनुसुखमेकमना लाघवेन निष्कम्पमद्रुतमविलम्बित नेत्रमाकर्णिक प्रवेशयेत्। आतुरोऽपि तदनुलोममवलम्बेत[1]। ततश्च वैद्यो बस्तिमुख दक्षिणहस्ताङ्गुष्ठप्रदेशिनीभ्यामसमुञ्चन्नेत्रमचालयन् हस्तद्वयेनोत्तानेनैकग्रहणेनैवानिलाधिष्ठानभूत किञ्चिदवशेषयन् शनै रवेगमनुपीडयेत्[2]। अन्यथा हि व्यापदो भवन्ति। ता ससाधना सिद्धिषु वक्ष्यन्ते।

केवल वात में बस्तिविधि—जो केवल वात से पीडित हो और व्याधि की प्रबलता हो तो उस रोगी को समय की अपेक्षा न करते हुए, अशोधित को ही अनुवासन (बस्ति) दे देना चाहिए । इसका विधि वमनविधि से भी अधिकतर करके मङ्गलोच्चारपूर्वक उसे प्रथम स्नेह से अभ्यक्त होकर फिर उष्ण जल से स्नान करना चाहिए । फिर प्रतिदिन के उचित (नियमित) भोजन से पादहीन (चौथाई कम) ऐसा भोजन करना चाहिए कि जो स्नेह (घृतादि) से युक्त, जिस के प्रथम द्रव पदार्थ सेवन किया हो, जो लघु (हलका) और उष्ण हो, अनुपान-सहित अर्थात् जिसके पश्चात् अनुपान (जल आदि) का सेवन किया गया हो । भोजन के बाद कुछ टहल कर मल-मूत्र का त्याग कर के तुरन्त भोजन के गीले हाथ जिस के न सूखे हों, उस निश्शङ्क परिवार या सेवकवाले रोगी को निर्वात स्थान के घर में ऐसे शयन (खटिया या आसन) पर पूर्व की ओर सिर करके बायें पसवाड़े के बल सुलावे कि जिस पर अच्छा बिस्तर बिछा हुआ हो, जो अधिक ऊचा न हो और जो पगों की तरफ कुछ नीचा हो । ध्यान रहे कि अतिस्निग्धभोजी, रूक्षभोजी, अल्पद्रवभोजी, तथा चिरकाल के भोजन किए हुए को अनुवासन या बस्ति न दे क्यों कि अतिस्निग्धभोजी को दिया हुआ बस्तिस्नेह मुख और गुदा इन दोनों मार्गो का ससर्ग होने के कारण मदात्यय, मूर्च्छा, अग्निमान्द्य और हृल्लास (उबकाई) को पैदा करता है । रूक्षभोजी को दिया हुआ स्नेह विष्टम्भ (मलावरोध-अफारा) करके बल और वर्ण की हानि करता है । अल्पद्रवभोजी को दिया हुआ स्नेह मल-मूत्र-विसर्जन हो जाने से अन्नावृत होकर उस के आवरण से व्याधि का सम्भव होता है । चिरकाल अर्थात् बहुत विलम्ब से भोजन करनेवाले के विदाहाभिमुख अन्न के होने से ज्वर की उत्पत्ति होगी । इस लिए उक्त दोषों से बचता हुआ रोगी को बाए पसवाडे से सुलावे क्यों कि वामपार्श्व के आश्रय में रहनेवाले अग्नि, ग्रहणी तथा गुदा की वलियों के मुख उस पसवाडे से सोनेवाले के निम्न (नीचे की ओर) हो जाते हैं अत वह औषध अस्खलित (इधर-उधर स्खलित न होकर) प्रवेश और निर्गम को प्राप्त होता है अर्थात् सीधा प्रवेश करता और निकलता है । अग्नि, ग्रहणी आदि उसका विरोध नहीं करते । अग्नि निराकार (अमूर्त) रहता हुआ भी नीचे की ओर न रहने से प्रतिघात करता ही है ।

उपर्युक्त प्रकारसे जो सीधे शरीर से सोया हुआ है, अपने वायें बाहुको मोड कर उसीको तकिया बनाया है जिसने, वामसक्थि (जानु के उपरि भाग) को जिसने फैला दिया है और दाहिने सक्थि भाग को सङ्कुचित कर अर्थात् सुकड कर उसी पर अपने दाहिने हाथ को जिसने प्रसारित कर रक्खा है ऐसे रोगी को मलावरोध न हो इस लिए पहले ही से सौंफ और सैन्धव नमक के बनाए चूर्ण सह, यथायोग्य ओषधियों के साथ विपक्व स्नेह को पूर्ववत् अभिमन्त्रित करके जो कि सुखोष्ण (कुनकुना) और रोगी के व्याधि के अनुकूल बनाया गया हो उस (स्नेह) को बस्ति में भर कर, बस्ति के अवलीगत वायु को दूर कर, औषध के अन्तिम भाग को दो तीन आटे देकर सूत से दृढ बाध दे। वैद्य को चाहिए कि वह पहले ही से बस्तिनलिका के अग्रछिद्र को बत्ती से बन्द कर उसे बर्तन पर रख कर दाहिने पग के अगूठा और अङ्गुली से कर्णिका के ऊपर के भाग को दबा कर दाहिने हाथ में बस्तिनेत्र को लेकर बैठे और फिर घृत से चुपड़ी हुई गुदा में, बाए हाथ की प्रदेशिनी (तर्जनी अगुली) से प्रवेश करने वाले बस्ति नलिका के अग्र भाग को चुपड कर उसके छिद्र मे दी हुई बत्ती को निकाल कर बामहस्त के अगूठे से बन्दकर, उसकी कर्णिका को मध्यमा तथा तर्जनी से पकड, रोगी को कष्ट न हो इस लिए हाथ को न कँपाता हुआ, न अति जल्दी एव न अति विलम्ब करके सीधी पृष्ठवश की ओर लक्ष्य करके एकाग्र मनसे हलके हाथ से बस्तिनलिका के कर्णिका तक के भाग को एक ही बार गुदा में प्रविष्ट करे। रोगी को भी चाहिए हि वह स्नेह सीधा पहुच जाय, इधर-उधर स्खलित न हो इस लिए उसी प्रकार लेटे जैसे कि शास्त्र में वर्णित है। इसके बाद वैद्य को चाहिए कि वह बस्ति के मुख को दाहिने हाथ के अगूठे और तर्जनी से न छोड़ता हुआ अर्थात् दृढ पकड़ कर बस्ति-नलिका को इधर उधर न हिलाता हुआ दोनों हाथों से धीरे से दबाता हुआ एक ही बार गुदा मे छोडे। ध्यान रहे कि इस प्रकार एक वार मे छोडने से जितना स्नेह प्रविष्ट हो उतना जाने दे परन्तु जो थोड़ा सा शेष स्नेह रहे उसको वायु के अधिष्ठानभूत शेष स्थान मे अवशिष्ट रहने दे। भावार्थ यह है कि बस्तिनेत्र को एक से अधिक बार दबाकर वायु को भीतर घुसने का मौका न दे, अपि तु वायु के अधिष्ठानभूत शेष स्थान में एक बार दबाने से अवशिष्ट रहे स्नेह से वायु को शान्त कर दे। अन्यथा बारबार बस्तिमुख के दबाने की या अन्य भूल से अनेक व्यापत्तियें होती हैं जिनका कि उपचार आगे सिद्धिस्थान मे कहा जायगा।

अन्ये तु त्रिंशन्मात्रा पीडनकालमाहु । न च बस्तौ दीयमाने क्षवकासहासजृम्भास्पन्दनान्याचरेत्। विण्मूत्रानिलवेगे तु नेत्रमाकृष्य वेगान्ते शेष प्रणयेत्।

[1] लोमयन्नवलम्बेत। [2] शनैश्शनैरवेग।

अन्ते चोत्तानस्य स्फिजौ पाणितलेन त्रिचतुरो वारास्ताडयेत्। तथा तत्पार्ष्णिभ्यां पादतश्च शय्यां त्रिरुत्क्षिपेत्। सोपधानस्य च प्रसारितसर्वाङ्गस्य पार्ष्णिके मुष्टिना हन्यात्। तथा पार्ष्ण्यङ्गुलिपादतलपिण्डिका सरुजं चाङ्गं स्नेहेन प्रतिलोमं वाक्शतमात्रं शनैर्विमृद्नीयात्। एवमाशु स्नेहो न निवर्तते। समनुगच्छति चासमन्तात्सिराः। ततः परन्तु स्नेहोक्तमाचारमनुवर्तते।

बस्ति देने पर कर्तव्य—कई आचार्य बस्तिपीडनकाल तीस मात्रा (बस्तिमात्रा) का कहते हैं। बस्ति के देने पर छींकना, खांसना, हँसना, जम्भाई लेना और हिलना नही चाहिए। बस्ति प्रवेश करने पर यदि पुरीष, मूत्र और अपान वायु की प्रवृत्ति हो जाय तो इनके वेग के अन्त मे फिर बस्ति नलिका को प्रविष्ट कर शेष स्नेह को भीतर छोड़ना चाहिए। अन्त में चित्त लेटे हुए रोगी को दोनों फीचों (चूतडों) पर हाथों की हथेलियों से तीन चार बार ताडन करे। पगों की एडियों तथा पगों को तीन बार शय्या से ऊपर उठावे। तकिया लगाए तथा शरीर को पसारे हुए उस रोगी की दोनों एडियों को मुष्टि (मुक्की) से ताडन करे तथा एडी, अगुलि, पगथली, पिण्डियों तथा पीडासहित शरीर में सीधी ओर सौ शब्द उच्चारण करने तक धीरे धीरे तेल से मालिश करे। इस प्रकार करने से स्नेह जल्दी बाहर नही निकलता किन्तु समस्त सिराओं की ओर चला जाता है। इसके अनन्तर स्नेहविधि में कहे हुए आचार का पालन करे।

दीप्ताग्निं च सायं लघ्वन्नं भोजयेत्। नैव चानागतस्नेहमपि[1] द्वितीयेऽहनि। न च तमनुवासयेत्। आगमनकालस्तु परो यामत्रयं ततः परमनागच्छन्तमहोरात्रमुपेक्षेत[2]। तदाप्यनिवर्तमाने फलवर्तिभिर्लवणारनालप्रायैर्वा तीक्ष्णबस्तिभिः शोधयेत्। स्नेहव्यापत्सिद्धिं चेक्षेत। अतिरौक्ष्यादनागच्छन्न चेज्जाड्याद्युपद्रवाय स्यात्। ततस्तथाऽप्युपेक्षेत। शीघ्रनिवृत्ते तु विना मलेन केवले स्नेहे स्नेहमन्यं पुनर्योजयेत्। न ह्यसावतिष्ठन् कार्यं करोति[3]। सुखोषितं चैनं तथा कृतवमनविरेकास्थापनान्यतमं प्रातः शुण्ठीधान्यकाथमितरं[4] वोष्णोदकं वा स्नेहशेषजरणाय वातकफोपशान्तये च पाययेत्।

बस्ति के अन्त में आचारविधि—बस्ति का प्रयोग करने के अनन्तर अर्थात् स्नेह के वापिस आकर सर्वथा निवृत्त हो जाने पर यदि अग्नि प्रदीप्त हो तो रोगी को सायंकाल मे लघु (मात्रा और गुण इन दोनों प्रकारों से हलके) अन्न का भोजन करावे। जिसका बस्ति द्वारा प्रयुक्त स्नेह पुनः बाहर न आया हो तो उसे सायंकाल मे लघु भोजन न करावे किन्तु दूसरे दिन भी जब तक स्नेह की निवृत्ति न हो भोजन न करावे। स्नेह की निवृत्ति हो गई हो, परन्तु अग्निमान्द्य हो तो उसे दूसरे दिन लघु अन्न का भोजन दे। अनागतस्नेह अर्थात् जिस के स्नेह की निवृत्ति न हुई हो तो उसे दूसरे दिन अनुवासन भी न दे। स्नेहबस्ति देने के बाद तीन प्रहरतक स्नेह के पुनरागमन का काल है अर्थात् तीन प्रहर मे पुनरागमन होकर स्नेह की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है अतः तीन प्रहर बीत जाने पर भी यदि पुनरागमन हो कर स्नेह की निवृत्ति न हो तो एक अहोरात्रतक ठहर जाय। इतने पर भी स्नेह की निवृत्ति न हो तो उस की शुद्धि अर्शश्चिकित्सोक्त फलवर्तियों तथैव कल्पस्थानोक्त नमक और काजीमिश्रित तीक्ष्ण बस्तियों द्वारा करे। इतना ही नहीं, स्नेहव्यापत्सिद्धि नामक प्रकरण को देखकर उस का उपाय करे। अतिरूक्षता के कारण स्नेह की निवृत्ति न हो कर यदि जाड्य (जडता), अग्निमान्द्यादि उपद्रव न हो तो भी उपेक्षा करे अर्थात् स्नेह के निकालने का प्रयत्न न करे। यदि स्नेहकी निवृत्ति विना मलके जल्दी हो जाय अर्थात् केवल स्नेह बाहर आजाय और मल न आवे तो उस के लिए पुनः स्नेहबस्तिकी योजना करनी चाहिए क्यों कि कोठेमें न ठहरनेवाला (बिना मल के तुरन्त बाहर आनेवाला) स्नेह कार्य करनेवाला नहीं होता। साराश, पुनः बस्ति देकर कोठे में कुछ कालतक स्नेह ठहरे ऐसा प्रयत्न करना चाहिए क्यों कि कोठे मे ठहर कर ही स्नेह कार्य कर सकता है।

शेष स्नेहके लिए पाचन—जो सुखसे सोया हो, जिस को वमन, विरेचन या आस्थापन (बस्ति) दिया गया हो, इन में से किसी के भी शेष रहे स्नेह के पाचन एवं वात-कफकी शान्ति के लिए प्रातःकाल मे शुण्ठी और धनियाका काढा बनाकर पिलाना चाहिए अथवा केवल उष्णोदक (गरम जल) पिलाना चाहिए ता कि उस के उपर्युक्त दोषों का पचन हो जाय।

ततोऽन्नकाले यथोक्तमन्नमश्नीयात्। न चानुवासितं पेयां पाययेत्। सा हि सस्नेहकोष्ठमेनमभिष्यन्दयति। पुनश्च तृतीयेऽहन्यनुवासयेत्पञ्चमे वा। यथा वा स्नेहपक्तिः स्यात्। अतश्च दीप्ताग्निरूक्षवातोल्बणव्यायामनित्यान् प्रत्यहम्। एवममुना क्रमेण दोषाद्यनुसारतस्त्रिचतुरैः[1] स्नेहबस्तिभिरुपस्निग्धं शोधनेनास्थापनेन स्रोतोविशुद्ध्यर्थमास्थापयेत्। वाताधिक्याद्स्निग्धं तु स्नेहनेन।

स्नेहपाचन के अनन्तर कर्म—शेष स्नेह पाचन के अनन्तर भोजन के समय में यथोक्त अन्नका आहार करावे किन्तु अनुवासन दिए हुए रोगी को पेया न पिलावे क्योंकि वह पिलाई हुई पेया स्नेह को साथ लेकर कोठेको अभिष्यन्दित करती है। पुनः उस रोगी को तीसरे या पांचवें दिन अनुवासन देवे अथवा जितने समय मे स्नेह का पाचन हो जाय तब तक अर्थात् तृतीय, पंचम एवं सातवे दिन भी अनुवासन देवे। अथवा अग्निके बलाबल को देखता हुआ सातवे दिन से न्यूनाधिक मे भी अनुवासन देवे। इसके अतिरिक्त जो दीप्ताग्नि हो—जिसकी जठराग्नि तेज हो, रूक्ष हो,

१ स्नेह द्वितीयेऽहनि। २ चावेक्षेत। ३ कार्यकरो भवति। ४. तरद्वोष्णमुदक।

१ आर्यतारा।

वाताधिक्य हो और जो नित्य व्यायाम करनेवाला हो, इन सबको प्रतिदिन अनुवासन देना चाहिए। इस प्रकार उपर्युक्त क्रम से दोषादि की दुष्टि के अनुसार तीन चार स्नेहनबस्तिये देकर स्निग्ध किए हुए रोगी को उसके स्रोतों की विशुद्धि के लिए निरूहबस्ति देकर शुद्ध करे किन्तु वायु की अधिकता से जो अस्निग्ध अर्थात् रूक्ष हो तो उसे स्नेहन बस्ति देकर ही शुद्ध करे।

अथैन तृतीये पञ्चमे वाऽहनि किञ्चिदावृत्ते मध्याह्ने कृतमङ्गलस्वस्त्ययनमभ्यक्तदेहं स्वेदितमुत्सृष्टमलमनाशितं नातिक्षुधितमवेक्ष्यातुरमार्यावलोकितं नाथमार्यं तारामात्मभुवं धातारमश्विनाविन्द्रमात्रेयं सप्त मुनीन् काशिविदेहपतिप्रभृतीनग्निवेशादींश्च तन्त्रकारान्दीपगन्धपुष्पफलबलिधूपैर्यज्ञ इव प्रकल्पितभागान् कृत्वौषधीवृद्धवैद्यद्विजातींश्च सपूज्य तद्विद्यसहितो दोषौषधादिबलेन यथार्हमुपकल्पयेद्वस्तिम्।

आस्थापन विधि—वैद्य को चाहिए कि वह अनुवासन के अनन्तर तीसरे या पाचवे दिन मध्याह्न काल के कुछ बीत जाने पर जिसने मङ्गलाचरण-स्वस्तिवाचन किया है, जो स्नेहन और स्वेदन करा चुका है, जो मल का विसर्जन कर चुका है, जिसने भोजन नहीं किया है और जो अतिक्षुधित नही है ऐसे रोगी को आर्यावलोकित (भगवान् बुद्ध), आर्यनाथ, भगवती तारा, ब्रह्माजी, अश्विनीकुमार, इन्द्र, आत्रेय, सप्तमुनि, काशिपति (भगवान् धन्वन्तरि), विदेहपति (जनक) तथा अग्निवेशादि (अग्निवेश, पराशर, जतुकर्ण, भेल, क्षारपाणि आदि) शास्त्रकारों का दीप, गन्ध, धूप, पुष्प, फल, आदि से यज्ञ की तरह इन सबके भागों की कल्पना करके ओषधियों, वृद्ध वैद्य और द्विजाति की पूजा करके उस विषय के जानने वाले वैद्य को साथ लेकर दोष (वातादि) तथा ओषधी (हरीतकी-गुडूच्यादि) के बलाबल का विचार कर यथायोग्य निरूह बस्ति को तयार करे।

तत्र विंशतिमात्राणि पलान्यौषधानां मदनफलाष्टकं च क्वाथकल्पेन विपचेत्। क्वाथाच्चतुर्थांशं स्नेहमनिले षष्ठांशं पित्ते स्वस्थवृत्ते चाष्टमांशं तु कफे। सर्वत्र चाष्टममंशं कल्कस्य स्याद्यावता वा नात्यच्छसान्द्रता भवेत्। गुडस्य पलं युक्त्या मधुसैन्धवे यथायोग्यं च शेषाणि कल्पयेत्। सर्वाणि चैकध्यमुष्णोदककुम्भीबाष्पाभितप्तानि खजमथितानि बस्तौ प्रक्षिप्यानुवासनवन्निरूहं प्रणयेन्नात्युष्णशीतं नातिमृदुतीक्ष्णं नातिस्निग्धरूक्षं नातितनुसान्द्रं न हीनातिमात्रं नालवणातिलवणं नात्यम्लं च। तत्र बाष्पमात्रानुतापादौषधस्य विदाहो न भवति। खजप्रमथनात्तु क्वाथस्नेहादयः सम्यक् सम्प्रयुक्ताः सम्यगेव योगमारभन्ते। अन्यथा पुनः क्वाथादीनामुल्बणोऽन्यतमं यथास्वं दोषमीरयेत्। अत्युष्णादीनां तु पृथग्व्यापदः साधनानि च सिद्धिषूत्तरकालमुपदेक्ष्यन्ते।

आस्थापन में क्वाथ की कल्पना—जितनी ओषधिये मिल सकें वे सब मिलाकर २० पल लें और मैनफल गिनती से आठ फल या दाने लें। इन सबको क्वाथकल्प के अनुसार पकावें। क्वाथ के सिद्ध हो जाने पर वायु दोष के लिए क्वाथ से चौथाई स्नेह (तेल) लेवे, पित्त दोष के लिए छठवा भाग क्वाथ का स्नेह लेवे तथा रोगी की कफ की अवस्था में स्नेह आठवाँ भाग लेवे और स्वस्थ अवस्था में भी निरूह बस्ति लेना हो तो क्वाथ से छठवाँ भाग स्नेह लेकर उस क्वाथ में मिलावे। सर्वत्र अर्थात् वात, पित्त, कफ एवं स्वस्थावस्था में ओषधियों का कल्क मिलाना हो तो क्वाथ का अष्टमांश मिलावे अथवा कल्क इतना मिलावे कि जिससे क्वाथ बिलकुल स्वच्छ न रहे अर्थात् न बिलकुल पतला और न गाढा ही हो। क्वाथ मे गुड़ एक पल मिलावे और यथायोग्य युक्ति से शहद और सैन्धा नमक मिलावे अर्थात् शहद ४ पल मिलावे और सैन्धा नमक एक अक्ष (एक तोला) मिलावे। शेष जवखार, मासरस, सुरा, आसव, सुक्त, क्षीर और काजी भी युक्ति से यथादोष मिलाना चाहिए। इन सबको मिलाने के अनन्तर मथनी से मथ डाले और फिर गरम जल भरे हुए घडे की बाफ से इन्हें किंचित् गरम करके बस्ति में भर कर अनुवासन बस्ति की तरह निरूहण करे। ध्यान रहे कि यह बस्ति के अर्थ प्रयुक्त किया जानेवाला क्वाथ न अति उष्ण और न अति शीत हो, न अति मृदु एवं तीक्ष्ण हो, न अति स्निग्ध और रूक्ष हो, न अति पतला और गाढ़ा ही हो, न अति हीन मात्रा और न अधिक मात्रा में हो, न लवणरहित और अतिलवणयुक्त हो, और न अति अम्ल (खट्टा) ही हो। यहाँ इस विधान का सार यह है कि जल की बाफ से तपाया हुआ वह क्वाथ विदाहकारक नहीं होता, मथनी से मन्थन करने पर क्वाथ में स्नेहादि द्रव्य सब मिल जाते हैं और वे योग में अच्छे फल के देनेवाले होते हैं, विपरीत इसके क्वाथादि का प्रयोग तदन्तर्गत द्रव्यों के अनुसार यथास्व अर्थात् वात, पित्त और कफ इनमें से किसी भी दोष के करनेवाले होते हैं। अति उष्ण, अति शीत, अति मृदु एवं अति तीक्ष्ण आदि की अलग अलग व्यापत्तियों (दोषों) का वर्णन तथा उनके उपाय आगे सिद्धियों के वर्णन मे कल्पस्थान मे कहेंगे।

अपि च—

तिर्यक्प्रणीते हि न याति धारा
गुदे व्रणः स्याच्चलिते च नेत्रे।
दत्तः शनैर्नाशयमेति बस्तिः
कण्ठं प्रधावेदतिपीडितस्तु॥
स्तम्भं विधत्तेऽतिमृदुर्हिमश्च
तप्ताम्लतीक्ष्णो भ्रमदाहमोहान्।

१ आर्यतारा २ वेश्यादींश्च ३ चाष्टमांशम् ४ उल्बणोऽन्यतमम्।

१ तत्रेयं युक्तिः। माक्षिकस्य पलचतुष्टयम्, सैन्धवस्य च कर्षं, आदिग्रहणाद् यवक्षारस्य कर्षं, तथा मासरससुरासवसुक्तक्षीरकाञ्जिकाना ग्रहणमित्यरुणः।

स्निग्धोऽति जाड्यं पवनं तु रूक्ष-
स्तन्वल्पमात्रालवणस्त्वयोगम् ॥
करोति मात्राभ्यधिकोऽतियोगे
क्षोभं तु सान्द्रः सुचिरेण चैति ।
दाहातिसारौ लवणोऽतिकुर्या-
त्तस्मात्सुयुक्तं सममेव दद्यात् ॥

अयथाबस्ति के दोष—बस्ति तिर्छी रहने से उसकी धारा ठीक गुदा मे नहीं जाती, यदि बस्ति देते समय चलित होगी—हिल जायगी तो गुदा मे फोड़ा पैदा करेगी, यदि बिलकुल धीरे से बस्ति दी जायगी तो वह ठीक आशय में नहीं पहुचेगी, अति जोर से दबाई जायगी तो शीघ्र ही ओषधि आमाशय मे पहुचेगी परन्तु वायु के जोर से औषधि कण्ठ की ओर दौडेगी, वह मुख और नाक से निकलने लगेगी, बस्ति अतिमृदु तथा ठण्डी होगी तो उसका स्तम्भन होकर क्राथ आमाशय में नही पहुँचेगा, बस्ति का क्राथ उष्ण, खट्टा और तीक्ष्ण होगा तो उससे भ्रम, दाह और मोह (बेहोशी) पैदा होगी, अतिस्निग्ध बस्ति के होने से जडता तथा रूक्ष होने से वायु का कोप होगा, बिलकुल तनु (हल्की) होने से आशय मे अत्यल्प मात्रा पहुँचेगी, नमक अत्यल्प होगा तो बस्तिप्रयोग ठीक नहीं होगा, अतिमात्रा होगी तो अतियोग दोष और क्षोभ पैदा होगा, अति गाढी (सान्द्र) बस्ति के होने से बहुत विलम्ब से बस्तिप्रयोग होगा तथा नमकका अतियोग होने से दाह और अतीसार पैदा होंगे इस लिए वैद्य को चाहिए कि वह बस्तिप्रयोग समरीत्या एव जिस प्रकार उपयुक्त हो वैसे बड़ी सावधानता पूर्वक करे ।

अन्ये पुनराहुः—

मात्रा त्रिपलिका कुर्यात्स्नेहमाक्षिकयो[१] पृथक् ।
कर्षार्धं माणिमन्थस्य स्वस्थे कल्कपलद्वयम् ॥
सर्वद्रवाणां शेषाणां पलानि दश कल्पयेत् ।
माक्षिकं लवणं तैलं[२] कल्कं क्वाथमिति क्रमात् ॥
आवपेत निरूहाणामेष सयोजने विधिः ।

अन्य मत से निरूहविधि—कई आचार्य तो कहते है कि स्नेह ३ पल, शहद ३ पल, सैन्धा नमक आधा कर्ष, कल्क २ पल और क्राथ, दुग्ध, गोमूत्रादि द्रव पदार्थ सब मिलकर १० पल लेवे । इन सबमे प्रथम शहद, फिर नमक, फिर तेल, फिर कल्क और फिर क्राथ इस क्रमसे सबको मिलावे। निरूहबस्ति की सयोजनविधि यही है ।

दत्तमात्रे तूत्तानः सोपधानो निरूहवीर्येण देहव्याप्तये तन्मनास्तिष्ठेत् । उदीर्णवेगश्चोत्कटको[३] विसृजेत् । आगमनकालस्तु परो मुहूर्तः । तदाप्यनागच्छन्नाशु मृत्यवे स्यात् । अतस्तत्रानुलोमिकस्नेहक्षारमूत्राम्लस्निग्धतीक्ष्णोष्णमन्यं प्रयोजयेत् । फलवर्तिस्वेदभयोत्त्रासादींश्च । बस्तिव्यापत्सिद्धि चेक्षेत[१] । स्वयं निवृत्ते तु पूर्ववद् द्वितीयं तृतीयं चतुर्थं च दद्याद्यावद्वा सुनिरूढः[२] स्यात् ।

बस्ति देने के पश्चात्कर्त्तव्य—निरूहण बस्ति को लेकर चित्त लेटा हुआ, सिरहाने तकिया लगाकर, निरूहबस्ति के बल से द्रव्य शरीर मे व्याप्त हो रहा है, इस प्रकार उसमें मन लगाकर लेट जावे और जब वेग आवे तब पावों के बल उत्कटासन (उकरू) से बैठकर निरूहण द्रव्य को बाहर निकाल दे । निरूहण द्रव्य के पुन बाहर निकल आने का समय अधिक से अधिक एक मुहूर्त्त अर्थात् दो घडी का माना गया है । इस समय तक भी यदि निरूहण द्रव्य बाहर न निकले तो वह शीघ्र ही मृत्यु का कारण होता है अत वैसी अवस्था में अनुलोमन करने वाले स्नेह (तैलादि), क्षार, गोमूत्र, अम्ल, स्निग्ध, तीक्ष्ण और उष्ण इनमें से किसी एक का प्रयोग करे । इतना ही नहीं, निरूह द्रव्य का अनुलोमन करने के लिए फलवर्तियों का प्रयोग करे, स्वेद दे, भय दिखावे तथा उत्त्रासादि देवे ताकि निरूह द्रव्य बाहर आ जावे । फिर भी अनुलोमन न हो तो बस्तिव्यापत्सिद्धि में बताए हुए उपाय करे । यदि स्वय निरूहण द्रव्य बाहर निकल जाय तो पूर्ववत् द्वितीय बस्ति दे, फिर तृतीय बस्ति दे और फिर चतुर्थ बस्ति दे । अथवा भलीभाति निरूहण न हो जाय तब तक नियमानुसार बस्तिप्रयोग करे ।

तत्राद्योऽनिलं स्वमार्गादपकर्षति द्वितीयः पित्तं तृतीयः श्लेष्माणमिति । तस्य हीनसम्यगतियोगास्तु विरिक्तवत् ।

प्रथम-द्वितीयादि बस्तिदान-फल—प्रथम बस्ति के देने से केवल वायु अपने स्थान से खींचा जाकर बाहर आता है । साराश, इससे वायु का दोष दूर होता है । इसी प्रकार द्वितीय बस्ति से पित्त का दोष तथा तृतीय बस्ति से कफ का दोष दूर किया जाता है । चतुर्थादि बस्ति की आवश्यकता तो तब होती है जब कि सयोगादि के कारण कुपित तीनों दोषों का अपकर्षण नहीं होता । भावार्थ यह है कि चतुर्थबस्ति त्रिदोष को दूर करनेवाली है ।

इन प्रथम, द्वितीय आदि बस्तियों का हीन, सम्यक् और अतियोग हो जाने पर वैद्य को चाहिए कि वह उनकी चिकित्सा विरेचन के हीन, सम्यक् एव अतियोग के अनुसार करे ।

सम्यङ्निरूढं तु कोष्णसलिलावसिक्तं तनुना जाङ्गलरसेन भोजयेत् । स्नाताशितस्यास्य चला दोषशेषाः स्वस्थानमाश्रयन्ते ।

सम्यक् निरूहण के पश्चात् सुखोष्ण जल से स्नान कराकर रोगी को जाङ्गल मासरस के साथ हलका भात का भोजन करावे। इस प्रकार स्नान कराने एव भोजन कराने से रोगी के निरूहण द्वारा चलित वातादि दोष अपने स्थान मे आकर स्थित हो जाते हैं ।

१ अतिप्रपीडितो बस्तिः प्रयात्यामाशयं ततः । वातेरितो नासिकाभ्यां मुखतो वा प्रपद्यते ॥ इति सुश्रुत । २ स्नेहं ३ श्चोत्कटुको

१ चावेक्षेत २ यत्र च दोषा एव नापकृष्टा सयोगादिवशात् तत्र चतुर्थादीना विषय इतीन्दु ।

तत पुनर्वातार्तमातुर बृंहणीयमन्य वा तद्विधमशितानन्तर साय वा पुनरल्पलब्धशित यथास्वमनिलादिषु दशमूलादिसाधितेन तैलेनानुवासयेत्[1] । तस्य हीन-सम्यगतियोगा स्नेहपीतवत् ।

उपर्युक्त प्रकार से भली भाति निरूहण हो जाने के बाद पुन वातरोगी को द्विविधोपक्रमणीय अध्याय मे कहे अनुसार बृंहण देना चाहिए। इसी प्रकार अन्य वातादि के रोगियों को जिनको हलका भोजन कराया गया है पुन सायकाल मे हलका भोजन देकर वातादि में दशमूलादि से साधित तेल से अनुवासन करे। यहा आदि ग्रहण से यह भाव निकलता है कि पित्तरोगी को न्यग्रोधादि या पद्मकादिगण के साथ साधित तैल से तथा कफ के रोगी को वत्सकादि गण के साथ पाचित तेल से अनुवासन देवे। अनुवासन कर्म में हीन, सम्यक् तथा अतियोग हो जाय तो उसकी चिकित्सा स्नेहपानव्यापत्तियों के अनुसार करनी चाहिए।

विशेषतस्तु सम्यगनुवासिते किञ्चित्काल स्थित्वा स्नेह' सपुरीषोऽनिलानुगत प्रवर्तत इति ।

सम्यक् अनुवासन में विशेषता—सम्यक् अर्थात् भलीभाति अनुवासित होने पर यह विशेषता होती है कि स्नेह कुछ काल तक पेट मे ठहर करके फिर वही पुरीष तथा अपान वायु के पीछे आप ही बाहर आ जाता है।

भवन्ति चात्र ।

एव कफे स्नेहबस्तिमेक त्रीन्वा प्रयोजयेत् ।
पञ्च वा सप्त वा पित्ते नवैकादश वाऽनिले ॥
पुनस्ततोऽप्ययुग्मास्तु पुनरास्थापन तत ।
कफपित्तानिलेष्वन्न यूषक्षीररसै क्रमात् ॥

दोषपरत्व स्नेहबस्तिसख्या—इस प्रकार कफ रोग में एक या तीन स्नेहबस्तियों का प्रयोग करे। पित्तप्रधान रोग मे पाच या सात स्नेहबस्ति दे और वातप्रधान व्याधि में नव या ग्यारह स्नेहबस्ति प्रयुक्त करे। यदि और भी आवश्यकता हो तो एक, तीन, पाच आदि अयुग्म बस्ति देवे। अरुणदत्त का कथन है कि वातप्रधान रोग में युग्मसख्याक अर्थात् ८,१०,१२ बस्ति भी दे सकते है। इसके अनन्तर पुन आस्थापन अर्थात् निरूहण बस्ति देनी चाहिए। ध्यान रहे कि कफ के लिए अनुवासनबस्ति दी गई हो तो उसे मूग आदि के यूष के साथ अन्न या भात देना चाहिए। पित्त के अर्थ अनुवासनबस्ति मे दूध के साथ अन्न देना चाहिए और वात के लिए दी गई बस्ति में उष्ण एव स्निग्ध मासरस के साथ अन्न देना चाहिए।

वातघ्नौषधनि क्वाथ[2]स्त्रिवृतासैन्धवैर्युत ।
बस्तिरेकोऽनिले स्निग्ध स्वाद्वम्लोष्णो रसान्वित:[3] ॥
न्यग्रोधादिगणक्काथ-पद्मकादिसितायुतौ ।
पित्ते स्वादुहिमौ साज्यक्षीरेक्षुरसमाक्षिकौ ॥
आरग्वधादिनि क्वाथवत्सकादियुतास्त्रय ।
रूक्षा सक्षौद्रगोमूत्रास्तीक्ष्णोष्णकटुका कफे ॥
त्रयश्च सन्निपातेऽपि दोषान् घ्नन्ति यत क्रमात्[1]
नाचार्यचरकस्यातो बस्तित्रिभ्य पर मत ॥
न हि दोषश्चतुर्थोऽस्ति पुनर्दीयेत य प्रति ।
उत्क्लेशन शुद्धिकर दोषाणा शमन क्रमात् ॥
त्रिधैव कल्पयेद्बस्तिमित्यन्येऽपि प्रचक्षते ।
दोषौषधादिबलत सर्वमेतत्प्रमाणयेत् ॥

दोषपरत्व-निरूहबस्तिकल्पना—वात दोष मे निरूहबस्ति देना हो तो दशमूलादि वातनाशक ओषधियों के काढ़े में निशोत का कल्क तथा सैन्धव नमक मिलावे और उसमें मधुर, अम्ल और उष्ण रस मिलावे। उसको एरण्ड तैल आदि के मिश्रण से स्निग्ध करके इसकी एक निरूहणबस्ति करे।

पित्त मे निरूहबस्ति देना हो तो न्यग्रोधादि गण और पद्मकादि अर्थात् दूर्वादि गण के क्काथ मे मिश्री, घृत, दूध, ईख का रस और शहद मिलावे और यह जिस प्रकार मधुर और शीतल हो वैसे करके इसकी दो निरूहणबस्ति देनी चाहिए।

यदि निरूहणबस्ति कफ दोष मे देना हो तो आरग्वधादि गण तथा वत्सकादि गणकी ओषधियों के काढ़े में शहद, गोमूत्रादि तीक्ष्ण, रूक्ष, तीक्ष्ण और कटु रसवाले द्रव्य मिलाकर इसकी तीन निरूहणबस्ति देनी चाहिए।

सन्निपात मे भी यथादोष कही हुई तीन ही बस्ति देनी चाहिए इस लिए कि उपर्युक्त तीनों बस्ति क्रम से देने से तीनों दोषों की शमनकारक होगी। हेमाद्रि लिखते हैं-कि वातपित्त, वातकफ और पित्तकफ की अवस्था मे दो दो बस्तिया देनी चाहिए।

चतुर्थादि बस्तियों का निषेध—वस्तुत दोषों की सख्या तीन ही है इस लिए आचार्य चरक तीन ही बस्तियों को मानते हैं। वे कहते हैं कि कोई चतुर्थ दोष ही नही है जिसके लिए बस्ति दी जावे। बस्तियों द्वारा दोषों का उत्क्लेशन, शुद्धि और शमन ये तीन ही कर्म किए जाते हैं अत अन्य चिकित्सकों का भी मत है कि बस्ति तीन ही माननी चाहिए।

दोष और ओषधियों के बलाबल का विचार कर के ही बस्तियों की कल्पना करना चाहिए। साराश यह है कि रोग की प्रबलता मे बस्ति के लिए ओषधियाँ भी उतनी ही प्रबल लेनी चाहिए, साधारण अवस्था में साधारण और सूक्ष्मावस्था में ओषधियाँ भी सूक्ष्म बल करे वैसे प्रमाण से लेनी चाहिए।

सम्यङ्निरूढलिङ्ग तु नासभाव्य निवर्तयेत् ।

जब तक भलीभाति निरूहण के लक्षण स्पष्ट न प्रतीत हों अर्थात् निरूहण ठीक न हुआ हो तब तक निरूहबस्ति के प्रयोग को बन्द न करना चाहिए।

प्राक् स्नेह एक. पञ्चान्ते द्वादशास्थापनानि च ।

---

१ वातादिषु दशमूलादिसिद्धन तैलेन, आदिग्रहणेन पित्ते न्यग्रोधादिपद्मकादीना कफे वत्सकादीना च परिग्रह इतीदु । २. निष्क्वाथ । ३. स्वाद्वम्लोष्णरसान्वित ।

१ सन्निपाते त्रीण्येव पुटानीत्यत आह त्रयश्चेति । वातपित्ते, वातकफे, पित्तकफे तु उक्तन्यायादेव द्वौ इति ।

सान्वासनानि कर्मैव बस्तयस्त्रिंशदीरिता ॥

कर्मसंज्ञक तीस बस्तिया—बस्तिसमुदाय तीन प्रकार के हैं १ कर्म, २ काल और ३ योग। इनमें कर्म ३० बस्तियों के समुदाय का नाम है। कर्मसमुदाय से आधा अर्थात् १५ या १६ बस्तियों की सञ्ज्ञा काल है तथा इससे आधा ८ का नाम योग है। देखे चरक संहिता, सिद्धिस्थान का प्रथम अध्याय। कर्म समुदाय का स्पष्टीकरण यह है कि जिसमे प्रथम एक स्नेहबस्ति हो और ऐसे ही अन्त मे पाच स्नेहबस्तिया हों जैसे कि छब्बीसवी, सत्तावीसवी, अट्ठावीसवी, उन्तीसवी और ३० वी तथा जिसमे १२ आस्थापन (निरूहबस्तियाँ) अनुवासन सहित हों जैसे द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम, दशम, द्वादश, चतुर्दश, षोडश, अष्टादश, विंशतितम, द्वाविंशतितम और चतुर्विंशतितम निरूहबस्तिया और तृतीय, पञ्चम, सप्तम, नवम, एकादश, त्रयोदश, पञ्चदश, सप्तदश, ऊनविंशति, एकविंशति, त्रयोविंशति और पञ्चविंशति ये १२ अनुवासन (स्नेह बस्तिया) हों। साराश, क्रमश १+५+१२+१२=३० स्नेह और निरूह मिल कर कर्मबस्तियों का योग ३० बताया गया है। अब काल और योग समुदाय को कहते हैं कि—

काल पञ्चदशैकोऽत्र प्राक्स्नेहोऽन्ते त्रयस्तथा।
षट् पञ्चबस्त्यन्तरिता योगोऽष्टौ बस्तयोऽत्र तु ॥
त्रयो निरूहा स्नेहाश्च स्नेहावाद्यन्तयोरुभौ।

काल सञ्ज्ञक १५ बस्तियाँ—कालसञ्ज्ञक बस्तिसमुदाय मे १५ बस्तियाँ इस प्रकार होती है कि जिनमे प्रथम एक स्नेह (अनुवासन) बस्ति और अन्तमे तीन स्नेहबस्तियोंके अतिरिक्त बीच बीच मे ६ निरूह और ५ या ६ स्नेहबस्तियाँ होती हैं। इनका योग १५ या १६ होता है। यथा प्रथम एक स्नेह बस्ति और इसी प्रकार अन्त की तीन चौदहवीं, पन्द्रहवी और सोलहवीं स्नेहबस्तियां। इनके सिवाय दूसरी, चौथी, छठी, आठवीं, दसवीं और बारहवीं निरूहबस्तिया और तीसरी, पाचवी, सातवीं, नवमी, ग्यारहवीं तथा तेरहवी स्नेहबस्तिया। यद्यपि वाग्भटने १५ ही योग कहा है परन्तु १५ का आधा ठीक आठ नही होता अपि तु ७॥ होता है। इसलिए हमने आचार्य जतूकर्ण एव चक्रदत्त के मतानुसार यहा १५ तथा १६ भी माना है।

योगसञ्ज्ञक आठ बस्तिया—योगसञ्ज्ञक बस्तिसमुदाय की सख्या आठ है और उसकी पूर्ति इस प्रकार से की जाती है कि आदि अन्त मे एक एक स्नेहबस्ति अर्थात् पहली और आठवीं स्नेहबस्ति तथा बीच में एक एक के अन्तर से तीन तीन निरूह और स्नेहबस्तिया अर्थात् दूसरी, चौथी और छठी निरूहबस्तिया तथा तीसरी, पाचवीं और सातवीं स्नेहबस्तिया। इस प्रकार कुल योग ८ होता है।

स्नेहबस्तिं निरूहं वा नैकमेवातिशीलयेत्।
उत्क्लेशाग्निवधौ स्नेहान्निरूहान्मरुतो भयम् ॥
तस्मान्निरूढ स्नेह्य स्यान्निरूह्यश्चानुवासित ॥

१ त्रिंशत्स्मृता कर्मसु बस्तयो हि कालस्ततोऽर्धेन ततश्च योग। इति। २. 'बस्तयस्त्रिंशत् षोडशाष्टौ च कर्मकालयोगा।' इति जतूकर्ण.।

केवल एक ही प्रकार के बस्ति सेवन में दोष—केवल एक ही प्रकार की बस्तिका सेवन नही करना चाहिए अर्थात् अकेले निरूह ही निरूह या अनुवासन ही अनुवासन बस्तिका सेवन नही करना चाहिए क्योंकि केवल स्नेहन (अनुवासन बस्ति) का सेवन किया जायगा तो उत्क्लेश (उबकाई) पैदा होगी और जठराग्नि मन्द हो जायगी। इसी प्रकार केवल निरूह बस्ति के सेवन करने से वायु के प्रकोप का भय होगा। इसलिये जिसे निरूह बस्ति दी गई हो तो उसके बाद उसे स्नेहबस्ति देना चाहिए और जिसको अनुवासन बस्ति दी गई हो तो उसके अनन्तर उसको निरूहबस्ति अवश्य देनी चाहिए।

स्नेहशोधनयुक्त्यैव बस्तिकर्म त्रिदोषजित्।
अष्टादशाष्टादशकान् बस्तीना यो निषेवते ॥
विधिना ना यथोक्तेन स भवेदजडोऽरुज।
सहस्रायु श्रुतधरो वीतपाप्मामरप्रभ ॥
वाजिस्यदो नागबल स्थिरबुद्धीन्द्रियानल ॥

युक्तिपूर्वक बस्तिसेवन का फल—इस प्रकार स्नेहन शोधन युक्ति से अर्थात् स्निग्ध का शोधन, शुद्ध का स्नेहन तथा स्निग्ध का पुन सशोधन इस प्रकार के युक्तिपूर्वक सेवन किया हुआ बस्तिकर्म त्रिदोष को जीतने वाला होता है। इतना ही नही, जो पुरुष पूर्वोक्त कर्मकालयोगादि विधि से अष्टादशाष्टादशकान् अर्थात् १८×१८=३२४ बस्तियों का सेवन करता है वह अजड (बुद्धिमान्) अथवा अजर और अरुज होता है अर्थात् वह जल्दी वृद्धावस्था को प्राप्त नहीं होता और न रोगी ही होता है। कि बहुना, वह सहस्रायु (हजार वर्ष की आयुवाला या दीर्घायुवाला), श्रुतधर (सुनी हुई बात को कभी भी न भूलने वाला), या श्रुतिधर (वेदों को धारण करनेवाला), पाप से रहित, देवता के समान कान्तिवाला, घोडे के समान स्त्रियों में रमण करनेवाला, हाथी के समान बलवान्, स्थिरबुद्धिवाला, इन्द्रियों को जीतने वाला तथा स्थिराग्नि (अच्छी जठराग्निवाला) होता है।

बस्तौ रोगेषु नारीणा योनिगर्भाशयेषु च।
द्वित्रास्थापनशुद्धेभ्यो विदध्याद्बस्तिमुत्तरम् ॥
आतुराङ्गुलमानेन तन्नेत्रं द्वादशाङ्गुलम्।
वृत्त गोपुच्छवन्मूलमध्ययो कृतकर्णिकम् ॥
सिद्धार्थकप्रवेशाग्र श्लक्ष्ण हेमादिसभवम्।
कुन्दाश्वमारसुमन पुष्पवृन्तोपम दृढम् ॥

उत्तरबस्तिका विधान—गुदा से उत्तर मार्गसे अर्थात् लिङ्ग या योनिद्वारा दी जानेवाली बस्ति को उत्तरबस्ति कहते है। पुरुषों के बस्तिगत रोगों में और स्त्रियों के बस्ति, योनि तथा

१ भवेदजरो २ श्रुतिधरो ३ स्नेहशोधनयुक्त्येति। स्निग्धस्य शोधन, शुद्धस्य स्नेहन, स्निग्धस्य पुन शोधनमित्यादि युक्तिरिति हेमाद्रि। ४ कियतोऽष्टादशकानित्याह अष्टादशेति। एवमष्टादशभिरष्टादशकैर्बस्तीना त्रीणि शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि भवन्ती तीन्दु। ५ वाजस्यदो योऽश्व इव स्त्रीपु सरतीति इन्दु। ६ गुदा दुत्तरेण मार्गेण दीयत इत्युत्तरबस्ति।

गर्भाशय के रोगों में दो तीन वार निरूहवस्ति देने के बाद उत्तरबस्ति देनी चाहिए। पुरुषों के लिए इस उत्तरबस्ति यन्त्रका प्रमाण रोगी के अङ्गुलों से बारह अङ्गुल लम्बा होना चाहिए और वह गाय की पूँछ के समान गोल होना चाहिए। उसके मूल और मध्य मे कर्णिका अटकाव के लिए बनानी चाहिए तथा इसका प्रवेशवाला अग्रभाग जिसमे सरसों समा जावे इतना चौड़ा होना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह यन्त्र नितान्त चिकना और सोना चादी आदि धातु का बना हुआ कुन्द, कनेर और मालती पुष्प के वृन्त के समान और मजबूत बना हुआ होना चाहिए।

तस्य बस्तिर्मृदुलघुर्मात्रा शुक्तिर्विकल्प्य वा।

नेत्रबस्ति के मात्रा का प्रमाण—उत्तरबस्ति मे प्रयोगार्थ बस्ति हल्की तथा नरम लेनी चाहिए और वह ऐसी हो जिसमे शुक्ति अर्थात् दो तोले स्नेहादि आ सकें। इसके अतिरिक्त वैद्यको चाहिए कि वह देश, काल, बलाबल आदि का विचार करके बस्ति एव उसकी मात्रा का निश्चय करे। बस्तियन्त्र धातुनिर्मित श्लक्ष्ण (चिकना) होना चाहिए जैसे कि पहले कह आए हैं।

अथ स्नाताशितस्यास्य स्नेहबस्तिविधानत ।
ऋजो सुखोपविष्टस्य पीठे जानुसमे मृदौ ॥
हृष्टे मेढ्रे स्थिते चर्जौ शनै स्रोतोविशुद्धये ।
मालतीपुष्पवृन्ताग्रपरिणाहा घनामृजुम् ॥
श्लक्ष्णा शलाका प्रणयेत्तया शुद्धेऽनुसेवनि[1] ।
आमेहनान्त नेत्र च निष्कम्प गुदवत्तत ॥
पीडितेऽनुगते स्नेहे स्नेहबस्तिक्रमो हित ।
बस्तीननेन विधिना दद्यात्त्रीश्चतुरोऽपि वा ॥
अनुवासनवच्छेष सर्वमेवास्य चिन्तयेत् ॥

पुरुषों के लिए उत्तरबस्तिविधि—पुरुष को उत्तरबस्ति देना हो तो उसको प्रथम स्नेहबस्ति की तरह मङ्गलाचरण करके और फिर स्नान किए हुए तथा भोजन किए हुए, जानुसम ऊचे मृदु आसन पर सरल एव सुख से बैठे हुए, लिंग की हर्षित एव सरल अवस्था मे, धीरेसे उसमे स्रोतों की शुद्धि के लिए, मालतीपुष्प के वृन्त के अग्रभाग के समान, लम्बी, मजबूत, सीधी तथा चिकनी शलाका को सीवन के अनुसार लिङ्गके अन्त तक हाथ न हिलाते हुए गुदा की स्नेहबस्ति की तरह चलावे और फिर यन्त्र को दबावे ताकि स्नेह ठीक स्थान तक पहुँच जाय। स्नेह के पुन लौट कर बाहर आने तक वही क्रम करे जो कि स्नेहबस्ति में वर्णन किया गया है। इस विधि से तीन या चार उत्तरबस्ति देवे। शेष सब विधि अनुवासन बस्ति की तरह करे।

स्त्रियों के लिए उत्तरबस्ति-विधि आदि को बताते हुए आचार्य कहते है कि—

स्त्रीणामार्तवकाले तु योनिर्गृह्णात्यपावृते[2] ।
विदधीत तदा तस्मादनृतावपि चात्यये ॥
योनिविभ्रंशशूलेषु योनिव्यापद्यसृग्दरे ।
नेत्र दशाङ्गुल मुद्गप्रवेश चतुरङ्गुलम् ॥
अपत्यमार्गे योज्य स्याद्द्व्यङ्गुल मूत्रवर्त्मनि ।
मूत्रकृच्छ्रविकारेषु बालाना त्वेकमङ्गुलम् ॥
प्रकुञ्चो मध्यमा मात्राबालाना शुक्तिरेव तु ॥

स्त्रियों के लिए उत्तरबस्तिविधि—यदि स्त्रियों को उत्तरबस्ति देना हो तो उनके ऋतुकाल में ही देना चाहिए क्योंकि ऋतुकाल मे स्त्रियोंके गर्भाशय का मुख खुला रहने से गर्भाशय के समस्त दोषों का सशोधन हो जाता है। परन्तु योनिभ्रंश, योनिशूलादि व्यापत्तियों में तथा रक्त एव श्वेतप्रदर की अवस्था मे ऋतु-काल के बिना भी उत्तरबस्ति देनी चाहिए।

स्त्रियों के अथ उत्तरबस्तियन्त्रका प्रमाण आदि—स्त्रियों के लिए उत्तरबस्तियन्त्र उनही के अङ्गुलमानसे दस अङ्गुल लम्बा, उसका मुख ऐसा हो जिसमे एक मूग आ सके। इसका प्रवेश चार अङ्गुल तक करना चाहिए अर्थात् प्रवेश करनेवाले मुखसे चार अङ्गुल पहले एक कर्णिका का यन्त्र मे होना आवश्यक है। चार अङ्गुल तक प्रवेश करने का विधान गर्भाशय की शुद्धि के लिए है। मूत्रकृच्छ्रादि विकारों मे यदि मूत्राशय की शुद्धि अभीष्ट हो तो दो अङ्गुल तक ही यन्त्र का प्रवेश योनि मे करना चाहिए।

अल्पवयस्क लडकियों के मूत्रकृच्छ्रादि विकारों मे उत्तर बस्तियन्त्र का प्रवेश एक अङ्गुल तक ही करना चाहिए। इसलिए कि इससे अधिक प्रवेश करने मे योनि मे क्षत हो जाने का सभव होता है।

स्त्रियोंके उत्तरबस्तिमात्रा का प्रमाण—प्रौढा स्त्रियों के गर्भाशय की शुद्धि के लिए उत्तरबस्ति की स्नेहादि मात्रा मध्यमा अर्थात् एक पल (चार तोले) की होनी चाहिए और छोटी लडकियों के मूत्रमार्ग की शुद्धि के लिए उत्तरबस्ति के स्नेहादि की मात्रा एक शुक्ति (दो तोले) की होनी चाहिए।

उत्तानाया शयानाया सम्यक् सकोच्य सक्थिनी ।
ऊर्ध्वजान्वास्त्रिचतुरानहोरात्रेण योजयेत् ॥
बस्तींस्त्रिरात्रमेव च स्नेहमात्रा विवर्धयेत् ।
त्र्यहमेव च विश्रम्य प्रणिदध्यात्पुनस्त्र्यहम् ॥

स्त्रियों के लिए उत्तरबस्तिका क्रम—उत्तरबस्ति जिस स्त्रीको देना हो तो उसे उत्तान (सीधी) लेटा कर उसकी दोनों सक्थियों अर्थात् ऊरूके ऊपरवाले भागों को सुकोड कर दोनों जानु (गोड़े) ऊपर की ओर कर देवे और फिर उत्तरबस्ति-यन्त्रद्वारा स्नेहादि उसकी योनि मे प्रविष्ट करे। इस प्रकार एक दिन रातमे तीन या चार उत्तरबस्तिया दे। इस क्रमको तीन दिन बराबर चलाते रहे परन्तु स्नेह की मात्रा को कुछ कुछ बढ़ाता जावे। इसके बाद तीन दिन विश्राम लेकर फिर तीन दिन तक उत्तरबस्ति के क्रम को करे।

पक्षाद्विरेको वमिते तत पक्षान्निरूहणम् ।
सद्यो निरूढश्चान्वास्य: सप्तरात्राद्विरेकित: ॥

वमनविरेचनादिका कर्म—जिसको वमन दिया हो तो उसे एक पक्ष (पन्द्रह दिन) ठहर कर फिर विरेचन देवे अर्थात्

१ शुद्धेऽनुसेवनीम्, शुद्धेऽनुसीवनीम्, इत्यपि पाठ। २ पावृता

निरूहण देवे। परन्तु जिसको निरूहण दिया हो उसे तुरन्त अनुवासन (स्नेहबस्ति) दे देना चाहिए। यहा तुरन्त का भावार्थ उस वातप्रधान अवस्था से है जिसके लिए पहले कह आए है कि 'अथ वातादित भूय सद्य एवानुवासयेत्' अर्थात् वायु की प्रबलता में निरूह के अनन्तर तुरन्त ही अनुवासन देना चाहिए। उचित तो यह है कि विरेचन के बाद सातवें दिनसे अनुवासन देना चाहिए।

यथा कुसुम्भादियुतात्तोयाद्राग हरेत्पट ।
तथा द्रवीकृताद्देहाद्वस्तिर्निर्हरते मलान् ॥

इत्यष्टाविंशोऽध्याय ॥ २८ ॥

बस्ति के मलहरण में दृष्टान्त—जिस प्रकार कुसुम्भपुष्पादि युक्त जलमे से कपडा रग को हरण कर लेता है किन्तु पुष्पादि के बक्कस को ग्रहण नहीं करता, ठीक इसी प्रकार द्रवीभूत शरीर में से समस्त शारीरिक मलों (दोषों) को बस्ति हरण कर लेती है किन्तु अदूषित रस-रक्तादि धातुओं का हरण नहीं करती।

इति श्रीवाग्भटकृताष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दी व्याख्याया बस्तिविधिर्नामाष्टाविंशोऽध्याय ।

अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः ।

अथातो नस्यविधिर्नामाध्याय व्याख्यास्याम[1] । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय ।

नस्यविधि-अध्याय—इसके पहले अध्यायों मे वातादि दोषों के निर्हरणार्थ वमन विरेचनादि कर्मों का वर्णन किया गया। किन्तु शिरोगत दोषादि का निर्हरण उक्त वमनविरेचनादि नही कर सकते जैसे कि नस्यविधि कर सकता है। नासा सिर का द्वार है अत उसके द्वारा प्रयुक्त औषधि शीघ्र ही मस्तक के समस्त दोषों को दूर करती है अत उसके परिज्ञानार्थ अध्याय का आरम्भ करते हुए आचार्य कहते हैं कि अब हम नस्यविधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने की है।

नासाया प्रणीयमानमौषध नस्यम्। नवान नस्त-कर्मेति च सज्ञा लभने। नासा हि शिरसो द्वारम्। तत्रावसेचितमौषध स्रोतश्शृङ्गाटक प्राप्य व्याप्य च मूर्धाननेत्रश्रोत्रकण्ठादिसिरामुखानि च मुञ्जादिषीकामिवासक्तामूर्ध्वजत्रुगता वैकारिकीमशेषामाशु दोषसहति-मुत्तमाङ्गादपकर्षति।

नस्यकर्म की व्याख्या और विशिष्टता—नासिका द्वारा दी जानेवाली ओषधि का नाम नस्य है। नावन और नस्त कर्म भी इसी नस्यकर्म के पर्यायवाची शब्द हैं। शिरोरोग एव ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों के निर्हरणार्थ जो ओषधि दी जाती है वह नासा द्वारा इसलिए दी जाती है कि नासा ही मस्तक का द्वार है। नासिका द्वारा दी जानेवाली औषधी स्रोत.शृङ्गाटक (सिर के मध्य) मे जाकर समस्त सिर मे व्याप्त होकर अर्थात् नेत्र, कान, कण्ठ आदि की सिराओं के भीतर प्रविष्ट होकर ऊर्ध्वजत्रुगत समस्त वैकारिक दोषसमूह को मस्तक मे से खीचकर इस प्रकार बहुत जल्दी बाहर फेंकती है जैसे कि मुञ्ज के साथ अटकी हुई दर्भशलाका खीचकर दूर कर दी जाती है। दोनों असस्थानों के अक्षक नामक अस्थियों की सन्धि का नाम जत्रुमर्म है। इस जत्रुमर्म के ऊपर नेत्र, नासिका, कान आदि के रोगों का नाम इसीलिए ऊर्ध्वजत्रुगत रोग है।

तत्तु त्रिविध विरेचन वमन शमन च। तेषा विरेचन जत्रूर्ध्वगौरवशोफोपदेहकण्डूस्तम्भाभिष्यन्दपाक प्रसेकवैरस्यारोचकस्वरभेदक्रिमिप्रतिश्यायापस्मारगन्धाज्ञानग्रन्थ्यर्बुददद्रुकोठादिषु श्लेष्मजेषु तीक्ष्णेन स्नेहेन शिरोविरेचनद्रव्यैर्वा सिद्धेन तेषा वा क्राथचूर्णस्वरसैस्तैरेव वा यथार्हद्रवैश्श्लक्ष्णकल्किताालोडितैर्मधुसैन्धवासव-पित्तमूत्रैर्यथास्व चोपदिष्टैर्योज्यम्।

नस्य के तीन प्रकार और उनका उपयोग—उपर्युक्त नस्यकर्म के तीन प्रकार है जैसे कि विरेचन नस्य, बृहण नस्य और शमन नस्य। विरेचननस्य—विरेचन नस्य का उपयोग उनके लिए किया जाता है जो ऊर्ध्वजत्रुगत गौरव, शोथ, उपदेह (उपजिह्वा), कण्डू, स्तम्भ (मन्यास्तम्भ), (अभिष्यन्द), पाक, स्राव, प्रसेक, मुखवैरस्य, अरोचक, स्वरभेद, क्रिमि, प्रतिश्याय, अपस्मार, गन्धाज्ञान (गन्ध का ज्ञान न होना), ग्रन्थि, अर्बुद, दद्रु, कोठ (लाल-श्वेत दाग) आदि कफजनित विकारों से पीड़ित है। इनको विरेचन नस्य इस प्रकार दिया जाता है जो सरसों आदि के तीक्ष्ण तेल से, शिरोविरेचनकारक तीक्ष्ण द्रव्यों से तयार किए हुए तेल से, इन द्रव्यों के क्राथ, चूर्ण और स्वरसों से सिद्ध किए हुए तेल से या क्राथ से अथवा इन्ही द्रव्यों के सूक्ष्म पिसे हुए कल्क से जो कि शहद, सैन्धव नमक, मद्य, पित्त और गोमूत्र इनमे से किसी एक के साथ आलोडित (घोल लिया) हो। जिस जिस व्याधि के प्रकरण मे जिन जिन द्रव्यों का वर्णन है, उन्हीं द्रव्यों के साथ सिद्ध किए हुए तेल, क्राथादि का उपयोग उस उस व्याधि मे यथोपदेश करे।

तत्र भीरुस्त्रीकृशसुकुमारेषु स्नेह । गलरोगसन्निपातज्वरातिनिद्रामनोविकारकृमिशिरोरोगाक्षिस्पन्दनतिमिरकृच्छ्रविषाभिपन्नाभिष्यन्दसर्पदष्टविसज्ञेषु शेषौ। तेष्वेव च भूयसि दोषे शीघ्रकारिणि च चूर्ण । स हि नासायामावेगकरतरो भवति।

भीरु स्त्री आदि को विरेचननस्य में विशेष—डरपोक, स्त्री, कृश (दुर्बल) और सुकुमारको विरेचन नस्य देना हो तो स्नेह (ओषधि साधित तेल या घृतादि) का देवे। गलरोग, सन्निपातज्वर, अतिनिद्रा, मनोविकार, कृमि, शिरोरोग, अक्षिस्पन्दन, तिमिर, कृच्छ्र, विष से व्याप्त, अभिष्यन्द तथा सर्पदश

१ 'स्रोत श्शृङ्गाटक शिरसोऽन्तर्मध्यम्'। २ अक्षकाख्ययोरंसयो॰ सन्धिर्जत्रुनाम मर्मेतीन्दु। ३ जत्रूर्ध्वगतेऽधिगौरव। ४ स्रावप्रसेक। ५ द्रव्यश्लक्ष्ण।

के कारण बेहोशी मे विरेचन नस्य देना हो तो क्वाथ, कल्कादि द्वारा देवे। इनमे भी दोषों को प्रबलता होने से यदि शीघ्र मारकता दिखाई देती हो तो विरेचन नस्य चूर्ण द्वारा दे। इसलिए कि चूर्ण नासिका मे पहुँच कर बहुत जल्दी अपना वेग दिखानेवाला है।

बृंहण सूर्यावर्तार्द्धावभेदकक्रिमिशिरोरोगाक्षिसंकोचस्पन्दनतिमिरकृच्छ्रावबोधदन्तकर्णशूलनादनासामुखशोषवाक्सङ्गस्वरोपघातमन्यारोगापतानकाववाहुकनिद्रानाशादिष्वनिलोत्थेषु स्निग्धमधुरद्रव्यैस्तत्सिद्धैर्यथायथ चोपदिष्टै स्नेहैर्निर्यासैर्धान्यमासरसरक्तैश्च।

बृहण नस्य—बृहण नस्य उनको दिया जाता है जो सूर्यावर्त, अर्द्धावभेदक, क्रिमि, शिरोरोग, अक्षिसकोच, अक्षिस्पन्दन, तिमिर, कृच्छ्रावबोध (नेत्र का कष्ट से खुलना), दन्तशूल, कर्णशूल, कर्णनाद, नासाशोष, मुखशोथ, वाक्सङ्ग (तुतलाकर बोलना), स्वरभेद, मन्यारोग (मन्यास्तम्भादि गर्दन के रोग), अपतानक और अवबाहुक (वातव्याधि विशेष), निद्रानाश आदि वातविकार से उत्पन्न व्याधिवाले हैं। इन्हें जो बृहण नस्य दिया जाय वह स्निग्ध, मधुर रसवाले द्रव्यों से अथवा इस प्रकार के मधुरादि से सिद्ध किए हुए स्नेहों (तेल घृतादि) से तथैव उक्त द्रव्यों के निर्यासों से एव धान्य, मासरस और रक्त के साथ सिद्ध किए स्नेहों से जिस जिस रोग मे जिनका उपदेश किया गया हे उनसे दिया जाय।

शमनमकालवलीपलितखलतिदारुणकरक्तराजीव्यङ्गनीलिकारक्तपित्तादिषु यथास्वमुपदिष्टै स्नेहैर्भेषजस्वरसादिभि क्षीरोदकाभ्यां वा समदोषे वाणुतैलेनेति।

शमन नस्य—शमन नस्य उनके लिए है जो अकाल में ही वली-पलितपीडित होते हैं अर्थात् जिनकी चमड़ी में अकाल मे ही झुर्रियां पडती है और बाल सुफेद हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त जो खलति (खल्वाट, इन्द्रलुप्त, गञ्ज, टाट) रोगवाला होता है और जो दारुणक, रक्तराजी (नेत्रों में रक्त रेखा), व्यङ्ग, नीलिका, रक्तपित्त आदि (पित्तदोषोत्पन्न) रोगवाले हैं। उस उस रोग मे जैसे उपदिष्ट किए गए हैं उन स्नेहों से जिन्हें पित्तनाशक द्रव्यों, द्रव्योंके स्वरसों तथा दूध और जल के साथ सिद्ध किए गए हों शमन नस्य देना चाहिए अथवा समदोष की अवस्था में शमन नस्य अणु तैल द्वारा देना चाहिए।

तत्र स्नेहो मात्राभेदाद् द्विधा मर्श प्रतिमर्शश्च। विरेचन शमनो वा नासया प्रणीयमान कल्कोऽवपीडसञ्ज्ञो विरेचनचूर्णस्तु प्रधमनाख्य। परिशेष तु नावनमवपीडकसञ्ज्ञम्। कल्कीकृतादौषधादवपीडित स्रुतो रसोऽवपीड इत्यपरेषाम्। तत्र पुनस्तीक्ष्णो वैशेषिकी शिरोविरेचनसञ्ज्ञा। तथाऽन्ये सर्वमेव विरेचन नस्यमित्याहु सद्य श्लेष्मविरेचनसामान्यात्।

मात्राभेद से स्नेह के दो प्रकार—मात्राभेद से स्नेह के दो प्रकार होते है १ मर्श और २ प्रतिमर्श। मर्श और प्रतिमर्श ये दो भेद केवल मात्रा के प्रमाण से हैं, न कि द्रव्यभेद से। मर्श प्रतिमर्श की मात्रा का प्रमाण आगे बताया जायगा।

नस्य की अवपीड और प्रधमन सञ्ज्ञा—विरेचन नस्य हो चाहे शमन नस्य हो जो कल्क द्वारा दिया जाता है उसकी अवपीड सञ्ज्ञा है और जो चूर्ण द्वारा विरेचन नस्य दिया जाता है उसकी प्रधमन सञ्ज्ञा है। शेष नस्यकर्म (क्वाथादि द्वारा) भी अवपीडक कहलाता है। कल्क किए हुए औषध को अवपीडन कर (निचोडकर) परिस्रुत किया जाता है इस लिए कुछ आचार्य उसी को अवपीड मानते हैं। यहा फिर तीक्ष्ण द्रव्यों द्वारा दिए हुए नस्य की विशेष करके विरेचन सञ्ज्ञा है। अन्य कुछ आचार्य सब प्रकार के शिरोविरेचन को नस्य ही कहते है इस लिए कि उससे तुरन्त कफका विरेचन हो जाता है। साराश, तीक्ष्ण द्रव्यों के कल्क द्वारा दिए जानेवाले नस्य को अवपीडन कहते हैं और तीक्ष्ण चूर्ण द्वारा दिए जानेवाले नस्य को प्रधमन कहते हैं।

अणुतैलविधान तु मञ्जिष्ठामधुकप्रपौण्डरीकजीवकर्षभककाकोलीद्वयपयस्यासारिवानन्तानीलोत्पलाञ्जनरास्नाविडङ्गतण्डुलमधुपर्णीश्रावणीमेदाकाकनासासरलसालभद्रदारुचन्दनै सुपिष्टैरष्टगुण षड्गुणेन पयसा तैल पचेत्। घृत वा पित्तोल्बणेषु दोषेषु।

अणुतैल की विधि—मजीठ, मुलेठी, पुडरी (पुण्ड्रक), जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीरकाकोली, पयस्या (विदारीकन्द), सारिवा (अनन्तमूल), धमासा, नीलोफर, अञ्जन (रसाञ्जन, रसोत), रास्ना, वायविडङ्ग, मधुपर्णी (गिलोय), श्रावणी (गोरखमुण्डी), मेदा, कौआठोडी, सरल (चीढ), देवदारु, सालई तथा रक्तचन्दन इन सबको समान भाग लेकर अच्छी तरह पीसकर कल्क बनावे और उससे आठ गुना तिल्ली का तेल तथा छ गुने दूध (बकरी का होतो अत्युत्तम) के साथ पकावे। बराबर तैल विधि के अनुसार पाक होने पर उतार लेवे। यह अणुतैल तयार हो गया। यदि पित्त-प्रधान व्याधि हो तो इन पूर्वोक्त द्रव्यों के घृत का पाककर काम मे लावे अर्थात् नस्य दे।

अथवा चन्दनागुरुपत्रदार्वीत्वङ्मधुकबलाद्वयबिल्वोत्पलपद्मकेसरप्रपौण्डरीकविडङ्गोशीरह्रीबेरवन्यत्वङ्मुस्तसारिवाबृहतीद्वयाशुमतीद्वयजीवन्तीदेवदारुसुरभिशतावरी शतगुणे दिव्येऽम्भसि दशभागावशिष्ट क्वाथयेत्। ततस्तस्य क्वाथस्य दशमाशेन समाश तैल साधयेत्। दशमे चात्र पाके तैलतुल्यमाजमपि पयो दद्यात्। एतदप्यणुतैल पूर्वस्माद्विशेषेणेन्द्रियदार्ढ्यकर केश्य त्वच्य कण्ठ्य प्रीणन बृहण दोषत्रयघ्न च।

अणुतैल की द्वितीय विधि—चन्दन, अगर, पत्रज, दारुहल्दी, दालचीनी, मुलेठी, बलाद्वय अर्थात् बला (खिरेटी), महाबला (कघी), बेल, नीलोफर, कमल की केसर, पुंडरी, वायबिडङ्ग, खस, हाऊबेर, नेत्रबाला, नागरमोथा, तज, केवटी मोथा, अनन्तमूल, छोटी और बडी दोनों कटेरी, शालपर्णी,

१ वापवाहुक। २ धन्वमासरस।

पृष्ठपर्णी, जीवन्ती (डोडी), देवदारु, ब्राह्मी और सतावर इन सबको समभाग लेकर इन सबके वजन से १०० गुने दिव्य (आकाश से बरसे हुए) जल के साथ पकावे, जब दशमभाग शेष रहे तब उतारकर छान ले। इस क्वाथ का दशम भाग जितना हो उतना तेल लेकर क्वाथ के दशम भाग के बराबर जल के साथ पकावे अर्थात् दशमांश क्वाथके साथ उतना ही तेल पकावे। जब तेलमात्र शेष रहे उतार ले। पुन शेष क्वाथ के नव भागों मे से एक भाग लेकर पूर्व सिद्ध तेल को उसके साथ पकावे। इस प्रकार ९ बार क्वाथ के एक एक दशमांश के साथ पकावे। दशम भाग क्वाथ का शेष रहेगा उसमें पुन उस तेल को तथा तेल के बराबर बकरी का दूध मिलाकर पकावे। तैलमात्र शेष रहने पर यथाशास्त्र परीक्षा कर उतार कर सुरक्षित रख ले। यह अणु तेल पहले कहे हुए अणु तेल से विशेष इन्द्रियों को दृढ करनेवाला, केशों के लिए हितकारी अर्थात् केशों को बढाकर सुन्दर बनानेवाला, चमड़ी को नरम एव सुन्दर बनानेवाला, कण्ठ को सुधारनेवाला, तृप्ति और पुष्टि का करनेवाला तथा तीनों दोषों का हरनेवाला है।

अनस्या[1]र्हास्तु भुक्तभक्तस्नेहमद्यगरतोयपीतपातुकामशिर स्नातस्नातुकामसिरादिव्यधस्रुतरक्तमूत्रितोच्चारिताभिहतकृतवमनविरेकबस्तिकर्मगर्भिणीसूतिकानवप्रतिश्यायश्वासकासिनोऽनार्तवदुर्दिनेष्वपि।

नस्य के अयोग्य प्राणी—जिसने भोजन किया हो, जिसने स्नेह-मद्य,गर और जल का पान किया हो या पीना चाहता हो, जिसने सिर से स्नान किया हो या स्नान करना चाहता हो, सिरादि वेध करने से जिसके शरीर से रक्त निकाला गया हो, जिसको मलमूत्र का वेग आया हुआ हो, जिसको चोट आई हो, जिसने वमन-विरेचन और बस्तिकर्म किया हो, जो गर्भिणी हो, जो प्रसूता हो, जो नये प्रतिश्याय-श्वास और कास से पीडित हो, इन सबको नस्य नहीं देना चाहिए। इसके अतिरिक्त बिना ऋतु के तथा दुर्दिन (बादलों से ढके हुए दिन) में भी नस्य का देना निषिद्ध है।

तत्र भुक्तभक्तस्य नस्येरितो दोष ऊर्ध्वस्रोतास्यावृत्य छर्दिश्वासकासप्रतिश्यायान् जनयेत्। स्नेहादिपीतपातुकामानामक्षिनासास्यस्यन्दोपहतितिमिरशिरोरोगान्। शिर स्नातस्य शिरोऽक्षिकर्णशूलकण्ठरोगपीनसहनुमन्यास्तम्भार्दितशिर कम्पान्। स्नातुकामस्य मूर्द्धस्तैमित्यजाड्यारुचिपीनसान्। स्रुतरक्तस्य क्षामतामरुचिमग्निसाद च। मूत्रितोच्चारितयोर्भृशतरवेगधारणजान्विकारान्। अभिहतस्य तीव्रतरा रुजम्। कृतवमनादीना श्वासकासस्वरेन्द्रियहानिशिरोगौरवकण्डूकृमिदोषान्। गर्भिण्या भक्तद्वेषज्वरमूर्च्छार्द्धावभेदका स्युरपत्य च व्यङ्ग विकलेन्द्रियमुन्मादापस्मारयुक्त वा। सूतिकायाः स्रुतरक्तोक्तान् दोषान्। नवप्रतिश्यायस्य स्रोतोरोधाद्दुष्ट प्रतिश्यायकेशशातकृमिकण्डूविचर्चिका। श्वासकासिनोव्याधिविवृद्धि। अकाले दुर्दिने सहसैव शैत्याच्छिरोरुग्वेपथुस्तैमित्यतालुनेत्रकण्डूपाकमन्यास्तम्भकण्ठरोगप्रतिश्यायारूषिका। तेषु यथास्वमायतन दोषोद्रेक चापेक्ष्य स्नेहस्वेदशिरोवक्त्रलेपसेकतीक्ष्णावपीडधूमगण्डूषादीनाचरेत्। विशेषेण तु गर्भिणी रूक्षे नस्य-कर्मणि वर्षाभूकाकोलीकपिकच्छुभि श्रृत पय पिबेत्। बला विदार्यंशुमतीमेदाभिर्वा। एभिरेव च श्रृत हवि। वातहरसिद्धश्च स्नेह शिरोबस्तौ कर्णपूरणे च योज्य। एवं च बृंहणमन्नपानम्। भुक्तभक्तादिष्वपि चात्ययिकव्याध्यातुरमपेक्षेत।

अयोग्यों को नस्यदान में दोष और उनके उपाय—भुक्तभक्त (भात खाए हुए या भोजन किए हुए) को नस्य देने से वह उसके ऊर्ध्व स्रोतों को ढककर छर्दि, श्वास, खासी और प्रतिश्याय को पैदा करेगा। स्नेहादि (स्नेह, मद्य, गर और जल) के पिये हुए या पीने की इच्छावाले को नस्य दिया जायगा तो आंख, नाक और मुख से स्राव, तिमिर और शिरोरोग होगा। सिरसे स्नान किए हुए को नस्य दिया जायगा तो सिर, आख और कान मे शूल, कण्ठ रोग, पीनस, हनुस्तम्भ, मन्यास्तम्भ, अर्दित और सिरका कापना ये रोग होंगे। स्नान की इच्छा वाले को नस्य देने से मस्तक में जडता, आलस्य, अरुचि और पीनस ये रोग होंगे। सिरावेध के कारण जिसका रक्त शरीर से बाहर निकल गया है उसे नस्य देने से क्षामता (दुर्बलता), अरुचि और मन्दाग्नि ये रोग होंगे। मल-मूत्र के प्राप्त वेग मे यदि नस्य कर्म किया जायगा तो वह वेग धारण से होनेवाले बहुत से विकारों को पैदा करेगा। चोट खाए हुए को नस्य दिया जायगा तो तीव्र पीडाका करनेवाला होगा। वमन-विरेचन-बस्तिकर्म किए हुए को नस्य देना श्वास, खासी, स्वरभेद, इन्द्रियोपघात, मस्तक का भारी रहना, खुजली और कृमिरोग का कारण होगा। गर्भिणी को दिया हुआ नस्य अन्न से द्वेष, ज्वर, मूर्च्छा तथा आधासीसी रोग को करेगा और उससे होनेवाली सन्तान व्यङ्गवाली, विकलेन्द्रियवाली एव उन्माद और अपस्मार रोगवाली होगी। प्रसूता स्त्रीको नस्य दिया गया तो उसको वे विकार होंगे जो रक्तस्रुति में दुर्बलता, अरुचि, मन्दाग्नि आदि विकार होते हैं। नवीन उत्पन्न प्रतिश्याय मे नस्य देने से वह उसके स्रोतों को रोक कर दुष्ट प्रतिश्याय को करेगा और बालों का गिरना, कृमिरोग, खुजली तथा बेवाची रोग पैदा होंगे। श्वास तथा कासरोगी को नस्य देने से उसका रोग और अधिक बढ़ेगा। नस्यदान के शास्त्रोक्त समय को छोड़ कर अकाल मे या दुर्दिन (बादलों से व्याप्त दिन) में नस्य देने से सहसा (यकायक) शैत्य पैदा होकर उससे सिरमें पीडा, कम्प, स्तैमित्य (शरीर भीगा सा प्रतीत होना), तालु और नेत्रों में खुजली-पाक, मन्यास्तम्भ, कण्ठरोग, प्रतिश्याय तथा अरूषिका (सिरमें छोटे छोटे दाने से फोड़ों का निकलना) ये रोग उत्पन्न होंगे।

यदि भूल से नस्य के अयोग्य प्राणियों को नस्य देने से उपर्युक्त रोगों की प्राप्ति हो जाय तो वैद्य को चाहिए कि वह

[1] अस्यानर्हास्तु इ० पा०।

उन उन व्याधियों, निदान, दोष-विशेषादि को देखकर स्नेह, स्वेद, सिर तथा मस्तक पर लेप, सेक (तरेडा), तीक्ष्ण अवपीड, धूमपान, गण्डूष आदि का आचरण कर उपचार करे। विशेषत गर्भिणी रूक्ष नस्यकर्म मे पुनर्नवा, काकोली और केवाचबीज के साथ क्वथित दूध का पान करे अथवा खिरेटी, विदारीकन्द, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी और मेदा के साथ सिद्ध किए हुए दूध का पान करे तथा इन्हीं ओषधियों से सिद्ध किए हुए घृत का पान करे। अथवा वायुनाशक सिद्ध स्नेह का उपयोग शिरोबस्ति तथा कर्णपूरण में करे। इसी प्रकार बृंहण अन्नपान का उपयोग करे। गर्भिणी के अतिरिक्त सुक्तभक्तादिकों के विषय मे भी यदि व्याधिका जोर अधिक हो जाय तो रोगी की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिए।

मर्शप्रमाण तु प्रदेशिन्यङ्गुलीपर्वद्वयान्निमग्नोद्धृताद्यावत्पतति स बिन्दु । अमी दशाष्टौ षड्बिन्दव उत्तममध्यमकनीयस्यो मात्रा । क्काथादीनामष्टौ षट् चत्वार । प्रधमनस्य तु षडङ्गुलद्विमुखया नाड्या मुखानिलेरितस्याकण्ठगते दोषानुरोधतश्च पुन पुनर्योजनमिति ।

मर्शसञ्ज्ञक नस्य का प्रमाण—स्नेह आदि मे प्रदेशिनी (तर्जनी) अङ्गुली के दो पर्व डुबाकर उठाने से जितना पडे उसे बिन्दु (बूद) कहते हैं। इस प्रमाण के १० बूद की उत्तम, आठ बूद की मध्यम और छ बूद की कनिष्ठ मात्रा (मर्श नामक नस्य की) मानी गई है। इसी मर्शनस्य की क्काथ, स्वरस आदि की मात्रा आठ, छ और चार क्रम से जानना चाहिए अर्थात् क्काथादि की आठ बूद की उत्तम, छ बूद की मध्यम तथा चार बूद की कनिष्ठ मात्रा जाननी चाहिए। यदि मर्शनस्य की चूर्ण द्वारा प्रधमनविधि की जाय तो वह दो छिद्रवाली छ अङ्गुल लम्बी नली द्वारा नाक मे नस्य दी जाय जो कि मुख की फूँक से रोगी के कण्ठ तक पहुँच जाय अथवा दोष के अनुरोध से अर्थात् दोष की जैसी प्रबलता हो उसके अनुसार मर्शनस्य की बारम्बार योजना की जाय ताकि दोषनिस्सरण सम्यक्तया हो जाय।

अथ नस्यार्हं नरमव्याहतवेग धौतान्तर्बहिर्मुखं स्निग्धस्विन्नशिरस नातिक्षुधित प्रायोगिकधूमपानविशुद्धस्रोतस स्वास्तीर्णनिवातशयनस्थमुत्तानशीर्षमीषदुन्नतपाद प्रसारितकरचरण जत्रूर्ध्वं पाणितापेन पुन पुन. स्वेदयेत्। तत कनकरजतताम्रान्यतमशुक्तिस्थित प्रदेयमौषधत्रिभागमुष्णाम्बुप्रतप्त किञ्चित्प्रलम्बितशिरसो वामहस्ताङ्गुष्ठकनिष्ठिकाभ्यामाक्रम्य नयनप्रच्छादन चतुर्गुण वासो मध्यमया नासाग्रमुन्नमय्य प्रदेशिन्यनामिकाभ्यां चैकैक नासापुट पर्यायेण पिधायेतरस्मिन्नासास्रोतसि दक्षिणहस्तेन प्रनाड्या[१] पिचुना वाऽनवच्छिन्नधारमासिञ्चेत्[२] ।

नस्यग्रहणविधि—नस्य देने के योग्य प्राणी को नस्य देना हो तो ऐसे पुरुष को देना चाहिए कि जो मल-मूत्रादि के वेगों से निबट चुका हो, भीतर और बाहर से जिसने मुँह को साफ कर लिया हो, जिसने पहिले मस्तक को स्निग्ध कर स्वेदित कर लिया हो, जो अधिक भूखा न हो, जिसने वक्ष्यमाण (आगे कहे जाने वाले) धूमपान को कर अपने मस्तक के सब स्रोतों को शुद्ध कर लिया हो, जो निर्वात स्थान में अच्छे बिछोने पर हो, जिसका सिर उत्तान अर्थात् सीधा हो, जिसने अपने मञ्च को पगों की ओर से कुछ ऊँचा कर लिया हो, जिसने हाथ-पाँव पसार दिए हों ऐसे मनुष्य के जत्रूर्ध्वभाग को प्रथम हाथों को तपा तपा कर स्वेदन करे। इसके अनन्तर सुवर्ण, रजत, ताम्र आदि किसी भी धातु आदि की बनी शुक्ति (सीप) में स्थित, दिए जानेवाले औषध के तीसरे भाग को जिसे उष्ण जल से कुछ गरम कर लिया हो उस स्नेह आदि को, जिसने अपने सिर को कुछ पीछे की ओर कर लिया है, अपने बाँयें हाथ के अगूठे और कनिष्ठिका अङ्गुली से नेत्रों पर चौगुने कपडे से ढक दिया है जिसने, मध्यमा अङ्गुली से नासिकाके अग्रभाग को कुछ ऊपर की ओर उठा कर, तर्जनी और कनिष्ठिका से एक एक नासापुट को पर्याय से ढककर अर्थात् ढके हुए नासापुट के दूसरे नासापुट में दाहिने हाथ से किसी नलिका या कपास के फाहे से अविच्छिन्न धारा छोडे। इस सारे कथन का सार यह है कि जिसको नस्य देना है प्रथम उसके सिर का स्नेहन और स्वेदन करके मल-मूत्रादि उपर्युक्त सब बातों से निपट कर निर्वातस्थान में ऊर्ध्वजत्रुभाग को स्वेदन करे। फिर सीधा लेटा कर, हाथ-पाँव पसरवा कर उसके पलङ्ग को पाँवों की तरफ से कुछ ऊँचा और सिरहाना नीचा करके फिर यथाविधि जिस ओषधि का नस्य देना हो उस स्नेह के तीन भाग करे प्रत्येक भाग को सोना, चाँदी, ताँबा आदि की कटोरी में डाल, गरम जल पर कुछ गरम कर नली से या रूई के फाहे से ओषधि नासिका में छोडे। ध्यान रहे कि एक नासापुट को उगलियों से बन्द करके दूसरे नासापुट मे स्नेह का नस्य देवे। फिर इसको बन्द कर पहले नासापुट में नस्य दे और इसको किंचित् काल तक बन्द करे। नस्य देते समय रोगी के सिर को कुछ पीछे की ओर नवा देना चाहिए।

वातपित्तकफामयेषु क्रमेणापराह्णमध्याह्नपूर्वाह्णेषु । लालास्रावसुप्तप्रलापदन्तकटकटायनक्कथनकृच्छ्रोन्मीलनपूतिमुखकर्णनादतृष्णार्दितशिरोरोगश्वासकासोन्निद्रेषु रात्रौ। स्वस्थवृत्ते तु शीते मध्याह्ने शरद्वसन्तयो. प्राह्णे ग्रीष्मेऽपराह्णे वर्षास्वादित्यदर्शने । पञ्चकर्माण्याचरतो बस्तिकर्मोत्तरकालमेव ।

नस्य देने का काल—वात, पित्त और कफरोग में क्रम से अपराह्ण, मध्याह्न और पूर्वाह्न में नस्य देना चाहिए अर्थात् वातरोगी को अपराह्ण (तीसरे प्रहर), पित्त रोगी को मध्याह्न तथा कफ के रोगी को पूर्वाह्ण (मध्याह्न से पहले) प्रात काल में नस्य देना चाहिए। लालास्राव (लार टपकना), सुप्तता, प्रलाप, दाँतों का कटकटाना, क्कथन (सहसा श्वास का रुक जाना), आँखों का कष्ट के साथ खुलना, मुख की दुर्गन्ध, कर्णनाद, तृष्णा, अर्दित, शिरोरोग, श्वास, कास और उन्निद्रा

१ प्रणाड्या २ नानवच्छिन्नमासिञ्चेत्।

(नींद का न लगना या न नींद का आना) इन रोगों मे रात्रि मे नस्य देना चाहिये। स्वस्थवृत्त (नीरोगावस्था) मे शीतकाल अर्थात् शिशिर और हेमन्त ऋतु मे मध्याह्नकाल मे, शरत् और वसन्त ऋतु में पूर्वाह्ण मे और ग्रीष्म ऋतु में अपराह्ण (सायकाल) में नस्य देना चाहिए। वर्षा ऋतु मे सूर्य के खुला रहने पर नस्य देना ठीक होता है। पञ्चकर्म किए हुए को बस्ति के उत्तर काल में (पीछे) नस्य दे देना चाहिए।

न च हीनाधिक सकृदेव सर्वमत्युष्णशीतमत्युन्नतावनतशिरसे सकुचितगात्रावयवाय देयम्। तत्र हीन दोषमुत्क्लेश्य न निर्हरेत्। गौरवारुचिकासप्रसेकपीनसछर्दिकण्ठरोगान् कुर्यात्। अधिकमतियोगदोषान्। सकृदेव सर्वं दत्तमुत्स्नेहनशिरोरोगप्रतिश्यायघ्राणक्लेदानुच्छ्वासोपरोध च। अत्युष्ण दाहपाकज्वररक्तागम शिरोरुग्दृष्टिदौर्बल्यमूर्च्छाभ्रमान्। नातिशीत हीनदोषान्। अत्युन्नतशिरसोऽपि सम्यक्शिरोऽप्रतिपद्यमान तानेव। अत्यवनतशिरसोऽतिदूरगमनान्मूर्च्छाजाड्यकण्डूदाहज्वरान्। सकुचितगात्रस्य सम्यग्धमनीरप्राप्नुवद्दोषोत्क्लेश वेदना स्तम्भ वा। यदि च नस्ये दीयमाने भेषजवेगादसात्म्यतया वा मूर्च्छा स्यात्तत शिरोवर्जं शीताम्भसा सिञ्चेत्। न च नस्ये निषिच्यमाने कोपहास्यव्याहारस्पन्दनोच्छिन्दनान्याचरेत्[१]। तथा हि शिरोरुक्प्रतिश्यायकासतिमिरखलतिपलितव्यङ्गतिलकालकमुखदूषिकाणा सभव।

न्यूनाधिकादि नस्यदान में दोष और उनके उपाय—हीनाधिक, एकदम, अत्युष्ण, शीत, अत्युन्नत और अवनत सिर के रहते हुए, सकुचित गात्रावयव मे नस्य नहीं देना चाहिए क्योंकि हीन नस्य देने से वह दोषों को उत्क्लेशन कर नहीं निकलेगा किन्तु जडता, अरुचि, खासी, लार टपकना, पीनस, छर्दि (वमन) तथा कण्ठरोग को करेगा। अधिक दिया हुआ नस्य अतियोग के दोषों को करेगा। एकदम समस्त नस्य स्नेहादि का देना अतीव स्नेहन, शिरोरोग, प्रतिश्याय, नासिका मे क्लेदन (साड), ऊर्ध्वश्वास या श्वास का रुकना इन रोगों को पैदा करेगा। अत्युष्ण नस्य दिया जायगा तो वह दाह, पाक, ज्वर, रक्तागम (मुख आदि से रक्त का निकलना), सिर मे पीडा, दृष्टि की दुर्बलता, मूर्च्छा और भ्रम, इन रोगों का करनेवाला होगा। अतिशीत नस्य दिया जायगा तो वह अतिहीन नस्य मे कहे हुए रोगों को करेगा। सिर को अत्युच्च रखते हुए नस्य दिया जाने पर वह उन्हीं दोषों का करनेवाला होगा जो अतिहीन नस्य मे कहे गए हैं क्योंकि इसमें भी स्नेह समस्त सिर मे व्याप्त नही होगा। सिर को अति नीचा करके नस्य देंगे तो वह स्नेह को मस्तक मे अति दूर तक पहुँचाकर मूर्च्छा, जडता, कण्डू, दाह और ज्वर को पैदा करेगा। सकुचित गात्र में नस्य के देने से वह भली भांति धमनियों में न पहुँचकर दोषों के उत्क्लेशन, वेदना और मन्यास्तम्भ को पैदा करेगा। यदि नस्य के देने पर ओषधि के वेग से अथवा रोगी को असात्म्य होने से उसे मूर्च्छा आ जायगी इस लिए मूर्च्छा आ जाने पर सिर को छोड कर अन्य शरीर को शीतल जल से सिचन करना चाहिए। नस्य देने के बाद कोप (क्रोध करना), हास्य (हसना), अधिक बोलना, हिलना, छीकना या किसी वस्तु को तोडना–फोडना आदि आचरण न करे क्योंकि इनके कारण सिर मे पीडा, प्रतिश्याय, कास, तिमिर, खल्वाट, बालों का जल्दी पकना, व्यङ्ग, तिलकालक और मुखदूषिका रोगों की उत्पत्ति हो जायगी।

दत्तमात्रे तु नस्ये कर्णललाटकेशभूमिगण्डमन्यास्कन्धपाणिपादतलान्यनुसुख मर्दयेत्। शनैश्चोच्छिन्घेत्[१]। अनभ्यवहरंश्च वामदक्षिणपार्श्वयोरौषध निष्ठीवेत्। सकफ हि तदभ्यवहृतमग्निमवसादयेत्। दोष च सवर्धयेत्। एकपार्श्वनिष्ठीवने न सर्वा सिरा भेषजेन सम्यग्व्याप्यन्ते। पुन पुनश्चैन स्वेदयेदाभेषजदर्शनान्नोच्छिन्देन्निष्ठीवेच्च। ततश्चैवमेव द्वितीयमशमानुषेचयेत्तथा तृतीय दोषादिबलेन वा। विरेचने त्ववपीडे दोषबलमपेक्ष्य पश्चात्स्नेहमनुपेचयेत्। निवृत्तनस्य चैवमुन्निद्रमुत्तान वाक्शतमात्र शाययेत्। तत पुनरप्युत्क्लिष्टदोषशेषोपशान्तये वैरेचनिक यथार्हं वा धूम पाययित्वोष्णोदकगण्डूषान् धारयेत्। अथास्य स्नेहोक्तमाचारमादिशेत्। अतिद्रवपान च वर्जयेत्। पुनश्च तृतीयेऽहनि नस्यमवसेचयेत्। हिध्मास्वरोपघातमन्यास्तम्भापतानकेषु शिरसि चानिलार्त्यांद्यभिभूते प्रत्यह सायप्रातरुभयकाल वा। अनेन विधिना पञ्च सप्त नव वा दिनानि दद्यादासम्यग्योगाद्वा। तत्र सम्यक्स्निग्धे मूर्धनि विरिक्ते वा सुखोच्छ्वासनिश्वासत्त्वथुस्वप्नप्रबोधे शिरोवदनेन्द्रियविशुद्धयो भवन्ति यथोक्तव्याध्युपशमश्च। अयोगातियोगयोस्तु यथास्व वातपित्तविकारास्तान्यथास्वमेव साधयेत्। अन्याश्च पूर्वोक्तान्विकारान्।

नस्य देने के पश्चात् कर्त्तव्य—नस्य देकर तुरन्त ही रोगी अपने कान, ललाट, मस्तक (केशस्थान), गण्ड (कपोल), मन्या (गर्दन), स्कन्ध (दोनों कन्धे), पगों तथा हाथों के तलुवों का सुहाता सुहाता मर्दन करे, दोनों नासापुटों में दिए हुए नस्य–स्नेह को श्वासद्वारा ऊपर की ओर खींचे, स्नेह के मुख मे गए हुए भाग को पेट में न जाने दे किन्तु थूक दे और बाए और दाहिने ओर के नासापुटगत स्नेह को निष्ठीवन द्वारा बाहर छोड दे क्योंकि कफमिश्रित वह स्नेहौषध पेट में जाने से अग्निमान्द्य करता है और दोष को बढाता है। स्नेह का निष्ठीवन दोनों बाजू से करे क्योंकि एक बाजू के निष्ठीवन करने से समस्त सिराओं में औषध नहीं पहुँचता। बारबार इस प्रकार उसको स्वेदन करे जबतक पूरी ओषधि मस्तिष्क सिराओं में न चली जाय तबतक नासापुटों से ऊपर की ओर खींचता रहे और खींचने से जो ओषधि मुँह में चली जाय

१ नोच्छिङ्खनान्याचरेत्।

१ शनैश्चोच्छिङ्खेत्।

उसे थूकता रहे। इसी प्रकार नस्यद्रव्य के द्वितीय अंश का सेचन करे अर्थात् नस्यप्रयोग करे। दोष आदि के बल के अनुसार यदि आवश्यक हो तो तृतीय भाग का भी नस्य प्रयोग करे। अवपीडसंज्ञक विरेचन (जो क्वाथ-कल्क-स्वरसादि द्वारा दिया जाता है) के बाद दोष के बलाबल को देखता हुआ स्नेह का नस्य दे। साराश यह कि तीक्ष्णनस्यविरेचन जनित तीक्ष्णता की शान्ति के लिए रोगी को सीधा लेटाकर किसी सिद्ध तैल का नस्य दे। नस्यविधि से निवृत्त हो जाने पर रोगी को उन्निद्रावस्था मे एक सौ की गिन्ती होने तक सीधा सुला दे। इसके अनन्तर फिर भी शेष उत्क्लिष्ट दोषों की शान्ति के लिए यथोचित विरेचक धूमपान कराकर गरम जल के कुल्लों को करके मुखादि शुद्ध कर लेवे। इस के बाद रोगी को पथ्यापथ्यविषय में स्नेहपानविधिनामक अध्याय मे वर्णित आचार का उपदेश करे। नस्य लिए हुए पुरुष को चाहिए कि वह अतिद्रव (अत्यन्त पतले) पदार्थ का पान न करे। पुन तीसरे दिन स्नेहनस्य लेवे। हिक्का, स्वरभेद, मन्यास्तम्भ, अपतानक (वातव्याधिविशेष) तथैव वातोत्पन्न शिरोरोगादि से पीडित मनुष्य को चाहिए कि वह प्रतिदिन सायकाल या प्रात काल में नस्य का सेवन एक बार करे अथवा दोनों समय (सायप्रात) मे नस्य का सेवन किया करे। इस विधि से पाच, सात या नव दिन तक नस्य का सेवन करे अथवा जब तक लाभ की प्राप्ति नही हो तबतक बराबर नस्यसेवन करता रहे।

नस्यद्वारा सम्यक् सिद्धि की परीक्षा—**शिरोविरेचन** के अनन्तर नस्य द्वारा मस्तक के सम्यक् स्निग्ध होने से श्वासोच्छ्वास की प्रवृत्ति सुख से होने लगती है। भलीभाति छींक और निद्रा का आना, यथासमय जाग जाना, सिर, मुख और इन्द्रियों की शुद्धि और इस नस्यविधि में वर्णित व्याधियों की शान्ति होती है। अयोग (हीनयोग) तथैव नस्य का अतियोग होने से वातपित्तविकार जैसे हों उनकी तदनुसार चिकित्सा करनी चाहिए तथैव पूर्वोक्त अन्यान्य विकारों की भी यथोचित चिकित्सा करे।

प्रतिमर्शस्तु क्षामक्षततृष्णामुखशोषवृद्धबालभीरुसुकुमारेष्वप्यकालवर्षदुर्दिनेष्वपि च योज्य। न तु दुष्टप्रतिश्यायबहुदोषकृमिणशिरोमद्यपीतदुर्बलश्रोत्रेषु। एषा ह्युदीर्णदोषत्वात्तावता दोषोत्क्लेशो भवति। तस्य पञ्चदशकालास्तेषां च गुणा। प्रातर्दन्ते भुक्तवतश्रान्ते स्रोतोविशुद्धि शिरोलाघव मन प्रसादश्च भवति। विण्मूत्रशिरोऽभ्यङ्गाञ्जनकवलान्ते दृष्टिप्रसाद। दन्तधावनान्ते दन्तदृढता सौगन्ध्य च। अध्वव्यायामव्यवायान्ते श्रमक्लमस्वेदस्तम्भनाश। दिवास्वप्नान्ते निद्राशोषगौरवप्रणाशो मन प्रसादश्च। अतिहसितान्तेऽनिलप्रशम। छर्दितान्ते स्रोतोलीनश्लेष्मव्यपोह। दिनान्ते स्रोतोविशुद्धि सुखनिद्राप्रबोधश्च भवति।

प्रतिमर्श नस्य के योग्य और अयोग्य प्राणी—**नस्य के दो प्रकारों में से पहले मर्श नस्य का वर्णन हो चुका। अब प्रतिमर्श नस्य का वर्णन करते हैं। प्रतिमर्श नस्य उन्हीं को** देना चाहिए जो क्षीण (दुर्बल) हो, उर क्षत, तृष्णा, मुख शोष रोग से पीडित हो, जो वृद्ध, बालक, डरपोक और सुकुमार हो। इनको प्रतिमर्श नस्य चाहे जिस समय (अकाल मे भी) तथा वर्षाकाल एव बादलों से ढके हुए सूर्य की अवस्था मे भी दे सकते हैं परन्तु दुष्टप्रतिश्याय, बढ़े हुए दोष, कृमि, शिरोरोग, मद्य पी लिया हो तो तथा कर्णस्रोत के बन्द होनेपर प्रतिमर्श नस्य नही देना चाहिए क्योंकि इनके बढ़े हुए दोषों के कारण केवल दोषों का उत्क्लेशमात्र होता है किन्तु अल्पमात्रा होने से प्रतिमर्श नस्य बढ़े हुए दोष या रोग का हरण नहीं कर सकता।

प्रतिमर्श नस्य के १५ काल और उनके गुण—(१) प्रात काल तथा (२) भोजन के अन्त में प्रतिमर्श नस्य देने से स्रोतों की शुद्धि होती है, मस्तक हल्का होता है और मन प्रसन्न होता है। (३) मलत्याग के अन्त में (४) मूत्रत्याग के अन्त में (५) शिरोऽभ्यङ्ग के अन्त मे (६) अञ्जन करने के अन्त में और (७) कवलग्रहक्रिया के अन्त मे प्रतिमर्श नस्य के देने से दृष्टिनिर्मलता प्राप्त होती है। (८) दन्तधावन के अन्त मे देने से दात दृढ होते हैं और मुख सुगन्धित होता है (९) अध्व-मार्ग चलकर (१०) व्यायाम कर के तथा (११) व्यवाय-मैथुन के अन्त में देने से श्रम, क्लम और स्वेद के अवरोध का नाश होता है (१२) दिन मे सोने के बाद देने से निद्रा, शोष तथा जडता का नाश होता है और मन प्रफुल्लित होता है (१३) अति हँसने के अन्त मे देने से वायु की शान्ति होती है (१४) छर्दि-वमन के अन्त में देने से स्रोतों में लीन हुए कफ का नाश होता है, और (१५) दिन के अन्त में प्रतिमर्श नस्य के देने से स्रोतों की भलीभाति शुद्धि होती है, सुख से नींद आती और जागना होता है।

भवति चात्र[1]

प्रमाण प्रतिमर्शस्य बिन्दुद्वितयमिष्यते।
बिन्दुर्वा येन चोत्क्लेशो नानुत्क्लिष्टस्य जायते॥
निष्ठ्यूते यत्र वा स्नेहो न साक्षादुपलक्ष्यते।
न नस्यमूनसप्ताब्दे नातीताशीतिवत्सरे॥
न चोनाष्टादशे धूम कवलो नोनपञ्चमे।
न शुद्धिरूनदशमे न चातिक्रान्तसप्तती॥
आजन्ममरण शस्त प्रतिमर्शस्तु बस्तिवत्।
मर्शवच्च गुणान् कुर्यात्स हि नित्योपसेवनात्॥
न चात्र यन्त्रणा नापि व्यापद्भ्यो मर्शवद्भयम्।
तैलमेव च नस्यार्थे नित्याभ्यासेन शस्यते॥
शिरस श्लेष्मधामत्वात्स्नेहा स्वस्थस्य नेतरे।
आशुकृच्चिरकारित्व गुणोत्कृष्टावकृष्टता॥
मर्शे च प्रतिमर्शे च न विशेषो भवेद्यदि।
को मर्श सपरीहार सापद च भजेत्तत॥
अच्छपानविचाराख्यौ कुटीवातातपस्थिती।
अन्वासमात्राबस्ती च तद्वदेव च निर्दिशेत्॥

इत्येकोनत्रिंशोऽध्याय ॥ २९ ॥

---

[1] भवन्ति चात्र इ पा

प्रतिमर्शनस्यका प्रमाण—**प्रतिमर्श नस्य का प्रमाण दो बूद या एक बूद है। इतनी अल्प मात्रा होने से अनुत्क्लिष्ट दोष का उत्क्लेश नहीं होता इस लिए वह चाहे जैसे निर्बल रोगी को भी दु खदायी नही होता और अत्यल्प मात्रा के कारण नाक सीकने पर न प्रत्यक्ष स्नेहका अश ही दिखाई देता है।**

प्रतिमर्श नस्यकी कालमर्यादा—**इस प्रकार का यह नस्य सात वर्ष से कम अवस्था मे और अस्सी वर्ष से अधिक आयु में नहीं देना चाहिए।**

धूम और कवल की कालमर्यादा—**अठारह वर्ष से कम आयु-वाले को धूमसेवन नही कराना चाहिए तथा पाच वर्ष से कम अवस्था मे कवलग्रहविधि नही करनी चाहिए।**

वमन—विरेचनादि सशोधन की कालमर्यादा—**दस वर्ष से कम आयु में और सत्तर वर्ष से अधिक आयु में वमन विरेच नादि सशोधन का देना निषिद्ध है।**

प्रतिमर्श नस्य सेवनका फल—**जन्म से लेकर मरण पर्यन्त नित्य सेवन करने से प्रतिमर्श नस्य बस्तिकी तरह तथा मर्श नस्य की तरह फल देनेवाला है। विशेषता यह है कि मर्श नस्यकी तरह प्रतिमर्श नस्यमें न किसी प्रकार का नियम है और न कष्ट होता है तथा न मर्शकी तरह व्यापत्तियों का ही भय रहता है।**

प्रतिमर्श में तेलका महत्त्व—**नस्य में तैल ही नित्याभ्यास के लिए श्रेष्ठ है। इस लिए कि सिर कफ का स्थान है। कफ-शान्ति के लिए जितना तेल श्रेष्ठ है उतने घृतादि अन्य पदार्थ नही हैं।**

मर्श नस्यकी विशेषता—**मर्श नस्य का फल तुरन्त होता है वही प्रतिमर्श के प्रयोग से विलम्ब मे होता है। मर्श नस्य अधिक गुणकारी है त्यों प्रतिमर्श उस की अपेक्षा अल्प गुण-कारी है। मर्श और प्रतिमर्श मे यदि अन्तर न होता तो फिर कौन व्यक्ति है जो परीहार (नियमादि) युक्त तथैव व्यापत्ति युक्त मर्श नस्य का सेवन करता? अर्थात् कोई भी नही करता। मर्श तथा प्रतिमर्श की तरह अच्छस्नेहपान और विचारणास्नेहपान मे अन्तर नही होता तो कोई भी अच्छ स्नेह का पान नही करता। इसी प्रकार कुटीप्रवेश और वातातपरसायन मे भी अन्तर नहीं होता तो कोई भी नियमादिरहित सरल वातातपरसायन को छोड़ नियमवाले कुटी प्रावेशिक रसायन का सेवन नही करता। तात्पर्य यह है कि नियन्त्रण-व्यापत्तियों के रहते हुए भी प्रतिमर्श की अपेक्षा मर्श, विचारणास्नेह की अपेक्षा अच्छ स्नेह तथैव वातात परसायनकी अपेक्षा कुटीप्रावेशिक रसायन अधिक गुणों के देने वाले हैं।**

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दी व्याख्यायां नस्यविधिर्नामैकोनत्रिंशोऽध्याय ।

अथ त्रिंशोऽध्यायः ।

अथातो धूमपानविधिमध्याय व्याख्यास्याम. । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय ।

धूमपानाध्याय—**इस से पहले अध्याय मे कथित नस्य-विधि की तरह धूमपान भी मस्तक के दोषों को हरण करता है अत उस के अध्याय का आरम्भ करते हुए आचार्य कहते है कि अब हम जिस मे धूमपानविधि का वर्णन है उस धूम पानविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि आत्रेय आदि महर्षियोंने पहले किया है।**

धूमो हि शिरोऽक्षिकर्णशूलाभिष्यन्दगौरवार्द्धावभेदकपीनसकासश्वासास्यवैरस्यप्रसेकवैस्वर्यपूतिघ्राणमुखहिध्मागलरोगदन्तशूलदौर्बल्यारुचिहनुमन्याग्रहकृमिकण्डुपाण्डुत्वक्केशदोषक्षवथुनाशबाहुल्यतन्द्राऽतिनिद्राक्रथनातिजत्रूर्ध्वगतवातकफव्याधिप्रशमाय प्रयुज्यते । तथा शिर कपालेन्द्रियमनोबृहणप्रसादनाय च। शीतद्रव्यनिवृत्तोऽप्यग्निसयोगादुष्णतया पित्तरक्तविरुद्ध । स त्रिविधो भवति शमनो बृहण शोधनश्च। तथा कासघ्नो वामनो व्रणधूपनश्च। तत्र शमन प्रायोगिको मध्यम इति पर्याय । बृहण स्नेहनो मृदुरिति। शोधनो विरेचनस्तीक्ष्ण इति च।

धूमपान के योग्य प्राणी—**जो शिर शूल, आख और कान के शूल से पीडित हैं, नेत्राभिष्यन्द, जडता (आलस्य), अर्धावभेदक (आधासीसी), पीनस, कास, श्वास, मुखवैरस्य, प्रसेक (मुख से लार टपकना), स्वरभेद, नासिका और मुख से दुर्गन्ध, हिचकी, कण्ठरोग, दांतों की पीडा, दुर्बलता, अरुचि, हनुग्रह (ठोडी का जकड जाना), मन्यास्तम्भ (गर्दन का अकड़ना), कृमिरोग, कण्डू (खुजली), पाण्डुत्वक् (त्वचा का पीला या श्वेत हो जाना), केशरोग, छींक का न आना या बहुत आना, तन्द्रा, अतिनिद्रा, सोते समय श्वास का रुकना, ऊर्ध्वजत्रुगत भाग मे वायु और कफ का अतिकुपित होना, इन रोगों से पीडित हैं इन के लिए धूमपान का प्रयोग किया जाता है। इन के अतिरिक्त मस्तक, कपाल, इन्द्रिय और मन की पुष्टि तथा प्रसन्नता के लिए भी धूमपान का प्रयोग करना ठीक होता है। शीतल पदार्थों से बनाया जाने पर भी अग्निसयोगद्वारा उष्ण होने से धूमपान पित्त और रक्त विकार में विरुद्ध होने से निषिद्ध है।**

धूमपान के तीन प्रकार और उन के पर्याय—**धूमपान के तीन प्रकार हैं (१) शमन, (२) बृहण और (३) शोधन। तथैव (१) कासघ्न (२) वामन और (३) व्रणधूपन ये भी धूमपान के तीन प्रकार हैं। शमन, प्रायोगिक और मध्यम ये शमन के पर्याय है। बृहण, स्नेहन और मृदु ये तीन बृहण के पर्याय हैं। इसी प्रकार शोधन, विरेचन और तीक्ष्ण ये तीनों शोधन के पर्याय हैं।**

अधूमार्हास्तु विरिक्तदत्तबस्तिरात्रिजागरिताभिहतशिरोमधु-दधि-दुग्ध-मद्यस्नेहयवागूविषपयःपीतमत्स्या-

शितपाण्डुरोगप्रमेहोदराध्मानोर्ध्ववाततिमिररोहिणिका-रक्तपित्तिनोऽत्युष्णोऽन्येऽपि च। एतेषा हि भ्रम-ज्वरशिरोऽभितापेन्द्रियोपघाततालुशोपपाकधूमायनच्छ-र्दिमूर्च्छारक्तपित्तार्दितानि मृत्यु वा धूमो जनयति अतिमात्रश्चान्येषामपि।

धूमपान के अयोग्य प्राणी—जिसने विरेचन लिया हो, जिसे बस्ति दी गई हो, रात्रि मे जो जागरण किया हो, जिस के सिर में चोट लगी हो, जिसने शहद, दही, दूध, मद्य, स्नेह (तैल घृतादि) यवागू और विष पिया हो, जल पिए हुए, मछली खाए हुए, पाण्डुरोग, प्रमेह, उदर, आध्मान, ऊर्ध्ववात, तिमिर, रोहिणि का (कण्ठजिह्वामूलगत रोग), रक्तपित्तरोगी इन सबको तथा अत्युष्ण काल आदि अन्यान्य समयों में भी धूमपान नहीं कराना चाहिए।

धूमपान के अयोग्य प्राणियों को धूमपान कराने मे दोष—उपर्युक्त रोगियों को धूमपान कराने से वह भ्रम, ज्वर, सिर का तपना, इन्द्रियोपघात (इन्द्रियों के धर्म का नष्ट होना) तालु का सूखना तथा पक जाना, आगे अधियारी का आना, छर्दि, मूर्च्छा (बेहोशी), रक्तपित्त (मुख, गुदा आदि से रक्त का निकलना) और अर्दित अर्थात् मुह का टेढा हो जाना ये रोग होते हैं। इतना ही नही, धूमपान के अयोग्य प्राणियों को धूमपान कराने से वह उनको मार डालता है। इनके अतिरिक्त धूमपान के योग्य प्राणियों को धूमपान का यदि अतियोग हो गया तो वह भीमृत्यु का देनेवाला होता है।

तत्र वातकफान्यतरससृष्ट पित्तमुपलच्य यथास्व सर्पिःकषायपाननस्यास्यालेपाञ्जनपरिषेकान् स्निग्धरूक्ष-शीतान् प्रयुञ्जीत। एतेन सर्वधूमोपघातप्रतीकारा व्याख्याता।

विशेषतस्तु सर्वस्रोतोऽभिगते धूमे (तीव्रतरा वेदना) भवंत्योषाध्माननेत्ररागश्वासकासपीनसाङ्गस्व-रसादाम्लका। तत्र घृतक्षीरेक्षुरसद्राक्षाशर्करोपयोग-स्तद्विधैरेव वमन कटुतिक्तैरपि च नस्यगण्डूषा।

धूमपानजनित भ्रमज्वरादि की चिकित्सा—उपर्युक्त भ्रम, ज्वर आदि उपद्रवों का कारण सर्वथा पित्तप्रकोपक ही होता है अत वायु और कफ करके सयुक्त उस पित्त का ठीक ध्यान रखते हुए उन उन रोगों की यथायोग्य चिकित्सा घृतपान, कषायपान, नस्य, मुख पर लेप, अञ्जन, परिषेकादि द्वारा करे जो कि स्निग्ध, रूक्ष और शीतल हों। सारांश यह है कि वात दोष प्रधान हो तो स्निग्ध, कफ दोषकी प्रधानता में रूक्ष तथा पित्त के लिए शीतल कषायपानादिद्वारा उपचार करे।

सर्वस्रोतोगत धूम की चिकित्सा—धूम यदि सर्वस्रोतों में व्याप्त हो जाय तो उसकी विशेष चिकित्सा करे क्योंकि सर्व-स्रोतोगत धूम की अवस्था मे वेदना तीव्रतर (भयङ्कर) होती है। यह तीव्र वेदना ओष (दाह), आध्मान (पेट का फूलना), नेत्ररोग (आखों का लाल हो जाना), श्वास, कास, पीनस, शरीर और स्वर में जडता, अम्लपित्तादि द्वारा होती है। इनकी यथायोग्य चिकित्सा घृत, दूध, ईख का रस, अङ्गूर (द्राक्षा) और शर्करा (मिश्री) के उपयोग को करके करे और इसी प्रकार वमन, कटुतिक्त पदार्थों के नस्य और गण्डूष (कुल्ले) कराकर करना चाहिए।

१ अत्रोऽय नास्त्यपरपुस्तके २ भवन्त्योषा।

पानकालास्त्वष्टौ प्रायोगिकस्य निशामूत्रशकृद्दन्त-धावनस्वेदनस्याहारशस्त्रकर्मान्ता। एकादश मृदो क्षुत-व्यवायहसितचिरासितजृम्भितमूत्रशकृद्दन्तधावनतर्पण-पुटपाकशस्त्रकर्मान्ता। पञ्च तीक्ष्णस्य नस्याञ्जनछ-र्दितस्नानाह स्वप्नान्ता। एषु हि कालेषु वातकफो-त्क्लेशो भवति।

प्रायोगिक धूमपान के काल—प्रायोगिक धूमपान करने के आठ काल हैं यथा (१) रात्रि के अन्त मे, (२) मूत्रोत्सर्ग के अन्त मे, (३) मलोत्सर्जन के अन्त मे, (४) दातुन करने के बाद, (५) स्वेद लेकर, (६) नस्य लेने के अन्त मे, (७) भोजन करने के बाद और (८) शस्त्रकर्म के अन्त मे।

मृदु धूमपान के काल - मृदु धूमपान के ग्यारह काल हैं। यथा—(१) छींक लेने के बाद, (२) मैथुन के अन्त में, (३) हँसने के बाद, (४) चिरकाल तक बैठने के अनन्तर, (५) जृम्भा अर्थात् जम्भाई लेने के पश्चात्, (६) मूत्रोत्सर्जन करके, (७) मलविसर्जन के अनन्तर, (८) दतुवन करने के बाद, (९) तर्पणक्रिया के अनन्तर (१०) पुटपाकक्रिया के अनन्तर और (११) शस्त्र कर्म के अनन्तर।

तीक्ष्ण धूमपान के काल—तीक्ष्ण धूमपान के काल पाच हैं। यथा—(१) नस्य के अन्त मे, (२) अञ्जन करने के अन्त में, (३) वमन के अन्त में, (४) स्नान करने के बाद तथा (५) दिन में शयन करने के बाद।

इन बताए हुए कालों मे धूमपान करने से कुपित वायु और कफ का उत्क्लेशन होता है अर्थात् वात और कफ ढीले होकर उनका निस्सरण होता है।

नेत्र तु बस्तिनेत्रद्रव्यभव गोपुच्छाकारमग्रमूलयो कनिष्ठिकाङ्गुष्ठाग्रपरिणाह राजमाषधूमवर्तिप्रवेशच्छिद्र-मृजु त्रिकोश श्लक्ष्ण शिथिलशलाकागर्भ शमनादिषु क्रमादातुराङ्गुलमानेन चत्वारिंशद्द्वात्रिंशच्चतुर्विंशत्यङ्गुल कुर्यात्। कासघ्ने वमने च दशाङ्गुल व्रणधूपनार्थेऽष्टा-ङ्गुल कलायपरिमण्डल कुलत्थवाहि स्रोत इति। एव हि धूमो दूरात्प्रवृत्तो नेत्रस्य पर्वच्छेदादूर्ध्व तनुतया च शनैः शिलष्यन्न बाधको भवति।

धूमपानयन्त्र का प्रमाण—धूमयन्त्र-बस्तियन्त्र जिन स्वर्णादि धातु तथा काष्ठादि से बनाया जाता है। उन्ही का बनाया हुआ, गोपुच्छ के आकार का अर्थात् ऊपर (मोटा) और नीचे पतला, जिसका अग्रभाग और मूलभाग (नीचे और ऊपर का भाग) कनिष्ठिका और अङ्गुष्ठ के प्रमाण मोटे छिद्र-वाला अर्थात् अग्र नीचे का भाग कनिष्ठिका अङ्गुली के अग्र भाग के बराबर छिद्रवाला होना चाहिए जिसमें धूमवर्ति

प्रविष्ट की जाती है और मुख्य अर्थात् ऊपर वाला वह भाग जिसमे धूमद्रव्य भरा जाता है वह अगूठे के अग्रभाग के बराबर छिद्रवाला होना चाहिए। धूपवर्ति का प्रवेश-छिद्र ऐसा होना चाहिए कि जिसमें राजमाष (चवलासञ्ज्ञक धान्य) का दाना समा सके और सरल सीधा होना चाहिए। इसमे तीन कोश (पर्व[1]) ऊपर की ओर से उत्तरोत्तर सूक्ष्म छिद्र या विवरवाले[2] होने चाहिए। यह चिकना होना चाहिए और इस यन्त्र का गर्भ ऐसा हो कि जिसमें शलाका डाल कर उसमें के द्रव्य को शिथिल या पोला किया जा सके। शमनादि अर्थात् मध्यम, स्नेहन और तीक्ष्ण धूमपान करने के लिए धूमनलिका क्रमसे रोगीके अगुल-मानसे ४०, ३२ और २४ अगुलकी बनानी चाहिए। कासघ्न और वमन-सञ्ज्ञक धूमनलिका १० अगुलकी तथा व्रणके धूपन करनेके लिए धूमनलिका ८ अङ्गुल की और कलाय (मटर) के समान चौडे मुख्य छिद्रवाली तथा नीचे का छिद्र जिसका ऐसा हो कि जिसमें कुलथी का दाना समा सके। इस प्रकार करने से धूम की प्रवृत्ति दूरसे होने से, धूमयन्त्र के तीनों पर्व ऊपर से उत्तरोत्तर नीचे की ओर सूक्ष्म होने से धूम की प्रवृत्ति शनै शनै होकर वह (धूम) बाधाकारक नही होता।

कासघ्नादिषु तु नेत्राभावे वेवनलवशैरण्डादीनामन्यतमां नाडी[3] योजयेत्।

धूमपान यन्त्र के अभाव में—कासघ्न आदि धूमपान में यदि धूमपानयन्त्र का अभाव हो तो वैद्य नल, बास और एरण्ड आदि की नलिका लेकर भी उससे काम चला सकता है।

यथास्व च धूमद्रव्याणां कल्केन श्लक्ष्णेनाक्षमात्रेण द्वादशाङ्गुलामिषीकामम्भस्यहोरात्रोषितां कृत्वा लेपयेत्। तत्र च नवाङ्गुलगर्भां पञ्चप्रलेपामङ्गुष्ठस्थूलां यवमध्यां छायाशुष्कां वर्तिं कृत्वा विगतेषीकां च स्नेहाक्तामङ्गारेषु प्रदीप्य नेत्रमूलच्छिद्रे च निधाय यथार्हं पानायोपनयेत्।

धूमवर्तिनिर्माणविधि—जिस दोष की शान्ति के लिए धूमपान कराना हो उस दोष के नाशक औषधों को एक कर्ष प्रमाण मे लेकर भलीभाँति महीन पीस कर कल्क बनावे। उस कल्क को एक दिन-रात भर जल मे भिंगोई हुई इषीका (दर्भ या काश की शलाका) पर नव अङ्गुल तक गर्भ में रख कर पाच बार सुखा-सुखाकर लेप करे। तात्पर्य यह है कि १२ अङ्गुलवाली इस शलाका के आद्य और अन्त्य भाग को डेढ़-डेढ़ अङ्गुल खुली छोड़ कर बीच में ९ अङ्गुल के बराबर मोटी रहे और बीच गर्भ में एक जव के बराबर मोटी यह शलाका रहे। इसके भलीभाति सूख जाने पर बीच में से खीचकर शलाका निकाल लेवे और फिर स्नेह से चुपड़ कर अङ्गारों से प्रदीप्त कर धूमपानयन्त्र के मूल (नीचे के) छिद्र में रखकर जैसे उचित समझे पान करावे। वैद्य को चाहिये कि वह धूमपान का उतना ही उपदेश करे कि जिससे अति योग-हीनयोग की व्यापत्ति न होने पावे।

१ त्रय कोशा पर्वाणि यस्य तत्त्रिकोशमित्यरुण। २ त्रिकोश यस्य वशस्यात स्तोकस्तोकेन त्रीणि सूक्ष्मच्छिद्राणीती दु। ३ नाली इ० पा०

अथ धूमार्हः सुमना ऋजूपविष्टः प्राक्कृतोच्छ्वासनिश्वासो विवृतौष्ठदशनो नेत्राग्रनिविष्टदृष्टिः पर्यायेणैकैकं नासापुटं पिधायेतरेणाक्षिप्य मुखेनोत्सृजेत्। मुखेन तु मुखेनैव न नासया दृग्विघातभयात्।

धूमपान विधि—जिसको धूमपान करना है, उसे चाहिए कि वह उस समय चित्त को शुद्ध (प्रफुल्लित) रक्खे, सीधा बैठे, पहले अच्छी तरह श्वास-निश्वास ले लेवे, होठ और दातों को खुला रक्खे, नेत्र (धूमपान यन्त्र) के अग्रभाग मे दृष्टि रक्खे फिर पर्याय से एक एक नासापुट को ढककर और खुला रखकर धूमपान करे। तात्पर्य यह है कि जिस नासापुटको बन्द करे उसके दूसरे नासापुट से धूमपान करे। पर्यायेण (एक के बाद एक) अर्थात् जिससे धूमपान किया गया हो तो दूसरी बार दूसरे नासापुट से धूमपान करे। इसी प्रकार पर्यायेण फिर पहले नासापुट से धूमसेवन करे और दूसरे को बन्द रक्खे। नासापुटद्वारा पान किया हुआ धूम मुख के द्वारा बाहर छोडे। इसी प्रकार मुख के द्वारा पान किया हुआ धूम भी मुख ही के द्वारा बाहर छोडे किन्तु नासिका द्वारा कदापि बाहर न छोडे क्योंकि नासिका द्वारा सेवन किया धूम बाहर छोडने से नेत्रों के विघात का भय होता है। इसलिए चाहे नासापुटद्वारा तथा चाहे मुखद्वारा धूमसेवन किया हो तो उसे मुख के द्वारा ही बाहर छोडना चाहिए।

तत्र प्रायोगिके द्वौ द्वौ त्रींस्त्रीन्वाऽऽपानास्त्रीश्च पर्यायात्कण्ठाच्चोर्ध्वमुत्क्लिष्टे दोषे पूर्वं नासया ततो मुखेन। कण्ठे तु पूर्वमास्येन पर चाहोरात्रस्य द्वि पिबेत्। स्नैहिके त्रींस्त्रींश्चतुरश्चतुरो वाऽऽपानान् यावद्वाऽऽशुप्रवृत्ति[1]स्तथाहोरात्रस्य[2]। तीक्ष्णं नासाभ्यामेव चतुरश्चतुरश्चापानान् यावद्वा स्रोतोलाघवं तथा त्रिश्चतुर्वाहोरात्रस्य। तत्राक्षेपविसर्गावापान इत्याहु।

प्रायोगिक धूमपान का प्रमाण—प्रायोगिक धूमपान दो-दो बार पर्याय से करे। कण्ठ से ऊर्ध्वभाग में दोष के उत्क्लिष्ट होने पर पहले नाक से और फिर मुख से दो-दो या तीन-तीन बार धूमपान करे। यदि कण्ठ मे ही दोष उत्क्लिष्ट हो तो पहले मुख से और फिर नाक से धूमपान करे दो-दो या तीन-तीन बार। इस प्रकार अहोरात्र में दो ही बार धूमपान करना प्रायोगिकविधि में श्रेष्ठ माना गया है। पहले कह आए हैं कि नासिका या मुख में से किसी के द्वारा धूमपान किया गया हो उसका उद्गमन (छोड़ना) मुख ही के द्वारा होना चाहिए नेत्रों मे रोग हो जाने का भय होने से पिया हुआ धूम कदापि नासिका द्वारा बाहर नही छोडना चाहिए।

स्नैहिक धूमपान का प्रमाण—स्नैहिक धूमपान नासिकादि पर्याय से तीन-तीन या चार-चार बार करना चाहिए अथवा रात-दिन में इतनी बार स्नैनिक धूमपान करना चाहिए कि जिससे स्रोतों में उसकी शीघ्र ही प्रवृत्ति हो जाय अथवा जब तक रक्तप्रवृत्ति न हो जाय। स्नैहिक धूमपान अहोरात्र में एक ही बार करे।

१ यावद्वाश्रुप्रवृत्ति २ सकृदहोरात्रस्य।

तीक्ष्णधूम का प्रमाण—तीक्ष्ण धूमपान पर्याय से चार चार बार नासिका पुटों ही के द्वारा करना चाहिए। जबतक कि स्रोतोलाघव (लघुता) प्राप्त न हो जाय, तबतक तीक्ष्ण धूमपान करे। धूमपानविधि में यहा जो दो दो, तीन तीन तथा चार चार वार का निर्देश किया गया है सो आपानों का है। धूम को खींचकर पीछे छोड देने का नाम आपान है। तात्पर्य यह है कि धूम के दो दो, तीन तीन या चार चार आपान पर्याय से नासिका और मुख में करे।

कासघ्न तु चूर्णं गुलिका वा निर्धूमदीप्तस्थिराङ्गारपूर्णे सुसस्थिते शरावे प्रक्षिप्यान्येन बुध्नवृत्तच्छिद्रेण[1] शरावेणापिधाय निधाय च तत्र स्रोतसि[2] नेत्र[3] मुखेनैव धूम पिबेत्। उर प्राप्त च मुखेनैवोद्वमेत्। प्रशान्ते च धूमे पुन क्षिपेत्पिबेच्चादोषशुद्धेर्लाघवाद्वा। तद्वद्वामनमपि तिलकृशरामप्यनतिघना[4] पीत्वा पिबेत्। तद्वच्च व्रणमपि धूपयेद्वैशद्याय क्लेदवेदनोपशमाय[5] च।

कासघ्न तथा वामन धूमपान की विधि—कासघ्न धूमपान के द्रव्यों के कूटे हुए चूर्ण तथा बनाई हुई गुटिका को निर्धूम (जिससे धुँवा न हो), प्रदीप्त (सुलगी हुई) स्थिर अगार से पूर्ण एक मिट्टी के शराव में डालकर उस पर दूसरे ऐसे शराव को रक्खे जिसके बीच मे छिद्र किया हुआ हो। उस छिद्र में धूमपानयन्त्र के मुख को रखकर मुँह से ही धूमपान करे। छाती तक व्याप्त हुए उस धूम को मुख ही से बाहर निकाल देवे। धूम के शान्त होनेपर पुनरपि धूमपानद्रव्यचूर्ण गुलिकादि प्रदीप्त अङ्गारों पर डाले और तबतक यथाविधि धूमपान करे जब तक कि दोष शुद्ध होकर शरीर में लाघव (फुर्ती) न आजाय। इसी प्रकार तिलकृशरा (तिल की थूली) जो विशेष गाढ़ी न हो उसे पान कर के फिर धूमपान करे। इसी प्रकार व्रणको धूपन करे। इस लिए कि व्रण को धुँवाँ देने से व्रण साफ हो जाय, उसमे का क्लेद (पूय कीचड़) और वेदना का शमन हो जाय।

धूमस्यायोगे दोषोत्क्लेशाद्रोगवृद्धि । अतियोगे प्रागुक्तमिति।

धूम के अयोग तथा अतियोग के दोष—धूमपान का यदि अयोग (हीनयोग) होगा तो उससे दोषों का उत्क्लेशन होकर रोग की वृद्धि होगी तथा धूम के अतियोग में वे दोष होंगे जो पहले कथन कर चुके है।

भवति चात्र।

हृत्कण्ठेन्द्रियसशुद्धि शिरसो लाघव शम ।
यथेरिताना दोषाणा सम्यक्पीतस्य लक्षणम् ॥
शमनो वातकफयो ससर्गे स्वस्थकर्मणि ।
बृहणो मारुते शस्तो धूम सशोधन कफे ॥

इति त्रिशोऽध्याय ॥ ३० ॥

१ मूर्ध्नि प्रवृत्तच्छिद्रेण २ तत्स्रोतसि ३ नेत्र कृत्वा ४ कृसरा ५ शमनाय च।

सम्यक्पीतधमपान के लक्षण—सम्यक् धूमपान होने के लक्षण ये होते हैं कि उस किए हुए धूमपान से हृदय, कण्ठ एवं इन्द्रियों की शुद्धि हो जाती है, मस्तककी जडता दूर होकर जो दोष कुपित होता है उस का शमन हो जाता है। स्वस्थ अवस्था में भी धूमपान वात और कफ के ससर्ग में शमन करता है। इतना ही नहीं, वातविकार में धूमपान करना बृहण (पुष्टिकारक) होता है और कफ के सशोधन करने में भी श्रेष्ठ है।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाख्यहिन्दीव्याख्याया धूमपानविधिर्नाम त्रिंशोऽध्याय ॥ ३० ॥

अथैकत्रिंशोऽध्यायः।

अथातो गण्डूषादिविधिमध्याय व्याख्यास्याम । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय ।

गडूषविधि अध्याय—अब जिस में गण्डूषादिविधिका वर्णन है हम उस 'गण्डूषादिविधि' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियोंने किया है।

चतुर्विधो भवति गण्डूष स्नैहिक शमन शोधनो रोपणश्च। तेषामाद्यास्त्रय क्रमेण वातपित्तकफामयघ्ना.। रोपणस्त्वास्यव्रणघ्न शमन स्तम्भन प्रसादनो निर्वापण इति पर्याया ।

गण्डूष के चार प्रकार—गण्डूष के चार प्रकार हैं (१) स्नैहिक, (२) शमन, (३) शोधन और (४) रोपण। इनमें के पहले तीन वात, पित्त और कफ रोग के नाश करने वाले हैं अर्थात् स्नैहिक गण्डूष वात का शमन करता है, शमन गण्डूष पित्त का शमन करता है तथा शोधनसज्ञक गण्डूष कफनाशक है। रोपणनामक गण्डूष मुख में हुए व्रण को नष्ट करनेवाला है अर्थात् व्रण का रोपण करता है—शमन, स्तम्भन, प्रसादन और निर्वापण ये इसके पर्याय हैं।

तत्र स्वाद्वम्ललवणोष्णैरौषधै सिद्धो युक्तो वा नात्युष्ण स्नेहो मासरसस्तिलकल्कोदक क्षीर वा स्नैहिक। तिक्तकषायमधुरशीतै पटोलारिष्टजम्ब्वाम्रमालतीपल्लवोत्पलमधुककाथसितोदकक्षौद्रक्षीरेक्षुरसघृतादिभि शमन। कट्वम्ललवणोष्णै शिरोविरेचनद्रव्यै शुक्तमद्यधान्याम्लमूत्रान्यतमकल्कितालोडितै शोधन। रोपणस्तु कषायमधुरशीतैर्यथास्व चोपदिष्टै।

स्नैहिक गण्डूप के लक्षण—मधुर, अम्ल, लवण रसवाले उष्ण औषधों से तयार किया हुआ या इन ओषधियों से युक्त किंचित् उष्ण स्नेह (तैल-घृतादि), मासरस, तिल के कल्क से तयार किया हुआ जल तथा दूध से जो कुल्ले कराए जाते हैं उसे स्नैहिक गण्डूष कहते है।

शमन गण्डूष के लक्षण—जो तिक्त, कषाय, मधुर रसवाली शीत ओषधियों से, परवल, नीम, जामुन, आम और मालती

(जाति) के पत्तों तथा नीलोफर, मुलेठी के काढ़े के शीतल किए हुए जल, सितोदक (शरबत-मिश्री का जल), शहद, दूध, ईख (साठे) का रस और घृतादि द्वारा कराया जाता है, उसे शमन गण्डूष कहते है।

शोधन गण्डूष के लक्षण—कटु, अम्ल और लवण रसवाली ओषधियों तथा उष्ण ओषधियों से एव शिरोविरेचन द्रव्यों से तयार किया हुआ या युक्त शुक्त, मद्य, धान्याम्ल (काजी) और गोमूत्र इनमें से किसी भी एक के साथ कल्कित या मिश्रितकर किया जानेवाला गण्डूष शोधन गण्डूष कहलाता है।

रोपण गण्डूष के लक्षण—जो कषाय, मधुर और शीतवीर्य ओषधियों के साथ दोषों के अनुसार यथायोग्यरीत्या शास्त्रीय उपदेशानुसार तयार कर गण्डूष (कुल्ले) कराए जाते है, उसे रोपण गण्डूष कहते हैं।

अपि च।

दन्तहर्षे दन्तचाले मुखरोगे च वातिके ।
सुखोष्णमथवा शीत तिलकल्कोदक हितम् ॥
गण्डूषधारणे नित्य तैल मासरसोऽथवा ।
ऊषदाहान्विते पाके क्षते चागन्तुसम्भवे ॥
विषे क्षाराग्निदग्धे च सर्पिर्धार्य पयोऽथवा ।
वैशद्य जनयत्यास्ये सदधाति मुखे व्रणान् ॥
दाहतृष्णाप्रशमन मधुगण्डूषधारणम् ।
धान्याम्लमास्यवैरस्यमलदौर्गन्ध्यनाशनम् ॥
तदेवालवण शीत मुखशोषहर परम् ।
आशु क्षाराम्बुगण्डूषो भिनत्ति श्लेष्मणश्चयम् ॥

तिलकल्कोदक गण्डूष के लाभ—तिल का कल्क तयार कर उसको सुखोष्ण अथवा शीतल जल मे मिलाकर कुल्ले कराने से दन्तहर्ष, दांतों का हिलना तथा वायु का मुखरोग शान्त होता है।

तेल और मासरसगण्डूष के लाभ—नित्य प्रति तेल या मासरसगण्डूष के धारण करने से मुख मे की चसक, दाह, मुखपाक, मुँह मे का क्षत अथवा आगन्तुसभव क्षत शान्त होता है।

घृत और दुग्धगण्डूष के लाभ—मुख में घृत तथैव दुग्ध के गण्डूष धारण करने से विषविकार, क्षारदग्ध, अग्निदग्ध, शान्त होता है, मुख निर्मल होता है तथा मुख में के व्रणों का रोपण होता है।

मधुगण्डूष के लाभ—मधु (शहद) का गण्डूष मुख में धारण करने से दाह और तृषा का शमन होता है।

धान्याम्लगण्डूष का फल—धान्याम्ल (काजी) का गण्डूष मुख में धारण करने से मुख-वैरस्य (मुख का फीकापन), मुख का मल, मुख की दुर्गन्धि इन सब का नाश होता है। यही बिना नमक के ठण्डा गण्डूष मुखशोष के दूर करने में श्रेष्ठ है।

क्षाराम्बु गण्डूष से लाभ—जवाखार या सज्जीखारादि युक्त जल के गण्डूष धारण करने से शीघ्र ही जमे हुए कफ के संचय का नाश होता है।

अथ निवाते सातपे सुखोपविष्टस्तन्मना स्विन्नमृदितगलकपोलललाटदेशो वरमध्यावरा क्रमाद्वक्त्रार्द्धत्रिभागचतुर्भागपूर्णी द्रवमात्रा कल्क वा कोलप्रमाणं किञ्चिदुन्नमितास्योऽनभ्यवहरन् धारयेत्[1]। कवले तु पर्यायेण कपोलौ कण्ठ च सचारयेत्। अयमेव च कवलगण्डूषयोर्विशेष ।

मुखे सचर्यते या तु सा मात्रा कवल स्मृत ।
असचारा तु या मात्रा स गण्डूष प्रकीर्तित ॥

पुनश्चास्य स्वेदमर्दनान्याचरेत्। एवमुत्क्लिष्ट कफो वक्त्र प्रतिपद्यते। तावच्च धार्यो यावत्कफपूर्णकपोलता स्रवद्घ्राणनेत्रता भेषजस्य वाऽनुपहति कफेन। एव त्रीन् पञ्च सप्त वा गण्डूषान् धारयेत्। यावद्वा सम्यग्धूमपीतलिङ्गोत्पत्ति ।

गण्डूषधारणविधि—जिसके कण्ठ, कपोल और ललाट स्वेदित एव मृदित किए गए हों उस गण्डूष धारण करनेवाले को चाहिए कि वह निर्वात स्थान मे जो कि गरम हो, भली भाति सुख से बैठकर, उस धारण किए हुए गण्डूष में मन लगाकर गण्डूष द्रव्य की द्रवमात्रा को श्रेष्ठ, मध्यम और हीनप्रमाण से मुख में धारण करे जिस के धारण करने से क्रम से मुख का आधा, तीसरा या चौथाई भाग व्याप्त हो जाय अथवा गण्डूषकल्क एक कोल (बडे बेर) के मान मुख में धारण करे। यह गण्डूष या कवलधारणा किंचित् मुख को नीचाकर गण्डूष-द्रव्य न खाते हुए करनी चाहिए।

कवल और गण्डूष मे विशेष—कवल और गण्डूष में यही अन्तर है कि कवलमात्रा को पहले कपोलों की ओर और फिर कण्ठ की ओर मुख मे ही फिरानी चाहिए। कहा भी है कि—'जिस मात्रा को मुख में सचारण की जाती है अर्थात् इधर उधर फिराई जाती है उसे कवल कहते हैं। जिस मात्रा को मुख मे धारण कर स्थिर रक्खी जाती है उसे गण्डूष कहते है'। गण्डूष तथा कवल धारण करने के अनन्तर पुन स्वेदन-मर्दन करे इस लिए कि स्वेदन-मर्दन से कफ उत्क्लिष्ट हो कर मुख मे आ जाता है। गण्डूष एव कवल तबतक धारण करे जबतक कि कपोलों मे भली भाति कफ न भर जाय, नाक और नेत्रों से स्राव न होने लग जाय और कफ से ओषधि निर्बल न पड जाय। इस प्रकार तीन, पाच या सात गण्डूष धारण करना चाहिए अथवा जबतक सम्यक् धूमपान के लक्षणोंकी उत्पत्ति न हो जाय।

तस्य स्वास्थ्येन योग, जाड्यरसाज्ञानारुचिप्रसेकोपलेपैरयोग, मुखशोषपाकक्लमारुचिहृदयद्रवस्वरसादकर्णनादैरतियोगमुपलक्षयेत्।

गण्डूष के योग, अयोग और अतियोग की परीक्षा—गण्डूष धारण करने पर यदि सर्वथा स्वास्थ्य अच्छा प्रतीत हो तो जान लेना चाहिए कि गण्डूष का सम्यक् योग हुआ है अर्थात् गण्डूषधारण यथाशास्त्रोपदेश हुआ है। इस के विपरीत

१ किञ्चिदुन्नतास्य इत्यष्टाङ्गहृदयपाठ ।

यदि गण्डूष धारण के अनन्तर आलस्य, जीभपर डालने से किसी भी मधुर, लवण, कटुकादि रस का ज्ञान न होना, अरुचि, प्रसेक (लार टपकना), उपलेप (मुख मे कुछ लिपटा हुआ प्रतीत होना), ये लक्षण हों तो जान लेना चाहिए कि गण्डूषविधि का अयोग हुआ है अर्थात् गण्डूषसेवनविधि ठीक नहीं हुई। यदि गण्डूषसेवन के बाद मुखशोष, मुखपाक, क्लम (बेचैनी), अरुचि, हृदय की धडकन, स्वर का बैठ जाना और कर्णनाद (कानों मे नाद सुनाई देना) ये लक्षण हों तो समझ लेना चाहिए कि गण्डूष का अतियोग हो गया है।

तेषा यथास्व प्रतिकुर्वीत। प्रतिसारण तु त्रिविध गण्डूषोदिताना द्रव्याणा रसक्रिया कल्कश्चूर्णश्च। तदभिष्यन्दाधिमन्थगलशुण्डिकादिषु युक्त्या प्रयोज्यम्। अतिप्रमारणादूषा[१]शोषदाहक्लेदशोफादयो भवन्ति।

गण्डूष के अयोगातियोग की चिकित्सा—**गण्डूषधारण के अनन्तर अयोग और अतियोग के कारण होनेवाले रोगों का निर्देश पहले कर चुके है, उनके होनेपर उन की चिकित्सा उस उस रोग के अनुसार करनी चाहिए।**

प्रतिसारण के प्रकार और उस मे लाभालाभ—**प्रतिसारण के तीन प्रकार हैं (१) गण्डूषक्रिया मे वर्णित ओषधियों की रसक्रिया, (२) कल्क और (३) चूर्ण। इन का उपयोग नेत्राभिष्यन्द, नेत्राधिमन्थ, गलशुण्डिकादि रोगों मे युक्तिपूर्वक करना चाहिए। अतिप्रसारण भी हानि कारक होता है अर्थात् अतिप्रसारण मुख में चसक-चीस चलना, मुखशोष, दाह, क्लेद तथा सूजन आदि रोगों का करनेवाला होता है अत अतिप्रसारण कदापि नहीं करना चाहिए।**

मुखालेपोऽपि त्रिविधो दोषघ्नो विषघ्नो वर्ण्यश्च। त्रिप्रमाणश्चतुर्भागत्रिभागार्द्धाङ्गुलोत्सेध । न चालिप्तमुखोऽतिभाष्यहास्यक्रोधशोकरोदनस्वेदनाग्न्यातपदिवास्वप्नान्[२] सेवेत। कण्डूत्वक्शोषपीनसदृष्ट्युपघातभयात्। न च शुष्यन्नुपेक्षितव्य'। शुष्को हि छवि दूषयति तस्मादार्द्रयित्वापनयेत्। आलेपान्ते च मुखमभ्यञ्ज्यात्। न तु योज्यो रात्रिजागरिताजीर्णदत्तनस्यारुचिहनुग्रह प्रतिश्यायिनाम्।

मुखालेप के तीन प्रकार और विधि—**मुखालेप (मुख पर लेप करना) तीन प्रकार का है यथा दोषघ्न, विषघ्न और वर्ण्य। दोषघ्न मुखालेप वातपित्तादि दोषों का शमन करता है। विषघ्न मुखालेप नाना प्रकार के विषों को शान्त करता है और वर्ण्य मुखालेप मुख के वर्ण या कान्ति को बढाता है। मुख पर किए जानेवाले लेप के तीन प्रमाण बताए गए है जैसे कि चौथाई अङ्गुल, अङ्गुल की तिहाई के मान या आधा अङ्गुल जो लेपभूमि से ऊपर की ओर उठा हुआ या गाढा हो। मुख पर लेप करके फिर मनुष्य को चाहिए कि वह अतिभाषण, अति हँसना, अतिक्रोध, अतिशोक, रुदन, स्वेदन, अग्नि पर तापना और दिन में सोना इनको वर्जित करे क्योंकि मुखालेप के बाद इनके करने से कण्डू, त्वचा का शोष, पीनस और दृष्टि के नाश होने का भय होता है। लेप के सूख जाने पर फिर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए इसलिए कि सूखा हुआ लेप मुखकी कान्ति को नष्ट करता है अत उसे पानी से आर्द्र (गीला) कर तुरन्त दूर कर देना चाहिए। आलेप के अन्त में मुह को धोकर साफ करना चाहिए।**

मुखालेपके अयोग्य प्राणी—**रात्रि में जिसने जागरण किया हो, जिसको अजीर्ण हुआ हो, जिसको नस्य दिया गया हो, जो अरुचि, हनुस्तम्भ और प्रतिश्याय का रोगी हो, इन सबके लिए मुखालेप (मुखपर लेप लगाना) वर्जित है।**

सम्यक्प्रयुक्तश्चाकालवलीपलिततिमिरव्यङ्गतिलकादीन् प्रशमयति। स्वस्थस्य तु दृष्टिबल पुण्डरीककान्तवक्त्रता च करोति।

सम्यग्योग मुखालेपके लक्षण—**सम्यक्तया मुखालेपके प्रयुक्त करने से वह अकाल मे अर्थात् वृद्धावस्था के बिना जो शरीर में झुर्रिया पडना, बालों का श्वेत होना इन लक्षणों को नहीं होने देता (युवावस्था में बुढापे के चिह्न नहीं होने देता) तथा इनके अतिरिक्त तिमिर (मुखके सामने अधियारी आना), व्यङ्ग, तिल आदि मुख रोगों को शमन करता है। स्वस्थावस्था में मुखालेप करने से वह दृष्टि के बल को बढाता है और कमल के समान सुन्दर मुख की कान्ति को करता है।**

मूर्धतैल पुनश्चतुर्धा भिद्यते, अभ्यङ्ग परिषेक' पिचुर्बस्तिरिति। यथोत्तर ते बलिन । तेष्वभ्यङ्गादय प्रसिद्धस्वरूपा । शिरोबस्तिविधिस्तु बस्ति सुमृदित द्विमुख शिर प्रमाणमाकर्णप्रवेश[१] द्वादशाङ्गुलविस्तार कुर्यात्। अथ शुद्धतनो साय रात्रौ वा स्वभ्यक्तस्विन्नस्य जानुसमसोपाश्रयासनोपविष्टस्य केशान्ते श्लक्ष्ण त्र्यङ्गुल सुसूक्ष्मेण माषपिष्टेन सद्य सुखाम्बुमृदितेनोभयत प्रदिग्ध वस्त्रपट्ट बध्नीयात। ततस्तस्योपरि सन्धाय बस्तिमाकर्णे[२] बस्तिमूल च दृढमवलीक सम चैलवेणिकया बध्वा पुनर्माषपिष्टेनापरिस्रावि कृत्वा यथाव्याधिदोषदूष्यहित सिद्धमन्यतम स्नेह सुसुखोष्ण[३]मासेचयेद्यावत्केशभूमेरुपर्यङ्गुलम्। तावच्च धार्यो यावत्कर्णमुखनासास्रुतिर्वेदनोपशमो वा भवति। विशेषतो वातजेषु विकारेषु दशमात्रासहस्राणि। पित्तरक्तजेष्वष्टौ'। षट् कफजेषु। सहस्रमरोगकर्मणि। ततोऽपनीते स्नेहे विमुच्य बस्ति शिरस स्कन्धग्रीवापृष्ठललाटादीन्यनुसुख मर्दयेत्। उष्णाम्बुना स्नात च यथार्ह भोजयेत्। स्नेहोक्त चास्याचारमादिशेत्। एव त्रीणि पञ्च सप्त वा दिनानि योजयेदिति।

मूर्धतैलके चार प्रकार—**मूर्ध अर्थात् सिरपर उपयोग किये**

१ दूषाम्लोषदाहक्लेदशोषादयो भवन्ति।

२. खादनाग्न्यातप।

१ प्रदेश। २ बस्ति बस्तिमूल च। ३ सुखोष्ण।

जानेवाले तेलको मूर्धतैल कहते है, इसके चार प्रकार है जैसे कि अभ्यङ्ग, परिषेक, पिचु और बस्ति। ये यथोत्तर बलवान् हैं अर्थात् अभ्यङ्ग (तैलमर्दन) से परिषेक (तैलसेचन) बलवान् है। तैलसेचन से पिचु (तैल से तर रुई का फाहा रखना) बलवान् है और फाहे से भी शिरोबस्ति अधिक बलवान् है। इनमे से अभ्यङ्गादि (अभ्यङ्ग, सेचन और पिचु) प्रसिद्ध हैं। शिरोबस्ति को कहते है।

शिरोबस्तिविधि—जिसके सिर पर तैलबस्तिका प्रयोग करना हो तो प्रथम उसके लिए नरम और दो मुखवाली १२ अङ्गुल चौडी किसी चर्म की ऐसी बस्ति बनावे जो कि सिर के ऊपर लिपट सके। लिपटना इस प्रकार चाहिए कि कानों के ऊपर के भाग तक आ सके। यहा दो मुखों से अभिप्राय यह है कि एक मुख से तेल भरा जा सके और दूसरे मुख से तेल सिर पर छोड सके। इसके अनन्तर स्वेदनस्नेहन किए हुए मनुष्य को सायकाल या रात्रि के समय उसके जानु बराबर ऊचे आसन पर बिठा कर उसके मस्तक के केशों के अन्तिम भाग से तीन अङ्गुल प्रमाण कपडे की ऐसी पट्टी बाधे जो सूक्ष्म पिसे हुए तथा सुखोष्ण जल से भली भाति साने हुए उड़द के आटे से दोनों ओर से लिप्त हो। इसके अनन्तर उस पर बस्ति को रखकर कानों तक बस्तिमूल को कपडे की पट्टी या डोरी से मजबूत बाध दे ता कि सूक्ष्म सन्धि से मस्तक पर का तेल बाहर न आ सके। यह सब हो जाने के बाद व्याधि के अनुसार अर्थात् भिन्न भिन्न रोग के दोष दूष्य शामक द्रव्यों द्वारा सिद्ध किया हुआ किसी भी जाति का सुखोष्ण तैल बस्तिद्वारा मस्तक पर तबतक सेचन करे जबतक कि केश भूमि से एक अङ्गुल मान तेल ऊपर न हो जाय। बस्ति द्वारा सेचित तेल को मस्तक पर तबतक धारण करे जबतक कि कान, नाक और मुख से स्राव न होने लगे तथा कान, मुख और नासिका की वेदना शान्त न हो जाय। वात से उत्पन्न विकारों में विशेषत तेल को दस हजार मात्रोच्चारण तक मस्तक पर धारण करे। तात्पर्य यह है कि वातजन्य विकारों में पूर्वोक्त वेदना शमनादि न हो तो दस हजार गिनती तक तेल को मस्तक पर रक्खे। इसी प्रकार पित्त और रक्तज विकारों मे आठ हजार गिनती हो तवतक तथा कफ से उत्पन्न विकारों मे छ हजार गिनती तक तेल को मस्तक पर धारण करे। नीरोग (स्वस्थ) अवस्था में एक हजार गिनती तक मस्तक पर तेल को रहने देवे। इसके अनन्तर मस्तक से तेल को दूर कर, बस्ति को खोल दे और स्कन्ध, ग्रीवा, पीठ, ललाट आदि को सुहाता सुहाता मर्दन करे और फिर गरम जल से स्नान करा कर यथास्व (दोष दूष्यादि के अनुसार) भोजन करावे। स्नेहविधि में कहे हुए आचरण का उपदेश करे। इस प्रकार तीन, पाच या सात दिन तक बस्ति की योजना करे।

भवति चात्र[1]।

तत्राभ्यङ्ग प्रयोक्तव्यो रौक्ष्यकण्डूमलादिषु।
अरूषिकाशिरस्तोददाहपाकव्रणेषु च ॥
परिषेक पिचु केशशातस्फुटनधूपने।
नेत्रस्तम्भे च, बस्तिस्तु प्रसुप्त्यर्दितजागरे ॥
नासास्यशोषे तिमिरे शिरोरोगे च दारुणे।
कचशातनसितत्वपिञ्जरत्व
परिस्फुटन[2] शिरस समीररोगान्।
जयति जनयतीन्द्रियप्रसाद
स्वरहनुमूर्धबल च मूर्धतैलम् ॥

अभ्यङ्गादि प्रयोग—रूक्षता, कण्डू और मल आदि विकार हों तो मस्तक पर अभ्यङ्ग (तेल का मर्दन) करना चाहिए। अरूषिका (शिर में सूक्ष्म फोडों का निकलना), सिर मे पीडा, दाह, पाक और व्रणों की अवस्था में सिर पर परिषेक (तैलसेचन) करना चाहिए। केशशात (बालों का झडना), केशों का फूटना, मस्तक मे धुवा निकलने का-सा भास होना तथा नेत्रस्तम्भ इन रोगों की अवस्था मे मस्तक पर पिचु (तेल मे तर किया हुआ रुई का फाहा) रखना चाहिए। यदि प्रसुप्ति (सिर में स्पर्श करने का ज्ञान न होना), अर्दित, जागरण, नासाशोष, मुखशोष, तिमिर और तीव्र मस्तक की पीडा हो तो उसे शिरोबस्ति का देना हितकारी होता है।

मूर्धतैल के लाभ—बालों का झडना, बालों का श्वेत तथा पीले पडना, बालों का फूटना अर्थात् चिरना, मस्तक के वायुजन्य रोग इन सबको मूर्धतैल जीतता (नाश करता) है। इतना ही नही, इन्द्रियों मे प्रसन्नता, स्वर में सुधार, हनुस्तम्भ का शमन और मस्तिष्क को मूर्धतैल बलवान् बनाता है।

धारयेत्पूरण कर्णे कर्णमूल विमर्दयन्।
रुज स्यान्मार्दव यावन्मात्राशतमवेदने ॥
यावत्पर्येति हस्ताग्र दक्षिण जानुमण्डलम्।
निमेषोन्मेषकालेन सम मात्रा तु सा स्मृता ॥

इत्येकत्रिंशोऽध्याय ॥ ३१ ॥



कर्णपूरणविधि—ओषधियों से सिद्ध तल को कान में भर कर कान के मूल में अगुली से धीरे धीरे मर्दन करे। कान मे तब तक तेल भरा हुआ रहने दे जब तक कि कान की पीडा शमन न हो जाय। स्वस्थ-अवस्था में कर्णपूरण तैल को सौ मात्रा तक अर्थात् सौ गिनने तक कान में रहने देना चाहिए।

मात्रा का प्रमाण—हाथ का अग्रभाग जितने समय मे दक्षिण जानु को स्पर्श कर वापिस आ जाय उतने समय का नाम मात्रा है। यह मात्रा निमेष और उन्मेष काल के समान होती है।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दी-व्याख्यायां गण्डूषादिविधिर्नामैकत्रिंशोऽध्याय ॥३१॥



१, भवति चात्र।

२ परिपुटन।

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः।

अथात आश्च्योचनाञ्जनविधिमध्याय व्याख्यास्याम । इति हस्माहुरात्रेयादयो महर्षय ।

आश्च्योतनाद्यध्याय—शिरोरोग या ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों का विषय चल रहा है। ऊर्ध्वाङ्ग मे नेत्र सब में प्रधान है। उसको लेकर शालाक्यतन्त्र की रचना हुई है अत अब नेत्रोपचारार्थ अध्याय का आरम्भ करते हुए आचार्य कहते है कि अब हम जिसमे आश्च्योतन तथा अञ्जनविधि बताई गई है उस 'आश्च्योतनाञ्जनविधि' नामक अध्याय का व्याख्यान करेगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया है।

आश्च्योतन सर्वाक्षिरोगेष्वाद्य उपक्रम । नानाद्रव्यकल्पनया च रागाश्रुघर्षरुग्दाहतोदभेदपाकशोफकण्डूघ्नम् । अव्यक्तेष्वेव गुणमेव पक्ष्मपरिहारेणाक्षिकोशालेपनम् । तच्च पुनर्विडालकसञ्ज्ञम् ।

अक्षिरोगशामकों में आश्च्योतन की प्रधानता—सब प्रकार के नेत्र रोगों में प्रथम उपचार आश्च्योतन है जो कि नाना ओषधियों की कल्पना करके तयार किया जाता है और जो नेत्र राग (नेत्रों की ललाई), नेत्रों से आसुओं का निकलते रहना, नेत्रघर्ष, नेत्रपीडा, नेत्रों मे जलन, नेत्रतोद, नेत्रभेद, नेत्र पाक, नेत्रों की सूजन और नेत्रों की खुजली को दूर करता है। इन रोगों के पूरे प्रगट न होने पर, नेत्रपलकों के गिरने पर पूर्वोक्त गुण को करनेवाला जो लेप नेत्रकोश पर किया जाता है अर्थात् नेत्रों मे ओषधि न डालते हुए आजू बाजू में केवल लेप किया जाता है उसे बिडालक कहते है।

तयोरकालो रात्रि । कालस्तु सर्वमहर्दिनोत्पत्तिर्वा। निवातशरणशयनस्थस्य विरोध्य नेत्रमपाङ्गेऽभ्यञ्जन कृत्वा वामहस्तेनोन्मील्य दक्षिणहस्तेन शुक्त्यवसक्तया पिचुवर्त्या दश द्वादशाष्टौ वा बिन्दून् कनीनकदेशे द्व्यङ्गुलादवसेचयेत् । एवमनासन्नबिन्दुपातेनाक्षिताडनाद्रागादयो जायन्ते ।

आश्च्योतन-विडालक समय और विधि—आश्च्योतन और बिडालक इन दोनों के लिए रात्रि अकाल है अर्थात् रात्रि मे ये कर्म नहीं करने चाहिए। आश्च्योतन एव बिडालक के लिए सारा दिन तथा जिस दिन में पीड़ा की उत्पत्ति हो, वही काल उपयुक्त जानना चाहिए।

निवातशरण अर्थात् निर्वातगृह में शय्या पर स्थित रोगी के नेत्रों को बन्द कर पहले अपाङ्ग में अभ्यञ्जन (तैलमर्दन) करके फिर बॉये हाथ से नेत्र को खोल कर दाहिने हाथ से आश्च्योतनार्थ द्रवयुक्त सीप में आधी निमग्न रूई की बत्ती या फाहे से कनीनक देश (नासिका से लगे हुए नेत्रभाग) में दो अङ्गुल ऊपर से दस, बाहर या आठ बूँद नेत्र में अवसेचन करे अर्थात् छोडे। जैसे कहा गया है, इस प्रकार न बैठ कर नेत्रों मे बिन्दुपात करने से नेत्रों में पीडा होकर रागादि (नेत्रों का लाल हो जाना आदि) उपद्रव होते हैं अत आश्च्योतनकर्म विधिवत् ही करना चाहिए।

१ आश्चोतना। २ एवमस्य न बिदु। ३ शरण गृहरक्षित्रोर्वधरक्षणयोरपीति मेदिनी।

आश्च्योतित च मृदुना चैलेन शोधयेत् । अन्येन चोष्णाम्बुप्लुतेन वातकफयो स्वेदयेत् । आश्च्योतन च तयो कोष्णम् । सुशीत पित्तरक्तविकारेषु । तत्तु नात्यर्थं तीक्ष्णमुष्ण शीत वा प्रभूतमूनमपरिस्रावित वा योजयेत्।

आश्च्योतन के पश्चात् कर्म आदि—आश्च्योतन (सेचन) करके फिर मृदु (बारीक) कपडे से पोंछ लेना चाहिए। वात और कफविकार हो तो गरम जल से भिगोए हुए कपड़े से स्वेदन करना चाहिए। इन वातकफ-विकारों मे आश्च्योतनद्रव भी कोष्ण (सुहाने योग्य गरम) होना चाहिए और पित्तरक्त विकारों में अच्छा शीतल आश्च्योतन-द्रव होना चाहिए। अतितीक्ष्ण, अति उष्ण, अतिशीत, प्रभूत (अत्यधिक), ऊन (कम), अपरिस्रावि (जिसके बूँद टपक कर न पड सके) ऐसा आश्च्योतन नहीं होना चाहिए।

अतितीक्ष्णमुष्ण वा दाहरागपाकदृष्टिदौर्बल्यानि करोति । अतिशीत स्तम्भाश्रुघर्षनिस्तोदान् । अतिमात्र कषायवर्त्मतासङ्कोचस्फुरणोन्मीलनप्रवातासहत्वघर्षान् । ऊनप्रमाणान्न रोगशान्ति । अपरिस्रुतमश्रुघर्षवेदना ।

अतितीक्ष्ण और, उष्णादि आश्च्योतन के दोष—अतितीक्ष्ण या उष्ण आश्चोतन के देने से नेत्र में दाह, राग (ललाई), पाक (नेत्रों का पकना) तथा दृष्टि मे दुर्बलता पैदा होती है। अतिशीत आश्च्योतन से अक्षिस्तम्भ, अश्रुस्राव, घर्ष (नेत्र कर्करिका) और अक्षितोद (नेत्रों मे टोंचने की सी पीड़ा) होती है। आश्च्योतन की अतिमात्रा होने से कषायवर्त्मता(नेत्र मार्ग का सूख जाना), नेत्रसङ्कोच, नेत्रों का फड़कना, नेत्र का कठिनता से बन्द होना और वायु का सहन न होना तथा घर्ष ये विकार होते है। न्यून प्रमाण मे आश्च्योतन करने से रोग का शमन नही होता है आश्च्योतन द्रव के अपरिस्रावि होने से अश्रुपात और घर्षवेदना होती है।

नेत्रे च प्रणिहितमौषध कोषसन्धिसिराशृङ्गाटकघ्राणास्यस्रोतांसि गत्वोर्ध्वं प्रवृत्तमपवर्त्तयति दोषम् ।

नेत्र में आश्च्योतन द्रव्य के पहुँचने के लाभ—आश्च्योतन द्वारा नेत्र मे प्रविष्ट किया हुआ औषध कोष, सन्धि, सिरा, शृङ्गाटक, घ्राण (नासिका) और आस्य (मुख) के स्रोतों मे पहुँच कर ऊर्ध्व (जत्रूर्ध्व भाग) में प्रवृत्त हुए वातादि समस्त दोषों का निर्हरण करता है।

यदा चाश्च्योतनेन पित्तश्लेष्मशोणितोत्थेषु नयनामयेषु सशोधनैर्विशुद्धस्य दूषिकाघनत्वपैच्छिल्यकण्डूद्रेकश्वयथुम्लानतारागविच्छेदे पक्वलिङ्गमुपलक्षित भवति तदा नेत्रमात्राश्रये व्याधावञ्जन प्रयोज्यम्। न दोषवेगोदये न चानिर्हृतदोषे। तत्र हि दोषोत्क्लेशेन रागादिवृद्धि शुक्रपाकतिमिरोत्पत्तिश्च।

१ 'कषायवर्त्मतामिति रूक्षवर्त्मत्वम्' इति हेमाद्रि। २ चाश्च्योतनेन ३ नेत्रपाक इ० पा०।

अञ्जन का विधिनिषेध—जब आश्च्योतन से पित्त, कफ और रक्त से उत्पन्न नेत्र-रोगों मे सशोधन से विशुद्ध हुए प्राणी के दूषिका (नेत्रमल) के घनत्व, पैच्छिल्य, कण्डू के आधिक्य, शोथ, म्लानता तथा राग के विच्छेद (नष्ट) हो जाने से दोषों के पक्वलिङ्ग (पाक के चिह्न) दिखाई दे तो केवल नेत्र मात्र के आश्रय मे रहनेवाले रोगों मे अञ्जन का प्रयोग करना चाहिए। ध्यान रहे कि दोषों के वेग मे तथा दोषों का निर्हरण न हुआ हो तो अञ्जन का प्रयोग नही करना चाहिए। क्योंकि दोषों के वेग एव दोषों के रहते हुए अञ्जन का प्रयोग किया जायगा तो दोषों का उत्क्लेश होकर नेत्रों मे राग आदि की वृद्धि, नेत्रपाक और तिमिर रोग की उत्पत्ति हो जायगी।

तत्तु लेखन रोपण स्नेहन प्रसादनमिति चतुर्विध भवति। तत्राम्लादिभी रसै पञ्चभि' शुक्रार्मादिषु लेखनम्। तिक्तकषायै सस्नेहैरभिष्यन्देषु रोपणम्। सर्पादिवसादिभिर्वाततिमिरादिषु स्नेहनम्। स्वादुशीतै सस्नेहैरभिष्यन्दान्ते सूर्योपरागाशनिविद्युत्सपातभूतपिशाचात्यद्भुतदर्शनाद्युपहताया दृष्टौ स्वस्थवृत्ते च प्रसादनम्। प्रसादन एव च चूर्णस्तीक्ष्णाञ्जनातिसतप्ते चक्षुषि प्रयुज्यमान प्रत्यञ्जनसज्ञा लभते। षड्विध वा प्रतिरसभेदादञ्जनम्। द्विविधमेव वा तीक्ष्ण मृदु च।

अञ्जन के चार प्रकार—लेखन, रोपण, स्नेहन और प्रसादन ये अञ्जन के चार प्रकार होते है।

लेखनाञ्जन—इनमें से लेखन अञ्जन वह होता है जो मधुर के अतिरिक्त अम्लादि अर्थात् अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय इन पाचों रसों द्वारा बनाया जाता है और जो शुक्रार्म आदि नेत्ररोगों म हितकारी है।

रोपणाञ्जन—रोपण अञ्जन वह है जो तिक्त और कषाय रसवाले औषधों में स्नेह (घृततैलादि) मिश्रित कर बनाया जाता है और जो अभिष्यन्दसज्ञक नेत्र रोगों में प्रयुक्त होता है।

स्नेहनाञ्जन—स्नेहन अञ्जन वह है जो सर्प आदि प्राणियों की चर्बी आदि द्वारा बनाया जाता है और वात, तिमिर आदि रोगों में प्रयुक्त होता है।

प्रसादनाञ्जन—जो मधुर तथा शीत द्रव्यों द्वारा निर्मित तथा स्नेहों करके मिश्रित होता है वह प्रसादन अञ्जन कहलाता है। इसका उपयोग सूर्यग्रहण-वज्रपात-विद्युत् (बिजली) पात के कारण तथैव भूत-पिशाच-अत्यद्भुतदर्शन आदि से नष्ट हुई दृष्टि में तथा स्वस्थवृत्त (नीरोगावस्था) में किया जाता है। इसी प्रसादन अञ्जन की प्रत्यञ्जन सज्ञा होती है जब कि तीक्ष्ण अञ्जन से सतप्त नेत्रों मे इसका चूर्णरूप से उपयोग किया जाता है।

अञ्जन के ६ प्रकार—प्रत्येक मधुरादि रसों के मान से अञ्जन के छ प्रकार होते है।

अञ्जन के दो प्रकार—तीक्ष्णाजन और मृदु अञ्जन ऐसे मोटे भेद करने से अञ्जन दो प्रकार का भी माना गया है।

कल्पना तु त्रिविधा पिण्डो रसक्रिया चूर्णश्च। यथापूर्व ते बलिन। तस्मात्प्रबलमध्यबलेष्वामयेषु क्रमात्तान् प्रयोजयेत्। तत्र पिण्डो हरेणुमात्रस्तीक्ष्णस्य। रसक्रिया विडङ्गमात्रा। तद्द्विगुणा मृदो। चूर्णे द्विशलाक। मृदोस्त्रिशलाक।

अञ्जनकल्पना के तीन प्रकार—पिण्ड, रसक्रिया और चूर्ण इस प्रकार अञ्जन के लिए तीन प्रकार की कल्पना की गई है। ये यथापूर्वक बलवान् हैं अर्थात् चूर्ण से रसक्रिया और रसक्रिया से पिण्ड बलवान् है। इसलिए इनकी योजना प्रबल, मध्यम बल और अबल (हीनबल) मे क्रम से करनी चाहिए। साराश, नेत्ररोग की प्रबलता मे पिण्ड, मध्यम बलता मे रसक्रिया और व्याधि की हीनता में चूर्ण की योजना करनी चाहिए।

नेत्रों में डालने के लिए पिण्डादि की मात्रा का प्रमाण—तीक्ष्ण द्रव्यों द्वारा निर्मित पिण्ड मे से एक हरेणु (निर्गुण्डी) के बीज के बराबर घिसकर नेत्रों मे मात्रा डालनी चाहिए। यदि रसौत आदि द्वारा रसक्रिया तयार की हो तो उसमें एक बायविडङ्ग के बराबर मात्रा नेत्रों मे डालनी चाहिए। और मृदु द्रव्यों द्वारा पिण्ड तथा रसक्रिया तयार हो तो दो बायविडङ्ग के बराबर उसकी मात्रा नेत्रों मे डालनी चाहिए। यदि तीक्ष्ण द्रव्यों से चूर्ण (अञ्जन-सुर्मा) बना हुआ हो तो उसकी दो सलाई मात्रा नेत्रों मे आजनी चाहिए। यदि अञ्जन मृदु ओषधियों से बनाया गया हो तो तीन सलाई मात्रा नेत्रों में आजनी चाहिए।

पात्रे तु कुर्यात्सौवर्णे मधुर, राजतेऽम्ल, मेषशृङ्गमये लवण, कास्ये तिक्त वैदूर्यमयेऽश्ममये वा कटुक, ताम्रमय आयसे वा कषायम्। नलप्लक्षपद्मकस्फटिकशङ्खान्यतमे शीतम्। एवमव्यापन्नगुण भवति।

अञ्जनोपयोगी रसक्रिया के पात्र—रसक्रिया यदि मधुर रस से करनी हो तो पात्र सुवर्ण का लेवे। अम्लरसवाली रस क्रिया रजत (रौप्य) पात्र में तयार करे। इसी प्रकार लवण रस के लिए मेष (मेढे) के सींग का पात्र करे। तिक्त रस के लिए कासे का पात्र, कटुक रस के लिए वैडूर्यमणि या पत्थर का पात्र, कषाय रस के लिए ताबे या लोहे का पात्र लेवे। इसी प्रकार यदि शीत रसक्रिया करनी हो तो नल, पाखर, पद्मक[1] (पद्माख), स्फटिक और शङ्ख इनमें से किसी के द्वारा बने हुए पात्र में तयार करे। इस प्रकार करने से रसक्रिया द्रव मे किसी प्रकार का विकार पैदा नही हो सकता।

वर्तिघर्षणार्था च शिलातिश्लक्ष्णा निम्नमध्यानु[2]द्वारिणी पञ्चाङ्गुलायता त्र्यङ्गुलविस्तीर्णा।

वर्ति घिसने के लिए शिला—रस बनाने के अर्थ ओषधि की बनी बत्ती को घिसने के लिए शिला खरदरी न हो, अपि तु अति श्लक्ष्ण (चिकनी) हो, उसका मध्यभाग कुछ निम्न अर्थात् गहरा हो जिसमें घिसी हुई ओषधि रह सके, वह पाच अगुल चौड़ी और तीन अगुल मोटी होनी चाहिए।

---

१ पद्मक स्यात्पद्मकाष्ठबिन्दुजालकयोरपीति मदिनी।

२ निम्नमध्यानुकारिणीत्यपि पाठ।

शलाका पञ्च कनकरजतताम्रलोहोद्भवा अङ्गुली च। तत्राद्ये प्रसादनेऽञ्जने स्नेहने च। मध्या लेखने। अन्त्ये रोपणे। मृदुत्वादङ्गुल्येव प्रधानम्। अतं सरुजेऽक्षिण सैव प्रयोज्या। शेषा दशाङ्गुला राजमाषस्थूला सुश्लक्ष्णास्तनुमध्या मुखयोर्मुकुलाकारा कलायपरिमण्डलाश्च।

अञ्जनार्थ सलाई का प्रमाण—अजन के लिए सलाई (शलाका) पाच प्रकार की मानी गई है यथा-सुवर्ण, रजत, ताम्र और लोहे (शीशे) की बनी हुई और अङ्गुली। इनमें से पहली दो अर्थात् सोने और चादी की सलाई का उपयोग प्रसादन और स्नेहाञ्जन मे करना चाहिए, मध्या (ताबे की सलाई) का उपयोग लेखन सज्ञक अजन मे करे और अन्त्य की दो अर्थात् लोहे (शीशे की सलाई) की और अङ्गुली का उपयोग रोपण सज्ञक अजन मे करना चाहिए। मृदु है इसलिए सलाइयों मे अङ्गुली ही प्रधान है अत नेत्र में पीडा के समय अङ्गुली का ही उपयोग करना चाहिए। अङ्गुली के अतिरिक्त शेष सोने आदि की बनी चार सलाइयों का प्रमाण दस अङ्गुल लम्बी, राजमाष (चवला या मटर) के समान मोटी, बहुत चिकनी, बीच से जरा मोटी, अविकसित पुष्प की कली के समान मुखवाली अर्थात् मुख की जगह तीक्ष्णता रहित चिकनी होनी चाहिए।

अथाञ्जन नातिशीतोष्णाभ्रवाताया वेलायामुभयकाल च योज्यम्। तथा सतत नैव वा।

अञ्जन डालने का समय—जब अति शीत एव अति उष्ण काल न हो, अति बद्दल एव अति वायु न हो ऐसे समय मे साय प्रात इन दोनों समय मे अञ्जन का प्रयोग करना चाहिए तथा सतत (सदैव) अञ्जन का प्रयोग करना चाहिए या नहीं करना चाहिए। 'सतत अञ्जन का प्रयोग करना या नहीं करना चाहिए। इसका भावार्थ स्वस्थवृत्त से है। जिसको स्वस्थ अवस्था मे सतत अजन के लगाने से अच्छा लाभ होता है, उसको सतत अर्थात् नित्यप्रति साय-प्रात अजन का सेवन करना चाहिए और किसी किसी को सतत अजन लगाने से लाभ के विपरीत कष्ट होता है उसको सतत अजन सेवन नही करना चाहिए। साराश यह है कि जिसके लिए उचित हो वह सतत अञ्जन लगावे किन्तु जिसको अनुचित प्रतीत होता हो वह अञ्जन न लगावे। यह देखा जाता है कि जिनको उचित नही होता उनको अञ्जन पीडाकारक होता है और जिनके लिए उचित होता है उनको सदैव सुख देता है। यह बात स्कन्दरक्षितसस्कृत 'वैदेहीसहिता' मे लिखी हुई भी है। (देखिए टिप्पणी)

सरुजे चाक्षिण प्राक् पश्चादितरस्मिन्। अन्यथाञ्जनोद्वेगसकुचितेनेन्त सम्यगौषध नानुप्रविशेत्। तत्रैवमतिशीतादिषु यथास्व दोषोत्क्लेशाद्विकारपरिवृद्धि।

अञ्जन का विशेष नियम—जिस आख मे पीडा हो अर्थात् एक आख मे पीडा हो और दूसरी आख में पीडा न हो तो जिसमें पीडा हो उस आख मे पहले अञ्जन करे और उसके बाद दूसरी आख में अजन करे। यदि इसके विपरीत अर्थात् पहले जिसमें पीडा नहीं है, उसमें अजन कराया जायगा तो पीडावाली आख में सकोच होकर वह नही खुलेगी और उसमें ओषधि प्रविष्ट नहीं हो सकेगी। इसी प्रकार यदि अतिशीत, अत्युष्ण आदि समय मे अञ्जन कराया जायगा तो वह दोषों को कुपित कर विकार मे वृद्धि करनेवाला होगा।

न च योज्य क्रुद्धभीतशङ्कितशोकितश्रान्ताशितमात्रविरिक्तधूममद्यपीतदत्तनस्यरात्रिजागरितवेगितरुदितपिपासितज्वरितच्छर्दितार्ततान्तनेत्राभिहतशिरोरुजार्तशिर स्नातानुदितादित्येषु। एष्वञ्जनादूष्मोर्ध्वगसरम्भाश्रुवेदनाविलत्वोषारागदूषिकानिस्तोदकृच्छ्रोन्मीलनश्वयथुशुक्रतिमिरादीन् जनयेत्।

अञ्जन के अयोग्य प्राणी—जिसे क्रोध व्याप्त हुआ हो, जो डर गया हो, शङ्कित हो, शोकयुक्त हो, परिश्रम से थका हुआ हो, तुरन्त भोजन किया हुआ हो, जिसे विरेचन (जुलाब) दिया गया हो, धूमपान किया हुआ, मद्य पिया हुआ, जिसे नस्य दिया गया हो, रात मे जागरण किया हुआ, मलमूत्रादि का वेग आया हुआ, रुदन किया हुआ, प्यासा, ज्वर से पीडित, वमन से पीडित, तान्तनेत्र (उष्णता आदि से जिसके नेत्रों मे ग्लानि आ गई हो), जिसे चोट आई हो, सिर में पीडा हो, सिर से नहाया हुआ इन सबको आदित्य (सूर्य) के उदय न होते हुए अञ्जन नहीं कराना चाहिए।

अयोग्यों को अञ्जन कराने में दोष—अञ्जन अयोग्य प्राणियों का निर्देश ऊपर कर चुके है। इनको अञ्जन दिया जायगा तो अञ्जन के कारण उत्पन्न हुई ऊष्मा गरमी ऊपर की ओर जाकर दोषों को कुपित कर अश्रुपात, नेत्रपीडा, नेत्रों में मालिन्य, नेत्रों में चसक, नेत्रों का लाल हो जाना, नेत्रों में मल आना, निस्तोद (नेत्रों में तोडने के समान पीडा) बडे कष्ट से नेत्रों का खुलना, नेत्रशोथ, शुक्र (नेत्र रोगविशेष), और तिमिर इन विकारों को पैदा करता है।

अथ समसुखोपविष्टस्योपविष्टो वामाङ्गुष्ठेन वर्त्मोत्तरमुत्क्षिप्य कृष्णभागस्याध कनीनकादपाङ्ग यावदञ्जन नयेदनल्पमप्रभूतमनतितीक्ष्णमनच्छमसान्द्रमकर्कशमद्रुतमविलम्बितमतिर्यग्दृष्टचकम्पितमघट्टितमनाक्रान्त च। चूर्णे तु गतागत कुर्यात्। अन्यथा हि रागाश्रुशुक्राद्युत्पत्ति। ततोऽञ्जनानुगमनायानुन्मीलयन् शनै-

१ मृदुत्वादङ्गुल्यत्र प्रधानतमा। २ अन्त।

३ सदोभयकाल च योजयेत्। नैव वा कस्यचिदञ्जन योजयेत्। एतावता एतदुक्त भवति। उचिताञ्जनाय सततमञ्जन देयम्। अनुचितायाञ्जनाय नैव देयमिति। तथा च वैदेह्या सहिताया स्कन्दरक्षितसस्कृताया पठ्यते—'अनञ्जनेनाभ्युचितान्मनुष्यान् प्रबाधते दत्तमिहाञ्जन तत्। अथाञ्जनेनाभ्युचितानानेकाननञ्जनाद्व्याधिरुपैति कृच्छ्र ॥ तस्माद्धि नित्याञ्जनमेव पथ्यमनञ्जन चानुचितस्य पथ्यम्। अनञ्जनात्त्वञ्जनमेव भूयस्तस्माद्धि नित्याञ्जनमेव कुर्यात्॥ अनञ्जनो यस्तु पुनर्मनुष्य कथ सुखी स्यात्पुनरञ्जनेन ॥' इतीन्दु।

१ श्रान्ताशितविरिक्त। २ छर्दितान्ततान्त।

श्शनैरन्तश्चक्षु सचारयेत्। एवमद्यनुगच्छति। वर्त्मनी किंचिच्चालयेत्। न तु सहसोन्मेषणनिष्पीडनप्रक्षालनानि कुर्यात्। बाष्पोत्क्लिष्टदोषस्तम्भभयात्।

अथाञ्जन विधि—भलीभांति बैठा हुआ वैद्य सुखपूर्वक बैठे हुए रोगी के नेत्र की पलक को बाये हाथ के अगूठे से ऊपर की ओर उठाकर नेत्र के काले भाग के नीचे (बीनाई के नीचे) कनीनक (कान के समीपवाले भाग) तक अञ्जन को ले जाय। अञ्जन अनल्प (बिल्कुल कम न हो), अप्रभूत (अधिक भी न हो), अतितीक्ष्ण न हो, अनच्छ (अच्छ—नितान्त श्वेत न हो), असान्द्र (गाढ़ा न हो), अकर्कश (खरदरा—कण के रह जाने से चुभनेवाला न हो), अद्रुत (डालने में अति शीघ्रता न की गई हो) और न विशेष विलम्ब ही किया गया हो, सीधी किन्तु तिर्छी दृष्टि करके न डाला गया हो, विशेष कठोर और चुभनेवाला न हो। पिण्ड अथवा रस क्रिया के अतिरिक्त अञ्जन चूर्णरूप हो तो उसे गतागत (आख मे इधर से उधर और उधर से इधर की ओर लाना चाहिए। अन्यथा चूर्णरूप अञ्जन के एक ही जगह रहने से राग (नेत्रों मे ललाई), आसुओं का स्राव और शुक्रसज्ञक नेत्र रोग की उत्पत्ति होती है। इसके बाद धीरे धीरे नेत्रोंको चलावे ताकि नेत्रोंमे अजन प्रविष्ट हो जाय। किंचित् भौहे भी चलावे परन्तु सहसा खोलना, दबाना, धोना नही चाहिए क्योंकि इससे दोषशमन नही होगा।

अपेतौषधसरम्भ निर्वृत नयन यदा ।
व्याधिदोषर्तुयोग्याभिरद्भि प्रक्षालयेत्तदा ॥
सुचैलेनाथ नयन सव्याङ्गुष्ठेन दक्षिणम् ।
ऊर्ध्ववर्त्मनि सगृह्य शनैश्शोध्य समन्तत ॥
दक्षिणाङ्गुष्ठकेनैव शोध्य सव्य च लोचनम् ।
वर्त्मप्राप्ताञ्जनाद्दोषो रोगान्कुर्यादतोऽन्यथा ॥

अञ्जन के अनन्तर प्रक्षालनादि कर्म—अञ्जन ओषधिका क्षोभ आपोआप शान्त हो जाने पर व्याधि, दोष और ऋतु के योग्य जल से नेत्रों का प्रक्षालन करे। प्रक्षालन करके फिर वाम अङ्गुष्ठ से जिसमे स्वच्छ वस्त्र लिपटा हुआ हो दक्षिण नेत्रको चारों ओर से साफ करे। ऊर्ध्व पलकको उठाकर इसी प्रकार दक्षिण अङ्गुष्ठ से (जिसमे कपडा लगा हो) वाम नेत्र को साफ करे। ध्यान रहे कि यह शोधन कर्म शनै शनै (धीरे धीरे) करे। नही तो वर्त्मभाग मे प्राप्त हुआ अञ्जन बाहर न निकलने के कारण अनेक रोगों का करनेवाला होगा।

तीक्ष्णाञ्जनान्ते चैन धूम पाययेत्। यस्याञ्जिते कण्डूजाड्योपदेहा स्यु। तस्य तीक्ष्णमञ्जन धूम वा पुनरवचारयेत्। एतदेव दुर्विरिक्ताक्षिलक्षण साधन च। अतिविरेकात्सतापनिस्तोदशूलस्तम्भघर्षाश्रुदारुणप्रतिबोधकषायवर्त्मताशिरोरुग्दृष्टिदौर्बल्यानि। तत्र शीतमाश्च्योतन प्रत्यञ्जन वा। सम्यग्विरेकाद्यथास्वमामयोपशम। सुखोन्मीलननिमीलनवातातपसहत्वानि चेति।

तीक्ष्णाञ्जन के अनन्तर धूमपानादि कर्त्तव्य—तीक्ष्णाञ्जन देने के बाद धूमपान करावे। अञ्जन के करने पर भी यदि कण्डू जडता और प्रलेप की उत्पत्ति जान पडे तो उसे तीक्ष्ण अञ्जन एव धूमपान का फिर सेवन करावे। यही दुर्विरिक्त नेत्र के लक्षण और साधन है अर्थात् कण्डूजाड्यादिका होना दुर्विरिक्त नेत्र के लक्षण हैं और पुनरपि रोगी को तीक्ष्ण अञ्जन और धूमपान का सेवन कराना उसका साधन (उपाय) है।

अतिविरिक्त नेत्रके दोष और उनके उपाय—नेत्रका अतिविरेक होने से सन्ताप, खेंचने की सी पीडा, शूल, स्तम्भ, घर्ष, अश्रु, दारुण प्रतिबोध (कठिनाई से देख पडना), कषाय वर्त्मता (नेत्र के पलक शुष्क हो जाना), सिर मे पीडा तथा दृष्टि की दुर्बलता ये विकार होते हैं। इसके लिए शीतल आश्च्योतन (सेचन) और प्रत्यञ्जनका देना हितकारी होता है।

सम्यग्विरिक्त नेत्र के लक्षण—नेत्रों का भलीभांति सम्यक् विरेचन होने से उत्पन्न हुई व्याधियों का उपशम (नाश) हो जाता है। इतना ही नहीं, नेत्रों का सुख से खुलना—मीचना तथा वायु और धूपके सहने की शक्ति प्राप्त होती है।

भवति चात्र।

रोपणादिष्वपि तथा योगादीननुचिन्तयेत्।
दोषोदयानुसारेण प्रतिकुर्वीत तेषु च ॥

इति द्वात्रिंशोऽध्याय ॥ ३२ ॥



उपसहार—रोपणादि अञ्जनकर्म करते हुए वैद्य को चाहिए कि वह दोषों के अनुसार योगादि (ओषधिप्रयोगादिक) का विचार कर तयार करे तथा उक्त रोगों की चिकित्सा करे।

इति वाग्भटकृतावष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्यायामाश्च्योताञ्जनविधिर्नामद्वात्रिंशोऽध्याय ॥ ३२ ॥

अथ त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः।

अथातस्तर्पणपुटपाकविधिमध्याय व्याख्यास्याम। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय.।

तर्पणपुटपाकाध्याय—अब हम तर्पण और पुटपाक की विधि जिसमें वर्णित है उस तर्पण-पुटपाक-विधिनामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया है।

यन्नयन परिताम्यति परिशुष्क रूक्ष स्तब्ध जिह्म निम्नमाविलमवनद्ध शीर्णपक्ष्म[2] तथा कृच्छ्रोन्मीलशिरोत्पात[3] सिराहर्षार्जुनशुष्क[4]तिमिराभिष्यन्दाधिमन्थान्यतोवातवातपर्याय[5]शुष्काक्षिपाकाल्पशोफादिरोगातुरमपगतरागाश्रुदूषिकावेदन तत्र तर्पण योजयेत्। न त्वशान्तोपद्रवेऽक्षिणि नातिशीतोष्णवर्षदुर्दिने न नस्यानर्हेषु च। तद्वत्पुटपाकमपि।

तर्पण और पुटपाक की आवश्यकता—ताम्यति[6] अर्थात् नेत्रोंमे देखने की असमर्थता होने या अन्धकारमय देखने पर, नेत्रों के

१ विधिर्नामाध्याय। २ जीर्णपक्ष्म। ३ शिरोत्पात। ४ शुष्क। ५ पर्यय। ६ ताम्यति—'अवलोकनासमर्थे' इति हेमाद्रि। ताम्यति—'अन्धकारमिव पश्यति, इति डल्हण.।

सूखने अर्थात् अश्रुरहित होने पर, रूखे-स्तब्ध टेढे रहने पर, नेत्रों के अधिक भीतर बैठ जाने पर, मलिन, अवनद्ध (जकड से जाना), नेत्रों के पलक गिरने पर तथा कष्ट के साथ खुलने, शिरोत्पात एव नेत्र सिराओं के फडकने, अर्जुन-शुक्र-तिमिर-अभिष्यन्द-अधिमन्थ-अन्यतोवात-वात-पर्याय-शुष्काक्षि-अक्षिपाक-अल्पशोथ आदि नेत्र रोगों के होने पर तथा जिस रोगी के नेत्रों की ललाई, अश्रुपात तथा दूषिकामलकी वेदना दूर हो गई है उसके लिए तर्पण की योजना करनी चाहिए। किन्तु जिसके नेत्रों के उपद्रव शान्त न हुए हों, अतिशीत-अत्युष्ण-वर्षा और दुर्दिन अर्थात् बद्दलों से छिपे हुए सूर्य या दिन में और जो नस्य देने के योग्य नही है, इन सबके लिए तर्पण की योजना नही करनी चाहिए। इसी प्रकार पुटपाक की योजना भी इनके लिए नही करनी चाहिए।

अथ दिवसस्याष्टमे भागे गते शेषे वा निर्वातातप[2] रजोधूमे कृतनीलपीतान्यतरजवनिके[3] वेश्मनि जीर्णभक्तस्य सुखशयनगतस्योत्तानस्यसुमृदितमाषपिष्टकल्केन[4] नेत्रकोशाद्बहिर्द्व्यङ्गुलोच्छ्रायावाधारौ परिमण्डलावसम्बाधौ समावपरिस्राविणौ कृत्वा तत्रोष्णोदकप्रविलीन निमीलिते नेत्रे यथास्वौषधविपक्व क्षीर सर्पि सर्पिर्मण्ड वावसेचयेद्यावन्निमग्नान्यक्षिपक्ष्माणि भ्रूरोमाणि च। तत शनैरस्योन्मेषमाचरतो मात्रा[5] गणयेत्। वर्त्मजेषु विकारेषु शत सन्धिजेषु त्रीणि शुक्लजेषु पञ्च कृष्णजेषु सप्त दृष्टिजेष्वष्टौ सहस्रमधिमन्थेषु। प्रतिदोष तु वाते सहस्र पित्ते षट् शतानि कफे पञ्च स्वस्थकर्मणि च।

तर्पणविधि—दिन का आठवा भाग गत हुआ हो या शेष हो अर्थात् प्रात काल या सायकाल मे (पौने चार घटि दिन चढने तक या शेष रहने तक) उस घर मे जिसमें वायु, धूप, धूलिकण और धुँवा न हो और जिसमें नील, पीत या अन्य किसी हरे रग आदिका पर्दा लगा हो ऐसे स्थान में जिसका भोजन किया हुआ पच गया हो ऐसे भली भाति उत्तान (सीधे) लेटे हुए मनुष्य के नेत्रों के बहिर्भाग में चारों ओर दो अङ्गुल ऊची अच्छे पिसे हुए उड़द के आटे की पाली बनावे जो कि दोनों नेत्रों के चारों ओर घिरी हुई एकसी हो और ऐसी हो कि जिसमें से नेत्रों पर डाला हुआ तर्पण द्रव चुहकर बाहर न आ सके। पाली बनाने के बाद मू दे हुए नेत्रों पर यथोक्त औषधियों के साथ परिपक्व किया हुआ दूध, घृत जो कि गरम जल में रखकर पिघलाया हुआ हो अथवा घृत-सहित मण्ड इतना सेचन करे कि जिसमे नेत्रों के पलक और भौहे दबी हुई रहें। अवसेचन करके तर्पण द्रव्यको आगे कही हुई मात्रा की गिनती तक भिन्न भिन्न रोगों की अवस्था में नेत्रों पर रहने दे। मात्रा का प्रमाण एक, दो, तीन गिनती करने में एक सख्या के उच्चार करने में जितना समय लगता है उतना समझना चाहिए अथवा आख बन्द कर खोलने मे जितना समय लगता है उसके बराबर जानना चहिए। तर्पण द्रव्य को नेत्रों पर वर्त्मज विकारों में एक सौ तक गिन्ती धीरे धीरे करे तब तक, सधिज विकारों में तीन सौ की गिन्ती तक, शुक्ल भागगत रोगों मे पाच सौ गिनने तक, कृष्णभागगत रोगों मे सात सौ गिनने तक, दृष्टिज रोगों मे आठ सौ गिनने तक और अधिमन्थ विकारों में एक हजार मात्रा गिनने तक रखना चाहिए। दोषों के अनुसार वातजन्य व्याधियों मे एक हजार मात्रा गिनने तक, पित्तोत्पन्न नेत्र रोगों में छ सौ मात्रा गिनने तक, कफजनित नेत्र व्याधियों मे पाच सौ गिनने तक तथा स्वस्थावस्था में भी तर्पण द्रव्य इतने ही समय तक अर्थात् पाच सौ मात्रा गिनने तक रखना चाहिए। ध्यान रहे कि तर्पण द्रव्य के नेत्रोंपर रहते हुए नेत्रों को धीरे धीरे खोल्ते और बन्द करते रहना चाहिए।

ततोऽस्यापाङ्गदेशे शलाकयाऽऽधारद्वार[1] कृत्वा स्नेह भाजने स्रावयेत्। आधारौ चापनीय कल्केनाक्षिकोशौ[2] प्रमृज्य स्नेहेरितकफोपशान्तये विरेचन यथार्ह धूम पाययेत्। सुखोदकप्रक्षालितमुख चैन यथाव्याधि भोजयेत्। आतपाकाशभास्वद्दर्शनानि च परिहरेत्। अनेन विधिना प्रत्यह वायावेकान्तर रक्तपित्तयोर्द्व्यन्तर कफे स्वस्थे च। यथादोषोत्कर्ष ससर्गसन्निपातयो। एवमेकाह त्र्यह पञ्चाह वा कुर्यादातृप्तेर्वा। तृप्तातृप्तातितृप्तलिङ्गानि तु क्रमात्स्वास्थ्यवातपित्तकफविकारै-[3] रादिशेत्।

तर्पण के पश्चात् कर्त्तव्य—भलीभाति तर्पण के हो जाने पर रोगी के नेत्रों के अपाङ्गदेश (कान के सामनेवाले) नेत्र के भाग की ओर बनाई हुई पाली मे शलाका से छेद करके स्नेह को उसके द्वारा बर्तन मे ले लेवे फिर दोनों नेत्रों के चारों ओर बनाई हुई उडद के आटे की पालियों को दूर कर नेत्रकोश को यवकल्क से मर्दन कर स्नेह के कारण प्राप्त कफ की शान्ति के लिए वातपित्तादि दोषों के अनुसार विरेचन धूमपान करावे। इसके बाद सुहाते हुए गरम जल से मुँह को प्रक्षालित कराकर व्याधि के अनुसार रोगी को भोजन करावे। धूप और आकाश मे भास्वत् (सूर्यादि) का देखना वर्जित कर दे। इस विधि से वात प्रधान रोग मे प्रतिदिन, रक्तपित्त-जन्य रोगों मे एक एक दिन के अन्तर से तथा कफ और स्वस्थवृत्त में दो-दो दिन के अन्तर से तर्पण का सेवन करावे।

तृप्तातृप्तातितृप्त के लक्षण—तपर्ण करने के अनन्तर भली भाति तृप्त, अतृप्त और अतितृप्त के लक्षण क्रम से स्वास्थ्य, वात, पित्त और कफ विकारों से जानना चाहिए अर्थात् सम्यक् तृप्त होने से मनुष्यको स्वास्थ्य का लाभ होता है। अतृप्त होने से वायु विकार की उत्पत्ति होती है और अतितृप्त होने से कफ विकार होता है।

यदा तु सम्यग्योगप्राप्त तर्पण भवति तदा तद्विधेष्वेव रोगेषु पुटपाक विदध्यात्। स त्रिविध स्नेहनो लेखन प्रसादनश्च।

पुटपाक और उसके प्रकार—जब सम्यक्तया तर्पण सपन्न

१ 'मेघे च्छिन्नेऽह्नि दुर्दिनम्' इत्यमर। २ निवातातप। ३ यवनिके। ४ मृदित। ५ मात्रा।

१ शलाकया द्वार कृत्वा। २ यवकल्केनाक्षिकोशौ। ३ वातकफविकारैरादिशेत्।

हो जाय तब ही जिस नेत्रव्याधि के लिए तर्पण किया गया हो उस उस रोग के लिए पुटपाक का सेवन करावे। सम्यक् तर्पण के न होने पर पुटपाक न करे यही एव शब्द का तात्पर्य है। पुटपाक तीन प्रकार का है स्नेहन पुटपाक, लेखन पुटपाक और प्रसादन पुटपाक।

तत्र स्नेहनमानूपसाधारणमासमेदोमज्जवसाभिस्तथा स्वादुद्रव्यैश्च क्षीरपिष्टै रूक्षेऽक्षिण प्रयोजयेत्। लेखन जाङ्गलमृगपक्षिमासयकृद्भिर्मुक्ताप्रवालशङ्खताम्रायस्समुद्रफेनकासीसस्रोतोजसैन्धवादिभिश्च लेखनद्रव्यैर्दधिमस्तुमधुपिष्टै स्निग्धे। प्रसादनीय तु जाङ्गलमृगपक्षियकृद्हृदयमज्जवसाभिर्मधुरद्रव्यैश्च स्त्रीस्तन्यक्षीराज्यपिष्टै। स तु वातपित्तरक्तदृष्टिदौर्बल्यव्रणनाशन कफविरुद्ध।

स्नेहन पुटपाक के लक्षण—स्नेहन पुटपाक वह होता है जो अनूप और साधारणदेश के प्राणियों के मास, मेद, मज्जा तथा वसा द्वारा मधुर द्रव्यों एव दूध के साथ पीस कर बनाया जाता है। इसकी योजना रूक्ष नेत्रों में करनी चाहिए।

लेखन पुटपाक के लक्षण—लेखन पुटपाक जाङ्गल देश के पशु-पक्षियों के मास, यकृत् (कलेजा), मोती, मूँगा, शख, ताम्र, लोह, समुद्रफेन, हीराकसी, स्रोतोञ्जन और सैन्धव नमक आदि को लेखन द्रव्यों तथा दही, मस्तु और शहद के साथ पीसकर तयार किया जाता है। इसका प्रयोग स्निग्ध नेत्रों मे किया जाता है।

प्रसादन पुटपाक के लक्षण—प्रसादन पुटपाक वह है जो जाङ्गल देश के पशुपक्षियों के यकृत्, हृदय, मज्जा और वसा (चर्बी) को मधुर द्रव्यों के साथ स्त्रियों के दूध, दूध और घृत से पीसकर बनाया जाता है और जिसका प्रयोग वात, पित्त, रक्त, दृष्टि की दुर्बलता तथा व्रण के नाशनार्थ किया जाता है।

अथ बिल्वमात्र वेशवारीकृत मासपिण्ड तन्मात्रेणैवौषधपिण्डेन ससृज्यैरण्डपटोलपत्रै[1] स्नेहनादिषु क्रमाद्वेष्टयित्वा कुशमुञ्जसूत्रान्यतमेन वेष्टयेत्[2]। मृत्प्रलेपन चात्र द्व्यङ्गुलोत्सेध कृत्वा धवधन्वनमधूकन्यग्रोधकाश्मर्यराजादनार्जुननक्तमालपाटलीनामन्यतमे[3] काष्ठै शकृता वा गोमहिषयो पचेत्। अग्निवर्णं चैनमपनीय विगतमृत्सूत्रपत्र कृत्वा वस्त्रेण पीडयेत्। तेन रसेन साय तर्पणवत्पूरयेन्नेत्रे। धारयेच्च स्निग्धे[4] शतद्वय मात्राणा लेखने शत प्रसादने त्रीणि शतानि। तर्पणवदेव धूमपान प्रसादनवर्जम्[5]। सुखोष्णौ च पूर्वौ। शीत प्रसादन। पुटपाकस्त्वेकाह द्व्यह त्र्यह वा योज्य। द्विगुणश्च तर्पणपुटपाकयो परिहार। बद्धाक्षश्च[6] मालतीमल्लिकाकुसुमैर्निशा निवसेत्[7]। तथा पक्वातिसारेऽपि पुटपाकस्यायमेव विधिरिति।

पुटपाकविधि—एक बिल्व अर्थात् पल (चार तोले) भर भली भांति कूटे हुए या छिन्न भिन्न किए हुए मासपिण्ड को उसी के बराबर ओषधिपिण्ड में मिलाकर एरण्ड, पटोल और कमल के पत्तों में स्नेहनादि पुटपाक में क्रम से लपेटकर अर्थात् स्नेहन पुटपाक करना हो तो एरण्ड के पत्तों मे, लेखन पुटपाक करना हो तो पटोल के पत्तों मे तथा प्रसादन पुटपाक करना हो तो उत्पल (कमल) के पत्तों मे लपेट कर उस पिण्ड को मूज, कुश या सूत इनमे से किसी से वेष्टन कर (बाधकर) उस पर दो अङ्गुल ऊची रहे इतनी गीली चिकनी मिट्टी लेप देवे। इस के अनन्तर इस मृत्तिकालिप्त पिण्ड को धव, धावडा, महुआ, बड़, गम्भारी, चार, अर्जुन, करञ्ज (लता करञ्ज) और पाटली इनमे से किसी भी वृक्ष के काष्ठ की अग्नि में अथवा गाय-भैस के गोबर की सूखी गोबरियों की आच मे पकावे। जब ऊपर की मिट्टी अग्निवर्ण (लाल) दिखाई दे तब निकालकर मिट्टी, सूत और पत्तों को दूर कर कपड़े मे लेकर निचोड लेवे और उस रस से सायकाल में तर्पण की तरह नेत्र पर रखकर पुटपाक करे तथा उसे स्निग्ध (स्नेहन पुटपाक) हो तो दो सौ मात्रा की गिनती तक, लेखन पुटपाक मे एक सौ मात्रा की गिनती तक और प्रसादन पुटपाक हो तो तीन सौ मात्रा की गणना तक नेत्रपर रहने दे।

पुटपाक के पश्चात्कर्म—तर्पण की तरह प्रसादन पुटपाक के अतिरिक्त स्नेहन और लेखन पुटपाक करने के बाद शेष दोष निर्हरणार्थ रोगी को धूमपान करावे। पूर्वों अर्थात् पहले दो स्नेहन और लेखन पुटपाक सुखोष्ण (सुहावे इतने उष्ण) करे परन्तु प्रसादन पुटपाक ठण्डा होने पर करना चाहिए।

पुटपाक की मर्यादा—पुटपाक एक दिन, दो दिन अथवा तीन दिन तक करे।

पुटपाक और तर्पण में पथ्यापथ्यपालन—तर्पण और पुटपाक जितने दिन तक करे उससे द्विगुण समय तक उसमें वर्ज्यावर्ज्य की पालना करे। साराश, तर्पण या पुटपाक दो दिन तक किया हो तो चार दिन तथा तीन दिन तक किया हो तो छ दिन तक उसके पथ्यापथ्य की पालना करनी चाहिए। मालती (जूही) और मोगरे के पुष्पों से बाधे हुए नेत्र को एक रात तक रक्खे।

पक्वातिसार मे जो पुटपाक कहे गए हैं, उनकी भी पाक विधि यही है।

भवति चात्र[1]।

सेकेऽञ्जने तर्पणे च पुटपाके च ये गदा।
जायरेन् विधिविभ्रंशाद्यथास्व तान् प्रसाधयेत्॥

इति त्रयस्त्रिंशोऽध्याय ॥ ३३ ॥

विधिविभ्रश से होनेवाले रोगों का उपचार—सेक, अञ्जन, तर्पण और पुटपाक के विधान में भूल हो जाने से जिन जिन रोगों की उत्पत्ति होती है, उन उन रोगों के प्रकरण में जो जो उपचार कहे हैं, उन्हीं उपायों द्वारा इन होनेवाले रोगों की चिकित्सा करनी चाहिए।

इति वाग्भटाचार्यविरचिताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्यया तर्पणपुटपाकविधिर्नामत्रयस्त्रिंशोऽध्याय ॥ ३३ ॥

१ पटोलोत्पलपत्रै। २ बध्नीयात्। ३ धवधन्वमधूक। ४ स्नेहने। ५ प्रसादनवर्जनम्। ६ बद्धाक्षैश्च। ७ कुसुमैर्निवसेत्।

१ चात्र श्लोक•।

अथ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ।

अथातो यन्त्रशस्त्रविधिमध्याय व्याख्यास्याम । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय ।

यन्त्रशस्त्राध्याय—आयुर्वेदशास्त्र में निज और आगन्तुभेद से दो प्रकार के रोगों की चिकित्सा वर्णित है। इन दोनों प्रकार के रोगों की चिकित्सा में यन्त्रों और शस्त्रों का भी उपयोग होता है अत आचार्य कहते हैं कि अब हम जिसमे यन्त्रों और शस्त्रों का वर्णन है उस 'यन्त्रशस्त्रविधि' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया है। यन्त्रशस्त्रोपायसाध्य रोगमें पहले शल्यनिर्हरणार्थ यन्त्र का उपयोग किया जाता है और बाद मे शस्त्रप्रयोग किया जाता है अत पहले यन्त्रों का वर्णन करते है।

मन शरीराबाधकराणि शल्यानि। तेषा नानाविधानाना (शल्याना) नानादेशनिविष्टानामाहरणेऽभ्युपायो यन्त्राण्यर्शोभगन्दरादिषु शस्त्रक्षाराग्न्यवचारणे शेषाङ्गरक्षणे च। तथा बस्तिप्रणयनादौ शृङ्गाला बुघटिकादयो जाम्बवौष्ठादीनि। अन्यान्यपि चानेकरूपाण्यनेककर्माणि[१] स्वस्थातुरोपकरणानि। अत कर्मवशात्तेषामियत्तावधारणमशक्यम्।

यन्त्र की परिभाषा—शरीर के नाना भागों में प्रविष्ट होनेवाले शस्त्र, वेणु, पाषाणादि मन और शरीरको नाना प्रकार से पीडा देनेवाले जो शल्य हैं, उनके निकालने या दूर करने में जो उपाय किया जाता है अथवा जिनके द्वारा किया जाता है उसको यन्त्र कहते है। ये यन्त्र शरीर में प्रच्छन्न कण्टक, पूय आदि को देखने मे अर्श, भगन्दरादि रोगों में शस्त्र, क्षार, अग्नि आदि के प्रयोग करते समय शेष अङ्गों का रक्षण करने के लिए तथैव बस्ति आदि कर्मो में काम मे लाए जाते हैं जैसे कि शृङ्ग, अलाबु, घटिकादि, जाम्बवौष्ठादि तथा और भी अनेक प्रकार के अनेक कार्य करनेवाले स्वस्थ और आतुर के लिए उपकरण हैं अत उनके अनेक कर्म होने से, उनकी इयत्तावधारणा (गिनती करना) अशक्य एव असम्भव है। तात्पर्य यह है कि इन यन्त्रों के कर्मवशात् अनेक प्रकार एव रूप होते हैं।

अन्ये पुनरेकोत्तर यन्त्रशतमित्याचक्षते। इह तु समासत षोढा[२] निर्दिश्यन्ते। स्वस्तिकसदशतालनाडीशलाकाख्यान्यनुयन्त्राणि च।

सक्षेप से यन्त्रो के ६ प्रकार—कई आचार्य यन्त्रों की सख्या एक सौ एक कहते है परन्तु यहा (इस अष्टाङ्गसग्रह में) सक्षेपत छ ही प्रकार के यन्त्रों का निर्देश किया जाता है। इसलिए कि इन छ प्रकारों में सब प्रकार के यन्त्रों का समावेश हो जाता है। ऐसा कोई भी यन्त्र नहीं है जो इन छ प्रकारों में न आता हो। वे छ प्रकार स्वस्तिक, सन्दश, ताल, नाडी, शलाका और उपयन्त्र हैं।

तत्र स्वस्तिकयन्त्राणि कङ्कसिंहगृध्रकुररादिविविधव्यालमुखान्याकारानुगताभिधानानि प्रायशो लौहान्यष्टादशाङ्गुलानि। मसूराकारप्रान्तै कण्ठे कीलैरवबद्धानि मूलेऽङ्कुशवदावृत्तवाराङ्गाण्यस्थिविनष्टशल्योद्धरणार्थानि। तेषा सिंहव्याघ्रभुजङ्गमकरादिमुखानि दृश्यवाराङ्गेषु शल्येषु प्रयोजयेत्। इतरेषु तु यथायोग व्रणाकारानुरोधेन कङ्ककाककुररादिमुखानि।

स्वस्तिकयन्त्रवर्णन—ऊपर यन्त्रों के छ प्रकार बताए गए हैं जिनमें १०१ यन्त्रों का समावेश हो जाता है। इनमे प्रथम प्रकार स्वस्तिकयन्त्रों का है अत उनका वर्णन करते है। स्वस्तिकयन्त्र कङ्क (बक Heron), सिंह, गृध्र (गीध Taloon) कुरर (टिटिहरी Osprey), आदि विविध व्याल (हिस्र) पशुपक्षियोंके मुखके आकारवाले और उनही के नामवाले जैसे कि कङ्कमुखयन्त्र, सिंहमुख-गृध्रमुख-कुररमुख यन्त्रादि कहलाते हैं और ये प्राय लौहानि अर्थात् लोहधातुके बने हुए, अठारह अङ्गुल लम्बे होते है। यहा प्राय शब्दका भाव यह भी है कि ये यन्त्र लोहधातुके अतिरिक्त काष्ठ आदिके भी बनाए जा सकते हैं। इन यन्त्रों की जोडपर मसूर की दाल की आकृतिवाली चिपटी मजबूत कीलें लगी हुई होती है और इनके मूल (हाथ की ओर) मे ये अङ्कुश की तरह मुडे हुए होते है अर्थात् इनकी मूठ कुछ मुडी हुई मजबूत होती है। ये हड्डियों मे चुभे हुए लोहकील (शल्य) को निकालने के काम मे आते हैं। इनमें से सिंहमुख, व्याघ्रमुख, सर्पमुख, मकरमुखाकृतिवाले यन्त्र दृश्यवाराङ्ग (मूठ अलग बनी हुई दिखाई देनेवाले) होते हैं। ये ऊपर से दिखाई देनेवाले शल्यों को निकालनेके काम में आते हैं और जो भीतरके नहीं दिखाई देनेवाले शल्योंको निकालनेके काम मे आते हैं वे अदृश्यवाराङ्ग होते हैं। उनकी मूठ का अलग पता नहीं चलता। वे सर्वथा चिकने होते हैं क्योंकि वे शरीर के भीतर प्रविष्ट किए जाते है और वे व्रण के आकारप्रकारानुसार यथायोग्य काकमुख, कङ्कमुख, कुररमुखादि आकृतिवाले बनाए जाते हैं।

सनिबन्धनो निर्निबन्धनश्च षोडशाङ्गुलौ सदशौ द्वौ भवत.। तौ त्वङ्मासंसिरास्नायुगतशल्योद्धरणार्थमुपदिश्येते। तथान्य सदश षडङ्गुलोऽर्द्धाङ्गुलविस्तृतो वक्रद्विबाहुरङ्गुष्ठाङ्गुलिप्रान्तसमागमाकृति सूक्ष्मशल्याक्षिपक्ष्मव्रणाधिमासाहरणे। तद्वच्च मुचुण्डी[१] सा तु ऋजुश्लक्ष्णा सूक्ष्मदन्ता सक्तद्विभुजा[२] मूले रुचकनद्धा वलयपीडनाच्छिन्नामशेषगम्भीरव्रणाधिमासाहरणे।

सदशयन्त्रवर्णन—सनिबन्धन और निर्निबन्धन अर्थात् कीलयुक्त और कीलरहित ऐसे सोलह अङ्गुल लम्बे दो सदश यन्त्र होते है। ये दोनों सदश त्वचा, मास, सिरा और स्नायु गत शल्यके निकालनेके लिए कहे गए है। एक और छोटा सदश भी होता है जो कि छ अङ्गुल लम्बा और आधे अङ्गुल के विस्तारवाला होता है और ये अङ्गुष्ठ और अङ्गुलीके समागम की आकृतिवाला तथा दोनों बाहुओं से टेढा होता है। यह सूक्ष्म शल्य, आख, आख की पलकें तथा व्रण के ऊपर

१ कार्याणि। २ तद्यथा-स्वस्तिक

१ मुचुटी। २ सा तु सूक्ष्मदन्तर्जुर्द्विभुजा।

आए हुए मास के निकालने मे काम आता है। इसीके आकार की मुचुण्डी अर्थात् चिमटी होती है। यह पतली, सरल, चिकनी, सूक्ष्म दांतोंवाली, दो भुजावाली, मूल मे रुचकनद्धा (वलयाकारा) गोल होती है। इसके गोलाकारपीडन से (दवाने से) उसके बीचमें आया हुआ शल्य छूट नहीं सकता। इससे अर्म, गम्भीर व्रणादिके ऊपर का मास निकाला जाता है। सुश्रुत इसके पूर्वलिखित सकील और निष्कील इन दो सदशयन्त्रों को ही मानता है किन्तु वाग्भट षडङ्गुलवाले अन्य सदश और मुचुण्डीको मिलाकर चार प्रकारके सदश मानता है।

तालयन्त्रे अपि द्वे द्वादशाङ्गुले। मत्स्यगलतालकवदेकतालकद्वितालके कर्णनाडीशल्याहरणार्थे।

तालयन्त्रवर्णन—तालयन्त्र भी दो ही प्रकारके बारह अङ्गुल लम्बे होते है। मछलीके गलेके या तालु के समान एक तालवाले तथा दो तालवाले होते है। ये कान, नासिका, नाडी आदिके शल्यनिर्हरणार्थ काम आते है।

वक्तव्य—यहा ताल शब्दके अर्थ में बड़ी गडबडी हो सकती है। ताल या तल का मुख्य तात्पर्य है कुछ निम्न या गहरा मध्यप्रदेश यथा ताल (तालाब) या हस्ततल (हथेली) होता है। वर्तमानमें एलोपैथबन्धु इस तालयन्त्र को (Scoop) और स्पुन (Spoon) भी कह सकते हैं। एकताल (Single scoop) और द्विताल (Dauble scoop) है।

नाडीयन्त्राणि सुषिराण्यनेकप्रकाराण्यनेकप्रयोजनान्यनेकतोमुखान्येकतोमुखानि च भवन्ति। स्रोतोगतशल्यदर्शनाहरणार्थं रोगदर्शनार्थं क्रियासौकर्यार्थमाचूषणार्थं चेति। तानि स्रोतोद्वारपरिणाहानि यथायोगप्रदीर्घाणि च कुर्यात्। कण्ठशल्यदर्शनार्थं नाडी दशाङ्गुलायता पञ्चाङ्गुलपरिणाहाम्। द्विकर्णस्य तु वारङ्गस्य सम्ग्रहार्थं त्रिच्छिद्रमुखा नाडी तत्प्रमाणत कुर्यात्। तथा चतुष्कर्णस्य पञ्चच्छिद्रमुखाम्। शल्यनिर्घातनी[1] तु पद्मकर्णिकाकारशीर्षा द्वादशाङ्गुला त्र्यङ्गुलसुषिराम्।

नाडीयन्त्रवर्णन—नाडीयन्त्र भीतर से पोले, अनेक प्रकार के, अनेक रोगों में प्रयुक्त होनेवाले, अनेक मुखवाले और एक मुखवाले होते हैं। इनका उपयोग स्रोतोगत शल्य के देखने में, उन शल्यों के निकालने में, रोग की परीक्षा करने में, चिकित्सा करते समय शस्त्रक्रिया में मदद के लिए तथा दोष के चूस लेने में होता है। ये इतने विस्तृत अर्थात् चौडे मोटे होते हैं जितने कि स्रोत में प्रविष्ट हो सकें और लम्बे इतने होते हैं जितनी कि आवश्यकता होती है। कण्ठ का अवलोकन करने के लिए नाडीयन्त्र दस अङ्गुल लम्बा और पाच अङ्गुल विस्तृत होना चाहिए। द्विकर्णवाले वारङ्ग (शर) को पकडने के लिए तीन छिद्र और तीन मुखवाला नाडी यन्त्र बनाना चाहिए तथैव चार कर्णवाले वारङ्ग (शर) के ग्रहणार्थं पाच छिद्र और मुखवाला नाडीयन्त्र उसी प्रमाण का बनाना चाहिए जितनी कि शल्य की जगह हो। शल्यनिर्घातन नाडीयन्त्र कमल की कर्णिका के आकारवाले सिर का, बारह अङ्गुल का तथा तीन अङ्गुल सुषिर (पोला) बनाना चाहिए।

अर्शोयन्त्र त्रिविध तल्लौह[1] दान्त शार्ङ्ग वार्क्षं वा गोस्तनाकार चतुरङ्गुलायत हस्ततलायतमेक पञ्चाङ्गुलानि परिणाहेन पुसा षडङ्गुलानि स्त्रीणाम्। द्विच्छिद्र दर्शनार्थमेकच्छिद्र कर्मणि। तथाहि—सुखेन दर्शित[2] शस्त्रक्षाराग्न्यनतिक्रमश्चाछिद्र तु त्र्यङ्गुलायतमङ्गुष्ठोदरविस्तारम्। यदङ्गुलमवशिष्ट तस्याधोऽर्द्धाङ्गुलमुपरि तथार्द्धाङ्गुलोच्छ्रितोद्वृत्तकर्णिकम्। तृतीय तु तादृशमेव शम्याख्य पार्श्वच्छिद्ररहित पीडनार्थम्। भगन्दरे तु छिद्रादूर्ध्वमोष्ठमपनीय कुर्वीत। तद्वच्च घ्राणार्शोऽर्बुदयन्त्र नाड्याकार द्व्यङ्गुलायतमेकच्छिद्र प्रदेशिनीपरिणाहम्। तथाङ्गुलित्राणकमङ्गुलिप्रवेशन किञ्चित्स्थूलवृत्तौष्ठमूर्ध्वाधश्छिद्र गोस्तनाकृति चतुरङ्गुल दान्त शार्ङ्ग वार्क्ष वा तद् दृढेन सूत्रेण मणिबन्धप्रतिबद्धमास्यविस्रारणे योज्यम्।

अर्शोयन्त्र—अर्श अर्थात् बवासीर के मस्से काटने के लिए जो यन्त्र बनाया जाता है उसे अर्शोयन्त्र कहते है। यह तीन प्रकार का होता है और यह सुवर्ण, ताम्र, लोह, हस्तिदन्तादि दन्त, सींग, लकड़ी आदि से बनाया जाता है। यह गाय के स्तन के आकार का गोल, चार अङ्गुल लम्बा, हाथ की हथेली के तलभाग के समान विस्तृत, पाच अङ्गुल के दायरे का पुरुषों के लिए और यदि स्त्रियों के लिए बनाया जाय तो छ अङ्गुल दायरे का बनाना चाहिए। इसके भी दो प्रकार होते है जैसे कि एक दोनों ओर छिद्रोंवाला और एक एक छिद्रवाला। दो छिद्रवाला देखने के काम मे आता है और एक छिद्रवाला यन्त्र अर्श पर क्षार आदि लगाने के काम आता है। साराश यह कि दो छिद्रवाले यन्त्र से भलीभाति शल्य का अवलोकन हो सके और एक छिद्रवाले से क्षार तथा अग्निकर्म का अतिक्रम न हो सके। इस अर्शोयन्त्र के बीच मे तीन अङ्गुल लम्बा, अगूठे के मध्यभाग के समान मोटा छिद्र होता है। तीन अगुल में से अवशिष्ट तीसरे अगुल के नीचे मूल भाग से नीचे आधा अगुल और ऊपर किनारे पर आध अगुल प्रमाण गोल कर्णिका बनी हुई होती है। अर्शोयन्त्र के तीन प्रकारों में दो प्रकार कह चुके जैसे कि एक पार्श्व में एक छिद्रवाला और दूसरा दोनों पार्श्वों मे एक एक अर्थात् दो छिद्रवाला। तीसरा अर्शोयन्त्र शमीयन्त्र कहाता है। पूर्व यन्त्रों की तरह इसके पार्श्वभाग में छिद्र नहीं होता अर्थात् यह छिद्ररहित होता है और यह अर्श के पीडनार्थ काम आता है। भगन्दर के लिए भी जो यन्त्र होता है वह अर्शोयन्त्र के समान होता है परन्तु अन्तर यह होता है कि भगन्दरयन्त्र का ओष्ठ छिद्र से आध अगुल ऊपर को ले जाकर बनाया जाता है। घ्राणार्श और घ्राणार्बुदयन्त्र जो कि नासिकागत अर्श (मस्से) तथा अर्बुद को दूर करने में काम आता

१, शल्यनिर्घातिनी।

१ ताम्रायोहैम। २ दर्शन।

है। यह नाडी के आकार का एक छिद्रवाला, दो अगुल लम्बा और मोटाई में प्रदेशिनी (तर्जनी) अगुली के बराबर होता है। इसी प्रकार एक अगुलित्राण य त्र होता है। इससे अगुलियों की रक्षा होती है अर्थात् यह रोगी के मुख मे अगुली डालते समय अगुली में पहना जाता है जिससे रोगी अगुली को काट नहीं सकता। यह किंचित् स्थूल (मोटा), गोल ओष्ठवाला, ऊर्ध्व और अधोभाग मे छिद्रवाला, गाय के स्तन के आकारवाला, चार अगुल प्रमाण, दांत, सीग या काष्ठ का बना हुआ होता है। यह दृढ सूत से मणिबन्ध स्थान से बाधा हुआ मुँह खोलने के काम मे आता है।

योनिव्रणदर्शने यन्त्र षोडशाङ्गुल मध्ये सुषिर चतुर्भित्त चतु शलाक सचारिण्या मुद्रयोर्ध्वं निबद्ध-मुत्पलमुकुलवक्त्र मूले शलाकाक्रमणादूर्ध्वविकासि च। नाडीव्रणप्रक्षालनाभ्यञ्जनयन्त्रे षडङ्गुले बस्तियन्त्राकारे मुखतोऽकर्णिके मूलमुखयोरङ्गुष्ठकलायप्रवेशस्रोतसी। दकोदरे नाडीमुभयतो द्वारा पिच्छ[१]नाडी वा युञ्ज्यात्। स्नेहबस्त्युत्तरबस्तिप्रधमनधूममूत्रवृद्धिरुद्ध[२]-मणिकप्रभृतिषु यथास्वमेव च यन्त्राण्युक्तानि। शृङ्ग तु ह्रस्वमध्यदीर्घमष्ट[३]दशद्वादशाङ्गुलायत त्र्यङ्गुल-प्रवेशमुखमग्रे सर्षपोपमच्छिद्र तनुचर्मनद्ध चूचुकाकार[४] च। तद्वातविषरक्ताम्बुदुष्टस्तन्याचूषणार्थम्[५]। श्लेष्मरक्त[६] चूषणार्थस्त्वलाबु। स द्वादशाङ्गुलदीर्घोऽष्टादशाङ्गुल परिणाहस्त्रिचतुरङ्गुलवृत्तसमुच्छ्रितमुख। परिवेष्टित-प्रदीप्त[७]कुशबल्वजपिचुगर्भश्च प्रयोज्य। तद्वदेव च मान-कर्मभ्या घटी। सा तु गुल्मोन्नमनविलयनार्थं च।

योनिव्रणदर्शनादियन्त्र—योनि के भीतर के व्रणों को देखने के लिए यह यत्र बनाया जाता है। यह सोलह अङ्गुल लम्बा, भीतर से पोला, चार भीत्तोंवाला, चार शलाकावाला अर्थात् मुख की ओर से खुलनेवाली चार भित्तियों से सचारिणी मुद्रा से ऊपर बन्द, कमल की कली के समान मुखवाला, मूल की ओर से चार शलाकाओं को दबाने से योनि के भीतर खुल जानेवाला। इसके खुलने से योनिगतव्रणों को देख सकते हैं। इसीलिए इसका नाम योनि-व्रण-दर्शन यन्त्र रक्खा गया है। नाडी-व्रण-प्रक्षालनयन्त्र और नाडीव्रणाभ्यञ्जन-यन्त्र—ये दोनों छ अगुल लम्बे, बस्तियन्त्र के समान आकार वाले, मुख पर कर्णिका से रहित, मूल और मुख मे क्रम से अङ्गुष्ठ और कलाय (मटर) प्रवेश के समान छिद्रवाले होते है। दकोदर अर्थात् जलोदराय नाडीय त्र—दोनों ओर से मुख वाली किसी काष्ठ की बनी हुई अथवा मोर या किसी पक्षी के पिच्छ से बनी हुई नाँडी का प्रयुक्त किया जाता है। स्नेह बस्तियन्त्र, उत्तरबस्तियन्त्र, प्रधमनयन्त्र, धूमयन्त्र, मूत्र-वृद्धियन्त्र, रुद्धमणियन्त्र प्रभृति यन्त्र जैसे कहे गए हैं, उसी प्रकार के बनाने चाहिए।

१ पिच्छ। २ निरुद्धमणिप्रभृतिषु। ३ मष्टादश। ४ चूचुका कारमुख। ५ स्तन्यचूषणार्थम्। ६ श्लेष्मरक्ता। ७ दीप्त। ८ 'मयूरपिच्छजा' इत्यरुण 'पक्षिपिच्छजेत्यर्थ' इति हेमाद्रि।

शृङ्गयन्त्र—अर्थात् सिगीयन्त्र ह्रस्व, मध्य और दीर्घसज्ञक तीन प्रकार के होते हैं अर्थात् ह्रस्व सिगीयन्त्र आठ अगुल का, मध्यसिगीयन्त्र दस अगुल का तथा दीर्घसिगीयन्त्र अट्ठारह अगुल का होता है। उसका प्रवेशमुख-भाग तीन अगुल चौडा, अन्त में सरसों के बराबर छिद्रवाला, सूक्ष्म चमडे से मढा हुआ और स्त्री के स्तन के ऊपर के चूचुक के आकारवाला होता है और यह दूषित वायु, रक्त, विष, जल, दुष्टस्तन्य को चूसने के काम में आता है।

अलाबुयन्त्र—अर्थात् तुम्बीयन्त्र कफ और रक्त के चूसने में काम आता है। यह बारह अगुल दीर्घ (लम्बा), अठारह अगुल विस्तृत तथा तीन या चार अगुल गोल ऊचे मुखवाला होता है। इसमें परिवेष्टन कर कुशा, बल्व[१] (काश की एक जाति विशेष) और रुई (कपास) सुलगा कर रक्खी जाती है। इसके धूम से दुष्ट रक्त एव दुष्ट कफ का आकर्षण होता है। साराश, आकर्षण होकर दुष्ट रक्त और कफ की शान्ति हो जाती है।

घटीयन्त्र—'तद्वदेव मानकर्मभ्या घटी' अर्थात् अलाबु-यन्त्र के समान ही प्रमाण तथा कार्य का करनेवाला घटीयन्त्र होता है। यह वातगुल्म को धूम के आकर्षण द्वारा खींच कर ऊपर लानेवाला और विलयन (शान्त) करनेवाला है। आजकल धरण के टल जाने तथा वायगोले की अवस्था में पेट पर शराव किवा लोटा चढाया जाता है, वही वस्तुत घटीयन्त्र है।

विशेष वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि यन्त्रों की सख्या १०१ बताते हुए कहते है कि इन सब यन्त्रों में हाथ ही प्रधानतम यन्त्र है क्योंकि बिना हाथ के यन्त्रों की प्रवृत्ति ही नही हो सकती। हाथ ही के आधीन सपूर्ण यन्त्रकर्म है[२]। यहा एको त्तरशत (१०१) का अर्थ यन्त्रों की इयत्तानिर्धारण नही समझना चाहिये। यह बात नहीं है कि यन्त्रों की सख्या एक सौ एक ही है अपितु सहस्रशीर्षा के भावार्थ की तरह यन्त्रों की तथा शस्त्रों की सख्या भी चाहे जितनी हो सकती है। इसी ग्रन्थ के सूत्रस्थान के तृतीय अध्याय में आचार्य कह चुके हैं कि—'अपने बुद्धिबल से कल्पना करके विविध प्रकार के कर्म करनेवाले यन्त्रों एव शस्त्रों का निर्माण करना चाहिए। कर्म अनेक प्रकार के हैं[३] अत इन (यन्त्रशस्त्रों) की सख्या का ठहराना अशक्य है। हाथ को प्रधान यन्त्र मानना भी बिलकुल ठीक है। प्राचीन एव अर्वाचीन काल में अपरेशन (शस्त्रकर्म) करनेवाले का हस्तकौशल ही मुख्य माना गया है। जिसका हाथ अपने वश में नही है—जो हस्तकौशल से हीन है उसके पास नाना प्रकार के यन्त्र तथा शस्त्र रहते हुए भी वह किसी काम का नही है। वह शस्त्रकर्म करके रोगियों को सुखी नही कर सकता।

१ अथो काशमस्त्रियाम्। इक्षुगन्धा पोटगल पुभूमनि तु बल्व जा॥ इत्यमर। २ यन्त्रशतमेकोत्तरम्, अत्र हस्तमेव प्रधान तम यन्त्राणामवगच्छ, किं कारण? यस्माद्धस्तादृते य त्राणामप्रवृत्तिरेव तदधीनत्वाद्यन्त्रकर्मणामिति। ३ स्वबुद्ध्या च विकल्प्य विविधानि यन्त्रशस्त्राणि तत्कर्माणि च उपकल्पयेत्। अत कर्मवशा त्तषामियत्तावधारणमशक्यम्। इति।

'मन शरीराबाधकराणि' अर्थात् मन और शरीर को पीडा देनेवाले शल्य है। यहा मन को शल्य किस प्रकार पीडा कर सकते है? शल्य तो शरीर को पीडा देनेवाले हैं अत मन का उल्लेख भी साथ में क्योंकर कर दिया गया? यह शङ्का करना व्यर्थ है। आधाराधेयभाव से देखा जाय तो शरीरगत शल्य मन को तथा मनोगत शल्य शरीर को अवश्य पीडाकारक होता है। जैसे आधार रूप कटाह के तपने से उसमे स्थित घृतादि पदार्थ भी तप जाते है। इसी प्रकार आधेयरूप लोहे के गोले के तपने से कडाही भी तप जाती है। तात्पर्य यह है कि शरीर आधार है और मन आधेय है। इसलिए इन दोनों मे से किसी एक को प्राप्त हुआ दु ख दूसरे को भी पीडा देता है। शरीर पर शस्त्रक्रिया करने के पहले नाना प्रकार के प्रोत्साहनों द्वारा रोगी का मन शल्य दूर कर फिर क्रिया मे प्रवृत्त होना पडता है। इससे भी मान सिक शल्य की सिद्धि प्रत्यक्ष है।

समस्त यन्त्रों का मुख्य कार्य है आहरणोपाय अर्थात् शल्य के अश को शेष न रहने देते हुए उसे निकाल बाहर करना। विशेषत यह कथन केवल स्वस्तिक तथा तालयन्त्रों के लिए किया गया है। इसके अतिरिक्त यन्त्रों द्वारा अवलो कन, क्रियासौकर्य तथा विशोधन कार्य भी होते है। रोग एव शल्य का अवलोकन करना यह यन्त्रों का पहला कार्य है जैसे कि योनिगतव्रणदर्शनयन्त्र, कण्ठशल्यावलोकन यन्त्र। वर्तमान काल मे सुधरे हुए शल्यशास्त्र के अनुसार दर्शनयन्त्रों में सब प्रकार के स्पेक्यूलम (Speculum) और स्कोपयन्त्र (Scope) आते हैं। उदाहरणार्थ जैसे कि—Lary ngoscope, Pharynscope, Urethroscope, Cystoscope, Auroscope, Proctoscope, Sigmoidoscope आदि आदि। क्रियासौकर्य—शस्त्रकर्म के समय क्रिया में सौकर्य (मदद) प्राप्ति के लिए तथा शेष अङ्गों की रक्षा के लिए नाना प्रकार के यन्त्र काम में लाए जाते हैं जैसे कि अर्शोयन्त्र-अगुलि-त्राणक यन्त्र आदि। सम्प्रति ऐलोपैथ डाक्टर अपनी यन्त्र-सामग्री मे सब प्रकार के स्पेक्यूलम डायरेक्टर जैसे कि—Probe director, Hernia director, Tracnum director, Lithotomy director आदि तथैव रिट्राक्टर जैसे कि Eye lid retractor, Wound retractor, Abdominal retractor इत्यादि तथा होल्डर जैसे कि Caustic Holder, Needle Holder Tongue holder आदि आदि। विशोधन—शल्यस्थान के विशोधन एव खोज के लिए काम में आनेवाले यन्त्र जैसे कि मूत्रमार्गविशोधन, तालयन्त्र आदि। नव्य शल्यशास्त्र के ज्ञाता एतदर्थ नवीन आविष्कृत यन्त्रों मे डायलेटर्स जैसे कि Uterine dilator, Urethral dilator, Bectal dilator, Prepuce dilator इत्यादि, कैथेटर (Catheter), साउण्ड (Sound) स्पून (Spoon), स्कोप (Scope) आदि को काम में लाते हैं।

स्वस्तिक आदि जो यन्त्रों के छ प्रकार बताए हैं, नवीन शल्यशास्त्रविशारद प्राय इन ही को काम में लाते हैं। नव्य शल्यशास्त्र में स्वस्तिकयन्त्रों को Cruci form instruments, सदंशयन्त्रों को Pincher-like forceps तालयन्त्रों को Pick scoop instruments तथा शलाकायन्त्रों को Probes कहते हैं।

यहा वाग्भटाचार्य ने सदंशयन्त्र चार, नाडीयन्त्र तेईस, शलाकायन्त्र चौतीस और उपयन्त्र उन्नीस कहे है किन्तु सुश्रुत मे सदंशयन्त्र दो, नाडीयन्त्र बीस, शलाकायन्त्र अट्ठाईस और उपयन्त्र पच्चीस ही माने हैं।[1]

आधुनिक यन्त्रसमुदाय मे स्वस्तिकयन्त्रों का समावेश Forceps वर्ग के यन्त्रों में किया गया है। हड्डी पकड़ने, बन्दूक की गोली निकालने, दात निकालने, कान तथा नाक के शल्य को निकालने तथा अन्यान्य कार्यों मे भी पशुपक्षियों के मुखा कृतिवाले स्वस्तिकयन्त्र काम मे आते है परन्तु उनके नाम सर्वथा प्राचीनों के कथानुसार नही है। क्वचित् इनके नाम अन्वेषक के नाम पर, क्वचित् प्राणियों के अङ्गसादृश्यानुसार और अधिकतर स्थानिक कार्यानुसार रक्खे गए है। अन्वेषक के नाम पर यथा Ferguson's forceps, Farabeuf's forceps Bedfordr's forceps इत्यादि। प्राणियों के अङ्गसादृश्यानुसार यथा-सिंहमुख (Lionforceps), शशघाती मुख (Dental hawk bill forceps), मूषकमुख (Mouseteeth forceps), मकरमुख (Crocodile forceps), श्वामुख (Bulldog vol salla ets) इत्यादि तथा स्थानिक कार्य के अनुसार यथा—Aural forceps, Dental forceps और Bone forceps आदि आदि।

सदंश यन्त्रों में सनिबन्धन अर्थात् कीलयुक्त (With a catch) यन्त्र अगरेजी V के आकार का होता है और निर्नि बन्धन (कीलरहित Without catch) ॲगरेजी U के आकार का होता है। तीसरा सदंश सूक्ष्म शल्य तथा उपपक्ष्म (नेत्रों को कष्ट देनेवाले पलकों) के बालों को उखाड़ने के काम आता है। आधुनिक नेत्रविज्ञान मे पक्ष्मकोपको Trichiasis और Distichiasis कहते हैं। पलक निकालने की विधि को Epila tion कहते हैं और तदर्थ सदंश को Epilation forceps कहते हैं। चतुर्थ मुचुण्डीसंज्ञक सदंश गम्भीर व्रण के मास (Granulations) एव अर्म (Pterygium) के शेष मास को निकालने के लिए काम मे आता है।

वर्तमान ऐलोपैथ तालयन्त्र को स्कूप (Scoop) कह सकते हैं और स्पून (Spoon) का भी समावेश तालयन्त्र में हो सकता है। एकताल (Single scoop) और द्वितालं (Dauble scoop) होता है।

नाडीयन्त्रों मे अलाबु एक-मुख नाडीयन्त्र का उदाहरण है तथा मूत्रवृद्धियन्त्र, दकोदरयन्त्र और धूमनलिका यन्त्र ये दो मुखवाले नाडीयन्त्र के उदाहरण है। योनिव्रणदर्शन यन्त्र तथा अर्शोयन्त्र ये रोगदर्शनयन्त्र के उदाहरण हैं। आधु निक शल्यशास्त्र मे रोगदर्शनार्थ व्यवहार मे आनेवाले नाडी-यन्त्रों को स्पेक्यूलम (Speculum) कहते है जैसे कि Vaginal speculum, rectal speculum, Ear speculum, Nasal spe culum इत्यादि। इनके अतिरिक्त रोगदर्शनार्थ और भी नाडी यन्त्र होते हैं जिनमें प्रकाश का विशेष प्रबन्ध रहता है। ऐसे यन्त्रों को स्कोप (Scope) कहते हैं जैसे कि Auro scope, Cysto scope आदि आदि। अलाबु-शृङ्गयन्त्र की तरह आजकल

१ तत्र चतुर्विंशति स्वस्तिकयन्त्राणि द्वे सदंशयन्त्रे द्वे एव तालय न्त्रे विंशतिर्नाड्य अष्टाविंशति शलाका पञ्चविंशतिरुपयन्त्राणि। इति।

दूषित दुग्ध (स्तन्य) निकालने के लिए ब्रेस्ट पम्प (Breast pump) नामक नाडीयन्त्र काम मे लाया जाता है। उरस्तोय (छाती में सञ्चित जल) को निकालने के आधुनिक प्ल्युरिसी (Plaurisy with effusion) रोग मे पोटेनस् अस्पिरेटर (Potains aspirator) नाडीयन्त्र का और पथरी फोडने के बाद उसके कण निकालने के लिए इवैक्युएटर (Eva Cuator) नाडीयन्त्र काम में लाते है। क्रियासौकार्यार्थ आजकल बहुत से नाडी यन्त्र काम में लाए जाते हैं। इनको डायरेक्टर (Director) कहते है। यथा—Probe director, Hernia director, lithotomy director, fistula director इत्यादि।

प्राचीन व्रणप्रक्षालन नाडीयन्त्र की जगह सम्प्रति सिरिज (Syringe) तथा इरिगेटर (Irrigator) से काम लेते है। बस्तिविधि को अँगरेजी मे एनेमा (Enema) कहते है। बस्ति विधि के लिए आजकल दो यन्त्र काम मे आते है। पहला बस्तियन्त्र के समान रबड़ बाल एनेमा सिरिज (Rubber ball enema syringe) है और दूसरा इरिगेटर जो कि दीवाल के साथ टागा जाता है। उत्तर बस्ति यन्त्र आज कल का रबड बाल व्हजायनल डूश (Rubber ball vaginal douche) है। मूत्रवृद्धि (Hydrocele) और जलोदर (Ascites) मे पानी निकालने के लिए प्राचीनों के मतानुसार आजकल भी एक लोहे की नलिका होती है जिसको क्यानूला (Canula) कहते है। शिश्नचर्मसकोच तथैव गुदसकोच की अवस्था मे स्रोत-निस्तार करने के लिए निरुद्धप्रकश और सन्निरुद्धगुदयन्त्रों की जगह आजकल प्रेप्यूस या यूरेथ्रल डायलेटर (Prepuce or urethral dilator) शिश्नचर्म सकोच की चिकित्सा में तथा रेक्टल डायलेटर या बूजी (Rectal dilator or bougie) गुदसकोच की चिकित्सा के काम मे आते हैं। आधुनिक शस्त्र चिकित्सा में तो गर्भाशय और ग्रीवा के सकोच मे भी नाडी यन्त्रों अर्थात् Uterine dilators का उपयोग करके ग्रीवा की वृद्धि की जाती है। छोटे से मोटे तक इन यन्त्रों की सख्या बारह होती है और प्रत्येक यन्त्र पर उसकी मोटाई और नम्बर लगा रहता है।

व्रणधूपन (Fumigation) और धूमपान (Inhalation) के लिए धूमयन्त्रों का उपयोग होता है किन्तु आधुनिक डाक्टरी मे व्रणधूपन का आदर नहीं है। वे एतदर्थ तीव्र कीटाणुनाशक रासायनिक औषधियों के घोल व्रण धोने के लिए प्रयुक्त करते हैं परन्तु आज भी प्राचीनों की तरह राजयक्ष्मा, प्रतिश्याय, श्वास, कासादि श्वसनसस्थान के रोगों के लिए ओषधिधूमपान का प्रयोग करते है और उसे आजकल इनहेलर्स (Inhalers) या रेस्पिरेटर्स (Respirators) कहते हैं। फोडे फुन्सियों में से दुष्टरक्तादि खीच कर बाहर करने के लिए शृङ्ग-अलाबुकी तरह कपिंग ग्लासेसका उपयोग होता है परन्तु चूसने का काम मुख द्वारा न किया जाकर रबड़-बाल (Suction balls) द्वारा किया जाता है। अगुलित्राणक को अँगरेजी में फिङ्गर गार्ड (Finger guard) और फिगर स्टाल (Finger stall) भी कहते है। घ्राणार्बुदार्शोयन्त्र की तरह सम्प्रति शल्यशास्त्रका नेसल स्पेक्यूलम (Nasal speculum) होता है परन्तु इसमें हेण्डल द्वारा परिणाह छोटा मोटा करने का प्रबन्ध भी रहता है। पाश्चात्य वैद्यकपरिभाषा मे योनिवीक्षण यन्त्रको व्हजायनल स्पेक्यूलम (Vaginal speculum) कहते हैं। यह अर्शोयन्त्र की तरह वृत्त यथा—Fergussons speculum, द्विभित्त यथा—Cuseo's vaginal speculum तथा चतुर्भित्त यथा—Allingham's speculum होते है। वाग्भटोक्त योनिव्रणेक्षणयन्त्र आजकल के चतुर्भित्त व्हजायनल स्पेक्यूलम के साथ बहुत कुछ मिलता जुलता है।

शलाकायन्त्राण्यपि नानाकृतीनि नानार्थानि यथायोगदीर्घपरिणाहानि च भवन्ति। तेषामेषणकर्मणी द्वे गण्डूपदमुखे। स्रोतोगतशल्याहरणार्थेऽष्टाङ्गुलनवाङ्गुले द्वे मसूरदलमुखे। पट् शङ्कव। तेपा व्यूहनक्रियौ द्वादशषोडशाङ्गुलौ द्वावहिफणामुखौ। तथा चालनार्थे दशद्वादशाङ्गुलौ शरपुङ्खमुखौ। आहारार्थे बडिशमुखौ। तथा गर्भशङ्कु शङ्कुतुल्योऽष्टादशाङ्गुल प्रणताग्रो मूढगर्भाहरणे। तथा सर्पफणावद्वेवाग्रवक्त्र तदाख्यमश्मर्याहरणार्थम्। तथा दन्तनिर्घातन चतुरङ्गुल शरपुङ्खमुख स्थूलवृत्तप्रान्तम्।

शलाकायन्त्र—शलाकायन्त्र भी नाना प्रकार के आकारवाले, नाना प्रकार के कार्यों को करनेवाले यथायोग लम्बे तथा चौडे होते हैं। इनमें गण्डूपद (केंचुवे) के मुखके समान मुखवाले एषण कर्म (नाडीव्रण आदि के मार्गका अन्वेषण) करनेवाले दो शलाकायन्त्र होते है। मसूर की दाल के दलकी आकृतिवाले आठ तथा नव अगुल प्रमाणवाले दो मसूरदलमुख शलाकायन्त्र मुख, नासा, कर्ण आदि स्रोतोगत शल्य को निकालने के लिए होते हैं। शङ्कुयन्त्र छ होते हैं। इनमे से दो व्यूहनक्रिया (शल्य को देखने या निकालने के लिए व्रण के किनारों को खीचने (Retraction) के करनेवाले, बारह और सोलह अगुल प्रमाण के सर्पके फण के समान मुखवाले अहिफणामुख तथा चालनार्थ (शल्य को चलायमान करने या हिलाने के लिए—एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए), दस तथा बारह अगुल के शरपुख (बाण) के समान मुखवाले शरपुखमुख तथा दो आहरण (व्रणस्थित शल्य को दूर करने) के लिए बडिशमुख (मछली पकड़ने के काटे—आकडे के समान मुख) वाले और एक शङ्कु जिसका आकार शङ्कु के समान और आठ अगुल लम्बा, अग्रभाग में प्रणत (मुडा हुआ) होता है। इसका नाम गर्भशङ्कु है इस लिए कि इससे स्त्रियों के गर्भाशय मे आडा टेढा आया हुआ मूढगर्भ भेदन कर निकाला जाता है। अँगरेजी में गर्भको निकालनेवाले इस शङ्कुको ब्लण्ट हुक एन्ड क्रोचेट (Blunt hook and Crotchet) कहते हैं। अग्रवक्र—यह सर्प के फण की तरह अग्रभाग में वक्र (मुडा हुआ) शङ्कुयन्त्र है और यह पथरी (अश्मरी) को निकालने के लिए काम आता है। सुश्रुत ने यद्यपि यन्त्रों का वर्णन करते हुए इसका निर्देश नही किया है तथापि अश्मरी के शस्त्रकर्म मे इसी का अग्रवक्र या अग्रवक्र नाम से निर्देश किया है। इस अश्मरीहरणशलाका को अँगरेजी मे लिथोटोमी स्कूप (Lithotomy scoop) कहते है। दन्तनिर्घातनयन्त्र—यह दात निकालने के काम में आता

१ एषण मार्गपर्येषण कमती दु। २ यथा च न भिद्यते न चूर्ण्यते वा तथा प्रयतेत, चूर्णमल्पमप्यवस्थित हि पुन परिवृद्धिमेति तस्मात्समस्तामग्रवक्रेणाददीत इति।

है। यह चार अगुल लम्बा, शरपुखमुख के समान तथा मोटाई मे स्थूल होता है। यह आजकल के टूथ एलिवेटर (Tooth elevator) से मिलता जुलता होता है।

षट् कार्पासकृतोष्णीषाणि विविधव्रणक्लेदक्षारप्रमार्जनक्रियासु। तेषामपि दूरासन्नघ्राणव्रणोपयोगीनि षट्सप्ताङ्गुले द्वे। तद्वदेव कर्णेऽष्टाङ्गुलनवाङ्गुले द्वे। पायौ दशद्वादशाङ्गुले द्वे। कर्णशोधन स्रुचमुखमश्वत्थपत्राग्रम्। तथा क्षाराग्निकर्मार्थं जाम्बवौष्ठानि द्वादशदशाष्टाङ्गुलानि क्रमाद्द्व्यङ्गुलार्धाङ्गुलफलानि।

कार्पासकृतोष्णीष षट्शलाका—कपास (रूई) लपेटे हुए मुखवाले अर्थात् जिनके मुख पर रूई लपेटी हुई होती है ऐसी छ शलाका नाना प्रकार के व्रणों क्लेद (पूय) को पोंछने तथा क्षारकर्म करने के बाद पोंछने के काम में आती है। इनमें भी नासागत दूर एव समीप व्रण को पोंछने के लिए सात और छ अगुलवाली दो, इसी प्रकार कान के व्रण पोंछने के लिए आठ और नव अङ्गुल की दो तथा गुदगत व्रण पोछने शुष्कमल शोधने के लिए दस और बारह अगुलवाली दो शलाकाए होती हैं। इस प्रकार ये नासा, कान और गुद के लिए दो दो मिलाकर छ शलाका हुई। अँगरेजी मे इनको स्वाब प्रोब (Swab probes) कहते हैं।

एक कर्णशोधन—शलाकायन्त्र होता है। यह पीपल के पत्ते के अग्रभाग की तरह स्रुचमुख (हवन करने मे उपयुक्त स्रुव के समान मुखवाला) होता है।

जाम्बवौष्ठ—तीन जाम्बवौष्ठ (जामुन के फल के आकार वाले) होते है। इनकी लम्बाई बारह, दस और आठ अगुल की और इनके फलक क्रम से दो, एक और आध अगुल के होते हैं। साराश, बारह अगुलवाली का फलक दो अगुल, दस अगुलवाली का एक अगुल तथा आठ अगुलवाली का आध अगुल प्रमाण का होता है। इनका उपयोग क्षाराग्नि कर्म में होता है।

शलाकाश्च स्थूलसूक्ष्मदीर्घह्रस्वमध्या। अन्त्रवृद्धावर्द्धेन्दुवक्त्रा मध्योर्ध्वनिर्गतशलाकाग्रहणा। नासार्शोऽर्बुदयो[1] कोलास्थिदलमात्रमुखा। खल्लीतीक्ष्णोष्ठा[2], क्षारविषौषधप्रणिधानाय च दर्व्यस्तिस्रोऽष्टाङ्गुला दर्व्याकारा कनीनिकानामिकामध्यमाङ्गुलीनखपरिमाण[3]निम्नमुखा तथाञ्जलिसस्थाना। उत्तरबस्त्यञ्जनादिषु यथायथमेवोपदिष्टानि।

शलाका के अनेक प्रकार—स्थूल (मोटी), सूक्ष्म (पतली), दीर्घ (लम्बी), ह्रस्व (छोटी) और मध्यम आकारवाली ऐसी अनेक प्रकार की शलाका यथायोग्य कार्यों मे बनाई जा सकती हैं।

अर्धेन्दुवक्त्रा—अन्त्रवृद्धि रोग में दहनकर्म के लिए अर्धेन्दुवक्त्रा शलाका का उपयोग होता है। इसको पकड़ने के लिए इसके मध्य और ऊर्ध्वभाग से निकला हुआ दण्ड रहता है। इसके मुख का आकार आधे चन्द्रमा की तरह रहता है।

नासार्शोऽर्बुददहरणी—नासिकागत अर्श (मस्से) और अर्बुद को दहन करने के लिए यह शलाका बेर की गुठली के दल मात्र मुखवाली होती है। अँगरेजी मे इसका नाम नेसल क्यूरेटी (Naral curette) है।

खल्लीमुखी—ये दर्वी (कड्छी) के आकार तीन प्रकार की दर्विये होती है। इनकी लम्बाई आठ आठ अङ्गुल की रहती है और ये निम्नता तथा मोटाई में कनिष्ठिका, अनामिका और मध्यमा के नख के समान क्रम से होती हैं। इनका उपयोग क्षार एव विषौषधि के विषय मे होता है। इनका मुख तीक्ष्ण ओषधिमर्दन के खरल के आकार का होता है इसीलिए इनका नाम खल्ली या खल्लीमुखी[1] है अथवा ये अञ्जलि सस्थाना (अञ्जली के समान) होती है। इन्दु के मतानुसार उपर्युक्त अर्धेन्दुवक्त्रा के मुख के अतिरिक्त पार्श्व में पकडने के लिए डण्डा भी होता है। तीक्ष्णोष्ठा के स्थान मे इन्दुसम्मत पाठ वेल्लितोष्ठा[2] है और चलायमान ओष्ठवाली।

उत्तरबस्ति, अञ्जनादि मे भी शलाकाओं का उपयोग होता है अत उनका यथायोग उपदेश करना चाहिए अर्थात् जहा जैसी शलाका की आवश्यकता हो, वहा वैसी ही शलाका उपयोग मे लानी चाहिए। इनके विषय में यथास्थान में कह दिया गया है।

अनुयन्त्राण्ययस्कान्तरज्जुचर्मान्तरवस्त्राश्ममुद्गरपाणिपादतलाङ्गुलिजिह्वादन्तनखमुखशाखावालचलोष्मकालपाकहर्षभयानि। एतानि देहे सर्वस्मिन्देहस्यावयवेऽपि वा। सन्धौ कोष्ठे धमन्या च यथायोग प्रयोजयेत्॥

अनुयन्त्र—अयस्कान्त, रज्जु, चर्म, अन्तर्वस्त्र, अश्म, मुद्गर, पाणितल, पादतल, अगुलि, जिह्वा, दन्त, नख, मुख, शाखा, बाल, चल, ऊष्मा, काल, पाक और भय ये सब अनुयन्त्र कहलाते हैं। इन सबकी योजना सर्वशरीर तथा शरीर के प्रत्येक अवयव, सन्धि, कोष्ठ तथा धमनी इन सब में यथायोग करनी चाहिए।

विशेष वक्तव्य—सुश्रुत में इन सब अनुयन्त्रों को उपयन्त्र कहा गया है। इसलिए कि ये यन्त्र शस्त्रों के उप (पास) रहते हुए अनेक प्रकार के कार्य कर सकते हैं और इनसे यन्त्र एव शस्त्रक्रिया में बड़ी अच्छी सहायता मिलती है। अब हम इन सबका उपयोग यन्त्रों की तरह किस प्रकार होता है सो सक्षेप से वर्णन करते है।

अयस्कान्त—यह खनिज लोह विशेष है। इसे लोग चुम्बक या लोह चुम्बक नाम से पहिचानते हैं। यह लोहे को अपनी ओर आकर्षण करता या खींचता है। गाय आदि पशुओं के पेट में सुई लोहे की कील आदि चली जाने पर यह पशु के पेट आदि पर रख कर फिराया जाता है जिससे उसके फिराने के साथ साथ लोहवस्तु निकल आती है। आखों में भी लोह कणादि के चले जाने पर इसका उपयोग होता है और लोहकण आदि बाहर निकल आते हैं। इसका उपयोग प्राचीन काल से होता आया है। अँगरेजी मे इसे लोड स्टोन (Load stone)

---

१ दहने नासार्शोऽर्बुदयो २ वेल्लितोष्ठा। ३ कनिष्ठिकानामिका।

१ खल्लमौषधमर्दनपात्रमिव मुख येषा तानि तथोक्तानीति हाराण चन्द्र। २ इन्दुवक्त्राया वक्त्रादन्यस्मिन् पार्श्वे दण्डो विधेय। वेल्लन्तौ चलावोष्ठावितीन्दु।

कहते हैं तथा कृत्रिम चुम्बक को विद्युत् चुम्बक Electro magnet कहते हैं।

रज्जु—सूत या डोरी का नाम है। सर्पविष-चिकित्सा में दशस्थान के ऊपरवाले भाग को रस्सी से जकड कर बाधने की पद्धति प्राचीन समय से चली आती है[1]। रस्सी से बाधने पर विष ऊपर शरीर में व्याप्त नहीं होता है[2]। महाराष्ट्र में यह क्रिया विशेषत होती है और इसे धुर्बन्ध कहते है।

चर्म—चर्मपट्ट प्राचीन समय में सर्पदश पर बाधा जाता था[2]। चर्म का गोफणबन्ध गुदभ्रश रोग में प्रयुक्त होता[3] था। इतना ही नहीं, अर्श, अश्मरी, भगन्दर, सिराव्यध प्रभृति शस्त्रकर्मों में रोगी को कसकर चर्मपट्टों से बाधा जाता था। आधुनिक शस्त्र-चिकित्सा में भी अर्श, भगन्दर आदि गुद समीपवर्ती रोगों में शस्त्रक्रिया के समय पाव निश्चल रहे इस लिए चर्मपट्टों (Lithotomy straps) का उपयोग होता है। जलोदर का जल निकालने के बाद भी चर्मपट्टोपयोग उदर बन्धन के लिए होता[4] था। इसी प्रकार भिन्न भिन्न बस्तियों के लिए तो चर्म का उपयोग सर्वश्रुत ही है।

अन्तर्वस्त्र—रज्जु, वेणि का और चर्म का जहा जहा उपयोग होता था वहां रेशमी वस्त्र आदि का भी।

अश्म और मुद्गर—दीर्घ और गोल पाषाण का उपयोग अस्थिगत शल्य निकलते समय शल्यपर प्रहार करने के लिए तथा अस्थिभग्न में हस्ततल में धारण करने के लिए होता था। मुद्गर का उपयोग भी अश्म (पत्थर) की तरह किया जाता था[5]।

पाणिपादतलागुलि—भगवान् धन्वन्तरि १०१ यन्त्रों में सबसे प्रधानतम हाथ को मानते हैं। किसी भी यन्त्र या शस्त्र का कार्य बिना हाथ के हो ही नहीं सकता। विम्लापन के लिए, ग्रासशल्य में आघात करने के लिए, अस्थिभग्न एव भ्रश के लिए हाथ का उपयोग प्रधानतया होता था। इसी प्रकार व्यात्तानन (मुह के फट जाने) आदि को ठीक करने के लिए भी हाथ से बड़ी सहायता मिलती थी, यह प्राचीन सहिताओं से स्पष्ट[6] है। पाव का उपयोग भी अस्थिशल्य निकालने के समय हड्डी पर दबाव देने के लिए होता था[7]।

जिह्वा—नेत्रगत शल्यादि निकालने के लिए जीभ का

१ 'सा तु रज्ज्वादिभिर्बद्धा विषप्रतिकरी मतेति, सुश्रुत। २ 'दशस्योपरि बध्नीयादरिष्टा चतुरङ्गुले। प्लोतचर्मान्त वल्कानां मृदुनान्यतमेन च ॥' इति सुश्रुत। ३ 'गुदभ्रशे गुद स्विन्न स्नेहाभ्यक्त प्रवेशयेत्। कारयेद्गोफणाबन्ध मध्यच्छिद्रेण चर्मणा ॥' इति सुश्रुत। '४ निस्रुते च दोषे गाढतरमाविककौशेयचर्मणाऽन्यतमेन परिवेष्टयेदुदर तथा नाध्मापयति वायु। इति सुश्रुत। ५ 'अस्थिदेशोत्तुण्डितमष्ठीलाश्ममुद्गराणामन्यतमस्य प्रहारेण विचाल्य यथामार्गमेव।' 'प्राग्गोमयमय पिण्ड धारयेन्मृण्मय तत। हस्ते जातबले चापि कुर्यात्पाषाणधारणम् ॥' इति सुश्रुत। ६ 'अभ्यज्य स्वेदयित्वा तु वेणुना वा शनै शनै। विमर्दयेद्भिषक् प्राज्ञस्तलेनाङ्गुष्ठकेन वा ॥' 'ग्रासशल्ये कण्ठासक्ते स्कन्धे मुष्टिना भिहन्यात्।' 'कौर्पर तु तथा सन्धिमङ्गुष्ठेनानुमार्जयेत्।' 'व्यात्तानने हनु स्विन्नामङ्गुष्ठाभ्या प्रपीड्य च। प्रदेशिनीभ्या चोन्नम्य चिबुकोन्नमन हितम् ॥' इत्यादि सुश्रुतचरकौ। ७ 'अस्थिविवरप्रविष्टमस्थिविदष्ट वावगृह्य पादाभ्या यन्त्रेणापहरेत्।' इति सुश्रुत।

उपयोग होता है और रोगपरीक्षा[1] भी जीभ से होती है।

दन्त—यथा हस्तिदन्त, अगुलित्राणक, अर्शोयन्त्र आदि के बनवाने में काम आता था। इतना ही नहीं, हाथी दांत की मिस्सी के प्रयोग से व्रणस्थान पर भी बाल पैदा होना सुश्रुत ने लिखा[2] है।

नख—शस्त्रक्रिया के समय त्वचा के भिन्न भिन्न पर्त अलग करने के लिए नखों का उपयोग होता है तथैव दृश्य शल्य के निकालने के लिए नख बडा काम देते हैं।

मुख—आजकल चूसने की आवश्यकता होने पर रबड़ के गेंद को काम में लाते हैं परन्तु प्राचीन काल मे चूसने का काम मुख से होता था। सम्प्रति चूसनेवाले गेद को सक्शन बाल (Suction Balls) कहते हैं।

शाखा—अश्वकटक तथा वृक्षशाखा का उपयोग अस्थिगत शल्य निकालने के लिए हुआ करता था। इसका उल्लेख सुश्रुत में मिलता[3] है।

बाल—मनुष्य तथा घोडे के बाल व्रण सीने के लिए, शिर शल्य की चिकित्सा मे, कण्ठस्थ शल्याहरणार्थ काम में आते[4] हैं।

चर—वायु का उपयोग भी यत्र तत्र होता है। शस्त्रक्रिया में सज्ञाहरणार्थ क्लोरोफार्म सुघाया जाने पर तथा रोगी को ग्लानि, बेहोशी आदि हो जाने पर पखे से हवा की जाती है[5]। सर्पदश होने पर हवा की जाती है जब तक रोमाञ्च न हो जाय[6]।

ऊष्मा—अग्नि का उपयोग अग्निकर्मादि कई क्रियाओं में होता ही है।

काल—काल का उपयोग भी वमन-विरेचन-शस्त्रक्रियादि समस्त विषयों में होता है।

पाक—व्रण आदि का बिना पाक हुए आमावस्था में शस्त्रक्रिया नितान्त वर्जित है अत पाकोपयोग का जानना वैद्य के लिए प्रथम कर्त्तव्य[7] है।

हर्ष—रोगी का मन हर्षित एव प्रफुल्लित करने के लिए वैसी सुखदायिनी कथाए कही जाने से शस्त्रक्रिया में बड़ा सुभीता होता है, हृदय का शल्य दूर किया जाता है अत हर्ष का उपयोग भी होता[8] है।

१ रसनेन्द्रियविज्ञेया प्रमेहादिषु रसविशेषा। इति सुश्रुत। २ हस्तिदन्तमसी कृत्वा मुख्यचैव रसाञ्जनम्। रोमाण्येतानि जायन्ते लेपात्पाणितलेष्वपि ॥ इति ३ पञ्चाङ्ग्यामुपसयतस्याश्वस्य वक्त्रकटिके बध्नीयात्। अथैन कशया ताडयेद्यथोन्नामयन् शिरोवेगेन शल्यमुद्धरति, दृढा वा वृक्षशाखामवनम्य तस्या पूर्ववद्बध्वोद्धरेत्। इति ४ 'सीव्येत्सूक्ष्मेण सूत्रेण स्नाय्वा बालेन वा पुन।' 'शिरसोपहते शल्ये बालवर्ति प्रवेशयेत्।' इत्यादिसुश्रुत ५ वायुस्तन्त्रयन्त्रधर प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचाना नियन्ता प्रणेता च मनस इति चरक। ६ व्यज्यश्चालोमहर्षात्स्यात्। इति चरक। ७ यश्छिनत्त्याममज्ञानाद्यश्च पक्वमुपेक्षते। श्वपचाविव मन्तव्यौ तावनिश्चितकारिणौ ॥ इति सुश्रुत। ८ 'हृद्यवस्थितमनेककारणोत्पन्न शोकशल्य हर्षेण' इति तथैव 'सपदाद्यनुकूलाभि कथाभि प्रीतमानस। आशावान् व्याधिमोक्षाय क्षिप्र सुखमवाप्नुयादिति सुश्रुत।'

भय—भय के कारण शरीर की समस्त पेशियां ढीली हो जाती हैं। इससे शल्य के निकालने, शस्त्रकर्म करने, टूटी अस्थि को जोड़ने-ठीक करने मे बहुत सुविधा होती है। दातव्य औषधालयों मे रोगी के शोर मचाने पर उसे भय दिखाया जाकर काम लिया जाता है। कभी कभी उसको पीटना भी पड़ता है। उन्माद तथा हिक्का रोग भय से तुरन्त दूर किए जा सकते हैं।

अनुयन्त्रों का उपयोग—उपर्युक्त वर्णित भिन्न भिन्न अनु यन्त्रों का उपयोग समस्त शरीर मे, शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों मे, सन्धि में, कोष्ठ में तथा धमनी मे जिसका जहा यथायोग उपयोग होता हो वहा करना चाहिए।

यन्त्रकर्माणि तु निर्घातनपूरणबन्धनव्यूहनवर्तनचालनविवरणपीडनमार्गशोधनविकर्षणाहरणव्यञ्जनोन्नमनविनमनभञ्जनोन्मथनाचूषणैषणदारणर्जुकरणप्रक्षालनप्रधमनाञ्जनप्रमार्जनानि बाहुल्येन चतुर्विंशतिर्भवन्ति।

यन्त्रों के २४ कर्म—निर्घातन, पूरण, बन्धन, व्यूहन, वर्तन, चालन, विवरण, पीडन, मार्गविशोधन, विकर्षण, आहरण, व्यञ्जन, उन्नमन, विनमन, भञ्जन, उन्मथन, आचूषण, एषण, दारण, ऋजुकरण, प्रक्षालन, प्रधमन, अञ्जन और प्रमार्जन ये यन्त्रों के चौबीस कर्म बाहुल्येन कहे कए गए है।

विशेष वक्तव्य—निर्घातन-मुद्गर, पाषाण आदि से आघात (Hammering) करना। पूरण—योनि, गुद, व्रण आदि मे नेत्रबस्ति आदि द्वारा ओषधियो का भरना। बन्धन—रज्जुवेणिका, चर्म, पट्ट (वस्त्र) आदि से बाधना अर्थात् Bandaging करना। व्यूहन—डल्हन के कथनानुसार शल्य के निकालने एवं निरीक्षण करने के लिए 'ऊर्ध्वीकरणं छिद्रोत्तुण्डितस्योद्धरणार्थम्' को व्यूहन बताया गया है परन्तु यह ठीक प्रतीत नहीं होता, इसलिए कि व्यूहनार्थं सर्पफणाशलाका का उपयोग करना बताया है। हाराणचन्द्र कहते है कि 'व्यूहन तु चूर्णिताश्मर्यादीना सग्रहणम्' अर्थात् चूर्णीभूत अश्मरी आदि के ग्रहण करने का नाम व्यूहन है। उनकी दृष्टि से यह अश्मर्यादि-विषय में ठीक प्रतीत होता है। महामहोपाध्याय श्रीगणनाथसेन का मत है कि 'व्रणौष्ठयो सन्निहितीकरणम्' अर्थात् व्रण तथा होठ का सन्निहित (ठीक) करना व्यूहन है किन्तु आधुनिक मत से व्रणावलोकन करने या निकालने के लिए व्रण के किनारों को खींचना (Retraction) व्यूहन है। वर्तन—फटे हुए व्रण को, टूटे हुए हाड तथा शरीर के किसी भी इधर-उधर हुए अवयव को यथास्थान स्थापित करना अर्थात् Replacement करना है किन्तु डल्हन कहते है कि 'विवृतस्य वर्तुलीकरणम्' अर्थात् बिगड़ी हुई गोलाई का ठीक करना वर्तन है। चालन—एक स्थान से अन्य स्थान पर ले जाना या व्रण को चलायमान करना है किन्तु हाराणचन्द्र गला आदि स्थान मे अटके हुए शल्य के निकालने को चालन कहते हैं। विवरण—नाडीव्रण आदि के बन्द मुखको खोलना (Dilatation) है। पीडन—व्रण के पूय तथा स्राव को अगुलियों तथा ओषधियों द्वारा दबाकर निकालना। मार्गविशोधन—मल-मूत्र आदि के रुक जाने पर शलाका के उपयोग से मार्ग को खोल देना। विकर्षण—'विगृह्य कर्षणम्' अर्थात् पकड़ कर बाहर खींच लेना अथवा Extraction है। आहरण—व्रण के शल्य को बाहर ले आना। व्यञ्जन—ओषधिप्रक्षालनादि द्वारा व्रण के असली रूप को प्रगट करना। उन्नमन—अधःस्थित या गहराई में पैठी हुई हड्डी या शल्यको ऊपर ले आना (Elevation) है। विनमन—ऊपर उठी हुई हड्डी को नीचे दबाना (Dipression) है। भञ्जन—शल्य को तोड़ना (खण्डित करना) अर्थात् Crushing करना। उन्मथन—शल्य को जान लेने के लिये शलाका से विलोडन अर्थात् Sounding करना। आचूषण—मुख से या सिंगी आदि से वात, दुष्टरक्त तथा स्तन्य आदि को चूसना अर्थात् Suction करना। एषण—नाडीव्रण आदि के अज्ञात मार्ग का ढूढना अर्थात् Probing or exploration करना। दारण—कजा, क्षार आदि दारण-द्रव्यों का लेप करके पकी हुई सूजन को फोडना परन्तु डल्हन के मतानुसार दारण शरकरणादिका द्विधा करना है। ऋजुकरण—सरल या सीधा करना। प्रक्षालन—त्रिफला, निम्ब आदि के काढ़े से व्रण को धोना। प्रधमन—नासिका, कान आदि में नाडीयन्त्र की सहायता से ओषधियों के चूर्ण को फूकना अर्थात् (Insufflation करना। अञ्जन—नेत्रोंमे विविध प्रकार की ओषधियों सहित स्रोतोञ्जन आदि का शलाका द्वारा लगाना या अञ्जन करना। प्रमार्जन—अगुली, वस्त्र आदि से व्रण का पोंछकर साफ करना। इस प्रकार यन्त्रकर्मों के भावार्थ को जान लेना चाहिए।

विवर्तते[१] साध्ववगाहते[२] च ग्राह्यं गृहीत्वोद्धरते च यस्मात्।
यन्त्रेष्वतः कङ्कमुखं प्रधानं स्थानेषु सर्वेष्वविकारि यच्च॥

कङ्कमुख यन्त्रकी प्रधानता—जो अच्छी तरह से चलाया जा सकता है, जो भली भांति व्रण में प्रविष्ट हो सकता है, जो पकड़ने योग्य शल्य को पकड कर बाहर निकाल सकता है, जो समस्त स्थानों मे क्रियाकाल में किसी भी प्रकार का विकार नहीं दिखाता, इसलिए सब यन्त्रों में कङ्कमुख यन्त्र प्रधान माना गया है। पूर्वोक्त सब यन्त्रों के आकार आगे देखिए।

शस्त्राणि[३] षड्विंशतिर्भवन्ति। तद्यथा—दन्तलेखनमण्डलाग्रवृद्धिपत्रोत्पलपत्राध्यर्धधारमुद्रिका कर्तरी-सर्पवक्त्रकरपत्रकुशपत्राटामुखान्तरमुखशरारिमुखत्रिकूर्चकुठारिकाव्रीहिमुखशलाकावेतसपत्राराकर्णव्यधनसूचीसूचीकुर्चखजैषणीबडिशनखशस्त्राणि। प्रायशश्च तानि षडङ्गुलानि सुध्मातावर्तितायोघटितान्युत्पलपत्रनीलानि सुग्रहाणि सुरूपाणि सुधाराणि सुसमाहितमुखाग्राण्यकरालानि प्रत्येकं च प्रायो द्वित्राणि स्वप्रमाणार्धचतुर्थभागफलानि तानि व्याधिदेशवशात् प्रयुञ्जीत। तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण यन्त्रवद्व्याख्याता।

शस्त्रों के २३ प्रकार—शस्त्रक्रिया में प्रायः २६ शस्त्रों का व्यवहार होता है। उनके नाम इस प्रकार हैं। यथा—(१)

[१] 'भयहर्षौ शरीरस्य सहसा भावान्तरमुत्पादयन्तौ यन्त्रकार्यं कुरुत।' इति वाग्भटार्थकौमुदी।

[१] निवर्तते इ पा.। [२] अवगाहते साधु प्रविशति, इतीन्दु। [३] शस्त्राणि तु।

दन्तलेखन, (२) मण्डलाग्र, (३) वृद्धिपत्र, (४) उत्पलपत्र, (५) अध्यर्धधार, (६) मुद्रिका, (७) कर्तरी, (८) सर्पवक्त्र, (९) करपत्र, (१०) कुशपत्र, (११) आटामुख, (१२) अन्तर्मुख, (१३) शरारीमुख, (१४) त्रिकूर्च, (१५) कुठारिका, (१६) व्रीहिमुख, (१७) शलाका, (१८) वेतसपत्र, (१९) आरा, (२०) कर्णव्यधनसूची, (२१) सूची, (२२) कूर्च, (२३) खज, (२४) एषणी, (२५) बडिश और (२६) नख।

शस्त्रों के प्रमाण, आकार और लक्षणादि—प्राय ये सभी शस्त्र प्रमाण में छ अगुलवाले, अच्छे धमाए हुए आवतित (जल के समान पिघले या गले हुए) शुद्ध तीक्ष्ण लोहे (फौलाद) के बने हुए, नील कमल के पत्तों के समान नीलवर्णवाले, पकडने के लिए सुदृढ डण्डीवाले, देखने में सुन्दर, अच्छी तीखी धारवाले, सुन्दर एव समुचित मुखाग्रवाले तथा अकराल (अभयकर) होने चाहिए। छोटाई-मोटाई के हिसाब से इन प्रत्येक शस्त्र के दो दो या तीन तीन प्रकार होने चाहिए जैसे कि स्वप्रमाण एव स्वप्रमाण से आधे तथा चतुर्थ भागमित फलवाले। इन शस्त्रों का प्रयोग व्याधि तथा देश के अनुसार करना चाहिए। यन्त्रोंकी तरह इन शस्त्रों की आकृतियें भी इनके नाम से ही बता दी गई है। यथा सर्पवक्त्र, आटामुख, व्रीहिमुख आदि आदि।

विशेष वक्तव्य—भिन्न भिन्न ग्रन्थकारों के मत से अब इन शस्त्रों का विशेष वर्णन कर देना अनुचित न होगा।

दन्तलेखन—सुश्रुत ने इसका नाम दन्तशङ्कु लिखा है। इसकी लम्बाई छ अगुल होती है। इसका अग्रभाग तीक्ष्ण शकुकी तरह मुडा हुआ होता है। इसका उपयोग दातों की शर्करा-कपालिका आदि निकालने में लेखनक्रिया करके होता है। यह चौकोन, तीक्ष्णधार, अग्रभाग में व्रीहिमुखकी आकृति वाला होता है। अँगरेजी में इसे टूथ स्केलर (Tooth scaler) कहते हैं।

मण्डलाग्र—इसके दो प्रकार होते हैं, एक वृत्तमुख और दूसरा तीक्ष्णधारवाला क्षुराकृति। यह भोज एव डल्हन का मत है। वाग्भट ने तो इसे 'तर्ज यन्तर्नखाकृति' कहा है। इससे शकु के आकार का मानना पडता है। इसका उपयोग अर्श, पोथकी, सिराजालादि नेत्ररोगों में तथा गलशुण्डिका, अधिजिह्वा और मूढगर्भचिकित्सा में भी होता है। अनुमानत ज्ञात होता है कि छोटा-बडा मण्डलाग्र शस्त्र अनेक प्रकार का होना चाहिए। इसके आकार-विषय में आधुनिक विज्ञों में भी एकमत नहीं है। जैसे कि Circular knife, round read knife, razorlike roundheaded knife, decapitating knife, shc curette इत्यादि।

वृद्धिपत्र—वाग्भट ने यहा इसे क्षुराकार, छेदन-भेदन-पाटन में उपयोगी, उन्नतशोथ अग्रभाग में ऋजु (सरल) तथा गम्भीर व्रण में इसके विपरीत अर्थात् अग्रभाग में मुडाहुआ माना है। इसकी लम्बाई आचार्य के कथनानुसार 'प्रायश षडङ्गुलानि' अर्थात् ६ अङ्गुल, वृन्त साढे पाच अङ्गुल और फल डेढ अङ्गुल होता है। वृद्धिसञ्ज्ञक ओषधि-पत्रवत् होने से इसे वृद्धिपत्र कहते है। इसके दो भेद है, प्रयताग्र और अञ्चिताग्र। इनमें पहले प्रयताग्र को क्षुर कहते है परन्तु डल्हन अञ्चिताग्र को क्षुर मानता है। हाराणचन्द्र पर्याप्त चौडे फलवाले शस्त्र को वृद्धिपत्र मानते है। इनमें से प्रयताग्र आधुनिक स्कालपेल या डिसेक्टिंग नाइफ (Scalpel, dissecting knife) के समान तथा अचिताग्र कर्वद बिस्चुरी (Carved bistoury) के समान होता है। इसका उपयोग विद्रधि को चीरने, व्रण के वाल काटने, लूतादश में त्वचा विदारण करने तथा मेदोवृद्धि मे पाटन कर्म करने के लिए होता है।

उत्पलपत्र—नीलकमलदल के समान फल का आकार होने से इसका नाम उत्पलपत्र है। यह तीन अङ्गुल लम्बा और एक अङ्गुल चौडा होता है। अँगरेजी में इसका नाम लान्सेट (Lancet) है।

अध्यर्धधार—इसकी धारा आधे से अधिक फल में होती है। अन्य आचार्य इसी को अर्धधार कहते हैं और इसकी लम्बाई आठ अगुल होती है और फल दो अङ्गुल का होता है। कुछ लोग अर्धधार का अर्थ केवल एक ओर धारा करते हैं। यह एक प्रकार का चाकू है। इसे अँगरेजी में Single edged knife कहते हैं।

मुद्रिका—यह तर्जनी अङ्गुली के अगले पोरुवे में आ सके ऐसा मुद्रिकाकार शस्त्र है। इससे अर्धागुल लम्बा मण्डलाग्र या वृद्धिपत्र के आकार का फलवाला शस्त्र बँधा हुआ रहता है। इसीको अगुलिशस्त्र कहते है। यह गलरोग तथा मूढगर्भ के आहरण में भी काम आता है। अँगरेजी में इसे फिंगर नाइफ (Finger knife) कह सकते है।

कर्तरी—यह कतरनी या कैंची की तरह होता है। इसका उपयोग स्नायु, सूत्र तथा बालों के काटने में किया जाता है।

सर्पवक्त्र—अर्थात् सर्पमुखशस्त्र। इसका फल आधे अङ्गुल का होता है और यह नाक तथा कान के मस्से काटने में काम आता है।

करपत्र—यह करौती के आकार का दस अङ्गुल लम्बा, दो अगुल चौडा, तीक्ष्णधारवाला, सूक्ष्म दातोंवाला और पकडने के लिए मजबूत मूठवाला होता है। यह अस्थियों के काटने में काम आता है। इसके प्रमाण में आचार्यों में मतभेद है।

---

१ कार्यं षडङ्गुलायामो दन्तशङ्कुर्विजानता। शङ्कुवच्च मुख तस्य कार्यमर्धाङ्गुलायतम्। चतुरस्र सम चैव तीक्ष्णधार समाहितम्। वृन्ताग्र तस्य कर्तव्य शस्त्रव्रीहिमुखाकृति॥ कपालिका शर्करा च दन्तस्था तेन शोधयेदिति भोज। २ द्वे मण्डलाग्रे ये प्रोक्ते एक वृत्तमुख तयो। तीक्ष्णधार दृढ कार्यमेक तच्च क्षुराकृति॥ इति भोज।

१ अर्धपञ्चाङ्गुल वृन्त कार्यं सार्धाङ्गुल फलम्। इति। २ अत्रोयताग्र वृद्धिपत्र क्षुरमाहुरिति चक्र। अनयोर्मध्येऽञ्चिताग्र वृद्धिपत्र क्षुरमाहुरिति डल्हन। ३ वृद्धिपत्रमिति वृद्धिरायतत्वेन समृद्धि पत्रे पत्राकारे फले यस्य तद् वृद्धिपत्रमिति। ४ तुल्यमुत्पलपत्रेण तीक्ष्णधार समाहितम्। षडङ्गुल प्रमाणेन शस्त्रमुत्पलपत्रकम्। तत्पत्र त्र्यङ्गुलायाम कार्यमङ्गुलविस्तृतम्। ५ अर्धधार तु कर्तव्य शस्त्रमष्टाङ्गुलायतम्। उरस्यङ्गुलविस्तार फले तद् द्व्यङ्गुल भवेत्॥ इति भोज। ६ मुद्रिकाया निबद्ध स्याद् वृद्धिपत्रसलक्षणम्। द्व्यङ्गुल मुद्रिकाशस्त्र क्षुरसस्थानमेव च॥ इति

सुश्रुत इसका प्रमाण छ अगुल बताते हैं और भोज बारह अङ्गुल कहते है। अंगरेजी मे इसका नाम वोन सा (Bon saw) है।

कुशपत्र- इसकी लम्बाई दो अङ्गुल होती है और इसका फल दर्भपत्र के समान होता है। यह मुख के मसूढे आदि के रक्तस्रावण में काम आता है। अंगरेजी शस्त्रों मे इसकी समानता पेजेटके चाकू या बिस्तुरी (Pagets knife or Bistoury) से की जा सकती है।

आटीमुख—जल में तैरनेवाला आड या दलदल में विचरनेवाला आड या आडी एक पक्षिविशेष होता है। अंगरेजी में उसे टारडस गिगिनिया मस (Tardus gingimia mus) कहते हैं। उसके मुख के समान मुख अर्थात् फल होने से इस शस्त्र का नाम आटामुख है। यह रक्तस्रावण के उपयोग में आता है। इसका वृन्त चार अगुल लम्बा और फल दो अङ्गुल लम्बा होता है। परन्तु कोई इसका वृन्त सात अङ्गुल लम्बा और फल अगूठे के समान मानते है। चन्द्र चक्रवर्ती ने 'Interpretation of A H Medicine' मे लिखा है कि आटीमुख शस्त्र स्वस्तिमुख यन्त्र के समान दो फलवाला होता है और वे इसको हाक बिल सीझर्स Hawk bill scissors) कहते हैं परन्तु प्राचीनों ने इसका उपयोग रक्तस्रावण बताया है अत यह कतरनी के सदृश नही हो सकता। यह भी एक प्रकार का आधुनिक लान्सेट (Lancet) के समान शस्त्र है।

अन्तर्मुख—इसकी धारा अन्तर्भाग मे होती है। यह डेढ़ अङ्गुल लम्बे फल का अर्धचन्द्राकार शस्त्र है। यह भी अंगरेजी कर्वड बिस्तुरी (Curved bistoury) शस्त्र के समान होता है। जी एन मुखर्जी अपने सर्जिकल इन्स्ट्रूमेण्ट (Surgical instruments) ग्रन्थ मे इसको कर्तरी के समान समझते है।

शरारीमुख—धवलस्कन्ध और रक्तशीर्ष ऐसे दो प्रकार के लम्बी चोंचवाले पक्षी होते है। इनमें धवलस्कन्धवाला शरारी है। उसके मुख की तरह फलवाला होने से इसका नाम शरारीमुख है, इसी को सुश्रुत कर्तरी कहता है। और उसे दस अङ्गुल लम्बी बताता हुआ कहता है कि जो व्रण रोमाकीर्ण होने से सम्यक् उपरोह नहीं होता उसके रोम इस कर्तरी, क्षुर और सदृश से काटने चाहिए परन्तु वाग्भट शरारीमुख तथा कर्तरी को दो अलग अलग शस्त्र मानते है। शरारीमुख एव त्रिकूर्चका उपयोग रक्तस्रावणार्थ तथा कर्तरी का स्नायु, सूत्र और बालों को काटने में बताया है। सम्भव है सुश्रुत का शरारीमुख कैंची की तरह दो फलवाला और वाग्भट का एक फलवाला लान्सेट या नाइफ (चाकू) हो। कर्तरी को अंगरेजी में पैर आव् सीझर्स (Pair of scissors) कहते हैं।

त्रिकूर्च—यह शस्त्र एक गोल पीठपर तीन तीक्ष्ण शलाका या सूचियों को बैठा कर बनाया जाता है। यह हाराणचन्द्र चक्रवर्ती का मत है किन्तु डल्लन का मत है कि त्रिकूर्च आठ अङ्गुल लम्बा, अन्तर्मुख एक एक अङ्गुल प्रमाण तीन फलों वाला, प्रत्येक फल के बीच एक एक यवमान अन्तरवाला, तथा पाच अङ्गुल मोटे वृन्तवाला होता है। कुछ अंगरेजी टीकाकार कूर्च का अर्थ पार्श्व (Side) करके त्रिकूर्च से अंगरेजी ट्रोकार (Trocar) समझते हैं परन्तु प्राचीनों के वर्णन को देखते कूर्च का अर्थ पार्श्व नही हो सकता। इसके अतिरिक्त त्रिकूर्च की तरह आगे कूर्च और खज ऐसे दो शस्त्र और भी बताए हैं। इनके वर्णन को देखते हुए त्रिकूर्च का जो वर्णन डल्लन ने किया है वही ठीक प्रतीत होता है। कूर्च का अर्थ सूची या कूची (Brush) करना उचित प्रतीत होता है।

कुठारिका—यह कुठार अर्थात् कुल्हाडो के समान एक शस्त्र है। इसका वृन्त साढ़े सात अगुल लम्बा, फल आध अगुल चौड़ा होता है और यह गाय के दात से मिलता जुलता है अंगरेजी में कुठारिका को एक्सशेपड् नाइफ (Axeshaped Knife) कहते है।

व्रीहिमुख—जिसका मुख व्रीहि (यव) के समान होता है उसको व्रीहिमुख शस्त्र कहते है। इसकी लम्बाई छ अगुल, वृन्त दो अगुल और फल चार अगुल होता है किन्तु अष्टाङ्ग हृदय में कुछ भिन्नता दिखाई देती है। इसका उपयोग मूत्र वृद्धि तथा जलोदरका जल निकालते समय उदरवेधनार्थ किया जाता है। अगरेजी में इसको ट्रोकार (Trocar) कहते हैं।

शलाका—लिङ्गनाशवेध के काम में आती है। वाग्भट ने इसे ताबे की बनी, दो मुखवाली कहा है परन्तु सुश्रुत ने लिखा है कि यह आठ अगुल लम्बी, मध्य मे सूत से वेष्टित, अगूठे के पोरुवे समान, दो मुखी, मुखों की जगह कुरुवक (कमलादि पुष्प के कली) की आकृतिवाली एव ताम्र, लौह या सुवर्ण धातु की बनी हुई शलाका श्रेष्ठ होती है। इस लिङ्गनाशवेधनी शलाका को अंगरेजी में क्याटाराक्ट नीडल (Cataract Needle) कहते है।

वेतसपत्र—वेत के पत्र की तरह इसकी धारा तीक्ष्ण होने से इसका अन्वर्थ नाम वेतसपत्र है। इसकी धारा दन्तयुक्त (Scratted), फल की लम्बाई चार अगुल और वृन्त भी चार अगुल लम्बा होता है। कुछ लोग इसकी धारा दन्तुर नहीं

१ षडङ्गुलमिति सुश्रुत । छेदेऽस्थ्ना करपत्र तु खरधार दशाङ्गुलमिति वाग्भट । द्वादशाङ्गुलदीर्घ स्यात्तनु चाचितकण्टकम्। करपत्र विजानीयादिति भोज । २ वृन्त सप्ताङ्गुल विद्यात्तस्याग्रे फलमिष्यते। आटीमुखप्रकार हि फलमङ्गुष्ठमायतम्। आटीमुख विजानीयात्तत्स्रावणविधौ मतम्॥ इति। ३ तद्वदन्तर्मुख तस्य फलमध्यर्धमङ्गुलम्। अर्धचन्द्रानन चेतदिति वाग्भट एव। ४ दशाङ्गुला शरारीमुखी सा कर्तरीति कथ्यते। रोमाकीर्णो व्रणो यस्तु न सम्यगुपरोहति। क्षुरकर्तरीसदृशस्तस्य रोमाणि कर्तयेदिति। ५ स्नाय्वे शरार्यास्यत्रिकूर्चके। स्नायुसूत्रकचच्छेदे कतरी कर्तरीनिभा॥ इति।

१ अङ्गुलानि तथाष्टौ च शस्त्र कार्यं त्रिकूर्चकम्। फलैरन्तर्मुखाकारैरङ्गुलेरन्वित त्रिभि । २ कुठारिकाया वृन्त स्यात्सार्धसप्ताङ्गुलायतम्। फलमर्धाङ्गुलायाम गोदन्तसदृश समम्॥ इति डल्हन । ३ शस्त्र व्रीहिमुख कार्यमङ्गुलानि षडायतम्। द्व्यङ्गुल तस्य वृन्त स्यात्तत्फल चतुरङ्गुलम्। तन्मुख व्रीहिविस्तार तनु सगूढकण्टकम्॥ इति। ४ अष्टाङ्गुलायता मध्ये सूत्रेण परिवेष्टिता। अङ्गुष्ठपर्वसमिता वक्त्रयोर्मुकुलाकृति । ताम्रायसी शातकौम्भी शलाका स्यादनिन्दिता॥ इति। ५ तीक्ष्णमङ्गुलविस्तार चतुरङ्गुलमायतम्। अङ्गुलानि तु चत्वारि वृन्त कार्यं विजानता॥ इति भोज ।

मानते हैं। अगरेजी मे इसको न्यारो क्लेडेड नाइफ या स्का लपेल (Narrow Claded Knife or Scalpel) कहते हैं।

आरा—यह चमड़ा काटने के उपयोग में आनेवाली चमार लोगों की आरी के समान होता है। वाग्भट इसे 'अर्धाङ्गुलवृत्तास्या तत्प्रवेशस्तथार्ध्वत । चतुरस्रा तया विध्येच्छोफ पक्वामसशये' लिखते हुए कहते है कि यह आधा अगुल लम्बा और गोल होता है, आध अगुल ही प्रवेश के योग्य और ऊपर से चौकोन होता है। कच्चे या पक्के शोथ के सशय होने पर तथैव बहुला कर्णपाली का वेध इससे करना चाहिए परन्तु अन्य तन्त्रकार कहते है कि इसकी लम्बाई आठ अगुल होनी चाहिये फल तिलके समान और वृन्त गाय की पूछ के समान होना चाहिये।[1] अगरेजी मे आरा का नाम आल (Awl) है।

कर्णव्यधनसूची—यह बालकों के कान बींधने के उपयोग में आनेवाला शस्त्र है। यहा सग्रह में यद्यपि एक ही प्रकार के इस शस्त्र का निर्देश किया गया है परन्तु अष्टाङ्गहृदय में पतली कर्णपाली के लिए सूची (आरा) तथा मोटी कर्णपाली के लिए तीन अगुल की बडी और एक अगुल पोली सूची का वर्णन किया है वही यह सग्रहोक्त सूची[2] है। सूचीशस्त्र का उपयोग कर्णव्यध के अतिरिक्त अन्य कार्यों में भी होता है और ये सूचिये तीन प्रकार की बनाई जाती हैं जैसे कि थोडे मासवाले अग मे तथा सन्धियों मे दो अगुल लम्बी और गोल मुखवाली, अधिक मासवाले अग में तीन अगुल लम्बी और तिधारी तथा मर्मस्थान, वृषणकोश और उदर मे धनुष के समान टेढ़ी, मालतीपुष्प के वृन्ताग्रके समान मोटी, गोल, मुलायम और मजबूत, तीक्ष्णाग्रभागवाली ऐसे तीन प्रकार की सुई बनानी चाहिए।[3] अगरेजी में सूची को नीडल (Needle) कहते हैं। सीवनार्थ सूची जो कि सरल, वक्र और धनुर्वक्र होती हैं। उनके अगरेजी नाम क्रम से Straight, Halp Curved and Fully Curved है।

सूची—इसका वर्णन कर्णव्यधनसूची के उपर्युक्त वर्णन के साथ आ चुका है।

कूर्च—गोलाकार पीठ में जड़ी हुई चार अगुल लम्बी और गोल, सात या आठ सुइयोंवाले शस्त्र को कूर्च कहते हैं। इसका उपयोग नीलिका, व्यग और केशों के गिरानेवाले इन्द्रलुप्त आदि रोगों में कुट्टनार्थ होता[4] है। अंगरेजी में इसे ब्रस (Brush) कह सकते है।

१ आरा ह्यष्टाङ्गुलायामा कर्तव्या तु विशापते। तिलप्रमाण तु फल तस्या कार्यं समाहितम्। दूर्वाङ्कुरपरीणाह वृन्त गोपुच्छसनिभम्॥ इति। २ व्यधन कर्णपालीना यूथिकामुकुलानम्। बहलायाश्च शस्यते। सूची त्रिभागसुषिरा त्र्यङ्गुला कणवेधनीति। ३ देशेऽल्पमासे सन्धौ च सूची वृत्ताङ्गुलद्वयम्। आयता त्र्यङ्गुला त्र्यस्रा मासले चापि पूजिता। धनुर्वक्रा हिता मर्मफलकोशोदरोपरि। इत्येतास्त्रिविधा सूचीस्तीक्ष्णाग्रा सुसमाहिता। कारयेन्मालतीपुष्पवृन्ताग्रपरिमण्डला॥ इति सुश्रुत। ४ सर्ववृत्तास्ताश्चतुरङ्गुला। कूर्चो वृत्तैकपीठस्थ सप्ताऽष्टौ वा सुबन्धना। सयोज्यो नीलिकाव्यङ्गकेशशातनकुट्टने॥ इति।

खज—आध अगुल प्रमाण गोल आठ मुखवाले शस्त्र में आठ ही सुई लगी हुई होती है उसे खज कहते हैं। इसका उपयोग प्रथम हाथों से मर्दन की हुई नासिकासे रक्त निकालने के लिए किया जाता[1] है। यह भी एक प्रकार का आधुनिक ब्रुश (Brush) ही है।

एषणी—इसका उपयोग व्रण के अन्वेषण, भेदन और आनुलोमन में होता है। यह एक प्रकार की शलाका है। अन्वेषण करनेवाली एषणी (शलाका) का समावेश नाडी यन्त्रों में किया गया है। वहा कहा गया है कि गण्डूपदाकार मुखी शलाका का उपयोग अन्वेषण मे होता है परन्तु भेदन पूर्वक अन्वेषण में तीक्ष्णमुखी एषणी अभिप्रेत है। इसके दो प्रकार हैं। इसका समावेश शस्त्रों मे किया गया है। यह आठ अगुल लम्बी होती है और इसके पीछे सूत के लिए पाश होता है। जिसका उद्देश अन्वेषणपूर्वक भेदन या भेदनपूर्वक अन्वेषण होता है[2]। अगरेजी में इसे शाप प्रोब (Sharp Probe) अथवा नीडल शेपड प्रोब (Needle Shaped Probe) कह सकते हैं। एषणी का तीसरा कार्य आनुलोमन (Directing) होता है। इसके लिये काम में आनेवाली एषणी को अगरेजी मे डायरेक्टर (Director) कहते हैं। भगन्दर की शस्त्रक्रिया में एषणी का निर्देश किया गया है कि 'एषण दत्त्वा शस्त्र पातयेत्' वहा अनुलोमिनी एषणी अर्थात् प्रोब डायरेक्टर (Probe director) जानना चाहिए। शस्त्रक्रिया के समय इस अनुलोमिनी एषणी के प्रयोग से व्रणगतिके अनुसार भेदन होता है और शरीर के अन्य भाग पर शस्त्र के आघात का भय भी नहीं रहता। शस्त्रकी तरह सूत्र का अनुलोमन करने के लिए पाश्चात्य शस्त्रों में भी कुछ अनुलोमिनी एषणी काम में लाई जाती हैं जैसे कि हार्निया डायरेक्टर (Hornia director), अन्यूरिझम नीडल (Aneurysm needle) इत्यादि। इनका समावेश एषणीमें ही करना चाहिए।

बडिश—अङ्कुश के आकार मछली पकडने के काटे की तरह यह शस्त्र होता है। इसकी लम्बाई छ अङ्गुल, वृन्त साढ़े पाच अगुल और फल आधा अगुल होता है। इसके दो प्रकार होते हैं, अधिकवक्र स्वानत बडिश और नात्यानत बडिश। यह थोड़ा मुडा हुआ या अर्धचन्द्राकृति होता है[3]। इसका उपयोग पकड़ने के लिए होता है। वर्तमान शस्त्रशास्त्र में पकड़ने के काम में आनेवाले भिन्न-भिन्न प्रकार के तीक्ष्णमुख सदंश (Torcepo) अधिक व्यवहृत होते हैं। इन्ही के लिए प्राचीन काल में बडिश का उपयोग होता था। अंगरेजी में बडिश को हुक (Hoak) कहते हैं।

नख—नखशस्त्र एक ऋजु (सरल) और दूसरी वक्र धारवाला, द्विमुख अर्थात् जिसका मुख ऋजु और वक्रधार से

१ 'अर्धाङ्गुलैर्मुखैर्वृत्तैरष्टाभि कण्टकै खज। पाणिभ्या मथ्यमानेन घ्राणात्तेन हरेदसृक्' इति। २ भेदनार्थेऽपरा सूचीमुखा मूलनिबिष्टखा। इति ३ बडिशे चापि कर्तव्ये प्रमाणेन षडङ्गुले। स्वानत तु तयोरेकमेक नात्यानत भवेत्। अर्धपञ्चाङ्गुल वृन्त शेष कार्यं मुख तयो। अर्धचन्द्राकृति वक्र कार्यं नात्यानतस्य तु। स्वानत नामयेत्तत्र बडिश च भिषग्वर। वृन्ताग्रयोरन्तर स्याद्यावदर्धाङ्गुल भवेत्॥ इति भोज।

बनता है। इसकी लम्बाई नव अङ्गुल की होती है। इसका उपयोग सूक्ष्म शल्य के पकडने तथा पकड कर निकालने, छेदन, भेदन, प्रच्छान तथा लेखन में होता है। अष्टाङ्गहृदय में इस प्रकार कहा है और यहा सग्रह में कहा है कि एक ओर का मुख अश्वकर्ण की तरह और दूसरी ओर का वत्सदन्तवत् होता है। कुछ लोग ऐसे दो शस्त्र मानतेहै, आठ अङ्गुलवाला नखशस्त्र वक्रधार तथा नव अङ्गुल का ऋजुधार[1]। डल्हन कहते है कि इसका फल दो अङ्गुल लम्बा और एक अङ्गुल चौडा होता है परन्तु एक आचार्य कहते है कि नख शस्त्र आठ अङ्गुल लम्बा, आधे अङ्गुल मुखवाला तथा तीक्ष्ण धारवाला बनाना चाहिए[2]। अगरेजी में नखशस्त्र का नाम नेल पेरर (Nail Parer) है।

तत्र द्वयमाद्य[3] लेखने। वृद्धिपत्रादीनि त्रीणि पाटने चत्वारि भेदने। मण्डलाग्रादीन्यष्टौ छेदने। कुशपत्रादीनि पञ्च प्रच्छाने। कुठारिकादीनि षड् व्यधने। तेषामाराव्रीहिमुखे भेदने छेदने च। सूच्य सीवने। सूचीकूर्च कुट्टने। खजो मथने। एषण्येषणे भेदने च। बडिशो ग्रहणे। नखशस्त्रमुद्धरणे छेद्यभेद्यलेख्यप्रच्छानेषु च। इति द्वादशविधे कर्मण्युपयोग।

शस्त्रों का द्वादशधा उपयोग—यों तो शस्त्रों का उपयोग अनेक प्रकार से हो सकता है परन्तु मुख्यत शस्त्रों का उपयोग द्वादश कर्मों के लिए कहा गया है जैसे कि पहले दो अर्थात दन्तलेखन और मण्डलाग्र का लेखनकर्म में होता है परन्तु टीकाकार इन्दु 'तत्र त्रयमाद्य लेखने' पाठ को स्वीकार कर कहता है कि आदि के तीन अर्थात दन्तलेखन, मण्डलाग्र और वृद्धिपत्र ये लेखनोपयोगी[4] है। इन्दु का यह कथन शल्य शास्त्र के आदि आचार्य भगवान् धन्वन्तरि के मतानुसार ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि उन्होंने वृद्धिपत्र का उल्लेख छेदन तथा भेदन के लिये किया है किन्तु लेखनार्थ नहीं। वृद्धिपत्रादि तीन अर्थात् वृद्धिपत्र, उत्पलपत्र और अध्यर्धधार का उपयोग पाटनकर्म में तथा वृद्धिपत्रादि चार (वृद्धिपत्र, उत्पलपत्र, अध्यर्धधार और मुद्रिका) का उपयोग भेदनकर्म मे होता है। मण्डलाग्रादि आठ (मण्डलाग्र, वृद्धिपत्र, उत्पलपत्र, अध्यर्ध धार, मुद्रिका, कर्तरी, सर्पवक्त्र और करपत्र) का उपयोग छेदनकर्म में होता है। कुशपत्रादि पाच (कुशपत्र, आटामुख, अन्तर्मुख, शरारीमुख तथा त्रिकूर्च) का उपयोग प्रच्छानकर्म में, कुठारिकादि छ अर्थात् कुठारिका, व्रीहिमुख, शलाका, वेतसपत्र, आरा और कर्णव्यधनसूची का उपयोग व्यधनकर्म में, इनमें आरा और व्रीहिमुख ये दो भेदन तथा छेदन के उपयोग में भी आते हैं। सूचियें सीवनकर्म में, सूचीकूर्च कुट्टन में, खज मथन में, एषणी एषण और भेदन में बडिश ग्रहण में तथा नखशस्त्र उद्धरण, छेदन, लेखन और प्रच्छानकर्म में उपयुक्त है। शस्त्रों का इस प्रकार द्वादशधा उपयोग बताया गया।

१ 'अष्टाङ्गुल वक्रधारमृजुधार नवाङ्गुलम्, इति। २ नखाना छेदने कार्यं शस्त्रमष्टाङ्गुलायतम्। अर्धाङ्गुल मुख तस्य तीक्ष्णधार तु कल्पयेत॥ इति भोज। ३ त्रयमाद्यम् इ पा। ४ तत्राद्य त्रय दन्तलेखनमण्डलाग्रवृद्धिपत्राणि लेखने। इती दु शशिलेखायाम्।

विशेष वक्तव्य—वाग्भटाचार्यने यहा शस्त्रों का उपयोग द्वादशधा अर्थात् बारह प्रकार के कर्मों मे बताया है परन्तु सुश्रुत ने शस्त्रों का उपयोग अष्टधा अर्थात् आठ प्रकार के कर्मों में बताया है और वे कर्म छेदन, लेखन, भेदन, विस्रावण, व्यधन, आहरण, एषण और सीवन हैं[1]। विचारकर देखा जाय तो वाग्भट के द्वादश कर्मों का अन्तर्भाव सुश्रुत के उक्त आठ कर्मों में ही हो जाता है। यथा विस्रावण का अन्तर्भाव प्रच्छानकर्म में हो जाता है। इतना ही नहीं, डल्हन के मतानुसार आनुलोमन भी विस्रावण ही है न कि ऋजुकरण[2]। आहरण का अन्तर्भाव ग्रहण मे होता है।

विशेषतस्तु दन्तलेखन प्रबद्ध[3]वच्चतुरस्रमेकधार दन्तशर्करालेखने। मण्डलाग्र प्रदेशिन्यन्तर्नखविस्तृतफल तल्लेखनविच्छेदनयोर्[4]वर्त्मरोगोत्पन्न[5]दन्तमासदुर्निविष्टव्रणगलशुण्डिकादिषु प्रयोज्यम्। वृद्धिपत्र क्षुराकार तत्तून्नते गम्भीरे वा श्वयथावृजु सूच्यग्रमिष्ट विपरीते तु पृष्ठतोऽवनतधारम्। अङ्गुलीशस्त्रक मुद्रिकानिर्गतमुख वृद्धिपत्रमण्डलाग्रान्त[6]र्धारान्यतमतुल्यार्धाङ्गुलायतधार प्रदेशिनीप्रथमपर्वप्रमाणार्पणवृत्तमुद्रिक दृढसूत्रप्रतिबद्ध[7] कण्ठरोगेषु प्रयुज्यते। कर्तरी त्रिभागपाशा व्रणस्नायुकेशसूत्रच्छेदनार्थम्[8]। सर्पवक्त्र वक्रमर्धाङ्गुल फल घ्राणकर्णार्शोऽर्बुदच्छेदनार्थम्। करपत्र दशाङ्गुल द्व्यङ्गुलविस्तार सूक्ष्मदन्त खरधार सुत्सरुनिबद्धमस्थिच्छेदनार्थम्। कुशपत्राटामुखे द्व्यङ्गुलफले। अन्तर्मुखमर्द्ध[9]चन्द्राकाराध्यर्द्धाङ्गुलफलम्। कुठारिका पृथुदण्डा गोदन्ताकारार्धाङ्गुलफलास्थ्याश्रितसिरा व्यधार्था। व्रीहिमुखमध्यर्द्धाङ्गुलफल मासलप्रदेशसिराव्यधार्थ वध्मोदरगुल्मविद्रध्यादिव्यधनभेदनार्थं[10] च। शलाकोभयतोमुखी कुरबकमुकुलाग्रा ताम्रमयी लिङ्गनाशव्यधार्था[10]। आरा चतुरस्राऽर्धाङ्गुलवृत्तमुखा तावत्प्रवेशा बहलकर्णपालीव्यधार्था पक्वामशोफसन्देहभेदनार्था च। कर्णव्यधन त्र्यङ्गुलायतमङ्गुलसुषिर घन वा यूथिकामुकुलाग्रम्। सूच्यस्तिस्रो वृत्ता निगूढदृढपाशा। तत्र मासलेष्ववकाशेषु त्र्यङ्गुला त्र्यस्रा[11]ग्रा, सन्ध्यस्थिव्रणेष्वल्पमासेषु च द्व्यङ्गुला वृत्ता, पक्वामाशययोर्मर्मसु च सार्धद्व्यङ्गुला धनुर्वक्रा व्रीहिमुखा च। सूचीकूर्चो वृत्तैकमूलोऽग्रे सुनिबद्धसप्ताष्टसूचिक कुष्ठश्वित्रव्यङ्गेन्द्रलुप्तादिषु। खजस्त्वर्धाङ्गुलायतोऽष्टकण्टकमुखस्ताम्रो

१ तत्र मण्डलाग्रकरपत्र स्याता छेदने लेखने च इत्यष्टविधे कर्मण्युपयोग शस्त्राणा व्याख्यात इति सु० सू० अ० ८।३। २ आनुलोम्यमत्र विस्रावणमभिप्रेतम्, न तु ऋजुकरण, कस्मात् ऋजुकरणस्य शस्त्रकर्मस्वनिर्दिष्टत्वादिति। ३ सुप्रबन्धवच्चतुरस्र। ४ छेदनयो। ५ वर्त्मरोगोत्सन्न। ६ मण्डलाग्राध्यर्धधारा। ७ प्रतिबधम्। ८ सूत्रच्छेदनार्था। ९ चन्द्राकारमध्यर्धाङ्गुलफलम्। १०. व्यधनार्था। ११ त्र्यस्रा।

लौहो वा नासाभ्यन्तरतं शोणितमोक्षणार्थं । एषण्यौ द्वे सुश्लक्ष्णस्पर्शे । तयोरेकाष्टाङ्गुला गतिकोशशल्यस्राववत्सु व्रणेषु सुषिरान्वेषणे । अन्या सूचीसस्थाना क्षाराक्तसूत्रप्रतिबद्धा नाडीना भगन्दरगतीना च भेदने। बडिशोऽत्यवनतमुख सूचीतीक्ष्णाग्रो ग्रहणे गलशुण्डिकार्मादे । नखशस्त्रमष्टाङ्गुलमेकतोऽश्वकर्णमुखमन्यतो वत्सदन्तमुख सूक्ष्मशल्योद्धृतौ ।

शस्त्रों का विशेष वर्णन—अब पूर्वोक्त शस्त्रों का विशेष वर्णन करते है —

दन्तलेखन—एक ओर से बँधा हुआ, चौकोन और एक धारवाला होता है । यह दन्तशर्करा खुर्चने के काम में आता है ।

मण्डलाग्र—इसका फल तर्जनी अगुली के नख के भीतर के भाग के समान होता है। यह वर्त्मरोगोत्पन्न तथैव दन्तमास, दुष्टव्रण और गलशुण्डिकादि के लेखन तथा छेदन-कर्म में प्रयुक्त होता है।

वृद्धिपत्र—यह शस्त्र क्षुराकार (पछने या छुरे के आकारवाला) होता है । इसके भी दो भेद हैं जैसे कि एक सीधी धारवाला और एक पीछे की ओर से कुछ मुडा हुआ होता है । इन मे से सीधी धारवाला पके हुए शोथ में प्रयुक्त होता है और पीछे की ओर से मुडा हुआ गम्भीर शोथ में जो कि सूचीवत् अग्रभागवाला होता है । यह छेदन, भेदन और पाटन में विशेष काम में आता है।

अगुलीशस्त्र—यह तर्जनी अगुली के प्रथम पर्व (पोरुवे) में आने योग्य मुद्रिका के आकार का होता है । इसका मुख मुद्रिका से लगा हुआ, सूत से मजबूत बाधा हुआ, वृद्धिपत्र या मण्डलाग्र तथा अध्यर्धधार इन मे से किसी एक के समान आध अगुल फलवाला होता है। वैद्य इसका उपयोग कण्ठगत रोगों में मुद्रिका की तरह अगुली में पहन कर किया करते हैं।

कर्तरी —कैची यह त्रिभागपाशा अर्थात् तृतीय भाग में ग्रहणस्थानवाली व्रण, स्नायु, कच (बाल) और सूत्र के छेदनार्थ प्रयुक्त होती है।

सर्पवक्त्र—यह भी एक प्रकार की कैची है । इसका आध अगुल टेढा फल होता है और इसका उपयोग नाक तथा कान के मस्से एव अर्बुद के छेदनार्थ होता है।

करपत्र—यह दस अगुल लम्बा, दो अगुल चौडा, सूक्ष्म दातोंवाला, तीक्ष्ण धारवाला तथा मजबूत मूठवाला होता है। इसका उपयोग अस्थिच्छेदन के लिए करौतीवत् होता है।

कुशपत्र और आटामुख—इनका वर्णन पहले हो चुका है। ये दोनों शस्त्र दो अगुल प्रमाण फलवाले होते हैं।

अन्तर्मुख—अर्धचन्द्राकार और डेढ अगुल फलवाला होता है।

कुठारिका—अर्थात् कुल्हाडी, बडे मजबूत डडेवाली, गोदन्त के आकार, आध अगुल फलवाली होती है। ये अस्थि के आश्रित सिरावेध के काम में आती है।

व्रीहिमुख—इस अध्यर्धाङ्गुल (डेढ अगुल) फलवाले शस्त्र का वर्णन भी पहले कर चुके हैं । यह मासल प्रदेशकी सिराओं के वेध में तथैव बर्ध्म (बद), उदर, गुल्म, विद्रधि आदि के वेधन एव भेदन के काम में आता है।

शलाका—यह उभयतोमुखी अर्थात् दोनों तरफ धारवाली, ताम्र की बनी, कुरबक अर्थात् कटसरैया के पुष्प की कली के समान अग्र भागवाली लिङ्गनाशवेधनी होती है।

आरा—चौकोन, आध अगुल गोल मुखवाली, यथायोग्य प्रवेश करने योग्य, कान की स्थूल पाली (लो) के वेधनार्थ तथा कच्चे पक्के शोथ के सन्देह में भेदन के काम में आनेवाली है।

कर्णवेधन—यह तीन अगुल लम्बी, एक अगुल पोली, मोटी, जुही पुष्प की कली के समान मुखवाली, कान बींधने में काम आनेवाली सूची है । इन्दु टीकाकार टीका में इसे चार अगुल लम्बी तथा पोल की जगह भेरी के आकार की बताते हैं।

सूचिया—ये तीन प्रकार की सुइया सीने के काम में आती हैं । ये गोल और जिस ओर सूत पिरोया जाता है उस ओर दृढ और सूत न दिखाई दे ऐसी होती हैं । ये तीन प्रकार की इस लिए होती हैं कि (१) जो मासल अवकाश के सीने में आती हैं वे तीन अगुल लम्बी और तिकोन होनी चाहिए और (२) जो सन्धि, अस्थि, व्रण (अल्पमासवाले) के सीवन-कर्म में उपयुक्त होती है वह दो अगुल लम्बी तथा गोल होनी चाहिए और (३) जो पक्वाशय तथा आमाशय के सीने में तथा मर्मस्थान के सीने में काम आती है वह ढाई अगुल लम्बी, धनुष की तरह टेढी और व्रीहिमुख शस्त्र के समान होती है।

सूचीकूर्च—यह एक प्रकार का ऐसा गोल पीठ होता है जिस में चार चार अगुल लबी सात या आठ सुइया लगी रहती हैं। इससे कुष्ठ, श्वित्र, व्यङ्ग और इन्द्रलुप्त के लेखनादि कर्म होते हैं।

खज—आध अगुल लम्बा, आठ कण्टकयुक्त मुखवाला, ताबे या लोहे का बना हुआ होता है । इस से मन्थन कर नासिका में से रक्त निकाला जाता है।

एषणी—यह दो प्रकार की होती हैं । ये स्पर्श में अच्छी चिकनी होनी चाहिए । इन में से एक आठ अगुल लम्बी होती है जो कि व्रण की गति, कोश, शल्य और स्राव तथा पोल में अन्वेषण का काम देती है तथा दूसरी सूची (सुई) के समान क्षार लगे हुए सूत से बाधी हुई नाडी तथा भगन्दर आदि के भेदन में काम आती है।

बडिश—यह अति मुडे हुए मुखवाला, सूची की तरह

१ नासाभ्यन्तर्गतशोणितमोक्षणार्थ इत्यादिपाठा तराणि । २. कर्तर्यास्तृतीयभागे पाशो ग्रहणस्थान कार्यमितीन्दु ।

१ आरा दैर्घ्याच्चतुरङ्गुला मुखेऽर्धाङ्गुलवृत्ता च शोफस्य पक्वाऽपक्वसन्देहे भेदनार्था। कर्णव्यधन सुषिरभागे भेर्याकृतिरिति । २ निगूढपाशो यस्य पाशस्य पार्श्वयोर्मध्ये सूत्र न दृश्यत इतीन्दु ।

अग्रभाग मे तीक्ष्ण अकुशवत् होता है। यह गलशुण्डिका तथा अर्म आदि को ग्रहण करने (पकडने) में काम देता है।

नखशस्त्र—यह आठ अगुल लम्बा, एक ओर से घोडे के कान के समान मुखवाला और दूसरी ओर से वत्स (बछड़े) के दन्त के समान मुखवाला होता है और यह सूक्ष्म शल्य को निकालने मे काम आता है।

अनुशस्त्राणि तु जलौकःक्षाराग्निसूर्यकान्तकाचस्फटिककुरुबिन्दनखशाकशेफालिकादिखरपत्रसमुद्रफेनशुष्कगोमयादीनि। स्वबुद्ध्या च विकल्प्य विविधानि यन्त्रशस्त्राणि तत्कर्माणि चोपकल्पयेत्। हस्त एव चात्र प्रधानतमस्तदधीनत्वाद्यन्त्रशस्त्राणाम्।

अनुशस्त्र—शस्त्र न होते हुए भी जो शस्त्रों का काम करते है उन्हें अनुशस्त्र[1] कहते है। वे इस प्रकार हैं। यथा—जोंक, क्षार, अग्नि, सूर्यकान्त (अथवा सूर्य और कान्त), काच, स्फटिक, कुरुबिन्द, नख, शाक (सागवान), शेफालिका (निर्गुण्डी) आदि के खरपत्र (खरदरे पान), समुद्रफेन और सूखा गोबर आदि ये सब अनुशस्त्र हैं। इस प्रकार के अनेक यन्त्रों तथा शस्त्रों की तथैव उनके कर्मों की कल्पना वैद्य को चाहिए कि वह अपनी बुद्धि से करे।

यन्त्रों और शस्त्रों में हाथ की प्रधानता—यन्त्र और शस्त्र ये सब हाथ के ही अधीन हैं अर्थात् हाथ के बिना यन्त्र शस्त्रादि की प्रवृत्ति ही नहीं होती अत यन्त्रों एव शस्त्रो में अकेला एक हाथ ही प्रधान या मुख्य है।

विशेष वक्तव्य—वाग्भट ने इस प्रकार बारह अनुशस्त्र कहे हैं जिनमें समुद्रफेन, सूखा गोबर भी गिनाया है परन्तु सुश्रुत अनुशस्त्र तेरह मानते है और उनमें त्वक्सार, गोजी, करीर, बाल और अगुली का भी समावेश किया[2] है। अब हम इन अनुशस्त्रों का उदाहरण पूर्वक यथाशक्य उपयोग का थोडे में वर्णन करते हैं।

जलौका—इसका उपयोग दुष्ट रक्तनिर्हरण आदि में प्राचुर्येण होता है। इसका विस्तृत वर्णन इसके आगे जलौका विधि नामक ३५ वे अध्याय में देखिए।

क्षार—इसका उपयोग इस ग्रन्थ के इसी सूत्रस्थान के ३९वे क्षारकर्मविधि नामक अध्याय मे भलीभाति वर्णित है।

अग्नि—इसका उपयोग सम्यक्तया इस सूत्रस्थान के अन्तिम अग्निकर्मविधि नामक ४० वे अध्याय में वर्णन किया गया है।

सूर्यकान्त—यह एक प्रकार का स्फटिकवत् प्राकृतिक मणि है। यह अपने ऊपर पड़ी हुई सूर्य की ज्योत्स्ना के बल सूर्य-किरणों को एकत्रित करता है जिनके बल से अग्नि का प्राकट्य होता है। इसी लिए इसे ज्वलनाश्मा-तपनमणि भी कहते हैं। अँगरेजी में इसे कानवर्जिग ग्लास (Converging glass) कह सकते है। इसका उपयोग अग्निकर्म में त्वग्दाह के लिए कहा गया[1] है।

स्फटिक—सूर्यकान्त शीतशामक है, इसी प्रकार स्फटिक पित्त और दाहशामक[2] है।

काच—इसका उपयोग मोतियाबिन्दु के उपनेत्र-चश्मा (Affection of optic nerve or gutta serena) के लिए तथा नेत्र के तृतीय पटलगत रोग मे होता है। यह क्षार[3] रस, उष्ण वीर्य तथा घोडे के नेत्ररोग में भी हितकारी है।

कुरुविन्द—यह एक प्रकार का अतिकठिन पाषाण है। इसी का दूसरा भेद लोहिताश्म रत्न या पद्मराग मणि या माणिक्य है। इसे अँगरेजी में रूबी (Rugby) तथा कुरुविन्द को कोरण्डम (Corundum) कहते हैं। माणिक्य का उपयोग भी अनेक प्रकार से होता है।

नख—नखों का उपयोग अनुशस्त्र की तरह सर्वविश्रुत है।

शाक शेफालिकादि खरपत्र—सागवान, निर्गुण्डी आदि खर पत्रों का लेखनकर्म में तथा रक्तविस्रावण में उपयोग होता[4] है।

समुद्रफेन—यह समुद्र के जल का शुष्क घनीभूत फेन है किन्तु सुश्रुत के हिन्दी-टीकाकार श्रीघाणेकर जी इसे समुद्र मे रहनेवाले किसी प्राणि-विशेष का कङ्काल (Skeleton) समझते है। यह बहुत कठिन किन्तु टूटनेवाला (भङ्गुर) होता है। अगरेजी में इसको कटल फिश बोन (Cuttle Fish bone) कहते हैं और यह लेखनकर्म में प्रयुक्त होता है।

शुष्क गोमय—सूखे गोबर का कण्डा भी लेखनकर्म में प्रयुक्त होता है। बहुत से लोग गजकर्णादि दद्रु रोग को सूखे गोबर के कण्डे से लेखन कर (घिसकर) उस पर क्षार-प्रधान ओषधि लगाते हैं।

तत्र दीर्घह्रस्वस्थूलवक्रतनुवक्त्रविषमग्राह्यग्राहिशिथिलता इत्यष्टौ यन्त्रदोषा। तत्राद्या पञ्च कुण्ठखण्डखरधारताश्चेत्यष्टावेव शस्त्रदोषा अन्यत्र करपत्रात्।

यन्त्रों के आठ दोष—दीर्घता, ह्रस्वता, स्थूलता, वक्रता, तनुवक्त्रता, विषमग्रहणता, अग्रहणता और शिथिलता ये यन्त्र के आठ दोष होते हैं। साराश, जो यन्त्र अतिदीर्घ, अतिह्रस्व, अतिस्थूल, टेढ़ा (अतिवक्र), अतिसूक्ष्म-मुख, विषमग्राही (जिस जगह को पकड़ना हो उसे न पकड़कर अन्य स्थान को पकड़ता हो), अग्राही (पकड़ न सकता हो) और शिथिल (जिससे यन्त्रक्रिया जल्दी न हो सकती हो) ये दोष हैं अत यन्त्र सर्वथा दोषरहित होने चाहिए।

शस्त्रों के आठ दोष—यन्त्रदोषों में आदि के पाच अर्थात्

---

१ 'अशस्त्राण्येव शस्त्रकार्यं कुर्वन्तीत्यनुशस्त्राणि' इतीन्दु।
२ अनुशस्त्राणि तु त्वक्सारस्फटिककाचकुरुविन्दजलौकाग्निक्षारनखगोजीशेफालिकाशाकपत्रकरीरबालाङ्गुल्य इति।

१ सूर्यकान्तपिप्पल्यजाशकृद्गोदन्तशरशलाकाभिस्त्वग्दाह।
२ पित्तदाहरोगघ्नो रत्नसमवीर्यश्चेति राजनिघण्टुर्वैद्यकशब्दसिन्धुश्च।
३ क्षाररस उष्णवीर्यश्चाञ्जनाद् दृष्टिकर, इति राजनिघण्टु। अश्वस्य पैत्तिकाक्षिरोगे। श्लेष्माभिष्यन्दिनोऽश्वस्य शूल साश्रुविलोचनम्। काच सजायतेऽश्वस्य पाण्डुता चापि चक्षुष ॥ इति तन्त्रान्तरे। ४ नेत्रवर्त्मगतरोगे-'तत प्रमृज्य प्लोतेन वर्त्म शस्त्रपदाङ्कितम्। लिखेच्छस्त्रेण पत्रैर्वा' इति। मुखगतरोगे-सशोथोभयत कार्यं शिरश्चोपकुशे तथा। काकोदुम्बरिकागोजीपत्रैर्विस्रावयेदसृक् ॥ इति सुश्रुत।

दीर्घता, ह्रस्वता, स्थूलता, वक्रता, अतिसूक्ष्ममुखता तथा कुण्ठता, खण्डता, खरधारता ये आठ शस्त्रों के दोष करपत्र शस्त्र को छोड़कर हैं। इस लिए कि अस्थिछेदन के लिए कर पत्र की खरधारा ही काम देती है। साराश, कुण्ठ (जिसकी धार ठीक न चलती हो), खण्ड (जो शस्त्र खण्डित-टूटा हुआ हो), खरधार (जिसकी धार अति तेज हो) ऐसे शस्त्रों को काम में नही लेना चाहिए। इस लिए कि उनसे विपरीत गुण की प्राप्ति होती है।

तत्र क्षारेण पायित शस्त्र शरशल्यास्थिच्छेदनेषूदकेन मासच्छेदने तैलेन पाटनभेदनेषु सिराव्यधस्नायुच्छेदनेषु च प्रयुञ्जीत।

शस्त्रों की त्रिविध पायना—शस्त्रों को तेज करने के लिए उन पर पानी चढाया जाता है। इसको भाषा में पान देना या पानी चढाना कहते हैं। इसे शल्यशास्त्र में पायना कहते है। यह पायना तीन प्रकार की होती है। भिन्न भिन्न कार्यों के अनुसार शस्त्र को तपाकर द्रव द्रव्य मे अर्थात् क्षार, जल और तेल मे बुझाया जाता है। क्षार द्वारा पानी चढाए हुए शस्त्र का उपयोग शरशल्य (बाण का शल्य) और अस्थि के काटने मे होता है या किया जाता है। जल के द्वारा पानी चढ़ाए हुए शस्त्र का उपयोग मास के छेदन में करना चाहिए और तेल के द्वारा पानी चढाए हुए शस्त्र का उपयोग पाटन, भेदन, सिराव्यध तथा स्नायु के छेदन में करना चाहिए।

वक्तव्य—सतप्त शस्त्र को भिन्न भिन्न द्रवों में बुझाने से उनकी धारा पर उन द्रवों का प्रभाव होता है, वह तेज होती है और वह भिन्न भिन्न कार्यों के करने में समर्थ होती है। वाग्भट ने यहा तेल के द्वारा पानी चढाए हुए शस्त्र का उपयोग पाटन-भेदन में बताया है किन्तु सुश्रुत के कथनानुसार पाटन-भेदन उदकपायित शस्त्र के द्वारा होना चाहिए और तैलपायित शस्त्र के द्वारा केवल सिराव्यधन तथा स्नायु का छेदन होना चाहिए। अगरेजी मे पायना को टेम्परिंग (Tempering) कहते हैं। चन्द्र चक्रवर्ती पायना को जीवाणु नाशक समझते है परन्तु प्राचीनों के कथन से पायना का अर्थ जीवाणुनाशन नहीं होता।

धारा पुनश्छेदनाना मासूरी लेखनानामर्धमासूरी व्यधनाना विस्रावणाना च कैशिकी।

शस्त्रों की धारा का प्रमाण—छेदनार्थ शस्त्रों की धारा मसूर के समान, लेखन कर्म के लिए शस्त्रों की धारा अर्धमसूर के समान और व्यधन एव विस्रावण के लिए शस्त्र की धारा केश के समान होनी चाहिए।

वक्तव्य—सुश्रुत छेदनक्रिया के लिए शस्त्र की धारा आधे केश के समान मानते हैं तथा मसूर के समान धारा भेदनार्थ मानते हैं न कि वाग्भट की तरह छेदन के लिए। मासूरी का अर्थ मसूरदल (मसूर की दाल) की धारा के समान सूक्ष्म समझना चाहिए। इसी प्रकार कैशिकी और अर्धकैशिकी का भावार्थ जानना चाहिए।

तेषा छेदनभेदनलेखनाना वृन्तसाधारणे भागे प्रदेशिनीमध्यमाङ्गुष्ठै सुसमाहित गृह्णीयात्। वृन्ताग्रे विस्रावणानि। प्रदेशिन्यङ्गुष्ठकाभ्या हस्ततलप्रच्छादितवृन्ताग्र व्रीहिमुख मुखे। मूलेष्वाहरणार्थानि। पाशस्योपरि मध्ये सदश कर्तरी च। शेषाण्यपि यथायोग क्रियासौकर्येण।

शस्त्रग्रहणविधि—अब भिन्न भिन्न शस्त्रक्रियामे शस्त्रों को पकड़ने का विधान कहते हैं। छेदन, भेदन और लेखनकर्म में वृन्त (डण्डी) के साधारण भाग में तर्जनी, मध्यमा तथा अगुष्ठ से भली भाति पकड़ना चाहिए। विस्रावण में शस्त्र के वृन्ताग्र (मूठ के अग्रभाग) से पकड़ना चाहिए। व्रीहिमुख शस्त्र के मुख को इस प्रकार पकड़ना चाहिए कि जिससे शस्त्र के वृन्त (डण्डी) का अग्रभाग हथेली से ढका रहे तथा तर्जनी और अगूठे से पकडा जावे। आहरणार्थ शस्त्र के मूल भाग को पकडना चाहिए। सदश और कर्तरी को पाश के ऊपर एव मध्यभाग में पकड़ना चाहिए। शेष शस्त्रों को भी जहा जिस प्रकार सुभीता हो, उसी प्रकार पकडना चाहिए जिसमें क्रिया सुगमता से की जा सके।

तेषा निशातनी तु सुश्लक्ष्णशिलिका माषमुद्गप्रभा। धारासस्थापन च शाल्मलीफलकम्।

शस्त्रनिशातनी शिला—उन पूर्वोक्त शस्त्रों की धारा तेज करने के लिए एक निशातनी (जिस पर जल के बूँद डालकर शस्त्र को घिसा जाता है) अर्थात् पत्थर की शिलिका (शिल्ली) कर्कशतारहित, सुचिक्कण तथा मूग या माष के वर्ण की (हरी या श्याम) घर्षणशिला होनी चाहिए तथा उस धारा को सस्थापन करने के लिए एक शाल्मलीफलक (शाल्मली के काष्ठ का पट्टक) होना चाहिए।

वक्तव्य—कुण्ठित धारा को तेज करने के लिए शस्त्र को जिस चिकने पत्थर पर घिसा जाता है, उसे निशातनी कहते हैं। अगरेजी में उसका नाम ह्वेट स्टोन (Whet stone) है। इस पर जल के बूंद डाल कर शस्त्र की धार को घिसा जाता है (लगाया जाता है) और फिर उस धारा को यदि कहीं कर्कश (खरदरी) रह गई हो तो ठीक करने के लिए एक लकड़ी के पट्ट पर घिसा जाता है। आचार्य को वह पट्ट शाल्मलीकाष्ठ का अभीष्ट है। इसके द्वारा धारा मृदु और स्पष्ट होती है। आजकल के नापित (नाऊ) इस काम के लिए

---

१ अन्यत्र करपत्रात् तद्धि खरधारमस्थिच्छेदनार्थमिति सुश्रुत।
२ पायित द्रवेण तैक्ष्ण्यकरणे शिल्पिना भाषा, इतीन्दु। 'निवृत्ताना शस्त्राणा तत्क्षणाद् द्रवद्र येषु निर्वापण पायना। सा च तत्तद्द्रवप्रभावात्कर्मविशेषोत्कर्षकरी भवति' इति क्षाराणचन्द्र।
३ तत्र क्षारपायित शरशल्यास्थिच्छेदनेषु, उदकपायित मासच्छेदनभेदनपाटनेषु, तेलपायित शिराव्यधनस्नायुच्छेदनेषु। इति

१ तत्र धारा भेदनाना मासूरी, लेखनानामर्धमासूरी, व्यधनाना विस्रावणाना च कैशिकी, छेदनानामर्धकैशिकीति। २ धारासस्थापनार्थम् इति सुश्रुतपाठ। ३ 'धारासस्थापनार्थं स्थिरीकरणार्थं, फलक पट्टकम्' इति डल्हन।

एक चमडे का पट्टा रखते हैं। अंगरेजी में इस पट्टक को स्ट्रापिंग (Stropping) कहते हैं।

न चाधिगतशास्त्रोऽप्यकृतयोग्य सुबहुशो वाऽप्यदृष्टकर्मा शस्त्रकर्मणि प्रवर्त्तेत सिरास्नायुमर्मादिव्याप्तत्वाद्देहस्य । तस्मात्सरोमचर्मपुष्पफलालाबुत्रपुसोदकपङ्कपूर्णदृतिबस्तिवर्ध्ममांसपेशिकोत्पलनालादिषु यथार्हमाहरणादियोग्या कुर्यात् । तथा घटपार्श्वस्रोतस्यम्भोभिः पूर्णेन नेत्रेण बस्तिपीडनयोग्याम् । [मृदुमांसखण्डेष्वग्निक्षारावचरणयोग्याम् । पुस्तमयपुरुषाङ्गप्रत्यङ्गेषु बन्धनयोग्याम् ।][1]

अनधिगतशास्त्रादि को शस्त्रकर्म में निषेध—जिसने गुरु के मुख से शास्त्र का अध्ययन किया है किन्तु जिसने योग्या अर्थात् छेदन, भेदन, विस्रावणादि शस्त्रक्रिया नहीं की है—प्रत्यक्ष कर्माभ्यास नहीं किया है और जिसने बहुत सी क्रिया प्रत्यक्ष में देखकर अनुभव नहीं किया है, उसको शस्त्र में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। इसलिये कि सारा शरीर सिरा, स्नायु, मर्म आदि से व्याप्त है। भावार्थ यह है कि शास्त्र पढ लेने पर भी जिसने योग्या (प्रत्यक्ष कर्माभ्यास) नहीं किया है उसे शस्त्र क्रिया में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। इसलिए कि उसके अज्ञान से सिरा, स्नायु और मर्मादि कट जाने से मनुष्य के मर जानेका भय होता है अतः वैद्य को चाहिए कि वह प्रत्यक्ष कर्माभ्यास करे और फिर शस्त्रकर्म में प्रवृत्त हो। अधिगतशास्त्र वैद्य को चाहिए कि वह शास्त्राध्ययन के बाद रोमसहित चर्म, पुष्प, फल, तुम्बी, ककडी, पानी और उसके कीचड से पूर्ण दृति (चमडे की बनी भस्त्रा–धमन), बस्ति, वर्ध्म (बद), मांस पेशी, कमल की नाल आदि में आहरण आदि यथायोग्य क्रिया को करे तथा घडे के पार्श्व के स्रोत में जल से पूरित नेत्र (बस्तियन्त्र) से बस्तिपीडन योग्या को करे। मृदु मांस के टुकडों में अग्निक्षारावचरण योग्या को करे। मनुष्य या स्त्री के बनाए हुए पुतले के अङ्ग–प्रत्यङ्ग में बन्धन योग्या को करे।

वक्तव्य—प्रत्यक्ष कर्माभ्यास करने के लिए उदाहरणार्थ यहां रोमसहित चर्म, पुष्प, फल, तुम्बी आदि के नाम बताए हैं। सारांश यह है कि भिन्न-भिन्न शस्त्रक्रिया का अभ्यास इनके द्वारा करे जैसे कि रोमसहित चमडे पर घर्षण, पुष्पफल पर भेदन, तुम्बी और ककडी पर पाटन, भेदन और आहरण कर्म करें। जलपूरित भस्त्रा या मसक पर स्रावण, कीचड़पूर्ण मसक पर सीवन आदि क्रिया करे। यह इन्दु टीकाकार कहते है परन्तु इस विषय में सुश्रुत की सम्मति बहुत मौलिक है। सुश्रुत का कथन है कि शास्त्रपठित भी बिना कर्माभ्यास के योग्य नहीं हो सकता अतः गुरु प्रत्यक्ष क्रिया कराकर शिष्य को योग्य बनावे। पुष्प, फल, तुम्बी, तरबूज, ककड़ी आदि द्वारा छेद्यविशेष कर्मों को सिखावे उत्कर्तन-परिवर्त्तन भी इनके द्वारा बतावे। भेदन का कर्माभ्यास भस्त्रा, बस्ति, प्रसेवक प्रभृति से जलपूरित करके सिखावे। और भी बहुत कुछ कहा गया है। पाठक सुश्रुत सूत्रस्थान के ८ वें योग्यासूत्रीय अध्याय का अवलोकन करें।

अपि च। युक्तकारी भिषग्बुभुत्सुः पुरुषं सम्पूर्णगात्रमविषहतमदीर्घव्याधिपीडितं निष्कृष्टान्त्रमवहन्त्यामापगायां मुञ्जवल्कजवेष्टितं पञ्जरस्थमप्रकाशे देशे कोथयेत्। तं सम्यक् प्रकुथितं चोद्धृत्यायतदेहं कृत्वोशीरवेणुकूर्चादीनामन्यतमेन शनैः शनैरवघृष्य त्वगादीन् सर्वानेव बाह्याभ्यन्तरानङ्गसिरास्नाय्वादीनवयवानाचार्योपदर्शितेनागमेन चक्षुषा च लक्षयेत्।

शरीरगत सिरा-स्नायु आदि का प्रत्यक्ष ज्ञानोपाय—अतीव उपयुक्त कार्य करने की इच्छावाले एवं श्रेष्ठ वैद्य बनने की इच्छावाले को चाहिए कि वह मनुष्य शरीर के बाह्य तथा भीतर के अङ्गों, सिराओं, स्नायुवों के ज्ञान को प्रत्यक्ष देखकर प्राप्त करे। इसकी विधि इस प्रकार है कि जो पुरुष विष से न मरा हो, तुरन्त की व्याधि से पीडित होकर मरा हो, जिसका कोई गात्र खण्डित न हुआ हो ऐसे मृत पुरुष के सम्पूर्ण शरीर (शव) को उसकी आतें दूरकर न बहनेवाली नदी में मूंज या कुशा से वेष्टन कर किसी पंजर में रखकर किसी को प्रगट न की हुई जगह या अंधियारे में सडावे। वह पूरा सड़ जाय तब उसे निकाल कर, देह को सरल करके खस, बांस तथा कूर्च इनमें से किसी एक से धीरे-धीरे घिस कर फिर शरीर के त्वचादि समस्त बाह्य और भीतर के अङ्ग, सिरा, स्नायु आदि अवयवों का अवलोकन आचार्य के उपदिष्ट शास्त्र से तथा प्रत्यक्ष चक्षु (आंखों) द्वारा कर लेवे।

इति शास्त्रेण यद्दृष्टं दृष्टं प्रत्यक्षतश्च यत्।
समागतं यदुभयं भूयो ज्ञानं विवर्द्धयेत् ॥

शास्त्र एवं प्रत्यक्ष दृष्टि की आवश्यकता—इस प्रकार शास्त्र से देखकर तथा प्रत्यक्ष देखकर प्राप्त उभयपक्षी ज्ञान पुनः पुनः ज्ञान को बढानेवाला होता है। सरांश, आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन एवं प्रत्यक्ष कर्माभ्यास ही इस विषय में ज्ञानवृद्धि का मुख्य कारण है।

स्यान्नवाङ्गुलविस्तारः सुघनो द्वादशाङ्गुलः ।
क्षौमपत्त्रोर्णकौशेयदुकूलमृदुचर्मजः ॥
विन्यस्तपाशः सुस्यूतः सान्तरोर्णास्थशस्त्रकः ।
शलाकापिहितास्यश्च शस्त्रकोशः सुसंचयः ॥

इति चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

शस्त्रकोष का वर्णन—प्रसङ्गवशात् अब शस्त्र रखने के कोष का अर्थात् जिसमें शस्त्र रखा जाता है उस कोष या उस (म्यान) का वर्णन करते हैं। जो नव अङ्गुल चौडा और बारह अङ्गुल लम्बा हो, जो क्षौमवस्त्र, भोजपत्र, ऊनी वस्त्र, रेशमी वस्त्र या नरम चमड़े का बना हुआ हो, जिसमें कड़ी लगी हुई हो और जो भलीभांति सिया हुआ हो, जिसके भीतर दी हुई ऊन में शस्त्र रहता हो तथा जिसका मुख शलाका से बन्द हो, ऐसा शस्त्रकोष (शस्त्र के लिए म्यान) होना चाहिए जिसमें शस्त्र सुसंचित रह सके। इस शस्त्रकोश को अङ्गरेजी में सर्जिकल इन्स्ट्रूमेण्ट केस (Surgical Instrument Case) कहते हैं।

इति वाग्भटाचार्यकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्यायां यन्त्रशस्त्रविधिर्नाम चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

---

१ पाठोऽयं नास्ति द्वितीयपुस्तके।

अथ पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ।

इसके प्रथम गत अध्याय में अनुशस्त्रों का वर्णन किया गया है, उनमें सबसे प्रथम जलौका का निर्देश किया है अत तद्विषयक अध्याय का आरम्भ करते हुए आचार्य कहते हैं कि-

अथ जलौकोविधिमध्याय व्याख्यास्याम इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय ।

जलौकावचारणाध्याय—जिसमें जलौका अर्थात् जोंक का सम्यक् वर्णन किया गया है, अब हम उस जलौकोविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया है।

नृपाढ्यभीरुसुकुमारबालस्थविरनारीणामसृग्विस्रावणाय जलौकसो योजयेत् ।

जलौकावचारण का उद्देश्य—राजा, श्रीमान् , डरपोक, सुकुमार, बालक, वृद्ध और स्त्री ये स्वभावत ही सुकुमार होते हैं। शस्त्रद्वारा रक्तविस्रावण से डरते हैं अत इन सब के रक्तविस्रावण के लिए जोंकों की योजना करनी चाहिए अर्थात् जोंकें लगानी चाहिए। क्योंकि यह सब से अधिक सरल उपाय है।

वक्तव्य—सस्कृत में जोंक को जलौकस् तथा जलायु कहते हैं, अर्थात् जल ही है घर या आयु जिनकी ('जलमेवा स्यौकोऽस्या इति जलौकस्', जलमेवास्त्यायुरस्या इति जलायु) उन्हें जलौक या जलायु कहते हैं। अङ्गरेजी में जोंक को लीच या हिरुडू (Leech, Hirudu) कहते हैं।

तास्तु द्विविधा सविषा निर्विषाश्च । तत्र दुष्टाम्बुसर्पमण्डूकमत्स्यादिशवकोथमूत्रपुरीषजा रक्तश्वेतातिकृष्णतनुस्थूलचपलपिच्छिला स्थूलमध्या रोमशा शक्रायुधवद्विचित्रोर्ध्वराजीचिता वा सविषा । तद्दशाद्दाहशोफपाककण्डुपिटिकाविसर्पज्वरमूर्च्छाश्वित्रोत्पत्ति । तत्र विषपित्तरक्तहरा क्रिया कुर्वीत । पद्मोत्पलसौगन्धिकादिसुगन्धविमलविपुलसलिलशैवालजा शैवालश्यावा नीलोर्ध्वराजयो वृत्ताश्च निविषा ।

जोंक के सविषनिर्विष दो प्रकार—सविष और निर्विष ऐसे जोंक दो प्रकार की होती हैं। इनमें से जो दुष्ट (दूषित) जल, सर्प-मेंढक और मत्स्यादि के सडे हुए शव से तथा मूत्र और पुरीष से पैदा होनेवाली, रक्त, श्वेत और अतिकृष्ण वर्णवाली, अतिसूक्ष्म, अतिस्थूल, चपल और पिच्छिल (हाथ में लेने से फिसल जानेवाली), मध्यभाग मे मोटी, बहुरोमवाली तथा इन्द्रधनुष की तरह ऊपरी भाग में चित्र-विचित्र धारावाली जोंकें सविषा अर्थात् विषैली होती हैं। इनके दश से दाह, सूजन, पकना, खुजली, फुन्सियों, विसर्प, ज्वर, मूर्च्छा और श्वित्र (श्वेत कुष्ठ) की उत्पत्ति होती है। इनके द्वारा दाह-शोफादि होने पर विष और पित्त-रक्त को हरनेवाली क्रिया करनी चाहिए।

पद्म, उत्पल, सौगन्धिकादि कमल की सुगन्धि से निर्मल विपुल जल के शैवाल से पैदा होनेवाली, शैवालश्यावा (जल की काई के समान काले वर्णवाली), उपरिभाग में नील रेखावाली और गोलाकार जोंकें निर्विषा (विष से रहित) होती हैं।

वक्तव्य—वाग्भट इस प्रकार सविषा और निर्विषा जलौका का वर्णन करते हैं परन्तु सुश्रुत ने जलौका के १२ प्रकार माने हैं और इनमें से ६ सविषा और ६ निर्विषा मानी हैं। सविषा के नाम कृष्णा, कर्बुरा, अलगर्दा, इन्द्रायुधा, सामुद्रिका और गोचन्दना बताए हैं। इसी प्रकार निर्विषा के नाम कपिला, पिङ्गला, शङ्कुमुखी, मूषिका, पुण्डरीकमुखी और सावरिका बताए हैं[1]। इनके भिन्न भिन्न लक्षणादि का वर्णन भी किया है किन्तु ग्रन्थ विस्तरभय से हम विशेष न लिख कर पाठकों से अनुरोध करते हैं कि वे सुश्रुत के सूत्रस्थान का १३ वा जलौकावचारणीय अध्याय का अवश्य अवलोकन करें।

सर्वासा च पर प्रमाणमष्टादशाङ्गुलानि । तत्र चतु - पञ्चषडङ्गुला नृषु योजयेत् । गजवाजिष्वपरा । ता सुकुमारा स्तनुत्वचोऽल्पशिरस्का बृहदधरकायाश्च स्त्रिय । विपरीता पुमासोऽर्द्धचन्द्राकृतिपुरोवृत्ताश्च । तत्र बहुदोषेषु चिरोत्थितेषु चामयेषु पुमासो योजयितव्या । स्त्रियो विपरीतेषु ।

जलौका का प्रमाण, जाति और उपयोग—जोंक की समस्त जातियों में लम्बाई का प्रमाण अधिक से अधिक अठारह अगुल हो सकता है। इनमें से चार, पाच तथा छ अगुल लम्बी जोंक मनुष्य जाति में लगानी चाहिए और इससे अधिक लबे प्रमाणवाली, (अपरा) हाथी-घोडों के लिए लगानी चाहिए। इन जलौकों में जो सुकुमार, सूक्ष्म त्वचावाली, छोटे सिरवाली एव नीचे के भाग में मोटी होती हैं उन्हें स्त्रीजातिवाली समझनी चाहिए तथा इससे विपरीत अर्थात् असुकुमार, मोटे चमड़ेवाली, बडे सिरवाली एव ऊपर के भाग में मोटी ऐसी जलौका पुरुष जातिवाली समझनी चाहिए जिनका आकार ऊपरवाले भाग में चन्द्राकृति और गोल हो। बढ़े हुए चिरकाल से उत्पन्न दोषों तथा रोगों में पुरुषसज्ञक जलौका की योजना करनी चाहिए और इससे विपरीत स्वल्प, अल्पकाल के उत्पन्न दोषों तथा रोगों में स्त्रीसज्ञक जोंकें लगानी चाहिए।

जलौकसस्त्वार्द्रचर्माद्युपायैर्गृहीत्वा सुरभिपङ्कगर्भे नवे घटे स्थापयेत् । शृङ्गाटककसेरुकशालूकशैवालमृणालवल्लूरमृत्स्नापुष्करबीजचूर्णं स्वादुशीतस्वच्छ च तोयमन्नपानार्थे ताभ्यो दद्यात् । लालादिकोथपरिहारार्थमेव च त्र्यहात्र्यहात्पूर्वमन्नपानमपनीयान्यत्प्रक्षिपेत् । पक्षाहाच्च तद्विध एव घटान्तरे ता सचारयेत् ।

जलौका की ग्रहण पोषणविधि—आर्द्रचर्म (गीला चमड़ा) तथा तुरन्त के मारे जन्तु की मांसपेशी, मक्खन, घृत, दूध

[1] ता द्वादश, तासा सविषा षट् तावत्य एव निर्विषा ॥ ९ ॥ तत्र सविषा -कृष्णा, कर्बुरा, अलगर्दा, इन्द्रायुधा, सामुद्रिका, गोचन्दना चेति । अथ निर्विषा -कपिला, पिङ्गला, शङ्कुमुखी, मूषिका, पुण्डरीकमुखी, सावरिका चेति ।

आदि से लिप्त जघा आदि अवयवों द्वारा जौंकों का ग्रहण करके उन्हें ऐसे नये घडे में रक्खे जिसमे सुगन्धित कीचड डाला हुआ हो। साराश, जिस घट मे सरोवर, तालाब आदि का जल और कीचड डाला हुआ हो उसमे जौंकों को रक्खे। इनकों खाने के लिए सिघाडे, कसेरू, शालूकादि जलज कन्दों का चूर्ण, शैवाल (जल पर की काई), मृणाल (कमल नाल), वल्लूर (सूखा मास), मिट्टी, कमलगट्टों का चूर्ण तथा पीने के लिए मीठा, ठण्डा और स्वच्छ जल देवे। लार आदि से सडन पैदा न हो इस लिए तीन तीन दिन के अन्तर से अर्थात् प्रति तीसरे दिन पहले दिया हुआ अन्न पान हटाकर दूसरा नया पूर्वोक्त अन्नपान उस घट मे डाले। इतना ही नहीं, प्रति पाचवें दिन (सुश्रुत के मतानुसार प्रति सातवे दिन) उसी प्रकार के (नये) दूसरे घडे में जौंकों का सचारण करता रहे अर्थात् बदलता रहे।

तासा तु दुष्टशोणितासम्यग्वमनात् प्रततपातनाच्च मूर्च्छा भवति। तासामम्भोभि पूर्णभाजनस्थानामचेष्टयाऽऽहारानभिलाषेण च ज्ञात्वा ता विवर्जयेत्। इतरास्तु हरिद्रासर्षपकल्काम्भसि मुक्तपुरीषा अवन्तिसोमे तक्रे वा पुनश्च समाश्वासिता जले सुखोपविष्टस्य सन्निविष्टस्य वा मृद्गोमयचूर्णाभ्यामनुसुख विरूक्ष्य दशदेश योजयेत्। अलगन्तीषु क्षीरघृतनवनीतरुधिरान्यतमबिन्दून्न्यसेत् प्रच्छेद्वा। अश्वखुरवच्च वक्त्र निवेश्योन्नतस्कन्धा दशन्ति यदा च शिशुवच्छ्वसन्त्य शिर स्पन्दोर्मिवेगै पिबन्ति तदा मृदुवाससा प्रच्छादयेत्। सेचयेच्चाम्भसाऽल्पाल्पम्। यथा च हस क्षीरोदकात्क्षीरमादत्ते तद्वदुत्क्लिष्टे रक्ते जलौका प्रागदुष्टमसृक्। यदा च तद्दशे तोद कण्डूर्वा तदा शुद्धरक्तरक्षणार्थमपनयेत्। लौल्याच्च दशममुञ्चन्त्या सौद्र लवणचूर्ण वा मुखे दद्यात्। पतिता तु तन्दुलकण्डनोपदिग्धगात्रा तैललवणाक्तमुखी पुच्छादामुखमनुलोम शनै पीडयन् सम्यग्वामयेत्। तत पूर्ववत्सन्निदध्यात्। सप्तरात्र च ता पुनर्न पातयेत्। अशुद्धे तु रक्ते मधुना गुडेन वा दशान् किञ्चिद्विघट्टयन् स्रावयेत्। स्रुतरक्तस्य च सद्यो दश शीताभिरद्भि प्रक्षाल्य सर्पि पिचुनाऽवगुण्ठयेत्। स्थिररक्त चोत्क्लिष्टशोणितशेषप्रसादनाय कषायमधुरशिशिरै सघृतै प्रदेहै प्रदिह्यात्। ततो योगादीन् सिराव्यधवदुपलक्षयेत् प्रतिकुर्वीत च। दुष्टरक्तापगमाच्छ्वयथुशैथिल्य दाहरागशूलोपशमश्च।

जलौकावचारणविधि—ध्यान रहे कि इन जौंकों में मूर्च्छा प्राप्त होती है अर्थात् इनका पिया हुआ दुष्ट रक्त भलीभाति वमन द्वारा न निकालने से तथा सतत लगाने से कुछ जौंकें मूर्च्छित हो जाती है। इसकी परीक्षा यह है कि जल से भरे हुए पात्र मे छोडने पर ये कुछ भी चेष्टा नहीं करती अर्थात जल में नहीं चलती हैं और इसी प्रकार आहार की भी उन्हे अभिलाषा नहीं रहती है। यदि इस प्रकार हो तो इन जौंकों को भी सविषा जौंकों की तरह काम में न लावे। अब सर्वथा शुद्ध निर्विषा जलौका के लगाने की विधि बताते हैं—इतरा अर्थात् विषैली तथैव मूर्च्छित जौंकों के अतिरिक्त शुद्ध निर्विष जौंके लेकर हल्दी और सरसों के कल्क के जल में डाले अथवा अवन्तिसोम (कांजी) या तक्र में डाले। इनके सयोग से जौंके मुक्तपुरीषा होती है अर्थात् वे मलमूत्र का त्याग करती हैं। मुक्तपुरीष जौंकों को पुन शुद्ध जल मे डाले। इसके बाद अच्छी तरह से बैठे या लेटे हुए पुरुष के उस स्थान पर जौंक लगावे जहा पर लगानी हो। ध्यान रहे कि जिस जौंक को लगाना हो उसको जल मे से निकाल मिट्टी या सूखे गोबर के चूर्ण को सुहाता हुआ धीरे धीरे उस पर मर्दन कर उसे रूक्ष कर ले (उसकी जलार्द्रता मिटा दे) और फिर लगावे। यदि उस जगह न लगती हो तो उस स्थान पर दूध, घृत, मक्खन और रक्त इनमें से किसी एक के बूद डालकर फिर लगावे या पछने से उस जगह को जरा छीलकर लगावे। ऐसा करने से दूध, घी, मक्खन या रक्त के लोभ से वहा जौंक अवश्य चिपक जायगी। घोडे के खुर की तरह मुख को उस स्थान में लगाकर स्कन्ध-भाग को ऊचा उठाती हुई जब वह दश करती है अर्थात् चिपट जाती है—जब कि वह बालक की तरह श्वासोच्छ्वास लेती हुई, सिर को हिलाती हुई ऊर्मि (तरङ्ग) के वेग से रक्त पीने लगती है, तब नरम कपडे से ढक देना चाहिए और थोडे थोड़े जल से सेचन करना चाहिए। जैसे हस मिले हुए दूध और पानी मे से दूध को खींच लेता है, ठीक उसी प्रकार से जौंक शुद्ध और अशुद्ध उत्क्लिष्ट रक्त मे से पहले दूषित रक्त को खींच कर पी जाती हैं। जब दशस्थान में पीडा और खाज की प्रतीति हो तब शुद्ध रक्त के सरक्षणार्थ जौंक को वहा से हटा लेनी चाहिए। रक्त के लालच से दश के स्थान को न छोडनेवाली जौंक के मुख पर जरा शहद या नमक का चूर्ण लगा देना चाहिए। इस प्रकार करने से उस दशस्थान से जौंक गिर जायगी। नीचे गिरी हुई उस जौंक को लेकर उसके गात्र पर तण्डुलकण-चूर्ण लगाकर, तेल-नमक लगे हुए मुख वाली उस जौंक को पूछ से लेकर मुख तक उल्टा पीडन कर अर्थात् धीरे धीरे पीडन कर अच्छी तरह से वमन करा दे। सुश्रुत इसी बात को कहते हुए यह स्पष्टीकरण करते हैं कि 'बाये हाथ के अगूठे और उगली से उसे पकडे और दाहिने हाथ के अगूठे और उगली से पूछ की ओर से मुख तक उल्टा पीडन कर वमन करा दे। वमन कराने के अनन्तर फिर कीचड और जलवाले घडे मे पूर्ववत् रख दे। सातरात्रि (दिन) तक उन्हे फिर न लगावे। अशुद्ध रक्त किचित् भी अवशिष्ट रहने की शका हो तो शहद या गुड से दशस्थान को मसल कर

१ अन्यैर्वा प्रयोगैरिति सद्योहतजन्तुमासपेशीनवनीतघृतक्षीराद्यभ्यक्तजङ्घाद्यवयवैर्वा। २ सरस्तडागोदकपङ्कमावाप्य, इति सुश्रुत। ३ उत्तप्त शुष्कमास स्यात्तद्वल्लूर त्रिलिङ्गकम्। इत्यमर। ४ सप्तरात्रात्सप्तरात्राच्च घटमन्य सक्रामयेदिति। ५ तदाऽऽर्द्रवाससाऽवच्छादयेत् इ पा। ६ स्थितरक्तम् इ पा।

१ अवन्तिसोम काञ्जीति हेमाद्रि। २ अथ पतिता तण्डुलकण्डनप्रदिग्धगात्री तैललवणाभ्यक्तमुखीं वामहस्ताङ्गुष्ठाङ्गुलीभ्या गृहीतपुच्छा दक्षिणहस्ताङ्गुष्ठाङ्गुलीभ्या शनै शनैरनुलोममनुमार्जयेदा मुखाद्वामयेत्तावद्यावत्सम्यग्वान्तलिङ्गानीति।

रक्तस्राव करा दे। जिसमें से दुष्ट रक्त का विस्रावण हो चुका हो तो उस दशस्थान को शीतल जल से धोकर घृत लगे हुए रूई के फाहे से ढक दे। रक्त के थम जाने या स्थिर हो जाने पर उत्क्लिष्ट रक्त के शेष भाग को साफ करने के लिए कषाय, मधुर और शीतल, घृतसहित लेप दशस्थान पर करे।

जलौकावचारण (जोंके लगाने) के सम्यग्योग, हीनयोग तथा मिथ्यायोग को उसी प्रकार से देखना चाहिए जैसे कि सिराव्यध-विधि के सम्यक्, हीन और मिथ्यायोग को देखा जाता है। अतियोग हो जाने पर इसका उपचार भी सिराव्यधविधि मे कहे अनुसार करे।

दुष्टरक्तविस्रावण के लाभ—दुष्ट रक्त के निकल जाने से शोथ (सूजन) में शिथिलता आजाती है अर्थात् सूजन ढीली पड कर उतर जाती है, दाह, राग (ललाई) तथा शूल का शमन होता है।

रक्त तु पित्तेन दुष्टमलाबुघटिकाभ्या न निर्हरे-दग्निसयोगाद्वातकफाभ्या च दुष्ट निर्हरेत्। तथा कफेन न शृङ्गेण स्कन्नत्वाद्वातपित्ताभ्या तु दुष्ट निर्हरेत्। अथ प्रच्छायाङ्ग तनुवस्त्रपटलावनद्धप्रान्तेन शृङ्गेण चूषेत्। तथा प्रदीप्तपिचुगर्भाभ्यामलाबुघटिकाभ्यामिति।

पित्तादिदुष्ट रक्तका तूबी आदि द्वारा निर्हरण—पित्त से दुष्ट रक्त का निर्हरण अलाबु (तुम्बी) और घटिका (मिट्टी का शराव) द्वारा न करे क्यों कि अलाबु और घटिका में अग्नि का सग होता है और वह अधिकाधिक पित्त को कुपित कर सकता है किन्तु वात और कफ से दूषित रक्त का निर्हरण तुम्बी और घटिका से करे क्यों कि इनमे अग्निसङ्ग होता है जो कि वात और कफ के लिए प्रशस्त होता है। तथा कफ से दूषित रक्त का निर्हरण शृङ्ग से न करे क्यों कि वह मधुर, स्निग्ध और शीत है और कफ भी इन्हीं गुणोंवाला है परन्तु वात और पित्तदूषित रक्त शृङ्ग से निकालना चाहिए। इस लिए कि मधुर, स्निग्ध और शीत वातपित्त के शामक हैं।

शृङ्गादि से रक्तनिर्हरणविधि—यदि शृङ्ग से रक्त-निर्हरण करना हो तो पहले सिगी लगाने की जगह प्रच्छान (पछना) लगाकर रक्त निकाले और फिर उस पर सिगी लगाकर उसके आजूबाजू में नरम बारीक कपड़ा से बन्द कर उस सिगी से मुख लगाकर रक्त को चूसे। और तुम्बी तथा घटिका से रक्त निर्हरण करना हो तो निकले हुए रक्त के ऊपर ऐसी तुम्बी और घटिका लगावे जिसमे प्रदीप्त थोड़ी रूई रखी हुई हो। धूम्र के प्रभाव से अलाबु और घटिका द्वारा दूषित रक्त आकृष्ट होकर निकल आता है।

भवति चात्र[1]।

गात्र बद्ध्वोपरि दृढ रज्ज्वा पट्टेन वा समम् ।
स्नायुसन्ध्यस्थिमर्माणि त्यजन् प्रच्छानमाचरेत् ॥
अधोदेशप्रविसृतै पदैरुपरिगामिभि· ।
न गाढघनतिर्यग्भिर्न पदे पदमाचरेत् ॥
प्रच्छानेनैकदेशस्थं सुप्त शृङ्गादिभिर्हरेत् ।
ग्रथित तु जलौकोभिरसृग्व्यापि सिराव्यधै· ॥

१ भवन्ति चात्र।

प्रच्छान पिण्डिते वा स्यादवगाढे जलौकस· ।
त्वक्स्थेऽलाबुघटीशृङ्ग सिरैव व्यापकेऽसृजि ॥
वातादिधाम वा शृङ्गजलौकोऽलाबुभि क्रमात् ।
स्रुतासृज प्रदेहाद्यै शीतै स्याद्वायुकोपत ॥
सतोदकण्डू· शोफस्त सर्पिषोष्णेन सेचयेद् ॥

इति पञ्चत्रिंशोऽध्याय ॥ ३५ ॥

प्रच्छानविधि—जिसका सिगी लगा कर, जोंकें लगा कर, तुम्बी से या घटीयन्त्र से दुष्टरक्त निर्हरण करना हो तो उस रक्तनिर्हरण के स्थान से कुछ ऊपर गात्र को रस्सी या कपड़े से मजबूत बाध कर फिर नीचे की ओर शरीर पर स्नायु, सन्धि, अस्थि तथा मर्मो को छोड कर पछना लगाकर क्षत करे किन्तु यह ध्यान रहे कि क्षत नितान्त सीधा हो ऐसे क्षत न करे जो नीचे की ओर फैले हुए हों अर्थात् ऊपरिगामी क्रमश क्षत करे जो कि अति गहरे, मोटे और टेढ़े न हों। ऐसा पछना भी न चलावे जिससे पहले किए हुए क्षत पर और क्षत हो जाय। इस प्रकार क्षत करके एक देश मे स्थित रक्त का निर्हरण पछने से करे और वात-रक्तादि विकारों के सुप्त एव निश्चेष्ट रक्त का निर्हरण सिगी आदि द्वारा करे। जमे हुए अर्थात् गाठ, रसौली आदि के ग्रथित रक्त का निर्हरण जोंकें लगाकर तथा सर्व शरीरव्यापी दुष्ट रक्त को सिराव्यध-विधि से निकाले अर्थात् फस्त खोलकर निकाले। अथवा पिण्डित (पिण्डीभूत) जमे हुए रक्त का पछने से, अवगाढ (अधिक गाढ़े) रक्तका जोंकें लगाकर, त्वचा के रक्त का तुम्बी, घटी और सिगी लगाकर तथा सर्वशरीरव्यापी रक्त का सिराव्यध-विधि से ही निर्हरण करे। साराश, सर्वशरीरस्थ रक्त का निर्हरण सिराव्यध-विधिके अतिरिक्त अन्य शृङ्ग-अलाबु, घटी आदि लगाकर न करे। अथवा वातादि-भेद से क्रम से शृङ्ग, जलौका और तुम्बी लगाकर करे अर्थात् वायुदुष्ट रक्त का शृङ्ग से, पित्तदुष्ट रक्त का जोंकें लगाकर और कफदूषित रक्तका निर्हरण तुम्बी लगाकर करे।

रक्तनिस्सरण के पश्चात्कर्त्तव्य—रक्त के निकल जाने पर वायु के कोप से पीडासहित कण्डू (खाज) और सूजन का सभव होता है अत यदि ऐसा हो तो शीतल लेप लगावे और उष्ण घृत से उस पर सेचन करे।

इति वाग्भटाचार्यकृतावष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाख्याया हिन्दीव्याख्याया जलौकाविधिर्नाम पञ्चत्रिंशोऽध्याय ॥३५॥

अथ षट्त्रिंशोऽध्यायः।

गत अध्याय में रक्तविस्रावण के प्रसग मे कहा गया है कि सर्वाङ्गव्यापी रक्त का विस्रावण सिराव्यधविधि से ही करना चाहिए। इसलिए इस विषय के अध्याय का प्रारम्भ करते हुए आचार्य कहते हैं कि—

अथात सिराव्यधविधि नामाध्याय व्याख्यास्याम । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय·।

सिराव्यधव्याख्या—अब हम जिसमें सिराव्यधविधि का वर्णन है, उस सिराव्यधविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया।

बहवो हि रक्तावसेचनोपाया प्रागभिहितास्तेषामन्येषां च विरेकादीनामुपक्रमाणां तत्साध्येष्वामयेषु सिराव्यध प्रधानम्। अमुना हि ते समूला शोषमायान्ति केदारसेतुभेदेन शाल्यादय इव।

तथा हि।
सिराव्यधश्चिकित्सार्धं सपूर्णं वा चिकित्सितम्।
शल्यतन्त्रे स्मृतो यद्वद्बस्ति कायचिकित्सिते॥

सिराव्यधविधि की प्रधानता—पहले बहुत से रक्तावसेचन के उपाय कहे गए हैं उनमें तथा विरेचनादि अन्य उपायों एवं उनसे साध्य रोगों के विषय में सिराव्यध ही प्रधान है क्योंकि इससे वे सब (रोग) इस प्रकार मूलसहित नष्ट हो जाते हैं जैसे कि केदार (जल से भरे हुए चावलों के खेत) की पाल तोड़ देने से शाल्यादि (चावल, गेहूं, जौ, चने) सूख जाते हैं। इसी लिए कहा है कि—जैसे काय-चिकित्सा में बस्ति को सपूर्ण या आधी चिकित्सा कहा गया है, उसी तरह शस्त्र किंवा शल्यतन्त्र मे सिराव्यध को सपूर्ण या आधी चिकित्सा कहा गया है। साराश, केदारसेतु-भेद की तरह सिराव्यध करने से भी दूषित रक्त शरीर से बाहर निकल जाने से समस्त रोग शान्त हो जाते हैं।

विशेष वक्तव्य—यहा सम्पूर्ण या चिकित्सार्ध का तात्पर्य यह नहीं है कि सिराव्यध से सपूर्ण या आधी चिकित्सा हो जाती है। तात्पर्य यह है कि जैसे काय-चिकित्सा में वायु को प्रधान दोष माना गया है, उसी प्रकार शल्य-चिकित्सा में रक्त का प्रधान स्थान है। कायचिकित्सा में बस्तिद्वारा बहुत कुछ चिकित्सा का कार्य हो जाता है। वैसे ही शल्य-चिकित्सा में सिराव्यध के करने से बहुत कुछ चिकित्सा का कार्य हो जाता है। रक्तशुद्धि जैसे सिराव्यध से होती है वैसे अन्य उपायों से नहीं होती। रक्त की शुद्धि नितान्त अपेक्षित है क्योंकि इसी से व्रणकी दुष्टि, पूयभवन, सन्धान और रोपण आदि सभी कार्य ठीक होते हैं।

यथा रक्तमधिष्ठानं विकाराणां विकारिणाम्।
अन्यन्नहि तथा दूष्यं कर्मेदं प्रथमं ततः॥

सब दूष्यों मे रक्त की प्रधानता—समस्त रोगियों के रोगोंका अधिष्ठान जैसे रक्त है ऐसे और कोई भी दूष्य नहीं है। इसी लिए रक्तविस्रावण कर्म को प्रथम कहते हैं।

तत्राम्बु शारीरमाहारसारभूतं रसाख्यमविकृतमविकृतेन तेजसा रञ्जितमिन्द्रगोपाकारं च शशशोणितगुञ्जाफलालक्तकपद्मसुवर्णवर्णं धौतं च विरज्यमानं मधुरमीषल्लवणं स्निग्धमशीतोष्णं गुरु पित्तैकचयकोपोपशमनं सौम्याग्नेयं प्रकृत्या रक्तमाहुस्तदा दूष्यम्। दोषमिति केचित्। उभयात्मकमन्ये। तच्चैवंविधमेव विधिवदाहारविहाराभ्यासाद्विशुद्धं बलवर्णसुखायुषां योनिः।

विशुद्ध रक्त एवं उसका फल—आहार के सारभूत उस रस सञ्ज्ञक शारीरिक जल को ही आचार्यों ने रक्त कहा है जो कि अविकृत (विशुद्ध), जठराग्नि से रञ्जित, इन्द्रगोप (वर्षाकालीन वीरबहूटी-सञ्ज्ञक) के समान लाल, शश (खरगोश) के रक्त के समान, गुञ्जाफल (चिरमिटी)-महाउर-सुन्दर रक्तकमल के समान होता है। धोने पर साफ हो जानेवाला, मधुर, किंचित् नमकीन, स्निग्ध, कुछ शीत तथा उष्ण, गुरु, केवल पित्त का चय, प्रकोप और शमन करनेवाला, सौम्य तथा आग्नेय जो प्रकृति ही से है। इसलिए चरकादि आचार्यों ने इसे दूष्य कहा है। कुछ (धन्वन्तरि आदि) आचार्य इसे दोष मानते हैं क्योंकि यह भी वातादि दोषों की तरह रोगों का उत्पादक है और वातादि दोषों के समान इसकी भी चिकित्सा है। कुछ ऐसे भी आचार्य है जो इसे दोष और दूष्य दोनों मानते हैं। जो कुछ हो, पूर्वोक्त विधिवत् आहार-विहार के अभ्यास से जो विशुद्ध रक्त है वही बल, वर्ण, सुख और आयु का मूल कारण है।

विशेष वक्तव्य—उपर्युक्त गद्य के आदि में 'तत्राम्बुशारीरम्' आदि विशुद्ध रक्त के लक्षण कहे गए है और यह भी बताया है कि वह रक्त विशुद्ध, अग्नि से रञ्जित, शारीर आहार का सारभूत रससञ्ज्ञक द्रव्य ही है। भगवान् धन्वन्तरि ने भी यही कहा है किन्तु सक्षिप्त करके नहीं, अपितु विस्तार से कहा है। यथा—पाञ्चभौतिक अर्थात् आकाशादि पञ्चभूतात्मक, पेय-लेह्य-भक्ष्य और भोज्य रूप से चतुर्विध, मधुर-अम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषायरूपेण षड्रसवाले शीत और उष्ण होने से द्विविध तथा शीत-उष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-विशद-पिच्छिल-मृदु तथा तीक्ष्ण ऐसे अष्टविध वीर्यवाले, गुरु-मन्द-हिम-स्निग्ध-श्लक्ष्ण-सान्द्र-मृदु स्थिर-सूक्ष्म विशद इन दस गुणों तथैव इनके विपरीत दस गुणों से युक्त अनेक गुणोंवाले विधिवत् आहार के करने से उत्पन्न तेजोभूत (घृत एवं शुक्र की तरह प्रसादांश), परम सूक्ष्मभूत सार, रस कहलाता है। यही आगे चलकर विशुद्ध जाठराग्नि से रञ्जित इन्द्रगोप के समान आकारवाला रक्त बन जाता है। रक्त के रूप में परिणत होनेवाले इस रस की परम सूक्ष्मता के लिए भोजन किए हुए पदार्थों के भलीभाति शोषण एवं सात्म्यीकरण की बड़ी भारी आवश्यकता रहती है। आधुनिक वैद्यक के ज्ञाता कहते हैं कि उन भुक्त पदार्थों का दांतों के सम्यक् चर्वण द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म कणों मे भौतिक विघटन होना चाहिए। दांतों के चर्वण, पाचक रसों के जलांश एवं आंतों के आकुञ्चन के बिना यह कार्य नही हो सकता। जो भुक्त आहार इस प्रकार सूक्ष्मातिसूक्ष्म नहीं बनते वे पोषण के योग्य होते हुए भी उनका शोषण नहीं होता अतः वे अन्य त्याज्य पदार्थों के साथ गुद द्वारा बाहर निकल जाते हैं। कारण यह है कि इन भोज्य पदार्थों को शरीर के पोषणार्थ आंतों की श्लैष्मिक कला में से होकर रक्त में पहुँचना पड़ता है। उक्त श्लैष्मिक कला में से जाने योग्य जो पदार्थ सूक्ष्मातिसूक्ष्म नहीं बन पाते हैं, उनका भोजन में होना और न होना बराबर है। इन खाद्य

१ तेष्वागन्तवोऽभिघातनिमित्ताः। शारीरास्त्वन्नपानमूला वातपित्तकफशोणितसन्निपातवैषम्यनिमित्ता इत्यादि। सुश्रुते सूत्रस्थाने अ० १ गद्य २३।

पदार्थों की पाचन-क्रिया भी होनी चाहिए जो कि लार, जाठर रस तथा अग्न्याशय के द्वारा होती है। पचनक्रिया से खाद्य पदार्थों का रासायनिक विश्लेषण होकर छोटे-छोटे अणुवाले नये यौगिक बनते हैं। ये श्लैष्मिक कला में से होकर रक्त में पहुँचते हैं। साराश यह है कि बिना इस क्रिया के शरीर मन्दिर खडा ही नहीं हो सकता अर्थात् खाद्य पदार्थों की परिणति जब तक अणुवाले यौगिकों मे नहीं होती तब तक शरीर मे रहनेवाले पहले भिन्न पदार्थ इनसे मिलकर पदार्थों की सृष्टि नही होती। इन परिणत पदार्थों से ही शरीर के सेल अपने विशिष्ट प्रकार के पदार्थों को बना लेते हैं। शरीर के अयोग्य पदार्थ परिणति के समय अलग होकर मलरूपेण शरीर के बाहर आ जाते है। साराश, उपर्युक्त रस शरीरपोषक खाद्य पदार्थों का पाचक-रसों द्वारा विश्लेषित अश है और यही आगे चलकर रक्त के रूप में परिणत हो जाता है।

इतरथा पुन शरत्कालस्वभावादेव वा प्रदुष्टम-भिष्यन्दाधिमन्थशुक्रार्मतिमिररक्तराजीशिरस्तोदभेददाहकण्डूकर्णरोगमुखपाकपूतिघ्राणास्योपदेहत्वग्गुल्मप्लीहविद्रधिवीसर्पज्वररक्तपित्तकुष्ठपिटिकाश्लीपदोपदशशोफवातशोणितरक्तमेहक्षुद्ररोगाग्निस्वरनाशाङ्गगौरवसादारोचकाम्लोद्गारलवणास्यताक्रोधमोहस्वेदमदमूर्च्छासन्यासकम्पतन्द्रादीनाम् (योनिरिति पूर्वेण सम्बन्ध)।

दूषितरक्तजन्य रोग—उपर्युक्त विशुद्ध रक्त के विपरीत अर्थात् शरत्काल के स्वभाव तथा मिथ्या आहार-विहारादि से दुष्ट हुआ रक्त अभिष्यन्द-अधिमन्थ-शुक्र-अर्म-तिमिर-रक्तराजी आदि नेत्र के रोग, सिर में टोंचने-भेदने की सी पीड़ा, दाह, कण्डू, कर्णरोग, मुखपाक, मुखपूति (मुख मे दुर्गन्ध), कान और मुख में प्रलेपता, त्वचा-रोग, गुल्म, प्लीहा, विद्रधि, विसर्प, ज्वर, रक्तपित्त, कुष्ठ, पिटिका, श्लीपद, उपदश, शोथ, वातरक्त, रक्तमेह, क्षुद्ररोग (अजगल्लिका-यवप्रख्या-अन्त्रालजी-विवृता-कच्छपिका-वल्मीक-इन्द्रविद्धा, गर्दभिका-पाषाणगर्द भादि), अग्निमान्द्य, स्वरभङ्ग, अङ्गगौरव, अङ्गसाद, अरोचक, अम्लोद्गार (खट्टी डकारे आना), लवणास्यता (मुँह का नमकीन रहना), क्रोध, मोह, स्वेद, मूर्च्छा, सन्यास (लकड़ी सा बेहोश पडना), कम्प, तन्द्रा आदि का जनक (करनेवाला) होता है।

ये च शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यै सर्वदोषप्रतिपद्यै सम्यगप्युपक्रान्ता साध्या अपि न सिध्यन्ति ते च रक्तप्रकोपजास्तस्मात्तेष्वत्युद्रिक्तरक्तविस्रावणाय यथास्व सिरा विध्येत्।

सिराव्यध का मुख्य उद्देश—वातादि समस्त दोषो के जीतनेवाले शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष आदि उपायों के करने से साध्य होते हुए भी जो रोग अच्छे नहीं होते हैं तो समझ लेना चाहिए कि ये रोग रक्तप्रकोप के कारण से उत्पन्न हुए हैं। उन रोगों में अतीव दूषित हुए रक्त को निकालने के लिए उस-उस रोग के अनुसार सिरा को बेधना चाहिए। सारांश यह है कि रक्तप्रकोपजन्य रोगों का शमन सिराव्यधविधि से ही हो सकता है। रक्तप्रकोपज व्याधियों को शमन करना ही सिराव्यध का मुख्य उद्देश है।

१ देहत्वग्गुल्म। २ शखशोफ। ३ मूर्च्छाय इ० पा०।

न तु स्नेहपीतकृतपञ्चकर्मान्यतमगर्भिणीसूतिकाजीर्णिकामलाक्लीबोनषोडशातीतसप्ततिवर्षाभिघातातिस्रुतरक्तादुष्टरक्तातिस्निग्धास्विन्नातिखिन्नाक्षेपकपक्षाघातातिसारच्छर्दिश्वासकासोदररक्तपित्तार्श पाण्डुरोगसर्वाङ्गशोफपीडितानाम्।

सिराव्यध के अयोग्य प्राणी—जिसने स्नेहपान किया हो, वमन-विरेचनादि पञ्चकर्मों में से कोई सा भी कर्म जिसको कराया गया हो, गर्भवती या सूतिका हो, जो अजीर्ण रोगी हो, जो कामला रोग से पीडित हो, जो नपुसक हो, जिसकी अवस्था सोलह साल से कम हो या सत्तर साल से अधिक हो, जिसे चोट लगी हो, जिसके शरीर से बहुत सा रक्त बाहर निकल गया हो, जिसका रक्त दूषित न हो, जो अतिस्निग्ध हो, जिसका स्वेद न निकाला गया हो, जो अतिखिन्न (दु खी) हो, जो आक्षेपक-पक्षाघात-अतीसार-छर्दि-श्वास-कास-उदर-रक्तपित्त-अर्श-पाण्डुरोगवाला हो अर्थात् इनमें से जिसे कोई सा भी रोग हो अथवा जिसके सब शरीर में सूजन हो तो इन सबके लिए सिराव्यध नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार—

न चाव्यधनीयायन्त्रितानुत्थिता सिरा न तिर्यङ् चातिशीतोष्णवाताभ्रेषु।

वेध के अयोग्य सिरा—जिन सिराओं का वेध निषिद्ध है, वेधन योग्य होते हुए भी जो दिखाई न देती हों, दिखाई देती हों परन्तु जिनका उपरि भाग बाधा न गया हो और बाधने पर भी जो ऊपर को न उठ आई हों ऐसी सिराओं का वेध नही करना चाहिए। तिर्यक् अर्थात् तिर्छा वेध नही करना चाहिए और अतिशीत, अतिउष्ण, अतिवात तथा अति बादलों से छाए हुए आकाश के समय में भी सिरावेध नहीं करना चाहिए।

तत्र स्नेहपीतादिषु सम्यग्विद्धा अपि सिरा न स्रवन्त्यतिस्रवन्ति वा। सम्यक्स्निग्धस्विन्नस्य पुनर्नवीभूता दोषा शोणितमनुप्रविष्टा सम्यक् प्रच्यवन्ते। न त्वेव निषेधो विषससृष्टोपसर्गात्ययिकव्याधिषु।

स्नेहपीतादि के सिराव्यधनिषेध का कारण—स्नेहपान किए हुए या स्वेद निकाले हुए आदि के भली भाति सिरावेध होने पर भी उसकी सिराओं से रक्त का स्रवण नहीं होता, यदि होता भी है तो अति रक्तस्राव होता है। इसी प्रकार सम्यक् स्निग्ध और स्विन्न के सिराव्यध करने से उसके पुन नवीन उठे हुए दोष शोणित (रक्त) के साथ मिल कर भली भाति सिराओं से प्रच्युत नहीं होते अर्थात् बाहर नही निकलते। इसी लिए स्निग्ध-स्विन्नादि के लिए सिराव्यधका निषेध किया गया है परन्तु यह निषेध विष के कारण उत्पन्न हुए उपद्रवों तथा व्याधि की आत्ययिक अवस्था में नहीं समझना चाहिए। अर्थात् उक्त अवस्थाओं मे सिराव्यध अवश्य करना चाहिए।

१ न च व्यधनीयाश्चायन्त्रितानुत्थिता। २ याश्चाव्यध्या, व्यध्याश्चादृष्टा, दृष्टाश्चायन्त्रिता, यन्त्रिताश्चानुत्थिता इति सुश्रुत। ३ पुनर्द्रवीभूता। ४ न त्वेष।

विशेष वक्तव्य—सुश्रुत में इस विषय में कुछ अधिक कहा गया है । सिराव्यध के लिए निषिद्ध प्राणियों में वहा बालक, वृद्ध, रूक्ष, क्षतक्षीण, भीरु, थका हुआ, मद्य-मार्ग और स्त्री सग के कारण कृश, वमन-विरेचन-आस्थापन-अनुवासन और जागरण किया हुआ, नपुसक, कृश, गर्भिणी, कास, श्वास, शोष, प्रवृद्ध-ज्वर, आक्षेपक, पक्षाघात, उपवास, तृषा और मूर्च्छा से पीडित इन सब को गिनाए हैं । इन का सिरावेध क्यों नहीं करना चाहिए इसका कारण वाग्भट ने केवल इतना ही कहा है कि—'इनका भली भाति सिरावेध करने पर भी सिराओं से रक्त का स्राव नही होता । यदि होता भी है तो फिर अतिस्राव होता है । अतिस्निग्ध एव स्विन्न का सिरावेध करने से पुनर्द्रवीभूत दोष रक्त के साथ मिल कर भली भाति बाहर नहीं निकलते ।' परन्तु सुश्रुत के टीकाकार डल्लन ने अपनी टीका मे इन सिराव्यध न करने के भिन्न भिन्न कारणों को बताए है। वे कहते हैं कि—बालक और वृद्ध की असपूर्ण धातु के क्षीण हो जाने के भय से सिरावेध नही करना चाहिए । रूक्ष और क्षतक्षीणों के लिए वात-प्रकोप का भय रहता है अत उनका सिरावेध नही करना चाहिए । यहा क्षत से तात्पर्य उर क्षत से अथवा खड्ग आदि से हत से है। क्षीण का अर्थ धातुक्षीण समझना चाहिए । गयदास क्षत और क्षीण को अलग अलग नहीं मानते हुए क्षत से क्षीण ऐसा अर्थ करते है। भीरु मे तमोगुण के बाहुल्य के कारण रक्त के देखते ही उसे मूर्च्छा आने का भय रहता है अत सिरावेध न करे। श्रम करके थके हुए पुरुष का श्रमकुपित वायु रक्तमोक्षण से अति प्रबल हो कर शरीर का नाश कर सकता है इस लिए उस का सिरावेध न करे । मद्य पीनेवाले का मद्यविक्षिप्त चित्त होने से उस में तुरन्त मूर्च्छा का सभव होता है, मार्ग एव स्त्रीसग से कृश मनुष्य में वातप्रकोप का भय रहता है अत मद्यपी, मार्ग चलने से थका हुआ या स्त्रीसग से कृश इन तीनों का सिराव्यध निषिद्ध है। वमन-विरेचनादि के अन्त में भी वायुकोप का भय रहता है । इसी प्रकार आस्थापन-जागरण में भी वायुकोप होता है अत इनका सिरावेध निषिद्ध है। अनुवासित की मन्दाग्निके फिर भी अधिक मन्द हो जाने का डर होता है। नपुसक की प्रधान धातु क्षीण होती है और वह निर्बल होता है अत रक्तस्राव से निश्चित मरण हो सकता है, इस लिए उस की सिरा का वेध नहीं करना चाहिए । दुर्बल और गर्भिणी की धातु के क्षीण होने से देहनाश की शका रहती है । इसी प्रकार कास-श्वास-क्षय-रोगियों की घटी हुई धातुओं के कारण उनके देहनाश की शका रहती है और बढे हुए ज्वर की अवस्था में रक्तस्राव होने से प्रलापादिका भय रहता है। इस लिए सिराव्यध नही करना चाहिए ।

यद्यपि सप्रमाण इस प्रकार बाल-वृद्धादि के सिरावेध का निषेध किया गया है परन्तु इस का अपवाद भी पाया जाता है। यह निषेध साधारण परिस्थिति के लिए है । रोग की आत्ययिक अवस्था में सिरावेध कर भी सकते है जैसे कि ऊपर कहा गया है कि 'यह निषेध विषससर्ग से उत्पन्न उपद्रव एव आत्ययिक रोग की अवस्था मे नहीं मानना चाहिए। इसके प्रत्यक्ष उदाहरण आधुनिक शस्त्र चिकित्सा में यत्र तत्र मिलते हैं । जैसे कि बच्चों के श्वासकृच्छ्र, खासी और तीव्र ज्वर के होने पर अर्थात् ब्रोंकोन्युमोनिया (Broncho Pneumonia), श्वास की कृच्छ्रता के साथ श्वासयन्त्रशोथ (Laryngitis) की अवस्था में गले की सिरा का वेध करने से लाभ होता है । गर्भिणी के गर्भाक्षेपक एव गर्भापतानक (Eclampsia) की अवस्था में शरीरगत विष का निर्हरण करने के लिए सिरावेध करने से बहुत लाभ होता है । रक्तभार अधिक बढ जाने पर पक्षाघात में भी सिरावेध कर रक्त निकालने से बडा लाभ होता है परन्तु यदि रक्त के जमाव या अन्त शल्यता के कारण पक्षाघात हुआ हो तो सिरावेध नहीं करना चाहिए। साराश, पक्षावात में सिरावेध का विधि और निषेध दोनों ही है।

अवेध्य सिराए—कहा गया है कि जिन के वेध का निषेध किया गया है उन सिराओं में वेध न करें क्यों कि उनके वेध से शरीर के नाश का भय रहता है । शरीर के भिन्न भिन्न भागों में अवेध्य सिराए इस प्रकार हैं।—

अध शाखामें—**जालधरा** (Great Sapponous Vein), **ऊर्वी** (Eomoralartery and Vein) **तथा लोहिताक्ष ।**

ऊर्ध्व शाखा में—**जालधरा** (Ceppalic Vein) **ऊर्वी** (Brachial Vessels) **तथा लोहिताक्ष** (Axxillary Vessels)

श्रोणी में—**विटप** (Spermatic Vessels) **और कटीक-तरुण** (Gluteal Vessels)

पृष्ठ में—**बृहती** (Subscapular artery) **तथा मेढ्रोपरि** (Inferior epigastric Vessels)

वक्ष स्थल में—**स्तनमूलादि** (Internal mammary and Interal thoraeic Vessels)

ग्रीवा में—**मातृका** (Carotid arteries and Jugular Veins), **कृकाटिका** (Occipital Vessels) **और विधुर** (Posterior auricular Vessels)

हनु में—**हनुसन्धि** (Internal maxillary Vessels)

जिह्वा में—**रसवहे, वाग्वहे** (Deep Lingnal Vessels)

नासा में—**औपनासिकी** (Angular Vessels)

नेत्र में—**अपाङ्ग** (Eygomaties-temporal Vessels)

कर्ण में—**शब्दवाहिनी** (Anterior tympanic Vessels)

ललाट में—**केशान्तानुगता** (Supraorbital, Superficial temporal Vessels), **आवर्त** (Frontal branch of the Superficial tempora), **स्थपनी** (Nasal branch of the frontal Vein), **शखसन्धिगत** (Superficial temporal Vessels), **उत्क्षेप** (Parietal branch of the Superficial temporal) **तथा सीमन्त-अधिपति** (Branches of the Secipital and Superficial Vessels)

प्रतिरोगे तु व्यध प्रतिविभाग. । शिरोनेत्ररोगेषु ललाट्या उपनास्यापाङ्ग्या वा। कर्णरोगेषु परित कर्णौ। नासारोगेषु नासाग्रे प्रतिश्याये तु नासाललाटस्था ।

---

१ 'बालस्थविररूक्षक्षतक्षीणभीरुपरिश्रान्तमद्यध्वस्त्रीकर्षितवमितविरिक्तास्थापितानुवासितजागरितक्लीबकृशगर्भिणीना कासश्वासशोषप्रवृद्धज्वराक्षेपकपक्षाघातोपवासपिपासामूर्च्छाप्रपीडिताना च सिरा न विध्येत्' इति।

मुखरोगेषु जिह्वौष्ठतालुहनुगा। जत्रूर्ध्वं ग्रन्थिषु ग्रीवाकर्णशङ्खमूर्द्धगा। अपस्मारे हनुसन्धिमध्यगा। उन्मादे तूरोऽपाङ्गललाटगा। विद्रधौ पार्श्वशूले च पार्श्वकक्षास्तनान्तरस्था। चतुर्थके स्कन्धाधोगतानामन्यतरपार्श्वाश्रयाम्। तृतीयकेऽसयोरन्तरे त्रिकसन्धिमध्यगताम्। प्रवाहिकाया शूलिन्या श्रोण्यो' समन्ताद् व्यङ्गुले। निर्वृत्तोपदशशुक्रव्यापत्सु मेढ्रे। गलगण्ड ऊरुमूलसश्रिताम्। गृध्रस्या जानुसन्धेरुपर्यधो वा चतुरङ्गुले। अपच्यामिन्द्रबस्तेरधस्ताद् व्यङ्गुले। क्रोष्टुकशीर्षसक्थिवातरुजासु गुल्फस्योपरि चतुरङ्गुले। श्लीपदेषु यथास्व वक्ष्यते। पाददाहहर्षचिप्पवातशोणितवातकण्टकविपादिकापाददारीप्रभृतिषु पादरोगेषु क्षिप्रमर्मण उपरिष्टाद् व्यङ्गुले। एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ। विशेषतस्तु वामबाह्वाभ्यन्तरतो बाहुमध्ये प्लीहोदरे। एवमेव च दक्षिणबाहौ यकृदाख्ये। तथा कास श्वासयोरप्यादिशन्ति। गृध्रस्यामिव विश्वाच्याम्। बाहुशोषावबाहुकयोरप्येके। अदृश्यमानासु चैतास्वतिप्रवृद्धव्याधेरन्यव्याध्युक्तानामपि यथासन्न व्यध।

रोगानुसार सिराव्यध—अब प्रत्येक रोग के अनुसार सिरा वेध को कहते हैं अर्थात् किस किस रोग में कहा कहा की किस सिरा को वेधना चाहिए, यह बतलाते हैं।

शिरोरोग तथा नेत्ररोग में—ललाट की, उपनास्या (नासा के समीपवर्ती) तथा अपाङ्ग अर्थात् नेत्रों के पास की सिरा का वेध करना चाहिए। इस विषय में अष्टाङ्गहृदय के टीकाकार चन्द्रनन्दन कहते हैं कि—'शिरोरोग तथा नेत्ररोग की अवस्था में कभी नासिका की, कभी ललाट पर की तथा कभी ललाट एव नेत्र, ललाट एव नासिका इन दोनों की सिरा का वेध करना चाहिए[1]।

कर्णरोग में[2]—कान के आस पास की सिरा का वेध करना चाहिए।

नासागत रोगों में—नासिका के अग्रभाग की किन्तु—

प्रतिश्याय में—नासाललाटस्था अर्थात् नासिका और ललाट के बीच की सिरा का वेध करना चाहिए[3]।

मुख रोगों में—जिह्वा, होंठ, तालु और चिबुक इन में की किसी भी सिरा का वेध करे।

जत्रूर्ध्वग्रन्थियों में—जत्रूर्ध्व अर्थात् वक्षस्थल और कन्धों के ऊपर की ग्रन्थियों में ग्रीवा, कान, शख और मस्तक की सिराओं का वेध करे।

अपस्मार रोग मे—ठोडी की सन्धि के बीच की सिरा को वेधना चाहिए।

उन्माद में—छाती, नेत्रों के समीप की तथा सिर की सिरा का वेध करे।

विद्रधि तथा पार्श्वशूल में—पसवाडे, काख (बगल) और स्तनों के बीच की सिरा वेधे।

चतुर्थक ज्वर में—कन्धों के नीचे के भाग की सिरा को अर्थात् पसवाडे की सिरा[1] को तथा—

तृतीयक ज्वर में—कन्धों की सन्धियों के बीच की सिरा को वेधना चाहिए[2]।

शूलसहित प्रवाहिका में—कटि से दो अङ्गुल अन्तर की सिरा का वेध करे।

उपदशजनित वीर्यविकार में—मेढ्र (लिंगेन्द्रिय) की सिरा को वेधना चाहिए।

गलगण्ड में—ऊरुमूलसश्रिता (दोनों ऊरुओं के मूल[3] की) सिरा का वेध करे। अष्टाङ्गहृदय के 'ऊरुगा गलगण्डयो' इस वाक्य के द्विवचन को देखकर हेमाद्रि ने गलगण्ड के साथ गण्डमाला का भी समावेश किया[4] है।

गृध्रसी में—जानुओं की सन्धियों के ऊपर और अधोभाग में चार अङ्गुल अन्तर की सिरा का वेध करना चाहिए।

अपची में—इन्द्रबस्ति (जङ्घा) के मर्मस्थान[5] के अधोभाग में दो अङ्गुल अन्तर की सिरा का वेध करना चाहिए।

अरिग्पीडा तथा क्रोष्टुशीर्ष में—अर्थात् ऊरुपीडा एव जानु रोगविशेष क्रोष्टुशीर्ष में गुल्फों के ऊपर चार अङ्गुल पर की सिरा का वेध करना चाहिए।

श्लीपद में—सिरावेध की बात श्लीपद रोग के प्रकरण में आगे कही जावेगी।

पाददाह, पादहर्षादि रोगों में—अर्थात् पगों की जलन, पादहर्ष, चिप्प, वातरक्त, वातकण्टक, विपादिका, पाददारी प्रभृति रोगों मे क्षिप्र नामक मर्म के उपरि भाग में दो अङ्गुल के अन्तर पर की सिरा का वेध करे। क्षिप्रमर्म अगूठे और अङ्गुली के मध्य में होता[6] है। इसी वर्णन से अन्य सक्थिगत तथा बाहुगत रोगों को भी जान लेना चाहिए।

प्लीहोदर में—बाएँ हाथ की या हाथ के मध्य की सिरा को वेधना चाहिए।

यकृत् रोग में—दक्षिण (दाहिना) हाथ की तथा बाहु के मध्य की सिरा का वेध करे।

कास और श्वास रोग में—पूर्वोक्त प्रकार से दोनों बाहु एव बाहुओं के मध्य की सिरा का वेध करना चाहिए।

विश्वाची रोग मे—विश्वाची अर्थात् बेंवची रोग में गृध्रसी रोग में जिस प्रकार कहा गया है उसी प्रकार जानुओं की सन्धियों के ऊपर और अधोभाग की चार अगुल के अन्तर से सिरा को वेधना चाहिए।

बाहुशोष और अवबाहुक में—भी उपर्युक्त सिरा का ही वेध करे।

अदृश्य सिराओं के विषय में—यदि व्याधि बढ़ी हुई हो और अभीष्ट सिरा न दिखाई देती हो तो वैद्य को चाहिए कि वह अन्य व्याधियों मे कथित उन सिराओं का वेध करे जो समीप में हों। साराश, इस प्रकार करने से भी अभीष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है।

१ कदाचिल्ललाटस्था कदाचिन्नासास्था कदाचिदुभयस्थामपीति। २. कर्णसमीपभवामित्यरुण। ३. नासाललाटमध्यस्थामित्यरुणदत्त।

१ स्कन्धस्याधोगताम्-अन्यतरपार्श्वाश्रयाम्। २ 'असयोर्मध्ये स्कन्धसन्धौ स्थिता सिराम्, इत्यरुण। ३ गलगण्डयोश्चोभयोरूरु स्थानम्। ४ द्विवचनसामर्थ्याद्गण्डमालाग्रहणमिति। ५ इन्द्रबस्ति-जङ्घामध्ये मर्मेति हेमाद्रि। ६ क्षिप्रम्-अङ्गुष्ठाङ्गुलिमध्ये मर्मेति हेमाद्रि।

प्रागेव चोपकल्पयेच्छयनासनोदकुम्भवस्त्रपट्टादि। तथा यथालाभं च तगरैलाशीतशिवकुष्ठपाठाविडङ्गभद्रदारुत्रिकटुकागारधूमहरिद्रार्काङ्कुरनक्तमालचूर्णमसृक्स्रावणाय। असृक्स्थापनाय च रोध्रमधुकप्रियङ्गुपत्तङ्गगैरिकरसाञ्जनशाल्मलीशङ्खयवगोधूममाषचूर्णम्। वटाश्वत्थाश्वकर्णपलाशबिभीतकसर्जार्जुनधन्वनधातकीसालसाराररिमेदतिन्दुकत्वगङ्कुरनिर्याससश्रीवेष्टकमृत्कपालमृणालाञ्जनचूर्णम्। क्षौममषीलाक्षासमुद्रफेनचूर्णं वा तथाऽन्यच्चातिस्रुतरक्तव्यापत्प्रतीकारोपकरणम्। सज्जोपकरणो हि न वैद्यो मोहमाप्नोति।

सिराव्यध के लिए उपकरण—वैद्य को चाहिए कि वह सिरा व्यध कर्म की सुसपन्नता के लिए सबसे प्रथम रोगी के लिए लेटने और बैठने की जगह, जल का घडा, वस्त्र, पट्ट आदि की व्यवस्था कर लेवे तथा रक्तविस्रावण के लिए यथालाभ (जो जो वस्तु मिल सके) तगर, इलायची, शीतशिव (कपूर), कूट, पाढ, बायविडग, देवदारु, सोंठ, मिरच, पीपल, घर का धुवाँ, हल्दी, आक के अकुर और कजे के बीज इन सबका चूर्ण। रक्तास्थापन के लिए लोध, मुलेठी, प्रियगु, पतग की लकड़ी, गेरू, रसौत, सेंम्हल (शाल्मली की छाल या पुष्प), शंख, जव, गेहू तथा उड़द इन सबका चूर्ण तथैव बड, पीपल, अश्वकर्ण पलास, बहेडा, राल, अर्जुन-धव-धातकी-सालसार-अरिमेद (खदिरविशेष), तेन्दू इन सबकी छाल, अकुर और गोंद, श्रीवेष्ट (गन्धा विरोजा) मिट्टी का ठीकरा, कमल और सुर्मा इन सबका चूर्ण। क्षौम (पट्टवस्त्र) की स्याही, लाख, समुद्रफेन इन सबका चूर्ण तथा और भी निकलते हुए रक्त को बन्द करनेवाले उप रण। इस लिए कि उपकरणों से सुसज्जित वैद्य मोह को प्राप्त नहीं होता अर्थात् फिर उसके सामने किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं आती।

अथ कृतस्वस्त्ययनमातुरं व्याधिबलसात्म्याद्यपेक्ष्य[1] स्निग्धं जाङ्गलरसं यवागूं च पाययित्वा मुहूर्त्तमात्रमाश्वासितं पूर्वाह्णेऽपराह्णे वाङ्गारातपोष्णबाष्पान्यतमस्विन्नं जानूच्छ्रिते मृदावासने जानुनिहितकूर्परं समस्थितपादं प्रत्यादित्यमुपवेशयेत्। केशान्ते च प्लोतचर्मवल्क[2]पट्टान्यतमेन बध्नीयात्। ततश्चायतेन वस्त्राङ्गुष्ठगर्भेण मुष्टिद्वयेनातुरो यथास्वं मन्ये निपीडयेद्दन्तैश्च दन्तान्। गण्डौ चाध्मापयेत्। पुरुषश्चैनं पृष्ठतो वस्त्रं कृकाटिकान्तरन्यस्तवामप्रदेशिनीको नातिगाढं ग्रीवायां परिक्षिप्य वेष्टयन्वस्त्रं प्राणानबाधमानो यन्त्रयेत्। इत्येषोऽन्तर्मुखवर्ज्यानां सिराणां व्यधने यन्त्रविधिः। ततश्चास्य वैद्योऽङ्गुष्ठनिष्टब्धया मध्यमाङ्गुल्या सिरां ताडयेत्। उत्थिता च स्पन्दमाना स्पर्शादभिलक्ष्यं[3] वामहस्तेन कुठारिकामूर्ध्वदण्डां कृत्वा सिरामध्ये न्यस्य लक्षयित्वा च तथैव मध्यमाङ्गुल्या ताडयेदङ्गुष्ठोदरेण वा पीडयेत्।

गूढबहलत्वक्प्रतिच्छन्नायामङ्गुष्ठापीडनादुन्नमनमुपलक्षयेत्। उत्काशनेन[1] क्रोधसरम्भेण चापूर्यन्ते सिराः।

सिराव्यधविधि—जिसका सिराव्यधविधि द्वारा रक्तविस्रावण कराना हो तो उस रोगी को पहले मङ्गल-होमसहित स्वस्तिवाचन करावे और फिर उसकी व्याधि के बलाबल, सात्म्यासात्म्यादि को भली भांति देखकर उसको जागल-प्राणियों का मांसरस तथा यवागू पिलाकर स्निग्ध करे। मुहूर्त्तमात्र ठहरकर फिर पूर्वाह्ण या अपराह्ण मे अग्नि, धूप, उष्ण बाफ इनमें से किसी एक के द्वारा स्वेदित करके फिर जानुप्रमाण (गोडे के बराबर) ऊचे नरम आसन पर दोनों पग समान रहे, इस प्रकार सूर्य के सामने बिठावे। ध्यान रहे कि उस समय उसकी दोनों कोहनिया गोड़ों पर रहे। उसके सिर के बालों को नरम वस्त्र, चर्म, वल्कल या रेशमी वस्त्र इनमे से किसी एक से बाध देवे। इसके अनन्तर जिनमें वस्त्र और अगुष्ठ हैं ऐसी अपनी दोनों मुट्ठियों से रोगी अपनी मन्या (गर्दन) को दोनों ओर से यथेच्छ दबावे। परस्पर दांतों से दांतों को दबावे। गालों को फुला देवे। फिर इस पुरुष को पीठ की ओर से गर्दन में वस्त्र डालकर इस प्रकार कसकर बाध दे कि उसके प्राणों को बाधा न होने पावे। ध्यान रहे कि इस वस्त्र को गर्दन पर डालते समय बाए हाथ की तर्जनी अगुली से उसके गर्दन की सिरा को दबाकर फिर बांधे। यह सिराव्यधविधि अन्तर्मुख अर्थात् मुंह के अन्दर की सिराओं को छोडकर जो ऊपर से दिखाई देनेवाली सिरा हैं उनको वेधन के लिए है। वैद्य को चाहिए कि वह रोगी की सिराओं को ऊची उठाने के लिए अगूठे पर ठहराई हुई अपनी मध्यमा अगुली से सिरा पर ताडन करे और फिर स्पर्श करके देखे। यदि सिरा ऊची उठी हुई, स्पन्दमान (फडकती) हुई देखे तो वैसे ही पूर्वोक्त प्रकार से मध्यमा अगुली या अगूठे से पुनरपि दबावे। इस प्रकार मध्यमा या अगूठे से दबाने पर मोटी चमड़ी के कारण छिपी हुई या भीतर घुसी हुई सिरा ऊपर को उठ आई है, यह देखे। उत्काशन या उत्कसन अर्थात् ग्रीवागत सिरा के दबाने से वह सिरा कुपित सी होकर ऊपर को उठती है और रक्त से पूरित हो जाती है। सारांश यह है कि फिर वैद्य के लिए अच्छा सुभीता हो जाता है और वह सुख से रक्तविस्रावण कर सकता है।

अङ्गुष्ठेन तु नासाग्रमुन्नमय्य व्रीहिमुखेनोपनासिकां विध्येत्। उन्नमितविदष्टाग्रजिह्वस्याधोजिह्वायाः। विवृतास्यस्य तालुनि दन्तमूले च। ग्रीवासिरासु स्तनयोरुपरि यन्त्रम्। उदरोरसोः प्रसारितोरस्कस्योन्नमितशिरसः। बाहुभ्यामालम्बमानस्य पार्श्वयोः। उन्नमितमेढ्रस्य मेढ्रे। श्रोणीपृष्ठस्कन्धेषून्नमितपृष्ठस्यावाक्शिरसः उपविष्टस्य। विश्वाचीगृध्रस्योरनाकुञ्चिते कूर्परे जानुनि वा सुखोपविष्टस्य गूढाङ्गुष्ठबद्धमुष्टेर्व्यधनीयप्रदेशस्योपरि चतुरङ्गुले प्लोताद्यन्यतमेन बद्ध्वा हस्तसिराम्। एवमेकपादं सुस्थितं स्थापयित्वान्यपादमीषत्सङ्कुचितं

१. सात्म्याद्यवेक्ष्य। २. वल्कल। ३ स्पर्शादा वाऽभिलक्ष्य।

१ उत्कसनेन। २ 'उत्कसन कण्ठं निष्पीड्य कसनम्' इतीन्दु।

तस्योपरि निधाय जानुसन्धेरधो हस्ताभ्यामागुल्फ निपीड्य पूर्ववद्बद्ध्वा पादसिरा व्यधेत्। तत्र तत्र च तैस्तैरुपायैर्विकल्प्य यन्त्रयेत्। तत्र मांसलेष्ववकाशेषु यवमात्रं व्रीहिमुखेन। अतोऽन्यथाऽर्धयवमात्रं व्रीहिमात्रं वा। अस्थ्नामुपरि कुठारिकयाऽर्धयवमात्रम्। सर्वत्र चानुत्तानामगाढमृज्वसंकीर्णं समं मर्माद्यनुपघाति सिरामध्ये शस्त्रमाशु पातयेत्।

स्थानपरत्व सिराव्यध—अब स्थानविशेष से सिराव्यधविधि का वर्णन करते हैं। यथा—

उपनासिका पर—सिराव्यध करना हो तो अंगूठे से नासा के अग्रभाग को उठाकर व्रीहिमुख शस्त्र से वेध करे।

मुखरोगों में—जिह्वा की सिरा का वेध करना हो तो दांतों से जीभ को तालु की ओर उलटा कर फिर जीभ के नीचे की सिरा को वेधना चाहिये।

तालु और दन्तमूल में—सिरावेध करना हो तो रोगी के मुख को फाड़ कर फिर करे।

ग्रीवा में—सिरावेध करना हो तो दोनों स्तनों के ऊपर की सिरा का वेध करे।

उदर और छाती में—सिरावेध करना हो तो छाती को पसार रोगी के सिर को ऊंचा उठाकर करना चाहिए।

पार्श्वभाग में—सिरावेध करना हो तो रोगी अपने दोनों बाहु ऊंचे उठा लेवे तब करे क्योंकि तभी पसवाड़े की सिरा ठीक दिखाई दे सकती है।

लिङ्गेन्द्रिय में—सिरावेध करना हो तो लिङ्ग को ऊपर की ओर उठाकर फिर नवाकर वेध करे। सुश्रुत में लिखा है कि लिङ्ग को नीचे की ओर नवाकर करे परन्तु यह ठीक नहीं प्रतीत होता है। सिरावेध के समय शिश्न का हर्षित एवं रक्त से पूर्ण होना आवश्यक है। इसी लिए वाग्भट ने अष्टाङ्गहृदय में 'प्रहृष्टे मेहने' लिखा है और वैसे ही यहां 'उन्नमितमेढ्रस्य मेढ्रे' कहा गया है। प्रहृष्ट होने पर लिङ्ग का उत्थान होता है, तब जरा दबाकर सिरावेध किया जाता है।

जंघा, पीठ और कन्धों में—सिरावेध करना हो तो पीठ को ऊंची उठाकर कुछ भी न बोलते हुये और सिर को न हिलाते हुये करना चाहिये।

विश्वाची और गृध्रसीमें—विश्वाची अर्थात् बेंवची और गृध्रसी मे सिरावेध करना हो तो कुहनियों तथा गोडों को संकुचित न करते हुए, भली भांति बैठे हुए, अंगूठे को भीतर लेकर, दृढ मुट्ठी बांधे हुए रोगी के सिरावेध की जगह से ऊपर की ओर चार अंगुल पर कपड़े या अन्य किसी रस्सी आदि से मजबूत बांध कर हाथ की सिरा का वेध करे।

पादसिरा में—वेध करना हो तो इसी प्रकार एक पग को मजबूत टिका कर, दूसरे पग को कुछ मोड़ कर पहले टिकाए हुए पगपर रक्खे और फिर जानु (गोडों) की सन्धि के नीचे के भाग को गुल्फ (गिरियों) तक भली भांति पीडन कर (दबा कर या मर्दनकर) फिर हाथ की सिरा की तरह वेधस्थान से ऊपर चार अंगुल पर बांधकर पग की सिरा का वेध करे। इसी प्रकार जहां जहां उचित समझे समुचित उपायों द्वारा नियन्त्रण करे अर्थात् अनुक्त सिरावेधन के लिए भी कल्पना करके प्रयोग करे।

मांसल आदि स्थानों में—अर्थात् जहां अधिक मांस हो उस स्थान में व्रीहिमुख शस्त्र से एक यवमात्र वेध करना चाहिए। इसके विपरीत अल्पमांसवाले स्थान में आधे यव के बराबर वेध करे।

अस्थियों पर—वेध करना हो तो कुठारिका शस्त्र से आधे यव के बराबर वेध करे अर्थात् आधे यव से अधिक वेध करके क्षत न करे।

शिराव्यधार्थ शस्त्र—वैद्य को चाहिए कि वह सिरावेध के लिए सर्वदा सर्वत्र ऐसे शस्त्र से काम ले जो बहुत लम्बा तथा बहुत मोटा न हो, टेढ़ा और टूटा-फूटा न हो और मर्मस्थान में घात करनेवाला न हो, ऐसे शस्त्र का ही उपयोग किया करे जिससे बहुत जल्दी कार्य सिद्ध हो जाय।

एकप्रहाराभिहता धारया या स्रवेदसृक्।
मुहूर्त्तरुद्धा तिष्ठेच्च सम्यग्विद्धेति तां विदुः॥
अल्पकालं वहत्यल्पं दुर्विद्धा तैलचूर्णनैः।
सशब्दमतिविद्धा तु स्रवेद् दुःखेन धार्यते॥

सम्यग्विद्धादि लक्षण—एक ही बार के शस्त्रपात करने पर जो रक्त धारारूप से चलता और एक मुहूर्त्त के बाद आप ही बन्द हो जाता है, यह सम्यग्विद्ध सिराका लक्षण है। शस्त्रपात करने पर अल्पकाल तक जो थोड़ा थोड़ा रक्त चलता है तथा तैलचूर्णादि प्रयत्न करने पर भी जो रक्तस्राव स्वल्प ही होता है—सम्यक्तया रक्तविस्रावण नहीं होता यह दुर्विद्धसिरा का लक्षण है। शस्त्रपात करने पर जो शब्दसहित निकलता हुआ रक्त बड़े दुःख से धारण किया जाता है अर्थात् रोकने से भी नहीं रुकता, वह अतिविद्ध सिराका लक्षण है।

सम्यग्विद्धानामपि च सिराणामवहनकारणानि मूर्च्छा भयं यन्त्रशैथिल्यमतिगाढत्वमत्याशितता क्षामत्वं कुण्ठशस्त्रव्यधो मूत्रितोच्चारित्वं दुःस्विन्नता कफावृतव्रणद्वारता चेति।

रक्ताप्रवृत्ति के कारण—कभी कभी सम्यक् प्रकार से सिरावेध होने पर भी ऐसे कारण उपस्थित हो जाते हैं जिनसे रक्त का विस्रावण नहीं होता अपितु रक्त बहना बन्द हो जाता है। वे कारण ये हैं—मूर्च्छा, सिराव्यध के समय डरना, यन्त्र की शिथिलता, रक्त का अति गाढ़ा होना, अति आहार, दौर्बल्य (रक्त की कमी), कुण्ठित (अतीक्ष्ण) शस्त्र से सिराव्यध करना, सिराव्यध के समय मे मल-मूत्र की प्रवृत्ति होना, दुःख से स्विन्नता तथा कफ से व्रण के द्वार या मुख का बन्द हो जाना।

अथाप्रवृत्तिकारणं यथास्वमुपलक्ष्य प्रतिकुर्यात्। तगरादिचूर्णेन च तैललवणप्रगाढेन सिरामुखमवचूर्णयेत्। पृष्ठमध्ये चातुरं पीडयेत्। एवं साधु वहति। सम्यक्प्रवृत्ते कफानिलोपशमनरक्ताविच्छेदनार्थमुष्णलवणतैलबिन्दुभिः सिरामुखं सिञ्चेत्।

१ 'अवनामितमेढ्रस्य मेढ्रे' इति

रक्तविस्रावणोपाय—उपर्युक्त रक्त की अप्रवृत्ति के कारणों को यथावत् जान कर उसके उपायको करे। तेल और नमक से मिश्रित पूर्वोक्त तगरादि चूर्ण (तगर, इलायची के दाने, कपूर, कूठ, पाठ, बायविडग, देवदारु, सोंठ, मिरच, पीपल, घर का धुँवा, हल्दी, आक की कोंपल और कजे के बीजों का चूर्ण) सिरा के मुखपर छिड़के तथा रोगी की पीठ को अच्छी तरह दबावे। इस प्रकार करने से रक्त अच्छी तरह से बहने लगता है। भली भाति रक्त की प्रवृत्ति हो जाने पर कफ और वायु की शान्ति तथैव रक्त की अविच्छेदता के लिए उष्ण नमक और तेल के बूदों से सिरा के मुख का सेचन करे।

अग्रे स्रवति दुष्टास्रं कुसुम्भादिव पीतिका ।
सम्यक् स्रुत्वा स्वय तिष्ठेच्छुद्ध तदिति नाहरेत् ॥

शुद्ध और अशुद्ध रक्तको जानना—उपर्युक्त चूर्णादि-विधिके करने से पहले दुष्ट रक्त का स्राव ऐसे होता है जैसे कि कुसुम्भ के क्षुप से असली कुसुम्भा न निकल कर हल्दी की तरह एक पीला द्रव्य निकलता है किन्तु असली कुसुम्भा क्षुप के पुष्प में बना रहता है। ठीक इसी प्रकार सिराव्यध करने से पहले अच्छी तरह दूषित रक्त का स्राव होता है परन्तु शुद्ध रक्त स्वय शरीर में स्थिर रहता है। उस शुद्ध रक्त का विस्रावण नही करना चाहिए।

यस्य तु स्रवति रक्ते मूर्च्छा जायते तस्य विमुच्य यन्त्र शीतसलिलार्द्रपाणिस्पर्शेन व्यजनवायुना श्रोत्रसुखेन वचसा च समाश्वासयन्नुपशमय्य मूर्च्छां पुन स्रावयेत्। पुनर्मूर्च्छत्यपरेद्युस्त्र्यहेऽपि वा। परन्तु रुधिरावसेचनप्रमाण प्रस्थ। अतोऽन्यथा व्याधिदेहर्तुबलमपेक्षेत।

सिराव्यध के समय मूर्च्छा का उपाय—जिसको सिरावेध के समय रक्तस्रवणावस्था में मूर्च्छा आ जाय तो उसके शरीर में लगे हुए यन्त्र को हटाकर शीतल जल से आर्द्र हाथों के स्पर्श से, पखे की हवा से, सुनने मे सुख प्राप्त हो ऐसे वचनों से उसको आश्वासन देकर मूर्च्छा को दूर कर पुन रक्तविस्रावण करे। पुनरपि मूर्च्छा आ जाय तो उस दिन को छोड़कर दूसरे या तीसरे दिन रक्तविस्रावण करे परन्तु रक्त का विस्रावण प्रमाण एक प्रस्थ रहे। नहीं तो फिर देह, ऋतु, बलाबल तथा व्याधि का विचार भली भाति करने के अनन्तर रक्त का निर्हरण करे। ध्यान रहे कि इसमें प्रस्थ का प्रमाण १३॥ साढे तेरह पलका माना गया है। इसके प्रमाण में कहा है कि वमन, विरेचन तथा रक्तमोक्षण में बुद्धिमानों ने साढे तेरह पलका एक प्रस्थ[१] माना है।

तत्र फेनिलमरुण श्यावमच्छ रूक्षमस्कन्दि कषायानुरस लोहगन्धि वेगस्रावि शीत च रक्त वातात्। गृहधूमाञ्जनोदककृष्ण पीत हरितं विस्रं मत्स्यगन्धि कटुत्वान्मक्षिकानिष्टमौष्ण्यादस्कन्दि सचन्द्रक गोमूत्राभ च पित्तात्। कोविदारपुष्पगैरिकोदकापाण्डु शीत स्निग्ध स्कन्दि घन पिच्छिल तन्तुमद् व्रणद्वारावसादि लवणरस वसागन्धि च कफात्। द्वन्द्वसकीर्ण ससर्गात्। कसनीलमाविल दुर्गन्ध च सन्निपातात्। शुद्धमुक्त प्राक्।

वातादिदूषित रक्तके लक्षण—जो फेनवाला, लाल, मलिन, श्वेत, रूखा, बिखरनेवाला, पतला जिसके पश्चात् कषाय रस हो, लोह के समान गन्धवाला, वेग से जिसका स्राव हो और ठण्डा रक्त हो तो उसे वायु से दूषित जानना चाहिए। जो घर के धुँवे के समान तथा सुर्मे के समान वर्णवाला, कृष्ण जल के समान, पीला, हरा, दुर्गन्धित, मछली की सी गन्धवाला, कटु होने से जिसको मक्खी नही चाहती, उष्णता के कारण न जमनेवाला, चन्द्रिका-सहित और गोमूत्र के समान जो रक्त होता है, उसे पित्त से दूषित रक्त समझना चाहिए। जो कचनारपुष्प एव गेरू के पानी की तरह पाण्डुवर्ण हो, शीत, स्निग्ध, जमा हुआ, गाढा, फिसलनेवाला, तन्तुवाला, व्रण के द्वारा वसादि जिसमे दिखाई दे, या व्रण के द्वार पर ही रुक जानेवाला, नमकीन, चर्बी के समान गन्धवाला रक्त कफदूषित समझना चाहिए। जिसमें वात-पित्त, कफ-वात, पित्त-कफ के लक्षण मिलते हों तो उसे द्विदोषदूषित रक्त समझना चाहिए। कस (मात्रिक विशेष या कासे) की तरह नील, आविल (मैला) और अतीव दुर्गन्धित रक्त सन्निपात अर्थात् त्रिदोष से दूषित जानना चाहिए। शुद्ध रक्त के लक्षण इसी अध्याय के आदि मे कह चुके हैं।

तत स्रुतरक्तस्य व्यधमनुलोममङ्गुष्ठेनोपरुध्य शनै[१]र्यन्त्रमपनीयाश्वासयेत्। सतैल च प्लोत सिरामुखे दत्त्वा बध्नीयात् सवेशयेच्चैनम्। अतिष्ठति रक्ते सिरामुख सधातु पूर्वोक्तैश्चूर्णैरवचूर्ण्याङ्गुल्यग्रेण पीडयेत्। शाल्युपोदकापिच्छा[२] वा व्रणमुखे दत्त्वा गाढ बध्नीयान्मधूच्छिष्टप्रलिप्त वा पट्टम्। शीताम्बुना वा सिञ्चयेत्। शीतमधुरकषायान्नपानैः सेकप्रदेहप्रवातवेश्मभिर्वा स्कन्दनायोपचरेत्। पद्मकादिक्वाथ शर्करामधुमधुर क्षीरमिक्षुरसमेणहरिणाजोरभ्रमहिषवराहाणामन्यतमस्य सिरा विद्ध्वा रुधिरमाम घृतभृष्ट वा पान दद्यात्। तेनैव वा दर्भपादमृदितेनानुवासयेत्। स्निग्धैश्च यूषरसैर्भोजयेत्। व्यधादनन्तर वा पुनस्तामेव सिरा विध्येत्। सर्वथा चानवतिष्ठमाने पाचनाय क्षार दद्यात्। सकोचयितुं वा सिरामुख तप्तशलाकया दहेत्। न च क्षणमप्युपेक्षेत। क्षीररक्तस्य हि वायुर्मर्माण्युपसगृह्य मूर्च्छासज्ञानाशशिर कम्पभ्रममन्यास्तम्भापतानकहनुग्रहहिध्मापाण्डुत्वबाधिर्यधातुक्षयाक्षेपकादीन् करोति मरणं वा।

प्राणाः प्राणभृता रक्त तत्क्षयात्क्षीयतेऽनल ।
वर्धते चानिलस्तस्माद्युक्त्या बृहणमाचरेत् ॥
अशुद्ध तु रक्तमपराह्णेऽन्येद्युर्वा पुनः स्रावयेत् ।

१ 'वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे। सार्धत्रयोदशपल प्रस्थमाहुर्मनीषिण ॥' इति तन्त्रान्तरे।

१ शनै शनैश्च इ० पा०। २ शाल्मल्युपोदकापिच्छाम्।

ततोऽपि शेष सर्वथा वाऽस्य विस्राव्यरक्तस्य शीतसेक प्रदेहविरेकोपवासस्निग्धमधुरान्नपानै प्रसादयेत्। मा समात्र वा स्नेहादिभिरुपचर्य पुनर्विध्येत्। दुर्व्यधातिव्यधकुट्टिततिर्यग्व्यधादेर्व्यधदोषाद्व्यापदो या स्युस्ता यथास्व साधयेदिति।

रक्तस्रावण में पश्चात्कर्तव्य—जब भलीभाति रक्त निकल जाय तब व्यध की जगह को सीधी अगूठे से दबाकर, रक्त को बन्द करके, धीरे-धीरे यन्त्र को दूर कर रोगी को आश्वासन देवे। सिरा के मुख पर तेल से तर किया हुआ कपड़े का टुकड़ा बाध दे और रोगी को अच्छी तरह से बिठा दे।

रक्त के बन्द न होने पर उपाय—रक्त के बन्द न होने पर सिरा के मुख को बन्द करने का प्रयत्न करे अर्थात् सिरा के मुखपर पूर्वोक्त रक्तास्थापन चूर्ण को छिड़क कर उगली के अग्रभाग से दबावे, शालि (चावलपिष्ट), पाठान्तर से शाल्मलि की छाल का चूर्ण तथा मोर के पङ्ख की चन्द्रिका की राख व्रण पर देकर दृढ बाध देवे, अथवा मोम से प्रलिप्त कपडे का टुकड़ा व्रण पर देकर मजबूत बाध देवे। ठण्डे जल से सिचन करे। रक्त को गाढ़ा करने के या जम जाने के लिए शीत-मधुर-कषाय अन्नपान करावे, सेक, लेप तथा हवादार मकान की योजना करे। पद्मकादि-कषाय शर्करा या शहद से मीठाकर पिलावे। दूध, ईख का रस, एण-हरिण-बकरा-भेड़-महिष और शूकर, इनमें से किसी एक की सिरा को वेध कर निकाले हुए ठण्डे या घी के साथ भुने हुए रक्त का पान करावे। अथवा दर्भमूल-मृदित उसी रक्त से अनुवासनबस्ति की योजना करे। स्निग्ध यूष एव मांसरस का भोजन करावे। अथवा सिराव्यध के अनन्तर फिर उसी सिरा का वेध करे। किसी प्रकार से रक्त न रुकता हो तो रक्त के पाचनार्थ क्षार देवे। सिरामुख को संकुचित करने के लिए शलाका को तपाकर दाह करे परन्तु एक क्षणभर भी रक्त को बन्द करने की उपेक्षा न करे। रक्तमय ही प्राण है अत जहा तक बने रक्त को जल्दी बन्द करे इसलिए कि क्षीणरक्तवाले रोगी का वायु मर्मस्थानों मे जाकर मूर्च्छा, सज्ञानाश, सिर का कापना, भ्रम, मन्यास्तम्भ, अपतानक, हनुग्रह, हिचकी, पाण्डुत्व, बधिरता, धातुक्षय और आक्षेपक आदि रोगों को करता है। इतना ही नहीं, क्षीणरक्त रोगी को कुपित हुआ वायु मार भी डालता है। तात्पर्य यह है कि समस्त प्राणियों का रक्त ही प्राण है। उस रक्त के क्षीण होने से अग्नि क्षीण होता है अत फिर इससे वायु बढ़ता है। इसलिए युक्तिपूर्वक बृहण-चिकित्सा करनी चाहिए ताकि उससे पुष्ट होकर रोगी का रक्त बृद्धि को प्राप्त हो जाय।

अशुद्ध रक्त को तीसरे प्रहर दिन में या दूसरे दिन पुन स्रावण करे। इस पर भी यदि अशुद्ध रक्त शेष रह जाय तो हर तरह से अर्थात् उस विस्राव्य रक्त का प्रसादन करे। साराश, शीत सेक, लेप, विरेचन, उपवास तथा स्निग्ध-मधुर अन्नपान देकर रक्त को शुद्ध कर देना चाहिए। अथवा एक मास पर्यन्त स्नेहादि उपचार करने के बाद फिर सिराव्यध करना चाहिए ताकि सर्वथा रक्त की शुद्धि हो जाय।

सिराव्यध के दोष और उनके उपचार—दुर्व्यध, अतिव्यध, कुट्टित, तिर्यग्व्यध आदि सिराव्यध के दोषों से अनेक व्यापद (उपद्रव एव रोग) हो सकते हैं अत उनकी यथायोग्य चिकित्सा करनी चाहिए।

भवति चात्र[1]

उन्मार्गगा यन्त्रनिपीडनेन
स्वस्थानमायान्ति पुनर्न यावत्।
दोषा प्रदुष्टा रुधिर प्रपन्ना-
स्तावद्धिताहारविहारभाक् स्यात्॥
नात्युष्णशीत लघु दीपनीय
रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम्।
तदा शरीर ह्यनवस्थितासृ-
गग्निर्विशेषादिति रक्षितव्य ॥
प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिन्द्रियार्था-
निच्छन्तमव्याहतपक्तृवेगम्।
सुखान्वित पुष्टिबलोपपन्न
विशुद्धरक्त पुरुष वदन्ति॥

इति षट्त्रिंशोऽध्याय ॥ ३६ ॥

उपसहार में हितोपदेश—सिराव्यध-विधि करते हुए शस्त्र या यन्त्र की पीडा के कारण कुपित होकर रक्ताश्रित रहते हुए वातादि दोष अपने मार्ग से च्युत होकर उन्मार्गगामी हो जाते हैं, वे जब तक अपने स्थान पर न आ जावे, तब तक रोगी को हिताहार-विहार से ही रहना चाहिए अर्थात् पथ्यसे रहते हुए उसको हितकारी आहार और विहार करना चाहिए। रक्त के निकल जाने पर अति उष्ण और अति शीत अन्न-पान हितकारी नहीं होता क्यों कि रक्तस्राव के समय रक्त और जठराग्नि की स्थिति ठीक नहीं रहती, इस लिए हितकारी आहार-विहार करते हुए शरीर का रक्षण करना चाहिए। ऐसे समय में अत्युष्ण तथा अतिशीत पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए।

विशुद्ध रक्तवाला पुरुष—जिसका वर्ण सुन्दर, इन्द्रिया प्रसन्न रहती हैं और अपने अर्थों को ग्रहण करती हैं, जिसकी पाचनक्रिया का वेग अव्याहत (निर्विघ्न) चलता है, जो सुख से युक्त, पुष्ट और बलवान् है, उसी पुरुष को महर्षि विशुद्ध रक्तवाला कहते है।

इति वाग्भटाचार्यकृतावष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दी व्याख्याया सिराव्यधविधिर्नाम षट्त्रिंशोऽध्याय ॥ ३६ ॥

अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायः।

गत अध्यायों में लोह, रक्त आदि का आहरणोपाय यन्त्र शस्त्रादिद्वारा वर्णन किया गया परन्तु शल्याहरण-विज्ञान का वर्णन नहीं हुआ अत आचार्य अब तद्विषयक अध्याय का वर्णन करते हुए कहते है कि—

अथात शल्याहरणविधिनामाध्याय व्याख्यास्याम। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय।

[1] भवन्ति चात्र इत्यपि पाठ।

शल्याहरणाध्याय—अब हम यहा से जिसमें शल्य के आहरण का विधान है, उस 'शल्याहरणविधि' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया है।

त्रिविधा[1] गति शल्यानामूर्ध्वमधस्तिर्यक् च। सा पुन प्रत्येकमृजुवक्रभेदेन द्विधा। तत्र ध्याम पिडिकाचित शोफवेदनावन्त मुहुर्मुहु शोणितास्राविण बुद्बुदवदुद्गत मृदुमास च व्रण सशल्य विद्यात्।

त्रिविध शल्यगति—शल्यों की गति तीन प्रकार की होती है जैसे कि ऊर्ध्व (ऊची), अध (नीचे की ओर) और तिर्यक् (तिर्छी)। इनमे भी प्रत्येक ऊची, नीची और तिर्छी गति में दो दो प्रकार है यथा—सरल और वक्र।

सशल्य व्रण की पहचान—जो व्रण ध्याम (एक सुगन्धित तृणविशेष) के समान आकार एव गन्धवाला हो, जो अनेक फुन्सियों से युक्त हो, जिसमे सूजन और पीडा हो, जिसमे से वारवार रक्त आता हो, बुद्बुद् की तरह ऊपर की ओर उठा हुआ हो और जो मृदु (कोमल) मासवाला हो उसे सशल्य जानना चाहिए। साराश, उसमे काटा, लोह, काच आदि किसी भी प्रकार का शल्य है, यह जानना चाहिए।

विशेषतस्तु त्वगते शल्ये विवर्ण शोफो भवत्यायत कठिनश्च। मासगते शोफाभिवृद्धि शल्यमार्गानुपसरोह पीडनासहिष्णुता चोष पाकश्च। पेश्यन्तरस्थे शोफवर्ज[2]-मासप्राप्तवत्। सिरागते सिराऽऽध्मान शूल च। स्नायुगे स्रावजालाक्षेपण[3] सरम्भश्चोग्ररुक्। स्रोतोगते स्रोतसा स्वकर्मगुणहानि। धमनीस्थे सफेन रक्तमीरयन्ननिल सशब्दो निर्गच्छत्यङ्गपीडा हृल्लासश्च। अस्थिगते विविधा वेदना शोफश्च। सन्धिगतेऽस्थिवच्चेष्टोपरोधश्च। अस्थिसन्धिगतेऽस्थिपूर्णता सघर्षो बलवांश्च। कोष्ठगते त्वाटोपानाहौ मूत्रपुरीषाहारदर्शनानि च व्रणमुखाद्भवन्ति। मर्मगते मर्मविद्धवद्यथायथ चोपदिष्टैपरिस्रावैस्त्वगादिषु शल्यमुपलक्षयेत्। सूक्ष्मगतिषु शल्येष्वेतान्येव लक्षणान्यविस्पष्टानि भवन्ति। शुद्धदेहानामनुलोमसन्निविष्टान्युपरुह्यन्ते। दोषप्रकोपव्यधाभिघाते[4]भ्यश्च पुन प्रचलितानि पुनराबाधयन्ति।

त्वचागत शल्य के लक्षण—शल्य के त्वचा में जाने से चमड़ी का वर्ण विवर्णवत् हो जाता है, सूजन होती है, व्रण लम्बा और कठिन होता है।

मासगत शल्य में—सूजन बढ़ती है किन्तु जिस मार्ग से शल्य प्रविष्ट होता है, वह जगह नहीं भरती है, दबाने पर असह्य पीडा, चोष और पाक होता है।

पेशीगत शल्य—के होने से सूजन नहीं होती परन्तु शेष सब लक्षण मासगत शल्य के होते हैं।

सिरागत शल्य—के होने से सिरा फूल जाती है और वेदना होती है।

स्नायुगत शल्य—में स्नायुका सकोच[1] अर्थात् अवक्षेपण होता है, अत्यन्त वेगवती पीड़ा होती है। इसका उपाय भी बड़ी कठिनाई से होता है।

स्रोतोगत शल्य—के होने से स्रोत अपना कार्य नही कर सकते जैसे कि कण्ठगत शल्य से आहार एव वाणी का अवरोध होता है।

धमनीगत शल्य—शब्दसहित वायुद्वारा फेनयुक्त रक्त का निकलना, शारीरिक वेदना और उबकाई ये धमनीगत शल्य के लक्षण होते है।

अस्थिगत शल्य—में नाना प्रकार की वेदना और शोथ होता है।

सन्धिगत शल्य—के होने से अग-प्रसारणादि का अवरोध होता है और शेष लक्षण अस्थिगत शल्य के होते हैं अर्थात् इसमे भी नाना प्रकार की वेदना तथा सूजन होती है।

अस्थिसन्धिगत शल्य—अर्थात् हड्डियों की सन्धियों मे गए हुए शल्य से अस्थिपूर्णता (अस्थि और सन्धि इन दोनों की अस्थियों का योग[3]) तथा अतीव व्याकुलता होती है। अस्थि सन्धि का भावार्थ यहा जानु-कूर्परादि की सन्धियों से जानना चाहिए।

कोष्ठगत शल्य—कोष्ठ अर्थात् उदरादि में शल्य के होने से आटोप और आनाह (वेदनासहित पेट में गुडगुडाहट होना तथा आम-विष्ठामूत्र का अवरोध होकर पेट का फूलना[4]), व्रण के मुख से मल, मूत्र एव आहार का निकलना ये लक्षण होते हैं।

मर्मगत शल्य—में मर्मस्थान में बींधने के समान पीडा होती है।

अन्यान्य अङ्गगत शल्य—त्वचादिगत शल्यों के विषय में जैसे स्राव आदि का वर्णन किया है, उसी प्रकार विचार कर त्वचादि के अतिरिक्त अन्यान्य अगों के शल्यका भी निश्चय करना चाहिए। सूक्ष्मगतिवाले शल्यों में भी उपर्युक्त लक्षण होते हैं परन्तु वे स्पष्ट नही दिखाई देते। शुद्ध शरीरवाले प्राणियों के शरीर में सीधा गया हुआ शल्य वही स्थित होकर भर जाता है किन्तु वही फिर सिराव्यध के करने, चोट आदि के लगने से दोष कुपित होकर बाधाकारक हो जाता है अत वैद्य को चाहिए कि वह शल्यों का निरीक्षण और उपाय भलीभाति सोच कर करे क्यों कि सम्यक्तया विचार कर किए हुए कार्य में पुन किसी प्रकार का भय नहीं रहता है।

तत्र त्वक्प्रनष्टे स्निग्धस्विन्नाया मृन्माषयवगोधूमगोमयचूर्णमर्दिताया त्वचि यत्र सरम्भो वेदना वा भवति यत्र वा स्त्यान सर्पिर्निहितमाशु विलीयते प्रलेपो वा विशुष्यति तत्र शल्य जानीयात्। मासप्रनष्टे स्नेहा-

१ त्रिविधा हि गति। २ शोफवर्ज्यम्। ३ स्रावजालावक्षेपण। ४. व्यवायव्यायामाभिघातैश्च।

१ 'अवक्षेपणं सकोचनम्' इतीन्दु। २ 'स्नायुगे दुर्हरं चैतत्' इत्यष्टाङ्गहृदयम्। ३ 'अस्थिसन्धिद्वयोरस्थ्नोर्योग' इती दु। ४ 'आटोपो गुडगुडाशब्द प्रोक्तो जठरसम्भव'। इति 'आम शकृद्वा निचित क्रमेण भूयो विबद्ध विगुणानिलेन। प्रवर्तमान न यथास्वमेन विकारमानाहमुदाहरन्ति॥' इति माधवनिदानम्।

दिभि क्रियाभिरातुरमुपपादयेत् । कर्शितस्य च शिथिलीभूतमनवबद्ध क्षुभ्यमाण यत्र सरम्भ वेदना वा जनयति तत्र शल्यम् । एव कोष्ठास्थिपेशीविवरेष्वपि । सिरास्रोतोधमनीस्नायुप्रनष्टे खण्डचक्र रथमश्वयुक्तमारोह्यातुर विषमेऽध्वनि शीघ्र नयेत् तत सरम्भादिभिर्जानीयात् । सन्धिप्रनष्टे स्नेहस्वेदोपपन्नान् सन्धीन् प्रसारणाकुञ्चनबाधनपीडनैरुपचरन् पूर्ववदवगच्छेत् । अस्थिप्रनष्टे स्निग्धस्विन्नान्यस्थीनि बन्धनपीडनाभ्या भृशमुपचरस्तद्वदुपलक्षयेत् । मर्मप्रनष्टेऽप्यनन्यभावान्मासादिभ्यो मर्मणामुक्त परीक्षण भवति । सामान्यलक्षण तूच्छ्रितहस्तिस्कन्धाश्वद्रुमारोहणद्रुतयानलङ्घनप्लवनव्यायामैर्जृम्भोद्गारकासक्षवथुष्ठीवनहसनप्राणायामैर्मलशुक्रोत्सर्गैर्वा यत्र सरम्भो वेदना वा भवति यत्र वा स्वल्पेऽप्यायासे स्वापो गौरव घट्टन शोफो वा स्यात्तत्र शल्यमादिशेत्[१]।

पुन शल्यज्ञानोपाय—त्वचा को चुपड़ने, स्वेदित करने, मिट्टी-उड़द-यव-गेहूँ तथा सूखे गोबर से मर्दन करने पर जहा पर पीडा या शूल हो, जहा पर गाढा घृत लगाने से पिघल जाय, लेप किया हुआ सूख जाय तो चमड़ी के उस भाग मे शल्य जानना चाहिए। मास मे प्रनष्ट शल्य के जानने की विधि यह है कि रोगी को स्नेहन-स्वेदन-वमन-विरेचन द्वारा शुद्ध करे। पचकर्म से थके हुए रोगी के शिथिल एव अनवबद्ध होने पर जिस जगह क्षोभ, वेग तथा वेदना का अनुभव हो उसी जगह मास मे शल्य जानना चाहिए। इसी प्रकार कोष्ठ, अस्थि, पेशी और स्रोतोगत शल्य का निश्चय करना चाहिए। सिरा, स्रोत, धमनी और स्नायु में प्रनष्ट शल्य का निश्चय इस प्रकार करे कि आतुर को खण्डित चाकवाले घोडे के रथ में बैठाकर उसको विषम (ऊचे-नीचे) मार्ग मे जल्दी से चलावे। ऐसा करने पर जहा पर पीड़ा के वेग का अनुभव हो उसी स्थान मे शल्य का निश्चय करना चाहिए। सन्धि में प्रनष्ट शल्य का निश्चय करना हो तो सन्धि में स्नेहन-स्वेदन करके फिर सन्धिस्थान के प्रसारण (पसारने), आकुचन (सिकोड़ने), बाधने और दबाने से जहा पर पीडा हो वही शल्य समझना चाहिए। अस्थिप्रनष्ट शल्य में भी अस्थि का स्नेहन-स्वेदन करके फिर बाधने तथा दबाने से जहा पीड़ा हो वही अस्थि में शल्य जानना चाहिए। मर्मप्रनष्ट शल्य का निश्चय जैसे मास प्रनष्ट शल्य के जानने का लिखा है उसी प्रकार जानना चाहिये।

शल्य का सामान्य परीक्षण—किसी ऊचे स्थान पर चढने, हाथी, कन्धे, घोडे तथा वृक्ष पर चढ़ने, तेज चलनेवाले वाहन पर बैठने, कूदने, तैरने, व्यायाम करने, जम्भाई या डकार लेने, खांसने, छींकने, थूकने, हसने, प्राणायाम करने, मल-मूत्र-शुक्र विसर्जन करने पर जहा पीडा या प्रकोप का अनुभव हो, वहीं शल्य जानना चाहिए। जिसके थोड़े से परिश्रम करने पर निद्रा, गौरव, थकावट और सूजन हो जाय तो उसमें शल्य जानना चाहिए।

समासतश्चतुर्विध शल्य भवति वृत्तद्वित्रिचतुष्कोण[१]भेदेन । तददृश्यमान व्रणसस्थानादनुमिमीत[१] । सर्वशल्याना तु महतामाहरणे द्वावेवोपायौ प्रतिलोमोऽनुलोमश्च । तत्र प्रतिलोममर्वाचीनमानयेदनुलोम पराचीनम् । तिर्यग्गत यत सुखाहार्य भवति ततश्छित्त्वोपहरेत्[२] । प्रतिलोममनुत्तुण्डित छेदनीयमुख[३] च शल्य न निर्घातयेत् तथा कक्षावङ्क्षणोर पर्शुकान्तरपतितानि नैव चाहरेत विशल्यघ्नमर्मप्रविष्ट प्रनष्ट वा शोफवेदनापाकविरहितम् ।

शल्य के चार प्रकार—सक्षेप से कहे तो शल्य के चार प्रकार होते हैं यथा वृत्त, द्विकोण, त्रिकोण और चतुष्कोण। नहीं दिखाई देनेवाले शल्य का अनुमान उसके व्रणसस्थान से कर लेना चाहिए।

शल्याहरण के दो उपाय—बडे बडे सब शल्यों के निकालने के दो ही उपाय हैं, एक प्रतिलोम और दूसरा अनुलोम। इन में प्रतिलोमविधि उसे कहते है जो कि शल्य जिस मार्ग से भीतर प्रविष्ट हुआ है, उसी मार्ग से उसे खींचकर निकालना तथा अनुलोमविधि वह है कि शल्य जिस ओर प्रविष्ट हुआ है अर्थात् शल्य का मुख जिस ओर है उसे उसी ओर से निकालना। तिर्छे शल्य का निकालना सुख से हो सकता है अत उसे छेदन कर निकाल देना चाहिए परन्तु ध्यान रहे कि जो प्रतिलोम शल्य हो अर्थात् जिसका मुख न दिखाई देता हो और जो भीतर की ओर विशेष प्रविष्ट हुआ हो तो उसका और छेदनीयमुख शल्य का निर्घातन नहीं करना चाहिए अर्थात् उसका छेदन न करे। तथा कक्षा (काख), वक्षण (अण्डकोष के समीप का सन्धिभाग), छाती और पसलियों मे प्रविष्ट शल्य का भी निर्घातन नहीं करना चाहिए अपि तु धीरे से युक्तिपूर्वक उसे निकालना चाहिए। जिस शल्य के आहरण करने से प्राणों की हानि होने का डर हो और न निकालने से प्राण-रक्षा होती हो तो उस शल्य को न निकालना ही ठीक है। इसी प्रकार मर्म में प्रविष्ट उस शल्य को भी निकालने का साहस नहीं करना चाहिए जो सूजन, पाक और वेदना से रहित हो।

अथ हस्तप्राप्य शल्य हस्तेनाहरेत् । तदशक्य यथायथ यन्त्रेण । तथाऽप्यशक्य शस्त्रेण विशस्य ततो निर्लोहित व्रण कृत्वाऽग्निघृतप्रभृतिभि[४] स्वेदयित्वाऽवदह्य तर्पयित्वा सर्पिर्मधुभ्या बद्ध्वाऽऽचारिकमादिशेत् । सिरास्नाय्ववलग्न शलाकाग्रेणाभिमोच्यापहरेत्[५] । हृदयेऽभिवर्तमान शल्य शीतजलादिभिरुद्वेजितस्यापहरेद्यथामार्ग दुराहरम् । अन्यतोऽप्यवबध्यमान पाटयित्वोपहरेत् । अस्थिविवरप्रविष्ट[६]मस्थिविदष्ट वाऽवगृह्य पद्भ्या पुरुष यन्त्रेणापकर्षयेत्[७] । अशक्यमेव वा बलवद्भि सुगृहीतस्ययन्त्रेण वा ग्राहयित्वा शल्य वारङ्ग प्रतिभुज्य वा धनुर्गुणैरेकतो बद्ध्वाऽन्यतश्च पञ्चाङ्ग्या सुसयतस्याश्वस्य वक्त्र-

१ चतुरस्रभेदेन।

१ वृत्तसस्थाना। २ ततश्छित्त्वाऽपहरेत्। ३ छेदनीय पृथु मुख च। ४ घृतमधुप्रभृतिभि। ५ मोच्याहरेत्। ६ प्रणष्ट। ७ कर्षेत्।

कटके बध्नीयात् । अथैनमेव कशया ताडयेद्यथोन्नमयन् शिरोवेगेन शल्यमुद्धरति । दृढा वा वृक्षशाखामवनम्य तस्या पूर्ववद्बद्ध्वोद्धरेत् । दुर्बलवारङ्गं वा कशाभिर्बद्ध्वा ।

निकालने योग्य शल्यो की निकालने की विधि—हाथ से पकड़ मे आनेवाले शल्य को हाथ से ही निकाल देना चाहिए। जो हाथ की पकड मे न आवे और जो दिखाई देता हो तो उसे सिंहमुख, अहिमुख आदि यन्त्रों से निकालना चाहिए। साराश, जिसके लिए जो यन्त्र उपयुक्त हो उसी से निकालना चाहिए। इस से भी यदि अशक्य हो तो फिर शस्त्र से ऊपर की चमड़ी साफ कर ओर व्रण को रक्त से विरहित कर के अग्नि, घृत, शहद आदि से स्वेदित कर अवदह्य (अग्निकर्म कर) घृत और शहद से तर्पित कर के बाध देवे और रोगी को शस्त्रक्रिया के अन्त मे पालन-योग्य आचार की आज्ञा देवे। सिरा और स्नायुगत शल्य को शलाका के अग्रभाग से ठीककर निकाल लेवे। हृदय में वर्तमान शल्य को शीतल जलादि से ढीलाकर यथामार्ग अर्थात् गुरूपदिष्ट मार्ग से निकालें क्यों कि इसका निकालना कठिन होता है। यह हृदय पर लगे साधारण शल्य का विषय है जो कि उक्तविधि से निकाला जासकता है। विपरीत इसके, हृदय में लगे हुए बाण आदि के निकालते ही प्राण-नाशकी शका होती है। इसी लिए इसे दुराहर (बड़ी कठिनाई से निकलने वाला) कहा है। अन्य स्थानों से भी उस शल्य को निकालने का प्रयत्न करे जो हृदयगत शल्य की तरह दुराहर हो। शल्य यदि अस्थि मे या अस्थि के पोल मे प्रविष्ट हो गया हो तो आतुर को पगों से ग्रहण कर अर्थात् पगों को अस्थि पर दृढ रोपकर यन्त्र से शल्य को पकड़कर हाथों से खींच कर निकाल ले। यदि इस प्रयत्न से भी शल्य न निकले तो बलवानों कर के यन्त्र से शल्य को पकडकर यन्त्र की मूठ को धनुष की मजबूत डोरी से बाध दे और उस डोरी को उस घोडे के मुख से बाध दे जिसके चारों पग रस्सी से दृढ बधे हुए हों फिर उस घोडे को एक कोडे से ताडन करे जिससे कि उछलकर घोडा अपने मुख को ऊपर को उठावेगा और घोड़े के मुख मे बधी उस धनुष की डोरी के झटका लगने से शल्य भी सहसा हड्डी से निकल बाहर आजायगा। अथवा वृक्ष की मजबूत शाखा को बलपूर्वक नीची कर के पूर्ववत् यन्त्र की मूठ मे बॅधी हुई धनुष की डोरी को शाखा से बाध देवे। इस के अनन्तर बलपूर्वक पकडी हुई शाखा को छोड देवे। छोड़ते ही झटका लगकर अस्थिगत शल्य बाहर निकल आवेगा। यदि दुर्बल (हलका) शल्य (तीर आदि) लगा हो तो उसे कशा से बाध खींचकर निकाल देवे।

श्वयथुग्रस्तवारङ्गमुत्पीड्य श्वयथुम् । आदेशोत्तुण्डितमश्ममुद्गरप्रहारेण विचाल्य यथामार्गमेव । कर्णवत्तु यन्त्रेण विमृदितकर्णं कृत्वा नाडीयन्त्रेण वा बहुमुखेन यथास्वमुपसगृह्य शलाकायन्त्रेणानेन वा पूर्ववदाहरेत् । अनुलोममकर्णमनल्पव्रणमुखमयस्कान्तेन । पक्काशयगत विरेचनेन । वातविण्मूत्रगर्भसङ्ग प्रवाहणेन । दुष्ट-

१ तु इ० पा० । २ यन्त्रेणान्येन ।

वातविषस्तन्यास्यविषाणादिचूषणेन[1] । कण्ठस्रोतोगते शल्ये[2] बिसासक्त[3] शल्य सूत्र कण्ठे प्रवेशयेत् । अथ तद्गृहीत विज्ञाय शल्य सममेव सूत्र बिस चाक्षिपेत् । बिसाभावे मृणालेष्वयमेव[4] विधि । जातुषे तु कण्ठसक्ते कण्ठे नाडी प्रवेशयेत्तथा चाग्नितप्ता[5] सूक्ष्ममुखी शलाकाम् । अथ ता गृहीतशल्या शीताभिरद्भिः परिषिच्य स्थिरीभूतामाहरेत् । अजातुषेऽप्येवमेव तप्ता जतुमधूच्छिष्टान्यतरप्रदिग्धा शलाकाम् । मत्स्यकण्टकमन्यद्वा तादृगस्थिशल्य कण्ठेऽवलग्न[6] सूत्रेण सूत्रप्रोतेन वा वेष्टितयाऽङ्गुल्याऽपहरेत् । अथवा केशोन्दुक दृढदीर्घसूत्रबद्ध द्रवोपहित पाययेद्वामयेच्च । वमतश्च शल्यैकदेशसक्त सूत्र सहसैवाक्षिपेत् । मृदुना वा दन्तधकूर्चेनवानामभिहरेत्[7] । प्रणतो वा प्रणुदेत्[8] । बालोण्डे[9] विलग्ने तद्वत्कण्टकम् । क्षतकण्ठश्च त्रिफलाचूर्णं मधुघृतसितोपेतमनुकण्ठयन् लिह्यात् ।

श्वयथुगत शल्य—यदि सूजन की जगह वारङ्ग (लोहकील या शल्य) प्रविष्ट हुआ हो तो सूजन को दबाकर उसे निकाल लेना चाहिए।

उत्तुण्डित शल्य—अर्थात् ऊपर की ओर उठे हुए दिखाई देनेवाले शल्य को अश्ममुद्गर (पत्थर के मुद्गर) से निर्घातन कर विचलित करके जिस मार्ग से प्रविष्ट हुआ है उसी मार्ग से नाडीयन्त्र द्वारा निकाल लेवे।

कर्णिकायुक्त शल्य—अर्थात् जिस शल्य में कर्ण (किनारे) हों तो यत्र से किनारे मसलकर नाडीयन्त्र से निकाले। यदि शल्य बहुकर्णिक (कई किनारोंवाला) हो तो बहुमुख नाडी यन्त्र के मुखों में किनारों को फँसाकर इस शलाकाकार नाडी यन्त्र से पूर्ववत् किनारों को मृदित कर निकाल लेवे।

अनुलोम अकर्णादि शल्य—जो शल्य सीधा, किनारे से रहित, फटे हुए मुख के व्रणवाला हो तो उसे अयस्कान्त अर्थात् चुम्बक लौह द्वारा निकाले।

पक्काशयगत शल्य—हो तो उसे विरेचन देकर निकालना चाहिए।

वातविण्मूत्रगर्भसङ्गशल्य—वात (अपान वायु), विष्ठा और मूत्र-गर्भसङ्ग शल्यका निर्हरण प्रवाहण (कुन्थन काखना आदि) द्वारा करे।

दुष्टवातविषस्तन्य शल्य—यदि शरीर में दुष्टवात के रूप से, विषरूप से या स्तन्यरूप से शल्य हो तो उसका निर्हरण सिंगी या मुख से चूसकर करे।

कण्ठस्रोतोगत शल्य—यदि कण्ठस्रोतोगत शल्य हो तो बिस (कमल-नालतन्तु) के साथ सूत कण्ठ में डाले। जब जाने कि शल्य कमल-नालतन्तु तथा सूत मे अटक गया हे तब झटपट कमल-नालतन्तु सह सूत को खीच ले। इस विधि से शल्य बाहर आ जायगा। बिस के अभाव में मृणाल से भी यह क्रिया हो सकती है।

१ स्तन्यान्यास्यविषाणचूषणेन । २ तु शुल्ये । ३ बिसं ससक्तं । ४ मृणालेऽप्ययमेव । ५ प्रतप्ताम् । ६ कण्ठलग्नम् । ७ कूर्चेनापहरेत् । ८ परतो वा । ९ बालोण्डुके ।

लाख का शल्य—यदि कण्ठ में लाख का शल्य अटक जाय तो प्रथम कण्ठ मे नाडीयन्त्रको प्रविष्ट करे। इस के अनन्तर सूक्ष्ममुखवाली अग्नि से तपाई हुई शलाका कण्ठ मे डाले। यह जाननेपर कि शलाकाने शल्यको पकड लिया है, तब ठण्डे जल से शलाका का सिंचन कर स्थिर हुई उस शलाका को खींच कर शल्य निकाल ले। लाख के अतिरिक्त अन्य शल्यों के होनेपर भी इसी प्रकार तपाई हुई शलाकापर लाख, और मोम लगाकर, या इन में से किसी एक का लेपकर कण्ठ में डाल उस के द्वारा शल्य को निकाल ले।

मत्स्यकण्टकादि शल्य—यदि मछली का काटा आदि अर्थात् वसा ही कोई अन्य अस्थिशल्य कण्ठ मे अटक जाय तो सूत से लपेटी हुई या सूती कपडे-फाहे से लपेटी हुई अगुली द्वारा उस को निकाल डाले। अथवा बालों का गुच्छा बनाकर उसे सूत से लपेट द्रवपदार्थ-सहित पिला देवे और फिर वमन करावे। वमन करते हुए समय में शल्य के किसी भाग में अटके सूत को खींच लेवे। उस सूत के साथ अवश्य शल्य निकल आवेगा। अथवा नरम दतौन की कूची द्वारा शल्य का हरण करे। अथवा इस नरम दतौन की कूची द्वारा वमन की चेष्टा करे और वमन के द्वारा बाहर आए हुए बालों के गुच्छे में अटके हुए शल्य को निकाल लेवे जिस प्रकार पहले मत्स्य कण्टक के निकालने का विधान कहा है।

क्षतकण्ठ का उपाय—यदि कण्ठ में क्षत पड जाय अर्थात् कण्ठ छिल जाय तो त्रिफला (हरड, बहेडा और आमला) का चूर्ण शहद, घृत और मिश्री मिला हुआ इस प्रकार चाटे कि वह कुछ समय कण्ठ में रहकर फिर निगला जावे।

अपां पूर्णं पुरुषमवाक्शिरसमवपीडयेद्धुनुयाद्वामयेद्भस्मराशौ वा निखन्यादामुखात्। अन्यथा ह्युन्मार्गगाभिरद्भिराध्मानकासश्वासपीनसेन्द्रियोपघातज्वरादयः श्लेष्मविकारा मृत्युश्च। तत्र यथास्वं प्रतिकुर्यात्।

डूबनेपर पेट में पानी भरजाय तो—किसी मनुष्य के किसी कारणवश जल में डूबने से उसके पेट में पानी भरजाता है। उस के न निकालने से अनेक प्रकार के रोग एव मृत्यु तक हो जाती है। इस लिए जिस के पेट मे पानी भरगया है उस को सिर तथा मुख की ओरसे उलटा लटका कर उस की पीठ और पेट को दबावे तथा धूनन करे अर्थात् भली भाति हिलावे-हिलाकर वमन करावे। साराश, इस प्रकार उल्टा लटका कर हिलाने से वमन होकर पेटका सब पानी मुख के द्वारा बाहर निकल जाता है। रोगी होश में आकर बच जाता है। अथवा गड्ढा खोदकर उस में सूखी राखभर उसमे कण्ठतक रोगी को पूर दे। तात्पर्य यह कि कण्ठ से ऊपर का मुखवाला भाग खुला रहने दे ताकि सुख से श्वासोच्छ्वास ले सके। इस विधिसे भी पेट में भरा हुआ पानी निकल कर वह राख मे आ जाता है और रोगी बच जाता है।

जल में डूबनेवाले प्राणीका इस प्रकार उपचार नहीं किया जायगा तो उस के पेट में भरा हुआ जल उन्मार्गगामी होकर आध्मान, कास, श्वास, पीनस, इन्द्रियोपघात (इन्द्रियों के कर्म करने में अवरोध) और ज्वर आदि रोगों को उत्पन्न करता है। इतना ही नहीं, इस से नाना प्रकार के कफविकार पैदा होकर मृत्युतक हो जाती है। यदि इन रोगों की उत्पत्ति हो जाय तो उन उन रोगों का समुचित उपाय करना चाहिए।

वक्तव्य—जल मे डूबनेवाले की चिकित्सा आधुनिक रीत्या इस प्रकार होती है—जल से बाहर निकालते ही उस के कपड़े (विशेषत छाती और गले के) उतार लिए जाते हैं। इस के बाद उसे भूमिपर उलटा लिटाकर कृत्रिम श्वास-क्रिया (Artificial respiration) की जाती है। यह आध घण्टे से लेकर घण्टों तक क्रिया की जाती है। उस के मुख को साफ किया जाता है। पास में गरम जल की बोतलें रखी जाती हैं। शरीर पर घर्षण किया जाता है। नाकके पास सूंघने के लिए तीव्र गन्धवाला अमोनिया रखा जाता है और कुचले के सत्व (Strychine) जैसे हृदयोत्तेजक ओषधिकी सुई लगाई जाती है। पुन श्वास की प्रवृत्ति होनेपर उस को गरम कपडों में लपेटकर पीठके बल सुलाया जाता है। पूर्ण चेतना आनेपर उसको गरम पेय, मद्य आदि पिलाया जाता है। यदि फिर भी श्वासक्रिया बन्द हो जाती है तो लाबोर्देकी (Labordes method) कृत्रिम श्वासक्रियाका प्रयोग किया जाता है। होश में आने पर न्यूमोनिया (श्वसनक ज्वर) आदि न हो जाय इसलिए उसे पथ्य से रक्खा जाता है। कृत्रिम श्वसनक्रिया की कई विधियां प्रचलित है जो कि जलनिमज्जन, पाशबद्धता, धूमोपहततादि से प्राणावरोध (Asphysia) की अवस्थाओं में प्रयुक्त की जाती हैं। इन सबमें शेफर की विधि (Schafers method) उत्तम एव सरल मानी जाती है। जल में डूबे हुए के लिए सिल्वेस्टर की विधि अच्छी नहीं मानी जाती। ग्रन्थविस्तर-भय से हम विशेष लिखना नहीं चाहते। इच्छा हो तो पाठक श्रीयुत घाणेकर कृत सुश्रुतसहिता का अनुवाद देखें।

ग्रासशल्यमम्बुना प्रवेशयेत् स्कन्धे वा मुष्टिनाऽभिहन्यात्। कण्ठस्थं श्लेष्माणमन्नलवं वा प्रधमनोत्काशनावकाशनैर्निर्वमेत्[1]। सूक्ष्ममक्षिशल्यं लेखनोपधर्मन[2]-बालजलवस्त्रजिह्वाभिरपनयेत्। तथा निर्भुज्य वर्त्म वर्त्मगतमपनीय चोष्णाम्बुबाष्पस्वेदं समधुमधुककाथेन सर्पिषा च परिषेकं कुर्यात्। स्वयमपि च शल्यमश्रुक्षवथुकासोद्गारमूत्रपुरीषानिलैर्नयनादिभ्योऽङ्गावयवेभ्यः पतति। कीटे कर्णस्रोतः प्रविष्टे तोदो गौरवं भरभरायणं च भवति स्पन्दमाने चाभ्यधिकं वेदना। तत्र सलवणेनाम्बुना मधुसुक्तेन मद्येन वा सुखोष्णेन पूरणम्। निर्गते च कीटे तदुत्सर्जनम्। तत्रैव तु मृते पाककोथक्लेदा भवन्ति। तेषु कर्णस्रावोक्तं कुर्यात्प्रतिनाहोक्तं च। तोयपूर्णं कर्णं हस्तोन्मथितेन तैलाम्बुना पूरयेत् पार्श्वावनतं वा कृत्वा हस्तेनाहन्यान्नाड्या वा चूषेदिति[3]।

ग्रासशल्योपाय—यदि भोजन करते समय कण्ठ में ग्रास अटक जाय तो जल पीकर उसे भीतर पेट की ओर प्रविष्ट करे अथवा कन्धों पर मुष्टिप्रहार करे ताकि कण्ठ में अटका हुआ ग्रास पेट की ओर चला जाय। सुश्रुत में लिखा है कि रोगी को न जताते हुए कन्धे पर निःशङ्क मुष्टिप्रहार करे अथवा उसे स्नेह, मद्य या जल पिलावे।

१ प्रधमनोत्कसनापकसनैर्निर्धमेत्। २ लेखनप्रधमन। ३ वा चूषयेदिति।

कंठस्थ कफादि—कण्ठ में अटके हुए कफ तथा अन्न के अंश को प्रधमन, उत्कसन और अवकसन (बाहर की ओर तथा भीतर की ओर) करके निकाल देना चाहिए।

सूक्ष्माक्षिशल्य—आंख में सूक्ष्म शल्य के पड़ने पर उसे लेखन, उपधमन, बाल, भीगे हुए वस्त्र या जीभ से निकाले।

वर्त्मगत शल्य—हो तो वर्त्म को मोड़कर निकाल ले और शल्य निकालने के बाद उष्ण जल के बफारे से स्वेदित कर मुलेठी के कषाय मे शहद मिलाकर तथा घृत से परिषेक करे।

शल्य का स्वयं निकलना—सूक्ष्म शल्य कभी-कभी आंसू, छींक, खांसी, डकार, मूत्र, पुरीष, अपान वायु द्वारा एवं आंख आदि शरीर के अवयवों द्वारा स्वयं निकल जाता है।

कर्णस्रोत में कीट पड जाय तो—कान में टोंचने की सी पीड़ा, भारीपन तथा भनभनाहट का शब्द होता है। कीट के इधर-उधर स्पन्दन करने से अधिक वेदना होती है अतः नमक मिला उष्ण जल से या मुलेठीयुक्त सुखोष्ण मद्य से कान को पूरण करे अर्थात् कान में कदुष्ण नमकीन जल या उपर्युक्त मद्य डाले। इस प्रकार कीट के ऊपर आने पर उसे निकाल कर फेंक देना चाहिए। कीट के कान में ही मर जाने से पाक (कान का पकना) सड़ना तथा उसमे क्लेद (पूय) हो जाता है। ऐसी अवस्था में कर्णस्राव रोग में कही हुई चिकित्सा करनी चाहिए। अथवा प्रतिनाह मे कही हुई चिकित्सा करनी चाहिए।

कान में जल भर जाय तो—हाथ से मथित जल और तेल कान में डाले अथवा एक पसवाडे से झुककर हाथ से ताडन करे या नाडीयन्त्र से चूसकर निकाल देना चाहिए।

भवन्ति चात्र—

जातुष हेमरूप्यादिधातुज च चिरस्थितम्।
ऊष्मणा प्रायश शल्य देहजेन विलीयते ॥
विषाणवेणुदार्वस्थिदन्तवालोपलानि तु।
शल्यानि न विशीर्यन्ते शरीरे मृन्मयानि च॥
विषाणवेण्वयस्तालदारुशल्य चिरादपि।
प्रायो निर्भुज्यते तद्धि पचत्याशु पलासृजी ॥
शल्ये मासावगाढे चेत्स देशो न विद्यते।
ततस्तन्मर्दनस्वेदशुद्धिकर्षणबृंहणै ॥
तीक्ष्णोपनाहपानान्नघनशस्त्रपदाङ्कनै।
पाचयित्वा हरेच्छल्य पाटनैषणपीडनै ॥
शल्यप्रदेशयन्त्राणामवेक्ष्य बहुरूपताम्।
तैस्तैरुपायैर्मतिमान् शल्य विद्यात्तथाहरेत् ॥
व्रणे प्रसन्ने प्रान्तेषु नातिस्पर्शासहिष्णुषु।
अल्पे शोफे च तापे च नि शल्यमिति निर्दिशेत्॥
काय एव पर शल्य निजदोषमलाविल।
शल्यशल्य शराद्य तु विशेषात्तेन चिन्त्यते ॥

इति शल्याहरणविधिर्नाम सप्तत्रिंशोऽध्याय ॥

देहोष्मासे लीन होनेवाले शल्य—लाख, सुवर्ण, रूप्यादि धातुशल्य यदि शरीर में चिरकाल तक रह जावे तो वे शरीर की गरमी से प्राय विलीन हो जाते है अर्थात् गल जाते है।

शरीर में विलीन न होनेवाले शल्य—मिट्टी, बांस, लकड़ी, सींग, अस्थि, दांत, बाल और पत्थर इनके शल्य शरीर की गरमी से देह मे विलीन नहीं होते है इसी प्रकार मिट्टी की पक्की ठीकरी आदि का शल्य भी शरीर मे चिरकाल तक रहकर भी विलीन नही होता।

विषाणादि शल्यों का शरीर में कार्य—शृंग, बांस, लोह, ताल, लकड़ीरूपी शल्य चिरकाल तक शरीर में बने रहते हैं, उस में लीन नही होते अपि तु अलग रहते हुए मांस और रक्त को पकाते हैं। सारांश, इन धातुओं का पाक कर के आप उनसे अलग हो जाते हैं।

मांसगत शल्य का निर्हरण—मांस में शल्य होने से वह स्थान नही पकता है अर्थात् पता नही लगता कि शल्य मांस में किस जगह है। इस लिए वैद्य को चाहिए कि वह शल्य की जगह मर्दन और स्वेदन करे, वमन-विरेचन देकर संशोधन करे। कर्षण और बृंहण करे। तीक्ष्ण द्रव्यों का उपनाह स्वेद देवे, तीक्ष्ण ही अन्न-पान करावे तथा शल्य के स्थान मे शस्त्र से चिह्न करे। इस प्रकार पाचन कर पाटन, एषण और पीडन द्वारा शल्य को निकाल देवे।

शल्य की जगह एवं यन्त्रों के अनेक प्रकारों को देखते हुए उन के अनुरूप उन उन उपायों को कर के बुद्धिमान् वैद्य को चाहिए कि वह शल्य को भलीभांति जाने और निकाले।

निःशल्य व्रण की पहिचान—जो व्रण निर्मल हो, अंकुरित हो गया हो, वारवार स्पर्श करने पर भी असहनीय न हो, जिस में सूजन और ताप अल्प हो गया हो तो जान लेना चाहिए कि व्रण निःशल्य है अर्थात् इस मे अब शल्य नही है।

शरीर ही शल्य है—यद्यपि शल्यों में बाण आदि शल्य हैं परन्तु इस से भी परम चिन्तनीय शल्य काय अर्थात् शरीर है जब कि यह निज दोष तथा मलों से आविल (मलिन एव दूषित) है। भावार्थ यह है कि समस्त धर्मों का आदि साधन शरीर ही है अतः मनुष्य को चाहिए[1] कि वह विशुद्ध आहार-विहारादि द्वारा शरीर का सर्वथा संरक्षण करता रहे।

इति वाग्भटाचार्यकृतावष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दी व्याख्याया शल्याहरणविधिर्नाम सप्तत्रिंशोऽध्याय ॥ ३७ ॥

अथाष्टत्रिंशोऽध्यायः।

अथात शस्त्रकर्मविधिमध्याय व्याख्यास्याम।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय।

शस्त्रकर्माध्याय—अब यहां से हम जिसमें शस्त्रकर्म-विधि बतलाई जायगी, उस 'शस्त्रकर्म-विधि, नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया।

द्विविधेऽपि हि व्याधावुपायापेक्षे निजआगन्तौ वा भेषजविषयातीते शस्त्रकर्म प्रयुज्यते। स चामय प्रायेण

१ 'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्' इति महाकविकालिदास।

श्वयथुपूर्वको भवति। अत शोफावस्थस्यैव वातकफपित्तरक्तससर्गसन्निपातात्मकतामुपलक्ष्य पाकभयाद्यथास्वमुपवासलेपसेकासृङ्मोक्षकषायघृतपानशोधनानि प्रयुञ्जीत। तथाऽप्यनुपशाम्यति प्रविलयनम्। अविलीयमाने चोपनाहनम्।

शस्त्रप्रयोगकी आवश्यकता—निज (शारीर) और आगन्तुक ये दोनों प्रकार की व्याधिए उपाय की अपेक्षा रखती हैं। नाना भेषजों (ओषधियों) से इन का उपचार किया जाता है परन्तु ओषधियों के प्रयुक्त करनेपर भी साध्य न होने से ओषधियों के अनन्तर शस्त्रकर्म का प्रयोग किया जाता है। इसी उद्देश को सामने रखकर शस्त्रकर्मविधि नामक अध्याय का वर्णन करना क्रमप्राप्त होने से किया जाता है।

रोग प्राय शोथपूर्वक होता है। अत सूजन की अवस्था में ही वात, कफ, पित्त, रक्त का ससर्ग, सन्निपातात्मकता इन सब का भली भाति विचार कर सूजन पक न जाय इस भय से उपवास, लेप, सेक, रक्तमोक्षण, कषाय और घृत का पान तथा वमन–विरेचनादि सशोधन का प्रयोग करना चाहिए। इन उपायों से भी कदाचित् उपशम न हो तो रक्त का विलयन करना चाहिए। विलयन भी न हो तो फिर उपनाह सज्ञक स्वेद का प्रयोग करना चाहिए। इस लिए कि दोषों का भलीभाति से पाक हो जाय। एतदर्थ वैद्यको चाहिए कि वह शोथ के आम, पच्यमान तथा पक्वलक्षणों को भली भाति जान ले। इसी लिए आचार्य प्रतुस्त वर्णन करते हैं।

तत्र शोफस्यामलक्षणमल्पता चाल्पोष्मरुजत्व त्वक्सवर्णता स्थैर्य च। पच्यमानस्तु विवर्णो वस्तिरिवाातत सरम्भशूलरागदाहोषारुचितृष्णाज्वरारतिस्पर्शासहत्वानिद्रतासमन्वितो विष्यन्दयति सर्पि शोषयति प्रदेह सर्षपकल्कोपलिप्त इव चिमिचिमायते पिपीलिकाभिरिव ससर्प्यते पीड्यत इव पाणिना घट्यत इवाङ्गुल्या ताड्यत इव दण्डेन तुद्यत इव सूचीभिर्भिद्यत इव शक्तिभिश्छिद्यत इव शस्त्रेण दश्यत इव वृश्चिकैर्दह्यत इवाग्निक्षाराभ्या मथ्यत इवोल्मुकेन। पक्वे तु गतवेगत्वं प्रम्लानता त्वक्शिथिलता वलीप्रादुर्भावः पाण्डुता मध्योन्नतताङ्गुल्यवपीडितमुक्ते प्रत्युन्नमन बस्ताविवोदकस्य पूयस्य सचरण कण्डू सरम्भशूलाद्युपशमश्च।

आमशोथ के लक्षण—सूजन कच्ची रहने से शोथ की अल्पता, उष्णता और पीडा की भी अल्पता, त्वचा के समान वर्ण एव स्थिरता ये लक्षण होते हैं।

पच्यमान शोथ के लक्षण—चमड़ी की विवर्णता, बस्ति की तरह फुलावट, अतिवेग–अतिपीडा–अतिललाई–अतिदाह–ओष–अरुचि–तृष्णा–ज्वर–बेकली–स्पर्शका न सहना–नींद का न लगना ये लक्षण होते हैं तथा शोथपर गाढ़े घीका पिघल जाना, लेपका जल्दी सूख जाना, सरसों के कल्क के लेप की तरह चिमचिमाहट, चींटी की तरह भीतर चलती हुई प्रतीति होना, हाथ की तरह दबाने कीसी पीड़ा, अगुली के खोंचने कीसी, डण्डे से मारने कीसी, सुई से टोंचने कीसी, शक्ति से तोड़ने कीसी, शस्त्र से काटने कीसी, बिच्छू के डसने कीसी, अग्नि एव क्षार से जलने कीसी तथा जलते हुए अगारे (उल्मुक[1]) से मथने कीसी पीडा होना ये सब लक्षण पच्यमान शोथ के होते हैं।

पक्व शोथ के लक्षण—शोथ की वृद्धि का वेग पूर्ववत् न रहना अर्थात् उससे अधिक सूजन का न होना, चमड़ी या व्रण का रग मलिन हो जाना, चमड़ी का ढीला होना, वली (झुर्रिया) पडना, पीतता, मध्यभाग में उन्नतता, अगुली से दबाकर छोड़ने से गहराई का पुन भर जाना, बस्ति में के पानी की तरह पूय का सचार होना, खाज आना, वेग तथा पीडा का शमन हो जाना ये पक्व आम के लक्षण होते हैं।

शूल नर्तेऽनिलाद्दाह पित्ताच्छोफ कफोदयात्[2] ।
रागो रक्ताच्च पाक स्यादतो दोषै सशोणितै ॥

शोथपाक में सर्वदोषता—प्रथम सूजन हो कर फिर पाक होता है। यह कार्य सब दोषों के मिलने से होता है अत कहा है कि व्रणशोथ में विना वायु के शूल अर्थात् पीडा नहीं होती, विना पित्त के दाह (जलन) नहीं होता, कफ के उदय के बिना सूजन नहीं होती और रक्त के बिना राग अर्थात् ललाई नहीं आती। इस से सिद्ध हुआ कि यह सब कुछ रक्त को साथ में लिए हुए वातादि तीनों दोषों से ही होता है। फिर भी शोथ में कफ का प्राधान्य होता है और इसी लिए कफ के प्राधान्यदर्शनार्थ उस के साथ उदय शब्द का ग्रहण किया गया है।

पाकेऽतिवृत्ते सुषिरस्तनुत्वग्दोषभक्षितः[3] ।
वलीभिराचित श्याव शीर्यमाणतनूरुह ॥

व्रणपाक के बाद उपेक्षा का फल—व्रण के पक जाने के बाद यदि विलम्ब किया जाता है या उपेक्षा की जाती है तो व्रण की जगह पोली हो जाती है, पतली त्वचा को दोष (पूय) खा जाता है, ऊपरसे वली (झुर्रिया) पडती हैं, काला वर्ण होता और वहा के बाल सब झड़ जाते हैं। इस लिए वैद्य को चाहिए कि वह व्रण पकने के बाद उसे यों ही छोड़कर उपेक्षा न करें।

कफजेषु तु शोफेषु केषुचिद्गम्भीरत्वाद्रक्तमेव विपच्यते। ततश्चास्पष्ट पक्वलिङ्ग भवति। यत्र हि त्वक्सावर्ण्य शीतशोफताऽल्परुजताऽश्मवच्च घनता न तत्र मोहमुपेयात्त रक्तपाकमित्याचक्षते।

रक्तपाक और उस के लक्षण—कभी कभी देखा जाता है कि कफ से उत्पन्न हुए शोथों में गम्भीरता के कारण नीचे रहा हुआ रक्त ही पकता है अर्थात् व्रणशोथ का पाक नहीं होता। वहा पकने का चिह्न अस्पष्ट रहता है। रक्तपाक की पहिचान यह है कि जहा त्वचा के समान वर्ण हो, सूजन पर स्पर्श करने पर शीतता प्रतीत होती हो, अल्प पीडा हो और

१ उल्मुक ज्वलदङ्गारे' इति हारावलिकोष। २ 'शोफ कफादिति वक्तव्य उदयग्रहण विशेषद्योतनार्थम्' इत्यरुणदत्त। ३ 'दोषभक्षित पूयवान्। दोषशब्देनेह पूय उच्यते, तेन भक्षितत्वात्सुषिरत्व तनुत्वक्त्वम्, इत्यप्यरुण।

वह जगह पत्थर के समान घन (कड़ी) हो तो वैद्य को मोह को प्राप्त नहीं होना चाहिए अर्थात् उसे पक्वशोथ न समझना चाहिए। इस लिए कि उसको रक्तपाक कहते हैं।

अथैनं सम्यक् पक्वमवधार्य भीरुवृद्धबालदुर्बलक्लीबक्षीणगर्भिणीविषार्दितशस्त्राक्षमेषु पाकोद्धतदोषेषु च पीडितेषु[1] सन्धिमर्माश्रितेष्वल्पेषु वा शोफेषु तीक्ष्णोष्णद्रव्यैर्दारणं कुर्वीत। इतरेषु पाटनम्। आमपाटने सिरास्नायुव्यापादनं शोणितातिप्रवृत्तिर्वेदनाभिवृद्धिरवदरणं क्षतविसर्पो वा स्यात्। भवन्ति चात्र—

तिष्ठन्नन्तः[2] पुनः पूयः सिरास्नाय्वसृगामिषम्।
विवृद्धो दहति क्षिप्रं तृणोलपमिवानलः॥
यश्छिनत्त्यामम ज्ञानाद्यश्च पक्वमुपेक्षते।
श्वपचाविव विज्ञेयौ तावनिश्चितकारिणौ॥
प्राक् शस्त्राद्भोजयेदिष्टं मद्यं तीक्ष्णं च पाययेत्।
न मूर्च्छत्यन्नसंयोगान्मत्तः शस्त्रं न बुध्यते॥
अन्यत्र मूढगर्भोदराश्मरीमुखरोगेभ्यः।

व्रणशोथका दारण और पाटन—भली भांति यह जानकर कि व्रणशोथ पक गया है तो डरपोक, वृद्ध, बालक, दुर्बल, नपुसक, क्षीण (रसरक्तादिधातुक्षीण), गर्भिणी, विष से पीडित और जो शस्त्र को न सह सकते हों, पाक के द्वारा समुद्धत दोषों से पीडित तथा सन्धिमर्माश्रित अल्पशोथों में वैद्य को चाहिए कि वह तीक्ष्ण और उष्ण द्रव्यों के लेपद्वारा शोथ का दारण करे अर्थात् सूजन मे मुँह पैदा करे। यहा तीक्ष्णोष्ण द्रव्य व्रणप्रतिषेधोक्त—गूगल, अलसी, गोदन्त, स्वर्णक्षीरी (ककुष्ठ), कबूतर की बीट, क्षार ओषधिया और क्षार पक्वशोथविदारणार्थ लेने चाहिए[3]। उपर्युक्त सब में दारण (शोथ में तीक्ष्णोष्ण द्रव्यों से मुख करना) चाहिए। इन के अतिरिक्त पाटनकर्म[4] (शस्त्र द्वारा चीरफाड) करना चाहिए।

अपक्वशोथपाटन का निषेध—अपक्व सूजन में चीर फाड़ नहीं करना चाहिए क्यों कि कच्ची सूजन की चीरफाड से सिरास्नायु कट जाते हैं अर्थात् सिरा-स्नायु के कटने से मरण का भय होता है। इतना ही नहीं, रक्त की अतिप्रवृत्ति, पीडा की वृद्धि, त्वचा का फटना तथा क्षत से विसर्प रोग का होना निश्चित होता है। इस के अतिरिक्त आमपाटन से भीतर पूय रहकर बढ़कर फिर सिरा, स्नायु, रक्त और मास को इस प्रकार जला देता है जैसे कि अग्नि उलप (तृण के गुल्म[5]) को जलाता है।

आमोच्छेदक तथा पक्वोपेक्षक की निन्दा—अज्ञान से जो अपक्व का पाटन करता है और जो पके हुए शोथ की उपेक्षा कर उस की चीरफाड़ नही करता है, इन दोनों अनिश्चितकारियों को चाण्डाल की तरह समझना चाहिए।

शस्त्रकर्म से प्रथम भोजनादि का निर्देश—वैद्य को चाहिए कि वह शस्त्रकर्म करने से पहले रोगी को इष्ट भोजन करावे और तेज मद्य पिलावे। इस लिए कि अन्न के सयोग से रोगी शस्त्रकर्म मे मूर्च्छित नही होता और मद्य से मतवाला शस्त्र पात को कुछ भी नहीं समझता।

परन्तु यह शस्त्रपाटनक्रिया मूढगर्भ, उदर, अश्मरी और मुखरोग को छोड़कर करनी चाहिये।

अथोपहृतयन्त्रशस्त्रक्षाराग्निजाम्बवौष्ठपिचुप्लोतपत्रसूत्रचर्मपट्टमधुस्नेहकषायालेपकल्कसेकोदकुम्भीशीतो[1]ष्णोदककटाहव्यजनादिव्रणोपयोगि सर्वोपकरणमास्तृतशयनीयमुपस्थितस्नेहबलवदवलम्बकपुरुषमिष्टेऽहनि मुहूर्ते च दध्यक्षतान्नपानरुक्मरत्नार्चितविप्रं प्रणतेष्टदेवतं[3] भुक्तवन्तमातुरं प्राङ्मुखमुपवेश्य संवेश्य च यन्त्रयित्वा प्रत्यङ्मुखो वैद्यो मर्मसिरास्नायुसन्ध्यस्थिधमनीः परिहरन्ननुलोमं शस्त्रं निदध्यादापूयदर्शनात्सकृदेवाहरेच्छस्त्रमाशु च। महत्स्वपि च पाकेषु द्व्यङ्गुलं शस्त्रपदमुक्तं, द्व्यङ्गुलान्तरं त्र्यङ्गुलान्तरं वाऽभिसमीक्ष्य विवृते प्रदेशे वामप्रदेशिन्यान्वेषित्वा[4] नातिविवृते गम्भीरे मांसले चैषिण्या विपरीते करीरादिनालेनातिसंवृते सूकरवालेन[5]।

शस्त्रक्रिया की सामान्यविधि—वैद्य को चाहिये कि वह पहले यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि, जाम्बवौष्ठ, पिचु (रुई का फाया), प्लोत (पोंछने के लिये कपड़ा), पत्र (वृक्षों के पत्र), सूत, चर्मपट्ट, शहद, घृत, तैलादिस्नेह, कषाय, लेप, कल्क, सेक, जल की घडिया, ठण्डे और गरम पानी के कटाह (कड़ाही) और पखा आदि व्रण के उपयोग में आनेवाले उपकरणों को अपने पास में रख ले। इनके अतिरिक्त बिछौना, सोने-बैठने के लिये खटिया, मन के अनुकूल सहायक पुरुष इन सब की व्यवस्था करके शुभ दिन या शुभ मुहूर्त में दधि अक्षत अन्न पान-सुवर्ण-रत्नादि से ब्राह्मण की पूजा करनेवाले, इष्टदेवता को प्रणाम किए हुए, भोजन किए हुए रोगी को पूर्वाभिमुख भली-भाति बिठाकर या सुलाकर सुयन्त्रितकर (शस्त्रकर्म की जगह से ऊपर की ओर बाधकर) पश्चिम की ओर मुख करके बैठा हुआ वैद्य मर्म, सिरा, स्नायु, सन्धि, अस्थि और धमनी को बचाकर सीधा जब तक पूय के दर्शन हो शीघ्र ही एक बार शस्त्रपात करके शीघ्र ही निकाल लेवे।

शस्त्रपद का प्रमाण—बड़े पक्व शोथ में भी शस्त्रपद का प्रमाण दो अगुल का कहा है। दो अगुल या तीन अगुलके अन्दर से बडे व्रण में शस्त्रपद (शस्त्र के चिह्न) बाँयें हाथ की तर्जनी अगुली से देखकर करने चाहिये। साराश यह है कि विस्तृत क्षेत्रवाले व्रणशोथ में एक बारके शस्त्रपात से पूरा पूय न निकले तो दो-दो या तीन-तीन अगुलके अन्तर से शस्त्र से छेद करके पूय को निकाल लेवे। यदि व्रण अतिविस्तृत न हो, किन्तु गम्भीर (गहरा) और मांसल (अधिक मांसवाला) हो तो

१ पिण्डितेषु इ० पा०। २ तिष्ठन् पक्वे इ० पा०। ३ व्रणप्रतिषेधोद्दिष्टैर्दारणद्रव्यैर्यथा-'गुग्गुलवतसिगोदन्तस्वर्णक्षीरीकपोतविट्। क्षारौषधानि क्षाराश्च पक्वशोफविदारणम्॥' इति। ४ दारण-क्षारादिना द्वारकरणं पाटन-शस्त्रेण। इति हेमाद्रि। ५ 'तृणोलप—तृणगुल्मम्' इति हेमाद्रि।

१ कुम्भ। २ माश्रित। ३ प्रणतेष्टदेवतं कृतमङ्गलाचरणं। ४ प्रदेशिन्यैषित्वा। ५ सूकरवालेन वा। ६. 'असमोहस्तत्कालोचितकार्यकरणे। सम्यक्प्रवृत्तिः, इत्यरुण।

पहले सलाई, अगुली से अन्वेषण कर लेवे। इससे विपरीत मे करीरादिनाल (कमलनाल) से तथा अति ढके हुए (न दिखाई देनेवाले) व्रण में शूकर के बाल से निरीक्षण कर ले अर्थात् व्रण की पोल कितनी गहरी है, यह देखकर फिर देश और आशय के अनुकूल छेद करे।

यतो गता गति विद्यादुत्सङ्गो यत्र यत्र च ।
तत्र तत्र व्रण कुर्यात्सुविभक्त निराशयम् ॥
आयत च विशाल च यथादोषो न तिष्ठति ।
शौर्यमाशुक्रिया तीक्ष्ण शस्त्रमस्वेदवेपथू ॥
असमोहश्च वैद्यस्य शस्त्रकर्मणि शस्यते ॥

शस्त्रपात के योग्य प्रदेश—**जिस स्थान में देखने पर जहा तक नाडी (शलाका) की गति हो, वहीं तक व्रण करना चाहिये और जहा जहा ऊपर को उठा हुआ भाग हो वहा वहां सुविभक्त एव निराशय अर्थात् जहा पूयादि दोष को स्थान न रहे इस प्रकार छेद या व्रण करना चाहिये। व्रण ऐसा दीर्घ और विस्तृत करना चाहिए कि जिससे वहां पर दोष (पूय) न रहने पावे।**

प्रशसनीय शस्त्रकर्म—**शौर्य (वीरता या धैर्य), आशुक्रिया (हाथों की चतुरता जिससे शीघ्र कार्य हो जाय), जिसके शस्त्र तीक्ष्ण हों, शस्त्रक्रिया करते समय जिसको पसीना और कम्प न हो तथा असमोह (तत्काल उचित कार्य करने में प्रवृत्ति) ये शस्त्रक्रिया करनेवाले वैद्य के उत्तम गुण हैं।**

वक्तव्य—वैद्य के सद्गुणों में यहा शौर्य का उल्लेख पहले किया गया है। इसी से स्वेद तथा कम्प का अभाव सिद्ध हो रहा है। स्वेद और कम्प डरपोक के लक्षण हैं अत वैद्य के लिए-अस्वेदवेपथू-विशेषण अनर्थक प्रतीत होता है। इस शका का समाधान करते हुए टीकाकार अरुणदत्त कहते हैं—'यह ठीक है कि स्वेद और कम्प डरपोक के लक्षण हैं किन्तु किसी किसी को प्रकृतिवशात् या उष्णकाल के कारण स्वेद और कम्प होता है। इसीलिए तत्परिहारार्थ यह कहा गया है कि पसीने तथा कम्प की अवस्था में वैद्य शस्त्र-ग्रहण ही नहीं कर सकता।

तत्र भ्रूगण्डललाटाक्षिकूटौष्ठदन्तवेष्टमन्याकण्ठजत्रुकक्षाकुक्षिवङ्क्षणेषु[1] तिर्यक् छेद इष्ट। अन्यत्र तु सिरा स्नायूपघातोऽतिवेदना चिराद् व्रणसरोहो मासस्कन्दी च तिर्यक्छेदाद्भवन्ति। तत शस्त्रमवचार्य शीताभिरद्भिरातुरमाश्वास्य समन्तात्प्रतिपीड्याङ्गुल्या व्रणमभिप्रक्षाल्य[2] कषायेण व्रणात्प्लोतेनाम्भोऽपनीय वेदनारक्षोघ्नैर्गुग्गुल्वगुरुसर्जरसवचागौरसर्षपहिङ्गुलवणनिम्बपत्रै सघृतैर्व्रण धूपयित्वा यथास्वमौषधेन मधुघृततिलकल्कैश्च दिग्धा वर्ति प्रणिधाय कल्केन पूरयित्वा नातिभृष्टयवसक्तुभिर्घृताक्तैर्भाजनान्तेऽम्भसा दक्षिणाङ्गुलीभि सुमृदितैरवच्छाद्य घना कवलिका दत्त्वा सव्यदक्षिणान्यतरपार्श्वे मृदु[3]मनाविद्धमसकुचितमृजुपट्ट निवेश्य बध्नीयात्।

१ कक्ष्याकुक्षि। २ व्रणमपि प्रक्षाल्य। ३ मृदु।

वातश्लेष्मोद्भवांस्तत्र द्विस्त्रिर्वा वेष्टयेद्व्रणान्।
सकृदेव परिक्षिप्य पित्तरक्ताभिघातजान् ॥

भ्रूआदि मे तिर्यक् छेदका निर्देश और अन्यत्र निषेध—**भ्रू (भौहें), कपोल, ललाट, अक्षिकूट (नेत्रगोलक), होठ, मसूढ़े, ग्रीवा, कण्ठ, जत्रु, काख, कुक्षि और वङ्क्षणसन्धि मे शस्त्रक्रिया करनी हो तो वहा तिर्छा छेद करना ठीक होता है तथा इनके अतिरिक्त अन्य स्थानों में तिर्यक् छेद न करे क्यों कि अन्यत्र तिर्यक् छेद करने से सिरा और स्नायु कट जाने का भय होता है। इतना ही नही, अन्यत्र तिर्यक् छेदसे अति वेदना होती है, व्रण दीर्घ काल (विलम्ब) से भरता है तथा मासस्कन्दी[1] सज्ञक एक प्रकार की गाठ उत्पन्न होती है।**

शस्त्रक्रिया के अनन्तर—**शस्त्रक्रिया करके रोगी को शीतल जलसे आश्वासन देवे, व्रणके चारों ओर अङ्गुलीसे दबाकर कषायसे प्रक्षालन करे। व्रणपर के जल को कपडे से पोंछकर गूगल, अगर, राल, वच, पीली सरसों, हींग, नमक, नीमके पत्र इन सबको घृतमिश्रित करके व्रण को इनकी धूनी देकर जहाँ जो औषध उचित हों उन ओषधियों से तथा शहद, घृत और तिलके कल्क से बत्ती को लेप करके व्रण में रक्खे और फिर कल्क से व्रण की जगह को पूरित कर, थोडे से भूने हुए घृत मिश्रित जौ के सत्तू को बर्तन में जलके साथ दाहिने हाथ की अङ्गुलियों से भली भाति मर्दन कर उससे व्रण को ढक दे और फिर उसपर गाढी कवलिका (कपडे के टुकड़ों की बनाई हुई पोली[2] या भग्नरोगाधिकार में कही हुई पलाश, गूलर आदि की छाल-पत्रों से बनाई हुई पाली) देकर बाए या दाहिने पार्श्व से नरम, छिद्ररहित, विस्तृत तथा सरल ऐसे वस्त्रका पाटा बाध दे।**

यदि व्रण वायु और कफसे उत्पन्न हुए हों तो दो या तीन बार कपडे से वेष्टन करे। यदि व्रण पित्त, रक्त तथा अभिघातज (चोट आदि लगने के कारण पैदा हुए) हों तो उनपर एक ही कपड़ा लपेटना चाहिए। साराश, वात और कफसे उत्पन्न व्रणोंपर इतना कपडा लपेटना चाहिए कि उसके दो या तीन पर्त आ जावे और यदि पित्त-रक्ता-भिघातज व्रण हो तो लपेटने मे कपडे का एक ही पर्त रहे।

शस्त्रक्षतरुजायां तु प्रतताया यष्टीमधुकसर्पिषोष्णेन व्रण सिञ्चेत्। उदकुम्भाच्चापो गृहीत्वा प्रोक्षन् परितो विकीर्य पर्णसर्षपादिभिरस्य[3] रक्षा कुर्याद्रक्षोभिभर्वानिषेधार्थम्। तेभ्यश्च बलिमुपहरेत्। धारयेच्च शिरसा—

१ 'मासस्कन्दी मासरूढो ग्रन्थि' इतीन्दु। २ 'कवलिका—बहुवस्त्रखण्डपुटनिर्वर्तिताम्', इत्यरुण। 'वस्त्रखण्डमयी पालीम्', इति तन्त्रान्तरे। 'कवलिका-व्रणकल्कौषधाच्छादनद्रव्यम्, सा चौषधस्वरसनि सरणनिवारणार्थं भग्नोक्तपलाशोदुम्बरादीना त्वक्पत्रादिकृता, इति डल्हन। ३ याचकार्थपर्णशबर्यादिभिरस्य, प्रोक्षयन् विकीर्य पर्णशबर्यादिभिरस्य, इति मूलमुद्रिते दुटीकासम्मतौ पाठौ। 'यावकार्थपर्णसपर्यादिभिरस्य, इति हेमाद्रिसम्मत पाठ। 'यायकार्थपर्णसर्षपादिभिरस्य, विकीर्य पर्णसर्षपादिभिरस्य, इति टीकाकारैरुद्धृतौ पाठौ।

लक्ष्मी गुहामतिगुहा जटिला ब्रह्मचारिणीम् ।
वचा छत्रामतिच्छत्रा दूर्वा सिद्धार्थकानपि ॥
गुग्गुल्वादिभिरेव शयनासनादि द्विरह्नो धूपयेत् ।
तथा स्नेहोक्त दिनचर्योक्त चाचारमनुवर्तेत । विशेषतश्च दिवास्वप्नाद् व्रणे शोफकण्डूरागरुक्पूयवृद्धि ।

शस्त्र के क्षत से पीडा हो तो—शस्त्र से किए हुए क्षत से यदि विशेष वेदना हो तो मुलेठी के साथ सिद्ध किए उष्ण घृत से व्रण का सिंचन करे अर्थात् सुहाता सुहाता यह घृत क्षतपर डाले। जलके घड़े मे से जल लेकर उससे व्रण का प्रोक्षण करके उसके आजू-बाजू में पर्ण-सरसों आदि बिखेर कर उसकी रक्षा करे ता कि पिशितादि राक्षसों के सम्भवनीय उपद्रव का निषेध हो जाय। उनके लिए बलि भी देवे।

रक्षोभिभवनिषेधोपाय—व्रणरोगी को अथवा शस्त्रक्रिया किए हुए रोगी को पिशितादि राक्षसों से भय न हो-इन राक्षसी उपद्रवों से रक्षा हो इस लिए रोगी को चाहिए कि वह लक्ष्मी (ऋद्धि, पद्मा, वृद्धि या शमी), गुहा (पृश्निपर्णी), अतिगुहा (शालिपर्णी), जटिला (जटामासी), ब्रह्मचारिणी (ब्राह्मी), बच, छत्रा और अतिच्छत्रा (श्वेत कापोतिकाकन्द और शतावरी), दूर्वा तथा पीली सरसों इन दस महौषधियों को मस्तक में धारण करे। गूगल आदि (गूगल, अगर, राल, बच, पीली सरसों, हींग, सैन्धव लवण और नीमके पत्र घृत सहित) का धूप दो दिन तक रोगी के शयन, आसनादि को देवे। इसके अतिरिक्त स्नेहविधि मे वर्णन किया हुआ तथैव दिनचर्या में कथित दिवास्वाप-निषेधादि आचार का उपदेश करे क्यों कि दिन में सोने से व्रण में सूजन, खाज, ललाई, पीड़ा और पूय की विशेष वृद्धि होती है।

वक्तव्य—ऊपर कहा गया है कि रक्षोऽभिभवशमनार्थ आतुर को चाहिए कि वह अपने मस्तक पर लक्ष्मी, गुहा, गुहादि दस महौषधियों को धारण करे। इनमे से लक्ष्मी नाम यद्यपि ऋद्धि, वृद्धि, पद्मा और शमी के लिए है किन्तु अष्टाङ्गहृदय की सर्वाङ्गसुन्दरा टीका में अरुणदत्तने लक्ष्मी को पद्मा माना है परन्तु आयुर्वेदरसायनकार हेमाद्रि लक्ष्मी को शमी मानते हैं। हमारी समति भी यहां शमी के पक्ष में है क्यों कि शमी राक्षसघ्नी है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भी राक्षसों पर विजय पाने के लिए प्रथम शमीपूजन किया था। इसी प्रकार भगवान् धन्वन्तरि छत्रा और अतिच्छत्रा को श्वेतकापोतिकाकन्द मानते हैं परन्तु अरुणदत्त इन दोनों को क्रम से शतपुष्पा (सौंफ) और काकडासिंगी मानते हैं तथा हेमाद्रि दोनों को क्रम से छोटी और बड़ी सौफ मानते है तथा सुश्रुत के टीकाकार डल्ह्लन इन्हें द्रोणपुष्पीद्वय मानते हैं। निघण्टुकार अतिछत्रा को शतावरी कहते है। सम्प्रति कापोतिका और श्वेतकापोतिका दुष्प्राप्य एव अप्राप्य है। इस लिए छत्रा के अभाव में शतपुष्पा तथा अतिच्छत्राके अभाव मे शतावरी का ग्रहण करना उपयुक्त प्रतीत होता है।

१ दिनचर्योक्तमाचारमनुवर्तेत। २ लक्ष्मी सम्पत्तिशोभयो । वृद्ध्यौषधे च पद्मायामृद्धिनामौषधेऽपि च। फलिन्या शम्या चैव इति मेदिनी। ३ छत्रातिच्छत्रके विद्याद्रक्षोघ्ने कन्दसम्भवे। जरामृत्युविनाशिन्यौ श्वेतकापोतिसस्थिते ॥ इति सुश्रुतचिकित्सास्थानीये त्रिंशत्तमेऽध्याये। छत्रा शतावरीति राजनिघण्टु। ४ 'लक्ष्मीं—पद्मचारिणीम्, इत्यरुण। 'लक्ष्मीं—शमीम्, इति हेमाद्रि। ५ छत्रा-शतपुष्पाम्। 'अतिच्छत्रा-विषाणिकाम्, इत्यरुणदत्त।

स्त्रीणा तु स्मृति-सस्पर्श-दर्शनैश्चलिते स्रुते ।
शुक्रे व्यवायजान् दोषानससर्गेप्यवाप्नुयात् ॥
(व्रणे श्वयथुरायासात्स च रागश्च जागरात् ।
तौ च रुक् च दिवास्वापात्ताश्च मृत्युश्च मैथुनात् ॥)

व्रणी के लिए स्त्रीविषयक निषेध—स्त्रियों का स्मरण, स्पर्श और दर्शन ये तीनों वीर्य को चलित एव स्खलन करने वाले हैं अत बिना मैथुन के भी ये (स्मरण, स्पर्श और दर्शन) मैथुन जन्य दोषों के करनेवाले हैं। इस लिए स्त्रीसग तो दूर रहा, स्त्री का स्मरण, दर्शन एव स्पर्श व्रणी को नहीं करना चाहिए। इसी लिए भगवान् धन्वन्तरिने कहा है कि श्रमसे व्रणमें शोथ हो जाता है, जागरण से शोथ और राग दोनों होते है, दिन में सोने से शोथ, राग और वेदना होती है परन्तु मैथुन करने से शोथ, राग और वेदना तो होती ही है किन्तु प्राणी की मृत्यु तक हो जाती है। इसलिए व्रणी को चाहिए कि वह मैथुन की तो भावना ही न करे और न स्त्री का स्मरण, स्पर्श तथा दर्शन ही करे।

भोजयेच्चैन यथासात्म्य समातीतशालिषष्टिकयवगोधूमान्यतम मुद्गमसूराढकीसतीनयूषजाङ्गलरसोपेत जीवन्तीसुनिषण्णतन्दुलीयकवास्तुकवार्ताकपटोलकारवेल्लकबालमूलकशाकयुक्त दाडिमामलकसैन्धवसहित सर्पि स्निग्ध लघ्वल्पमुष्णोदकोत्तर च। एवमस्य सम्यगशित जरामुपैति ।

अजीर्णादनिलादीना विभ्रमो बलवान् भवेत् ।
तत' शोफरुजापाकदाहानाहानवाप्नुयात् ॥

व्रणी के लिए देय भोजनादि —व्रणी को सात्म्य का विचार कर भोजन करावे। एक वर्ष के पुराने शालिषष्टिक (चावल विशेष), जौ और गेहू इनमें से किसी एक अन्न को दे जो कि मूग, मसूर, अरहर, मटर या चवला इनमें से किसी एक के जागल प्राणियों के मासरस-सहित यूष के साथ हो तथा जो जीवन्ती, चनपतिया, चौलाई, बथुवा, वृन्ताक, पटोल, करेला, कच्ची मूली आदि के शाकसहित जो कि अनारदाने, आमले, सेन्धा नमकसह घृत से स्निग्ध हो देवे। ऊपर से हलका और अल्प उष्णोदक पिलावे। इस प्रकार करने से उसका किया हुआ भोजन अच्छी तरह से पच जाता है। इस विधि के विपरीत अन्न-पानादि देने से किया हुआ भोजन न पचकर अजीर्ण हो जायगा और अजीर्ण के होने से वायु आदि का बलवान् प्रकोप होगा और फिर शोथ, पीडा, पाक, दाह और आनाह की प्राप्ति होगी।

नवधान्यमाषकलायकुलत्थनिष्पावशिम्बीशीताम्बु-

१ 'छत्रातिच्छत्रे—शतपुष्पाद्वयम्, इति हेमाद्रि। 'छत्रातिच्छत्रे-द्रोणपुष्पीद्वयम्' इति डल्ह्लन। २ सुश्रुतपाठोऽयम्।

मद्येक्षुक्षीरपिष्टतिलविकृतिशुष्कशाकपिशितहरितकाम्ललवणकटुकक्षारानूपामिषाणि वर्जयेत्।

वर्गोऽय नवधान्यादिर्व्रणिन सर्वदोषकृत् ।
मद्य तीक्ष्णोष्णरूक्षाम्लमाशु व्यापादयेद् व्रणम्॥
बालोशीरैश्च वीजयेत न चैन परिघट्टयेत् ।
न तुदेन्न च कण्डूयेच्चेष्टमानश्च पालयेत् ॥
स्निग्धवृद्धद्विजानीना कथा शृण्वन्मन प्रिया ।
आशावान्व्याधिमोक्षाय क्षिप्र व्रणमपोहति ॥

व्रणी के लिए नवधान्यादिनिषेध—नवीन धान्य, उड़द, मटर, कुलथी, सेम, शिम्बीधान्य, शीतल जल, मद्य, ईख, दूध, तन्दुलपिष्ट, तिल के बने पदार्थ, सूखे शाक और मास, हरितक, अम्ल, लवण, कटुक, क्षार, अनूपदेश के जीवों के मास ये सब बर्जित करने चाहिए क्योंकि यह नवधान्यादि वर्ग व्रणरोगियों के लिए समस्त दोषों का करनेवाला है। मद्य तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष और अम्ल है अत व्रणी को मारनेवाला है अत मद्य का सेवन न करे।

व्रणी के लिए हितोपदेश—व्रणरोगी को चाहिये कि वह व्रण पर बाल (चमर) तथा खस का पखा करता रहे ताकि मक्षिकादि व्रण पर न बैठ सके। व्रण को न दबावे, न नोचे, न खुजलावे अपितु सचेष्ट रहता हुआ व्रण का परिपालन करे। इतना ही नहीं, प्रियस्नेही, वृद्ध, ब्राह्मण आदि से मन को प्रिय लगनेवाली बातें सुने, धर्मग्रन्थो को सुने और यह आशा करे कि मेरा रोग शीघ्र ही दूर होगा। ऐसा करने से व्रण-व्याधि शीघ्र ही नष्ट हो जाती है।

पुनश्च तृतीयेऽहनि प्रक्षालनादि पूर्ववद् व्रणकर्म कुर्यात्। द्वितीयदिवसे मोक्षणादादौ विग्रथितो व्रणश्चिरादुपरोहत्युग्ररुजश्च भवति। न च विकेशिकामौषध वाऽतिस्निग्धरूक्षमतिश्लथगाढमश्लक्ष्ण दुर्न्यस्त च दद्यात्। अतिस्नेहात्क्लेद । अतिरौक्ष्याच्छेदो वेदना च। अतिश्लथत्वादपरिशुद्धि। गाढतया सरम्भ। अश्लक्ष्णत्वाद्दुर्न्यासाच्च व्रणवर्त्मोपघर्षणम्।

व्रण का पुन प्रक्षालनादि—फिर तीसरे दिन पूर्ववत् प्रक्षालनादि कर्म करे किन्तु भूल कर भी दूसरे दिन व्रण का पाटा आदि न खोले क्योंकि दूसरे दिन पाटा खोलने से पहले से विग्रथित (न भरा हुआ) व्रण विलम्ब से भरता है और उसमें भयकर वेदना होती है।

अतिस्निग्धादि विकेशिका और औषध का निषेध—न तो व्रण में सूक्ष्म सूत्रवर्ति अथवा न अतिस्निग्ध, अतिरूक्ष, अतिश्लथ (अतिढीला), अतिगाढा, अतिसूक्ष्म न पिसा हुआ और न दुर्न्यस्त (अनुचित स्थान पर) औषध देवे, क्योंकि अतिस्नेह से क्लेद (पूयादि) बढ़ता है, अतिरूक्ष से व्रण में छेद अत्यन्त वेदना होती है, अतिश्लथ से व्रण की सम्यक् शुद्धि नहीं होती, अतिगाढता से व्रण में क्षोभ होता है, अतिसूक्ष्म न होने और विचार कर उचित स्थान पर ओषधि के न देने से व्रण का मार्ग घिस जाता है अर्थात् उपघर्षण से भी पीडा ही बढ़ती है।

अवश्य साशये व्रणे विकेशिका दद्यात् ।
सपूतिमास सोत्सङ्ग सगति पूयगर्भिणम् ।
व्रण शोधयते शीघ्र स्थिता ह्यन्तर्विकेशिका ॥

पूतिमासादि व्रण में विकेशिका की आवश्यकता—साशय (अन्तर्विस्तीर्ण) व्रण में अवश्य विकेशिका देनी चाहिये। जिसका मास सडकर दुर्गन्धित हो गया हो, जो ऊचा उभरा हुआ हो, जो सगति (पूयादिभक्षित-मास के कारण खोखला हो गया) हो और जिसमे पूय भरा हो तो ऐसे व्रण को अन्त विकेशिका (सूत्रवति) शीघ्र ही शुद्ध कर देती है।

व्यम्लं तु पाटित शोफ पाचनै समुपाचरेत् ।
भोजनैरुपनाहैश्च नातिव्रणविरोधिभि ॥

विदग्धव्रण-पाटनोपाय—यदि विदग्ध (कच्चे) शोथ को चीर डाला गया हो तो उसे पाचन, भोजन, उपनाह (स्वेद विशेष) द्वारा ठीक करना चाहिये। ध्यान रहे कि वे पाचन, भोजन तथा उपनाह व्रण के अतिविरोधी न हों।

यत्र सीव्यो व्रणस्तत्र चलास्थिशल्यपाशुतृणरोमशुष्करक्तादीन्यपोह्य विच्छिन्न प्रविलम्बिमास सन्ध्यस्थीनि च यथास्थाने[1] सम्यक् स्थापयित्वा स्थिते रक्ते यथार्हं सूच्योपहितेन स्नायुसूत्रबालान्यतमेन सीव्येत्। शणाश्मन्तकमूर्वाऽतसीना वा वल्कै। सीवनविकल्पास्तु समासेन चत्वार। तद्यथा—गोष्फणिका तुन्नसीवनी[2] वेल्लितक ग्रन्थिबन्धनमिति। तेषा नामभिरेवाकृतिविभाग प्रहारवशाच्चोपयोग।

सीव्य व्रण में आदि कर्त्तव्य—जो व्रण सीने के योग्य हो तो प्रथम उसमें से चलास्थि (जो हड्डी टूटकर अलग हो गई हो), शल्य (विविध तृण, काष्ठ, पाषाणादि), मिट्टी, तृण, बाल, शुष्क रक्त आदि को दूरकर, कटे हुए-लटके हुए मास को तथैव सन्धिस्थान की अस्थियों को यदि खिसक गई हों तो यथास्थान अर्थात् जो मास तथा अस्थि जिस स्थान की हो भली-भाति अपने स्थान पर जमाकर जब रक्त का चलना बन्द हो जाय तब यथार्ह (जिस प्रकार के सीवन के योग्य हो उसी प्रकार से) सूची में पिरोये हुए स्नायु, सूत्र और बाल इनमें से किसी एक से व्रण को सीवे। अथवा शण, अश्मन्तक, मूर्वा और अलसी की छाल में के तन्तुओं में से किसी एक से सीवे।

सीवन के चार प्रकार—यद्यपि सीवन के कई प्रकार के प्रकार हो सकते है किन्तु सक्षेप में कहा जाय तो सीने के चार प्रकार हैं। यथा—गोफणिका, तुन्नसीवनी, वेल्लितक और ग्रन्थिबन्धन। इनके नामों पर से ही सीने की आकृति जानी जा सकती है और इनका उपयोग प्रहार की महत्ता एव लघुता के अनुसार किया जाता है।

न वाऽतिसन्निकृष्टा विप्रकृष्टामत्यल्पबहुग्राहिणी वा सूचीं पातयेत्।

सीने के योग्य सूची—इस प्रकार की सूची (सुई) न हो

१ यथास्थान। २ तुन्नसेवन्या इ० पा०।

जिससे अति समीप-समीप या अति दूर-दूर सिया जावे और सूची ऐसी भी न हो जो अत्यल्पग्राहिणी या बहुग्राहिणी हो अर्थात् जो सीवनस्थान में बहुत कम प्रविष्ट होती हो वा अत्यधिक। साराश, सूची ऐसी हो जो यथायोग्य कार्य कर सके।

वक्तव्य—ऊपर सीने के चार प्रकार बताए हैं जैसे कि गोफणिका, तुन्नसीवनी, वेल्लितक तथा ग्रन्थिबन्धन या ऋजु ग्रन्थिबन्धन। इन प्रकारों का क्रमश संक्षिप्त स्पष्टीकरण कर देना अनुचित न होगा।

गोफणिका—भारतीय कृषक (काश्तकार) लोग खेत में पक्षियों को उड़ाने के लिए गोफण का उपयोग करते हैं यह प्राय सब जानते है। गोफण जिस प्रकार से सी हुई होती है। ठीक उसी प्रकारसे व्रण सिया जाता है। इसी लिए इस सीवन के प्रकार का नाम गोफणिका है। यह सीवनका प्रकार आधुनिक ब्लान्केट सूचर (Blanket Suture) से मिलता जुलता है। वेल्लितक की तरह इसमें भी सूत से अविच्छेद टाके लगाए जाते हैं परन्तु रचना भिन्न होती है। इसमे वैद्य प्रथम अपनी चिमटी से व्रणके ओष्ठों को पकडता है और फिर सुई को अपनी ओर से दूसरी ओर को निकालता है। यही पहला टांका होता है। इसके बाद सूत को सुई के साथ फिर अपनी तरफ लेकर पूर्ववत् दूसरी ओर को निकालता है परन्तु इस समय सुई सहायक के द्वारा पकडे हुए सूत के ऊपर से निकल जाती है और इससे एक प्रकार का फन्दा बन जाता है। इस तरह समस्त व्रण का भाग सी दिया जाता है। अधिक विस्तृत व्रण को बन्द करने के लिए इसका उपयोग होता है।

तुन्नसीवनी—यह सीने का प्रकार आजकल के हाल्स्टेडस सबकुटीक्यूलर स्टिच (Halstead's Subcuticularstich) से मिलता जुलता है। फटे हुए कपड़े के किनारों को मिलाने के लिए जिस प्रकार रफू करनेवाला सुई और सूत्र से रफू करता है उसी प्रकार के टाके यहा लगाये जाते है। यह अविच्छेदसीवन विधि है। इससे व्रण के ओष्ठ इस प्रकार मिल जाते हैं कि व्रण वस्तु दिखाई तक नही देती है।

वेल्लितक—यह वृक्षपर चढ़नेवाली वेल के समान सीवन विधान है। इसी लिए इसका अन्वर्थक नाम वेल्लितक है। इसमें व्रण की एक ओर से दूसरी ओर को एक ही सूत से अविच्छेद टाके लगाए जाते हैं। इसका उपयोग ताजे निर्दोष (Asaptic) व्रणों के सम्बन्धमें ही होता है। इसका सादृश्य आधुनिक ग्लोवर्स कण्टीन्यूअस सूचर (Glover's Continuous suture) के साथ होता है।

ऋजुग्रन्थिबन्धन—चिमटी से व्रण के किनारों को पकड़ कर दोनों किनारों में से इसमें सुई के द्वारा सूत्र प्रविष्ट किया जाता है। बाद में सुई से सूत को अलग कर गाठ बांध दी जाती है। गाठ बांधने के बाद गांठ के साथ दोनों तरफ अन्दाज आधा अङ्गुल सूत छोड कर शेष भाग काट दिया जाता है। इस प्रकार व्रण के अनुसार उचित अन्तर से टांके लगाए जाते हैं। इसका उपयोग बाहिरी त्वचा के सीने में अधिक होता है तथा जहा विषमौष्ठ व्रणके कारण किनारे मिलाने में अधिक तनाव होता है वहा भी इसका उपयोग अच्छा होता है। यह सविच्छेद सीवन है और इसके टाके एक दूसरे से अलग रहते है। नवीन सुधरे हुए दफ्तरों में ऐसे सीवन को इण्टरप्टेड सूचर (Interrupted suture) कहते है।

न वा[1]तिसन्निकृष्टा विप्रकृष्टामत्यल्पबहुग्राहिणी वा सूची पातयेत्।

सीनेके अयोग्य सूची—सुई ऐसी नहीं चलानी चाहिए जो बिल्कुल समीप समीप या दूर दूर पर चलाई जाय और न इस प्रकार ही चलाई जाय जो कि चमडे में अत्यल्प या अति गहरी प्रविष्ट होनेवाली हो। साराश यह है कि सूची से न तो समीप समीप और न अति दूर दूर सीवन करे। इसके अतिरिक्त सूची ऐसी हो कि जो यथोचित प्रविष्ट होनेवाली हो न कि न्यूनाधिक।

एव सम्यक् स्यूतमवेद्य मधुघृतयुक्तैरञ्जनमधुकनिम्बरोध्रप्रियङ्गुसल्लकीफलक्षौममषीचूर्णैरवकीर्य पूर्ववद्बन्धादीन् प्रयोजयेत्[2]।

सीवनके पश्चात्कर्म—इस प्रकार अच्छी तरह से सीवन कर्म सम्पन्न हो गया, यह देख कर वैद्यको चाहिए कि वह सुर्मा, मुलेठी, निम्बपत्र, लोध्र, प्रियगु, सालईका फल, रेशमी वस्त्र की मषी (राख) इन सबके शहद और घृत से युक्त चूर्ण को सीए हुए व्रण पर बुरकाकर प्रथम कही हुई विधिके अनुसार पाटे (बन्धन) आदिकी योजना करे।

वक्तव्य—सीवन के गोष्फणिका, तुन्नसीवनी, वेल्लितक और ऋजुग्रन्थिबन्ध इन चारों प्रकारों के विषय में आधुनिक प्रचलित रीत्या ऊपर कुछ लिखा जा चुका है। उक्त चारों सीवन प्रकारों के विषयमें सुश्रुतके टीकाकार डल्लन का कहना है कि' गोफणके सीनेके आकार गोष्फणिकासीवन होता है। टेढ़े सीने को वेल्लितक कहते हैं। कपड़ा बुननेवाले तन्तुवाय जिस प्रकार फटे हुए कपड़े को सीकर रफू करते हैं, पता नही लगता कि यहा फटा था उसका नाम तुन्नसीवन है। ऋजु (सरल) ग्रन्थिके समान जिसमें बन्ध होता है उसे ऋजुग्रन्थिबन्ध[3] कहते हैं।

इस अष्टाङ्गसंग्रह के टीकाकार इन्दु कहते हैं कि—'जो काकपदाकृति व्रण चारों ओर से सिया जाता है उसे गोष्फणिकासीवन कहते हैं। जो अति निकट के दो व्रणों को इस प्रकार सिया जाता है जैसे दीर्घकाल के फटे हुए वस्त्र को सीकर पूर्ववत् कर दिया जाता है, इसका नाम तुन्नसीवन है। व्रण के ओष्ठों को लपेटता हुआ सिया जाय उसे वेल्लितक कहते हैं। एक ही वार जिसमें सूतकी योजना की जाती है उसे ऋजुग्रन्थिबन्धन या रज्जुग्रन्थिबन्धनसीवन कहते हैं। अस्तु।

असीव्या वङ्क्षणवक्षःकक्षादिषु प्रचलेष्वल्पमांसेषु च वायुर्निर्वाहिणो[4]ऽन्तर्लोहितशल्या विषाग्निक्षारकृताश्च व्रणा।

---

१ न चाति। २ योजयेत्। ३ गोफणिका गोफणाकाराम्। तुन्नसेवनीमिति यथा-वस्त्र पाटित तन्तुवायका सन्दधति तद्वत्तुन्नसेवन सीव्येत्। ऋजुग्रन्थिमिति ऋजुग्रन्थि-सदृशो बन्धो यस्या सा। वेल्लितक वक्रम्। इति ॥ ४. वायुनिर्वामिणो।

सीवन के अयोग्य व्रण—वङ्क्षण, वक्षःस्थल, कक्षा (काख) आदि स्थानों में, जो प्रचलित अङ्ग हो, जहां अल्प मास हो, जिनमें टाका लगाते ही वायु के सचार की शका हो, जिनके अन्दर पूय, रक्त और शल्य हो और जो विष, अग्नि और क्षार के कारण उत्पन्न हुए हों, इन सब को नहीं सीना चाहिए।

वक्तव्य—उपर्युक्त व्रणों के सीवन का निषेध इस लिए किया गया है कि वङ्क्षण और वक्षःस्थल में सीने से मरण का भय रहता है क्योंकि ये मर्मों के समीप हैं। चलस्थान हिलता रहता है अत वहा टाका लगाने में टूटने का भय रहता है। अल्पमास में भी यह बात रहती है। जिनमें रक्त, पूय और शल्य होता है उनके सीने में वायु का सञ्चार अनिवार्य होता है और विष, क्षार तथा अग्नि से उत्पन्न व्रणों के सीकर बन्द कर देने से सारे शरीर मे विषादि प्रकोप के फैलने का डर अवश्यभावी होता है। मारुतनिर्वाही व्रणों में वायुजनक जीवाणुओं का प्रवेश होने से व्रण में वायु का प्रकोप होता है। उक्त जीवाणु वायु भी (Anaerobes) हैं तथा इनमें वेसिलस वेलची और विब्रियो सेप्टिक (B Welchii and Vibrio Septic) प्रधान है ऐसा आधुनिक शस्त्र-वैद्यों का मत है। सारांश, प्राचीन एव अर्वाचीन इन दोनों वैद्यक-पद्धतियों के अनुसार उपर्युक्त व्रणों में सीवन-कर्म का निषेध सिद्ध होता है।

सीव्यास्तु मेद समुत्था[1] भिन्नलिखिता कफग्रन्थि-रल्पपालीक[2] कर्णं सद्योव्रणाश्च। शिरोललाटाक्षि-कूटकर्णनासागण्डौष्ठकृकाटिकाबाहूदरस्फिक्पायुप्रजनन मुष्कादिष्वचलेषु मासवत्सु च प्रदेशेषु।

सीने के योग्य व्रण—जो मेद से उत्पन्न ग्रन्थि आदि जिनका भेदनकर लेखन किया गया हो, कफ की उत्पन्न हुई गांठ, पतली पाली (लो) वाला कान, तुरन्त चोट आदि लगने से हुआ व्रण तथा इनके अतिरिक्त सिर, ललाट, नेत्र गोलक, कान, नाक, गाल, होंठ, कृकाटिका (ग्रीवा के पीछे का भाग), बाहु, उदर, स्फिक् (नितम्बों के ऊपरिभाग), गुद, योनि, मुष्क (अण्डकोष) इनके अचल (न हिलनेवाले) और अधिक मासवाले स्थानों में सीवनकर्म करना चाहिए।

वक्तव्य—मेदोजनित व्रण हो तो उसे चीरकर चर्बी निकालकर फिर सीना चाहिए। सद्योव्रणादि को तुरन्त सी देना चाहिए। इस लिए कि उपेक्षा करने से वायु आदि दोष कुपित होकर कुछ काल के अनन्तर व्रण को भयकर बना देते हैं।

कोशदामोत्सङ्गस्वस्तिकानुवेल्लितमुत्तोली[3]मण्डलस्थ-गिका[4]यमकखट्वाचीनविबन्धवितानगोष्फणा पञ्चाङ्गी चेति पञ्चदश बन्धविशेषाः। तेषा नामभिरेवाकृतय प्रायेण व्याख्याता। तत्र कोशमङ्गुलिपर्वसु विदध्यात्। दाम सम्बाधेऽङ्गे। उत्सङ्ग विलम्बिनि। स्वस्तिक सन्धिकूर्चभ्रूस्तनान्तरकक्षा[5]क्षिकपोलकर्णेषु। अनुवेल्लित शाखासु। मुत्तोलीं[1] ग्रीवामेढ्रयो। मण्डल वृत्तेऽङ्गे। स्थगिका[2]मङ्गुष्ठाङ्गुलिमेढ्राग्रमूत्रवृद्धिषु। यमक यमलव्रण-यो। खट्वा हनुशङ्खगण्डेषु। चीनमपाङ्गयो। विबन्ध-मुदरोरुपृष्ठे[3]। वितान मूर्द्धादौ पृथुलेऽङ्गे। गोष्फण नासौष्ठचिबुकसक्थिषु[4]। पञ्चाङ्गी जत्रूर्ध्वमिति। यो वा[5] यस्मिन् प्रदेशे सुनिविष्टो भवति त तस्मिन् कुर्वीत न तु व्रणस्योपरि ग्रन्थिर्बाधकरो[6] यथा स्यात्।

पञ्चदश व्रणबन्ध—व्रणों को बाधने के १५ प्रकार हैं। उनके क्रमश नाम इस प्रकार हैं। यथा—(१) कोश, (२) दाम, (३) उत्सङ्ग, (४) स्वस्तिक, (५) अनुवेल्लित, (६) मुत्तोली, (७) मण्डल, (८) स्थगिका, (९) यमक, (१०) खट्वा, (११) चीन, (१२) विबन्ध, (१३) वितान, (१४) गोष्फण और (१५) पञ्चाङ्गी। इनकी आकृतिया इनके नामों से ही जान लेनी चाहिए।

कोश आदि बन्धनों के योग्य स्थाननिर्देश—प्रथम कोशबन्धन-अङ्गुलियों के पैरवों पर बाधा जाता है। दाम-सन्धि एव साथल पर। उत्सङ्ग-लटकते हुए बाहु आदि पर। स्वस्तिक-सन्धि, कूर्च, भौह, स्तनों के बीच में, काख (कूख), आंख, गाल और कानों पर। अनुवेल्लित—हाथों और पावों में। मुत्तोली—ग्रीवा तथा लिङ्ग पर। मण्डल—गोलाकार अवयवों में। स्थगिका—अगुली, अगूठा, लिङ्ग के अग्रभाग, मूत्र या आन्त्रवृद्धि (हार्निया Hernia) मे। यमक—पास-पास में होनेवाले दो व्रणों में। खट्वा—ठोडी, शख (जबड़ों की सन्धि) और गालों में। चीन—नेत्रों के अपाङ्गों में। विबन्ध—उदर, ऊरु (साथल) के पीठ में। वितान—मस्तक आदि बड़े अगों पर। गोफण—नासिका, होंठ, ठोडी और साथल के मूल में तथा पञ्चाङ्गी—जत्रु अर्थात् हॅसली से ऊपर के सब भागों में बाधा जाता है।

इसके अतिरिक्त जो बन्ध जहा पर ठीक जमता हो उसे वहा बाध दिया जाय किन्तु व्रण के ऊपर गाठ न लगावे जिससे कि पीडा उत्पन्न हो जाय।

विशेष वक्तव्य—शल्यशास्त्र या शस्त्र क्रिया में बन्धन-कर्म (Bandaging) नितान्त आवश्यक अग माना गया है क्योंकि शस्त्रक्रिया के अनन्तर प्रति दिन व्रणोपचार के पश्चात् तथा सन्धिविश्लेषण, अस्थिभङ्ग, आघात, मोच, चोट, रक्तस्राव आदि नाना घटनाओं के बाद विकृत अग को बाधना ही पड़ता है। शारीरिक अगों की रचना भिन्न भिन्न प्रकार की होने से बन्ध भी भिन्न भिन्न प्रकार के बाधने पड़ते हैं। केवल एक ही प्रकार के बन्धन से काम नहीं चलता। ये बन्ध प्राय कपड़े के लम्बे पट्टे के आकार के होते हैं। छोटे बडे, भिन्न भिन्न आकारवाले व्रणों के लिए उसी प्रकार के पट्टों या बन्धों की कल्पना करनी पड़ती है। इन पट्टों के बाधने के लिए अच्छे अभ्यासकी आवश्यकता होती है। केवल बन्धविधि के पढ़ लेने से काम नहीं चलता। इस विद्या के गुरुओं से प्रत्यक्ष कर्माभ्यास कर बन्ध-विधिकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

१ समुत्थिता। २ पालिक। ३ मूतोली। ४ स्थविका। ५ कुक्ष्यक्षि।

१ मूतोलीं। २ स्थविका। ३ पृष्ठेषु। ४ सन्धिषु। ५ यो यस्मिन्। ६ व्रणस्योपरि न चाबाधकरो।

यद्यपि प्राचीन विधि इसकी पुस्तमय पुरुषों के अंगों पर बंध लगाकर सीखने की है किन्तु इससे भी सरल विधि यह है कि अपने सहयोगी मित्रों के भिन्न भिन्न अंगों पर बन्धन बांधकर बन्धविधि अनुभूत कर ली जाय। तीन छात्र मिलकर इस कार्यको भली भांति कर सकते है। उदाहरणार्थ एक छात्र पुस्तक में की बन्धविधिको पढ़े और दूसरा छात्र तदनुसार तीसरे के शरीर पर बन्ध बांधने का अभ्यास करे। इस प्रकार पारी पारी से करने पर सब इस विषय में होशियार हो सकते हैं। पाश्चात्य शल्य-तन्त्र के बन्ध भी प्राय इनसे मिलते जुलते होते हैं। यद्यपि लिखा है कि इनके नामों पर ही से इनकी आकृतियों को जान सकते हैं परन्तु कुछ नाम ऐसे हैं जिनके नाम से आकृति-बोध नहीं होता जैसे कि उत्सङ्ग, चीन, विबन्ध, दाम और यमक। इन नामों से वस्तुत बन्ध की आकृति का बोध नहीं होता।

कोश और स्थगिका बन्ध—**ये दोनों बन्ध कोश अर्थात् तलवार के म्यान के समान लम्बे होते हैं। अॅगरेजी में इसको शीथ बेण्डेज (Sheeath bandage) कह सकते हैं। स्थगिका बन्ध की लम्बाई कोश से कुछ कम होती है। इन्दु ने स्थगिका को पान की डिब्बी कहा है। इस पान की डिब्बीके ढक्कन के समान यह बन्ध होता है।** अॅगरेजी में इसको स्टम्प बॅण्डेज (Stump bandage) कह सकते हैं।

स्वस्तिक बन्ध—**यह स्वस्तिक के आकार का होता है। व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय तो इसका आकार हिन्दी के चार (४) या अंगरेजी के आठ (8) अंक के समान होता है।** अंगरेजी के क्रास बॅण्डेज और स्पैका बॅण्डेज (Cross or spica bandage) इस स्वस्तिक बन्ध के ही प्रकार हैं।

दामबन्ध—इसका कोई आकार निश्चय नहीं हो सका और न पाश्चात्य बन्धों में ही इसका प्रतीक मिलता। हां, पीडा निवारणार्थ जो कस कर बांधा जाता है, वही मालाकार कपडे का पट्ट हो सकता है।

अनुवेल्लितबन्ध—**इसका सादृश्य अॅगरेजी स्पैरल बॅण्डेज (Spiral bandage) के साथ मिलता है।**

मुत्तोलि और मण्डलबन्ध—**इनकी भी आकृति निश्चित नहीं होती है। हां, इनके लिए इतना चौड़ा वस्त्र लिया जाय जितना बन्धनका स्थान चौड़ा हो और एक के ऊपर दूसरा इस प्रकार लपेट लगाया जाय। इनके लिए भी पाश्चात्य बन्धों में कोई प्रतीक नहीं मिलता।**

यमकबन्ध—**इसका भी ऊपर की तरह ठीक निश्चय नहीं हुआ है।**

खट्वाबन्ध—**इसे चार पट्टों का बना बन्ध इन्दु कहता है।[2] इसे अॅगरेजी में फोरटेल्ड बॅण्डेज (Four tailed bandage) कह सकते हैं क्यों कि इसका उपयोग उसी के स्थान पर होता है।**

चीनबन्ध—यह बन्ध छोटे वस्त्रपट्ट से लगाया जाता है परन्तु इसका भी कोई आकार निश्चय नहीं हो सकता। हां, इसका सादृश्य आधुनिक नेत्रबन्ध (Bandage for eye) के साथ होता है।

विबन्धबन्ध—**इसके लगानेके स्थान तथा नाम से आधुनिक मेनीटेल्ड् बॅण्डेज (Many-tailed bandage) के साथ यह मिलता-जुलता है।**

वितानबन्ध—**यह सिर पर शामियाने की तरह फैलाकर लपेटा जाता है। यह आधुनिक किफेलाइन बॅण्डेज (Capheline bandage) के साथ मिलता-जुलता है।**

गोफणबन्ध—**यह काश्तकारों की गोफण की तरह होता है। इसका सादृश्य आधुनिक स्लिङ्ग बॅण्डेज (Sling bandage) से मिलता है। टी बॅण्डेज (T bandage) के साथ भी यह मिलता-जुलता है क्योंकि इसका गुदभ्रंश के लिए भी उपयोग होता है।**

पञ्चाङ्गीबन्ध—**इन्दु के कथनानुसार इसमें कुल पांच पट्ट[1] होते हैं। परन्तु आधुनिक बन्धों में इसका भी कोई प्रतीक नहीं मिलता है।**

उत्सङ्गबन्ध—इसका भी ठीक ठीक पता नहीं लगता। इसका उपयोग बाहु में करने के लिए कहा है। यह बन्ध आज कल का आर्म स्लिङ्ग बॅण्डेज (Arm sling bandage) ही प्रतीत होता है।

उपर्युक्त सारे बन्ध प्राचीन काल में किस प्रकार से बांधे जाते थे इसका विशद वर्णन आयुर्वेदीय साहित्य में नहीं मिलता है। आजकल इस विषय में पाश्चात्य दूरतर बहुत आगे बढ़े हुए है अत मनुष्य को चाहिए कि उनके इस कर्म को प्रत्यक्ष देखकर सीखे। आधुनिक डाक्टर इन बन्धों को किस प्रकार बांधते हैं, इसका विशद वर्णन श्रीयुत डा० घाणेकर जी ने अपने सुश्रुतके हिन्दी अनुवाद में किया है। पाठक सुश्रुतसूत्रस्थान के १८ वें अध्याय में देखें।

बन्धस्त्विष्टोऽनिले दुष्टे[2] दृढभग्ने व्रणेषु च।
तत्रान्त्ययोर्द्विधा बन्ध सव्यदक्षिणभेदत ॥
त्रिविधस्त्वेव सर्वत्र गाढश्लथसमत्वत. ।
कफवाते घनो गाढ पित्तरक्ते तनुश्लथ ॥
वातपित्ते समो बन्धः कफपित्तव्रणेषु च ।

विना व्रण के भी बन्धन इष्ट—**वायु के कुपित होने पर विना व्रण के बन्ध इष्ट है। इतना ही नहीं, दृढ भग्न एवं व्रण की अवस्था में भी बन्ध आवश्यक है (इन्दुसमत-पाठानुसार दुष्टे—सर्पदंशादि होने पर भी बन्धन आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि विषसंक्रामणसे रक्षार्थ बन्धन बांधना ही चाहिए। कहा भी है कि—'दंशस्योपरि बध्नीयादरिष्टां चतुरङ्गुले। न वहन्ति सिराश्चास्य विषं बन्धाभिपीडिता ॥' इति) यहां दुष्ट वायु, दृढ भग्न तथा व्रणों की अवस्थामें बन्धन इष्ट बताया गया है परन्तु यह बन्धन अन्त्य के (दृढ भग्न और व्रण) इन दोनों के लिए सव्य-दक्षिण भेद से कहा गया है अर्थात् दृढ भग्न में बन्धन बांई ओर को तथा व्रणों में दाहिनी ओर को**

१ स्थविकेव स्थगिका लम्बमान ताम्बूलकरङ्कम् इति। २ खट्वा चतुर्बाहुपट्टकम् इति।

१ यस्मिन् पट्टे चत्वारो बाहव, एका चोर्ध्वं पट्टिकेति। २ दृष्टे भग्ने व्रणेषु च इ० पा०।

बाधना चाहिए। सामान्यतया सब जगह बन्धन के गाढ, श्लथ और सम ऐसे तीन भेद बताए गए हैं और वे इस प्रकार हैं कि कफ-वात व्रणकी अवस्था में घन-गाढ़, पित्त-रक्त के व्रण में सूक्ष्म-ढीला, वात-पित्त के व्रण मे और कफ-पित्त के व्रणों में भी समबन्धन (न गाढा और न सूक्ष्म) बांधना चाहिए।

तथा स्फिक्कक्षावङ्क्षणोरुशिर सु गाढ बध्नीयात्। शाखावदनकर्णकण्ठमेढमुष्कपृष्ठपार्श्वोदरोरस्सु समम्। अक्ष्णो सन्धिषु च शिथिलम्। वातश्लेष्मजे तु शिथिलस्थाने सम, समस्थाने गाढ, गाढस्थाने गाढतरम्। तथा शीतवसन्तयोस्त्र्यहात् पित्तरक्तजे तु गाढस्थाने सम, समस्थाने शिथिल, तत्स्थाने नैव। तथा शरद्ग्रीष्मयो साय प्रात स्यात्।

स्थानपरत्व-बन्धन—स्फिक् (नितम्बों का उपरि भाग), काख, वङ्क्षण, साथल और मस्तक में गाढ बन्धन बाधना चाहिए। हाथ, पाव, मुख, कान, कण्ठ, लिङ्ग, अण्डकोष, पीठ, पसवाडे, उदर और छाती में समबन्ध बाधना चाहिए। आखों की सन्धियों में ढीला बन्धन बाधे। वातकफोत्पन्न विकारों में शिथिल के स्थान में सम, सम के स्थान में गाढ तथा गाढ के स्थान मे गाढतर (अतीव गाढ) बन्ध बाधना चाहिए। यहा शिथिल, सम तथा गाढस्थानों से क्रमश नेत्रादि, शाखादि तथा स्फिक् आदिका ग्रहण किया गया है।

ऋतुविशेषवशात्—बन्ध-शरद्-वसन्त ऋतु में प्रति तीसरे दिन बन्धन खोलना और बाधना चाहिए। इस ऋतु में पित्त रक्तज व्रण में गाढ़ की जगह सम, सम की जगह शिथिल तथा शिथिल की जगह बन्ध नहीं बाधना चाहिए। तथा शरद् और ग्रीष्म ऋतु में साय-प्रात बन्धनको खोलना और बांधना चाहिए।

अबध्यमान पुनर्दंशमशकतृणकाष्ठपाशुशीतवातातपादिसपर्काद्विविधोपद्रवोपद्रुतो दुष्टतामुपैति। स्नेहश्चात्र न चिर तिष्ठति भेषजमचिराच्छुष्यति कृच्छ्रेण रोहति रूढे च वैवर्ण्यं भवति।

अबध्यमान व्रण के दोष—व्रण पर बन्ध न बाधने से डास, मशक, तृण, काष्ठ, धूलि, शीत, वात, धूप आदि के सपर्क से नाना प्रकार के उपद्रव पैदा होकर व्रण दूषित हो जाता है और व्रण के दूषित होने से उस पर स्नेह (घृत तैलादि स्निग्ध पदार्थ) चिरकाल तक नही ठहरेगा, औषधि शीघ्र ही सूख जायगी, व्रण बडे कष्ट के साथ भरेगा, भरने पर भी त्वचा का वर्ण विगड़ जायगा किन्तु असली वर्ण की प्राप्ति नहीं होगी।

अपि च—

चूर्णित मथित भग्नं विश्लिष्टमथ पाटितम् ।
अस्थिस्नायुसिराच्छिन्नमस्थि बन्धेन रोहति ॥
उत्थानशयनाद्यासु सर्वेहासु न पीड्यते ।
उद्वृत्तौष्ठ समुत्सन्नो विषम कठिनोऽतिरुक्॥
समो मृदुररुक् शीघ्र व्रण शुद्ध्यति रोहति ।
स्थिराणामल्पमासाना रौक्ष्यादनवरोहताम् ॥
प्रच्छाद्यमौषध पत्रैर्यथादोष यथर्तु च ।
अजीर्णतरुणाच्छिद्रै समन्तात्सुनिवेशितै ॥
धौतैरकर्कशै क्षीरिभूर्जार्जुनकदम्बजै ।

व्रणबन्धन के लाभ—जिस व्रण की हड्डी चूर चूर हो गई किंवा कुचल गई, टूट गई हो, किवा फट गई हो, जोड उतर गया हो, सिरा स्नायु कट गए हों ये सब व्रण भी बन्धन से तुरन्त ठीक हो जाते हैं। इतना ही नहीं, बन्धन से ठीक हुआ व्रण उठने, बैठने, सोने आदि की चेष्टा करने पर भी पीड़ा नही देता। चाहे व्रण के आजू बाजू के होठ ऊपर आए हुए हों, चाहे व्रण ऊपर उभरा हुआ हो, विषम-कठिन एव अतिवेदना देनेवाला हो तो भी वह बन्धन से सम, मृदु, वेदना-रहित और शुद्ध होकर तुरन्त भर जाता है।

स्थिरादि व्रणों पर उपचार—जो व्रण स्थिर, अल्प मास वाले, रूक्षता के कारण न भरनेवाले हों तो उन को औषध से ताजे-तरुण-छिद्ररहित-मुलायम-धोए हुए क्षीरी वृक्ष (बड, पीपल, गूलर, पाखर आदि) के तथा भोजपत्र, अर्जुन और कदम्ब के पत्तों से अर्थात् व्रण पर औषध लगा उस पर चारों ओर उक्त वृक्षों के पत्तों को लपेट बन्ध बाध कर उपचार करे। ध्यान रहे कि ये पत्ते न तो जीर्ण हों और न अतरुण (कच्चे) ही हों।

कुष्ठिनामग्निदग्धाना पिटिकामधुमेहिनाम् ।
कर्णिकाश्चोन्दुरविषे क्षारदग्धा विषान्विता ॥
मासपाके न बद्धव्या गुदपाके च दारुणे ।
शीर्यमाणा सरुग्दाहा शोफावस्था विसर्पिण ॥

कुष्ठादि में व्रणबन्धनिषेध—जो व्रण कुष्ठरोगी के या कुष्ठ रोग से सबन्ध रखनेवाले हों, अग्निदग्ध (जलने के कारण) से हुए हों, जो मधुमेह की पिटिकाएं हों, मूषक-विष के किनारे वाले व्रण हों, क्षारदग्ध के कारण व्रण हों, विषैले फोडे हों, मासपाक में, दारुणक नामक क्षुद्ररोग[1] के सबन्ध वाले, गुदपाक के, जिन में सडन पैदा हो गई हो, जिन में वेदनासहित दाह हो, जिन में सूजन हो और जो विसर्प जन्य फैलने वाले व्रण हों तो इन व्रणों को नही बाधना चाहिए। इन पर पाटा बाधने से अधिक व्रणोपद्रव की सभावना होती है।

अरक्षया व्रणे यस्मिन्मक्षिका निक्षिपेत्कृमीन् ।
ते भक्षयन्त कुर्वन्ति रुजाशोफास्रसस्रवान् ॥

१ तत्र बन्ध सव्यदक्षिणभेदेन द्विविध । कदाचिद्वामपार्श्वेन कदाचिद्दक्षिणेन। किं सर्वत्रैव दुष्टवातादावय नियम । अन्त्ययोरेव भग्ने व्रणे च । दुष्टवातादीनामनियम । इतीन्दु ।

१ 'दारुणा कण्डुरा रूक्षा केशभूमि प्रपाट्यते । कफमारुतकोपेन विद्याद्दारुणक तु तत् ॥' इति सुश्रुत ।

सुरसादि प्रयुञ्जीत तत्र धावनपूरणे ।
सप्तपर्णकरञ्जार्कनिम्बराजादनत्वच ॥
गोमूत्रकल्कितो लेप सेक क्षाराम्बुना हित. ।
प्रच्छाद्य मासपेश्या वा व्रण तानाशु निर्हरेत् ॥

मक्षिकाक्रिमिदूषित व्रण की चिकित्सा—व्रणरोगी को चाहिए कि वह मक्खियों आदि से नित्य प्रति व्रण का रक्षण करता रहे क्योंकि व्रण की रक्षा न करने से व्रण पर मक्खिया कृमियों को लाकर पटकती हैं और फिर वे क्रिमि व्रण को खाती हुई उस में वेदना, सूजन, रक्तस्राव को पैदा करती हैं। यदि इस प्रकार मक्षिकादूषित व्रण हो जाय तो उस व्रण को सुरसादि गण (श्वेत और कृष्ण तुलसी, लाल मिरच, कृष्णार्जक, वायविडग, मरुवा, मूषाकर्णी, कायफल, कसौन्दी, नकछिकनी बड़ी, कैथकी पत्ती, भारगी, कासुका, मकोय, गोरखमुण्डी, कुचिला, भूतिक तृण और जटामासी) से धोना चाहिए और पूरना चाहिए। इन के अतिरिक्त सातवन, करञ्ज, आक, नीम तथा चिरौंजी वृक्ष की छाल के कल्क का लेप करना और क्षारजल से सेक (तरेडा) देना चाहिए अथवा मासपेशी से ढककर उन क्रिमियों का निर्हरण कर व्रण को ठीक करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि मासपेशी से व्रण को ढकने से व्रण के क्रिमि मास के लोभ से आप ही उस मासपेशी में आ जाते हैं।

उत्पद्यमानासु च तासु तास्ववस्थासु दोषादीन वेद्य यथास्वमुपक्रमैरुपक्रमेत् । न चैन त्वरमाण सान्तर्दोषमुपसरोहयेत् । स ह्यल्पेनाप्यपचारेणान्तरुत्सङ्ग कृत्वा भूयो विकुरुते । तस्मात्सुशुद्ध रोपयेत् । रूढेऽप्यजीर्णव्यायामव्यवायादीन्विवर्जयेत् ।

मासान् षट् सप्त वा नृणा विधिरेप प्रशस्यते ।
इतीद व्रणमाश्रित्य दिङ्मात्रमुपदर्शितम् ।
उत्तरे विस्तरस्तस्य वक्ष्यते साधनं प्रति ॥

इत्यष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽष्टत्रिंशोऽध्याय ॥ ३८ ॥

अध्यायोपसहार—व्रणरोग मे जैसी जैसी अवस्था उत्पन्न हो उस उस अवस्था में वात-पित्तादि दोष, काल, रोगी के बलाबल आदि को देख कर यथायोग्य चिकित्सा करे। बिना बिचार के जल्दी जल्दी मे व्रण में दोष (पूय आदि) के रहते हुए उस की रोहणक्रिया न करे। इस लिए कि स्वल्प अपचार (थोडी सी भूल) के होने से पुन व्रण भीतर से उभर कर अनेक विकारों का करनेवाला होता है। एतदर्थ शुद्ध व्रण की ही रोपणक्रिया करनी चाहिए। व्रण के भर जाने पर भी न पचने योग्य भोजन, व्यायाम, मैथुन आदि को वर्जित करे। मनुष्यों को चाहिए कि वे व्रण के भर जाने के बाद छ या सात मास तक इस विधि का पालन करे अर्थात् कम से कम छ-सात महीने अजीर्ण भोजन, व्यायाम और मैथुन आदि में प्रवृत्त न होवे। यह व्रण के विषय को लेकर केवल दिग्दर्शनमात्र कराया गया है किन्तु इसके साधनविषय में विस्तारपूर्वक उत्तरस्थान में कहेंगे।

इति वाग्भटाचार्यकृतावष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिका-हिन्दीव्याख्यायां शस्त्रकर्मविधिर्नामाष्टत्रिंशोऽध्याय ॥ ३८ ॥

अथैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ।

कुछ व्याधियें ऐसी हैं जिनमें केवल भेषज (वनौषधियों) से काम नहीं चलता अत वहा शस्त्र का उपयोग किया जाता है। इसी बात को लेकर इस के पूर्वाध्यायों में पहले भेषज का और फिर शस्त्र का वर्णन किया गया। शस्त्र से भी जहां काम नहीं चलता वहा क्षार बडा उपयुक्त सिद्ध हुआ है अत क्षारविषयक इस अध्याय का आरम्भ करते हुए आचार्य कहते हैं कि—

अथात क्षारपाकविधिमध्याय[1] व्याख्यास्याम[2] ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय ।

क्षारपाकाध्याय—अब हम यहा से जिसमें क्षारपाक (क्षार पाक-क्षार का पाक कर बनाना) और विधि (उक्त क्षार की रोगानुसार प्रयोगविधि) जिसमें वर्णन की जायगी, उस क्षार पाकविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया।

क्षारो हि नानौषध[3]समवायनिर्वृत्ते सर्वरसाधिष्ठान कटुकलवणरसभूयिष्ठस्तीक्ष्णो[4] दहन पाचनोऽवदारणो[5] विलयन शोधनो रोपण कृम्याममेदोविषापह सर्वशस्त्रानुशस्त्राणा च वरिष्ठश्छेदनभेदनपाटनलेखनकरणाद्यतश्च सबाधावकाशजेषु दुष्प्रवचारणीयशस्त्रेषु नासार्शोऽर्बुदादिषु शस्त्रेण चासिद्धयत्सु दुष्टव्रणेषु बहुश प्रकोपिषु प्रयुज्यते ।

क्षार की प्रशसा—क्षार नाना प्रकार की ओषधियों के समूह से तयार होता है अत सब रसों का अधिष्ठान है अर्थात् मधुराम्ललवणादि छहों रस क्षार मे रहते हैं तथापि क्षार कटुक और लवणरसभूयिष्ठ है अर्थात् इसमे चरपरा और नमकीन रस अधिक रहता हे। इसके अतिरिक्त क्षार तीक्ष्ण, दहन, पाचन, अवदारण, विलयन, शोधन और रोपण है, कृमि-आम-मेद और विष का नाशक है। इतना ही नहीं, क्षार सपूर्ण शस्त्रों एव अनुशस्त्रों में वरिष्ठ है क्योंकि यह छेदन, भेदन, पाटन और लेखन नामक शस्त्रकर्मों को अकेला ही कर सकता है। इतना ही नही, जहा बड़े दुख से शस्त्रावचारण हो सकता है फलत नही हो सकता ऐसे सबाधाव-

१ क्षारकर्मविधि। २ 'क्षारशब्द पाकविधिभ्या सह सबध्यते' इति डल्हन। ३. नानौषध। ४ स्तीक्ष्णोष्ण। ५ विदारणो।

काशज (सकटमय स्थानों में होनेवाले[1]), कठिनाई से शस्त्र क्रिया के योग्य तथा शस्त्र से भी न सिद्ध होनेवाले बहुत कुपित ऐसे दुष्ट व्रणों में तथा नासार्श, अर्बुदादि रोगों में इसका प्रयोग किया जाता है। इसीलिए समस्त शस्त्रों तथा अनुशस्त्रों से भी वरिष्ठ अर्थात् श्रेष्ठ है।

स द्विविधो[2] बाह्यान्त परिमार्जनेन। तत्रार्शोऽर्बुदभगन्दरग्रन्थिदुष्टव्रणनाडीचर्मकीलवर्त्ममुखरोगकुष्ठकिलासतिलकालकादिषु बहि परिमार्जनेन। अन्तप्रमार्जनेन तु गुल्मगरोदराग्निसादशूलानाहाश्मरीशर्करादिषु[3]। स यथास्वमेवोपदेक्ष्यते।

क्षार के दो प्रकार और उनका उपयोग—क्षार के दो प्रकार है। एक बाह्यपरिमार्जन और दूसरा अन्त परिमार्जन। इनमें से पहले बाह्यपरिमार्जन का उपयोग अर्श, भगन्दर, ग्रन्थि, दुष्टव्रण, नाडी (नासूर), चर्मकील, वर्त्म, मुखरोग, कुष्ठ, किलास (श्वेतकुष्ठ), तिलकालक आदि रोगों में किया जाता है। और अन्त परिमार्जन का उपयोग गुल्म, गर (कृत्रिम विष), उदर, अग्निमान्द्य, (मलसङ्ग—मलावरोध), शूल, आनाह, अश्मरी (पथरी), शर्करा आदि रोगों मे किया जाता है। इन सब रोगों मे बाह्यपरिमार्जन तथा अन्त परिमार्जनका उपयोग किस प्रकार किया जाय यह यथास्व (उन उन रोगों के वर्णन मे) बताया जायगा।

वक्तव्य—सुश्रुत ने क्षार की निरुक्ति देते हुए कहा है कि 'क्षरणात् क्षणनाद्वा क्षार' क्षरणात् अर्थात् दुष्ट त्वचा, मासादि के चालन या शातन करने के अथवा (त्वचा-मासादि का हिसन) करने के कारण इसे क्षार कहते[4] है। हम अपनी क्षुद्र बुद्धि के अनुसार 'क्षणु हिंसायाम्' इस धातु से उपर्युक्त अनेक रोगों का नाशक होने से भी इसे क्षार कह सकते हैं। ऊपर क्षार के लिए लिखा है कि यह पाचन, विलयन, शोधन, कृमि आम-मेद विषनाशक है। यहा पाचन से भावार्थ दोनों प्रकार के क्षारों से है जैसे कि व्रणशोथपाचन प्रतिसारणीय अर्थात् बाह्यपरिमार्जन क्षार है और अन्नाजीर्णादि का पाचन अन्त परिमार्जन या पानीय क्षार[5] है। विलयन जैसे कि वात कफभूयिष्ठ शोथका, शोधन दुष्ट व्रण का तथा रोपण शुद्ध व्रण का जानना चाहिए। कृम्याममेदोविषापह इस वाक्य में कृमि बाह्य और भीतर की दोनों लेना चाहिए अत क्षार भी अन्त और बाह्यपरिमार्जन दोनों समझने चाहिए। आम से तात्पर्य अपक्व रस से है तथा मेद का नाशन पानीय क्षार से कहा है। अँगरेजी में क्षार को रासायनिक दृष्टि से अलकली (Alkali) और कार्य की दृष्टि से कास्टिक (Caustic) कहते हैं।

न तूभयोऽपि योज्यो भीरुदुर्बलक्षामवातपित्तार्दितज्वरातिसारपाण्डुशिरोहृदयरोगमेहाक्षिपाकतिमिरारोचकातुरे[illegible]वमनविरेक[illegible]ऋतुमत्युद्वृत्तफलयोनिसर्वाङ्गशूल[illegible]पीतेषु [illegible]सिरास्नायुसन्धितरुणास्थिसेवनीधमनीगलनाभिनखान्तरमुष्कशेफ स्रोत स्वल्पमासेषु च देशेष्वक्ष्णोश्चान्यत्र वर्त्मरोगात्[2]। तथातिशीतोष्णवर्षदुर्दिनप्रवातेषु च।

भीरु आदि को दोनो क्षारो का निषेध—भीरु (डरपोक), दुर्बल, क्षाम (धातुओं से क्षीण), वातपित्त से तथा अर्दित, ज्वर, अतीसार, पाण्डु, शिरोरोग, हृदयरोग, प्रमेह, अक्षिपाक (नेत्राभिष्यन्द), तिमिर तथा अरोचक से पीडित, वमन और विरेक (विरेचन) किया हुआ, ऋतुमती (रजस्वला), गर्भिणी, उद्वृत्तफलयोनि (जिस स्त्री के उदावर्त रोग के कारण वायु से योनि मे पीडा हो और जिसके फेन के समान रज की प्रवृत्ति बडे कष्ट के साथ होती हो ऐसी स्त्री[1]), जिसके सब शरीर में शूल (वेदना) हो, जिसने विषपान या मद्यपान किया हो, इन सब के लिए अन्त परिमार्जन तथा बहि परिमार्जन अर्थात् पानीय तथा प्रतिसारणीय इन दोनों क्षारों को नही देना चाहिए। इन के अतिरिक्त मर्म, सिरा, स्नायु, सन्धि, तरुणास्थि, सेवनी, धमनी, कण्ठ, नाभि, नखों में, अण्डकोष, लिङ्गेन्द्रिय, स्रोत, स्वल्प मास की जगह, वर्त्मरोग के विना नेत्रों के लिए भी क्षार का निषेध है (किन्तु अष्टाङ्गसग्रह के टीकाकार इन्दु इन मर्म, सिरा, स्नायु आदि में केवल बाह्यपरिमार्जन (प्रतिसारणीय) क्षार का ही निषेध मानते है। इस के अतिरिक्त शीतकाल, उष्णकाल, वर्षाकाल में दुर्दिन (बादलों से ढके हुए दिन) में तथा अति वायु के चलने मे भी क्षार का सेवन नही करना चाहिए।

अथ बहि परिमार्जनस्त्रिविधो मध्यो मृदुस्तीक्ष्णश्च। तस्य पाकविधि—शरदि शुचिरुपोषित शुक्लवासा प्रशस्तेऽहनि प्रशस्तदेशजात मध्यमवयसमनुपहत महान्त कालमुष्कक सुरापलसुमनोऽक्षतार्दिभिश्चतुर्दिश[3] बलि दत्त्वा (कृत्वा) प्रदक्षिण चाभ्यर्च्यनमधिवासयेत्।

दैवतेभ्यो नमस्तेभ्यो निवसन्तीह ये श्रिता।
गन्तुमर्हन्त्यसक्रुद्धास्त्यक्त्वेम वा सर्पयम्[4]॥
भेषजार्थं ग्रहीष्यामि सर्वप्राणभृतामिमम्।
वृक्ष न लोभान्न क्रोधाद् ब्राह्मणार्थे विशेषत॥ इति।

तथापरेद्युस्तत्र यद्यद्भुत वैकृत वा किंचिन्न पश्येत्। ततो युगमात्रमारूढे सवितरि ब्राह्मणान्वाचयित्वा त पादप पूर्वाग्रमुत्तराग्र वा पातयेत्। एव च पारिभद्र-

---

१ सबाधावकाशजा सकटप्रदेशजा। २ द्विवा। ३ मल सङ्गशूलानाह। ४ तत्र क्षरणात् क्षणनाद्वा क्षार इति। ५ 'पाचन इति द्विविधोऽपि क्षार, अत्र व्रणशोथस्य प्रतिसारणीय पाचन, अन्नाजीर्णस्य पानीय। विलयन शोफस्य वातकफभूयिष्ठस्य शोधनो दुष्टव्रणस्य, रोपण शुद्धव्रणस्य' इत्यादि डल्हन।

१ 'वेगोदावर्तनाद्योनिं प्रपीडयति मारुत। सा फेनिलरज कृच्छ्रादुदावृत्त विमुञ्चति। इय व्यापदुदावृत्ता' इत्यष्टाङ्गहृदयम्। २ 'मर्मसिरादिषु तु सभवाद्बहि परिमाजनस्यैव प्रतिषेधोऽन्यत्र वर्त्मरोगात्।' इती दु। ३ सुरापललसुमनो। ४ वासमन्यम्।

पलाशाश्वकर्णराजवृक्षमहावृक्षवृक्षकेन्द्रवृषवृषापास्फोतसप्तच्छदनक्तमालतिल्वककदलीबिभीतकाश्वमारकपूतीकचित्रकार्ककाकजङ्घापामार्गाग्निमन्थान् वसन्तोपगृहीताश्च यवान् स शूकनालाश्चतस्रश्च कोशातकी सर्वान् समूलफलपत्रशाखान् खण्डश' कल्पयित्वा नातिशुष्कान् शिलातलस्थान्निवाते पृथक्छिन्नचयीकृत्य मुष्कक निचये च सुधाशर्करा प्रक्षिप्य तिलकुन्तलैरादीपयेत्। दग्ध्वा च शान्तेऽग्नौ पृथक् सुधाशर्कराभस्म कृत्वेतरसर्वक्षारद्रोणमभ्यधिकमुष्कक सलिलपलसहस्रेण गवादिमूत्रपलसहस्रेण चालोड्य महता वस्त्रेण परिस्रावयेद्यावदच्छो रक्तस्तीक्ष्ण पिच्छिलश्च जातस्तदा त क्षारनिष्यन्द गृहीत्वा भस्म विवर्जयेत्। तत स्नेहपाकविधिना पचेत्। पच्यमाने तु तस्मिस्ता सुधाभस्मशर्करा क्षीरपाक शखनाभीश्चायसे पात्रेऽग्निवर्णान् कृत्वा तत्क्षाराच्छकुडवमात्रे निर्वाप्य तेनैव च सुश्लक्ष्ण पिष्ट्वा प्रतिवाप दद्यात्। ततश्च सुतरा दर्व्याविघट्टयेत्। यदा च सबाष्पैर्बुद्बुदै' समुत्तिष्ठेत्सान्द्रतया च दर्वीप्रलेपी स्यात्तदैनमवतार्यायोघटे यवराशौ सुगुप्त स्थापयेत्। एप मध्यम क्षार। मृदौ शर्करादीन्निर्वाप्यापनयेन्न तु पिष्ट्वा प्रक्षिपेत्। तीक्ष्णे तु दन्तीचित्रकलाङ्गलिकापूतीकप्रवालतालपत्रीबिडसर्जिकाकनकक्षीरीहिङ्गुवचातिविषा श्लक्ष्णचूर्णीकृता दग्धाश्च शङ्खशुक्ती पूर्ववत् प्रतिवाप दद्यात्। ताश्च व्याधिबलत सप्तरात्रादूर्ध्व प्रयुञ्जीत। क्षीणजले तु बलाधानार्थं पुन क्षारजलमावपेत्। तत्र नातितीक्ष्णो नातिमृदु श्वेत श्लक्ष्ण शीघ्र' पिच्छिल शिखरी सुखनिर्वाप्योऽल्परुग्नविष्यन्दी चेति दश क्षारस्य गुणा। दशैव च दोषास्तद्यथा—अत्युष्णोऽतिशीतोऽतितीक्ष्णोऽतिमृदुरतितनुरतिघनोऽतिपिच्छिलो विसर्पी हीनौषधो हीनपाकश्चेति।

बहि परिमार्जन क्षार के प्रकार और पाकविधि—**बहि परिमार्जन क्षार के तीन प्रकार होते हैं यथा—(१) मध्य, (२) मृदु और (३) तीक्ष्ण। उस की पाकविधि—क्षारपाक करने वाले को चाहिए कि शरद् ऋतु में वह शुद्ध एव उपवास से रहता हुआ शुभ्र वस्त्रों को धारण कर शुभ दिन में शुभ (श्रेष्ठ) स्थान मे उत्पन्न, जो तोड़ा-मरोड़ा न गया हो ऐसे मध्यम वयवाले बड़े मोखे के वृक्ष को पहले निमन्त्रित कर उस के चारों ओर मद्य, मास, पुष्प, अक्षत आदि से बलि प्रदान कर प्रदक्षिणा करे। इस प्रकार पूजा कर उस के नीचे बैठ प्रार्थना करे कि इस वृक्ष के आश्रय में रहनेवाले सब देवताओं को मैं नमस्कार करताहू। मेरी पूजा को ग्रहण कर किसी प्रकार का** क्रोध न करते हुए वे सब इस वृक्ष को छोड कर चले जावें क्यों कि मै सब प्राणधारियों के औषध के लिए, विशेषत ब्राह्मणार्थ इस वृक्ष को ले जाऊगा न कि क्रोध करके अपने लोभ के लिए। इस प्रकार पहले दिन प्रार्थना करके और फिर दूसरे दिन उत्पातादि से रहित निर्मल आकाश हो तब युगमात्र (दो हाथ) सूर्य के आकाश मे चढ़नेपर ब्राह्मण से स्वस्तिवाचन करवा कर उस मोखा वृक्ष को पूर्व की ओर से या उत्तर की ओर से गिरावे। इसी प्रकार निम्ब, पलाश, अश्वकर्णपलाश, अमलतास, महावृक्ष (महारुख या महानिम्ब), वृक्षकेन्द्र (इन्द्रवृक्ष-देवदारु), वृष (अडूसा), आस्फोता (जगली पीलु या लाल आक), सप्तच्छद (सप्तपर्ण-सातवन-सतौना), नक्तमाल (लताकरञ्ज-कजा-सागरगोटी), तिल्वक (लोध्र), केली, बहेड़ा, अश्वमार (कनेर), पूतीक (पूतिकरंजवृक्ष), चित्रक, अर्क (श्वेत तथा रक्त पुष्प का आक), काकजघा, ओंगा, अरणी इन सब का ग्रहण वसन्त ऋतु में करे। इसी प्रकार शूक तथा नालसहित जव तथा चारों प्रकार की कोशातकी (जगली तोरई) जैसे कि बृहत्फला, अल्पफला, पीतपुष्पा और श्वेतपुष्पा लेवे। इन सब को मूल, फल, पत्र और शाखासहित लेकर टुकडे टुकडे करके पत्थर पर सुखावे। ये अतिशुष्क न हों ऐसे सबको एकत्रितकर निर्वातस्थान में तिल की सूखी नालसे प्रदीप्त करे परन्तु ध्यान रहे कि मोखावृक्ष के पचाङ्ग का ढेर अलग तथा निम्ब पलाशादिवृक्षों के पचागों के ढेर अलग अलग जलावे। प्रदीप्त करने से पहले मोखा वृक्ष के ढेर मे सुधा-शर्करा (चूने की कलीका चूर्ण कर) डाले और फिर जलावे। जलकर अग्नि के स्वागशीत होने पर चूने की कली के भस्म को अलग कर लेवे और फिर प्रत्येक ढेर मे से थोडा थोड़ा क्षार समभाग में लेवे और मोखा का क्षार अधिक प्रमाण में लेवे। इस ग्रहण किए सब क्षारों का प्रमाण २५६ पलभार अर्थात् द्रोण भर कर के फिर इस को एक हजार पल जल और एक हजार पल गोमूत्रादि से आलोडितकर (घोलकर) फिर एक बड़े और मोटे कपड़े से छान लेवे। जबतक स्वच्छ, रक्त, तीक्ष्ण और पिच्छिल (चिपचिपा-चिकना) जल आता रहे उस को क्षार का निष्यन्द जानकर ग्रहण करे और नीचे रही हुई राख को फेंक दे। फिर स्वच्छ लोहे की कड़ाही में लिए क्षारजल का पाकविधि से पाक करे अर्थात् आचपर रखकर कड़ाही में के क्षारजल को धीरे धीरे लोहे की दर्वी (कलछी) से चलाता जाय। सम्यक् पाक हो जानेपर अर्थात् दूध की रबड़ी के समान होनेपर उस में चूने की कली का भस्म डाल देवे। क्षीरपाक (सीप) और शखनाभि के टुकड़े अग्नि में तपातपा कर अग्निवर्ण होनेपर उस क्षारवाले लोहपात्र में डाले या बुझावे। तात्पर्य यह है कि चूनेकी कली के स्वच्छ भस्म के साथ सीप और शखनाभि तपाकर डाले और फिर कलछी से घोटे। इस प्रकार तबतक पकावे जब तक कि उस क्षार में बाफसहित बुद्बुदे न उठ आवें और क्षार गाढ़ा हो कर कलछी को

१ कृत्वेतरत्। २ द्रोणमधिक। ३ क्षीरबकशख। ४ दर्व्याघट्टयन्। ५. विपचेत् यावच्च। ६ स्वर्जिका। ७. क्षीणबले। ८ रुग्नभिष्यन्दी इ० पा०।

१. 'युगमात्र हस्तद्वयमात्रमारूढे भगवत्यशुमालिनि' इतीन्दु।
२. दग्ध्वा च शान्तेऽग्नौ प्रतिराशिस्तोक स्तोक गृह्णीयादितीन्दु।
३ क्षीरपाको जलशुक्तिरिति डल्हनः।

न लिपटने लगे। पाक की यह अवस्था हो जानेपर कड़ाही चूल्हे से नीचे उतार ले और उस मे के क्षार को लोहे के घड़े मे भर जवों के ढेर(राशि) मे सुरक्षित रहे इस प्रकार से रक्खे। यह मध्यम क्षार तयार हो गया।

मृदुक्षार की विधि—यही है कि केवल विपाचित क्षार में सुधाशर्करा, शखनाभि, सीप आदि अग्नि पर तपाकर लाल कर क्षार में बुझा दिए जावें। बुझाने के बाद इन्हे फेक दिये जावें किन्तु इन का प्रतिवाप न दिया जाय। इस से सुश्रुत के अप्रतीवापका भावार्थ भी यही है कि इन सुधाशर्करादि को तपाकर क्षार में बुझा दिया जाय और फिर फेक दिए जावें किन्तु प्रतीवाप न दिया जावे। इस प्रकार से तयार हुआ क्षार ही मृदु या सव्यूहिम होता है।

तीक्ष्णक्षार की विधि—उपर्युक्त सुधाशर्करादि प्रतीवाप दिए हुए मध्यम क्षार में दन्ती, चित्रक, कलिहारी, पूतिकरञ्ज के पत्र, तालपत्री (मुशली), विड लवण, सज्जीखार, कनकक्षीरी (स्वर्णक्षीरी-कङ्कुष्ठ-आधुनिक उसारे रेवन), हीग, बच और अतीस इन सबको सूक्ष्म पीस कर इन का प्रतीवाप दें और पूर्ववत् शख तथा सीप के भस्म का भी प्रतीवाप देवे। यह तीक्ष्ण क्षार तयार हो गया समझे।

सब क्षारों के वर्तने में नियम—इन सब (मध्य, मृदु और तीक्ष्ण) क्षारों को सात दिन के अनन्तर काम में लावे। क्षार का बल कम हुआ जान पडे तो बल लाने के लिए उस क्षार में और भी क्षारजल डाल देवे। पाठान्तर (क्षीण जल) से क्षार यदि कड़ा (घनीभूत) हो जाय तो उस में फिर क्षारविधि से स्नुत जल डाल दे।

क्षार के दस गुण—अतितीक्ष्णता रहित, अतिमृदुतारहित, श्वेत, सूक्ष्म, शीघ्र व्याप्त होनेवाला, पिच्छिल (चिकना), शिखरी (ऊपरि भाग में पिटिकावत् बुद्बुदों वाला), सुख निर्वाप्य (काजी, जल आदि मे सुख से घुल जाने वाला), अल्परुक् (थोडा लगने वाला) और अनभिष्यन्दी (शुष्कावस्था में न चुहनेवाला) ये क्षार के दस गुण हैं।

क्षार के दस दोष—अतिउष्ण, अतिशीत, अतितीक्ष्ण, अति मृदु, अतिसूक्ष्म, अतिगाढ़ा, अतिपिच्छिल, विसर्पी (फैलने वाला), हीनौषध (न्यून ओषधियों वाला) तथा हीनपाक (सम्यक् न पकाया हुआ) ऐसे ये क्षार के दस दोष हैं।

तत्र क्षारकर्मण्युपहरेत्पिचुवर्तिशलाकादर्व्यञ्जलिकाघृतमधुसुक्ततुषोदकमस्तुक्षीरोदकशीतोपदेहशयनासनादीनि।

क्षारविधि के उपकरण—क्षारविधि करनेवाले वैद्य को चाहिए कि वह इस के उपकरणों को पहले सेही अपने पास में रख ले जैसे कि पिचु (रुई का फाया), वर्ति (बत्ती), शलाका, दर्वी (कलछी), अञ्जलिका (छोटी मूषा या कटोरी), घृत, शहद, सुक्त, तुषोदक (काजी-विशेष), मस्तु (दही का विकार विशेष), दूध, जल, शीतल लेप, शयन, आसन आदि आदि। भावार्थ यह है कि क्षारविधि में इन सब उपकरणों की यथासमय आवश्यकता होती है अत वैद्य को चाहिए कि वह क्षारप्रयोग के पहले इन सब उपकरणों को अपने पास मे रखने से कदापि न भूले।

अथ क्षारार्हस्योपविष्टस्य संविष्टस्य वाप्तपरिचारकगृहीतस्य व्याधिं छित्त्वाऽवलिख्य प्रच्छाय वा पिचुप्लोतान्यतरावगुण्ठितया शलाकया क्षार पातयेत्। ततो मात्राशतमुपेक्षेत।

क्षारपातनविधि—वैद्य को चाहिए कि जिस पर क्षार का प्रयोग करना है अर्थात् जो क्षारप्रयोग करने के योग्य है तो ऐसे रोगी को कि जिसने अपने आप्तों एव सेवकों को अपने पास बिठा दिए हैं ऐसे बैठे हुए या लेटे हुए रोगी के व्याधि को छेदन कर, लेखन कर या पछने लगाकर उसपर रुई के फाये या कपडे से लपेटी हुई शलाका द्वारा क्षार डाले। क्षार डालने के बाद मात्राशत (सौ तक गिनती करने) तक ठहर जावे। साराश, इतने समय में क्षार का कार्य व्रणपर भली भाति हो सकता है। अधिक समय तक व्रणपर क्षार के बने रहने से नाना उपद्रव एव पीडा का भय होता है।

वर्त्मरोगे तु निर्भुज्य वर्त्मनी पिचुना मधूच्छिष्टेन वा कृष्णभाग प्रच्छाद्य पद्मपत्रतनु क्षारलेप। घ्राणजेषु त्वर्शोऽर्बुदेष्वादित्याभिमुखस्योन्नमय्य नासिकामुपेक्ष्य च पञ्चाशन्मात्रा। तद्वच्छ्रोत्रजेषु। गुदार्शःसु पाणिना यन्त्रद्वार पिधाय धारयेन्मात्राशतमेव। तत प्रमार्जनेनप्रमृज्य क्षार सम्यग्दग्धमवेक्ष्य निर्वापयेत्सर्पिर्मधुभ्या सुक्ततुषोदकमस्तुक्षीरादिभिश्च। तत पर शीतमधुरै सघृतै प्रदिह्यात्। अभिष्यन्दीनि भोज्यानि भोज्यानि क्लेदनाय च। स्थिरमूलत्वात्तु यदि क्षारदग्ध न विशीर्यते ततो धान्याम्लबीजमधुयष्टिकायुक्तैस्तिलैरालेपयेत्सुवर्णक्षीरीयुतैर्वा त्रिवृद्विडङ्गसारिवाद्भिर्वा। मालतीवृषाङ्कोटनिम्बास्फोतपटोलीकरवीरपत्रक्वाथो व्रणे प्रक्षालनम्। एषामेव च कल्कक्वाथे सिद्ध सर्पिस्तैल वा रोपण वा नागपुष्पमञ्जिष्ठाचन्दनतिलपर्णिकासु वा। यथाव्याधिदोष च व्रणमुपक्रमेत्। तिला समधुकाँ रोपणाश्चास्य पूजिता।

भिन्न भिन्न रोगानुसार क्षारोपयोग—अब भिन्न भिन्न रोगानुसार कुछ रोगों में क्षार के उपयोग का वर्णन करते हैं। जैसे कि—

वर्त्मरोग में—नेत्र के वर्त्म रोग मे क्षार प्रयोग करना हो

---

१ मृदौ तु सुधाशर्करा दीन्निर्वापयेदेव न तु पिष्ट्वा क्षिपेदन्यत इतीन्दु। २ एष चैवाप्रतीवाप पक्व सव्यूहिमो मृदुरिति। ३ 'कनकक्षीरी 'कङ्कुष्ठ' इति व्यवह्रियते' इति सुश्रुतस्य भानुमती टीकाया चक्रदत्त।

१ मुपेक्ष्याश्च। २ क्वाथेन व्रणप्रक्षालनम्। ३ सयष्टिमधुका।

तो नेत्र को खोल, पलक को निर्भुज्य (पलट कर-उथल कर) रुईके फाये से या मोम से नेत्र के कृष्ण भाग को बन्द कर अर्थात् ढककर फिर वर्त्म के जिस स्थान पर क्षार लगाना हो वहा पद्मपत्रतनु (कमल के सूक्ष्म पत्र के समान) क्षार का लेप करे। और—

नासार्शादि में—अर्थात् नाक के मस्से तथा अर्बुदनाश के लिए क्षार लगाना हो तो आदित्याभिमुख (सूर्य के सामने मुखकर) रोगी के नाक को ऊपर की ओर उठाकर क्षार लगा वे। और पचास मात्रा की गिनती तक ठहर जाय। उपर्युक्त वर्त्म रोग में भी इतना ही ठहरना चाहिए।

कर्णगत रोगों में—ऊपर की विधि के अनुसार क्षारपातन करना चाहिए और ठहरना भी पचास मात्रा तक चाहिए।

गुदार्श रोग में—क्षार को गुदार्श मे लगाकर यन्त्र के मुख को हाथ से ढक कर सौ मात्रा की गिनती के समय तक ठहरना चाहिए। इस के बाद प्रमार्जन से परिमार्जन कर, वह स्थान क्षार से सम्यक् दग्ध हो गया है यह देखकर उसपर घी और शहद लगाकर निर्वापन करे अथवा सुक्त, तुषोदक, मस्तु, क्षीर आदि से निर्वापण करे। इस के अनन्तर शीतल और मधुर ऐसे द्रव्यों का घृत-सहित लेप कर देवे। सम्यक् क्लेदन के लिए माष (उडद), दही, दूध आदि क्लेदकर पदार्थों से भोजन करावे ता कि व्रण मे क्लेद पैदा हो कर क्षारदग्ध भाग आप ही आप उखड़ कर गिर जाय।

दृढमूल क्षारदग्धोपाय— यदि पहले कहे इन उपायों से दृढ मूल होने से क्षारदग्ध का विशीर्ण न हो अर्थात् उखड कर वह आप से अलग न हो जाय तो उस पर धान्याम्ल-बीज[1] (धान्याम्ल-काजी के नीचे का जमा हुआ पदार्थ), मुलेठी और तिलों का लेप करे अथवा सुवर्णक्षीरी (ककुष्ठ), निशोत और बायविडग, सारिवा (अनन्तमूल) के रस या काढे से पीस कर लेप कर दे।

क्षारदग्धपर प्रक्षालन— चमेली, अडूसा, अकोल, निम्ब, आस्फोत (लाल कचनार), पटोल और कनेर इन के पत्रों के काढे से क्षारदग्ध का प्रक्षालन करना चाहिए।

क्षारदग्धव्रण का रोपण— उपर्युक्त (चमेली, अडूसा, अकोल, नीम, लाल कचनार, पटोल और कनेर इन सब के) पत्रों के कल्क या क्काथ से सिद्ध किया हुआ घृत या तेल क्षार दग्ध व्रण के लिए बड़ा अच्छा रोपण है और इस तेल और घृत से क्षारदग्ध व्रण तुरन्त भर जाता है। अथवा नागपुष्प (पुन्नाग-नागकेशर), मजीठ, चन्दन और तिलपर्णी के कल्क या काढे के साथ सिद्ध किए हुए घृत या तेल से भी क्षारदग्ध व्रण का रोपण होता है।

यथाव्याधिदोष उपचार—क्षारदग्ध व्रण जिस व्याधिका हो, व्याधि जिस दोष से हो उस व्याधि एव दोष के अनुसार व्रण की चिकित्सा करनी चाहिए।

रोपण में तिल, मुलेठी और मधु का वैशिष्ट्य—मुलेठी और शहद के साथ तिल रोपणकार्य में बड़े अच्छे सिद्ध हुए है।

तत्र पक्वजाम्बवसकाशमवसन्नमीषच्चथास्वविकारो पशान्तौ च सम्यग्दग्ध भवति। तद्विपर्ययेण तोदकण्डू-जाड्यादिश्च दुर्दग्धम्। तत्र पुन पातयेत्। ऊषादाहरा गशोफज्वरपाकविसर्पशिरोरोगवातपित्तकोपैरतिदग्धम्। अपि च। नेत्रेऽतियोगाद्वर्त्मनिर्भेदनेन्द्रियभ्रश। घ्राणे नासावंशतरुणास्थिदरण सकोचो गन्धाज्ञानं च। तद्वच्छ्रोत्रादिष्वपि च यथास्व व्यापत्। गुदे विण्मूत्ररोधोऽतीसार' पुस्त्वोपघातो गुदविदरणाच्च मृत्युर्वासर्वदा वा शोफतोदवेदनास्रावा शकृन्मूत्रवात-विधारणाशक्तिर्वा। तमतिप्रवृत्तमाशु पूर्वोक्तैरेव निर्वापणै पुन पुनर्निर्वापयेत्'। अतश्च दाह्यमतिप्रमाण न सकृ-देव दहेदिति।

क्षारसम्यग्दग्धलक्षण—पके हुए जामुन के समान व्रण का काला पड़ना, व्रण का बैठ जाना, जिस का कुछ उपचार करते ही विकार की शान्ति ये क्षार के सम्यक् दग्ध के लक्षण हैं।

क्षारदुर्दग्धलक्षण—उपर्युक्त सम्यग्दग्ध के लक्षणों से विप रीत ल ण हों तथा साथ मे तोद (टोंचनेकीसी पीडा), खाज और जाड्य (भारीपन) आदि ये क्षार से दुर्दग्ध के लक्षण हैं। इस की चिकित्सा यह है कि पुन व्रण पर क्षारपातन करे अर्थात् क्षार का लेप करे।

क्षारातिदग्धलक्षण—ऊषा (वेदनासहित दाह), दाह, राग (रक्तता), सूजन, ज्वर, पकना, विसर्प (यत्र तत्र व्रण ही व्रण होना), सिर मे पीडा, वात-पित्त से पीडा आदि क्षार से अतिदग्ध के लक्षण है। अब स्थानविशेष के अतिदग्ध लक्षणों को कहते हैं।

नेत्र में क्षारातियोग—होने से पलको का गिरना और इन्द्रियभ्रश (नेत्रेन्द्रिय का नष्ट होना) ये लक्षण होते है।

घ्राण में क्षारातियोग—होने से नासा,वश और तरुणास्थि का भ्रश और सकोच तथा सुगन्धि-दुर्गन्धि का ज्ञान न रहना ये लक्षण होते हैं।

श्रोत्रादि में क्षारातियोग—होने से कान आदि इन्द्रियों का भ्रश, सुनाई न देना आदि लक्षण हुआ करते हैं।

गुद मे क्षारातियोग—होने से मल मूत्र का रुकना, अतीसार, नपुसकता, गुदा के फट जाने से मृत्यु भी हो सकती है तथा सदैव सूजन, टोंचने की सी पीड़ा, रक्तस्रावादि, मल-मूत्र और अपान वायु को धारण करने में असमर्थता ये लक्षण होते हैं। क्षार का अतियोग हो जाने पर वैद्य को चाहिए कि वह पूर्वोक्त निर्वापण कहे हैं, उनसे बारबार निर्वापण करे। इस से यह सिद्ध हुआ कि एक ही बार में अतिप्रमाण में क्षारदग्ध का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

भवंति चात्र—

अम्लो हि शीत' स्पर्शेन क्षारस्तेनोपसहित' ।

---

१ 'धान्याम्लबीज-धान्याम्लतलस्थ द्रव्यम्, इति हेमाद्रि ।

यात्याशु स्वादुतां तस्मादम्लैर्निर्वापयेत्तराम् ॥
ज्वरातिसारतृण्मोहमूर्च्छाहृद्वेदनार्तिभिः ।
कष्टं दहत्यग्निरिव शरीरं क्षारविभ्रमः ॥
पाययेतातियोगेऽतस्तं शीघ्रं सघृतं दधि ।
सगुडं वा दधिसरं तैलं वाससितोपलम् ॥
धात्रीफलकपित्थाम्लदाडिमस्वरसे घृतम् ।
द्विगुणे साधितं पानसेकैः क्षारातिरुग्घरम् ॥
दाडिमामलकाम्रातकपित्थकरमर्दकात् ।
आम्राच्च मातुलुङ्गाच्च रसं मृद्वग्निना पचेत् ॥
ततोऽतिवृत्तक्षाराय दद्यान्मात्रां यथाबलम् ।
क्षारो निवर्तते तेन प्रसादं त्वक् च गच्छति ॥
शोणितातिप्रवृत्तौ तु बाह्यान्तः शिशिरो विधिः ॥

इत्यष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थाने एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ।

क्षारप्रकोप के शमनोपाय—अम्लरस स्वभाव से ही स्पर्श से शीत है और अम्लरस से मिलकर क्षार शीघ्र ही मधुरता एवं मृदुता को प्राप्त हो जाता है अतः क्षार का शमन अम्ल रसों से करना चाहिए।

क्षारप्रकोपजन्य रोग और उनका शमोपाय—क्षार का प्रकोप बड़ा भयंकर होता है अर्थात् वह ज्वर, अतिसार, तृषा, मोह, मूर्च्छा और हृदयवेदनादि पीड़ाओं के साथ २ शरीर एवं कक्ष को अग्नि की तरह जलाता है—शरीर में भयंकर दाह पैदा करता है। इस लिए चाहिए कि क्षार के उपद्रवों की शान्ति के हित शीघ्र ही अतिप्रमाण में क्षाररोगी को घृत के साथ दही पिलावे अथवा दधिसर (दही के ऊपर का तोड) गुड़ के साथ पिलावे। अथवा—मिश्रीसहित तैल पिलावे। अथवा—आमला, कैथ, खट्टे दाडिम (अनार) के दुगुने स्वरस के साथ सिद्ध किए हुए घृत का उपयोग पान और सेक दोनों में अर्थात् यह घृत पिलावे और इसका सेक भी क्षारदग्ध स्थान पर करे क्योंकि यह घृत क्षार से उत्पन्न हुई अति पीड़ा को हरनेवाला है। अथवा-अनार, आमला, आम्रातक (अंबाडा), कैथ, करौंदा, आम और बिजौरा इन के रस को अग्नि पर मन्द मन्द पकाकर फिर मात्रा बलाबल को देखकर क्षार से अतिदग्ध रोगी को देवे। इस से क्षार का प्रकोप दूर होता है और चमड़ी भी साफ होकर असली रंगतपर आजाती है।

क्षारातियोगजन्य रक्त की चिकित्सा—क्षार के अतियोग से व्रण से रक्त की प्रवृत्ति हो जानेपर बाहर और भीतर शीतल-विधि करे अर्थात् त्वचा पर बाहर शीतल ओषधियों का लेप करे और पेट में भी शीतल ओषधियों का सेवन करावे।

वक्तव्य—क्षारजन्य व्यापत्ति को मिटाने के लिए यहां अधिक मात्रा में अम्लरस के पान का विधान करते हुए कहा है कि—'अम्लरस शीतस्पर्श है अतः यह क्षार के साथ मिलने से क्षार तीक्ष्णभाव को छोड़ देता है, अपितु मधुरत्व को प्राप्त होता है, इसलिए क्षारदग्ध का निर्वापण अम्ल रसों द्वारा करना चाहिए। भगवान् धन्वन्तरिजी से इस विषय में सुश्रुत ने शंका की है कि 'भगवन् जब कि अम्लरस आग्नेय है तो क्षार भी अग्नितुल्य है। ऐसी अवस्था में आग्नेय अम्ल रस अग्नितुल्य क्षार को किस प्रकार प्रशान्त कर सकता है ?' सुश्रुत की यह शंका 'वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः' इस सूत्र के अनुसार ठीक दिखाई देती है अर्थात् समान गुणवाले आग्नेय अम्ल और क्षार मिलकर वृद्धि में परिणत हो सकते हैं किन्तु पारस्परिक वैपरीत्य न होने से एक दूसरे को शान्त किस प्रकार कर सकते हैं ? भगवान् ने इस शंका का समाधान करते हुए कहा है कि यों तो अम्लरस को छोड़कर शेष सब रस क्षार में समझ लेना चाहिए। इनमें से कटुक रस प्रधान है और लवण रस अप्रधान (अनुरस) है। तीक्ष्ण एवं लवणरसवाला क्षार जब अम्ल रस में मिलता है तब अपनी तीक्ष्णता को छोड़ देता है और मधुरता को प्राप्त हो जाता है। मधुरता के कारण शान्ति को प्राप्त हो जाता है जैसे कि जल के मिलते ही अग्नि शान्त हो जाता है।

भगवान् धन्वन्तरि क्षार में कटुक रस को प्रधान तथा लवण रस को अनुरस अर्थात् अप्रधान मानते हैं परन्तु सुश्रुत के टीकाकार डल्हन क्षार में लवण रस को प्रधान मानते हुए कटुक को अनुरस कहते हैं। अपनी इस बात की पुष्टि के लिए वे कहते हैं कि लोग भोजन के समय में अम्ल को मधुर करने के लिए लवण रस का ही प्रयोग करते हैं और यह भी कहते हैं कि क्षार का समावेश भी लवण वर्ग में किया गया है कि कटुवर्ग में। सच तो यह है कि चरक, सुश्रुत और न वाग्भटकार के स्पष्ट उल्लेख करने पर भी डल्हन का यह कथन नितान्त शोचनीय है। सुश्रुत की तरह चरक और वाग्भट ने भी स्पष्ट कहा है कि क्षार 'कटुकलवणभूयिष्ठम्' अर्थात् कटुक और लवणरस प्रधान है। यहां क्षार के अनुरस का उल्लेख तक नहीं है। इससे सिद्ध है कि क्षार में पहला कटुक रस प्रधान और दूसरा लवण अप्रधान (अनुरस) है। यह बात अन्य भी कई प्रमाणों से सिद्ध होती है किन्तु विस्तार के भय से हम उन प्रमाणों की यहां भरमार करना अनुचित समझते हैं। बुद्धिमान् तो इशारे से समझ सकते हैं परन्तु यहां तो सब आचार्यों ने स्पष्ट बता दिया है। डल्हन के कटुक रस को क्षार का अनुरस मानने पर तो हमें शंका है कि

---

१ ततो निवृत्तक्षाराय इ. पा.।

१ 'रसेनाम्लेन तीक्ष्णेन वीर्योष्णेन च योजितः। आग्नेयेनाग्निना तुल्यः कथं क्षारः प्रशाम्यति ॥' इति। २ 'अम्लेन सह संयुक्तः सतीक्ष्णलवणो रसः। माधुर्यं भजतेऽत्यर्थं तीक्ष्णभावं विमुञ्चति ॥ माधुर्याच्छममाप्नोति वह्निरद्भिरिवाप्लुतः ॥' इति। ३ 'कटुकस्तत्र भूयिष्ठो लवणोऽनुरसस्तथा।' इति। ४ 'कटुकस्तत्र भूयिष्ठ इति-तत्र पञ्चरसे क्षारे कटुकोऽनुरसः, लवणस्तु भूयिष्ठ' इति योज्यं, केचित् कटुकमेव भूयिष्ठं मन्यन्ते, तन्न, यतो जना अम्लभक्षणे माधुर्यार्थं लवणमेव रसं प्रयुञ्जते, लवणवर्गे क्षारस्य पठितत्वाच्च कटुवर्गे चापठितत्वात्।' इत्यादि।

आपने भगवान् धन्वन्तरि के कथित श्लोकार्ध को किस प्रकार तोड़ मरोड़कर कटुक रस को क्षार के अनुरस का स्थान प्रदान किया है ? कुछ समझ नही पडता।

यद्यपि अम्ल और क्षार दोनों आग्नेय हैं किन्तु कार्य करने का तरीका इन दोनों का भिन्न भिन्न है। इसी प्रकार एलोपैथों ने भी इन दोनों को कार्य की दृष्टि से करोझिव (Corrosive) वर्ग में माना है। अम्ल से क्षार की निर्वापण क्रिया है, इसको अँगरेजीवाले प्राय रासायनिक निर्वीर्यकरण (Neutralisation) ही मानते हैं। परन्तु इसके सम्यक् ज्ञानार्थ परिभाषा दृष्टि से गहरे अध्ययन की आवश्यकता है। आयुर्वेदीय क्षारकर्म के लिए जो क्षार (Caustic) प्रयुक्त हुआ करते हैं उनमे प्राय वनस्पतियों की राख, खनिज एव प्राणिज पदार्थों का समावेश होता है। वनस्पतियों में या उनकी राख में अधिकाश सोडियम कार्बोनेट, पोटाशियम कार्बोनेट, कॅल्शियम ऑक्साइड, मेगनिशियम ऑक्साइड, सिलिका आदि द्रव्य रहते हैं। आयुर्वेद की पूर्वोक्त क्षार पाकविधि को अँगरेजी में लिक्सीविएशन (Lixiviation) तथा क्षारोदक को लाय (Lye) कहते है। क्षारोदक मे हायड्रोक्साइड का प्रमाण कम रहने से ही इसे आयुर्वेद में मृदुक्षार कहा है। इस की शक्ति को तेज करने के लिए सुधा (Lime stone), क्षीरपाक (Oyster shell), शख (Conch shell) आदि चूने के पदार्थ मिलाए जाते है। इनको अग्नि में जलाकर मिलाने का कारण यह है कि इन में जलाने के पूर्व कॅल्शियम कार्बोनेट रहता है परन्तु वही जलाने से कॅल्शियम ऑक्साईड और कार्बन डायोक्साईड के रूप में परिवर्तित हो जाता है। तीक्ष्ण तथा मध्यम क्षार मे विशेष अन्तर नहीं है। इस लिए कि उसमें वनस्पतियों का ही प्रतीवाप दिया जाता है। क्षार तयार होने पर 'अयोघटे यवराशौ सुगुप्त स्थापयेत्' लोहे के घडे में भरकर यवधान्यराशि में बन्दकर रखने का उपदेश इस लिए है कि तद्गत रासायनिक पदार्थ उडकर क्षार की शक्ति कम न हो जाय। आजकल के पाश्चात्य विशेषज्ञों ने भी क्षार को लौह-पात्र में ही रखना अच्छा समझा है। तयार होने के सात दिन बाद क्षार प्रयोग में लाया जाय इसका कारण यह है कि उक्त अवधि में कॅल्शियम कार्बोनेट का अवक्षेपण (Precipitation) भली भाति होकर क्षार की शक्ति अधिक बढ़ जाती है। अब रही क्षार के निर्वीर्यकरण (Neutralivzation) की बात सो आधुनिक विज्ञान से क्षार बेसिक (Basic) पदार्थ है जिस में हाइड्रोक्सिल नामक ऋण भाग (O H as a Negative Redcal) होता है और अम्ल एसिड (Acid) पदार्थ है जिसमें हाइड्रोजन नामक धनभाग (Has a Positive Radical) होता है। इन के परस्पर मिलने से दोनों के धन और ऋण भागों में अदल बदल होकर पानी तथा नमक (Salt) बन जाता है। परन्तु क्षार तथा अम्ल ये दोनों समान भाग में रहने चाहिए। न्यूनाधिक भागों में क्षार और अम्ल के रहने से जिसका भाग अधिक रहेगा वह अपना उपद्रव करेगा।

क्षारों का सेवन—आयुर्वेदीय साहित्य में क्षारावचरण की सर्वसाधारण विधि ही लिखी है। पानीयक्षार के विषय में केवल आन्तरिक उपयोग के निदश के अतिरिक्त विशेष नहीं लिखा है। प्रतिसारणीय क्षार का उपयोग [illegible] ही किया जाता है और पानीय क्षार का चूर्ण के रूप मे।

बाह्य क्षार—अर्थात् प्रतिसारणीय क्षार में जल को शोषण करने की शक्ति होती है। इतना ही नहीं, प्रतिसारणीय क्षार अल्ब्यूमिन का घोल बनाता है और मेदका साबुन। इन शक्तियों के कारण क्षार का सयोग जिन शारीरिक सेलों के साथ होता है वे जल, अल्ब्यूमिन आदि पोषक द्रव्य नष्ट होने से नष्ट हो जाते है। शरीर में तिलकालक, मशक, सौम्या बुंद, दुष्टव्रण, नाडी, चर्मकील, भगन्दर, अर्श, दुष्ट अर्बुद क्यान्सर, एपिथेलिओमा के सेल होते हैं। इन सब के नाशार्थ क्षारोपयोग होता है। कृमिदशविष में क्षार इस लिए उपयोगी है कि कृमिविष प्राय अम्ल होते हैं और वे क्षार से निर्वीर्य हो जाते हैं। पाश्चात्य वैद्य क्षारकर्म मे प्राय लायकर पोटाश, लायकर सोडा, लायकर अमोनिया, सिल्वर नायट्रेट और झिंक (जसद) का उपयोग करते हैं। आयुर्वैदिक मध्यम क्षार पाश्चात्य वैद्यक के वियेन्ना पेस्ट (Vienna Paste) से मिलता-जुलता है।

आभ्यन्तरीय क्षार—अर्थात् पानीय क्षार का प्रभाव शरीर के पचनसस्थान, रक्तसस्थान तथा मूत्रसस्थानपर विशेष पड़ता है। आमाशयपर—क्षार की क्रिया तीन प्रकार से होती है। यथा (१) भोजन से पहले क्षार के सेवन से (२) भोजन के बाद क्षार के सेवन से और (३) आमाशयिक श्लेष्मल कलापर। भोजन से पहले क्षार का सेवन आमाशयिक ग्रन्थियों (Gastric Glands) से पाचक रस के स्रावको कुछ समय तक रोक रखता है। इस से भोजन के बाद पाचक रस अधिक मात्रा से एव बलसे परिस्रुत होता है। भोजन के बाद का सेवन किया हुआ क्षार पाचक रस के अम्लाधिक्य को नष्ट करता है तथा क्षार आमाशय की श्लेष्मला कलापर शामक (Sedative) प्रभाव डालता है। अँतड़ियों पर क्षार का विरेचक प्रभाव भी पड़ता है। इसी लिए अग्निमान्द्य, अरोचक, वमन, अजीर्ण आदि पेट के रोगों में तथा आध्मान, आनाह, गुल्म इत्यादि रोगों में क्षार से क्रमश लाभ होता है। रक्तसस्थानपर—पचन होने के बाद क्षार रक्त में मिलकर रक्त की क्षारीय प्रतिक्रिया (Alkaline Reaction) को बढ़ाता है और वातरक्त, गठिया आदि रोगों में लाभ करता है। मूत्रसस्थानपर—क्षार का प्रभाव यह होता है कि क्षार प्राय कार्बोनेट के रूप में उत्सर्गित होते हैं तथा उत्सर्ग के समय वृक्क में उत्तेजना पैदा कर मूत्र के प्रमाण को बढ़ाते हैं तथा मूत्र को क्षारीय बनाते हैं। मूत्र के क्षारीय होने से बस्ति में यूरिक एसिड (Uric Acid) का गिरना नही होता और गिरे हुए यूरिक एसिड का विद्रावण हो जाता है। इसी लिए क्षार मूत्रल माने जाते हैं और यूरिक एसिड के पथरी-शर्करादि रोगों में लाभ देता है। शरीर के भीतरी उपयोगके लिए पाश्चात्य वैद्य पोटासियम सायट्रेट, पोटासियम एसिटेट, पोटासियम बाय कार्बोनेट, पोटासियम कार्बोनेट, पोटासियम नायट्रेट (शोरा), सोडियम बाय काब नेट, सोडियम कार्बोनेट, लीथियम साय ट्रेट, लीथियम कार्बोनेट इत्यादि क्षारों का प्रयोग करते हैं। आयुर्वेद में रसार्णवोक्त—'तिलापामार्गकदलीपलाशशिग्रुमोचका।

मूलार्द्रकचिञ्चाश्वत्था क्षारवृक्षा प्रकीर्तिता ।' अर्थात् तिल, अपामार्ग, कदली, पलाश, सहजना, मोचक, मूली, अदरक, इमली तथा पीपल इन क्षारवाले वृक्षों की राखकर बनाए हुए क्षार तथा यवक्षार, टंकणक्षार, सज्जीखार, पाचों नमक ये सब क्षार पान के लिए बर्ते जाते हैं।

इति वाग्भटाचार्यकृतावष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्यायां क्षारविधिर्नामैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥



अथ चत्वारिंशोऽध्यायः।

वनौषधियों के अतिरिक्त क्षार की तरह अग्निकर्म भी अपना वैशिष्ट्य रखता है। इस लिए आचार्य कहते हैं कि—

अथातोऽग्निकर्मविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अग्निकर्माध्याय—अब हम यहां से जिस में अग्निकर्म का विधि भली भांति वर्णित है, उस 'अग्निकर्मविधि, नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेय आदि महर्षियोंने किया।

अग्निः क्षारादपि गरीयानौषधशस्त्रक्षारैरसिद्धानां तद्दाहसिद्धेरपुनर्भवाच्च[1] ।

अग्निकर्म की प्रशंसा—अग्निकर्म क्षारकर्म से भी श्रेष्ठ है, कारण यह है कि जो रोग ओषधि, शस्त्रकर्म तथा क्षारविधि से भी शमन नहीं होते उन का शमन अग्निकर्म से हो जाता है। इतना ही नहीं, पूर्वोक्त उपायों से शमन किए हुए रोग कदाचित् फिर भी हो सकते हैं परन्तु अग्निकर्म से शान्त हुआ रोग फिर नहीं हो सकता। यही अग्निकर्म का सब कर्मों की अपेक्षा बड़ा भारी वैशिष्ट्य है।

वक्तव्य—अँगरेजी में अग्निकर्म को कॉटरी (Coutery) कहते हैं। जिस में प्रत्यक्ष अग्निका उपयोग होता है, उसे अॅक्च्युअल कॉटरी (Actual Coutery) कहते हैं। इस के अतिरिक्त पाश्चात्य शल्य-शास्त्र में अग्निकर्म दो प्रकार के हैं, एक विद्युद्दहनकर्म (Galvano Coutery) और दूसरा पाक्विलिन का दहनकर्म (Poquilin's) इन में प्रथम में उष्णता विद्युत्प्रवाह द्वारा पैदा की जाती है। दूसरे में औजार को उत्तप्त करके कर्म करते समय उसपर बेंझोलाईन (Benzoline) की बाफ धोंकनी से छोड़ते रहते हैं जिससे वह औजार तपा हुआ रहता है। पाश्चात्यों में अग्निकर्म की श्रेष्ठता में दो कारण माने गए हैं। प्रथम कारण यह कि जहां अग्निसंयोग कराया जाता है वहां के समस्त विकारी जन्तु नष्ट होकर वह स्थान विशुद्ध (Sterile) हो जाता है जिससे व्रण में आगे पाक का भय नहीं रहता। आयुर्वेदाचार्य तो इसे पहले ही से जानते थे। दूसरा श्रेष्ठता का कारण यह है कि इसमें रक्तस्राव नहीं होता। इस बातसे भी हमारे आचार्य भलीभांति अवगत थे।

[1] पुनर्भावाच्च इ० पा० ।

तत्राग्निकर्म त्वचि मांसे सिरास्नायुसन्ध्यस्थिषु च प्रयुज्यते । तत्र मशतिलकालकचर्मकीलसरुक्स्तब्धप्रम्लानाङ्गाभिष्यन्दाधिमन्थशिरोभ्रूशङ्खललाटरुजार्दितेषु सूर्यकान्तपिप्पल्यजाशकृद्गोदन्तशरशलाकाभिस्त्वग्दाहो यथास्वमभिष्यन्दादिषु तु भ्रूशङ्खललाटदेशेषु । ग्रन्थ्यर्बुदार्शोभगन्दरगण्डगण्डमालाश्लीपदान्त्रवृद्धिदुष्टव्रणगतिनाड्यवगाढपूयलसीकेषु जाम्बवौष्ठसूचीशलाकाघृतगुडमधुमधुयष्टीतैलवसाहेमताम्रायोरूप्यकांस्यैर्मांसदाहः । सिरास्नायुसन्ध्यस्थिछेदशोणितातिप्रवृत्तिदन्तनाडीश्लिष्टवर्त्मोपपक्ष्मकलगणलिङ्गनाशासम्यग्व्यधेषु जाम्बवौष्ठशलाकासूचीमधूच्छिष्टमधुगुडस्नेहैः सिरादिदाहः ।

अग्निकर्म के योग्य अङ्ग—अग्निकर्म त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, सन्धि और अस्थि में प्रयुक्त करना चाहिए।

त्वचा में अग्निकर्म—मश (मस्से), तिलकालक (तिल), चर्मकील, सरुक्-सस्तब्ध-सप्रम्लान अङ्ग अर्थात् पीड़ा, सुप्ति और प्रम्लानतासह शरीर, अभिष्यन्दऔर अधिमन्थ (नेत्र के रोगविशेष), शिरोरोग, भ्रू (भौंहें), शंख (कनपटी) और ललाट में पीड़ा इन सब रोगों में सूर्यकान्त (स्फटिक विशेष), पीपल, बकरी की मेंगनी, गाय का दांत, शर तथा शलाका द्वारा त्वचा में अग्निकर्म (दाग देना) करना चाहिए। ध्यान रहे कि गिनाए हुए इन सब रोगों में सूर्यकान्त-अजाशकृत् आदि सभी दाहोपकरण उपयुक्त नहीं हो सकते अतः अभिष्यन्दादि भ्रू, शंख, ललाट प्रदेश में यथास्व अर्थात् सूर्यकान्तादि में से जो उपकरण जहां उपयुक्त प्रतीत हो वहां उस उस उपकरण से अग्निकर्म करना (दागना) चाहिए।

मांस में अग्निकर्म—ग्रन्थि, अर्बुद, अर्श, भगन्दर, गण्ड, गण्डमाला, श्लीपद, आन्त्रवृद्धि (अण्डकोष की वृद्धि-आधुनिक हार्निया), दुष्ट व्रणगति, नाडीव्रण (नासूर), पूय और लसीकाकी अवगाढता अर्थात् गाढापन इन रोगों की अवस्था में जाम्बवौष्ठ, सूची, शलाका, घृत, गुड, शहद, मुलेठी, तेल, चर्बी, स्वर्ण, ताम्र, लोह, रूपा और कांसा इन उपकरणों में से जो जहां ठीक हो उससे मांस में दाहकर्म करना चाहिए।

सिरा स्नायु आदि में अग्निकर्म—सिरा-स्नायु-सन्धि और अस्थि के छेद से रक्त की अति-प्रवृत्ति, दन्तनाडी से श्लिष्ट वर्त्म-उपपक्ष्म-लगण-लिङ्गनाशादि के असम्यक् व्यध होने से पीड़ा-अति-रक्तप्रवृत्ति की दशा में जाम्बवौष्ठ, सूची, शलाका, शहद, मोम, गुड और स्नेह (घृत, तेल, वसा और मज्जा)

[1] 'अन्यथा अतप्तशस्त्रच्छेदने पाकभयं स्यात्' इति अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिन्द्यात्, इति सुश्रुतसूत्र व्याख्याने डल्हन । [2] 'दाहः सङ्कोचयेत्सिरां' 'कृष्णोन्नतव्रणता स्रावसन्निरोधश्च सिरास्नायुदग्धे' इति सुश्रुत ।

इनमें से किसी के द्वारा यथायोग्य अग्निकर्म सिरा आदि (सिरा, स्नायु, अस्थि और सन्धि) पर करे।

वक्तव्य—उपर्युक्त जितने उपकरण गद्य में बताए हैं ये सब अग्नि में तपा करके काम में लाए जाते है। इनमें से शर (बाण) का उपयोग ग्रन्थि-विसर्प की चिकित्सा में होता है। पक्ष्मरोग में स्वर्णशलाका का उपयोग होता है। सिरा, स्नायु, सन्धि और अस्थिगत रोगों का शमन इनके ऊपर के मास मे ही अग्निकर्म करने से हो जाता है।

न तु दहेद्भिन्नकोष्ठमन्त शोणितमनुद्धृतशल्यमनेकव्रणपीडितमुष्णे च काले तथा चारानर्हं च। आत्ययिके तु व्याधौ कृतोष्णप्रतीकारस्य पिच्छिलमन्नमशितवतोऽग्निकर्म कुर्यात्।

अग्निकर्म के अयोग्य प्राणी—भिन्न-कोष्ठ अर्थात् जिसने विरेचन आदि लिया हो अथवा अतिसार का रोगी हो, जो रक्तपित्तरोगी हो या जिसके शरीर मे रक्त कुपित हुआ हो, जिसके शरीर में से शल्य न निकाला गया हो, अनेक फोड़े-फुंसियों से पीडित हो, यदि उष्णकाल हो और जो क्षार कर्म के योग्य नहीं हो, इन सबके लिए अग्निकर्म नहीं करना चाहिए। निषिद्ध ऋतु होते हुए भी यदि रोग अत्यधिक (शीघ्र प्राणहारक) हो तो उष्णता का समुचित उपचार करके पिच्छिलान्न भोजन किए हुए रोगी का अग्निकर्म करे। कहा भी है कि शीतकाल में शीतता का तथा उष्णकाल में उष्णता का उपचार करके प्राप्त क्रिया को करे किन्तु क्रिया काल को व्यर्थ में न खोवे।

अथ दाहार्हमातुर कृतस्वस्त्ययनमुपहृतसर्वोपकरण प्राक्शिरासविष्टमाप्तावलम्बित कृत्वा वैद्यो निर्धूमबृहत्स्थिरदीप्तखदिरबदराद्यङ्गारैरयोघटनप्रकारेण भस्त्रानिलाध्मातैर्व्यजनेन चोर्ध्वानिर्गच्छज्ज्वालतयापादितापाद्यमानभासुराग्निवर्णैर्जाम्बवौष्ठादिभिर्व्याधिप्रदेशवशाद्वलयार्धचन्द्रस्वस्तिकाष्टापदबिन्दुरेखाप्रतिसारणविकल्पेन मुहुर्मुहुर्हितोपहिताभिर्वाग्भिरद्भिश्चातुरमाश्वासयन् दहेदासम्यग्दाहलिङ्गोत्पत्ते। उच्छूनसुषिरप्रलूनदन्तनाडीसजन्तुदुष्टव्रणेषु तु स्नेहमधूच्छिष्टमधुगुडैः पूरयित्वा दहेत्। सम्यग्दग्धे च मधुसर्पिषी दद्याच्छीतस्निग्धाश्च प्रदेहान्। सम्यग्दग्धलिङ्ग पुन. सशब्द दहन दुर्गन्धित्व त्वक्सकोचश्च।

अग्निकर्मविधि—अग्निकर्म करने के योग्य हो तो उस रोगी को जिसने स्वस्तिवाचन (मगलाचरण) कर लिया है, जिसके पास में अग्निकर्म के समस्त उपकरण धरे हुए हैं, पूर्व की ओर सिर करके जो लेटा या बैठा हुआ है, जिसे अपने आप्तों (इष्ट मित्रों) का सहारा है, वैद्य को चाहिए कि निर्धूम, पर्याप्त, स्थिर एव प्रदीप्त खैर तथा बेर आदि के अंगारों से लोह घड़ने के वास्ते जैसे तपाते हैं, उसी प्रकार से धोंकनी से धमाए अथवा पखा से पवन किए हुए, ऊपर को ज्वाला न जाने देते हुए समुचित तपाकर लाल अग्निवर्ण किए हुए जाम्बवौष्ठादि शस्त्रों से व्याधि के स्थानानुसार वलय (गोल), अर्धचन्द्र के आकार, स्वस्तिक, अष्टापद, बिन्दु या रेखा प्रतिसारणविधि से, बारबार हितोपहित की बातों से तथैव जल से रोगी को प्रसन्नकर सम्यक् दाह के चिह्न पैदा होने तक अग्नि कर्म करे अर्थात् दाग दे परन्तु जो व्रण ऊपर को सूजन उठी हुई, पोला, छेदन किया हुआ, दांत के नासूरवाला या दुष्ट व्रण हो तो पहले उसे स्नेह (तेल, घृत, चर्बी आदि), मोम, शहद और गुड़ से पूरण करके फिर उस पर अग्निकर्म करे। सम्यक् दग्ध हो जाने पर उस पर शहद और घी लगाकर शीतल लेपों में से किसी एक लेप को करे। सम्यक् दग्ध के लक्षण ये होते हैं कि दाग देते समय चड़चड़ शब्द होता है, दुर्गन्ध आती है और चमड़ी सुकड़ जाती है।

त्वग्दग्धे कपोतवर्णत्वमल्पशोफरुजता शुष्कसकुचितव्रणता च। मासदग्धे कृष्णोन्नतव्रणत्व स्थिते च रक्ते सलसीकास्रुति। सिरादग्धे कृष्णारुणकर्कशस्थिरव्रणता स्नाय्वादिदग्धे च। दुर्दग्धातिदग्धयो प्रमाददग्धवल्लक्षण चिकित्सित च। प्रमाददग्धं पुनश्चतुर्विध भवति। तुंत्थ दुर्दग्ध सम्यग्दग्धमतिदग्ध च। तत्र यद्विवर्णमुष्यतेऽतिमात्रं तत्तुत्थम्[1]। यत्रोत्तिष्ठन्ति स्फोटतीव्रोषादाहरुजश्चिराच्चोपशाम्यन्ति तद्दुर्दग्धम्। पक्वतालफलवर्णं समस्थित पूर्वलक्षणयुक्त च सम्यग्दग्धम्। अतिदग्धे तूग्ररुजता धूमायन मासप्रलम्बन सिरादिव्यापदो गम्भीरव्रणता ज्वरदाहतृण्मूर्च्छाछर्दय' शोणितातिप्रवृत्तिस्तन्निमित्ताश्चोपद्रवा कृच्छ्रेण रोहण रूढे च विवर्णतेति। स्नेहदाहस्तु कष्टतरो भवति स हि स्नेहस्य सूक्ष्ममार्गानुसारित्वाद्दूरमनुप्रविशतीति।

त्वग्दग्ध के लक्षण—अग्निकर्म करते हुए जहां त्वचा दग्ध होती है तब चमड़ी का वर्ण कबूतर के वर्ण का, अल्प सूजन, अल्प पीडा, व्रण शुष्क तथा सकुचित हो जाता है।

मासदग्ध के लक्षण—कृष्णवर्ण लिए व्रण का ऊपर उभरना, रक्त के ठहरने से रक्तसहित लसिका का स्राव होने लगता है।

सिरादग्ध के लक्षण—व्रण का काला, लाल, कड़ा और स्थिर होना ये चिह्न होते हैं। ये ही लक्षण (सिरावत्) स्नायु, अस्थि और सन्धिदग्ध में होते हैं। साराश, अग्निकर्म के लिए पहले उपयुक्त अग त्वचा, मास, सिरा, स्नायु, सन्धि और अस्थि बताए हैं। उनमे अग्निकर्म करने से उपर्युक्त

१ 'अथास्य दाह क्षारेण शरैर्लौहेन वा हित' इति चरक। २ रक्षन्नक्षि दहेत्पक्ष्म तप्तहेमशलाकया। पक्ष्मरोगे पुनर्नैव कदाचिद्रोमसभव ॥ इति चक्रदत्त। ३ मासे दग्धे हि शाम्यन्ति सिरास्नाय्वस्थिसन्धिजा। इति ४ शीते शीतप्रतीकारमुष्णे चोष्णनिवारणम्। कृत्वा कुर्यात्क्रिया प्राप्ता क्रियाकाल न हापयेत् ॥ इति चरक

१ तुच्छ इ० पा०

लक्षण हों तो समझ लेना चाहिए कि उक्त स्थानों में सम्यग्दग्ध हुआ है।

दुर्दग्ध और अतिदग्ध के लक्षण—दुर्दग्ध तथा अतिदग्ध के लक्षण प्रमाददग्ध के समान होते हैं और चिकित्सा भी इनकी प्रमाददग्ध की चिकित्सा की तरह होती है।

प्रमाददग्ध के चार प्रकार—प्रमाददग्ध चार प्रकार का होता है जैसे कि तुत्थ या तुच्छ दग्ध, दुर्दग्ध, सम्यग्दग्ध तथा अतिदग्ध।

तुत्थदग्ध के लक्षण—तुच्छ या तुत्थदग्ध में त्वचा का वर्ण विवर्ण हो जाता है और अत्यन्त दाह होता है।

दुर्दग्ध के लक्षण—दुर्दग्ध की अवस्था में फोडे फुन्सियों का उठना, तीव्र चषक, दाह, पीडा तथा पीडा का विलम्ब से शान्त होना ये लक्षण होते हैं।

सम्यग्दग्ध के लक्षण—सम्यक्तया दाग देने पर व्रण पके ताल के फल के वर्ण का, समस्थित अर्थात् त्वचा के साथ मिला हुआ-बैठा हुआ होता है। इनके अतिरिक्त दाह करते समय चड़-चड़ शब्द, दुर्गन्धता, त्वचा का सुकड़ना ये पहले वर्णन किए हुए लक्षण होते हैं।

अतिदग्ध के लक्षण—अतिदग्ध होने पर उग्र पीडा होती है, धूमायन (धुवां निकलने के समान अनुभव) होना या सामने अंधेरीसा आ जाना, मास का लटक जाना, सिरा आदि (सिरा, स्नायु, सन्धि और अस्थि) में पीडा, व्रण की गम्भीरता, ज्वर, दाह, तृषा, मूर्च्छा, छर्दि, रक्त की अतिप्रवृत्ति और उससे होनेवाले उपद्रव, व्रणका कष्ट से भरना और भरने पर भी विवर्णता (चमड़ी का असली रंगत पर न आना) ये लक्षण प्रकट होते हैं।

स्नेहदाह की भयकरता—स्नेह अर्थात् सतप्त घृत, तेल, चर्बी, मज्जा का दाह बड़ा कष्ट देनेवाला होता है क्योंकि स्नेह के सूक्ष्ममार्गानुसारी होने से वह शरीर के भागों में दूर-दूर तक प्रविष्ट हो जाता है।

वक्तव्य—सुश्रुतने प्लुष्ट, दुर्दग्ध, सम्यग्दग्ध और अतिदग्ध ऐसे अग्निदग्ध के चार प्रकार कहे हैं।[1] यहा वाग्भटका कहा हुआ तुच्छ या तुत्थ ही सुश्रुतोक्त प्लुष्ट है। पाश्चात्य शल्यशास्त्रवेत्ताओं ने अग्निदग्ध को छ अवस्थाओं में बाट दिया है। प्रथमावस्था—वह है जिसमें त्वचा रग-बेरग हो जाती है, लाल होती है परन्तु त्वचा नष्ट नहीं होती है। यह आयुर्वेदोक्त प्लुष्टदग्ध से मिलता-जुलता है। द्वितीयावस्था—इसमें त्वचा और ऊपर के पर्त (Cuticle) के बीच में लसिका सचित होकर फफोले पड़ जाते हैं। इसकी समता आयुर्वेदिक दुर्दग्ध के साथ हो सकती है। तृतीयावस्था—इसमें त्वचा का ऊपरवाला पर्त (Cuticle) तथा क्युटिसव्हेरा भाग (Cutisvera) भी कुछ नष्ट हो जाता है परन्तु स्पर्शाङ्कुर (Pappilae), स्वेदग्रन्थि, रोमकूप तथा तैलग्रन्थियें ये नष्ट नहीं होते हैं। यह हमारे सम्यग्दग्ध से मिलता-जुलता है। चतुर्थावस्था—इसमें सम्पूर्ण त्वचा और उपत्वचा (Subcutaneous tissue) का भी कुछ भाग नष्ट होता है। पञ्चमावस्था—इसमें त्वचा, उपत्वचा तथा पेशियों का भी नाश होता है। इतना ही नहीं, इनके साथ-साथ सिरा और स्नायु भी नष्ट होते हैं। षष्ठावस्था—इसमें जला हुआ सम्पूर्ण अवयव सिरा-स्नायु-सन्ध्यस्थिके साथ नष्ट और विघटित (Disorganised) हो जाता है। इनमें की अन्तिम तीन अवस्थाओं का समावेश अतिदग्धावस्था मे हो सकता है।

भवन्ति चात्र।[1]

तुच्छस्याग्निप्रतपन[2] कार्यमुष्ण च भेषजम्।
स्थाने रक्ते हिमैर्नोष्मा निष्क्रामति यतो बहि॥
वेदना वर्धते तेन रुधिर च विदह्यते।
उष्ण निष्क्रामयत्कुर्यादूष्माण मन्दता रुज॥
शीतामुष्णा च दुर्दग्धे क्रिया कृत्वा तत पुन।
घृतलेपनसेकास्तु[3] शीतानेवावचारयेत्॥
सम्यग्दग्धे तवक्षीरीकृष्णचन्दनगैरिकै।
सामृतै सघृतैर्लेप कल्कैर्वानूपमासजै॥
शान्तोष्मणि पर कुर्यात्पित्तविद्रधिसाधनम्।
अतिदग्धे विशीर्णानि मासान्युद्धृत्य शीतलाम्॥
क्रिया कुर्यात्तत पश्चाच्छालितण्डुलकण्डनै।
तिन्दुकित्वक्कषायैर्वा पिष्टै साज्यै प्रलेपयेत्॥
गुडूच्याश्छादयेत्पत्रैरथवौपोदकैर्व्रणम्।
भेषज वास्य कुर्वीत सर्वं पित्तविसर्पवत्॥
स्नेहदग्धे भृशतर तत्र रूक्ष[4] तु योजयेत्।
शस्त्रक्षाराग्नयो यस्मान्मृत्यो परममायुधम्॥
अप्रमत्तो भिषक् तस्मात्तान् सम्यगवचारयेत्।
इति तन्त्रस्य हृदय सूत्रस्थान समाप्यते॥
अत्रार्था सूत्रिता सूक्ष्मा प्रतन्यन्ते हि सर्वत।

इत्यष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थानेऽग्निकर्मविधिर्नाम चत्वारिंशोऽध्याय ॥४०॥

तुच्छदग्ध का शमोपाय—तुच्छदग्ध जिसमें केवल चटकासा लगता है, फाले नहीं आते हैं, उस जगह को फिर अग्नि से तपानी चाहिए और ओषधि भी उष्ण करनी चाहिए। जल आदि शीतोपचार नही करना चाहिए क्योंकि तुच्छ-दग्ध में रक्त जम जाता है। शीतल उपचार से रक्त जमने की अवस्था में उष्णता बाहर नहीं निकल सकती, इससे वेदना बढ़ती और रक्त का भी विदाह होता है। परन्तु उस स्थान को तपाने से तथा उष्ण उपचार करने से वह (उष्णोपचार) भीतर की गरमी को बाहर निकालता है और उष्णता से रक्त भी जमा हुआ न रहकर विलयन हो जाता अर्थात् पिघल जाता है अत वेदना भी कम हो जाती है।

दुर्दग्ध का उपाय—दुर्दग्ध की अवस्था में पहले शीतल और

१ तत्र प्लुष्ट दुर्दग्धसम्यग्दग्धमतिदग्ध चेति चतुर्विधमग्निदग्धमिति।

१ भवति चात्र। २ तुत्थस्याग्नि इ० पा०। ३ घृताले। ४. प्लक्ष।

फिर उष्णोपचार करके अन्त में फिर घृत का आलेपन, घृत का सेक (तरेड़ा) आदि शीतोपचार ही करे।

सम्यक् दग्ध की चिकित्सा—सम्यक् दग्ध की अवस्था में व्रण पर तवक्षीर (तवखीर या वंशलोचन), प्लक्ष (पिलखन-पाखर) चन्दन और गेरू के चूर्ण (कल्क) को गुर्च के साथ मिला घी के साथ लेप करना चाहिए अथवा अनूपदेशोत्पन्न प्राणियों के मांस के कल्क को घृतसहित लेप करना चाहिए। दाह के या जलन के शान्त हो जाने पर पित्त की विद्रधि का उपचार करना चाहिए।

अतिदग्ध का उपचार—अतिदग्ध की अवस्था में लटकते हुए मास को काटकर फेंक देना चाहिए और फिर शीतल क्रिया करके तदनन्तर शालिचावलों के कण्डन (तुषों) को तैन्दू की छाल के कषाय मे पीसकर घृतसहित लेप करना चाहिए। इतना ही नहीं, उस लेप को गुर्च या उपोदकी (पोई शाक) के पत्तों से ढकना चाहिए। साराश, लेपपर गुर्च और उपोदकी (जल के समीप की खट्टी तिपतिया) के पत्ते बाधना चाहिए। इसकी सब ओषधि पित्त के विसर्प की तरह करनी चाहिए।

स्नेहदग्ध की चिकित्सा—यदि स्नेह अर्थात् घृत, तेल आदि से जल जाय तो उसके लिए पर्याप्त रूक्ष भेषज की योजना करनी चाहिए।

वैद्य को हितोपदेश—आचार्य उपदेश करते हैं कि शस्त्र, क्षार और अग्नि ये तीनों मौत के परम आयुध (बने बनाए तेज शस्त्र) है। तात्पर्य यह कि भूल हो जाने से इन तीनों शस्त्रों मे से किसी भी एक से रोगी तुरन्त मर सकता है। इस लिए वैद्य को चाहिए कि वह बड़ी होशियारी एव शान्ति के साथ अप्रमत्त की तरह इनका प्रयोग किया करे।

वक्तव्य—ऊपर चारों प्रकार के अग्निदग्धों की चिकित्सा कही गई। आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सक दग्ध की चिकित्सा इस प्रकार से करते हैं। यथा दग्ध की प्रारम्भिक अवस्था में रोगी स्तब्ध एव बेहोश होता है तब उष्णोपचार करने में लाभ समझते हुए उसे गरम स्थान में रखते हैं, गरम कपड़े से ढकते और उष्ण पेय आदि देते है। आवश्यकतानुसार रोगी को टकणाम्ल (Boric Acid) के सुहाते हुए गरम घोल में रखते है। स्तब्धता आदि नष्ट होने पर दग्ध स्थान पर कषायरस अर्थात् Tannic Acid में कवलिका भिगोकर रखते है। कषायरस का प्रमाण शायद २ ५% होता है। हाथ के चूर्ण के घोल का भी उपयोग करते हैं। स्वच्छ उबला हुआ जल काम में लाना अच्छा समझते हैं। दग्ध सड़े गले मास के हट जाने पर मोम मरहम के तौर पर पराफीन का उपयोग करते हैं। इससे रोपण तुरन्त होता है। योग इस प्रकार है—मृदु पैराफीन ७ भाग, ठोस ६ भाग, जैतून का तेल ५ भाग, युकालिप्टस तेल २ भाग, बीटा नैप्थाल ½ भाग। यह सब कुछ है परन्तु आजकल अग्निदग्ध के लिए सब से उत्तम चिकित्सा टैनिक अम्लद्वारा ही अच्छी मानी जाती है क्योंकि न पीडा होती है, न वारम्बार व्रणोपचार ही बदलना पड़ता और न दग्ध-स्थान का विष ही शरीर में फैलने पाता है।

उपसहार—इस प्रकार इस तन्त्र (अष्टाङ्गसग्रह-शास्त्र) के हृदयस्वरूप इस सूत्रस्थान को समाप्त किया जाता है। (सूत्रस्थान) में समस्त अर्थों का सूत्रण (विषयों का सूचन) सूक्ष्मतया (अतितीक्ष्ण बुद्धिवाले समझ सकें इस प्रकार से) किया गया है। इस लिए कि ये ही सूचित किये गये सब विषय आगे इस शास्त्र में विस्तारपूर्वक कहेगे।

इति श्रीवाग्भटाचार्यकृतावष्टाङ्गसग्रहे सूत्रस्थाने राजस्थानान्तर्गतमरुमण्डलमण्डनायमानजोधपुरीयपोकरणनिवासिमध्यप्रदेशीयनागपुरप्रवासिपुष्कर्णाभूसुरवशावतसश्रीमूलाम्बाजितमल्लसुनुगोवर्धनशर्मछाङ्गाणीकृतार्थप्रकाशिकाहिन्दी व्याख्यायामग्निकर्मविधिर्नाम चत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४० ॥

समाप्तमत्र प्रथम सूत्रस्थानम्।

* अर्था सूत्रिता —सूचिता। कि भूता ? सूक्ष्मा —तीक्ष्णतरमतिसमधिगम्या। इत्यरुणदत्त।

अष्टाङ्गसंग्रह–सूत्रस्थान–शुद्धपत्रम्

पृष्ठ	कालम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९	२	१३	तद्दित्रिचय	तद्द्वित्रिचय
११	२	४०	रसो स्वादम्ल	रसो स्वाद्वम्ल
१५	२	१७	कालचणादि	काल चणादि
१६	१	३३	वमनं तथा ैल	वमन तथा तैल
३५	२	१०	ता सदशभागा	ता सदशदशमभागा
३५	२	३४	अर्थात् एक पल होता है। ये तीस कला,	अर्थात् ये तीस कला दशम भागप्रमित ऐसी तीस, दससहित बीसके मिलनेसे
४०	२ टि०	७	सात्म्योत्पादनार्यं	सात्म्योत्पादनार्थं
४१	१	६	प्रदर्शनार्यं	प्रदर्शनार्थं
६०	२ टि०	२६	इति चक्रदत्त	इत्यरुणदत्त
६१	२	४५	सर गुरु।	सर गुरु।
,,	२	४७	कोष्ठताप्रष्ठाश्रयौ	कोष्ठपृष्ठाश्रयौ
६२	२ टि०	१	बौलुकीति न्हदु	बौलुकीति इन्दु
६३	२	१८	क्रिञ्चित्स्थूलाये-	किञ्चित्स्थूलाये-
६६	१	८	शाण्डाको	शांण्डाकी
७४	२ टि०	५	धौंऽयमिन्बु	धौंऽयमिन्दु
१५२	१	१९	इस प्रकार १४४	इस प्रकार १५५
,,	२ टि०	२	हस्तिसूत्र	हस्तिमूत्र
२७५	१	२	आश्च्योचना	आश्च्योतना